माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुराण-आगमादिप्राचीनग्रन्थोद्धारिका प्राकृत-संस्कृत-
अपभ्रंशादिभाषागुम्फिता जैनग्रन्थावलि ।

इयम्

साधुचरित-सदाशय-दानवीर-स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे. पी.
महाशयानां स्मरणार्थे दि० जैनसमाजेन संस्थापिता ।

ग्रन्थांकः—३९.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग

पो० गिरगाँव, बंबई नं० ४

पनान्द्रा] [वि० सं० १९७२.

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्या य कु मु द च न्द्रः

[द्वितीयो भागः]

(न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पणादिसहितः)

स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
'प्रमेयकमलमार्तण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया'दिग्रन्थानां सम्पादकेन
न्यायाचार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधिभूषितेन
पं० म हे न्द्र कु मा र शा स्त्रि णा
प्रस्तावना-पाठान्तर-तुलनार्थबोधकटिप्पणी-अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः
संस्कृत्य संशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशकः :-

मन्त्री-श्री पं० नाथूराम प्रेमी,
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

मुद्रक.-बाबू रामकृष्णदास बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

वीरनिर्वाणाब्दाः २४६७.

विक्रमाब्दा. १९९८.] प्रथमावृत्ति. ६०० प्रति. [क्रिस्टाब्दा १९४१.

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN
GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL, HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC WORKS OF JAIN LITERATURE IN PRAKRITA, SAMSKRIT AND APABHRAMŚA

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY.

NUMBER 39

HONY SECRETARIES—

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti.*

CASHIER.—

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

TO BE HAD FROM—

Secy. MANIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

Founded] *All rights reserved* [1915 A D

NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[VOL. II]

A commentary on Bhaṭṭâkalankadeva's Laghîyastraya.

EDITED WITH :—*INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE STUDY OF JAIN, BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES, AND THE VARIENT READINGS INDEXES ETC*

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

NYAYA DIVAKAR, JAIN & PRÂCHÎN NYÂYÂTÎRTHA,

EDITOR OF '*AKALANK GRANTHATRAY*', '*PRAMEYA KAMAL MARTAND*' ETC

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

BHADAINI, KASHI.

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN SERIES

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY 4.

PRINTED BY—RAMA KRISHNA DAS AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY PRESS, BENARES

V. E. 1998] *First Edition, 600 Copies.* [1941 A D.

न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम





समर्पणम्—

"श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधिर्मे समग्रसिद्धान्तगुरुश्चकास्ति ।
वंशीधरो जैनकुलावतंसी हंसीयति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

स न्यायालङ्कारश्चश्वत्स्याद्वादवारिधिर्धीमान् ।
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञः कर्मकाण्डस्य ॥ २ ॥

तस्याद्य वरिवस्यायामुपहारधिया मया ।
सम्पाद्य न्यायकुमुदोत्तरार्धमिदमर्प्यते ॥ ३ ॥"

तदन्यतमशिष्येण
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारेण

आ० सञ्ज्ञक, ईडरभण्डारीय त्रुटित प्रति का ११ वाँ पत्र, द्वितीय पार्श्व.

प्रकाशककी ओरसे



लगभग दो वर्षके बाद न्यायकुमुदचन्द्रका यह दूसरा भाग भी पाठकोके सामने उपस्थित किया जा रहा है और इस तरह कोई बीस वर्षके बाद इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी मेरी इच्छा पूरी हो रही है। पूर्वार्धके समान इस उत्तरार्धका भी सर्वाङ्ग सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है और इसके लिए सम्पादक महाशय धन्यवाद के पात्र है। उनका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोके लिए ग्रन्थ-सम्पादन कार्यमें मार्गदर्शकका काम देगा। हमें आशा करनी चाहिए कि आगे जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हों वे इसी सावधानी और ऐसे ही परिश्रमसे हों।

इन दो वर्षोमे इस ग्रन्थमालाकी ओर से महापुराणका दूसरा खण्ड और जटासिंहनन्दिका वरांगचरित्र, ये दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं। महापुराणका तीसरा खण्ड प्रेसमें है, और आशा है कि वह भी इस सालके अन्त तक समाप्त हो जायगा।

ग्रन्थमालाके आर्थिक सकटकी बात मै पहले लिख चुका हूँ, वह अभी चल ही रहा है। ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जौहरीने अपने हाथकी अन्य सस्थाओसे कुछ रकम कर्जके तौर पर ले ली है और इस तरह फिलहाल अधूरे ग्रन्थोको पूरा करनेकी समस्याको हल कर लिया गया है। आगे क्या होगा, यह भविष्य ही बतलायगा, अभी कुछ नही कहा जा सकता।

यह बात ग्रन्थमालाके मन्त्रीके अधिकारकी सीमाके भीतर नहीं आती कि वह ग्रन्थकर्त्ताके समय आदिके विषयमें भी कुछ लिखे और उसकी ऐसी कोई जरूरत भी नही मालूम होती। परन्तु सम्पादक महाशयका आग्रह है कि मुझे कुछ लिखना ही चाहिए, अत एव विवश हूँ।

पहले भागकी भूमिकामें प० कैलासचन्द्रजीने और इस भागकी भूमिकामें पं० महेन्द्रकुमारजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समयादिके विषयमें खूब विस्तारके साथ ऊहापोह किया है। यद्यपि दोनो विद्वानोमें अनेक बातोंमें मतभेद है, फिर भी उससे इस ग्रन्थके पाठकोके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रके समयकी शताब्दी तो कमसे कम निर्भ्रान्तिरूपसे स्पष्ट हो जाती है, और यह बहुत बडी बात है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्राचार्य, जैसा कि उनके ग्रन्थोकी प्रशस्तियोमें ही लिखा है, धारानरेश भोजदेव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके समयके विद्वान् है और अब इस विषयमें जरा भी सन्देहकी गुंजाइश नही है।

अभी तक उनके समय-निर्णयमे सबसे बडा बाधक भगवज्जिनसेनके आदिपुराणका वह 'चन्द्रांशुशुभ्रयशस' आदि श्लोक* था, जिसने विद्वानोको एक ऐसा दिग्भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि वे जिनसेनके बाद प्रभाचन्द्रके होनेकी बात सोच ही नही सकते थे। क्योकि उसमे 'प्रभाचन्द्रकवि' और 'कृत्वा चन्द्रोदय' पद इतने स्पष्ट थे कि उनके कारण प्रभाचन्द्राचार्य और न्यायकुमुदचन्द्रके सिवाय दूसरी ओर किसीकी दृष्टि ही नही जाती थी। जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पं० कैलासचन्द्रजीने उक्त श्लोकके माने हुए अर्थमे शङ्का उठाई और अनुमान किया कि जिनसेन स्वामीने किसी और ही प्रभाचन्द्रकी स्तुतिकी होगी और उनका बनाया हुआ कोई 'चन्द्रोदय' नामका ग्रन्थ भी होगा।

उन्होने द्वितीय जिनसेनके हरिवंशपुराणके 'आकूपारं यशो लोके' आदि श्लोक† से यह भी अनुमान

---

* चन्द्रांशुशुभ्रयशस प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदय येन शश्वदाह्लादित जगत्॥

† आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्। गुरो· कुमारसेनस्य विचरयजितात्मकम्॥

किया कि वे प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदचन्द्रकर्त्ताके गुरु पद्मनन्दि थे। अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् हैं।

इस उलझनके सुलझ जानेपर प्रभाचन्द्रके समय-निर्णयका मार्ग सुगम हो गया और अब तो पं० महेन्द्रकुमारजीने उनके ग्रन्थोंके अन्तरंग प्रमाणों तथा बहि प्रमाणोंसे बिल्कुल निश्चित ही कर दिया है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदके अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानेकी और यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे उन्हींके हैं, दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोंके नहीं हैं, अभी और जरूरत है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्रने टीका-टिप्पण ग्रन्थ बहुत लिखे हैं और अभी तक जिन्हें दूसरे प्रभाचन्द्रोंका समझा जाता था उनमेंसे नीचे लिखे टीका-ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्राय निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। भूमिकामें इनमेंसे कुछकी चर्चा भी की जा चुकी है—

१ तत्त्वार्थवृत्तिपद विवरण (सर्वार्थसिद्धि-टिप्पण)।
२ प्रवचनसरोजभास्कर।
३ शब्दाम्भोजभास्कर।
४ रत्नकरण्ड-टीका।
५ क्रियाकलाप-टीका।
६ समाधितन्त्र-टीका।
७ आत्मानुशासन-तिलक।
८ महापुराण (पुष्पदन्त)-टिप्पण।
९ द्रव्यसंग्रह-पंजिका।

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हाल ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे ब्राचके हस्तलिखित ग्रन्थोंके कैटलॉगमें मिली। उक्त ग्रन्थकी प्रति सं० १८२२ की लिखी हुई है। उसका मङ्गलाचरण यह है—

"नत्वा जिनार्कमपहस्तितसर्वदोष लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मम्।
ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थं षड्द्रव्यनिर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

मङ्गलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मङ्गलाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भी है।

आराधनाकथाकोश (गद्य) भी इन्हींका बनाया हुआ है।

अन्य ग्रन्थसूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमेंसे अधिकाश इन्ही प्रभाचन्द्रके होंगे—

१ अष्टपाहुड-पञ्जिका
२ स्वयभूस्तोत्र-पञ्जिका
३ देवागम-पञ्जिका
४ समयसार टीका
५ पञ्चास्तिकायटीका
६ मूलाचारटीका
७ आराधना-टीका
८ पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाटीका

इन टीका-ग्रन्थोंकी छान-बीन होने पर समयादिके सम्बन्धमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे। मै गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेजके प्रिंसिपल डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनदर्शनाध्यापक पं० सुखलालजीका आभार मानता हूँ जिन्होंने आदिवचन और प्राक्कथनके रूपमें बहुमूल्य विचार उपस्थित किए हैं।

बम्बई
२७-३-४१

—नाथूराम प्रेमी
मन्त्री ग्रन्थमाला।

॥ आदिवचन ॥

भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न भिन्न समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। दृश्य जगत्के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं उनका समाधान करना ही किसी दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेषण शब्दका प्रयोग जान-बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य—जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्दका व्याकरण अर्थात् विश्लेपण, न कि निर्माण, करता है—इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारोंसे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैनदर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्वके विषयमें आग्रह न

होते हुए भी उसके विषयमें तत्तदवस्थाभेदके कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्तकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" [महाभारत]

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥" [केनोपनिषत् २।३] इत्यादि वचनोंको मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नहीं कह सकते? दर्शन शब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जैनाचार्योंने अनेकान्तवादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओंसे बद्ध, सदैव विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थके अखण्ड सकल-स्वरूपको कैसे जान सकता है? उस अखण्ड मूल-स्वरूपको हम सच्चे अर्थमें "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" कह सकते हैं। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" [यजुर्वेद पुरुषसूक्त] इस वैदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे दार्शनिक जगत्में परस्पर विरोध तथा कलहकी भावनाओंके नाशसे परस्पर सौमनस्य और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको बडी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिक-भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिकदृष्टिसे यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिसे अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय सभ्यताके उत्कर्षानुत्कर्षकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिसे हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुंचानेको वह हिंसा नहीं कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी असहिष्णुताको भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

"अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥"

[विदुरनीति २।७७,८०]

सभ्य जगत्का आदर्श विचारस्वातन्त्र्य है। इस आदर्शकी रक्षा अहिंसावाद (हिंसा—असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी सङ्कीर्णता या असहिष्णुता

ईर्षा-द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमें जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्यमें पाया जानेवाला **'आनृशंस्य'** शब्द भी इसी अहिंसावादका द्योतक है। इस प्रकारके अहिंसावादकी आवश्यकता सारे संसारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमें दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर विशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जावे। और उसमें दार्शनिक समस्याओंको सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमें एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचक्षु प्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके विद्वत्तापूर्ण संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुमुदचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार बड़े परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासंभव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थका उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जावे। इसके लिए संस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

—मङ्गलदेव शास्त्री,
M A , D.Phil, (oxon)
[प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज, बनारस
रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज इग्जामिनेशन्स, यू० पी०, बनारस]

सरस्वती भवन,
२८।३।४१

॥ प्राक्कथन ॥



न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागमें मैं अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ। फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तावना जब मै सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके संपादकीय अनुरोधको टाल न सका। इसीलिए कुछ लिखने को प्रवृत्त हुआ हूँ। न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है सो भी सप्रदायविशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुत. उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि संप्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सबन्ध कैसा रहा है तथा उस साप्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्वसाक्षात्कार। सभी दार्शनिक अपने अपने साप्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए हैं। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना ? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सदेहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सप्रदायाश्रित विविध दर्शनोमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे ? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा ? इस शकाका जवाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें। उसका जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समग्र दर्शनो द्वारा निर्विवाद और असंदिग्धरूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोमें ही घट सकता है—

१–पुनर्जन्म, २–उसका कारण, ३–पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४–साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोका उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते है। कभी न कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओको उक्त तत्त्वोका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके ब्यौरेवार विचारमें सभी प्रधान प्रधान दर्शनोंका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी संप्रदायके ब्यौरेवार मन्तव्य साक्षात्कारके विषय हुए हो। अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस संप्रदायके ? किसी एक

संप्रदायको ब्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता–द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद ब्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओमें वह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते है। वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको संप्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो संप्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे है, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोंके संप्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके संप्रदाय मूलमे धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी संप्रदायोने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार मे भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे संप्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमे जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक संप्रदाय अपने जिन मन्तव्यो पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी संप्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य साम्प्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत संप्रदायोंकी भूमि पर ब्यौरेके विशेष प्रवाहोंमे विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी संप्रदायोको कल्पनाओंका–दलीलोका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा संप्रदाय जो कुछ मानते है वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य असत्य और अर्धसत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एकतरफसे जहाँ सम्प्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षाकी और जहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँकीं, वहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी बाड़ पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे संप्रदायोंके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पर्देबन्द पद्मिनियोकी तरह तत्त्वचिन्तनकी बेल भी कोमल और संकुचितदृष्टिवाली बन गई।

हम साम्प्रदायिक चिन्तकोंका यह झुकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते। और दूसरे विरोधी संप्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही साद्गुण्य और वैशद्य क्यो न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं। साम्प्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे सम्प्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोको अपनाकर भी मुक्तकण्ठसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं। दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लॉघकर विश्वासकी भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओ तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन साम्प्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोका पुञ्ज भी बन गया। अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है? हर एक संप्रदायका अनुयायी चाहे वह अपढ हो, या पढ़ा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिंतक ग्रन्थोको सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या संदेहको अवकाश ही नहीं है। तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी संप्रदायके ग्रन्थमें नहीं है। और अगर है तो भी वह हमारे संप्रदायसे ही उसमें गया है। इस प्रकारकी प्रत्येक संप्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य-जातिका उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोका अध्ययन तात्त्विकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय। जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वह जानकरी अधूरी या विपर्यस्त नहीं। पूरी और यथासंभव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है। ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे संकुचितता तथा तज्जन्य भय आदि दोषोंको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को। हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिकसे अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं। अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधिकाधिक सत्य या तत्त्वदर्शनके अधिकारी बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथा संभव सर्वांगीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढ़ें।

न्यायकुमुदचन्द्रके सपादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक एक छोटे बड़े मुद्देपर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिये हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक सम्प्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने करानेमें ही है। सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका

मर्मांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए। जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमें से बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुवास विद्यार्थियोमें तथा अपढ़ अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है। इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुझको यह कहनेमे लेश भी संकोच नहीं होता कि संपादकका टिप्पण तथा प्रस्तावनाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें सांप्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा।

भारतवर्षको दर्शनोंकी जन्मस्थलीऔर क्रीडाभूमि माना जाता है। यहाँका अपढ़ जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दार्शनिक पौरुषशून्य क्यों होगया है? इसका विचार करना जरूरी है। हम देखते हैं कि दर्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पहली बात दर्शनोंके पठन-सम्बन्धी उद्देश्यकी है। जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि-प्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर झुकता है। मानों दार्शनिक अभ्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजाविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास। इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील। इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण-मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं। जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी असमर्थ होरहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही कॉप उठते हैं। दर्शन जहाँ दिन रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेषरूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं। यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है। इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना। दर्शन पढनेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढ़ना चाहिए कि जो सत्य-असत्यके विवेकका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो। संक्षेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि। इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उस का पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नये संशोधनोंकी। अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक सप्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रूढ़ हो गई हैं उन्हींको उस संप्रदायमें सर्वज्ञप्रणीत माना जाता है। ओर आवश्यक नये विचार प्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता। पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किए गए और उत्तराधिकारमे दिए गए चिन्तनो तथा धारणाओका प्रवाह ही संप्रदाय है। हर एक संप्रदायका माननेवाला अपने मन्तव्योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकी प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वह वहाँ तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पडे। परिवर्तन और सशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डीग हाँकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोमें सशोधन करनेकी गुजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जायगा तो यह सनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें संशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दर्शन सम्बन्धी इतनी सामान्य चर्चा कर लेनेके बाद कुछ ऐतिहासिक प्रश्नो पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलकके समयका। प० महेन्द्रकुमारजीने **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावनामें धर्मकीर्ति और उसके शिष्यो आदिके ग्रन्थोंकी तुलनाके आधार पर अकलङ्कका समय निश्चित करते समय जो विक्रमार्कीय शकसवत् का अर्थ विक्रमीयसवत् न लेकर शक-सवत् लेनेकी ओर संकेत किया है वह मुझको भी विशेष साधार मालूम पड़ता है। इस विषयमे पडितजीने जो धवलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके कथनका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५) में किया है वह उनकी अकलङ्कग्रन्थत्रयमें स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प० जयचन्द्र विद्यालङ्कारजीका§ विचार भी प० महेन्द्रकुमारजीकी धारणाका ही पोषक है। मै तो पहिलेसे ही मानता आया हूँ कि अकलकका समय विक्रमकी आठवीं

---

§ वे **भारतीय इतिहासकी रूपरेखा** (पृ० ८२४–२९) में लिखते हैं कि–"महमूद गजनवीके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बेरूनीने अपने भारत विषयक ग्रन्थमें शकराजा और दूसरे विक्रमादित्यके युद्धकी बात इस प्रकार लिखी है–"शकसवत् अथवा शककालका आरम्भ विक्रमादित्यके सवत्से १३५ वर्ष पीछे पडा है। प्रस्तुत शकने उन (हिदुओ) के देश पर सिन्ध नदी और समुद्रके बीच, आर्यावर्त्तके उस राज्यको अपना निवास स्थान बनानेके बाद बडे अत्याचार किए। कइयो का कहना है, वह अलमन्सूरा नगरीका शूद्र था, दूसरे कहते है वह हिन्दू था ही नही और भारतमें पश्चिम से आया था। हिन्दुओको उससे बहुत कष्ट सहने पडे। अन्तमें उन्हे पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्यने उस पर चढाईकी, उसे भगा दिया, और मुलतान तथा लोनीके कोटलेके बीच करूर प्रदेशमे उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई, क्योंकि लोग उस प्रजा पीडककी मौतकी खबरसे बहुत खुश हुए, और उस तिथिमे एक सवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषरूपसे बर्तने लगे। किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले सवत् के आरम्भ और शकके मारे जाने के बीच बडा अन्तर है, इससे मै समझता हू कि उस सवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नामसे पडा है, वही शकको मारनेवाला विक्रमादित्य नही है, केवल दोनोका नाम एक है।" पृ० (८२४–२५) "इस पर एक शका उपस्थित होती है शालिवाहनवाली अनुश्रुतिके कारण। अल्बेरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का सवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारने की यादगारमें चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। वह सवत् अब भी पञ्चाङ्गोमें शालिवाहन-शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है। " (पृ० ८३६)। इन दो अवतरणोमे इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकराजाको मारकर अपनी शकविजयके उपलक्ष्यमें एक सवत् चलाया था। जो सातवी शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। धवलाटीका आदिमें जिस 'विक्रमार्कशक सवत्' का उल्लेख आता है वह यही 'शालिवाहनशक' होना चाहिए। उसका 'विक्रमार्कशक' नाम शकविजयके उपलक्ष्यमें विक्रमादित्य द्वारा चलाए गए शकसवत् का स्पष्ट सूचन कर रहा है।

शताब्दीका उत्तरार्ध और नववीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरिभद्रका है। मेरी रायमें अकलंक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमें समसामयिक अवश्य हैं। आगे जो स्वामी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नववीं सदीकी मान्यताका तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सम्बन्धमें इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृकत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समयकी उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानीं जाय तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षोंका सार है। प० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनामें उक्त प्रशस्तिओंको प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमे भी उक्त प्रशस्तिओंको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशामे प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे बारहवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सब दृष्टिसे सयुक्तिक है।

मैंने **'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'**के प्राक्कथनमे ये शब्द लिखे हैं—"अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध रहा है, क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके उपर सर्वप्रथम अकलंककी ही व्याख्या है।" इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलंककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलंकमे साक्षात् गुरु-शिष्य भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीचमे समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैने **अकलङ्कग्रन्थत्रय**के ही प्राक्कथनमे विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा* एव अष्टसहस्रीके स्पष्ट

*'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः' वाला जो श्लोक आप्तपरीक्षामें है उसमे 'इद्धरत्नोद्भवस्य' ऐसा सामासिक पद है। श्लोकका अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पदको 'अम्बुनिधि' का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमे समास 'इद्धरत्नोका उद्भव-प्रभवस्थान' ऐसा तत्पुरुप किया जाय, चाहे 'इद्धरत्नो का उद्भव-उत्पत्ति हुआ है जिसमेंसे' ऐसा बहुव्रीहि किया जाय। उभय दशामें वह अम्बुनिधिका समानाधिकरण विशेपण ही है। ऐसा करनेसे 'प्रोत्थानारम्भकाले' यह पद ठीक अम्बुनिधिके साथ अपुनरुक्त रूपसे सबद्ध हो जाता है। और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्रकी प्रोत्थान-भूमिका बाँधते समय जो स्तोत्र किया गया है। इस वाक्यार्थमे ध्यान देनेकी मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थका प्रोत्थान बाधनेवाला अर्थात् उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाला और स्तोत्रका रचयिता ये दोनो एक है। जिसने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाया उसीने उस निमित्तको बतलानेके पहिले 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' यह स्तोत्र भी रचा। इस विचारके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धिकी भूमिका जो पढेगा उसे यह सन्देह ही नही हो सकता कि 'वह स्त्रोत्र खुद पूज्यपाद का है या नहीं'।

उल्लेखोंके आधार पर यह निःशंक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आप्त-स्तोत्रके मीमांसाकार हैं अत एव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनोंके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसग आनेपर उसे सक्षेपमें अकलंकग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमे निविष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) मे यह अभ्रान्तरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अलबत्ता उन्होने मेरी सप्तभगीवाली दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमे पडितजी तथा अन्य सज्जनोसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमे तो वह दलील एक स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्परामें सस्कृत भाषाके प्रवेश, तर्कशास्त्रके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी छोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिका उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी सदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिङ्नागके पद्यको तो निर्दिष्ट करे पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्त-भद्रकी असाधारण कृतियोका किसी अंशमे स्पर्श भी न करे। क्या वजह है कि उमास्वातीके भाष्यकी तरह सर्वार्थसिद्धिमे भी सप्तभगीका विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्रकी जैन-परपराको उस समयकी नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मै और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं-

मुद्देकी बात यह है कि अभी तक ऐसा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणो या बौद्धोने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन संस्कृत एव तर्कवाङ्मयका ऐसा इतिहास है जिसमे ब्राह्मण एव बौद्ध परम्पराकी कृतिओका प्रतिबिम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बाँधनेके जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर यह सामान्यव्याप्तिकी धारणा भ्रान्त नहीं है तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्रके बीच जो कुछ महत्त्वका साम्य है उस पर ऐतिहासिकोको विचार करना ही पड़ेगा। न्यायावतारमे धर्मकीति के द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याकोबीने सिद्धसेन दिवाकरके समयके बारेमे सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्रकी कृतिमे पाये जाने वाले धर्मकीर्तिके साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयगत मंगलश्लोकके उपर ही उसके व्या-ख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाण-रूपसे सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्रने भी पूज्यपादके **'मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्'** वाले मगल पद्यको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमासा रची हैं और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त-प्रमाण स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिलने श्लोक-वार्तिकमे चोदना-वेद कोही अतिम प्रमाण स्थापित किया, और **'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे'**

इस मंगलपद्यके द्वारा दिङ्नागप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको खण्डित किया। इसके जवाब में धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमे बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे अपने ढंगसे सविस्तर स्थापित किया। जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया। पूज्यपादका **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हे मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमे समन्तभद्रने अपनी नई सप्तभंगी सरणीके द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आप्तप्रमाण स्थापित किया। यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ। पर शब्दका सादृश्य भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्तिने सुगतको—**'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्'** (प्रमाणवा० १।१३५) **"वैफल्याद् वक्ति नानृतम्"** (प्र० वा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी **"युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्"** (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है।

धर्मकीर्तिने चतुरार्यसत्यके उपदेशकरूपसे ही बुद्धको सुगत-यथार्थरूप साबित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुरार्यसत्यके स्थानमे स्याद्वादन्याय या अनेकान्तके उपदेशक रूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है। समन्तभद्रने स्याद्वादन्यायकी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सन्मतिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दो पर चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामें जब केवल अनेकान्तदृष्टिकी स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तभंगी प्रणालीके द्वारा अनेकान्त दृष्टिका स्थापन करते है। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति-समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ उपस्थित करता हूँ। समन्तभद्रके **"द्रव्यपर्याययोरैक्यम्"** तथा **"संज्ञासंख्याविशेषाच्च"** (आप्तमी० ७१, ७२) इन दो पद्योके और प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे पं० महेन्द्रकुमारजीने नववीं शताब्दीका लिखा है। अर्चटने हेतुबिन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रोक्त कारिकाके अंशोको लेकर गद्यमें खण्डन किया है और फिर 'आह च' कहकर खण्डनपरक ४५ कारिकाएँ दी हैं। पंडित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सुविस्तृत प्रस्तावनामें (पृ० २७) यह सभावना की है कि अर्चटोद्धृत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीतिकृत होंगी। पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने ही अपने किसी ग्रन्थमें समन्तभद्रकी कारिकाओंका खण्डन पद्यमें किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्तिका टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषयमें निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ और प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीकाकी अनुटीका है। इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्वेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दीके आसपासका ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्वेकमिश्र बौद्ध शास्त्रोका, खासकर धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका, तथा उसके टीकाकारोंका गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक

बौद्ध ग्रन्थो पर व्याख्याएँ लिखी है। जान पडता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके ग्रन्थसंग्रहमेंसे कॉपी होकर भिक्षु राहुलजीके द्वारा मुझको मिली है। उसमें दुर्वेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओके बारेमे लिखा है कि–ये कारिकाएँ अर्चटकी हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष सभावना थी। परऐसा हुआ जान पडता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणवार्तिकमें स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आप्तमीमासामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोसे निरास किया तब इसका जवाब धर्मकीर्तिके शिष्योने देना शुरू किया। कर्णकगोमीने भी जो धर्मकीर्तिका टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामे मे अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोकी ऐतिहासिकतामे किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्यके उमास्वातीप्रणीत होनेके बारेमे भी अन्यदीय सदेहका उल्लेख किया है। मै समझता हूँ कि सदेहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामे साप्रदायिक सस्कारके वश होकर अगर सदेह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हो। अस्तु।

अन्तमे मैं पडितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानो और श्रीमानोसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पडितजीकी सभी कृतियोका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते है और श्रीमान्, पडितजीकी साहित्यप्रवण शक्तियोका अपने साहित्योत्कर्ष तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योंमे विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मै पंडितजीसे भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयोको, खासकर जैन प्रमेयोको केन्द्रमें रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपका निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्बधमें सब दृष्टिओमे प्रकाश डाल सके।

–सुखलाल संघवी

[प्रधान जैनदर्शनाध्यापक ओरियण्टल कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,
भूतपूर्व दर्शनाध्यापक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद]

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।
२५।३।४१

॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अवशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लाघता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि–इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदभिप्रायों में इसके प्रेरणाबीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन-संशोधन ब०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथावसर उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुबिडम्बनोपाय, हेतुबिन्दुटीका, सिद्धिविनि-श्चयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयविवरण जैसे अलभ्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने मे सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धमागधीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चावच दर्शनस्थानों से बहकर उन्हे सम बनाती है तथा कितनेक समन्तभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मल्लवादि अकलंक जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकवादों के स्वच्छ युक्तिसलिल-संभार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तप्त जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अकथ आप्यायक सुषमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की वह वाग्गंगा प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभाव से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम- जवानी में लोल बालभाव की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चावच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदात्म हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुगामी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकान्तदृष्टि से विरोधी दर्शनों की सुयुक्तियो को भी उचित स्थान देकर उनका समन्वय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकान्त-मूलक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्याद्वाददृष्टि से सभी एकान्तो का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होने दार्शनिक वादविवादो का समन्वय कर अहिसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादो का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने आज भी अन्तिम श्वासें ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परिशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यायाम का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादो के उत्थान-पतनो का अजायबघर भी है। इसके परिशीलन से उन उन युगो की विद्वन्मनोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दर्शन ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके क्रमविकास की कहानी का तटस्थ-भाव से अवलोकन, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तो की समता और विषमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियो का अपने ढग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत ऐसी विनिमयपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विकास को पा सका है। उदाहरणार्थ–नैयायिकाभिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धो के साथ मीमासक भी अपना कन्धा लगाता है वहाँ मीमा-सकाभिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धों का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ क्षणिकत्व का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि यथासभव जैन का खण्डन करने में बौद्धो का तथा बौद्धो का खण्डन करने में जैन का साथ देते है। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसग है वहाँ वैदिक दर्शनो के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मैदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमासक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राह्मणत्वजाति का विचार आता है वहाँ केवल बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्श-निक महाभारत में सिद्धान्तो की समता और विषमता के कारण परस्पर विरोधी वादी भी कहीं समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देखे जाते हैं तो कहीं एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना बुद्धिकौशल दिखाते हैं। अतः विभिन्न वादो की समालोचना के समय एक ग्रन्थकार का दूसरे ग्रन्थकार की युक्तियो का शब्द अर्थ और भाव की दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धान्तो के साम्य-वैषम्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र में यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योंकि यह विचार विनिमय ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी मे उसकी प्राणप्रतिष्ठा है।

दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथावत् परिज्ञान करके शान्तिलाभ करना है। स्वदर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ख्याति आदि तो वादियो के चित्त की विजिगीषा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा मे ताटस्थ्य रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

संस्करणपरिचय–इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणो मे ग्रन्थो के नाम मोटे टाइप मे दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिया है उस ग्रन्थ का (–) ऐसे डैश के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अन्य जिन ग्रन्थों के मात्र पृष्ठस्थल दिये हैं उन ग्रन्थों मे वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थों के नाम तो अर्थसादृश्य, भावसादृश्य और कहीं शब्दसादृश्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थबोधक टिप्पण आ० प्रति के हॉसिए मे लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वयं सम्पादक द्वारा ही लिखे गये हैं। टिप्पण या मूल ग्रन्थ मे जो शब्द त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दों को अपनी ओर से रखा है वे [ ] ऐसे ब्रेकिट मे मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दों को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहाँ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ ( ) ऐसे ब्रेकिट मे दिया गया है।

भूमिका में जो विषय प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके हैं उनकी चरचा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के विषय में ही कुछ विशिष्ट सामग्री के साथ ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेव के समय विषयक अपने विचार सिंघी सीरीज से प्रकाशित **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहाँ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

परिशिष्ट–इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं। जिनसे ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के विषयों को अपनी दृष्टि से सहज ही खोज सकेंगे। १ लघीयस्त्रय के कारिकार्ध का अकाराद्यनुक्रम। २ लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृति में आए हुए अवतरण वाक्यों की सूची। ३ लघीयस्त्रय और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, इसमें लाक्षणिक शब्द काले टाइप मे दिए हैं। ४ लघीयस्त्रय की कारिकाएँ तथा विवृति के अंश जिन दि० श्वे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं या उन्हे अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थो की सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरों के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषो के नाम तथा भौगोलिक शब्दों की सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारो की सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्र में जिन शब्दो के लक्षण या निरुक्तियाँ की गईं है उन लाक्षणिक शब्दों की सूची। १० न्यायकुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दो की सूची। १२ टिप्पणी मे तथा मूलग्रन्थ

में आए हुए अवतरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने मे जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थो के सस्करण आदि का परिचय, सकेत विवरण तथा न्यायकुमुद के जिन पृष्ठो पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठो की सूची।

शुद्धिपत्र–प्रूफ देखने मे पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली स्थूल अशुद्धियो का निर्देश ही इस पत्रक मे किया है।

आभार–आदरणीय प्रज्ञाचक्षु प० सुखलाल जी ने अपनी सहज विद्यारसिकता से यथावसर सत्परामर्श दिये हैं तथा सिद्धिविनिश्चयटीका, हेतुबिन्दुटीका एव तत्त्वोपप्लवसिंह आदि लिखित ग्रन्थो के उपयोग करने की पूरी पूरी सुविधा दी है। ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहित्योपासक यथार्थोपनामक पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय में उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नकल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ी तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है। सच पूंछो तो प्रेमीजी जैसे सद्वृत्त मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप में सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है। त्रिपिटिकाचार्य महापंडित राहुलसाकृत्यायन ने प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, स्ववृत्तिटीका के दुर्लभ प्रूफ तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कार की सर्वथा अलभ्य प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं। सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग मे मुद्रित अश का प्रथमवाचन हुआ था और ब० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे।

प० परमानन्दजी वीर सेवा मन्दिर सरसावा ने प्राकृतपचसग्रह की गाथाओ के स्थल खोज कर भेजे। ओरियंटल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने न्यायकुमुदचन्द्र की एक त्रटित प्रति भेजी। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासशोधनमन्दिर के अध्यक्ष ने हेतुविडम्बनोपाय तथा जैनसिद्धान्तभवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजबली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अवसर दिया तथा पत्रोत्तर दिए। श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प० जुगलकिशोर जी मुख्तार, प० चैनसुखदास जी, प० लोकनाथ जी शास्त्री, पं० वर्धमान शास्त्री, सा० र० प० हीरालाल शास्त्री, पं० नाथूलाल जी आदि विद्वन्मण्डल ने यथासमय प्रशस्ति आदि के बाबत ज्ञातव्य प्रश्नो के उत्तर दिये। पञ्चाचार्य प० भूपनारायण जी झा ने प्रशस्ति श्लोको की रचना करके सहायता की। श्री विजयमूर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा प्रियशिष्य गुलाबचन्द्र जी न्याय-साख्यतीर्थ और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट बनाने में पूरी पूरी मदद की है। मैं उक्त सभी महाशयों का हार्दिक आभार मानता हूँ।

पौष शुक्ल पूर्णिमा
मकरसक्रान्ति
वी० नि० २४६७

सम्पादक–
न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार
स्या० वि० काशी।

॥ प्रस्तावना ॥

इस संस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनों आचार्योंके समय आदिके विषयमें यथेष्ट ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस–

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥"

कारिकाके 'विक्रमार्कशक' शब्द पर विद्वानों का मतभेद है कि 'अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसंवत् ७०० में हुआ है, या शक संवत् ७०० में?' उसके विषयमें इतना और विशेष वक्तव्य है कि–'विक्रमार्कशक' शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने 'शकसंवत्' के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्तिकी यह गाथा ही पर्याप्त है–

"अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥"

षट्खंडागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० २५-४५) मे प्रो० हीरालालजीने बहुमुख ऊहापोहके अनन्तर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित **'विक्कमरायंकिए सुसगणामे'** पदसे 'शकसंवत्' ही ग्राह्य हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (गा० ८५०) टीकाकार श्रीमाधवचन्द्रत्रैविद्यका यह अवतरण दिया है–**"श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् 'विक्रमाङ्कशकराजो' जायते..."** इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकराजको भी 'विक्रमांकशक' लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए 'शकसंवत्' का उल्लेख भी 'विक्रमाङ्कशकसंवत्' पदसे किया जाता था। मैंने **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावनामें अन्य प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक संवत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु।

आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है–१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ।

§१. प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना–

इस तुलनात्मक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोमें क्रमशः विभाजित कर दिया है । १ वैदिक दर्शन–वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, सांख्ययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा । २ अवैदिक दर्शन–बौद्ध, जैन-दिगम्बर, श्वेताम्बर ।

(वैदिकदर्शन)

वेद और प्रभाचन्द्र–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे "पुरुष एवेदं यद्भूतं" "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र (पृष्ठ ७२६) में उद्धृत हैं–"प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "रुद्रं वेदकर्त्तारम्" आदि। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियमुरुभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्" यह वाक्य उद्धृत है । यह ऋग्वेद के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" आदि सूक्तकी छाया रूप ही है ।

उपनिषत् और प्रभाचन्द्र–आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनो न्यायग्रन्थोमे ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोमे अनेको उपनिषदो के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, तैत्तिर्युपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, जाबालोपनिषत् आदि उपनिषत् मुख्य हैं । इनके अवतरण अवतरणसूची में देखना चाहिये ।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र–महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं । आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ८) में याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२२) का "लिखितं साक्षिणो भुक्तिः" वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७५) में मनुस्मृतिका "अकुर्वन् विहितं कर्म" श्लोक उद्धृत है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में मनुस्मृतिके "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" श्लोकका "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस कूर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है ।

पुराण और प्रभाचन्द्र–प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्यपुराणका "प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।" यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में कूर्मपुराण (अ० १६) का "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है ।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः....." श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०९) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक 'व्यासवचन' के नामसे उद्धृत हैं—"यथैधांसि समिद्धोऽग्निः ..." [गीता ४।३७] "द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः....." [गीता १५।१६,१७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का "नाभावो विद्यते सतः" अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिसाहकारोंने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गभीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमे स्वयं ही लिखते हैं कि—

"शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्"

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्करमें पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११९) से "यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेशः" इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमे भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व-असाधुत्व विचार मे पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्यपदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए "आख्यातशब्दः" आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका सविस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्यपदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो "स्थानेषु विवृते वायौ" आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १०९) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण दिए हैं। इसके विवेचनमे व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमे योगभाष्यसे "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये है।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र—ईश्वरकृष्णकी साख्यसप्तति या साख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। साख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका साख्यकारिकामें सक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें साख्योके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थोमें नहीं पाये जाते। यथा—"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" "आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" "प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत" "प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओके सिवाय कोई अन्य प्राचीन साख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र—साख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने साख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सांख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं साख्यकारिकाओ की व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र—कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" इस पक्तिको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोकी षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसकी पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनो ग्रन्थोमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोके खडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा हैं। डॉ० कीथ इन्हें नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताव्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ—

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पंजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओंका इस क्रमसे निर्देश किया है–सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्तमान नारोदग्राम की एक वापी प्रशस्ति ❀ से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

"कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शंखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि–"इनके वचनोंका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते।"† स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हों। इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्होंने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रममें तप साधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।" व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे।‡ 'ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु-मितभाषी, विनय-नय-संयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहीं एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था। इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं–

"सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः। गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनिः॥
सांख्येऽनल्पमतिः स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः। बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः को वाथ नायं कृती॥
यद्भूतं यदनागतं यदधुना किंचित्क्वचिद्वर्त (र्त) ते। सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत्॥
सर्वज्ञः स्फुटमेष कोपि भगवानन्यः क्षितौ स(श)करः। धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्रं वपुः केवलम्॥"

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोंकी अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शंकर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय–व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें ले गया था। अवन्तिवर्माके चाँदीके सिक्कों पर "विजितावनिरवनिपति श्री अवन्तिवर्मा दिव

❀ प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग, शिलालेख नं० १०८।

† "यस्याद्यापि विबुधैरितिकृत्यशंसि व्याहन्यते न वचनं नयमार्गविद्भिः॥"

‡ "अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्याताभिधानस्य च।"–वापीप्रशस्ति

जयति" लिखा रहता है तथा सवत् २५० पढा गया है ※। यह सवत् सभवत गुप्त-सवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्तसवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरी को प्रारम्भ होता है †। अत ५७० ई० में अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुको अपने राज्यमे लाए होगे। ये अवन्तिवर्मा मौखरी-वशीय राजा थे। शैव होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समयके सम्बन्धमे दूसरा प्रमाण यह है कि–वैसवशीय राजा हर्षवर्द्धनकी छोटी वहिन राज्यश्री अवन्ति-वर्माके पुत्र ग्रहवर्माको विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई० ५९० मे हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५-६ वर्ष वडा जरूर होगा। अत उसका जन्म ५८४ ई० के करीव मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्माका यह इकलौता लडका था। अत' मालूम होता है कि ई० ५८४ मे अर्थात् अवन्तिवर्माकी ढलती अवस्थामे यह पैदा हुआ होगा। अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि सन्यासियोकी शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नही है, क्योकि कभी कभी २० वर्षमें ही शिष्य-प्रशिष्यो की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढी के वाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिकग्रन्थोंके आधारसे समय–व्योमशिव स्वय ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढगसे उल्लेख करते है। यथा–

"अत एव मदीय शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रीहर्ष देव-कुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्येव उभयत्रापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसदभावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्त्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम् ।"

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A D राज्य) व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहा यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते है, परन्तु जव शिलालेखसे उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताका वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते है तब उक्त कल्पनाको स्थान ही नही मिलता।

व्योमवतीका अन्तः रीक्षण–व्योमवती (पृ० ३०६,३०७,६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (२-११,१२ तथा १-६८,७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई है। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्त्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदके "डिण्डिकराग परित्यज्य अक्षिणी निमील्य" इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिककी और भी बहुतसी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती है।

व्योमवती (पृ० ५९१,५९२) में कुमारिलके मीमासा-श्लोकवार्तिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत है। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २० च) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी (पृ० ५४०) खडन किया गया है।

इनमे भर्तृहरि, धर्मकीर्त्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्राय समसामयिक और ईसाकी सातवी शताब्दीके विद्वान् है। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् है। अत व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एव किंचित्पूर्ववर्ती विद्वानोका उल्लेख तथा समालोचनका होना सगत ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अत. इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

※ देखो, भारतके प्राचीन राजवश, द्वि० भाग पृ० ३७५।

† देखो, भारतके प्राचीन राजवश, द्वितीय भाग पृ० २२९।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धर्षि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परतु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमे प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते है। (तुलना—तत्त्वसग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३।) तत्त्वसग्रहकी पजिका (पृ० २०६) मे व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवी शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसग्रहकी भूमिका पृ० XCVI)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) मे व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई हैं। विद्यानन्द ईसाकी नवम-शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमजरी (पृ० २३) मे व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९ वी शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामे (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमे 'यत' पदका अध्याहार करते है तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामे (पृ० ५५६) 'यत' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमे किया है तथा (पृ० ५६१) लिगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A D. है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमे व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसवेदनसिद्धिमे व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमे व्योमवती (पृ० २० क) के "नवानामात्मविशेषगुणाना सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् ··· यथा प्रदीपसन्तान।" इस अनुमानको 'तार्किका' तथा 'आचार्या' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) मे व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यत्वेन योग' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) मे व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्व तु प्रागभावप्रध्वसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया हे। कन्दली (पृ० २००) मे व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान-लक्षणमे विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके सशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्त्तन करना' इन दो मतोका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमे दिए गए "त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A.) मे व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) मे पूर्वपक्षरूपसे व्योम-वतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) मे, हेमचन्द्र प्रमाणमीमाँसा (पृ० ७) मे तथा गुणरत्न अपनी षड्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A.) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम रूप

प्रमाणत्रित्वकी वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते है । इस तरह व्योमवतीकी सक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है ।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोके आधारसे ईस्वी सातवी शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते है । यदि ये आठवी या नवमी शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोका उल्लेख अवश्य करते । हम देखते है कि– व्योमशिव शाकरवेदान्तका उल्लेख भी नही करने तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमे अलौकिकार्थख्याति, स्मृतिप्रमोष आदिका खण्डन करने पर भी शकरके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादका नाम भी नही लेते । व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एव सैकडो मतमतान्तरोका उल्लेख करनेवाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीवर्त्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है ।

अत डॉ० कीथका इन्हे नवमी शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हे छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नही जँचता ।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र–प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमे न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है । इसकी रचना श्रीधरने शक ९१३ (ई० ९९१) मे की थी । श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमे नहीं चूकते । व्योमशिव बुद्ध्यादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २० क)। श्रीधर आत्यान्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४) । आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंकी मुक्तिका खडन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) मे 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है । इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर देखते हैं ।

वात्सायन और प्रभाचन्द्र–न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध हैं । इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है । आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमे इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है । वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोमे ही इनका निर्देश किया गया है ।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र–न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्तत. सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयके खंडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था । इनके न्यायवार्तिकका खंडन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमे किया है । आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोको 'वार्तिकारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है । प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है । "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिकारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका "भावाभावयोस्तद्वत्ता" यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र—भट्टजयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे है। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते है—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम सस्करण विजयनगर सीरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके सपादक म० म० गगाधर शास्त्री मानवल्ली है। उन्होने भूमिकामें लिखा है कि—"जयन्तभट्टका गगेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) मे जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमजरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे **"जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः"** यह वाक्य 'आचार्यै' करके उद्धृत किया है। अत जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गगेश (1175 A D.) से पूर्व होना चाहिये।" इन्हीका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय सस्करणके सम्पादक प० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा 'सस्कृतसाहित्यका सक्षिप्त इतिहास'के लेखकोने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वीसे ११ वी शताब्दी तक मानते थे*। अत जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा **"जात च सम्बद्धं चेत्येकः कालः"** इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय 'न्यायसूचीनिबन्ध' के अन्तमें स्वय दिया है। यथा—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वकवसुवत्सरे।"

इस श्लोकमे ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्दसे शकसवत् लिया है†। डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम सवत् लेते है‡। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते है§ कि 'तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी 'लक्षणावली' शक स० ९०६ (984 A. D) में समाप्तकी है। यदि वाचस्पतिका समय शक स० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि-जैसी टीका वन जाना सभव मालूम नही होता।

अत वाचस्पति मिश्रका समय विक्रम सवत् ८९८ (841 A. D.) प्राय सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोडकर प्राय सभी दर्शनो पर टीकाएँ लिखी है। सर्वप्रथम इन्होने मडनमिश्रके विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामकी टीका लिखी है, क्योकि इनके दूसरे ग्रन्थोमे प्राय इसका निर्देश है। उसके बाद मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' तथा 'तत्त्वबिन्दु'; इन दोनो ग्रन्थोका निर्देश तात्पर्य-टीकामे मिलता है, अत उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही 'न्यायसूची-निबन्ध' लिखा होगा, क्योकि न्यायसूत्रोका निर्णय तात्पर्य-टीकामे अत्यन्त अपेक्षित है। 'साख्यतत्त्वकौमुदी' मे तात्पर्य टीका उद्धृत है, अत तात्पर्यटीकाके बाद 'साख्यतत्त्वकौमुदी' की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें 'साख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अत निर्दिष्ट कौमुदीके वाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोका 'भामती' टीकामें निर्देश होनेसे 'भामती' टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

---

* हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्त्तिक-भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एड बिब्लोग्राफी ऑफ दि न्याय-वैशेषिक Vol. III, पृ० १०१।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं–वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्याय-कणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बडे महत्त्वपूर्ण शब्दोमे गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा –

'अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्। प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥"

अर्थात्–जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादियोका दमन करनेवाली, रुचिर न्यायमजरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो।

इस श्लोकमे स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने मे भी नही आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्य-टीकामे 'त्रिलोचनगुरून्नीत' इत्यादि पद देकर अपन गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने मे कोई वाधा नही है, क्योकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक **'जातञ्च सम्बद्ध चेत्येक. काल.'** इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नही है, किन्तु न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवार्तिक पृ० २३६), जिस न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' मे लिखते हैं † कि–"वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योकि जयन्तके ग्रन्थो पर वाचस्पतिका कोई असर देखने मे नही आता।" 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषय मे भी उन्होने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि–"यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिये।" वाचस्पतिके पहले भी शकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसग्रह आदि ग्रन्थोमे पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायञ्जरी (पृ० १२०) मे उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ' इस पद्यको टिप्पणीमे 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुत यह पद्य वाक्यपदीय (१–३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामे भी उद्धृत ही है, मूलका नही है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि–'व्यवसाया-त्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पक ज्ञानका। सशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है, इसलिये सशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नही है। यह बात मै 'गुरून्नीत मार्ग' का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमश्व' इत्यादि शब्दससृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्य-क्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति 'अयमश्व' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधार पर—

शब्दजत्वेन शाब्दञ्चेत् प्रत्यक्ष चाक्षजत्वत.। स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियक हि तत् ॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पका सग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) मे 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मतका 'आचार्या.' इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्याय-मञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खडन किया है।

---

† सरस्वती भवन सीरीज् III पार्ट।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे '**तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः**' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि–यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका। तात्पर्य-टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अत यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (सभवत व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य-टीकामे स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य टीकामें (पृ० १०२) '**यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्**' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयञ्चेदम्' इत्याकारकपरामर्श, इत्यादि बताया है।

न्यायमजरी (पृ० ६६) मे इसी प्रकरणमें शङ्का की है कि– प्रथम आलोचन ज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें कई क्षणोका व्यवधान पड जाता है' ? इसका उत्तर देतें हुए मजरीकारने 'आचार्या' शब्द लिखकर उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्या' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने '**न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रा**' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सपादक प० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बडे टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादेयता ज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि–यह मत स्वय वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका ? यद्यपि यहाँ उन्होने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती‡ जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) मे इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्या' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "**जातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येक काल**' इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलो में 'आचार्या' पद पर '**वाचस्पतिमिश्रा**' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमे रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि–जयन्त मजरीमे धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके '**एकमेवेद हर्षविषाद-**

* 'न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूप पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तर प्रतिपद्यत इत्युभयज ज्ञानम्, ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराऽसम्भवादयुक्तमेतत्। तथाहि-मनसाऽधिष्ठितं न श्रोत्र शब्द गृह्णाति पुन क्रियाक्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम्। न च शब्दज्ञानस्यैतावत्कालमवस्थान सम्भवतीति कथमुभयजं ज्ञानम् ? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोत्पन्ना विभागमारभते तत स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयज ज्ञानम्। यदि वा 'भवत्येवोभयज ज्ञानम् "–प्रश० व्यो० पृ० ५५५।

‡ "द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदु खसाधनत्वोपलब्धे तज्ज्ञानानन्तर यद्यत् द्रव्यादिजातीय तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेद द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चय· तत उपादेयज्ञानम्··"–प्रश० व्यो० पृ० ५६१।

यनेकाकारविवर्त्त पश्यामः तत्र यथेष्ट सज्ञाः क्रियन्ताम्" (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालकारकी प्रेसकापी पृ० ४२९) इस वचनका खडन करते हैं, (न्यायमजरी पृ० ७४)।

भिक्षु राहुलजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अत जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A D तथा उत्तरावधि ८४० A D होनी चाहिए। क्योकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A D मे बनाया गया है, इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वबिन्दु और तात्पर्यटीका लिखचुके हैं। सभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो। इस न्यायकणिका मे जयन्तकी न्यायमजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D ही मानना समुचित ज्ञात होता है। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी सगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरी कथासारमे लिखते हैं कि–

"भारद्वाज कुलमे शक्ति नामका गौड ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।"

काश्मीरके कर्कोट वशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A D तक रहा है❀। शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ अवस्थामे मन्त्री होगे, अपने मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होगे। इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन् ७४० मे चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होने ईस्वी ८०० तकमे अपनी 'न्यायमजरी' बनाई होगी। इसलिये वाचस्पतिके समयमे जयन्त वृद्ध होगे और वाचस्पति इन्हे आदर की दृष्टिसे देखते होगे। यही कारण है कि उन्होने अपनी आद्यकृतिमे न्यायमजरीकारका स्मरण किया है।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि–हरिभद्रसूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) मे न्यायमजरी (विजयानगर स० पृ० १२९) के

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वरा। रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः॥
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहा। वृष्टि व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुच॥"

इन दो श्लोकोके द्वितीय पादोको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है। प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिनविजयजीने 'जैन साहित्यसशोधक' (भाग १ अक १) मे अनेक प्रमाणोसे, खासकर उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथामे हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) मे हुई थी। मेरा इस विषयमे इतना सशोधन है कि उस समयकी आयु स्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है। उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमजरीको देख सकेंगे। हरिभद्र जैसे सैकडो प्रकरणोके रचयिता विद्वान्के लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नही हो सकता। अत ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमजरीके श्लोकोका अपने ग्रन्थमे शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधक प्रमाण है।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एवं न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एव न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एव समुचित उपयोग किया है। षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमञ्जरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते है। प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी खभ्यस्त

❀ देखो, सस्कृतसाहित्यका इतिहास, परिशिष्ट (ख) पृ० १५।

थी। वे कहीं कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकारः' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्यवादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गईं १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गईं हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गईं हैं।

(न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४९१) "भूयोऽवयवसमान्ययोगो यद्यपि मन्यते।
सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायमं० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति ॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमे न्यायमंजरीका नाम लिखा जा सकता है।

वाचस्पति और प्रभाचन्द्र—षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ मे समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सांख्यों के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खंडन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) मे भी सांख्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामे अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करने के लिए "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विपान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति···" इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६६) मे इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष मे उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमे विधिविवेक के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) मे शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—
"नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम् ॥"
शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र—जैमिनिसूत्र पर शाबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें कुमारिल के श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्य की दलीलों को भी पूर्वपक्षमे रखा है। शाबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६४) मे उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७९) मे शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमांसकोंका मत भी शाबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र मे शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्वपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

कुमारिल और प्रभाचन्द्र–भट्टकुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है–

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥" [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) मे वाक्यपदीय (१।७) के "तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमासाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लो० ५१) मे वाक्यपदीय (२।१-२) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमे बडी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री इत्सिंगने अपने यात्रा-विवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादि-प्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत कीं हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी "तस्मादुभय-हानेन व्यवृत्त्यनुगमात्मकः" आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत कीं हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। साराश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमासाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्बेक-कृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोडन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जातीं। सभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हो।

मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र–आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावना-विवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० ९ वीं शताब्दी का पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोमें सप्तमशतकवर्ती कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा

१ देखो बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावना।

८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४९) में मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्ष में मंडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र–शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्टकुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का विस्तृत खंडन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र–प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नाम की पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र–आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय[1] ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र–शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ९ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे " ब्रह्माविद्यावदिष्टश्चेन्ननु " इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)

१ द्रष्टव्य–अच्युतपत्र वर्ष ३ अङ्क ४ मे म० म० गोपीनाथ कविराज का लेख।

तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-वार्तिक (३।५।४३-४४) से "यथा विशुद्धमाकाशं" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

भामह और प्रभाचन्द्र–भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ० २९१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली "यदि गौरित्यय शब्दः" आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६ वे परिच्छेद (श्लो० १७–१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-विषयक "यदि गौरित्ययं" आदि तीनो कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह भी सभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

बाण और प्रभाचन्द्र–प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २९८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३९३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है–"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः"–अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र–शिशुपालबध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है[1]। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का "युगान्तकाल-प्रतिसंहृतात्मनो···" श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

---

१ देखो सस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३।

(अवैदिकदर्शन)

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र–अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८,२९]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र–नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हे शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी 'न स्वतो नापि परतः' और 'यथा मया यथा स्वप्नो...' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र–वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृं० ३९०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्य-समुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत कीं हैं। देखो-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र–आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट संस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८०) में

---

१ वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI.

'स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः' लिखकर प्रमाणसमुच्चयका 'प्रमाणभूताय' इत्यादि मंगलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है– "दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः' इत्युक्तम् ।"

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र–बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ प्रहार किए है। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खंडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खंडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना (पृ० १८-) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्त्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेको कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यो की त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका "हसति हसति स्वामिनि" आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः" कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोंका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी ईसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चरचा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि–विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खंडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कार में ही किया है[1]। भिक्षु राहुलसांकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जडताका चिह्न बताया है–

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥"

उत्तराध्ययनसूत्रमें 'कम्मुणा बह्मणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ' लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिहनन्दिने वराङ्गचरितके २५ वे अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमे सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र–प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी स्वोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णककगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका 'आहुर्विधातृ' श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० ८ वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणों पर कर्णकगोमिकी स्ववृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये[2]।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र–तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है[3]। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रावाहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अकलक ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० २७ मे देखना चाहिए।
२ इन आचार्योंके ग्रन्थोके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।
३ देखो तत्त्वसग्रहकी प्रस्तावना पृ० Xcvi

वार्तिकमें नहीं पाई जातीं। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हो। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतुलक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ९ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दुविवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है–१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १०) मे कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चरचामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र–ज्ञानश्रीने क्षणभगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे है। उदयानाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खडन किया है[1]। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बराक (९०६) शक, ई० ९८४ में समाप्तकी थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। भिक्षु राहुल साकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि–ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोहसिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है–

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां" कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थो में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं हैं पर उदयनाचार्य (ई० ९८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

---

१ देखो वादन्यायका परिशिष्ट।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र–भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खंडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोमे सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञान-का पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) मे 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३९) मे भी तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खंडनमे क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र–दिगम्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय–प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार–के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामे इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) मे केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-२६) मे स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्द-के इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमे केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्ति-वादके रूपमे पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमे दिग-म्बरोंकी मान्यताका विस्तृत खंडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुंवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र–आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पांचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसंहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि–

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥१२३॥"

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल–प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी स्वामीने मीमासा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते है कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आप्तकी मीमासा की है उसी आप्तकी मैंने परीक्षा की है। वह मगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था। यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोके निकालनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक स्वय सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता; क्योंकि भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्दने अपने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है। यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते। इस श्लोकमें विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्तरत्न निकाले थे। वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते। परन्तु यही विद्यानन्द आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं। यथा–

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्र शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते–मोक्षमार्गस्य नेतारं "

इस पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं–"तेन 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्ट साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।" इस अवतरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम 'विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है' यह नहीं समझ सकते। अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते। अतः इस पक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्धरत्नोके उद्भवकर्ता आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मगलश्लोक है। और यदि समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं। पं० सुखलालजी का यह तर्क कि–"यदि समन्तभद्र

पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किए बिना नहीं रहते" विचारणीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी "द्रव्यपर्यााययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः" कारिकाके खंडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक संभवतः धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हों। अर्चटका समय ९ वीं सदी है। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकाके प्रतिच्छायभूत निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥" [मी० श्लो० पृ० ६१९]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय इसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अन्यथा दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पांचवी और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहां कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहां प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वे शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—"धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमें की है।" डॉ० पाठक और उक्त

---

१ देखो अनेकान्त वर्ष १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते है कि इसकी प्रति बबईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है।

इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोके समय निर्धारणकी भाति धनञ्जयके समयमें भी बड़ी भारी भ्रान्ति कर बैठे है। क्योकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८ वीं सदीका अंन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता हैं–

१ जल्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है–

"द्विसन्धाने निपुणतां सता चक्रे धनञ्जय । यया जात फल तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः ॥"

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। सस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि–"यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।" आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमासाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२ वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं–

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः। बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥"

इस श्लिष्ट श्लोकमें 'अनेकभेदसन्धाना.' पदसे धनञ्जयके 'द्विसन्धानकाव्य' का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है–

"हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः ॥"

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके–

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥"

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

१ देखो धवलाटीका प्रथम भागकी प्रस्तावना पृ० ६२।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाधिकबार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलंकवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थो पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ९८) में 'एके अनन्तवीर्यादय.' पदसे संभवतः इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोका अनूठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

"विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्"

इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्धयै' 'सत्यवाक्याधिपाः' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७) लिखते हैं कि—"बहुत संभव है कि उन्होंने गंगबाड़ि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गंगवाड़ि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गंगवंशमे होने वाले राजाओंमे सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह संभव है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमे रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः" इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनो शब्द हैं, जिनसे गगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।" इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका; क्योकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आप्तपरीक्षा आदिमे अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, 'सत्यवाक्य' नाम नहीं लिया है, पर आप्तपरीक्षा आदिमें 'सत्यवाक्य' नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोमें मडनमिश्रके मतका खडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३।४ कारिकाएँ भी उद्धृतकी गई हैं। मडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अत. विद्यानन्दका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपप्लववादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चरचा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र—लघीयस्त्रयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयस्त्रयादिसंग्रहकी ही प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम सवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वदिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥"

वादिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये

हों। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोंका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि-(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद मकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हे पढकर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्-सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ-

"किन्तु अज्ञो जनः दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च-तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्-तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"-बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र-राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोंसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ देखो-प० नाथूरामप्रेमीका 'यापनीय साहित्यकी खोज' (अनेकान्त वर्ष ३ किरण १) तथा प्रो० ए० उपाध्यायका 'यापनीयसघ' (जैनदर्शन वर्ष ४ अक ७) लेख।

शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोकी कुछ कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह सघ दोनो सम्प्रदायोके जोड़नेके लिए शृखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है—"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ"। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं[1]। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर विलगावमें ये दोनो सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यो तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं विषयोके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका सक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विकदृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसघ वालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनो प्रकरणोकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीले पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहारवादमें श्वेताम्बर आचार्योंकी बजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने

१ ये प्रकरण जैनसाहित्यसशोधक खड २ अक ३–४ में मुद्रित हुए हैं।

खंडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६९) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है–

"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः विख्याताः शीलवत्तया जगति।
सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥" [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र–जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिकृत महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने 'शब्दाम्भोजभास्कर'[1] नामका जैनेन्द्रव्याकरण-का महान्यास बनाया है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक लेखमें[2] जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गा० ४३६) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है–

"जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥"

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८९६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है[3] कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गंगवंशीयमहाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने श्रवणबेल्गुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

१ इसका परिचय 'प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ' शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए।
२ जैन साहित्यसंशोधक भाग १ अंक २।
३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना।

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३९३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३।२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वीं सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ९ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ९६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है; क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र–मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रचीं हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सन्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। संभव है कि गोम्मटसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मटसारमें बहुभाग स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूलं जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८,४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) मे "अच्चेलकुदेसिय" आदि गाथाश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा न० ९०९) मे तथा भगवती आराधनामे (गा० ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरआगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस संक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि–कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिग० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र–आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ९८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोका संक्षिप्त सस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयायासपएसे'

गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसंग्रह मे पाई जाती है। अतः आपाततः यही निष्कर्ष निकल सकता है[1] कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसंग्रहसे उद्धृत की होगी; परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।३९) तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ३९९) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) मे 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड में है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और धवलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य ओर प्रभाचन्द्र—रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अकलंकके प्रकरणोंके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमे प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं[2] कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही संक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने[3] प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमांसा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड को पाया हैं।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—[4]देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमे माघ सुदी दशमी विक्रमसंवत् ९९० (ई० ९३३) मे अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसंग्रह ग्रन्थकी रचना की थी; क्योंकि उसमे दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसंग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमे देवसेनके भावसंग्रह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमे लिखा है कि—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ। सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥

---

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम सस्करणके संपादक प० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ "प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति। मादृशा. क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिर सताम्। चेतोहर भृत यद्वन्नद्या नवघटे जलम्॥"

३ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अक ९।

४ नयचक्रकी प्रस्तावना पृ० ११–।

रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए। सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धं माहसुद्धदसमीए।।" अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है। तथापि वहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन धारानगरीमे ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूंकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ९९७ (ई० ९४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु-प्रक्रिया उपलब्ध है[१]। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिकृत महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो 'टीकामाल' शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

"सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्यौवशय्यातलम्।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,
प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्।।"

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है— "इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते"। यह चरित्र शक संवत् १०११, ई० १०८९ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना युक्तिसगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा दी है। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र—भ० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरों ने द्वादशांगी रूपमें गूँथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशाग आगमोंकी परम्परा श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोका आखरी संकलन वीर सं० ९८० (वि० ५१०) में श्वेताम्बराचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अंगग्रन्थोके सिवाय कुछ अंगबाह्य या अनंगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनंगश्रतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६८) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र (५।२०) से "नो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए" यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो वह, जिस पर स्वय वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य-

१ देखो प्रेमीजीका 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्यदेवनन्दी' लेख, जैनसा० स० भाग १ अक २।

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५९) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्धकारिकाओमेंसे "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः" कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० १०) मे भी "अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पाई जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमे 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ मे भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र–आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ जैकोवी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमे अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। पं० सुखलाल जी इन्हे विक्रमकी पांचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठीं या सातवीं सदीमे हुए हों और उन्होंने संभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो[2]।" न्यायावतारकी रचनामे न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) मे पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४–१६ से भलीभांति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र–श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है; क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है[3]। सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि सं० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पंचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की ९ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की 'वरिससयदिक्खयाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

---

१ देखो गुजराती सन्मतितर्क पृ० ४०।
२ इङ्गिलश सन्मतितर्क की प्रस्तावना।
३ जैनसाहित्यनो इतिहास पृ० १८६।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र–आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जी-ने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है–कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए, क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमंजरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मंजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोमें 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका–

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥"

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका एक श्लोक–

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दश्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ॥"

इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे संभावना की जा सकती है कि जैमिनिकी षट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह सभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं विना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं ? इसका एक और उदाहरण यह है कि–

"विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च। समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः। क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते। पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च···"

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२–४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके श्लोक उद्धृत कर अपनी षड्दर्शनसमुच्चायक बुद्धिके प्रेरणा

बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र–श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, विक्रम संवत् ९६२ (१ मई ९०६ ई०) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथा-की समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि–"जिस तरह लक्ष्य-निर्देशके विना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए विना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रति-भासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।" न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारी का दृष्टान्त दिया गया हैं। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोंके लिए देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र–चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद थे। सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) मे श्रीमान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमे एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। पं० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी संभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १०९६ मे हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिका का सशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं मे सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने मे कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिक-प्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीका मे पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

युक्तियोमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोमें परस्पर खडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोके साथ ही इस विषयकी चरचा करते होगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोके उक्त प्रकरणोको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि–"जो के आ टीकामा सैकड़ो दार्शनिक-ग्रन्थो नु दोहन जणाय छे, छता सामान्यरीते मीमासककुमारिलभट्टनु श्लोकवार्तिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसग्रह ऊपरनी कमलशीलकृत पजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगेरे ग्रंथो नु प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे।" अर्थात् सन्मतितर्कटीका पर मीमासाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसग्रहपंजिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोका प्रतिबिम्ब पडा है। सन्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमे इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूं कि–"प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनो ग्रथोंके बहुभागमें जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रथ है–भट्टजयसिहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह और उसकी पजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेय-कमलमार्त्तण्डमें आया है।" सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि–सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मति-

१ गुजराती सन्मतितर्क पृ० ८४।

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो–प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीका के अवतरण।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र–देवसूरि[1] श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभावक चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्वाटवंशके रत्न थे। इन्होंने वि० सं० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भड़ोच नगरमें ९ वर्षकी अल्पवयमें वि० सं० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० सं० ११७४ में इन्होने आचार्यपद पाया था। राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० सं० १२२६ में इनका स्वर्गवास हुआ। प्रसिद्ध है कि–वि० स० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है। इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है। परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलङ्कके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमे लिया गया है। इस तरह भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोंमें विविध विकल्पजालोसे परपक्षका खडन किया गया है। प्रमेमकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते है तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी संग्रहदृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इनकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चमत्कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनो ग्रन्थोके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्त्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनों ग्रन्थोकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

---

१ देखो जैन साहित्य नो इतिहास पृ० २४८।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि–प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि–मुखादिबिम्बोसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोका मुखादि बिम्बोसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोके चक्षुसे रश्मियोके निकलनेके सिद्धान्तका खडन कर चुके हैं। जब हम भासुररूपवाली आखसे भी रश्मियोका निकलना युक्ति एव अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोसे छाया पुद्गलोके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडनकी धुनमें स्वय ही प्रमेयकलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६९८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि–"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते।"–अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आखोके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोपर अपनी प्रौढ़ संग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० स० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी लघुवयमें इन्होने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् १११०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ये महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२९ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना-प्रमाणमीमासा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमासाके निग्रह-

स्थानके निरूपण और खंडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमांसाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही संक्षिप्त कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामें वृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुरण होना ही अधिक सगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंघी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ लिखीं हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A.) में वे अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयस्त्रयस्वविवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६९१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—"अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।"—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखंडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलंकने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय

करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होने अकलंकदेवके इस तत्त्वको मद्देनजर नहीं रखा कि–नयवाक्यमे स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि–जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे–अखण्डभावसे विषय होते है वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते है, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अत. दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलंककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलंकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्द-नय भी प्रमाण ही हो जायँगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हे विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र–देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होने न्यायावतारटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० सवत् ११९३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रत चरित्र' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं–

१–"परिमण्डलाः परमाणवः तेषां भावः पारिमण्डल्यं वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात्।" (पृ० २५)

२–"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः तां विदन्ति अधीयते वा वैभाषिकाः इत्युवाच।" (पृ० ७९)

ये दोनो अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३८ पं० १३ तथा पृ० ३९० पं० १ में पाए जाते है। इसके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमें अनेक स्थानोपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

---

१ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास पृ० २५३।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र—आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि–इन्होंने शक संवत् १२१४ (ई० १२९३) में दीपमालिका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमंजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमंजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है–"एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।" इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमंजरीमें अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५९८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्वृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोंका लेखनकाल विक्रम सवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वाभिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखंडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है[1] कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखंडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युग प्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में पं० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर वादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे 'न्यायविशारद' पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हें 'वाचक-उपाध्याय' का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३

१ देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८१६ से ८४७ तकके टिप्पण।

(सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी। जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्याय-दीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोके परपक्ष खडनवाले अशोमें प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बत हैं। इन्होने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योकी समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोमें प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तर-कालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान–प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हे जीवनो-पयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६९) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोंका सद्भाव दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है–

"आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः॥"

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोके गुणपदार्थका खडन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) में नड्व-लोदक–तृणविशेषके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति–सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलंक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३६६) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा-पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

उदारविचार–आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। इनकी तर्कणा शक्ति और उदार विचारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकरणमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुणकर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

"ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"
[न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४८६]

"प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करें तथा ब्राह्मणोंके योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करें उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारों को क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है।"

वे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—"ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे होती ही है।"

बौद्धोंके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है—

"न जटाहिं न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं ।" [धम्मपद गा० ३९३]

"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥" [उत्तरा० २५।३३]

दिगम्बर आचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनन्दि कितने स्पष्ट शब्दोंमे जातिको क्रियानिमित्तक लिखते हैं–

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥" [वराङ्गचरित २५।११]

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओसे ही मानते हैं। यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है। क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं हैं।"

ऐसे ही विचार तथा उद्गार पद्मपुराणकार रविषेण, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्मपरीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं[1]। आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक संस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परिसिञ्चन कर पोषण किया है। यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधानतया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अंशोके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती। उन्होने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए।

§ २. प्रभाचन्द्रका समय–

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें 'पद्मनन्दि सैद्धान्त' को अपना गुरु लिखा है। श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख (नं० ४०) में गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। और इसी शिलालेखमे आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपमे वर्णन किया गया है[2]। प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनो विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्करनामक जैनेन्द्रन्यासके कर्त्ता भी थे। इसी शिलालेखमे पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकर्णादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन विशेषणोसे ज्ञात होता है कि–पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोल्लाचार्यके शिष्य थे।

---

१ देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९। २ जैनशिलालेखसंग्रह, माणिकचन्द्रग्रन्थमाला।

प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमे हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामे हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमे चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की। ये धाराधीशभोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी "श्रीभोजदेवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमे भोजदेवके राज्यमे बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराणटिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रवणवेल्गोलाके शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः ॥१७॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः ॥१८॥"

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमलसमूह-(प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्त्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पंडित रूपी कमलोंके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथितर्कग्रन्थकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एकही बात नयी है। वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामे आनेके बाद अपनेही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं। यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमे प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। हलेबेल्गोलके एक शिलालेख (नं० ४९२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०९४ मे प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार–आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमे डॉ० पाठक, प्रेमीजी§ तथा मुख्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण का यह श्लोक–

"चन्द्रांशुशुभ्रयशस प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादित जगत्॥"

अर्थात्–'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।' इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक स० ७५९ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ०१२३) मे डॉ० पाठक आदिके मतका निरास ‡करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० से १०२० तक

§ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते है। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि–"हम समझते है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता है। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही है।"

‡ प० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चन्द्राशुशुभ्रयशस' श्लोकमें चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमे बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए है वे बलवत् नही मालूम होते। यतः (१) आदि-

निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमे अन्तर है। तथा जिन आधारोसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अभ्रान्त नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमे व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) मे समाप्त मानकर-उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के वाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। वलात्कारगणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमे वनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

पुराणकार इसके लिए वाध्य नही माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवी शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवी शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योका स्मरण करके भी आदिपुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अत. समकालीनवृद्ध जयन्त से प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमे उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन से **'अन्धादयं महानन्धः'** श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी वात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी वाधक हो सकती है। क्योकि आत्मानुशासनके **"जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥"** इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके वाद वनाया गया है; क्योकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अत. आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीव मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलव्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है— **"बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः..."** अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयोकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले वड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके वहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ वनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके वाद तो नही वनाया गया क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्धवृद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अत. लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तरपुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। प० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) में यही सभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेन की मृत्युके वाद वनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करने से हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि इसमें अन्य कवियोके सुभाषितोका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य **'नेता यस्य बृहस्पतिः'** भर्तृहरिके नीतिशतकका ८८वा श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य **'यदेतत्स्वच्छन्द'** वैराग्यशतकका ५० वां श्लोक है। ऐसी स्थितिमें **'अन्धादयं महानन्धः'** सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चय पूर्वक नही कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रवल प्रमाणके अभावमे अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्वला[त्का]रगणश्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य(?)विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोंके अनन्तर-"श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराण पर दोनों आचार्योंके पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेखसे स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसी लिए डॉ० पी० एल० वैद्य, प्रो० हीरालालजी तथा प० कैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं-

१-प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्री भोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् मुख्तारसा० तथा प० कैलाशचन्द्रजी प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाए जाने वाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते। मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचन्द्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनोंके आधार जुदे जुदे हैं। मुख्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेन

१ देखो प० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १। २ महापुराणकी प्रस्तावना पृ० XIV। ३ रत्नकरण्डप्रस्तावना पृ० ५९-६०। ४ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

के पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते। पं० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १० वीं और ११ वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[2] कि–प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी कुछ प्रतियों में यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है। मैंने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्त भवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भां० प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भां० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी हैं, उनमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति-वाक्य है। इनमें भां० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह प्रमेय-[3]कमलमार्त्तण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंह देवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तार सा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्ति-वाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि–लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोलकल्पित करके उसमें जोड़ दें। जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई।

---

१ रत्नकरण्ड० प्रस्तावना पृ० ६०। २ देखो इनका परिचय न्यायकु० प्र० भाग के सम्पादकीयमें।

३ प० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि–"भाण्डारकर इस्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५–७६) की प्रतिमे प्रशस्तिका 'श्री पद्मनन्दि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नही। वही की नं० ६३८ (सन् १८७५–७६) वाली प्रतिमे 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नही है। पहिली प्रति सवत् १४८९ तथा दूसरी सवत् १७९५ की लिखी हुई है।" वीरवाणी विलास भवनके अध्यक्ष प० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताडपत्रकी दो पूर्ण प्रतियोको देखकर लिखते है कि–"प्रतियोकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य है। प्रमेयकयलमार्त्तण्डकी प्रतियोमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनो प्रतियोमे शकसवत् नही है"। सोलापुरकी प्रतिमे "श्री भोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नही है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्तवाक्य नही है। अनेक प्रतियोमे प्रथम अध्यायके अन्तमे पाए जानेवाले "सिद्ध सर्वजनप्रबोध" श्लोककी व्याख्या नही है। इन्दौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमे प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नही है, पर चारो प्रशस्तिश्लोक है।

जब अन्य अनेक प्रमाणोसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२—यापनीयसघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्य-काल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोका खडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३—सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४—भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे[1] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको सयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र[2] विद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बादही होना चाहिए।

५—आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रंथ (रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रंथ बनाया है। इसकी रचना सभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'णोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना (पृ० ३३) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

१ देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० २८२ टि० ५। २ न्यायसार प्रस्तावना पृ० ५।

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानतः ९६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७–पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था[1]। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्त्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एवं पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८–श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९–श्रवणबेल्गोलाके लेख नं० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है–

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः॥ १५॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः॥ १६॥"

इस लेखमे वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामे ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमे वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है–"उक्त शिलालेखमे कुलभूषणसे आगेकी शिष्य परम्परा इस प्रकार है–कुलभूषणके सिद्धान्तवारांनिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य

१ देखो महापुराणकी प्रस्तावना।

हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे–सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए–गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमे एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भंडारी, अभिनवगङ्गदडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख न० ३९ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु सवत्सर आषाढ़ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरु भक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पॉच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००–१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई० १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है–कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गडरादित्यदेवके उल्लेख शक स० १०३० से १०५८ तक के लेखो मे पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यो नहीं मिलता ? मुझे तो इसका संभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रातमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोके समयमें विद्यमान थे। अत· उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०–वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेको पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक स० ९४७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरण पर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रन्थोसे

प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक सम्भव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं–

१–ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्त्तडका उल्लेख किया है। इन्होने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A) में लघीयस्त्रयकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृतकी है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतारटीकाटिप्पण (पृ० २१,७९) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानो के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२–रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार †ने इन दोनों टीकाओको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८ श्लो० ९३) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचना काल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है; क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खंडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि–"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।" इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ० १५) में लिखा है कि–"यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।" इन उल्लेखोसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और

* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७। † रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताव्दीके वादके विद्वान् नहीं हैं।

३—वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था। ये वि० स० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। संभव है इन्होने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खडन भी किया गया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४—जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पंचवस्तुप्रक्रिया बनाई है[1]। श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्त्ता अग्गलकविके गुरु थे। अग्गलकविने शक १०११, ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अत, श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। सभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रन्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हे किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपयुर्क्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है*।

---

१ देखो—इसी प्रस्तावनाका 'श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' अश, पृ० ३६।

* प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमसस्करणके सम्पादक पं० वशीधरजी शास्त्री सोलापुरने उक्त सस्करण के उपोद्घातमें 'श्रीभोजदेवराज्ये' प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवी शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नही है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपऐसे' गाथाएँ उद्धृत है। पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नही है। पहिली

§ ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक। उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि-व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोंका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है। गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं। इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंवदन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है§। शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं—

"माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथ. परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्त्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपित ॥
*सुखि····न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

जैनसिद्धान्तभवन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है। उसमें भी ये श्लोक हैं। उनमें 'सुखि···' की जगह 'सुखीशे' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रभेन्दवे' पाठ है।

गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) मे उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे भी पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वी) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। अतः इन प्राचीन गाथाओको नेमिचन्द्रकृत नही माना जा सकता। अवश्य ही इन्हे नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसग्रहमे सगृहीत किया है। अतः इन गाथाओका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वी सदी नही साध सकता।

§ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५।

* इस शिलालेखके अनुवादमे राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रगसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे "सुखि" इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है। वह श्लोक यह है—

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञ सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो-
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥"

थोड़ी सी सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोका 'न्यास' वाले लोकसे कोई भी सम्बन्ध नही है। ब्र० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक' मे तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख संग्रह' की भूमिका (पृ० १४१) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है।

यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है–

१–इस ग्रन्थमें मगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं§।

२–सन्धियोके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रमेन्दुर्जिनः' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३–प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता–

"शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः॥
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः॥"

४–शाकटायन यापनीयसघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कट्टर दिगम्बर। इन्होने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरणोका खंडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५–इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघप' आदि विशेषणो का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा–

"एवंभूतमिद शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः॥

महतारभते तत्र महाश्रमणसंघप., श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशद च विशेषतः॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनःसमाधानमाख्यायते। विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनः-समाधि···असमाहितचेतसश्च कि नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयबुद्धिप्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव···"

§ मैसूर यूनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कापी है (न० A 605)। उसमें निम्नलिखित मगलश्लोक है–

"प्रणम्य जयिन. प्राप्तविश्वव्याकरणश्रिय,। शब्दानुशासनस्येय वृत्तेर्विवरणोद्यमः॥
अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाश्रिताः। न्यासा न्यस्ता कृता· टीकाः पारं पारायणान्ययुः॥
तत्र वृत्ता (स्या) दावय मगलश्लोक· श्रीवीरममृतमित्यादि।"

परन्तु इन श्लोकोकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मगलश्लोकोंसे अत्यन्त विलक्षण है।

६–प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७–प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोमें प्रायः उल्लेख करते हैं। यथा न्यायकुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रो के उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८–शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से इन्हें शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर–श्रवणवेल्गोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकरः' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति संवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह त्रुटित है। २९ से ६७ नं० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसंख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से१५ तक पंक्तियाँ और एक पंक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मंगलाचरण–

"श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसंशयहरं निखिलेषु बोधम्।
सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम् ॥ १ ॥
सविस्तरं यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।
मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमार्गे (?)
...तदुक्त कृतशिक्ष (?) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।
किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः ॥३॥
शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्,
यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणांशो गतः।

तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,
सुव्यक्तैरसमैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह–लक्ष्मी-रात्यन्तिकी यस्य ··"

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा–

"सिद्धिरनेकान्तात्–प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थोधिकार आशास्त्रपरिसमा-प्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः"–महावृत्ति पृ० २।

"द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीत्य (?) विकारागमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रग्राह्यौ (ह्याः) परमार्थतो ये प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयितेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येषोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमा-प्तेर्वेदितव्यः। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह–अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्य-सामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्ता-त्मक इत्यर्थः।"–शब्दाम्भोजभास्कर पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गए इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है–

"नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥"

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें "इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः" इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक हैं–

"इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्या-ध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ श्रीवर्धमानाय नमः ॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो हठात्।
अज्ञानान्धतमोपहः क्षितितले श्रीपूज्यपादो महान् ॥
सार्वः सन्ततसत्रिसन्धिनियतः पूर्वापरानुक्रमः।
शब्दाम्भोजदिवाकरोऽस्तु सहसा नः श्रेयसे यं च वै ॥

नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरुवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥ छ ॥

श्री वासुपूज्याय नमः । श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत १९८० मासोत्तममासे चैत्रशुक्लपक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीरसंवत् २४४९ । हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक पालम (सूबा देहली)"

जैनेन्द्रव्याकरणके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं—एक तो वह जिस पर अभयनन्दिने महावृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है; और दूसरा वह जिस पर सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है। पं० नाथूराम प्रेमीने[1] अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है। प्रभाचन्द्रने इसी अभयनन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठ पर ही अपना यह शब्दाम्भोजभास्कर[2] नामका महान्यास बनाया है।

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है—

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।"

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३२९) में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ देखनेका अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं—" एतच्च प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिह द्रष्टव्यम् ।"

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है। इसमें विधिविचार, कारकविचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं। इसमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन तथा अन्य अनेक आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। पृ० ९१ में 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता' प्रयोगका हृदयग्राही व्याख्यान किया है। इस तरह क्या भाषा, क्या विषय और क्या प्रसन्नशैली, हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मलऔर प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभावसे निहित है।

प्रवचनसारसरोजभास्कर—यदि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विकसित करनेके लिए मार्त्तण्ड बनानेके पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका निर्माण किया हो तो कोई

---

१ देखो—'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' लेख, जैनसाहित्य संशोधक भाग १ अंक २।

२ पंडित नाथूलाल शास्त्री इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगंज इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दाम्भोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं। उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्तिलेख बम्बईकी प्रतिके ही समान है। पं० भुजबलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारकलके मठमें भी इसकी प्रति है। इस प्रति में भी तीन ही अध्यायका न्यास है। प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बंबईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११ वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं। हो सकता है कि यह प्रभाचन्द्रकी अन्तिमकृति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो।

अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। (प्रमेय) कमलमार्तण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही (प्रवचनसार) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इसका परिचय सक्षेपमें इस प्रकार है–

पत्रसख्या ५३, श्लोकसख्या १७४६, साइज १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तिया तथा एक पक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ–

"ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः।
वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।
वक्ष्ये सुखाववोधं निर्वाणपदं प्रणम्याप्तम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ॥ छ ॥ एस सुरासुर ।"

अन्त–"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः ॥छ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्यमायां तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थसख्या षट्चत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥१७४६॥"

मध्यकी सन्धियोका पुष्पिकालेख–"इनि श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे···" है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं। अवतरण–(गा० २।१०) "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयो." (गा० २।२८) "स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्ति. ससारः" इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिक का तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने–

(गा० २।१३) "यदि हि द्रव्यं स्वय सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथग्वा? तत्राद्यः पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्य तदा असद्रूप ध्रुवं निश्चयेन न त तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। हवदि पुणो अण्णं वा। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्य भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्बधात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः–सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याश्च सम्बन्धसिद्धौ सत्यां तत्सत्त्वसिद्धिरिति। तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम्।" (गा० २।१६) "···तथाहि–द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति।

गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः । द्रव्यं वा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः । इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एष हि अतद्भावः ।” इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है । इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है ।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्रायः वे गाथाएँ प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं । जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है। हाँ, जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त भी हैं । इस टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका संक्षेपसे खुलासा करना । परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहाँ उन्होंने संक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है ।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभंगीकार श्रुतमुनिके 'सारत्रयनिपुण प्रभाचन्द्र' के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्ताका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है । परन्तु यह संभावना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है ।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही । आ० जयसेन अपनी टीका में (पृ० २९) केवलिकवलाहारके खंडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि–“अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषाः ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्ते ।” सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवक्षा हो। अस्तु, मुझे तो यह संक्षिप्त पर विशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है ।

गद्यकथाकोश–यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है । इसकी प्रतिमें ८९ वीं कथाके बाद “श्रीजयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति है । इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा पूरा सादृश्य है । इसका मंगलश्लोक यह है–

“प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम् ।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धः ॥”

८९ वीं कथाके अनन्तर “जयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखीं हैं। और अन्तमें “सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः” श्लोक

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२—
“यैराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधना निर्मलाम् । प्राप्त सर्वसुखास्पदं निरुपम स्वर्गापवर्गप्रदा (?) ।
तेषा धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना सस्थिता । स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि ॥१॥
सुकोमलै सर्वसुखावबोधे पदै प्रभाचन्द्रकृत. प्रबन्धः ।
कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणा सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ ॥२॥
श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्ध कृत. ।”

तथा "इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थ समाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८९ कथाएँ ही बनाई हो और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८९ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्तिसूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे। यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं-तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

---

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। सभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हो।

२ प० जुगलकिशोर जी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है, जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुत दृढ प्रमाणो पर अवलम्बित नही है। आपके मुख्य प्रमाण है कि-"प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् है, और इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू (ई० ९५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानत वि० की १३ वी शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानत वि० स० ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते है, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नही हो सकती।" इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि-जब प्रभाचन्द्र का समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोसे ईसाकी ग्यारहवी शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्ही प्रभाचन्द्रकी ही हो तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योका उद्धृत होना अस्वाभाविक एव अनैतिहासिक नही है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विक्रमकी १२ वी और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ प्रमाण इसके साधक नही दिए गए है। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नही मालूम होती। वसुनन्दिकी 'पडिगहमुच्चट्ठाण' गाथा स्वय उन्ही की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नही है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'अध्रुवाशरणे' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिका नाम लेकर उद्धृत नही है और न इन श्लोकोके पहिले 'उक्त च, तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुख्तार सा० ने इन टीकाओके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए है वे दृढ नही है। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार है-

"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्र प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"-रत्नक० टी० पृ० ६। **"यैः पुनर्योगसाख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याता।"**-समाधितन्त्रटी० पृ० १५।

इन दोनो अवतरणोकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओको बनाया है—

टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका*, आत्मानुशासनतिलक† आदि ग्रन्थोंकी भी प्रभाचन्द्र-कृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोंके विषयमें विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है।

फाल्गुनशुक्ल द्वादशी
आष्टाह्निकपर्व
वीर नि० स० २४६७

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.
स्याद्वाद विद्यालय काशी.

"तदात्मकत्वञ्चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"–शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमे पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओका अक्षरश सादृश्य है। इति।

* क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित है—

मंगल– "जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्ध प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति–"वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभु, संसृद्वतिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य संशोषक।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरण श्री पद्मनन्दिप्रभु, तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः॥१॥
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयतां (?) दोषा यतीनां कुतो व्योपाता (?) प्रलये तु··रमलस्तेषां महार्दाशत।
श्रीमद्गौतमनाभिभिर्गणधरैर्लोकत्रयोद्द्योतकं, सव्यक्त (?) सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जात प्रभाचन्द्रत॥२॥
य (यत्) सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयम्,
नो वाञ्छाकलितन्न दोषमलिनं न श्वासतुद्ध (रुद्ध) क्रमम्।
शान्तामर्थविषयै (मर्षविषै) सम परशु (पशु) गणैराकर्णितं कर्णत,
तद्वत् सर्वविद प्रणष्टविपद पायादपूर्वं वचः॥ ३॥"

इन प्रशस्तिश्लोकोसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि-सैद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अत क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र है इसमें कोई सन्देह नही रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलककी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मगल और प्रशस्ति इस प्रकार है–

मंगल– "वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमहं प्रवरं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति–"मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदय निर्मलम्। भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नैः पदैः।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदत। सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम्॥१॥

इति श्री आत्मानुशासन (नं) सतिलक (कं) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (तं) सम्पूर्णम्।"

न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

वेदापौरुषेयत्ववादः ७२१–३७

इति षष्ठ प्रवचनपरिच्छेद

इति सप्तम निक्षेपपरिच्छेदः





श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

(द्वितीयो विभागः)

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्यतुलनार्थबोधकटिप्पणी-परिशिष्टाद्यंशुभी राजितः]



"श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥"

–शुभचन्द्रः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्या य कु मु द च न्द्रः ॥



[द्वितीयो भागः]



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षं प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वार्थान्वितं तत्त्वतः,
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिशून्यमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।
प्रामाण्यं पुनरस्य यैस्तु कुमतध्वान्ताभिभूतेक्षणैः,
नेष्टं तैर्ननु विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्तं जलम् ॥१॥

अथेदानीं परोक्षस्वरूपप्ररूपणायाह–

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥१०॥
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिह्याद्यैर्विभूष्य सस्क्रियते ।
न्यायकुमुदचन्द्रोत्तरभाग. सम्यङ् महेन्द्रेण ॥१॥

(१) अस्पष्टम् । (२) श्रुतस्य । (३) निश्चयेन । (४) अतीन्द्रियज्ञानाय । (५) अनया कारिकया 'मतिः स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' [तत्त्वार्थसू० १।१३] इति सूत्रार्थं समन्वेति । तुलना–"मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न यतस्तत्र-संकीर्येरन् । तदेकान्ते पुनर्न क्वचित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात्, अनवस्थानादेः।" –सिद्धिवि० पृ० १०० A. । अनन्तवीर्यविद्यानन्दाभयदेवाद्याचार्याभिप्रायेण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविना मतिस्मृत्यादीना मतिज्ञानेऽन्तर्भावः तदुत्तरकालभाविना तु तेषा श्रुतेऽन्तर्भावः इति । तथा च तेषा ग्रन्थाः–"ननु मत्यादिकं सर्वमभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्येति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽस्य, तथा च तच्चिन्तने एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेदत्राह–'शब्दयोजनम्' इत्यादि । मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्ति किन्तु तद्योजने सति भवन्ति इत्येवमेकान्तो न, यत एव एकान्तात् तत्र अन्तर्भाव्येरन् इत्यर्थः । यत इति वा आक्षेपे नैव संकीर्येरन् । विपक्षे वाधकमाह–तदेकान्त इत्यादि । स चासौ एकान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे पुनः न क्वचित् वहिरन्तर्वा स्युः मतिस्मृत्यादयः । कुत एतदित्यत्राह–तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादयः तत् तन्नाम इत्युच्यते तस्य स्मृतेरयोगात् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १०० A. । "संप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रन्थमनुवादपुरस्सरं

---

1 कुमति–आ०, व० । 2 चाभिनि–व० । 3–बोधकम् व०, श्र०, –बोधनम् मु० लघी० ।

विवृतिः–अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा, स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य, संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकायां **शेषम्** अविशद[1] ज्ञानमित्युक्तम्, तत् किम्? §**श्रुतम्** अविस्पष्टतर्कणम्§ "*श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्*" [ ] इत्यभिधानात्। किं यत् नामयोजनाज्जायते[2]ऽविशदं ज्ञानं तदेव श्रुतम्, उतान्यदपि? इत्याह–

कारिकाव्याख्यानम्–

प्राङ् नामयोजनात्। नाम्नः अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजनाजनितार्थाऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्रायः । **'चिन्ता च'** इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रम **'शब्दानुयोजनात्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु 'शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

---

विचारयति–अत्र प्रचक्षते केचिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः ॥ शब्दानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते । तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नान्यमतौ भवम् ॥ यद्यपेक्षवचस्तेषां श्रुतं सांव्यवहारिकम् । स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति संप्रतिपद्यते ॥ 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' । इत्येकान्तं निराकर्तुं तथोक्तं तैरिहेति वा ॥ ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् । प्राग्नामसंसृतं शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ अत्राकलङ्कदेवाः प्राहुः–ज्ञानमाद्यं स्मृतिः तत्रेदं विचार्यते–मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमः तदा न कश्चिद्विरोधः, शब्दसंसृष्टज्ञानस्य अश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात् । अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमः, तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धान्तविरोधः स्यात् । सांव्यवहारिकं शाब्दं ज्ञानं श्रुतमित्यपेक्षया तथानियमे तु नेष्टबाधाऽस्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थतोऽभ्युपगमात् स्वसमयप्रतिपत्तेः । अथवा 'न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥' इत्येकान्तं निराकर्तुं प्राग्नामयोजनादाद्यमिष्टं न तु तन्नामसंसृष्टमिति व्याख्यानमाकलंकमनुसर्त्तव्यम् । (पृ० २३९-४०) शब्दानुयोजनात्त्वेषा श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत् । संभवाभावसंवित्तिरर्थापत्तिस्तथानुमा ॥ नामासंसृष्टरूपा हि मतिरेषा प्रकीर्तिता। नातः कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादामृतभोगिनाम् ॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ । "अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ।" –सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B ।

(१) तुलना–"धारणास्वरूपा च मतिः अविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम्, स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्तापि अनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात् ।" –सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B । (२) तुलना–"प्राक् शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत् शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतमिति केचित्" –सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B (३) उद्धृतमिदम्–सिद्धिवि० टी० पृ० १०१ B तुलना–' मतिपूर्वं ततो ज्ञेयं श्रुतमस्पष्टतर्कणम् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७। न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B ।

1–शदज्ञान–श्र० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०, श्र० । 2–तेवि–आ०, ब०, श्र० । 3–योजनाज्जनि–श्र० ।

जायते तदपि श्रुतम्' इति संगृहीतं भवति। किं तद् ? इत्याह–**'संज्ञा'** इत्यादि। **'चिन्ता च'** इत्ययं च[1]शब्दः पुनर्भिन्नप्रक्रमः **'मतिः'** इत्यस्यानन्तरं स्मृतिसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। तेन स्मृत्याद्यविश[2]दं ज्ञानं श्रुतमित्युक्तं भवति। इन्द्रियप्र[3]भवं मतिज्ञानं तु देशतो वैशद्यसंभवात् सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युक्तम्। तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ? इत्याह–**ज्ञानमाद्यं** कारणम्। किन्नाम ? इत्याह–**'मतिः'** इति। नचागमविरोधः, *"मतिपूर्वं श्रुतम्"* [तत्त्वार्थसू० १।२०] इत्यभिधानात्। **'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्'** [लघी० का० ७] इत्यनेन अधिकां कारिकां कृत्वा व्याचष्टे–**'अविसंवाद'** इत्यादिना। **न** विद्यते **विसंवादो** यस्याः सा चासौ **स्मृतिश्च** तस्याः। कथम्भूतायाः ? **फलस्य** फलभूतायाः **हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा** संस्कारः।

स्मरणस्य अप्रामाण्यवादिना बौद्धादीनां पूर्वपक्षः–

न[(१)]नु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवादः प्रार्थ्येत, तथाहि–स्मृतिशब्दवा[4]च्यस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञाता, ज्ञानं वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञातुः कस्यचिदप्यसंभवात्। द्वितीयपक्षेऽपि ज्ञा[(२)]नमात्रम्, अनुभूतविषयं वा ज्ञानं त[(३)]च्छब्दवाच्यं स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् त[(४)]द्व्यतिरिक्तप्रत्यक्षादिप्रमाणभेदवार्तोच्छेदः स्यात्। द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसक्तिः। अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्यैव त[(५)]त्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, धारावाहिप्रत्यक्षस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात्, उक्तप्रक्रियायास्त[(६)]त्राप्यविकलत्वात्।

किञ्च, 'अनुभूते[(७)] जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयते–अनुभवेन, स्मृत्या, उभाभ्यां वा ? न तावदनु[(८)]भवेन, तत्काले स्मृतेरेवाऽसंभवात्। नचाऽसती विषयीकर्तुं शक्या, अतिप्रसङ्गात्। यद् असन्न तत् विषयीकर्तुं शक्यं यथा खरविषाणम्, असती च अनुभवकाले स्मृतिरिति। नचाऽविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्रसक्तेरेव। यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य 'त[5]त्त्रोपजायते' इति प्रतीतिर्युक्ता यथा सुप्तेनाऽविषयीकृते नीलसुखादिविषये जाग्रत्पुरुषप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता च अतीतार्थे स्मृतिरिति। तन्न अनुभवात्तथाप्रतीतिः। नापि स्मृतेः; अ[(९)]नुभवाऽर्थयोर-

(१) यौग प्राह–आ० टि०। (२) तुलना–"ननु कोऽयं स्मृतिशब्दवाच्योऽर्थः ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषयं वा विज्ञानम् ?"–प्रमेयक० पृ० ३३६। (३) स्मृतिशब्द–आ० टि०। (४) स्मृति–आ० टि०। (५) अनुभूतेऽर्थे–आ० टि०। (६) धारावाहिकप्रत्यक्षेऽपि। (७) तुलना–"ननु अनुभूते जायमानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात्· ··"–प्रमेयक० पृ० ३३६। (८) प्रत्यक्षेण –आ० टि०। (९) तुलना–"अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात्।" –प्रमेयक० पृ० ३३६।

1 'च' नास्ति आ०, श्र०। 2–शदज्ञानं आ०, श्र०। 3–प्रभवमति–ब०। 4–वाच्यार्थं–ब०। 5 तत्रो–ब०, श्र०।

विषयीकरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्यनया[1] प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि जानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभवानुसारित्वात्तस्याः । न[2]चासौ प्रत्यक्षगम्या, अनुभूयमानतामात्र एव अ[3]स्य पर्यवसानात् । तन्न स्मृत्यापि त[4]त्प्रतीतिः । नाप्यु[5]भाभ्याम्, उभयपक्षनिक्षिप्तदूषणप्रसङ्गात् । तन्न स्मृतिः स्वरूपतो विचार्यमाणाऽवतिष्ठते ।

नापि विषयतः, तस्या हि विषयः अर्थमात्रम्, अनुभूतताविशिष्टो वाऽर्थः ? न तावदर्थमात्रम्, सकलप्रमाणानां स्मृतित्वप्रसङ्गात् । नाप्यनुभूतताविशिष्टः, देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रसङ्गापादनात् । अनुभूतार्थविषयत्वे चास्याः प्रामाण्यन्न स्यात् अविद्यमानविषयत्वात् । यदविद्यमानविषयं न तत् प्रमाणम् यथा खे केशपाशज्ञानम्, अविद्यमानविषयञ्च अनुभूतार्थविषयतयाऽभिप्रेतं स्मरणज्ञानमिति । त[6]थाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गः ।

किञ्च, अर्थक्रियार्थिनाम[7]र्थक्रियासमर्थार्थप्रापकं प्रमाणं प्रसिद्धम् । न च स्मृतौ असदर्थविषयत्वेन ए[8]तत्संभवति, अतः कथमसौ प्रमाणमिति ?

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं स्मरणस्य पृथक् प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्त[9]म्—'ज्ञाता ज्ञानं वा' इत्यादि, तदसमीचीनम्, ज्ञानस्यैव स्मृतिशब्दवाच्यत्वप्रतिज्ञानात् । नचैवं सर्वस्य ज्ञानस्य स्मृतित्वमनुषज्यते, स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वाभावात् । ज्ञा[1]नविशेष एव हि संस्कारविशेषप्रभवः तदित्याकारोऽनुभूतार्थविषयः स्मृ[10]तिरित्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्यः कारणस्वरूपविषयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेद.—

(१) स्मृत्या। (२) अनुभूतता –आ० टि० । (३) प्रत्यक्षस्य । (४) 'अनुभूते जायमानम्' इति प्रतीति । (५) स्मृतिप्रत्यक्षाभ्याम् । (६) अविद्यमानविषयस्यापि स्मरणस्य । (७) तुलना–"लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् सवादक उच्यते, तद्वज्ज्ञानमपि स्वय प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्सवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्व नान्यत् । तथाहि– न ज्ञान जनयदर्थं प्रापयति अपि त्वर्थे पुरुष प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव, न हि पुरुष हठात् प्रवर्तयितु शक्नोति विज्ञानम् अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रियासमर्थार्थप्राप्तिनिमित्त ज्ञानं मृग्यते । यच्च तैर्मृग्यते तदेव तेन शास्त्रे विचार्यते । ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शक सम्यग्ज्ञानम् ।"–न्यायबिन्दुटी० पृ० ५–६ । (८) अर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वम् (९) पृ०४०५प०११।(१०)तुलना–"आत्मन सयोगविशेषात् सस्काराच्च स्मृति ।"–वैशे० सू० ९।२।६। "अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोष स्मृति ।"–योगसू० १।११। साख्यतत्त्वालो० पृ० १६ । "लिगदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसो सयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।" –प्रश० भा० पृ० २५६। "प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसन्धानविषय प्रत्यय स्मृति ।"–न्यायवा० पृ० ३६६, ४३१। "स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृश विज्ञान पूर्वविज्ञानविषय वा स्मृतिरित्युच्यते ।"–शाबरभा० पृ० ६५। "स्मृति पुनः पूर्वविज्ञानसस्कारमात्रज ज्ञानमुच्यते ।"–प्रकरण प० पृ० ४२। तन्त्ररह० पृ० २। "स्मृतिश्च सस्कारमात्रज ज्ञानमभिधीयते ।" –शास्त्रदी० पृ० १५३। "स्मरणं स्मृतिः" –सर्वा-

1–षणगणप्र–श्र० । 2 ज्ञानविषय एव आ० ।

स्मृतेः पटुतरसंस्कारकारणकत्वात्[1], प्रत्यक्षादीनाञ्च चक्षुरादिहेतुकत्वात्। स्वरूपभेदः-स्मृतेः तदित्युल्लेखित्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च इदमित्याद्युल्लेखित्वात्[1]। विषयभेदोऽपि-स्मृतेः अनुभूतार्थगोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च वर्त्तमानाद्यर्थविषयत्वात्।

यदप्युक्तम्[2]-'अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्यां वा प्रतीयते' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्; त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीतेः कर्तुं शक्यत्वात्। पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता; इत्यप्ययुक्तम्; तद्व्यतिरिक्तस्यास्य[3] सन्ताननिषेधावसरे[4] प्रपञ्चतः प्रसाधितत्वात्। नन्वेवं[5] प्रमातुः[2] प्रत्यक्षेण अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे[3] अनुभूतताऽनुभवोऽपि स्यात् तत्सद्भावाऽविशेषात्[6], तथाच गृहीतग्राहित्वात्[4] स्मृतेर्न प्रामाण्यम्; इत्यप्यसत्, अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताकाले अनुभूततायाः संभवाभावात्, प्रमातृसद्भावमात्रस्य तत्प्रतिपत्ति[7] प्रत्यनङ्गत्वाच्च। स्मृतिसहायो हि प्रमाता अर्थेऽनुभूततां प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति।

एवं कारण-स्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसंभवेऽपि अप्रामाण्ये कारणं वक्तव्यम्-तच्च[8] गृहीतग्राहित्वम्[9], परिच्छित्तिविशेषाभावः, असत्यतीतार्थे[5] प्रवर्त्त-

---

र्थसि० १।१३। "तैरेवेन्द्रियैर्य परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यत् कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत् स्मृतिज्ञानम्। अतीतवस्त्वालम्बनमेककर्तृकं चैतन्यपरिणतिस्वभावं मनोज्ञानमिति यावत्।"-तत्त्वार्थभाष्यव्या० १।१३। "संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति" -परीक्षामु० ३।३। प्रमाणमी० १।२।३। "तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृति"-प्रमाणप० पृ० ६९। "स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा।"-जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९९। "तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं संवेदनं स्मरणम्।"-प्रमाणनय० ३।१। षड्द० बृह० पृ० ८४ B.। "अनुभवमात्रजन्यं ज्ञान स्मरणम्।" -जैनतर्कभा० पृ० ८।

(१) तुलना-"प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।" -न्यायसू० ३।२।४३। (२) पृ० ४०५ पं० १९। (३) पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य प्रमातुः। (४) पृ० ९-। (५) तुलना-"न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे " -प्रमेयक० पृ० ३३६। (६) प्रमातृसद्भाव। (७) अनुभूतताप्रतिपत्तिम्। (८) तुलना-"अमुष्याप्रामाण्यं कुतोऽयमाविष्कुर्वीत-किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद्वा ?"-स्या० र० पृ० ४८६। (९) "पारतन्त्र्यात्स्वतो नैषा प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥"-तन्त्रवा० १।३।१। "तत्र यत्पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थापनमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता॥ "-मी० श्लो० पृ० ३९६। "प्रमिते च प्रवृत्तत्वात्स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता।"-मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १०४। "गृहीतग्रहणान्नेष्टं सावृतं "-प्रमाणवा० १।५। "यद् गृहीतग्राहि न तत्प्रमाणं यथा स्मृतिः।"-तत्त्वस० पं० पृ० ३८८। "न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्। स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राची

---

1 इदमित्युल्ले-श्र०। 2 प्रमात्रा श्र०। 3-भवेऽनुभवोऽपि आ०। 4 गृहीतार्थग्रा-ब०। 5-त्यतीतेऽर्थे ब०।

मानत्वम्, [1]अर्थादनुत्पद्यमानत्वम्[2], विसंवादकत्वम्[3], समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोजना[2]-प्रसाधकत्वं वा स्यात्? प्र[4]थमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्—ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य, ज्ञानविशिष्टस्य ज्ञेयस्य, त[5]द्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य? न तावज्ज्ञानस्य; त[6]द्व्यतिरिक्त[3]ज्ञेयस्य स्मृतौ प्रतिभासनात्। अथ ज्ञेयस्य, अस्तु नामैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, अ[7]नुमानेनाधिगतेऽग्नौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्य-प्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि केनचिदंशेन अधिगतार्थाधि[4]गमसंभवेन अप्रामा-[5]ण्यप्रसङ्गाच्च। अ[6]थ अधिगतार्थाधिगमेऽप्य[8]त्र अपूर्व[7]स्याप्यर्थांश[9]स्याऽधिगमसंभवात् प्रामा-ण्यम्, कथमेवं स्मृतेरप्रामाण्यं तत्रापि हि वर्त्तमानकालावच्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीत-कालावच्छेदेनाऽधिगतेरपूर्वार्थांशाधिगमोपपत्तेः? प्रयोगः-स्मृतिः प्रमाणम्, [1]प्रमाणान्तरप्रति-

प्रतीतिमनुरुद्ध्यमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम्।" –प्रकरणप० पृ० ४२। तन्त्ररह० पृ० २। "न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थसम्बन्धः। लोकश्च संस्कार-मात्रजन्मनः स्मृतेरन्यामुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणी प्रमामाचष्टे।"–न्यायवा० ता० पृ० २१। न्याय-कुसु० ४।१। "अत एव न प्रमाणं तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्।" –प्रश० कन्द० पृ० २५७। (१०) "एतदुक्तं भवति–सर्वे प्रमाणादयोऽन-धिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति तद्विषया वा तदूनविषया वा नतु तदधिकविषया।"–योगसू० तत्त्ववै० १।११।

(१) जैनतर्कवार्तिककारा हि अर्थाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति, तथाहि–"एवं मन्यते वार्तिककारः–अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतेः अर्थमन्तरेणापि तस्याः भावात्। प्रत्यक्षादेस्तु अव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचिद् व्यभिचारेऽपि न दोषः, नत्वेवं स्मृते-रव्यभिचारनिमित्तमस्ति। अमूढस्मृतेस्तु पूर्वप्रत्यक्षफलत्वान्न पृथक् प्रामाण्यम्।"–जैनतर्कवा० वृ०पृ० ९१। (२) "नार्थाद् भावस्तदाऽभावात् "–प्रमाणवा० २।३७५। "अनुभवादुत्पद्यमाना स्मृतिरर्थमन्तरेण भवन्ती कथं नीलाद्याकारा?"–प्रमाणवार्तिकालं०, मनोरथ० २।३७५। "अयथार्थत्वमेव स्मृतेः कस्मा-न्नेष्यते? अर्थविनाशेऽप्युत्पादात्। नच यद्देशकालालिङ्गितेऽनुभवज्ञानमुत्पन्नं तदालम्बनमेव न्याय्यम्। स्मृतिकाले तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात्। बाह्येन्द्रियाणां च स्मृतिजन्मनि प्रत्येकं व्यभिचारा-दन्तःकरणस्य व्यापारो निश्चीयते। न च तस्य स्वातन्त्र्येण बहिर्विषये व्यापारः सम्भवतीत्यनर्थजत्वमेव न्याय्यम् तस्मान्निर्विषयत्वमेव।" –प्रश० व्यो० पृ० ६२१। "न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्॥ ननु कथमनर्थजा स्मृतिः? तदारूढस्य वस्तुनस्तदानीमसत्त्वात्।" –न्यायम० पृ० २३। (३) "कस्मात् स्मरणज्ञानमप्रमाणमिति चेत्? रज्जुसर्पादिज्ञानवत् भ्रान्तत्वा-दिति ब्रूमः।"–न्यायसारटी० पृ० ६८। (४) तुलना–"गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता। धारा-वाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा॥ विशिष्टस्योपयोगस्याभावे सापि चेन्मता। तदभावे स्मरणेऽ-प्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः॥ स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते। येन प्रेक्षावता तस्याः प्रवृत्ति-र्विनिवार्यते॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८९। (५) ज्ञेयविशिष्टस्य–आ० टि०। (६) ज्ञानव्यतिरिक्त। (७) तुलना–"अनुमानेनाधिगते वह्नौ तदुत्तरकालभाविनः प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् "–स्या० र० पृ० ४८६। प्रमेयक० पृ० ३३७। (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयोः। (९) प्रत्यक्षादि।

1 अर्थाद्यनु–ब०। 2–नासाध–ब०। 3–रिक्तस्य ज्ञेयस्य श्र०। 4–धिगमप्रभवेन आ०, श्र०। 5–ण्यानुषङ्गाच्च ब०। 6 अथ अर्थाधिगमे–आ०, श्र०। 7–पूर्वांशाधि–ब०।

पन्नेऽप्यर्थे केनचिदंशेनाऽपूर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यद्यत्तथाविधं तत्तत्प्रमाणम् यथा अनुमानाधिगतार्थे प्रत्यक्षादि, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति ।

एतेन[१] ज्ञानविशिष्टज्ञेयपक्षोऽप्यपास्तः; अंशतः प्रामा[1]ण्यस्य अत्राप्युपपत्तेः । किञ्चेदं ज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्वं नाम–तत्र संयोगः, समवायः[2], विशेषणीभावो वा ? तत्र आद्यपक्षद्वयमनुपपन्नम्; ज्ञेये ज्ञानस्याऽद्रव्यतया संयोगा[3]ऽसंभवात्, आत्मनि[4] समवेततया च समवा[5]यस्याप्यनुपपत्तेः । तदभावे[२] विशेषणीभावोऽपि दुर्घटः; तस्य तत्पूर्वकत्वात्[३] । न खलु दण्डपुरुषादौ संयोगादिसम्बन्धानपेक्षस्तद्भावो[४] दृष्टः । ज्ञेयविशिष्टज्ञानपक्षस्तु न युक्तः, तत्प्रतिभासस्य[५] स्मृतौ स्वप्नेऽप्यसंभवात् । नहि ज्ञानं निर्विशेषणं सविशेषणं[6] वा स्मृतौ[7] प्रतिभासमानं केनचिदिष्टम्, बहिर्वस्तुन एव तत्र प्रतिप्राणि प्रतिभासप्रतीतेः । तन्न गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् ।

नापि परिच्छित्तिविशेषाभावात्; निहित[६]मन्त्रिताधीतादौ तस्यास्तद्विशेष[७]सद्भावात् ।

नाप्यसत्य[8]तीतार्थे प्रवर्त्तमानत्वात्; यतो[८]ऽतीतस्याऽर्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ? न तावत् स्वकाले, तदा[९] तस्य विद्यमानत्वात् । स्मृतिकाले तु तद्ग्राह्यस्या[१०]ऽसत्त्वं[9] नाऽप्रामाण्यं प्रत्यङ्गम्, प्रत्यक्षस्यापि अप्रामाण्यप्रसक्तेः, तत्काले[११] तद्ग्राह्यस्याप्यसत्त्वाऽविशेषात् । नहि प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थः प्रत्यक्षकाले सौगतैः सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते ।

"भिन्न[१२]कालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्[10] ॥" [प्रमाणवा० २।२४७]

इत्यस्य विरोधाऽनुषङ्गात् । अतः प्रत्यक्षस्याप्यसति प्रवर्त्तनादप्रामाण्यं स्यात् ।

---

(१) ज्ञेयपक्षनिराकरणेन । (२) संयोगसमवायाद्यभावे । (३) सम्बन्ध । (४) विशेषणीभावः । (५) ज्ञेयविशिष्टज्ञानप्रतिभासस्य । (६) तुलना–"निहितमन्त्रिताधीतादौ हानोपादानहेतोः परिच्छित्तिविशेषस्य स्मरणे सद्भावात् ।"–स्या० र० पृ० ४८७ । (७) परिच्छित्तिविशेष । (८) तुलना–"यतोऽतीतस्यार्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ?"–स्या० र० पृ० ४८७ । (९) अतीतकाले । (१०) स्मृतिग्राह्यस्य । (११) प्रत्यक्षकाले प्रत्यक्षग्राह्यस्यापि । (१२) व्याख्या–"... युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् । = प्राग्भावित्वाद् भिन्नकालं वस्तु कथं ग्राह्यमिति चेत् ? हेतुत्वमेव ज्ञाने आकारस्य स्वानुरूपस्य अर्पणक्षमं ग्राह्यतां युक्तिज्ञा विदुः । न हि सन्दंशायोगोलयोरिव ज्ञानपदार्थयोः ग्राह्यग्राहकभावः । कथन्तर्हि ? यदाकारमनुकरोति तत् ग्राह्यस्य ग्राहकमित्युच्यते ।" –प्रमाणवा० मनोरथ० २।२४७ । निम्नग्रन्थेषु समुद्धृतेयम्–'हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञाना ...'–न्यायवा० ता० पृ० १५३। विधिवि० टी० पृ० १९८। स्फोटसि० टी० पृ० २३३। 'हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाका ...' सर्वद० पृ० ३६। 'ज्ञानाकारार्पणक्षमम्'–अद्वयवज्रस० पृ० १७। प्रमाणमी० पृ० २०। प्रकृतपाठः–न्यायवि० वि० पृ० १३५ B । स्या० र० पृ० ४८७। प्रमेयर० २।७ ।

---

1 प्रमाणस्य आ०, श्र० । 2–वायो वा विशे–श्र० । 3–योगाभावात् ब०, श्र० । 4 आत्मसमवे–श्र० । 5–वायस्यानुप–ब० । 6 'सविशेषणं' नास्ति ब० । 7 स्मृतिभासमा–श्र० । 8–सत्यतीतार्थप्र–आ० । 9–सत्त्वं वा ना–श्र० । 10–णक्षणम् श्र० ।

अर्थादनुत्पद्यमानत्वञ्च[1] अध्यक्षेऽप्यविशिष्टम्, ज्ञानं प्रति अर्थे कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् ।

विसंवादकत्वञ्च स्मृतेरसिद्धम्, स्वप्रतिपन्नेऽर्थे अविसंवादकत्वात्तस्याः[2] । यद्यत्राऽविसंवादकं तत्तत्र प्रमाणम् यथा प्रत्यक्षाद्यर्थे प्रत्यक्षादि, अविसंवादिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति । अविसंवादो[3] हि गृहीतेऽर्थे[1] प्राप्तिः, प्रमाणान्तरवृत्तिर्वा[2] स्यात् । स द्विविधोऽपि स्मृति[4]प्रतिपन्ने स्वयधृतद्रव्याद्यर्थेऽस्त्येव । यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाद्याभासवत् ।

समारोपाव्यवच्छेदकत्वान्न स्मृतिः प्रमाणम्, इत्यप्यसमीचीनम्, तद्गृहीतेऽर्थे विपरीतारोपाननुप्रवेशतः तद्व्यवच्छेदसम्भवात्[5] । यत् समारोपव्यवच्छेदकं तत् प्रमाणम् यथा अनुमानम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति ।

प्रयोजनाप्रसाधकत्वात्[3] स्मृतेरप्रामाण्यम्, इत्यप्यसुन्दरम्, अनुमानप्रवृत्तिलक्षणस्य तत्साध्य[6]प्रयोजनस्य सद्भावात् । तद्धि[7] साध्यप्रतिबद्धाद्धेतोः[8] प्रवर्त्तते । साध्यप्रबिन्धश्च[9] सत्तामात्रेण तत्प्रवृत्तेरङ्गम्[10], परिज्ञातः सन्, स्मृतिक्रोडीकृतो[11] वा ? प्रथमपक्षे नालिकेरद्वीपायातस्य[12] अप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु

---

(१) तुलना–"अर्थादनुत्पद्यमानत्वञ्च स्मरणस्यासिद्धम्, स्वविषयभूतादर्थादुत्पद्यमानत्वात् ।" –स्या० र० पृ० ४८७। (२) तुलना–"प्रमाणमविसवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात् । गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ।। प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविसवादात् न पुनरर्थानुकारितयाऽतिप्रसगात् । स पुनरनुभूतस्मृतेर्यदि स्यात् प्रामाण्य लक्षयति । सविकल्पेऽनधिगतार्थव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेन्न, प्रयोजनविशेषात्, क्वचित्तादृशाकारभेदाना तथैव प्रामाण्याविरोधात् । अन्यथा कालादिभेदेन अनधिगतार्थाधिगतेरपि अन्यत प्रमाणताऽनभ्युपगमात् । साकल्येनादितो व्याप्ति. पूर्वं चेल्लिङ्गलिङ्गिनो । अनुमेयस्मृतिः सिद्धा न प्रमाणविशेषवत् ।।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० १४६ B **प्रमाणसं पृ० ९९ ।** "सा च प्रमाणमविसवादकत्वात् प्रत्यक्षवत् ।"–**प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३३७। सन्मति० टी० पृ० ५५३। स्या० र० पृ० ४८७। प्रमेयर० पृ० ३१ । प्रमाणमी० पृ० ३३ । न्यायदी० पृ० १७। जैनतर्कभा० पृ० ९।** (३) "अर्थक्रियास्थितिरविसवादनम्"–**प्रमाणवा० १।३।** "अविसवादश्च अर्थादुत्पत्ते अर्थाव्यभिचारत ।"–**प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २७३।** "स चाविसवादोऽर्थक्रियालक्षण एव ।"–**तत्त्वसं पं० पृ० ७७८।** "अविसवादित्वञ्च अभिमतार्थक्रियासमर्थार्थप्रापणशक्तिकत्व न तु प्रापणमेव प्रतिबन्धादिसम्भवात् ।"–**तत्त्वस० प० पृ० ३९२ ।** (४) तुलना–"तस्याश्च प्रामाण्य युक्तम्, न हि तयाऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियाया विसंवाद्यते ।"–**सिद्धिवि०, टी० पृ० ३४ A प्रमेयक० पृ० ३३७। स्या० र० पृ० ४८७ ।** (५) "समारोपव्यवच्छेद सम स्मृत्यनुमानत । स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकत्रापि निवार्यते ।।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८९ । प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० र० पृ० ४८७ ।** (६) स्मृतिसाध्य । (७) अनुमान हि । (८) साध्याविनाभाविन । (९) अविनाभावसम्बन्ध । तुलना–"लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतु, तद्दर्शनात्, तत्स्मरणाद्वा ?"–**प्रमेयक० पृ० ३३८ ।** "साध्यप्रतिबन्धश्च हेतो सत्तामात्रेण अनुमानप्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञातो वा, स्मृतिकोटीकृतो वा ?"–**स्या० र० पृ० ४८८ ।** (१०) अनुमानप्रवृत्ते । (११) स्मृतिविषयीकृत । (१२) एतद्द्वीपवासिनो हि नालिकेरफलमत्त्वा तज्जलञ्च निपीय जीवन यापयन्ति, अतस्तै पाकार्थमुपयुक्तौ अग्निधूमौ न दृष्टचरौ ।

---

1 गृहीतार्थे ब० । 2–न्तरप्रवृ–ब० । 3–नासाधक–आ०, श्र० ।

वालावस्थायां प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धावस्थायां विस्मृततत्[1]सम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः। तृतीयपक्षे तु कथं स्मृतेः प्रामाण्यप्रतिषेधः [2]अनुमानप्रवृत्तेरङ्गत्वात्? [1]यदनुमानप्रवृत्तेरङ्गं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति। तदेवं स्मृतेः कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धेः, स्वविषये[2]ऽविसंवादप्रसिद्धेश्च सूक्तम्–**'अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा'** इति। तथा स्मृतिः प्रमाणम् अविसंवादसंज्ञाया हेतुत्वात्। अस्याः पर्यायमाह–**प्रत्यवमर्शस्य** 'स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्' इति वा एकत्वसादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं [3]प्रत्यवमर्शः।

विरुद्धधर्माध्यासात् कारणाभावाद्विषयाभावतश्च नास्ति प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यमिति बौद्धस्य पूर्वपक्षः–

[4]ननु प्रमाणप्ररूपणावसरे प्रत्यभिज्ञायाः प्ररूपणमयुक्तम्; विरुद्धधर्माध्यासतः कारणाभावा[3]च्च अस्याः स्वरूपस्यैवाऽसंभवात्, विषयाभावतः प्रामाण्यानुपपत्तेश्च। तथाहि–[4]पूर्वं ज्ञातस्य पुनः कालान्तरे 'स एवायम्' इत्यादिज्ञानं प्रत्यभि[5]ज्ञा। न चास्या एकत्वं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्, यत्र विरुद्धधर्माध्यासः न तत्रैक्यम् यथा जलानलादौ, विरुद्धधर्माध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति। न चायमसिद्धः; स्पष्टेतररूपाक्रान्ततया

(१) अग्निधूमसम्बन्ध। (२) तुलना–"को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तां निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निराकरणानुषङ्गात्।"–**प्रमेयक० पृ० ३३८। स्या० र० पृ० ४८८। प्रमेयर० पृ० ३२। प्रमाणमी० पृ० ३४। स्या० मं० पृ० २०८। रत्नाकरा० ३।४।** (३) तुलना–"पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।" –**न्यायभा० ३।२।२।** "प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्यक्षनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम्।"–**न्यायवा० पृ० ४००।** "प्रत्यभिज्ञा नाम स्मर्यमाणानुभूयमानसामानाधिकरण्यग्राहिणी संस्कारसचिवेन्द्रियजन्या प्रतीतिरिति केचित्। अन्ये मन्यन्ते स्मर्यमाणपूर्वज्ञानविशेषितार्थग्राहित्वात् तद्विशेषणस्य चार्थस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्तेः स्तम्भादावपि मानसी प्रत्यभिज्ञेति।"–**न्यायमं० पृ० २२४।** एतन्मतद्वयमभिमतं मञ्जरीकारस्य, दृष्टव्यम्–**न्यायमं० पृ० ४६१।** "प्रत्यभिज्ञा प्रति आभिमुख्येन ज्ञानम्। लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसन्धानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते।"–**सर्वद० पृ० १९३।** "सञ्ज्ञानं संज्ञा"–**सर्वार्थसि० १।१३** "संज्ञाज्ञानं नाम यत्तैरेवेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्णे इति संज्ञाज्ञानमेतत्।"–**तत्त्वार्थभा० व्या० १।१३।** "दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।"–**परीक्षामु० ३।५। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।४।** "अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।"–**प्रमाणनय० ३।३। जैनतर्कभा० पृ० ९।** (४) बौद्धः प्राह–**आ० टि०।** (५) "स एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानो नैकत्वे प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात् दृष्टस्यैव तस्य प्रतिपत्तेः। एकत्वं हि पूर्वेण सह गृह्यमाणमेकता विवादविषयतां स्वीकरोति। वर्तमानतामात्रस्यैकत्वे सिद्धसाधनमेव। तच्च पूर्वं पूर्वप्रत्ययेन गृहीतत्वान्नापरम्। पूर्वप्रत्ययेन चासौ त्रुटयदवस्थ एव पूर्वतया च गृह्यते। ततः पुनरनुसन्धीयमानं यथाभूतं गृहीतं तथाभूतमेव वाऽनुसन्धातव्यम्। गृहीतत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेतदिति गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमपरस्मरणवत्। सवादस्त्वर्थक्रियाकरणात्। न चैकत्वसाध्यार्थक्रिया, वस्तुसामर्थ्यमात्रादुत्पत्तेः। तस्मात् 'स एवायम्' इति

1 **यज्ज्ञानमनुमान–**ब०। 2–**षये वाऽविसं–**श्र०। 3–**वाद्वास्याः** श्र०। 4 **पूर्वज्ञानस्य** श्र०। 5–**भिज्ञानं नचा–**ब०।

तत्र[1] त[2]त्प्रसिद्धेः । तथाहि–'सः' इत्याकारः स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्टः, 'अयम्' इति चाध्यक्षरूपत्वात् स्पष्टः । न चात्र[3] स्पष्टे[2]तरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेऽप्यभेदो युक्तः; प्रत्यक्षानुमानयोरप्यभेदप्रसक्तेः ।

किञ्च, 'स एवायम्' इत्याकारद्वयं किं तत्र[4] परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननुप्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षे अन्य[5]तराकारस्यैव प्रतिभासः स्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽविविक्तस्वरूपत्वात्, यद् यतोऽविविक्तस्वरूपं न तत्ततो भेदेन प्रतिभासते यथा तस्यैव स्वरूपम्, एकस्मादाकारादविविक्तस्वरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्नप्रतिभासद्वयप्रसङ्गः, अन्योन्याननुप्रवेशेन आकारद्वयस्यावस्थानात्, ययोः अन्योन्याननुप्रवेशेन अवस्थानं तयोः परस्परविभिन्नप्रतिभासः य[3]था रूपरसयोः, अन्योन्याननुप्रवेशेनाऽवस्थानञ्च 'स एवायम्' इत्याकारद्वयस्य इति । न च 'प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्' इत्यभिधातव्यम्; परोक्षापरोक्षाकारयोः प्रतिभासयोरेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः, अन्यथा सर्वसंविदामेकाधिकरणत्वप्रसक्तेः पुरुषाद्वैतसिद्धिः स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासान्नैकमिदं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्[6] । अतः कथं प्रत्यभिज्ञानसंभवः ?

कारणाभावाच्च, तथाहि–तत्कारण[4]म् इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनितः संस्कारः, तदुभयं वा? न तावदिन्द्रियम्, तस्य वर्त्तमानार्थावभासजनकत्वात् । नापि संस्कारः, तस्य स्मरणकारणत्वात् । नाप्युभयम्; उभयदोषानुषङ्गात् । न च कारणान्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्यभि[5]ज्ञानसंभवः ।

प्रत्ययद्वयमेतत् ।"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५१। "स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते । अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी । अनयोश्च भेदो न कथञ्चिदभेदो वर्तमानकालभाविरूपैकस्वभावत्वाद्वस्तुनः । तस्माद् भेद एव प्रत्यभिज्ञाने सति भासते इति कथमनेन क्षणिकत्वानुमानबाधा ? यद्वा वस्तुनः पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसदेव पूर्वकालाभावात् । सत्त्वे वास्य वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वमेव स्यान्न पूर्वकालसम्बन्धित्वं विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यासतो ग्राहकः स इति ज्ञानांशो भ्रान्तः, अन्यथा वस्तुनः स्पष्टबालाद्यवस्थाग्राहकः स्यात्, न च भवति । तस्मात् भ्रान्तात् पूर्वदृष्टरूपारोपेण 'स एवायम्' इति ज्ञानात् कथमनुमानबाधा ?/ विस्तरतस्त्वयं प्रत्यभिज्ञाभङ्गविचारो नैरात्म्यसिद्धौ कृत इति तत्रैवावधार्यः ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७८ । "तथाहि–घटः स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः, उत स्मृतिरेव, आहोस्विदनुभव एव ?"–खण्डनखंड० पृ० १५६ । (६) "प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो भ्रान्त एव निर्विषयत्वात् । प्रयोगश्चैवं यः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः स तत्त्वतो नैकालम्बनः यथा लूनपुनर्जाततृणादिषु, प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्चायं तदेवेदं नीलादीति प्रत्ययः इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः ।"–तर्कभा० मो० पृ० २९ ।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम् । (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्धेः । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञायाम् । (५) 'स' इत्याकारस्य 'अयम्' इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु ज्ञानद्वयमेतत्–स इत्याकारस्य स्मरणरूपत्वात् इदमंशस्य च प्रत्यक्षात्मकत्वादिति भावः ।

1–सिद्धेः स इत्या–आ०, श्र० । 2–तरविलक्षण–श्र० । 3–यथा स्थाणुपुरुषयोः ब०, श्र० । 4–णमितीन्द्रि–श्र० । 5–ज्ञानसत्त्वम् श्र० ।

अस्तु वा; तथापि न तत्[1] प्रमाणम्, विषयाभावात्। तस्य हि विषयः–पूर्वज्ञाने प्रतिभातमेव वस्तु, तदतिरिक्तं वा? तत्राद्यविकल्पे न तत् प्रमाणं गृहीतग्राहित्वात्[2] धारावाहिज्ञानवत्। द्वितीयविकल्पेऽपि किङ्कृतस्तस्य[3] अतिरेकः–स्वरूपभेदकृतः, कालद्वयसम्बन्धकृतः, तत्सम्बन्धे ऐक्यप्रतिपत्तिकृतो वा? यदि स्वरूपभेदकृतः, तदा ज्ञानवत् ज्ञेयस्यापि प्रतिक्षणं स्वरूपभेदप्रसिद्धेः सौगतमत[1]प्रसङ्गः।

अथ कालद्वयसम्बन्धकृतः, तदप्ययुक्तम्, तत्[4]सम्बन्धस्य अर्थभेदेऽप्युपपद्यमानत्वात्। न हि लूनपुनर्जातनखकेशाद्यर्थभेदे कालद्वयसम्बन्धोऽसिद्धः। अथ कालद्वयसम्बन्धे[2] देवदत्तस्य ऐक्यं प्रतीयते, अतः पूर्वज्ञाने प्रतिभातस्य वस्तुनः प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यग्रहणान्न गृहीतग्राहित्वेन अप्रामाण्यमित्यभिधीयते[3]; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः किमिदमैक्यं नाम–एकत्वसंख्या, स्थायित्वं वा? यदि एकत्वसंख्या; तदास्याः पूर्वमेव[5] प्रतिपन्नत्वात् कथमाधिक्यपरिच्छेदः प्रत्यभिज्ञायाः? अथ स्थायित्वम्, तत् किं देवदत्तस्वरूपाद् भिन्नम्, अभिन्नं वा? यद्यभिन्नम्; तदा तत्[6]स्वरूपवत् तद[7]पि पूर्वज्ञानेनैव प्रतिपन्नम्। यद्यतोऽभिन्नं तस्मिन् प्रतीयमाने तदपि प्रतीयते यथा तस्यैव स्वरूपम्, अभिन्नञ्च प्रत्यभिज्ञाविषयत्वेनाऽभिप्रेतं[4] वस्तुनः स्थायित्वमिति। अथ भिन्नम्; तत् किं पूर्वमप्युत्पन्नम्, अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एवोत्पद्यते? यदि पूर्वमप्युत्पन्नम्, तदा पूर्वज्ञानेनैव अस्य[8] परिच्छेदात् कथं प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यपरिच्छेदः? केनचिदंशेन आधिक्यपरिच्छेदाभ्युपगमे[5] वा अनवस्थातो न प्र[9]कृत[6]तत्त्वसिद्धिः। अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एव उत्पद्यते, तर्हि तस्य पूर्वमप्रतिपन्नत्वात् कथं प्रत्यभिज्ञा[7]विषयत्वम्? पूर्वप्रतिपन्नस्यार्थस्य पुनः कालान्तरे गृह्यमाणस्य प्रत्यभिज्ञाविषयत्वाभ्युपगमात्। पूर्वज्ञानाप्रतिप[8]न्नार्थान्तरावबोधकज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञा[9]त्वे च घटज्ञानानन्तरमाविर्भूतपटज्ञानस्यापि तत्त्व[10][11]प्रसङ्गः। तत्[12]समये स्थायित्वस्य उत्पत्तौ च क्षणिकत्वानुषङ्गात् कथं तद्[13]विशिष्टार्थानामक्षणिकत्वं स्यादिति ॥छ॥

(१) प्रत्यभिज्ञानं। (२) "निष्पादितक्रिये चार्थे वृत्ते प्रस्मरणादिवत्। न प्रमाणमिदं युक्तं करणार्थविहानित ॥–यदेव हि प्रमितिक्रियासिद्धौ प्रकृष्टमुपकरण तदेव साधकतमं कारकं प्रमाणमुच्यते। यदि च प्रत्यभिज्ञा पूर्वप्रमाणगृहीतार्थविषया स्यात् तदा निष्पन्नप्रमितिक्रियेऽर्थे प्रवृत्त्याऽसाध कतमत्वात् कथमिव प्रमाणतामश्नुवीत? अन्यथा हि स्मृतेरपि प्रामाण्य स्यात्।"–तत्त्वसं० पं० पृ० १५९। (३) विषयस्य। (४) अतीतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धस्य। (५) प्रत्यक्षकाले एव। (६) देवदत्तस्वरूपवत्। (७) स्थायित्वमपि। (८) स्थायित्वस्य। (९) स अंश वस्तुस्वरूपाद् भिन्नोऽभिन्नो वा? अभेदे वस्तुस्वरूपवत् पूर्वमेव प्रतिपत्ति। भेदे किमसौ पूर्वमेवोत्पन्न, अथ प्रत्यभिज्ञासमय एवोत्पद्यते? इत्यादिरूपेण ग्रन्थावर्तनरूपाऽनवस्था। (१०) प्रत्यभिज्ञाने आधिक्यपरिच्छेदसिद्धि। (११) प्रत्यभिज्ञानत्वप्रसंग। (१२) प्रत्यभिज्ञानसमये। (१३) तत्कालोत्पन्नस्थायित्वविशिष्टार्थानाम्। त्रिकालानुयायिस्थायित्वविशिष्टस्यैव अक्षणिकत्वादिति भाव।

1–मतप्रवेशः ब०। 2–सम्बन्धिदेव–ब०। 3–ण्यमित्यभिधानमा–ब०। 4–भिप्रेतवस्तुनः आ०, श्र०। 5–गमेऽनवस्था–आ०, ब०। 6–कृतत्व–आ०। 7–ज्ञानवि–ब०, श्र०। 8–तिपन्नानन्तरावबोधक–आ०। 9–ज्ञानत्वे श्र०। 10–तत्प्रसङ्गः श्र०।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'विरुद्धधर्माध्यासतः' इत्यादि। तत्र किं धर्माणां धर्मिणा सह विरोधः, परस्पर वा? न तावत् धर्मिणा, तत्र[2] तेषां प्रतीयमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीलाद्याकाराः, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने 'स एवायम्' इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न तत्तत्र विरुद्धमिति। यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्तत्र कदाचिदप्युपलभ्यते, यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति। तन्न धर्मिणा सह धर्माणां विरोधो युक्तः। परस्परविरोधे तु धर्मिणः किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः प्रार्थ्येत[3]? धर्माणां हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधसभवे तेषामेव अन्योन्यं भेदो युक्तः।

(तत्प्रतिविधानपुरस्सरं प्रत्यभिज्ञानस्य पृथक् प्रामाण्यप्रसाधनम् –)

किञ्च[4], विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्येत, स्वभावभूताभ्यां वा? तत्राद्यपक्षे सिद्धसाधनम्[5]। न खलु 'कारणस्वरूपमेव सर्वथा कार्यस्वरूपम्' इति स्याद्वादिनो मन्यन्ते। द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित्तद्भेदः[6] साध्येत, सर्वथा वा? यदि कथञ्चित्, तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्वतोः कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। सर्वथा भेदस्त्वनुपपन्नः, तयोः[7] तत्स्वभावत्वाभावप्रसङ्गात्। यो यत्स्वभावः न तस्य तद्वत. सर्वथा भेद. यथा चित्रज्ञानात् नीलाद्याकारस्य, स्वभावश्च[8] प्रत्यभिज्ञानस्य 'स एवायम्' इत्याकारद्वयमिति। तद्धि प्रत्यक्ष-स्मरणसामग्रीतः समुपजायमानं क्रोडीकृताऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपट्यादिसामग्रीत. चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षादिसामग्रीतो[9] निर्विकल्पेतराकारैकविकल्पवद्वा[10]।

यदप्युक्तम्[11]–'आकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते' इत्यादि; तत्र कोऽयमस्य अनुप्रवेशो नाम–परस्परस्वरूपसाङ्कर्यम्[12], एकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) पृ० ४११ प० ८। (२) धर्मिणि। (३) तुलना–"तत्र यदि नाम दर्शनस्मरणलक्षणयोराकारयोर्विरोध, तथापि धर्मिण प्रत्यभिज्ञानस्य किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेद प्रार्थ्येत।"–स्या० र० पृ० ४९२। (४) तुलना–"विरुद्धाभ्या दर्शनस्मरणाकाराभ्या कारणभूताभ्या स्वभावभूताभ्या वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्येत?"–स्या० र० पृ० ४९३। (५) कार्यकारणयोर्भेदस्येष्टत्वात्–आ० टि०। (६) प्रत्यभिज्ञानभेद–आ० टि०। (७) दर्शनस्मरणाकारयो स्वभावयो। (८) प्रत्यभिज्ञान। (९) आदिपदेन विकल्पवासनाशब्दसंकेतस्मरणादिसामग्री ग्राह्या। (१०) एकज्ञानस्वरूपवत्–आ० टि०। तुलना–"यदि पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मभेदात् पूर्वापरावस्थापरामर्शज्ञान भिद्येत, हन्त भो, तदित्यपि विकल्पो भिद्येत। सोऽपि हि परोक्षश्चापरोक्षश्च, विकल्पोऽविकल्पश्च। अर्थे परोक्षो विकल्पश्च स्वात्मनि त्वविकल्पोऽपरोक्षश्च। तस्माद्विषयभेदादविरोध इति चेत्, नन्विहापि तदेवैक विज्ञान तस्यैवैकस्य वस्तुन पूर्वदेशकालसम्बन्धे परोक्षम्, अपरोक्षञ्चापरदेशकालसम्बन्ध इति को विरोध?"–न्यायवा० ता० पृ० १४०। विकल्पो हि स्वरूपे निर्विकल्पकमर्थरूपे च सविकल्पकमिति सौगतमतम्। (११) पृ० ४१२ प० ४। (१२) तुलना–"परस्परस्वरूपसाङ्कर्यमेकस्मिन्नाधारे धृतिर्वा।"–स्या० र० पृ० ४९३।

1–ध्यास इ–आ०। 2–चिदुपल–आ०, श्र०। 3–स्पर विरो–व०। 4 प्रार्थ्यते श्र०। 5 तेषामन्योन्य व०, श्र०। 6–न्यभेदो श्र०। 7–वस्य प्र–व०। 8–भासतेत्या–व०। 9–स्पर स्व–व०।

नुपपन्नः; प्रतीतिविरोधात्। नहि य[१]थोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रतीयते। द्वितीयविकल्पे तु नहि[1] किञ्चिदनिष्टम्, एकस्मिन् प्रत्यभिज्ञाख्ये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्बाधप्रतीतौ प्रतिभासमानत्वात्। यद्यथा निर्बाधायां प्रतीतौ प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलं[2]तया, प्रतिभासते च तथाविधायां प्रतीतौ आकारद्वयान्वित[3]त्वेनैकं ज्ञानमिति। न च प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुस्वरूपे मिथ्याविकल्पसंहतिः किञ्चित्कर्तुं समर्था सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात्। कथ[२]ञ्चैवंवादिनः चित्रज्ञानादेः सिद्धिः? नीलादिप्रतिभासानां हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एकनीलाकारज्ञानवत्? ते[३]षां तदननुप्रवेशे भिन्न[४]सन्ततिनीलादिप्रतिभासानामिव अत्यन्तभेदसिद्धेः नितरामचित्रता। एकज्ञानाधिकरणतया ते[५]षां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः प्रतिपादितदोषानवकाशः प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्टः। तन्न विरुद्धधर्माध्यासतः प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्तः।

नापि कारणाभाव[६]तः; दर्शन-स्मरणलक्षण[4]स्य तत्कारणस्य सद्भावात्[७]। कथं वि[८]भिन्नविषययोः विभि[९]न्नाकारयोश्चानयोः तत्कारणतेति चेत्? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणकम् यथा वीजाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी अङ्कुरः तत्कारणकः, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रत्यभिज्ञेति। न खलु वीजादेः अङ्कुरकारणतायां चि[5]त्रपट्यादेः चित्रज्ञानकारणतायां वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादन्यन्निबन्धनमस्ति। तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्तः।

किञ्च, इदं प्रत्यभिज्ञानं कार्यम्, का[6]र्यञ्च प्रतीयमानं कारणसद्भावमवबोधयति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान्? तथाहि–यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा घटादि, कार्यञ्चेदं प्रत्यभिज्ञानमिति।

यदप्युक्त[१०]म्–'सतोऽपि प्रत्यभिज्ञान[7]स्य न प्रामाण्यम्' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिता-

---

(१) दर्शनस्मरणरूपम्। (२) 'दर्शनस्मरणरूपमाकारद्वयं परस्परमनुप्रवेशेनाऽननुप्रवेशेन वा प्रतिभासते' इत्येवं वादिन सौगतस्य। तुलना–"कथञ्चैवं वादिनश्चित्रज्ञानसिद्धि "–प्रमेयक० पृ० ३४२। स्या० र० पृ० ४९३। (३) नीलादिप्रतिभासानाम् (४) देवदत्तस्य नीलज्ञानं यज्ञदत्तस्य पतिज्ञान इन्द्रदत्तस्य च रक्तज्ञानं यथा परस्परतोऽत्यन्तभिन्नं सत् चित्रैकरूपता न प्रतिपद्यन्ते तथैव। (५) नीलादिप्रतिभासानाम्। (६) तुलना–"नापि कारणाभावत ··"–स्या० र० पृ० ४९४। "यत्पुनरुक्तं सामग्रीभेदात् विरुद्धधर्मससर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य एकत्वानुपपत्तिरिति; तदयुक्तम्, सम्प्रयोगसस्कारयो सम्भूयसामग्रीत्वात्। न नान्यत्र सम्प्रयोगसंस्कारयो प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयो कारणत्वादेकज्ञानकारणतानुपपत्ति, यस्मात् अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयो दृष्ट सम्भूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति। तस्मात् प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य एकत्वेन प्रामाण्यसंभवात्।"–चित्सु० पृ० २१४। (७) 'दर्शनस्मरणकारणकं संकलन प्रत्यभिज्ञानम्' [परीक्षामु ३।५] इत्यभिधानात्। (८) वर्तमानपर्यायविषयं हि दर्शनम् अतीतविवर्तगोचरञ्च स्मरणम्। (९) इदमाकारोल्लेखि हि दर्शनम् तदाकारोल्लेखि च स्मरणम्। (१०) पृ० ४१३ प० १।

---

1 न किञ्चि–ब०। 2 सलिलतया श्र०। 3–तत्त्वेनैव ज्ञान–आ०, श्र०। 4–णतत्का–आ०, श्र०। 5–चित्रपटादेः ब०, श्र०। 6–कार्यं प्रती–श्र०। 7–स्य प्रामा–ब०।

भिधानम्, यतो[1] विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमानत्वाद्वाऽस्य[2] अप्रामाण्यं स्यात् ? न तावद्विषयाभावात्, पूर्वोत्तरविवर्त्त1वर्त्त्येकद्रव्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् । प्रत्यक्षादितः प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसंभवाच्च विषयवैलक्षण्यमव2श्याभ्युपगन्तव्यम् । यस्य यतः स्वरूपवैलक्षण्यं तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात् स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्यं प्रत्यभिज्ञानस्येति । सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयोः स्पष्टेतररूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्तमानका[3]लावच्छेदेन विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रा[4]पि । प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकालावच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्नः, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकालावच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषयः । न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षण क्ष3णिकत्वात् द्रव्यविशेषस्य कस्यचिदप्यसभवात् कस्य तद्विषयता प्रार्थ्यते इत्यभिधातव्यम्, क्षणभङ्गप्रतिषेधेन द्रव्यसिद्धेः प्रागेव[5] प्रपञ्चतो विहितत्वात् । तन्न विष[6]याभावात् तदप्रामाण्यम् ।

नापि गृहीतग्राहित्वात्, त[7]द्विषयस्य प्रमाणान्तरेण ग्रहीतुमशक्यत्वात् । स हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मरणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानवि4वर्त्तमात्रगोचरचारितया अतीतवर्त्तमानवि5वर्त्तवर्त्तिनो द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसभवात् । नापि स्मरणेन, तस्य अतीतपर्यायविषयतया त[8]द्ग्रहणेऽसमर्थत्वात् । नापि प्रमाणान्तरेण, उभ[9]यविवर्त्तवर्तिद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यप्रमाणस्याऽसंभवात् । त[10]दुभयसंस्कारजनितं कल्पनाज्ञानमस्तीति चेत्, न, त[11]स्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

---

(१) तुलना–"तदप्रामाण्य हि गृहीतग्राहित्वात्, स्मरणानन्तरभावित्वात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमानत्वाद्वा स्यात् ?"–प्रमेयक० पृ० ३४३ । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) प्रत्यक्षे स्मरणे च प्रत्येकमिह तु युगपदिति विशेष –आ० टि० । (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि । (५) पृ० ३५७–३८९ । (६) तुलना–"आकारवादप्रतिषेधे पूर्वानुभवजनितसस्कारस्मरणसहकारीन्द्रियेण स एवायमित्युभयोल्लेखि ज्ञान जन्यते । तस्य च अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानात् निर्विषयत्वमयुक्तम् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ३९७ । "अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यामवभासते ।"–न्यायम० पृ० ४५९ । "प्रतीयते तावदेतस्माद्विज्ञानात् पूर्वापरकालावच्छिन्नमेक वस्तुतत्त्वम्, तदप्यस्य विषयो न भवतीति सविद्विरुद्धम् । ग्रहणस्मरणे च नैक विषयमालम्ब्येते तस्मादेकमेवेद विज्ञान प्रतीतिसामर्थ्यादुभयविषयमास्थेयम् ।"–प्रश० कन्द० पृ० ८० । (७) तुलना–"न हि तद्विषयभूतमेक द्रव्य स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्य येन तत्र प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राहि मन्येत, तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्व लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसगात् तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धे ।"–प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । स्या० र० पृ० ४९५ । प्रमेयर० पृ० ३३ । प्रमाणमी० पृ० ३५ । (८) अतीतवर्तमानपर्यायानुयायिद्रव्यग्रहणे । (९) अतीतवर्तमान । (१०) स्मरणप्रत्यक्ष । तुलना–"प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनाज्ञानमस्तीति चेत, न, तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वेनास्माभिरभ्युपगमात् ।"–स्या० र० पृ० ४९५ । (११) उभयसस्कारजनितविकल्पस्यैव ।

1–विवरवर्त्ये–आ० । 2–वश्यमभ्यु–श्र० । 3–क्षणिकत्वतो द्र–ब० । 4–विवर्त्तगोच–आ०, श्र० । 5–विवर्तिद्रव्यस्य श्र०, –विवर्त्तिनो द्रव्यस्य ब० ।

ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयोः द्रव्यमविषयः तर्हि कथं ताभ्यां तत्र[1] तज्जन्येत[2] ? यद् यस्य विषयो न भवति न[1] तत्तत्र ज्ञानमुत्पादयति यथा चक्षू रसे, अविषयश्च एकत्वं प्रत्यक्षस्मरणयोरिति; तदप्यसुन्दरम्; विकल्पोत्पादका[3]ऽविकल्पकाध्यक्षेण अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पादकत्व[2]प्रतीतेः। 'विकल्पवासनासहायं स्वाविषयेऽपि तत्र[4] तत्[5] तमुत्पादयति[6]' इत्युत्तरम् अन्यत्रापि[7] तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरणसहायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीतेः, सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वात्। कथमन्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अभ्यास[8]विशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत् ? एकत्वविषयत्वञ्च प्रत्यक्षस्यापि अक्षणिकत्वसिद्धौ[9] समर्थितम्। अन्यथा निर्विषयत्वमेव अस्य स्यात्, एकान्तेन अनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतीतेः। केवलं तेन[10] एकत्वं प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन[3] तु स्मर्यमाणाऽनुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेषः। अतः कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः न गृहीतग्राहित्वमस्य यतोऽप्रामाण्यं स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्गः सर्वथाऽपूर्वार्थविषयत्वाऽसंभवात्, तद्विषयस्य[11] देशादि[12]विशिष्टपावकादिव्यक्तिविशेषस्य सम्बन्धग्राहि[13]ज्ञानविषयात् साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धेः।

बाध्यमानत्वात्[14]तर्ह्यप्रमाणं प्रत्यभिज्ञा, इत्यप्ययुक्तम्[4], तद्बाधकस्य कस्यचिदप्यसंभवात्। तस्य हि बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्; तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यभावात्। यद् यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्तस्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

---

(१)द्रव्ये। (२) प्रत्यभिज्ञानम्। (३)सौगतमते हि निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्पद्यते। निर्विकल्पकं च परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यत्वात् वस्तुविषयं सविकल्पकं तु बुद्धिकल्पितसामान्यगोचरत्वादवस्तुविषयकं प्रसिद्धम्। ततो यथा निर्विकल्पकं सामान्यमजानदपि सामान्यविषयं विकल्पमुत्पादयति तथैव अतीतवर्तमानोभयविवर्तवर्तिनमेकत्वमजानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयकं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतामिति भाव। तुलना–"विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात्।"–स्या० र० पृ० ४९५। (४) सामान्ये। (५) निर्विकल्पकम्। (६) विकल्पम्। (७) प्रत्यक्षस्मरणाभ्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानसमुत्पादनस्थलेऽपि। (८) अभ्यासविशेषादय सहकारिण–आ० टि०। (९) पृ० ३८१। (१०)प्रत्यक्षेण। (११) अनुमानविषयस्य–आ० टि०। (१२) पर्वतादिदेशस्थपावकस्य–आ० टि०। (१३) तर्क–आ० टि०। तुलना– "सम्बन्धग्राहिविज्ञानविषयात् साध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात्।"–प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ०३४३। (१४) तुलना– "सवादो बाधवैधुर्यनिश्चयश्चेत् स विद्यते। सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवाञ्जसा॥ प्रत्यक्षबाधकं तावन्न सज्ञानस्य जातुचित्। तद्भिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ०१९२। "बाधकप्रमाणान्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्बाधकस्यासम्भवात्। न हि प्रत्यक्षं तद्बाधकं तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसभवात्, साधकत्ववद् बाधकत्वविरोधात्।"–प्रमाणप० पृ०७०। अष्टसह० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० ३४४। स्या० र० पृ० ४९६। प्रमेयर० पृ० ३६।

---

1 न तत्र आ०, श्र०। 2–कत्वं प्रती – श्र०। 3–भिज्ञाने तु आ०, श्र०। 4 इति चायुक्तम् श्र०।

३

रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञाविषये[1] प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्, तद्विषये तस्याप्यप्रवृत्तेः[2], प्रवृत्तौ वा संवादकत्वान्न तद्बाधकत्वम् । ननु[3] लूनपुनर्जातनखकेशादौ बाध्यमानं तत्[4] प्रतीतमेव अतः कथं तत् प्रमाणमिति चेत् ? यदि नाम तत्र[5] तत्[6]था प्रतीतम्, अन्यत्र[7] किमायातम् ? अन्यथा[8] शुक्तिशकले रजताभासप्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वोपलम्भात् सत्यरजतेऽप्यस्य[9] भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । तन्न एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापह्नवो युक्तः[10] ।

नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य[11]; अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्–येनैव[12] हि पूर्वं धूमसहितोऽग्निर्दृष्टः तस्यैव[13] उत्तरकालं पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनात् अग्न्यनुमानोत्पत्तिर्युक्ता, नान्यस्य[14] अन्यदर्शनात्[15] । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सदृशम्' इति प्रतिपत्तिर्घटते, पूर्वप्रत्यक्षेण उत्तरस्य[16] तत्प्रत्यक्षेण[17] च पूर्वस्य धूमादिवस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । न[18] च द्वयाऽप्रतिपत्तौ द्विष्ठं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यमतिप्रसङ्गात् । यद् द्विष्ठं तद् द्वयप्रतिपत्तावेव प्रतीयते यथा सम्बन्धः, द्विष्ठञ्च सादृश्यमिति । ततः सिद्धा एकत्वोल्लेखिनी सादृश्योल्लेखिनी च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह–**संज्ञा प्रमाण चिन्तायाः 'फलस्य हेतुत्वात्'** इति सम्बन्धः । अस्याः पर्यायमाह–**तर्कस्य** इति । कः पुनरयं तर्को[19] नाम इति चेत् ? व्याप्तिज्ञानम् । व्याप्तिर्हि

(१) प्रत्यभिज्ञाविषये । (२) अनुमानस्यापि । (३) तुलना–"न च लूनपुनर्जातनखकेशादिवत् सर्वत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा "–**प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० र० पृ० ४९४ ।** (४) स एवाय नखादिरिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (५) लूनपुनर्जातनखकेशादौ । (६) स एवाय नखकेशादिरिति प्रत्यभिज्ञान बाध्यमानम् । (७) तस्मिन्नेव नखे केशे वा स एवाय नखादिरिति प्रत्यभिज्ञानं कथं बाध्यमानमिति भाव· । (८) एकत्र बाध्यमानत्वोपलम्भात् सर्वत्र बाध्यमानत्वस्वीकारे । (९) रजताभासप्रत्यक्षस्य । (१०) अपह्नवो युक्त इति गतेन सम्बन्ध । (११) तुलना–"सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम् । प्रमाण स्वार्थसवादादप्रमाण ततोऽन्यथा ॥" –**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९३।** "कथञ्च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्ति येनैव हि "–**प्रमेयक० पृ० ३४३ ।** "अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, येनैव हि पूर्वं धूमोऽग्ने "–**स्या० र० पृ० ४९६ ।** (१२) प्रतिपत्त्रा । (१३) प्रतिपत्तु । (१४) जनस्य । (१५) घटादिदर्शनात् । (१६) धूमस्य । (१७) उत्तरकालीनधूमप्रत्यक्षेण । (१८) तुलना–"न च द्वयाप्रतिपत्तौ "–**स्या० र० पृ० ४९६ ।** (१९) "चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुन एव निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नेति, यथैव ज्ञानादित्रयसमन्विते तत्रैव परमसुखावाप्तिरन्यथा नेत्येतच्चिन्ताज्ञानं मनोज्ञानमेव ।" –**तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ७८ ।** "सम्बन्धं व्याप्तितोऽर्थाना विनिश्चत्य प्रवर्तते । येन तर्कं स सवादात् प्रमाण तत्र गम्यते ।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७०।** "उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूह । इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च ।"–**परीक्षामु० ३।११, १२ । प्रमाणमी० १।२।५ ।** "उपलम्भानुपलम्भसभव त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं सवेदनमूहापरनामा तर्क· ।"–**प्रमाणनय० ३।५ । जैनतर्कभा० पृ० १० ।** "व्याप्तिज्ञान तर्कः ।"–**न्यायदी० पृ०१९।** "अन्वयव्यतिरेकाभ्या व्याप्तिज्ञान दर्शनस्मरणाभ्यामगृहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धन तर्क चिन्ता ।"–**लघी० अभ० पृ० २९ ।** "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क ।"–**न्यायसू० १।१।४० ।** "अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि

1–**भिज्ञाने विषये** श्र०,–**भिज्ञानविषये** ब० । 2 **धूमोऽग्निर्दृष्ट.** ब० । 3 'यद्' नास्ति श्र० ।

साध्यसाधनयोरविनाभावः। तद्ग्राहि ज्ञानं तर्कोऽभिधीयते, तत्र तस्यैव प्रमाण्यात्, ज्ञानान्तराणां तद्ग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवतः तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः।

एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् संभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुख प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क।"–न्यायम० पृ० ५८६। न्यायकलि० पृ० १३। "एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूप तर्क"–न्यायली० पृ० ५४। "व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याहार्यारोपाद्यो व्यापकस्याहार्यारोप स तर्क। यथा निर्वह्नित्वारोपान्निर्धूमत्वारोपः। यदि निर्वह्नि स्यान्निर्धूम स्यादिति।"–न्यायसूत्रवृ० १।१।४०। "तर्कश्चापाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूल।"–महावि० पृ० १३१। "जैमिनीयास्तु ब्रुवते–युक्त्या प्रयोगनिरूपणमूह।''स च त्रिविध मन्त्रसामसंस्कारविषयः। [शावरभा० ९।१।१]–"न्यायमं० पृ० ५०८। "अदृष्टसम्बन्धात् परोक्षप्रतीति तर्क इति लक्षणम्।"–प्रमाणवार्त्तिकालं० पृ० ३००।

(१) "सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना"–मी० श्लो० अनु०श्लो० ४। "नियमरूपं मीमासका"–न्याय० मा० पृ० ५६। प्रकरणपं० पृ० ६८। "व्याप्तिरविनाभाव इति"–प्रश० व्यो० पृ० ५७०। "स्वभावत साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभाव.।"–न्यायसा० पृ० ५। "साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम्। तस्मिन् सत्येव भवने न विना भवनं तत ॥ अयमेवाविनाभावो नियम सहचारिता।"–न्यायमं० पृ० १२१। न्यायकलि० पृ० २। "तस्माद् यो वा स वाऽस्तु सम्बन्ध, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियत स एव गमको गम्यश्चेतर सम्बन्धीति युज्यते।"–न्यायवा० ता० पृ० १६५। "स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थ।"–ता० प० पृ० ६९१। न्यायली० पृ० ५४। "अनौपाधिक सम्बन्ध"–प्रश० किर० पृ० २९७। "अनौपाधिक सम्बन्धो व्याप्ति। यद्वा साध्यसामानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति.।"–वैशे० उप० ३।१।१४। तत्त्वचि० व्या०। "उपाधिविधुर सम्बन्ध"–सर्वद० पृ० ७। "साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम्। यथोक्तम्–'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य च तत्रैव भावः' [प्रमाणवा० स्ववृ० ३।१] इति।"–न्यायबिन्दुटी० पृ० ६४। "द्विविधा चेयं व्याप्तिः व्यापकव्याप्यधर्मतया। तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्ति, व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावो नाम तस्य व्याप्ति.। आभ्या यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुक्तौ। व्याप्यसद्भावे व्यापकस्य सत्त्वनियमस्य अन्वयरूपत्वात्। व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात्।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१। "तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिर्यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधर्मतया प्रतीतेः। यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भाव एवेति सम्बन्धः। तत्रेति सप्तम्यर्थप्रधानमेतन्नाधारार्थप्रधानम् धर्माणा धर्मान्तरत्वाभावात्। तेनायमर्थः–यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र व्यापकस्य भाव एवेति व्यापकधर्मो व्याप्तिः। नत्वेवमवधार्यते व्यापकस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात्, अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि तत्रैवेत्यवधार्यते; प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुत्वापत्तेः। साधारणश्च हेतु. स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्। यदा तु व्याप्यधर्मता व्याप्तेर्विवक्षिता तदा यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव व्याप्यस्य भावो नान्यत्र। अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यवधारणम् हेत्वभावप्रसक्तेरेव नाश्रितम् अव्याप्यस्यापि तत्र भावात्। नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेत्यवधार्यते, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः, साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यम्भावादिति। व्यापकस्य तत्र भाव इत्यनेन चान्वय आक्षिप्तो व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव इत्यनेन व्यतिरेक आक्षिप्त।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१। हेतुबि० टी० पृ० १८०। प्रमाणमी० पृ० ३८। "सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः"–परीक्षामु० ३।१६। प्रमाणमी० १।२।१०। (२) व्याप्तिग्रहणे तर्कस्यैव। (३) प्रत्यक्षादीनाम्। (४) व्याप्तिग्रहणे।

---

1 तत्प्रामा–आ०, श्र०।

व्याप्तिस्वरूपस्यैवासंभवान्नास्ति तर्कस्य प्रामाण्यमिति चार्वाकस्य पूर्वपक्षः —

ननु व्याप्ति[1]स्वरूपस्यैवाऽसंभवात् कथं तत्र तर्कः प्रमाणम् ? तथाहि–व्याप्तिः[2] सम्बन्धोऽर्थानाम्, सा[१] च देशतः कालतो वा [२]कस्यचित् केन[३]चित् स्यात् ? [४]न तावद् देशतः, यतो व्योम्नि धूमः, भूमौ अग्निः, [५]उपरि देशे वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः। नापि [६]कालतः, न हि वृष्टिकाले नदीपूरः कृत्तिकोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति।

किञ्च, कस्य केनायमविनाभावः–किं [७]सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य विशेषैः, [८]उत विशेषाणां विशेषैः[3] ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नि[4]त्यत्व-विभुत्वाभ्यां सकलदेशकालसम्बन्धितया अग्नित्व-धूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात्। द्वितीयप[5]क्षेऽपि देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः, तदवच्छिन्ने वा ? यद्यनवच्छिन्ने, तदा सिद्धसाधनमेव। अथ देशकालावच्छिन्ने, तदा [९]अनुगमाभावः। नहि महानसस्थधूमसामा-

(१) तुलना– 'किञ्च, साध्यसाधनयोः व्याप्तिः किं यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति देशरूपा निरूप्येत, किं वा यदा यदा साधनं तदा तदा साध्यमिति कालरूपा, युगपदुभयस्वभावा वा ?"–हेतुबिड० पृ० ४ B (२) साधनस्य साध्यस्य वा। (३) साध्येन साधनेन वा। (४) तुलना–"देशव्याप्तिमात्राङ्गीकारे समग्रजाग्रत्प्रामाणिकमान्ये धूमानुमानेऽपि सत्यताभिमानोऽभिमानशालिना कथं पृथापथमानीयते, तत्र च देशव्याप्तेः स्वप्नदशायामपि विभावनाभावात्। तथाहि–गगनमण्डलतलावलम्बी धूमः पर्वताखर्वनितम्बसम्बन्धी च धूमध्वज इति क्व देशव्याप्तिरिति।"–हेतुबिड० पृ० ४ B। (५) उपरि वृष्टो मेघ अधोनदीपूरदर्शनादित्यनुमाने। (६) तुलना–"उद्गतो नभश्चन्द्रो जलचन्द्रोदयदर्शनात्, आसीत्पूर्वमस्मिन् देशे वृष्टिः उत्तरत्र तथाविधवारिपूरविलोकनात्, भविष्यति वा वारिवाहवृष्टिः तादृग्वारिवाहविभावनात्, उदेष्यति रोहिणी कृत्तिकोदयात्, उदेष्यति श्व सविता अद्यतनादित्योदयदर्शनात्, उदगुः मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वाफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनीनामुदयोपलब्धेः इत्यादि मानानामनेकेषां देशकालोभयेभ्यो विप्रकृष्टानां कार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरहेतुविशेषाणां देशकालोभयैः क्वापि व्याप्त्यनुपपत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः।"–हेतुबिड० पृ० ४ B (७) तुलना–"इतोऽपि अविनाभावसम्बन्धग्रहणानुपपत्तिः–किं सामान्ययोः सम्बन्धावधारणम्, आहो स्वलक्षणयोः, सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ?"–तत्त्वोप० पृ० ६५, ८३। "तथाहि–व्याप्तिर्भवन्ती किं साधनसाध्यव्यक्तयोर्बोभोति, उताहो साधनत्वसाध्यत्वजात्योर्वा, आहोस्वित् साधनवत्साध्यवतोः, किं वा साधनत्ववत्साध्यत्ववतोः, उत साधनवत्त्वसाध्यवत्त्वयोः इति पक्षपञ्चतयी"–हेतुबिड० पृ० ४ A। "तथाहि–किं व्यक्तयोरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयोः। व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः। सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसंभवात्। न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणात्।"–चित्सु० पृ० २३३। (८) पर्वत-महानसादिदेशम् अतीतवर्तमानादिकालञ्चानपेक्ष्य अग्न्यादिविशेषमात्रे। तुलना–"यद्यनवच्छिन्ने; तदा सिद्धसाध्यतैव देशकालानवच्छिन्नानां वह्न्यादिविशेषाणामतिप्रतीतत्वात्।"–स्या० र० पृ० ५०५। (९) तुलना–"किं चानुमानं प्रमाणमुपेत्योक्तं वस्तुतस्तु न तन्मानमित्याह–विशेष इति। विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता। इत्यादिदोषदुष्टत्वान्न च नोऽनुमितिः प्रमा॥–व्यक्त्योर्वा व्याप्तिः, जात्योर्वा, तदाक्रान्तविशेषयोर्वा, धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोर्वा ? नाद्यः, सर्वोपसंहारासिद्धेः। न द्वितीयः, तयोः स्वरूपभेदात् धर्मिभेदाच्च। न तृतीयः, उक्तदोषात्। न चतुर्थः; औपाधिकधर्मस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानिरूपणात्।"–बृहदा० वा० पृ० १४०१। न्यायकुमु० पृ० ६९ टि० ५।

1–स्वरूपासंभ–श्र०। 2 व्याप्तिसम्ब–ब०। 3 'उत विशेषाणां विशेषैः' नास्ति ब०। 4 नित्यविभुत्वा–ब०। 5–पक्षे देश–आ०।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्थेन । नापि विशेषाणां विशेषैर्नियमः, स हि दृष्टानां दृष्टैः, अदृष्टानामदृष्टैः, दृष्टानां वा अदृष्टैः स्यात् ? यदि दृष्टानां दृष्टैः, तदा सिद्धसाधनम्[१], अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिः[1][२] । [2]अथ अदृष्टानामदृष्टैः; तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावादनुगमाभावाच्च कथमनुमानम्? नापि दृष्टानामदृष्टैः; [३]पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् ।

किञ्च, अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या[४] ?

किञ्च, अयमविनाभावशब्दः साध्याभावे साधनाभावं वदतीति व्यतिरेकमात्रवचनः, न सम्बन्धवचनः ।

किञ्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्तेः अग्न्यभावो विशेषणम् । सः पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा स्यात् । [५]पारमार्थिकत्वे अविद्यमानत्वात् धूमस्य न [६]तदाश्रिता व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या, नहि अगृह्यमाणे [3]आश्रये[७] तदाश्रितं[८] ग्रहीतुं शक्यमतिप्रसङ्गात् । अपारमार्थिकत्वे तु [4]उपाधेः[९] तदुपहि[5]तायां[१०] धूमानुपपत्तेरपि §अपारमार्थिकत्वं स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि§ अपार[6]मार्थिकत्वमेव आयातम् । अथैवमुच्यते—अग्न्यभावश्चेद् धूमसद्भावस्यानु[7]पपत्तिः, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्; तदप्यनुपपन्नम्; विद्यमाना गृहीता च व्याप्तिः अनुमानाङ्गम् न [११]प्रसज्यमाना, तस्याः[१२] सत्त्वेनाप्यनिश्चितत्वात् । संभावनाज्ञानं चैतत्[१३], न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चेन्नाभविष्यद् अपतिष्यन् पर्वताः' इति ।

किञ्च, एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ? न तावदेकस्य; [१४]अस्याभावेऽपि अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपद्यमानत्वात् । नापि सर्वस्य; [१५]उपहितग्रहणस्य [१६]उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसंभवात् । धूमानुपपत्तेश्च अशेषाग्न्यभाव एवोपाधिः, न चासौ

(१) प्रत्यक्षसिद्धे प्रत्यक्षसिद्धस्य अविनाभावे सिद्धेऽपि न किञ्चित्फलम्, साध्य-साधनयो प्रत्यक्षत्वात्, तथा च नानुमानप्रामाण्यमिति भाव । (२) अपूर्वव्यक्तौ अविनाभावग्रहणाभावात् नानुमाप्रवृत्ति । (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणासंभवात्, संभवेऽपि अनुगमाभाव । (४) अपि तु यौ द्वौ सम्बन्धिनौ महानसीयधूमाग्नी प्रत्यक्षविषयौ स्याताम् तयोरेव सम्बन्धो गृहीत. स्यात् न सकलसाध्यसाधनव्यक्तीनाम् । (५) अग्न्यभावस्येति शेष –आ० टि० । (६) धूमाश्रिता । (७) धूमलक्षणे । (८) व्याप्तिस्वरूपम् । (९) अग्न्यभावरूपविशेषणस्य । (१०) अग्न्यभावविशिष्टाया । (११) संभाव्यमाना । (१२) सभाव्यमानाया व्याप्ते सत्त्वमपि अनिश्चितमेव । (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात् धूमसद्भावस्यानुपपत्ति स्यात्' इत्याकारक पूर्वोक्तं ज्ञानम् । (१४) कस्यचिदेकस्य अग्नेरभावेपि 'अशेषाग्न्यभावविशिष्टो धूमाभाव' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तेरितिभाव । (१५) विशिष्ट– आ० टि० । (१६) अशेषाग्न्यभावरूपविशेषण ।

1–पत्तेः श्र० । 2 'अथ' नास्ति आ० । 3 स्वाश्रये श्र० । 4 उपाधिः श्र०, ब० । 5–हितत्वात् धू–ब० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 6–मार्थिकत्वं स्यात् श्र० । 7–पत्तेः श्र० ।

सर्वाग्निष्वगृहीतेषु ग्रहीतुं शक्यते, अभावग्रहणस्य [१]प्रतियोग्याश्रयग्रहणसव्यपेक्षत्वात्।

अपि[२] च क्वचिद्ग्न्य[३]भावाभावेऽपि[1] धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नाग्न्यभावो धूमभावविरोधस्य उपाधि[४]:, किन्तु धूमाभाव एव। अतो न व्याप्तिर्विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्ग्राहिणः तर्कस्य [५]तत्प्रभवानुमानस्य वा प्रामाण्यम्? अस्तु वा व्याप्तिः, तथापि अविनाभावे सत्यपि[2] न धूमाद् वह्निपैङ्गल्यमनुमीयते वह्नेरेव धूमेन अनुमीयमानत्वात्। [६]तथा नियतत्वाविशेषेऽपि धूम एव गमको न तद्गताः श्यामत्वादय इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[७]–'व्याप्तिस्वरूपस्य' इत्यादि, तदसमीचनम्,

तत्प्रतिविधानपुरस्सर तर्कस्य पृथक् प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—

यतः [८]स्वरूपप्रयुक्तस्याऽव्यभिचारस्य व्याप्तित्वप्रतिज्ञानात् कथं तस्याः स्वरूपासंभवः? स्वरूपं हि साध्यसाधनयोः स्वधर्मकलापकलितम् अग्नित्वं धूमत्वञ्च, त[९]द्धि अन्यतो देशकालाकारादेर्व्यावर्त्त्य प्रकर्षेण सम्बन्धम् आत्मन्येव योजयति। '[१०]मंदधीनामेव व्याप्तिं [3]बुध्यस्व बुध्यस्व' इत्यात्मसम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तामेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति।

यदप्युक्तम्[११]–देशतः कालतो वाऽविनाभावो न संभवति' इति, तदप्येतेन प्रत्युक्तम्; [१२]तद्वतः [१३]तद्वता अविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्। अव्यभिचा[4]रिणा हि

(१) यस्याभाव क्रियते स प्रतियोगी यथा अशेषाग्न्यभावे कर्त्तव्ये अशेषाग्नि प्रतियोगी, यस्मिन् अभाव क्रियते स आश्रय, यथा त्रिकाले त्रिलोके च अशेषाग्न्यभावे प्रस्तुते कालत्रय त्रिलोकश्च आश्रय। "गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानस नास्तिताज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया"–[मी० श्लो० अभा० श्लो० २७] इत्यभिधानात्। (२) तुलना–"अपि च यत्सद्भाव एव यस्य निवृत्ति तेनैव तस्य विरोध, तदिह धूमाभाव एव सति धूमस्य निवृत्तिर्दृश्यत इति धूमाभावेनैव अस्य विरोधो नत्वग्न्यभावेन। केवलाङ्गाराद्यवस्थायाम अग्न्यभावाभावेऽपि धूमनिवृत्ते प्रतीयमानत्वात्।"–स्या० र० पृ० ५०५। (३) अङ्गारावस्थापन्नाग्निमन्निर्धूमप्रदेशे अग्न्यभावाभावेऽपि- अग्निसद्भावे सत्यपि। (४) यदि हि अग्न्यभाव धूमाभावस्य उपाधि स्यात् तदा 'उपाध्यपाये उपाधिमतोऽभावात्' इति न्यायेन अङ्गारावस्थाग्निमत्प्रदेशे अग्न्यभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र धूमाभावस्यापि अभाव प्राप्नोति, न च तत्र धूमाभावस्याभाव धूमसद्भावरूप समस्ति। अत नाग्न्यभाव धूमाभावस्य विशेषणम् अपि तु धूमनिवृत्तिरेव। (५) तर्कगृहीतव्याप्तिवलोद्भूत। (६) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वे समानेऽपि। (७) पृ० ४२० प० १। (८) तुलना– "अविनाभावस्य साध्याव्यभिचरितत्वस्य"–प्रमाणवा० मनोरथ०३।१। "स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य व्याप्तित्वप्रतिज्ञानात्"–स्या० र० पृ० ५०६। जैनतर्कभा० पृ० १०। (९) धूमत्वमग्नित्वञ्च। (१०)अग्नित्वधूमत्वप्रयुक्तामेव। (११) पृ०४२० प०२। (१२) सामान्यविशेषवतो धूमादे –आ० टि०। (१३) सामान्यविशेषवता अग्न्यादिना –आ० टि०। तुलना–"धूमो हि यत्र यत्रेति सामन्येनैव गृह्यते। न पुन पर्वतेऽरण्ये गृहे वेत्येवमिष्यते।"–न्यायमं० पृ० १११। "देशकालौ परित्यज्य स्वरूपमात्रेणैव धूमादेरग्न्यादिना सहाविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिरूढत्वात्।"–स्या० र० पृ० ५०६।

1–पि धूमसद्भा–श्र०। 2–पि धूमाद् श्र०। 3 बुद्ध्यस्व २ इ–आ०। 4–चारिणां हि श्र०।

व्याप्तिः । न च §देशकालयोरव्यभिचारित्वम्; विवक्षित§देशकालयोरभावेऽपि धूमादेरुपलम्भात् ।

यच्चान्यदुक्तम्[2]–'कस्य केन व्याप्तिः' इति; तत्र यस्य येन अव्यभिचारः तस्य तेन व्याप्तिः, सामान्यविशेषवतश्च धूमादेः सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात् तस्य तेनैव व्याप्तिः, अतश्च उक्तदोषानवकाशः । गम्यं[3] हि व्यापकम्, गमकं व्याप्यम् । न च केवलौ सामान्यविशेषौ गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, [1]जात्यन्तररूपस्यैव[4] उभयात्मनः तद्रूपतया[5]ऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्[6]–'अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः' इत्यादि; तदप्यनेनैव प्रत्याख्यातम्; सामान्योपलक्षितविशेषयो[7]र्व्याप्तेः सर्वोपसंहारेणैव[8] संभवात् । नहि तत्र आनन्त्या[9]दिदोषोऽवकाशं लभते ।

यच्चोच्यते[10]–अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचनः; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे[11] पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमः[12] तथोपपत्ति[13]-अन्यथानुपपत्तिप्रकाराभ्यां व्यवस्थितः, अतः तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति । ननु 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इत्येतत् कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात् तत्सद्भाव[14]नियत एवाऽसौ, अन्यथा[15] यथा धूमाभावेऽपि क्वचि[16]दग्निरुपलभ्यते तथा

(१) तुलना–"यो यथा नियतो येन यादृशेन यथाविध । स तथा तादृशस्यैव तादृशोऽन्यत्र बोधक ॥"–**न्याय० मा० पृ० ५७** । (२) **पृ० ४२० पं० ६** । (३) तुलना–"व्याप्यस्य गमकत्वञ्च व्यापक गम्यमिष्यते । यो यस्य देशकालाभ्या समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयो ।"–**मी० श्लो० अनु० श्लो० ४–६** । (४) सर्वथा सामान्यविशेषाभ्या विलक्षणजातिकस्य कथञ्चिदुभयरूपस्य इत्यर्थ । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) **पृ० ४२१ पं० ६** । (७) धूमत्वाग्नित्वविशिष्टधूमाग्निव्यक्त्यो । "तुलना–"सामान्यवतोरविनाभावग्रहणाभ्युपगमात् । यद्यपि अग्निविशेषा धूमविशेषाश्चानन्त्येनावस्थिता तथापि तेष्ववस्थितमग्नित्व धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राहकमस्तीति तदुपग्राहकवशात् भूयोदर्शनबलादग्निधूमयोर्देशादिव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम् "–**प्रश० व्यो० पृ० ५७०** । **प्रश० कन्द० पृ० २१०** । (८) यावान् कश्चिद्धूम स कालान्तरे देशान्तरे च अग्निजन्मैव अनग्निजन्मा कदापि न भवतीत्येवं प्रकारेण । तुलना–"सर्वोपसंहारवती व्याप्ति "–**तर्कभा० मो० पृ० १९** । (९) अननुगमदेशादिव्यभिचारादय । (१०) **पृ० ४२१ पं० ८** । (११) अभावसामान्ये । (१२) तुलना–"अविनाभाव एव हि नियम, साध्यं विना न भवतीति कृत्वा ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७०** । (१३) तुलना–"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा । द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ।"–**न्यायाव० श्लो० १७** । **परीक्षामु० ३।९५** । **प्रमाणनय० ३।२८** । **प्रमाणमी० २।१।४** । (१४) अग्निसद्भाव । (१५) धूमस्य अग्निसद्भावनियतत्वाभावे, अग्नेर्वा धूमसद्भावनियतत्वे । (१६) तप्तायोगोलकादौ ।

§ एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 1 **जात्यन्तरस्यैव ब०** ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि क्वचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियतः यथा धूमाभावेऽप्युपपद्यमानोऽग्निर्न धूमेन नियतः, अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य, तस्मादसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्[1]–'अग्न्यभावस्य पारमार्थिकत्वे धूमस्याविद्यमानत्वान्न तदाश्रिता व्याप्ति-र्ग्रहीतु[2] शक्या' इति, तदप्यसमीचीनम्, यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभावः तत्रैव[1] धूमस्य अविद्यमानत्वं न सर्वत्रेति कथं तदाश्रिता[3] व्याप्तिः प्रत्येतुमशक्या ?

यदपि–'एकस्याग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते सर्वस्य वा' इत्याद्युक्तम्[4]; तदप्ययुक्तम्, यतो[5] व्याप्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते 'यः कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः' इति, न पुनः एकैकधर्म्युल्लेखेन[1] 'पर्वते गृहे अरण्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः' इति । तथा[6] तत्प्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपत्तिर्न स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमान-वैफल्यप्रसङ्गाच्च, अग्निधूमवतामशेषाणां धर्मिणां व्याप्तिग्रहणकाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वाग्निष्वगृहीतेषु धूमानुपपत्तेर्विशेषणभूतः तदभावो[7] ग्रहीतुमशक्य[2] इत्यभिधातव्यम्, यतः तदभावः[8] तदन्यदेशादिस्वभावः, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य, तुच्छस्वभावाऽभावस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाखिलाग्निविविक्तो देशादिः[9] प्रत्य-क्षत[10][3] एव प्रतीयते । व्यवहार[11] एव हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षः न स्वरूपप्रतिपत्तिः, कथमन्यथा[12] घटादेरपि प्रतिपत्ति स्यात् तत्स्वरूपस्यापि[13] त्रैलोक्यविलक्षणतया त्रैलोक्या-प्रतिपत्तावप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ?

यच्च– अग्न्यभावाभावेऽपि क्वचिद् धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः' इत्याद्य-भिहितम्[14], तदप्यभिधानमात्रम् ; अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात् तद्विरोधे[4][15] स्वाभावस्येव[16] अग्न्यभावस्यापि निमित्तत्वोपपत्तेः । यद्[17] यस्मिन् सति नियमेन निवर्त्तते तत्तद्विरोधनिमित्तम् यथा उष्णस्पर्शसद्भावे शीतस्पर्शः, नियमेन निवर्त्तते चाग्न्यभावे धूमसद्भाव', तस्माद् धूमविरोधस्यासौ[18] निमित्तमिति । ननु अग्न्यभावे

(१) पृ० ४२१ प० ११ । (२) महाह्लदादौ । (३) धूमाश्रिता । (४) पृ० ४२१ प० १९ । (५) तुलना–"तत्र सर्वस्येति ब्रूम, यतो धूमानुपपत्ति सर्वाक्षेपेण प्रतीयते यावान् कश्चिद् धूम स सर्व सर्वस्याग्नेरभावेऽनुपपन्न "–स्या० र० पृ० ५०६ । (६) प्रतिनियतधर्मिव्यक्तिनिर्देशेन व्याप्ति-प्रतीतौ आनन्त्य बाधकम् तदाह तथेति । (७) अग्न्यभाव –आ० टि० । (८) अग्न्यभाव –आ० टि० । तुलना–"यतोऽग्न्यभाव तदन्यदेशादिस्वभाव भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य ।"–स्या० र० पृ०५०७। (९) तस्माद्विवक्षितवस्तुनो वह्नेरन्यदेश पर्वतादिस्तद्ग्रहणस्वभाव इति–आ० टि० । (१०) महाह्ल-दादि । (११) अत्र घटाभाव अत्र अग्न्यभाव इति व्यवहार । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि प्रतियोगिग्रहणापेक्षा स्यात्तदा । (१३)घटस्वरूपस्यापि । (१४ पृ० ४२२ प० २ । (१५)धूमविरोधे। (१६) धूमाभावस्येव । (१७) तुलना–"तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवृत्ति तेन तद्विरुद्धमेव, अग्न्यभावे च सति धूमस्य नियमेन निवर्तमानत्वात् धूमाभावेनेव तेनापि तस्य विरोध । तथाहि यस्मिन् सति यन्नियमेन निवर्तते"–स्या० र० पृ० ५०७ । (१८) अग्न्यभाव –आ० टि० ।

1–धर्मोल्ले–ब० । 2 ग्रहीतुं शक्य –ब० । 3–क्ष एव ब० । 4 तद्विरोधिस्वभावस्येव अग्न्य-सभावस्या–श्र० । 5–वस्यैव ब० ।

धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वमसिद्धम्, गोपालघटिका[1]दौ तद[2]भावेऽपि तत्सद्भावप्रतीतेः, इत्यप्यसत्; तत्रापि त[3]त्सद्भाव एव तद्भावसंभवात्। धूमस्य हि भावः आत्मलाभः, स च अग्नौ सत्येव संवृत्तः, तत्कथं त[4]त्र अग्न्यभावे धू[5]मसद्भावाशङ्कापि ? तर्हि पर्वतादाविव गोपालघटिकादावपि धूमोऽग्निं गमयेत्; इत्यप्ययुक्तम्; पर्वतादिधू[3]मादस्य वैलक्षण्यात्। वह्निसमानसमयसत्ताको हि पर्वतादिधूमो बहलपताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते, न चायं तथा, अतो नास्य अग्न्यनुमापकत्वम्।

यदप्युक्त[6]म्–'अविनाभावे सत्यपि न धूमात् पैङ्गल्यमनुमीयते' इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्; य[7]तो व्याप्त्यनुसारेण अनुमानं विधीयते, व्याप्तिश्च अग्नित्व-धूमत्वद्वारेणैवावसीयते न पैङ्गल्यादिधर्मद्वारेण, तेषामानन्त्यात् व्यभिचाराच्च। पैङ्गल्यं हि हरितालकाञ्चनादौ व्यभिचरदुपलभ्यते, भासुरत्वं सूर्य-तारका-तडिदादौ, द्रव्यत्वं नवस्वपि द्रव्येषु, ऊर्ध्वगतित्वं वा[8]त्यादौ, इति अग्निगतानां धर्माणां व्यभिचारः। तथा धूमगतानामपि; तथाहि–श्यामत्वं [4]नीलाञ्जनादौ, कटुकत्वं त्रि[9]कटुकादौ, अक्षिविकारकारित्वं कटुतैलादौ, कण्ठग्राहित्वम् अपक्वजम्बूफलादौ, ऊर्ध्वगतित्वं वाष्पादौ साधारणं दृश्यते। अतो येन ए[5]केनैव रूपेण त्रैलोक्योदरवर्त्तिन्यो वह्निव्यक्तयो धूमव्यक्तयः तद्धर्माश्च संगृह्यन्ते त[6]देव रूपं व्याप्तिं नियमेन व्यवस्थापयति, तच्च अ[7]ग्नित्वधूमत्वे मुक्त्वा नान्यद् भवितुमर्हति। न खलु यथा व[10]स्त्वन्तरसाधारणाः पैङ्गल्यादयः तथा अग्नित्व-धूमत्वे। त[11]द्वाचके चोच्चरिते शब्दे प्रतिपत्त्रा त्रैलोक्यविलक्षणः स्वधर्मकलापकलितोऽग्निः धूमश्चार्थः संगृह्यते इति सि[8]द्धा त[12]द्द्वारेण व्याप्तिः साध्यसाधनयोः।

ननु यदि अन[13]योः वस्तुतो व्याप्तिरस्ति तर्हि प्रथमदर्शनकाले कस्मान्नोल्लिखतीति चेत् ? ग्राहकाभावात्। यत्काले यद्ग्राहकं नास्ति तत्काले तन्न प्रतिभासते यथा रूपदर्शनकाले रसः, अग्निधूमयोः प्रथमदर्शनकाले [9]नास्ति च व्याप्तिग्राह[10]कं ज्ञानमिति।

(१) इन्द्रजालघटादौ। "गोपालघुटिकादिषु"–प्रश० व्यो० पृ० ५७१। स्या० र० पृ० ५०७। (२) अग्न्यभावेऽपि धूमसद्भावप्रतीते। (३) अग्निसद्भाव एव। (४) इन्द्रजालघटादौ। (५) गोपालघटिकागतधूमस्य। तुलना–"पर्वतादिधूमादस्य वैलक्षण्यात्। वह्निसमानसमयसत्ताको हि पर्वतादिधूमो वहल पताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते"–स्या० र० पृ० ५०७। (६) पृ० ४२२ प० ५। (७) तुलना–"यतो व्याप्त्यनुसारेणानुमानं विधीयते, व्याप्तिश्चाग्नित्वधूमत्वद्वारेणैवावसीयते"–स्या० र० पृ० ५०७। (८) वात्या–वातूल 'ववण्डर आंधी' इति भाषायाम्। (९) त्रयाणा कटूनां शुण्ठीमरीचपिप्पलीना समाहार त्रिकटुकम् "विश्वोपकुल्या मरिच त्रय त्रिकटु कथ्यते। कटुत्रयं तु त्रिकटु त्र्यूषण व्योष उच्यते॥"–भाव प्र० ५।६०। (१०) हरितालसुवर्णादयो वस्त्वन्तरम्। (११) अग्निधूमप्रतिपादके। (१२) अग्नित्वधूमत्वद्वारेण। (१३) अग्निधूमयो।

1–भावे तत्स–श्र०, व०। 2 धूमस्य श–श्र०। 3–धूमस्य वै–श्र०। 4 नीलोत्पलाञ्जनादौ व०। 5 एकेन स्वरूपेण व०। 6 तदेकं रू–श्र०। 7 अग्निधूमत्वे श्र०। 8 सिद्धान्तद्वारेण व०। 9 नास्ति व्या–आ०। 10–कं तर्काख्यं ज्ञानमिति व०।

तत्काले[१] तद्ग्राहकाभावश्च तत्कारणाभावात् सिद्धः। व्याप्तिज्ञानस्य[२] हि कारणम् प्रत्यक्षानु[३]-पलम्भौ। न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्तः। न च ग्राहकाभावात्[1] तदा[४] व्याप्तेरप्यभावः, तदा ग्राहकाभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्[५], अन्यथा[६] दूरे रूपदर्शनकाले रसस्याप्यभावः स्यादविशेषात्[७]। तदा[८] व्याप्तेरभावे च कथं पश्चात्[९] प्रतिभासेत खपुष्पवत्?

अथ अन्वयव्यतिरेकवशात् प्रतिभासेत[2], ननु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां[१०] सा[११] किं जन्यते, ज्ञाप्यते वा? न तावज्जन्यते, तौ[१२] हि प्रमाणम्, न च प्रमाण प्रमेयमुत्पादयति। अथ ज्ञाप्यते, तत्रापि किं तत्काले[१३] सती सा ज्ञाप्यते, प्रागपि वा? तत्काले चेत्, न, अन्वय-व्यतिरेककाल एव व्याप्तेः सत्त्वे कारणाभावात्। अथ प्रागपि सती ज्ञाप्यते; सिद्धं तर्हि प्रथमदर्शनकालेऽपि व्याप्तेः सत्त्वमिति कथं सा तद्ग्राहकतर्कश्च[3] अपह्नूयेत? प्रतीयमानस्याप्यपह्नवे रूपादेः तद्ग्राहकज्ञानस्य[१४] वाऽपह्नवः स्यात्। ततः सिद्धः तर्कः प्रमाणम्।

एतदेवाह–**चिन्ता** प्रमाणम् **अभिनिबोधस्य** फलस्य हेतुत्वात्। अस्य पर्यायमाह–**अनुमानादेरिति**। किन्नाम इदमुक्तलक्षणं प्रमाणम्? इत्यत्राह–**श्रुतज्ञानम्** इति। कुत एतत्? **शेषम्** अस्पष्टं यतः, '**शब्दानुयोजनात्**' इत्येतन्मध्ये करणात् अनेन[4][१५] च सम्बध्यते[5]। तद्योजनात् यत् पूर्वम् अर्वाग् अस्पष्टम् तद्योजनाच्च यच्छेषमस्पष्टं तत् सर्वं श्रुतज्ञानमिति। तच्च **अनेकप्रभेदम्** शब्दयोजनान्वितेतराऽस्पष्टज्ञानव्यक्तिभेदानामानन्त्यादिति।

ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

अविकल्पधिया[१६] लिङ्गं[१७] न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥ ११ ॥
नानुमानादसिद्धत्वात्[१८] प्रमाणान्तरमाञ्जसम्[१९][२०]।

---

(१) प्रथम धूमाग्निदर्शनकाले। (२) तर्कस्य। "तुलना–व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणमुपलम्भानुपलम्भौ, न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त।"–स्या० र० पृ० ५०८। (३) साध्यसाधनसद्भावविषयक ज्ञानं प्रत्यक्षम्, साध्याभावसाधनाभावगोचरञ्च ज्ञानमनुपलम्भ। (४) प्रथमदर्शनकाले। (५) अप्रयोजकत्वात्। (६) यदि ग्राहकाभावाद् वस्तुनोऽभाव स्यात्तदा। (७) रसग्राहकस्य रासनप्रत्यक्षस्य अभावात्। (८) प्रथमदर्शनसमये। (९) भूयोदर्शनानन्तरम्। (१०) उपलम्भानुपलम्भाभ्याम्। (११) व्याप्ति। (१२) अन्वयव्यतिरेकग्राहिणौ उपलम्भानुपलम्भावेव अत्र अन्वयव्यतिरेकशब्देन विवक्षितौ विषयिधर्मस्य विषयेप्युपचारात्। (१३) अन्वयव्यतिरेककाले। (१४) चाक्षुषादिप्रत्यक्षादे। (१५) शेषशब्देन। (१६) निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण। (१७) अविनाभाव (१८) व्याप्तिग्रहणात् पूर्वमलब्धात्मलाभत्वात्। (१९) तर्काख्यम्। (२०) "लिङ्ग साध्यसाधनयोरविनाभाव। किञ्चिद् ईषदपि। न सम्प्रतीयते न सामस्त्येन ज्ञायते। कया? अविकल्पधिया निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सौगताभिप्रेतेन, यावान् कश्चिद्धूम स सर्वोप्यग्निजन्मैव अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येतावद्विकल्पविकलत्वात्तस्य अन्यथा सविकल्पकत्वापत्ते। नाप्यनुमानात्, तस्यैवासिद्धत्वात् व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वादनुमानोत्थानस्य। अनुमानान्तरात्तत्राप्यविनाभावनिर्णये चानवस्थाप्रसङ्गात्। प्रथमानुमानात् द्वितीयानुमाने

1–भावे तदा श्र०। 2–भासते श्र०, ब०। 3–हकस्तर्क–श्र०, ब०। 4 अन्येन आ०। 5 सम्बध्येत श्र०।

विवृतिः–नहि[१] प्रत्यक्षं **'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति[1] इयतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् । नाप्यनु[2]मानान्तरम्; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्या[3]प्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम । "तन्न[२] अप्रत्यक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात्[३] ।**

लिङ्गं हि साध्येन साधनस्य अविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन्[४] सत्येव लिङ्गस्य लिङ्गत्वोपपत्तेः । तस्य प्रतिपत्तिः किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात् ? प्रत्यक्षाच्चेत्; किम् अस्मदादिसम्बन्धिन., योगिसम्बन्धिनो वा ? प्रथमपक्षे किं स्वसंवेदनात्, इन्द्रियजात्, मानसाद्वा ततोऽसौ[५] प्रतीयेत ? न तावत् स्वसंवेदनात्; तस्य स्वरूपमात्रविषयतया बहिरर्थवार्त्तानभिज्ञत्वात् । इन्द्रियमनःप्रभवादपि प्रत्यक्षात् सविकल्पात्, निर्विकल्पाद्वा अविनाभावः [4]प्रतीयेत ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; सविकल्पकप्रत्यक्षस्य सौगतैः प्रामाण्यानभ्युपगमात् । तदभ्युपगमेऽपि न तैं[६]स्तत्र समर्थम्, इत्याह–**'न प्रत्यक्षम्'** इत्यादि । प्रत्यक्षं सौगतयौगकल्पितं मानसेन्द्रियलक्षणम् तन्न **'यावान् कश्चिद् धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्त्तुं[७] समर्थम्** । कुत एतत् ? **सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः** । सन्निहितः अविप्रकृष्टदेशकालो यो विषयः अग्निधूमादिः साध्यसाधनव्यक्तिलक्षणः तस्य बलं सामर्थ्यं तेन उत्पत्तेः । एतेन निर्विकल्पकमपि न तत्[७] ततः[८] तत्र[९] समर्थमिति प्रतिपत्तव्यम् । अत्रैव हेत्वन्तरमाह–**अविचारकत्वात्** इति । न विद्यते विचारः 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्नेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावात् तत्त्वात्[5] । चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत् ?

व्याप्तिनिर्णय इति चेत्, सोय परस्पराश्रयदोष । तन्नानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तद्ग्राहकं प्रमाणान्तर तर्काख्यम् आन्जसं पारमार्थिक न मिथ्याविकल्पात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा अनुमानप्रामाण्यायोगात् ।"–**लघी० ता० पृ० ३०** ।

(१) तुलना–" यदाह नहीदमियतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थमिति ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११४१** । "न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं क्वचित् कदाचिद् भवितुमर्हति सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।"–**सिद्धिवि०, टी०पृ०१५६। अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११९** । "यथाहु – न हीदमियतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।"–**शां० भा० भामती पृ० ७६६। न्यायवा० ता० पृ० १३७** । (२) उद्धृतमिदम्–**प्रमाणसं० पृ० १०१**। (३) तुलना–"सन्निकृष्टविप्रकृष्टयो साकल्येनेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तर्क परं शरणम् ।"–**सिद्धिवि०, टी० पृ० २९३ A.** (४) अविनाभावे । (५) अविनाभावः । (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहणे । (७) प्रत्यक्षम्–**आ० टि०** । (८) सन्निहितविषयबलोत्पत्ते –**आ० टि०** । (९) व्याप्तिग्रहणे–**आ० टि०** ।

---

1 **इति यतो** ज० वि० । 2–**नुमान्त**–ई० वि० । 3 **व्याप्तिरसि**–ज० वि० । 4 **प्रतीयते** श्र० । 5 **तत्त्वाच्च चशब्दो** आ०, ब० ।

कस्यचित्[1] परोक्षत्वात्, अपरस्य[2] ज्ञानान्तरवेद्यत्वेन अनवस्थानात्, अन्यस्य[3] क्षणिकत्व[4]वदकिञ्चित्करत्वात्।

प्रत्यक्षेणैव अविनाभावस्यावगतिरिति यौगानां पूर्वपक्षः —

अत्र यौगा ब्रुवते[5]– साध्यसाधनयोरविनाभावः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते। प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात्[1] तद्गतो नियमोऽपि प्रतिभासत एव। न[2] च त[3]त्रा[6]प्य[7]न्यतोऽपि, अन्य[8]त एव वेति संशयविपर्ययौ स्तः, 'अग्नेरेव अयम्' इति तत्सम्बन्धित्वेनैव[9] अस्या[10]ऽवसायात्। इत्थं प्रथमप्रत्यक्षेण व्याप्तौ प्रतिपन्नायाम् अन्वयव्यतिरेकौ भूयसोपलभ्यमानौ तस्यैव ज्ञानस्य दार्ढ्यमुत्पादयतः। [11]भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते। ननु यदि प्रथमप्रत्यक्षेणैव व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि किमित्ययमनेन नियत इत्येवंरूपा तदानीमेव व्याप्तिप्रतीतिर्नोत्पद्यते इति चेत्? सामग्र्यभावात्। अनुसन्धानेन

(१) मीमासकस्य, ऐन्द्रियस्य मानसस्य – आ० टि०। (२) नैयायिकस्य। (३) सौगतमते, स्वलक्षणस्य–आ० टि०। (४) यथा हि क्षणिकाशे निर्विकल्पक सञ्जातमपि न तन्निश्चिनोति अत क्षणिकाशे अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक तथैव नीलाद्यशेऽपि। (५) "लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्य प्रत्यक्षम्"–न्यायवा० पृ० ४४। (६) धूमेऽपि। (७) अय धूम किमग्नेर्जात उत अन्यस्मादपि करणात् इति सशय। (८) धूमोऽयम् अग्निव्यतिरिक्तादन्यस्मादेव कस्माच्चित् कारणाज्जात इति विपर्यय। (९) अग्निसम्बन्धित्वेनैव। (१०) धूमस्य। (११) "भूयोदर्शनगम्या च व्याप्ति सामान्यधर्मयो। ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयो॥" –मी० श्लो० अनु० श्लो० १२। "न ह्यन्यथानुपपत्ति प्रत्यक्षसमधिगम्या। कार्याव्यभिचारसमधिगम्या हि सा। अव्यभिचारश्च असकृद्दर्शनपूर्वक।"–बृहती० पृ० १११। बृह० पं० पृ० ९६। प्रक० प० पृ० ७०। न्याय० मा० पृ० ७२। "भूयोदर्शनबलादग्निधूमयोर्देशाद्यव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्"– प्रश० व्यो० पृ० ५७०। "तस्मादभिजातमणिभेदतत्त्ववत् भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीना वह्न्यादिभि स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्याम। एवं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्येव यथास्व भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि।"–न्यायवा० ता० पृ० १६७। ता० प० पृ० ६९७। "तदनेन अन्वयव्यतिरेकावेव भूयोदर्शनसहचारिणौ तद्ग्रहणोपाय इति दर्शितम्। भूयोदर्शन हि तज्ज्ञानजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमुच्यते। मणिभेदतत्त्वञ्चात्र स्फुटमुदाहरणम्। तथाहि–मणिर्यैर्यैर्विपर्यैस्तत्तद्व्यवहारविषयो भवति धारयितु तत्तत्फलसम्पादकश्चोन्नीयते ते सूक्ष्मविशेषा परीक्षकेण भूयोभिरेव दर्शनैरुन्नीयन्ते तथात्रापि। प्रथम हि काकतालीयव्युदासाय तत सातत्योर्ध्वगमनविशेषनिश्चयाय ततश्चोपाधिनिरासाय।"–प्रश० किर० पृ० २९५। "सहभावदर्शनजसस्कारसहकारिणा निरस्तप्रतिपक्षशङ्केन चरमप्रत्यक्षेण धूमसामान्यस्य अग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभाव निश्चित्य इदमनेन नियतमिति नियम निश्चिनोति। यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीत तथापि न नियमग्रहणम्। न हि सहभावमात्रान्नियम अपि तु निरुपाधिकसहभावात्। निरुपाधिकत्वञ्च तस्य भूयोदर्शनाभ्यासावज्ञेयमित्येतेन भूय सहभावग्रहणबलभुवा सविकल्पकप्रत्यक्षेण सोऽध्यवसीयते।"–प्रश० कन्द० पृ० २०९। "व्यभिचारज्ञानविरहसहकृत सहचारदर्शन व्याप्तिग्राहकम्। ज्ञानं निश्चय, शका च। सा च क्वाचिदुपाधिसन्देहात्, क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात्। तद्विरहश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात् क्वचित् स्वत सिद्ध एव।"–तत्त्वचि० अनु० पृ० २१०।

1–भासमानात् ब०। 2 न तत्रा–श्र०। 3 तत्रान्यतोप्यन्यत एवेति आ०, तत्राप्यन्यत एवेति ब०।

हि व्याप्तिरुल्लिख्यते । अनुसन्धानञ्च सकृदेकेन[1] सहितस्य[2] ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण[3] सहितस्यैव ग्रहणम् । एतच्च[4] भूयोदर्शना[5]ऽदर्शनैरेव उत्पद्यते । अन्वयव्यतिरेकौ[6] च प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थौ युक्तावेव । अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देहः–'किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियमः, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः ?' इति । तत्र तार्णत्वादयः सम्बन्धिनो व्यभिचारिणः[7], श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षाः, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम् । तस्मिन् सति न कदाचिदग्नित्वं व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्वयव्यतिरेकवतो विस्फारिताक्षस्य अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षाकारतया उपजायमानत्वात् विशिष्ट[1]दण्ड्यादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं व्याप्तिग्रहणार्थं तर्कस्यैव पृथक् प्रामाण्यसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[8]–'प्रत्यक्षेणैव अविनाभावः प्रतीयते' इत्यादि; तत्र[9] किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्त्तेत ? न तावद् ऐन्द्रियम्, तद्धि[10] येनार्थेन प्रतिनियतदेशकालादिना इन्द्रियं सम्बध्यते तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकलापरिगतार्थाक्षेपेण[11] अवस्थितत्वात् । सा[12] हि गृह्यमाणा त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् अतीतानागतवर्त्तमानाऽशेषार्थानामुपसंहारेण गृह्यते । यतो व्यापनं व्याप्तिः, सर्वासां व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च क्रोडीकरणम् । न च तत्र[13] इन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामर्थ्यं वा सम्भवति; वर्त्तमाने नियत एवार्थे तत्संभवात्[14] । न च विश्वोदरवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वाः तेन[15] सम्बद्धा वर्त्तमाना वा, तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्र[16] व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्; भू[17]भवनवर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधूमव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्[18]–'प्रथमप्रत्यक्षेपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो नियमोऽपि प्रतिभासते' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतः पुरोदृश्यमाने[19] नियताग्नि-

(१) महानसाग्निना–आ० टि० । (२) धूमस्य । (३) चत्वराग्निना । (४) अनुसन्धानम् । (५) अन्वय–आ० टि० । (६) व्यतिरेक–आ० टि० । (७) तृणनिर्मितकटादिष्वपि भावात् । (८) पृ० ४२८ पं० ३ । (९) तुलना–"तत्र किमैन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रवर्तते ।"–स्या० र० पृ० ५१० । (१०) तुलना–"न तावत्प्रत्यक्षम्, सन्निहितदेशवर्तमानकालवस्तुविषयनियमात् । येन हि प्रमाणेन सर्वदेशेषु च धूमादीनामग्न्यादिसम्बन्धोऽवगम्यते, तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते । न च प्रत्यक्षं तत्र समर्थम् ।"–प्रक० पं० पृ० ६८ । अष्टसह० पृ० ४३ । प्रमेयक० पृ० ३४९ । स्या० र० पृ० ५१० । चित्सु० पृ० २३८ । (११) सर्वोपसंहारेण । (१२) व्याप्तिः । (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिषु । (१४) सम्बन्धग्रहणसामर्थ्ययोः सम्भवात् । (१५) इन्द्रियेण । (१६) विश्ववर्तिषु व्याप्यव्यापकव्यक्तिषु । (१७) भूमिगृह–आ० टि० । (१८) पृ० ४२८ पं० ३ । (१९) समक्षीभूते महानसादौ ।

1 विशिष्टं व–आ० ।

सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत, अनियताखिलाग्निसम्बन्धित्वेन[1] वा ? प्रथमपक्षे कथ प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? प्रतिनियतव्यक्तौ व्याप्तेरेवाऽसंभवात्, तस्याः[2] सर्वाक्षेपेण पर्यवसानात्। द्वितीयपक्षे तु आस्तां प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षशतैरपि न व्याप्तिः प्रत्येतुं शक्या, तेषां[3] सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्नौ[4] एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्तावसमर्थत्वात्।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्षः[5] प्रत्युक्तः।

नाप्यन्वयव्यतिरेकसहकृतं तत्[6] तां प्रतिपत्तुं समर्थम्, यतः तत्सहस्रकृतस्याप्यस्य[7] यत्रैव स्वयं प्रवृत्तिः तत्रैव तत्प्रतिपत्तिर्घटते[8] न पुनः 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः, यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्र[9] च व्याप्तिप्रतिपत्तेर्वैयर्थ्यम्[10]। अनुमानार्थं हि सा इष्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपन्ने साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे किमनुमानेन ? अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य[11] स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिः, स्वविषये[1] प्रवर्त्तमानस्य अतिशयाधानं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः, स्वार्थातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्वस्य क्वचिदप्यप्रतीतेः। न खलु प्रदीपसहकृतं चक्षू रसादौ प्रवर्त्तमानं प्रतीयते। स्वविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वे सिद्धे सिद्ध्येत्। तच्च[12] असिद्धम्, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात्तस्य। न च तत्सहकृतस्यापीन्द्रियजाध्यक्षस्य[13] कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणाप्यर्थान् गृह्णीयात्।

एतेन 'भूयोदर्शनावगताऽन्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इति[14] प्रत्युक्तम्। किञ्च, इन्द्रियविषये[15] विद्यमानत्वात् तत्प्रभवप्रत्यक्षेण[16] व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ? न तावद् विद्यमानत्वात्; रसादेरपि चाक्षुषत्वानुषङ्गात्, व्याप्तिवद् धूमादौ तत्सत्त्वस्याप्यविशेषात्[17]। नापि स्वविषयत्वात्, तस्याः[18] तद्विषयत्वानुपपत्तेः[19]। अनियतविषया[20] हि व्याप्तिः, [तां] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं प्रतिपद्येत ?

(१) तुलना–"यत पुरोदृश्यमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूम प्रथमप्रत्यक्षे प्रतिभासेत, सकलाग्निसम्बन्धित्वेन वा ?"–स्या० र० पृ० ५१०। (२) व्याप्ते। (३) प्रत्यक्षाणाम्। (४) सत्येव भवति अग्न्यभावे तु कदाचिदपि न भवतीत्यध्याहार्यम्। (५) पृ० ४२८ प० ७। (६) प्रत्यक्षम्। (७) सहस्रश अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्यापि प्रत्यक्षस्य। (८) व्याप्ति। (९) प्रत्यक्षविषयीभूते धूमाग्निव्यक्तिविशेषे। (१०) व्याप्तिप्रतिपत्ति। (११) तुलना–"अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्व हि प्रत्यक्षस्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्ति, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यामतिशयाधानं वा ?"–स्या० र० पृ० ५११। (१२) अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वम्। (१३) अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्य। (१४) पृ० ४२८ प० ८। (१५) तुलना–"किञ्च, इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्ति प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ?"–स्या० र० पृ० ५११। (१६) इन्द्रियप्रभव। (१७) यथा धूमादिषु व्याप्तिरस्ति एवमाम्रादौ रसादित्वमपि–आ० टि०। (१८) व्याप्ते। (१९) प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्ते। (२०) तुलना–"अनियतविषया हि व्याप्तिरिति कथं नियतविषयेन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षता प्रतिपद्येत"–स्या० र० पृ० ५११।

1 स्वे विषये ब०।

यदप्यभिहितम्[1]–'अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरुल्लिख्यते, तच्च[2] भूयोदर्शनादर्शनैरेव उत्पद्यते[1]' इत्यादि; तदुपपन्नमेव, उपलम्भानुपलम्भप्रभवस्यैव[2] ज्ञानस्य[3] अस्माभिः[4] व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपक्रान्तत्वात्। प्रत्यक्षरूपता तु तस्य[5] अनुपपन्ना, विभिन्नसामग्रीविषयत्वात्। तद्धि[6] इन्द्रियादिसामग्रीकं सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयञ्च प्रसिद्धम्, नचेदं[7] तथा इति कथं प्रत्यक्षरूपतां प्रतिपद्येत?

ननु सामान्यस्य[8] व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकत्वात्, तस्य च इन्द्रियेण सम्बद्धत्वात्[9] वर्त्तमानत्वाच्च कथन्न व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षम्? इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उत तदुपलक्षितविशेषाणां[10] तदुपलक्षितविशेषैः? तत्र आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये सिद्धसाधनतो[11]ऽनुमानवैफल्य[12]प्रसङ्गात्। तदुपलक्षितविशेषाणां तु आनन्त्यात् कथं सम्बद्धवर्त्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यात्?

एतेन 'भूयोदृष्टान्वय' इत्यादि[13] प्रत्युक्तम्; विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तद्विपर्ययात्[14] इत्यसकृदावेदितम्। अथ अस्य[15] अप्रत्यक्षत्वे कथम् 'इन्द्रियापेक्षा' इत्युच्यते? 'तत्कारणकारणत्वात्' इति ब्रूमः। व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणं प्रत्यक्षानुपलम्भौ तयोश्च इन्द्रियमिति। तन्न इन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम्।

नापि मानसम्[16], मनसो[17] बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरर्थे प्रवृत्त्यभावात्। "अस्वतन्त्रं

(१) पृ० ४२८ पं० १०। (२) अनुसन्धानम्। (३) तर्काख्यस्य–आ० टि०। (४) जैनैः। (५) उपलम्भानुपलम्भजस्य तर्कस्य। (६) प्रत्यक्षम्। (७) तर्काख्य ज्ञानम्। (८) धूमत्वस्य अग्नित्वस्य च। (९) संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावात्, चक्षुःसंयुक्ते अग्नौ धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य च समवायात्। (१०) सामान्योपलक्षित। (११) अग्निधूमसामान्ययो महानसादावेव प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। (१२) विशेषस्यैव साधनीयत्वात्–आ० टि०। (१३) पृ० ४२९ प० ६। (१४) सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविषयतया सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरत्वाभावात्। (१५) व्याप्तिज्ञानस्य–आ० टि०। (१६) "तत्र केचिदाचक्षते मानसं प्रत्यक्षं प्रतिबन्धग्राहीति। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामनलसहचरितमनग्नेश्च व्यावर्त्तमानं धूममुपलभ्य विभावसौ नियतो धूम इति मनसा प्रतिपद्यते। मनश्च सर्वविषयं केन वा नाभ्युपेयते असन्निहितमप्यर्थमवधारयितु क्षमम्। 'भावाभावसाहचर्यमवधार्य मनसा नियमज्ञानसिद्धेरित्यलं निर्बन्धेन।"–न्यायमं० पृ० १२१, १२३। 'तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायान्मानसात् प्रत्यक्षात्। धूममग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलभ्यानग्नेश्च जलादेर्व्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निन्न व्यभिचरतीति।"–न्यायकलि० पृ० ३। (१७) तुलना–"प्रत्यक्षं मानसं येषा सम्बन्ध लिंगलिंगिनो। व्याप्त्या जानाति तेप्यर्थेऽतीन्द्रिये किमु कुर्वते॥ यत्राक्षाणि प्रवर्तन्ते मानसं तत्र वर्तते। नोऽन्यत्राक्षादिवैधुर्यप्रसंगात् सर्वदेहिनाम्॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ०१७९। "न चातीतानागताना व्यक्तीना मनसा सङ्कलनमिति न्याय्यम्, मनसो बहिरर्थे स्वातन्त्र्ये अन्धवधिराद्यभावप्रसङ्गात्।"–प्रश० कन्द० पृ० २१०। "मनश्चेद्बहिर्विषये कारणान्तरनिरपेक्षं प्रवर्तेत तदा सर्वं सर्वदर्शी स्यादविशेषात्।"–प्रक० प० पृ० ६९। बृह० प० पृ० ९५। न्याय० मा० पृ० ५८। प्रमेयक० पृ० ३५१। स्या० र० पृ० ५११।

1 उत्पद्येत आ०, श्र०। 2 उपलम्भप्रभ–ब०।

वहिर्मनः[1]" [ ] इत्यभिधानात्। व्याप्तिश्च बहिरर्थधर्मत्वाद् बहिरर्थः, यो बहिरर्थधर्म. स बहिरर्थः यथा रूपादि., बहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति। भवत्कल्पितस्य[2] मनसः षट्पदार्थपरीक्षायां[3] प्रतिषेधतोऽसत्त्वाच्च कथं तद्भवं[4] प्रत्यक्षतां प्रतीयात्। सत्त्वे वा न अणुस्वभावस्यास्य[5] अशेषार्थैः सकृत् सम्बन्धसंभवः, यदणुस्वभावं न तत् सकृदशेषार्थैः सम्बध्यते यथा परमाणुः, अणुस्वभावञ्च भवत्कल्पितं मन इति। अथ साक्षात् मनसोऽशेषार्थै. सम्बन्धाभावेऽपि परम्परयाऽसौ[6] भविष्यति; तथाहि–मनसा साक्षात् सयुज्यते आत्मा तेन च संयुक्ता सर्वेऽग्न्यादयो धूमादयश्च साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति; तदप्यपेशलम्, एवं सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गात्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सर्वार्थानां मनसा सम्बद्धसवं[8] (सम्बन्धसम्बन्धस) भवात्।

किञ्च, असौ[9] सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनसः सद्भिरेव अर्थैः स्यात् नाऽसद्भिः[10], तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? न चात्मनो व्यापित्वं सिद्धम्, तस्य[11] षट्पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषेधात्[12], तत्कथं सम्बन्धसम्बन्धगन्धोऽपि स्यात् ? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयोः भवता व्याप्तिः प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थान साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्त्यनिश्चयात्। तन्न सौगतमते यौगमते वा ऐन्द्रियं मानस वा प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तेरङ्गमिति स्थितम्।

एतेन योगिप्रत्यक्षस्यापि[13] अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गत्वं प्रत्याख्यातम्, तस्याप्यविचारकतया[14] कारणभूतप्रतिनियतसन्निहितार्थगोचरचारितया चैतावतो[5][15] व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थत्वाविशेषात्। अस्तु वा ततः तत्प्रतिपत्तिः, तथापि–योगी[16] प्रत्यक्षतो व्याप्तिं

(१) तुलना–"परतन्त्रं वहिर्मन ।"–विधिवि० पृ० ११४। लौकिकन्या० तृ० पृ० ८२। उद्धृतमिदम्–स्या० र० पृ० ५११। (२) यौगपरिकल्पितस्य। (३) पृ० २६९। (४) मनोभव ज्ञानम्। (५) मनस। (६) सम्बन्ध। (७) आत्मव्यापकत्वप्रयुक्तसयुक्तसयोगवशात् अशेषधूमाग्निव्यक्तीना मनसा सम्बन्धकल्पने। (८) परम्परासम्बन्ध, मन संयुक्त आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽर्था इति। (९) तुलना–"किञ्चासौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सद्भिरेवार्थै नासद्भिरतीतानागतै तत्कथ तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति ?"– स्या० र० पृ० ५१२। (१०) अतीतानागतदेशकालभावैरिति–आ० टि०। (११) आत्मनो व्यापित्वस्य। (१२) पृ० २६१। (१३) तुलना–"अन्ये तु व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपत्तुर्योगिन इवाशेषविषय परिज्ञानमस्तीति ब्रुवते। अन्यथा हि सर्वो धूमोऽग्नि विना न भवतीति व्याप्तिस्मरण न स्यात्। विवेकेन चाप्रतिभास समानाभिव्याहारात् यथा धान्यराशिक्षिप्ताया धान्यव्यक्तेरिति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७०। "यस्तु मन्यते प्रज्ञाकरगुप्त योगिज्ञान व्यप्तिज्ञानमिति।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १०५ B (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि। (१५) यावान् कश्चिद्धूम स सर्वोप्यग्निजन्मा अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येतावत (१६) तुलना–"योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम्। सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिन ॥ परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोऽपि न युज्यते। अयोगिन स्वय व्याप्तिमजानान जनान् प्रति ॥ योगिनोऽपि प्रति व्यर्थं स्वस्वार्थानुमिताविव। समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥"–तत्त्वार्थ श्लो० पृ० १७९। प्रमेयक० पृ० ३५१।

1 तत्प्रभव व०। 2 सम्बन्धसंभवान् व०। 3 सम्बद्धसम्ब–आ०। 4 सम्बद्धसम्ब–आ०। 5 वैता–व०।

प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विदध्यात्, परार्थं वा ? न तावत् स्वार्थम्, सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणां प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य[1] अफलत्वात्। यत् प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नम् न तत्र अनुमानं फलवत् यथा प्रत्यक्षस्वरूपे, प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निखिलाः साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति। न च तथा[2] तत्प्रतिपन्नेष्वप्येतेषु[3] समारोपव्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्, योगिनो विधूँतकल्पनाजालतया[4] समारोपस्यैवाऽसंभवात्। अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्, ननु[5] गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत् ? यदि गृहीतव्याप्तिकम्; कुतस्तेन[6] गृहीता व्याप्तिः ? न तावत् स्वसंवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानैः; तेषां तदविषयत्वप्रतिपादनात्[7]। नापि योगिप्रत्यक्षेण, अनुमानानर्थक्यानुषङ्गात्[1]। अगृहीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिः अतिप्रसङ्गात्। तन्न कुतश्चिदपि प्रत्यक्षात् साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं शक्या[8]।

कारिका-विवृत्योर्व्याख्यानम्—

अतः सूक्तम्–**'अविकल्पधिया'** इत्यादि। न विद्यते विकल्पः स्वपरव्यव[3]सायो यस्याः सा चासौ धीश्च तया परोक्षया[9] ज्ञानान्तरानुभवनिश्चया[10]त्मिकया च **न किञ्चित्** स्वभावविषयं कार्यादिविषयं[4] वा **लिङ्गम्** अविनाभावः **सम्प्रतीयत** इति। तर्हि अनुमानात् तत्सम्प्रतीयते इत्यत्राह–**न अनुमानात्** 'लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम्' इत्येवं लक्षणात् तत्सम्प्रतीयते[11]; तथाहि–प्रथमानुमानं हेतोः अविनाभावावसाये समर्थम्, अनुमानान्तरं वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; तदनुमानस्य[12] **असिद्धत्वात्।** अत एव तत्सिद्धौ[13] अन्योन्याश्रय'–सिद्धे[5] हि हेतोरविनाभावे ततस्तदुत्पत्तिसिद्धिः[14], तत्सिद्धौ च हेतोरविनाभावसिद्धिरिति। **नाप्यनुमानान्तरम्;** यतः तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावात् हेतोरुत्पद्यते, तत्प्रतिपत्तिश्च[15] तत्र प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे दूषणमाह–**'सर्वत्र'** इत्यादि। **सर्वत्र** प्रथमानुमानवत् द्वितीयेष्यनुमाने **अविशेषात्, 'न प्रत्यक्षम्'** इत्यादेर्दोषस्य अभेदात्[16]। अनुमानतोऽपि तत एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? यदि तत एव, अन्योन्याश्रयः[17]।

(१) अनुमानस्य। (२) परिस्फुटतया। (३) योगिप्रत्यक्षज्ञातेष्वपि साध्यसाधनव्यक्तिविशेषेषु। (४) "प्रागुक्तं योगिना तेषा तद्भावनामयम्। विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते॥"–प्रमाणवा० २।२८१। "सत्यस्वरूपविषयत्वेन विधूतकल्पनाजालम् अविकल्पकत्वाच्च स्पष्टं विशदज्ञेयाकारमेवावभासते।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८१। (५) तुलना–"तर्हि योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकमगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्।"–प्रमेयक० पृ० ३५१। (६) परेण प्रतिपाद्येन। (७) व्याप्त्यविषयत्व। (८) सकलसाध्यसाधनयो स्पष्टं प्रतिभातत्वात्। (९) मीमासकमते। (१०) नैयायिकमते। (११) लिङ्गम्–अविनाभाव। (१२) प्रकृतानुमानस्य व्याप्तिग्रहणात्पूर्वमलब्धस्वरूपत्वात्। (१३) अनुमानसिद्धौ। (१४) अनुमानोत्पत्ति। (१५) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमानान्तरे। (१६) समानत्वात्। (१७) सिद्धाया हि व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनुमानोत्थानम्, सति च अनुमानात्मलाभे व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति।

1–नर्थक्यप्रसङ्गात् श्र०। 2 एतदनन्तरं ब० प्रतौ 'अविकल्पधिया' इति कारिकाऽपि लिखिता समस्ति। 3 स्वरूपव्य–श्र०। 4 'कार्यादिविषयं' नास्ति ब०। 5 सिद्धे हेतो–श्र०।

अथाऽन्यतः; तदा अनवस्था–तदु[1]त्थापकहेतावप्यनुमानान्तरात्त[2]त्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। **तन्न** कुतश्चित् परस्य प्रतिबन्धसिद्धिः। मा भूत्, किं तया ? इत्यत्राह–**'नहि'** इत्यादि। न खलु **साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद्** अनित्यत्वादौ वह्न्यादौ वा साध्ये व्यवहारे परमार्थे वा **किञ्चित्** स्वभावलिङ्गजं कार्यादिलिङ्गजं वा **अनुमानन्नाम**। इदमत्र तात्पर्यम्–यथा अनुमानमन्तरेण न किञ्चित् साध्यं सिद्ध्यति इति तदर्थमनुमानमिष्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिव्याप्तिसिद्धिमन्तरेण त[3]दपि न सिद्ध्यति इति तद[4]र्थो सो[5]ऽपि इष्यतामविशेषात्। तत. किं जातम् ? इत्याह–**'तन्न'** इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **न अप्रत्यक्षं परोक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणमस्ति** किन्तु अनुमानमेव' इ[6]त्ययुक्तम्, **लिङ्गप्रतिपत्तेः** अविनाभावप्रतिपत्तेः तर्काख्यायाः **प्रमाणान्तरत्वाद्** अलिङ्गजाऽविशदस्वभावतया प्र[7]माणद्वयानन्तर्भूतत्वात्। ततः सूक्तम्–**'चिन्ता प्रमाणम् अनुमानादेर्हेतुत्वात्'** इति। कीदृशं तदनुमानम् ? इत्याह–

लिङ्गा[8]त् साध्याविनाभावाभिनिबो[9]धैकलक्षणात् ॥ १२ ॥
लिङ्गिधीरनुमा[10]नं तत्फलं हा[11]नादिबुद्धयः।

---

(१) अन्यानुमानोत्थापक। (२) व्याप्तिप्रतिपत्ति। (३) अनुमानमपि। (४) अनुमानसिद्ध्यर्थो। (५) व्याप्तिसिद्धिरपि। तुलना–"तर्कसंवादसन्देहे नि शङ्कानुमति क्व ते।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९५। (६) 'तन्नाप्रत्यक्षम्' इत्यादि बौद्धोक्त वाक्यम्। (७) अनुमानप्रत्यक्षरूप। (८) व्याख्या–"अनुमान प्रमाण भवति। किम् ? लिङ्गिधी लिङ्गिन साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थ। लिङ्गमविनाभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति लिङ्गीति विग्रहात्। तस्योत्पत्तिकारणमाह लिङ्गात् साधनात्। साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्, साध्येन इष्टाबाधितासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽन्यथानुपपत्तिनियम तस्य अभितो देशकालान्तरव्याप्त्या निबोधो निर्णय स एक प्रधान लक्षणं स्वरूप यस्य तत्तथोक्त तस्माल्लिङ्गादुत्पद्यमाना लिङ्गिधीरनुमानमित्यर्थ। नन्वस्य तर्कफलत्वात्कथ प्रमाणत्वमित्याशङ्क्याह–तत्फलं हानादिबुद्धय, हानं परिहार आदिशब्देन उपादानमपेक्षा च गृह्यते। तासा बुद्धयो विकल्पा तस्य अनुमानस्य फल भवन्ति, तत फलहेतुत्वादनुमानं प्रमाण प्रत्यक्षवदित्यभिप्राय।"–लघी० ता० पृ० ३१। (९) "अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्ध च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥"–प्रश० भा० पृ० २००। "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधन हेतु। तथा वैधर्म्यात्।"–न्यायसू० १।१। ३४-३५। "हेतुस्त्रिरूप"–न्यायप्र० पृ० १। "पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे॥"–हेतुबि० प्र० परि०। प्रमाणवा० ३।१। तत्त्वस० का० १३६२। "त्रिरूपो हेतु।"–साख्यका० माठ० पृ० १२। "साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचन हेतु।"–न्यायसा० पृ० ५। "अन्यथानुपपन्नत्व हेतोर्लक्षणमीरितम्।"–न्यायाव० श्लो० २२। "साधन प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्"–प्रमाणसं० पृ० १०२। न्यायवि० का० २६९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४। परीक्षामु० ३।१५। "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकै–अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण लिङ्गमभ्यते।"–प्रमाणप० पृ० ७२। "निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतु।"–प्रमाणनय० ३।९। "साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचन हेतु।"–प्रमाणमी० २।१।१२। (१०) "लिङ्गदर्शनात्सजायमानं लैङ्गिकम्।"–प्रश० भा० पृ० २००। "अनुमान ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि।"–शावरभा० १।१।५। "प्रतिबन्धदृश प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्।"–साख्यसू० १।१००। "अनुमान मितेन लिंगेन अनु पश्चान्मानम्।"–न्यायवा० पृ० २८। "तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये

विवृतिः–नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण[1] ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः। नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा। न चात्र विसंवादोऽस्ति।

कारिकाव्याख्यानम्– **लिङ्गात्** हेतोः। किंविशिष्टात्? इत्याह–'**साध्य**' इत्यादि। साध्येन[1] इष्टाऽबाधिताऽसिद्धविशेषणविशिष्टेन **अविनाभावो** व्याप्तिः, तस्य **अभि** समन्तात् **निबोधो** निश्चयः **एकं** प्रधानं **लक्षणं** यस्य तस्मात् सुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः। **लिङ्गिनि** साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने[2] वा **धीः** ज्ञानम् **अनुमानम्**।

प्रतिज्ञाप्रयोगमनभ्युपगच्छतो बौद्धस्य प्रतिविधानम्– ननु 'प्रयुज्यमाने साध्यधर्मविशिष्टे[2] धर्मिणि' इत्ययुक्तम्; पक्षस्य[3] प्रयोजनाभावतः प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रतिपत्त्युपपत्तेः। अथ तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजनसंभवात् तदसंभवोऽसिद्धः; तन्न, तस्य तत्प्रतिपादनासंभवात्। स

ज्ञानं तदनुमानम्।"–न्यायवि० २।३। "सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्।" –न्यायसा० पृ० ५। "साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥"–न्यायाव० श्लो० ५। "साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं"–न्यायवि० का० १६७। **तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७। प्रमाणप० पृ० ७०। परीक्षामु० ३।१४। प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी० पृ० २०। जैनतर्कभा० पृ० १२।** (११) तुलना–"तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रमितिरग्निज्ञानम्। अथवा अग्निज्ञानमेव प्रमाणम्, प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति।"–**प्रश० भा० पृ० २०६।**

(१) तुलना–"पक्ष प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सित, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेष।"–**न्यायप्रवे० पृ० १।** "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृत पक्ष इति।"–**न्यायबि० पृ० ७९।** '**न्यायमुखप्रकरणे** तु स्वयं साध्यत्वेनेप्सित पक्षो विरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्"–**प्रमाणवार्तिकालं परि० ४।** "साध्याभ्युपगमः पक्ष प्रत्यक्षाद्यनिराकृत।"–**न्यायाव० श्लो० १४।** "साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्"–**न्यायवि० श्लो० १७२।** "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्"–**परीक्षामु० ३।१५।** "अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्'–**प्रमाणनय० ३।१२।** "सिसाधयिषितमबाध्यं साध्यं पक्ष।"–**प्रमाणमी० १।२।१३।** (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् हेतो पक्षधर्मत्वसमर्थनाद्वा अर्थादापन्ने। (३) "तत्पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने। प्रमाण संशयोत्पत्तेस्तत साक्षान्न साधनम्। साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम्' 'ननु– अख्यापिते हि विषये हेतुवृत्तेरसंभवात्। विषयख्यापनादेव सिद्धौ चेत्तस्य शक्तता॥ उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतक शब्द ईदृशा। सर्वेऽनित्या इति प्रोक्तेप्यर्थान्नाशधीर्भवेत्॥ अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धत। त्रिष्वन्यतमरूपस्यैवानुक्तिर्न्यूनतोदिता॥"–**प्रमाणवा० ४। १६–२३। हेतुबि० प्र० परि०।** "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात्। ननु च विषयोपदर्शनाय प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव; न; वैयर्थ्यात् असत्यपि प्रतिज्ञावचने यथोक्तात् साधनवाक्याद् भवत्येवेष्टार्थसिद्धिरित्यपार्थकं तस्योपादानम्।"–**वादन्याय पृ० ६१–६५।** "द्वयोरप्यनयो प्रयोगे नावश्यं पक्षनिर्देश। यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्या प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयो तस्मात् पक्षोऽवश्यमेव न निर्देश्य। अथ यदि पक्षो न निर्देश्य

1–पपत्तिवित–ज० वि०। 2 **साध्यविशि–श्र०।**

किं केवलः साध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्यासमन्वितो वा ? यदि केवलः; हेतूपन्यासो व्यर्थः, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव तत्प्रतिपत्तेः संजातत्वात् । अथ हेतूपन्यासमन्वितः, तर्हि तेनैव तत्र सामर्थ्योपपत्तेः किं तत्प्रयोगेणेति ?

अत्रोच्यते–पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धित्वादप्रयोगः; प्रक्रमात् तत्संसिद्धेः, प्रयोजनाऽप्रसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य तत्प्रसाधकत्वाद्वा ? न तावत् तत्सिद्धिप्रतिबन्धित्वात्, वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकत्वतः तत्प्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः । यत् यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिबन्धकम् यथा धूमे काष्ठादिकम्, सम्यक् साधनतः स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकश्च प्रतिज्ञाप्रयोग इति ।

प्रक्रमात्तत्सिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वाद्यवयवविशिष्टा, ततस्तस्याप्यप्रयोगप्रसङ्गः । नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने कृतकत्वादिहेतुः घटादिदृष्टान्तश्च प्रक्रमान्न सिद्ध्यति । तथाविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराधः कृतः येनास्य तथाविधस्याभिधानं नेष्यते ?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वञ्च असिद्धम्, प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्प्रसाध्यप्रयोजनस्य सद्भावात् । प्रतिपाद्यो हि कश्चित् मन्दमतिः कश्चित्तीव्रमतिः । तत्र यो मन्दमतिः न तस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिविशेषः प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि नैयायिकादेः पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नसङ्केतस्यामन्दमतेरपि । तदप्रयोगे तेन निग्रहस्थानाभिधानात् । "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात् । तीव्रमतेस्तु तत्प्रयोगमन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेस्तस्य वैयर्थ्ये हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्यं स्यात्, निश्चिताऽविप्रतारकपुरुषवचनाद् 'अग्निरत्र' इत्यादिप्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव कस्यचित् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

त्पक्षादिवचनं लक्षणमुक्तम् ? न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु अशक्यं केनित् शास्त्रं मा । नानार्थ प्रतिज्ञा, तस्मात्साध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् ।"–न्यायवि० टी० पृ० ७७–७९ । "असाधनाङ्गत्वात् प्रतिज्ञाऽनुपयोगिनी ।"–तत्त्वसं० पृ० ४१८ ।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्ति । (२) साध्यार्थप्रतिपत्तौ । (३) तुलना–"तत्प्रयोगेन साध्यसिद्धिप्रतिबन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३७२ । "कथन पुनरस्या साधनाङ्गत्वं किं सर्वथैव तदप्रयोगात्, उतानुपयोगान्वयवैव परिहारात् ?"–प्रशा० किर० पृ० ३३५। (४) प्रकरणात् । (५) पक्षप्रयोगतत्सिद्धेः । (६) प्रयोजन । (७) स्वपक्षसिद्धलक्षणकार्यत्वात् । (८) साध्यसिद्धि । (९) तत् नैयायिकादीनां प्रकरणादेव निश्चितम् । (१०) प्रकरणात् सिद्धस्यापि (११) तुलना–"तत्प्रयोगे प्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात् ।"–प्रमेयक० पृ० ३७२ । स्या० र० पृ० ५५० । (१२) प्रतिज्ञायाः अप्रयोगे । (१३) नैयायिकेन । (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग । (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना–"...प्रतिज्ञामात्रादेव 'अग्निरत्र' इत्यादिरूपात् कस्यचित् प्रमेयार्थं सिद्धयति ...मात्रसिद्धेः ।"–न्यायाव० टी० पृ० ८७। (१७) तीव्रमतेः प्रज्ञायाः ।

1 सामर्थ्यं ब–प्र० । 2 संजातत्वात् ब० । 3 पक्षसाध्यसिद्धे आ० । 4–स्य प्रति–ब० ।
5 विशिष्टापि ब० ।

एतेन हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोजनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि[1] प्रत्याख्यातम्, नियमाभावात्। क्वचिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केवलस्यैव[2] पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्तिविशेषलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रतीतेः।

किञ्च, हे[1]तुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिकत्वादिदोषानुषङ्गः, तमन्तरेण तत्र वास्तवगुणदोषविवेकस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। यथैव हि लक्ष्यनिर्देशं विना धानुष्कस्य इषुं प्रतिक्षिपतो गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेक्षकजनानां व्यामोहात् प्रतिभाति, त[2]न्निर्देशे तु त[3]द्गुणो लक्ष्यवेधप्रावीण्यलक्षणः तद्विपरीतत्वलक्षणश्च दोषः ते[4]षां यथावत् प्रतिभाति, एवं पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतावपि 'किमयं हेतुः साध्ये एव वर्त्तते तदभावे वा' इत्याशङ्काकलङ्कितत्वादनैकान्तिकः, 'विपक्ष एव वर्त्तिष्यते' इति विपरीताशङ्काऽनिवृत्तेः विरुद्धो वा स्यात्। पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे धानुष्कवत् [3]यथावत्त[5]द्गुणदोषयोः प्रतिपत्त्युपपत्तेः न कश्चिद् दोषः।

यदप्यभिहितम्[6]–'केवलस्यैव पक्षस्य साध्यप्रतिपादनसामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थः' इति, तदप्यभिधानमात्रम्, एकाकिनः कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीतेः। न खलु बीजादेः केवलस्यैव अङ्कुरादिका[4]र्यकरणे सामर्थ्यं दृष्टम्। नाप्येक[7]स्य त[8]त्र सामर्थ्ये अ[9]न्येषां वैयर्थ्यम्। क[10]थञ्चैवं हेतोः केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्थनस्य उपनयादेश्च वैयर्थ्यन्न स्यात्? पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेत्वपेक्षणान्न [11]तत्सिद्धिनि[5]बन्धनत्वम्, इत्यप्यसुन्दरम्, [12]भवत्कल्पिताऽविकल्पकाध्यक्षस्याप्यर्थसिद्धिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् [13]तत्सिद्धौ [14]तस्य विकल्पापेक्षणात्। अथ 'तत्[15]प्रतिपन्नमेवार्थं विकल्पो व्यवस्थापयति' इत्युच्यते, तर्हि

---

(१) तुलना–"तत्प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यो हेतोर्गोचरदीपक ॥ अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिन । प्रत्याय्यस्य भवेद्धेतुर्विरुद्धारेकितो यथा ॥ धानुष्कगुणसप्रेक्षिजनस्य परिविध्यत । धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरौ ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विपक्षे एवायं वर्त्तते इति व्यामोहाद् विरुद्धदूषणमभिदधीत, पक्षोपन्यासात्तु निर्णीतहेतुगोचरस्य नैष दोषः स्यादित्यभिप्राय ··यथा लक्ष्यनिर्देशं विना धानुष्कस्येषु प्रक्षिपतो यौ गुणदोषौ तौ तद्दर्शिजनस्य विपर्यस्तावपि प्रतिभात –गुणोपि दोषतया, दोषोऽपि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशं विना हेतुमुपन्यस्यतो वादिनो यौ स्वभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षणौ गुणदोषौ तौ प्राश्निकप्रतिवाद्यादीना विपरीतावपि प्रतिभात इति भावार्थः।"–न्यायाव० श्लो० १४-१६, टी० पृ० ४८-४९। (२) लक्ष्यनिर्देशे। (३) धानुष्कस्य कौशलयम्। (४) प्रेक्षकजनानाम्। (५) वादिन स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षयो गुणदोषयोः। (६) पृ० ४३६ पं०१। (७) बीजस्य हेतोर्वा। (८) अङ्कुरोत्पादने साध्यप्रतिपादने वा। (९) क्षितिसलिलादीनाम् पक्षप्रयोगादीना वा। (१०) तुलना–"तत्र च यद्दूषणमुक्तम्–तर्हि हेतोरेव तत्र सामर्थ्योपपत्तें किं पक्षवचनेनेति, तदयुक्तम्, एव हि हेतो समर्थनापेक्षस्य साध्यसिद्धिनिवन्धनत्वोपपत्ते तद्वचनमपि न स्यात्।" –स्या० र० पृ० ५५०। न्यायाव० टी० पृ० ४७। (११) साध्यसिद्धि। (१२) सौगत। (१३) अर्थसिद्धौ (१४) अविकल्पकाध्यक्षस्य। (१५) निर्विकल्पप्रतिपन्न।

---

1 इत्यत्रापि श्र०। 2 केवलस्यास्यैव व०। 3 यथावद्गुण–आ०। 4–कार्यकारणे आ०। 5–निबन्धनम् ब०।

पक्षप्रतिपादितमेवार्थं हेतुः प्रतिपादयति, तत्प्रतिपादितञ्च प्रमाणान्तरं समर्थयत इत्यप्युच्यतामविशेषात्। इदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्–यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थप्रतिपादकत्वं नाम। 'पच्यते कोमलीक्रियते हेतुना सुकुमारप्रज्ञानां साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते इति पक्ष.' इति व्युत्पत्तेः।

यदि च पक्षो नेष्यते कथं तर्हि सपक्षविपक्षव्यवस्था स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्याः ? तदभावे च त्रिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेदः स्यात्।

किञ्च, प्रतिज्ञाया प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत अविशेषात्। न चैवम्, तत्र तत्प्रयोगदर्शनात्। नहि शास्त्रेऽनियतकथायां वा प्रतिज्ञा नाभिधीयते 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' इत्याद्यभिधानानां तत्रोपलम्भात्। 'परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे वादेऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वादिति।

ननु लिङ्गस्य साध्याविनाभावैकलक्षणत्वमयुक्तम्, तस्य पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रयान्वितत्वेन एकलक्षणत्वायोगात्। तदनन्वितत्वे हेतौ असिद्धत्वादिदोषानुषङ्गात्। नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेदः, सपक्षे सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदास., विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अनैकान्तिकत्वनिषेधः कर्तुं शक्य इति। उक्तञ्च–

पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य लिङ्गलक्षणत्वव्युदासपुरस्सरं तस्य अविनाभावैकलक्षणत्वसमर्थनम्–

(१) हेतुप्रतिपादितञ्च। (२) समर्थनरूपम्। (३) तुलना–"पच्यते इति पक्षः। पच् व्यक्तीकरणे। पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थ स पक्ष।"–न्यायप्र० वृ० पृ० १३। न्यायसारटी० पृ० १०१। (४) पक्षपूर्वकत्वात्। (५) सपक्षविपक्षव्यवस्थाया। (६) सपक्षविपक्षव्यवस्थाया अभावे। (७) तुलना–"प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत विशेषाभावात्। नहि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयत एव अनियतकथाया वा, 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽय शिंशपात्वात्' इत्यादिवचनाना शास्त्रे दर्शनात्, 'विरुद्धोऽय हेतुरसिद्धोऽयम्' इत्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथाया प्रयोगात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८३। प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५१। (८) प्रयोगानर्हत्वाविशेषात्। (९) शास्त्रादौ। (१०) सुगोष्ठ्याम्। (११) शास्त्रे सुगोष्ठ्या वा। (१२) तुलना–"परानुग्रहप्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्येति चेत्, वादेऽपि सोऽस्तु, तत्रापि तेषा तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनाय आचार्याणा प्रवृत्ते।"–अष्टसह० पृ० ८३। प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५१। (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु। (१४) वादेऽपि। (१५) शास्त्रकाराणाम्। (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिमत्त्वात्। (१७) प्रकारान्तरेण पक्षप्रयोगसमर्थन निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–प्रश० व्यो० पृ० ६०१। न्यायम० पृ० ५७१। न्यायवा० ता० टी० पृ० २७५। प्रश० कन्द० पृ० २३५। प्रश० किर० पृ० ३३५। प्रमाणमी० पृ० ५१। (१८) "हेतुस्त्रिरूप। किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति।"–न्यायप्रवे० पृ० १। "त्रैरूप्य पुनः लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, अनुमेय वक्ष्यमाणलक्षणम्, तस्मिल्लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमेक रूपम्, तत्र सत्त्ववचनेन असिद्ध चाक्षुषत्वादि निरस्तम्। एवकारेण पक्षैकदेशा-

1 इत्यप्युच्येताविशेषात् ब०। 2 इदमेव पक्ष–आ, श्र०। 3 'इतिपक्षः' नास्ति ब०। 4 शास्त्रेनिय–आ०। 5 वादे सो–वादे सा–श्र०। 6 शक्यते इति ब०।

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णय[1]स्तेन वर्णितः ।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्ष[2]त[3]ः ॥" [प्रमाणवा० ३।१४] इति ।

अत्रोच्यते–न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोर्लक्षणम्, विपक्षे[4]ऽप्यस्य वर्त्तमानत्वात्, यद् विपक्षेऽपि वर्त्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्नेः, विपक्षेऽपि हेत्वाभासलक्षणे वर्त्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यदेवं[5] हि विपक्षासाधारणं स्वरूपं तदेव [1]लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुररूपोष्णस्पर्शवत्त्वम् अग्नेः । न चेदं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं

सिद्धो निरस्तो हेतु, यथा चेतनास्तरव स्वापात् इति । पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसंकोचलक्षण स्वा प एकदेशेन सिद्ध । न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसंकोचभाज, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेन एवकारेण असाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि हि अनुमेय एव सत्त्वमिति कुर्यात् श्रावणत्वमेव हेतु स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्ध सर्वो निरस्त । **सपक्षएव सत्त्वम्**, सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चितं द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्त, स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिक, अनित्य शब्द प्रमेयत्वात्, स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तूभयत्रापि। सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारणवचनेन सपक्षव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थ स्यात्–सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयक न हेतु स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्त, यथा सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । **असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्**, असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण,.तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीय रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरास, विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरास, नित्य शब्द कृतकत्वात् खवत् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये हि अनित्यत्व विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति आकाशादौ नास्ति ततो नियमेनास्य निरास । असत्त्ववचनात् पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थः स्यात्– विपक्षे एव यो नास्ति स हेतु । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति ततो न हेतु स्यात्, तत पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्त ।" **–न्यायबि०, टी० पृ० ३१–३३ । वादन्याय पृ० ६० । तत्त्वस० पृ० ४०४ ।**

(१) 'निश्चय'–**प्रमाणवा०** । (२) अभावादित्यर्थ –**आ० टि०** । (३) अस्य व्याख्या–"यत एवं तेन कारणेन हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकेषु निश्चयो वर्णित आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु 'असिद्धस्तु द्वयोरपि साधनम्' इत्यादिना । कस्य निरासेनेत्याह–असिद्धेत्यादि । आद्यादित्वात् तृतीयार्थे तसि विपक्षेण इत्यर्थ । तत्र असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णित । विपरीतार्थो विरुद्ध, तस्य विपक्षेण अन्वयनिश्चय । व्यभिचार्यनैकान्तिक, तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनिश्चय ।"–**प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्या० र० पृ० ५१८ ।** "तेन–प्रतिवन्धस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन हेतो त्रिष्वपि ॰ "–**प्रमाणवा० मनोरथ० ।** उद्धृतोऽयम्–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयक० पृ० ३५४ ।** 'निश्चयस्तेन'–**बृहदा० भा० वा० पृ० १५२१ । स्या० र० पृ० ५१८ ।** (४) हेत्वाभासेऽपि । तुलना–"निश्चित पक्षधर्मत्वं विपक्षेऽसत्त्वमेव च । सपक्ष एव जन्यत्व तत्त्रयं हेतुलक्षणम् ॥ केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेऽपि संभवात् । असाधारणतापायाल्लक्षणत्वाविरोधत ॥ असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत्, न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता तद्धेतौ तदाभासेऽपि तस्य समुद्भवात् ।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८ ।** (५) तुलना–"यदेव हि लक्ष्यासाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रतीतमव्यभिचारित्वात्, यथा भासुररूपोष्णस्पर्शवत्त्वमग्ने ।"–**स्या० र० पृ० ५१८ ।**

---

1 **लक्षणं तथा लोके** आ०, **तल्लक्षणतया लोके** श्र० ।

तथाविध तत्पुत्रत्वादौ तदाभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत्। अथ अन्यथानुपपत्तिनियमवत्त्रैरूप्यं तल्लक्षण न त्रैरूप्यमात्रम्, तथाविधञ्च तत् तदाभासे नास्तीति, तदप्यसङ्गतम्, एव सति त्रैरूप्यकल्पनाऽनर्थक्यप्रसङ्गात् तन्नियमादेवास्य गमकत्वोपपत्तेः।

न खलु कृत्तिकोदयात् शकटोदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता सम्भवति। अथ 'कालाकाशादिः भविष्यच्छकटोदयादिमान् कृतिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालादिवत्' इतीत्थमत्र पक्षधर्मताऽभिधीयते, तर्हि न कश्चिदपक्षधर्मको हेतु स्यात्, काककार्ष्ण्यादेरपि प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुशकत्वात्, तथाहि—जगत् प्रासादधावल्ययोगि काककार्ष्ण्ययोगित्वात्। तथा महोदध्याधाराऽग्नियोगि तत् महानसधूमयोगित्वात् पूर्वोपलब्धजगत्वदिति। लोकविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्ट.। तन्न पक्षधर्मत्वं हेतोर्गमकत्वाङ्गम्।

नापि सपक्षे सत्वम्, 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'

---

(१) विपक्षासाधारणम्। (२) तुलना—"न च सपक्षे सत्त्व पक्षधर्मत्व विपक्षे चासत्त्वमात्र साधनलक्षणम्, स श्याम तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सद्भावसिद्धे। सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्व प्रसिद्धम्, विवादाध्यासिते च तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे वाऽश्यामे क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्वमात्र च। न च तावता साध्यसाधनत्व साधनस्य।"—**प्रमाणप० पृ० ७०। सन्मति० टी० पृ० ५९०। स्या० र० पृ० ५१८। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। न्यायदी० पृ० २६।** (३) अविनाभावनियमवत्त्रैरूप्यम्। (४) अन्यथानुपपत्तिनियमादेव। (५) तुलना—'न हि शकटे धर्मिणि उदेष्यत्ताया साध्याया कृतिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृतिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम्।"—**प्रमाणप० पृ० ७१। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५१९। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०।** "नन्वेवमपि 'श्व उदेष्यति सविता अद्यतनादित्योदयात्, जाता समुद्रवृद्धि. शशाङ्कोदयदर्शनात्' इत्यादिप्रयोगेषु हेतो पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्व तल्लक्षणम्।" —**सन्मति० टी० पृ० ५९१।** (६) "तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमान चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात्। चन्द्रोदयकाल एव तदनुमान तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येव तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयो, तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्?"—**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३।** (७) कृतिकोदयादौ। (८) तुलना—'कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्ग।"—**प्रमाणस० पृ० १०४।** "यदि पुनराकाश कालो वा धर्मी तस्योदेष्यच्छकटवत्त्व साध्य कृतिकोदयसाधन पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्व साध्य महानसधूमवत्त्व साधन पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्नि गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतु स्यात्।"—**प्रमाणप० पृ० ७१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २००। सन्मति० टी० पृ० ५९१। स्या० र० पृ० ५१९। जैनतर्कभा० पृ० १२।** "कृतिकोदयपूरादे कालादिपरिकल्पनात्। यदि स्यात्पक्षधर्मत्व चाक्षुषत्वं न किंचनौ (किं ध्वनौ)"—**जैनतर्कवा० वृ० पृ० १४०। न्यायाव० टी० पृ० ३५।** (९) जगत्। (१०) "तुलना—नि शेष सात्मकं जीवच्छरीर परिणामिना। पुसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तित॥ सपक्षसत्त्वशून्यस्य हेतोरस्य समर्थनात्। नून निश्चीयते सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम्॥ क्षणिकत्वेन न व्याप्त सत्त्वमेव प्रसिद्ध्यति। सन्दिग्धव्यतिरेकाच्च ततोऽ-

---

1—नर्थक्यमितिप्रस—श्र०।

इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतेः। विपक्षे बाधकप्रमाणबलात् [१]अन्तर्व्याप्तिसिद्धेरस्य[२] गमकत्वे बहिर्व्याप्तिकल्पनाऽनर्थक्यम्, अत[३] एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्तेः। तन्न पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम्।

विपक्षे[४] पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याऽविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्तदेवं[५] प्रधानं हेतोः [1]लक्षणमस्तु अलं लक्षणान्तरेण। न च [2]सपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गः; [६]अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य [७]तथोपपत्तिरूपस्य अन्वयस्य सद्भावात् [८]अन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्[3]। नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्वयो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य इति नियमो युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्। नहि निरन्वयं क्षणिकत्वं क्वचिदपि प्रसिद्धम्, शब्द-विद्युत्-प्रदीपादावपि विप्रतिपत्तेः[९]।

यदप्युक्तम्[१०]–'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासंभवे हेतोरसिद्धत्वादिदोषानुषङ्गः' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, [११]अन्यथानुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव [१२]अस्य असिद्धत्वादिदोषपरिहा[4]रसिद्धेः। स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत्। [१३]तथापि अविनाभावप्रपञ्चत्वात् पक्षधर्मत्वादेः असिद्धादि (द्धत्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य [१४]अज्ञातासिद्धताव्यवच्छेदार्थम्, अबाधितविषयत्वादेश्च बाधितविषयत्वादिव्यवच्छित्तये अभिधानप्रसङ्गः। तन्न सौगतपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोर्लक्षणं युक्तम्।

सिद्धि क्षणक्षये ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१–२०२। "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादे. शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीते।" –प्रमेयक० पृ० ३५५। स्या० र० पृ० ५१९।

(१) "पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्ति, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्ति। यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानम्।"–प्रमाणनय० ३।३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा। (३) अन्तर्व्याप्तेरेव। (४) तुलना–"साध्याभावे विपक्षे तु योऽसत्त्वस्यैव निश्चयः। सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० र० पृ० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव। (६) तुलना–"अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्।"–प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० र० पृ० ५२०। (७) तथा साध्ये सत्येव उपपत्तिः साधनस्य। (८) अन्यथा साध्याभावे अनुपपत्ति अभावः साधनस्य। (९) शब्दादीनामपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वाभ्युपगमात्। (१०) पृ० ४३८ पं० १२। (११) तुलना–"हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारसिद्धे, स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासभवात् अनैकान्तिकविपरीतार्थवत्। तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूपत्वात्। तस्य च असिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेतावसंभावनीयत्वात्।"–प्रमाणप० पृ० ७२। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५२१। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। (१२) हेतो–आ० टि० (१३) असिद्धादीनाम् अविनाभावशून्यत्वे सत्यपि। तुलना–"रूपत्रयस्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि। निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥ त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं निश्चितत्वं न साधने। नाज्ञातासिद्धता हेतो रूप स्यात्तद्विपर्यय ॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० र० पृ० ५२१। (१४) अज्ञात सन्नसिद्ध तद्भावस्तत्ता–आ० टि०।

---

1 लक्षणमलं ब०। 2 सपक्षसत्त्वा–ब०। 3–कत्ववत् श्र०। 4–हारप्रसि–श्र०, ब०।

यौगपरिकल्पितस्य पाञ्चरूप्यस्य प्रतिविधानम्—

नापि यौगो[1]पकल्पितं पञ्चरूपत्वम्, पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात्, सा[2]ध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अबाधितविषयत्वादेरप्यसंभवात्, अतस्तदेव[3] प्रधान हेतोर्लक्षणमस्तु किं[4] पञ्चरूपकल्पनया ? नहि 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत्' इत्यादावपि अविनाभावाभावादन्यद् बाधितविषयत्वं नाम प्रतीयते, बा[5]धितविषयत्व-अविनाभावयोः विरोधात् । साध्यसद्भाव एव हेतोः धर्मिणि सद्भावः अविनाभावः, तद[6]भावे एव च तत्र[7] तत्सं[8]भवो विषयबाधेति ।

किञ्च, अ[9]बाधितविषयत्व निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ? न तावदनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्, अज्ञायमानस्य ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वाच्च । नापि निश्चितम्; त[10]न्निश्चयनिबन्धनाऽसंभवात् । त[11]न्निबन्धनं हि अनुपलम्भः, संवादः, अन्यद्वा किञ्चित् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, स[12]र्वात्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात् ।

(१) "तत्र परोक्षोऽर्थो लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्, तच्च पञ्चलक्षणम् । कानि पुन पञ्चलक्षणानि ? पक्षधर्मत्व सपक्षधर्मत्व विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति । सिसाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्ष , तद्धर्मत्व तदाश्रितत्वमित्यर्थ । साध्यधर्मयोगेन निर्ज्ञातं धर्म्यन्तर सपक्ष तत्रास्तित्वम् । साध्यधर्मसस्पर्शशून्यो धर्मी विपक्ष ततो व्यावृत्ति । अनुमेयस्यार्थस्य प्रत्यक्षेणागमेन वाऽनपहरणमबाधितविषयत्वम् । सशयबीजभूतेनार्थेन प्रत्यनुमानतया प्रयुज्यमानेनानुपहतत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् । एतै पञ्चभिर्लक्षणैरुपपन्न लिङ्गमनुमापक भवति ।"—**न्यायम० पृ० १७० । न्यायकलि० पृ० २ । न्यायसा० पृ० ६ ।** "पञ्चसु वा चतुर्पु वा रूपेषु हेतोरविनाभाव परिसमाप्यते तस्मादबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयससूचनाय निगमनमिति "—**न्यायवा० ता० पृ० ३०२।** "अतश्चानयो (कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयो) व्यवच्छदार्थमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व च समानतन्त्रगतमभ्यूह्यम्, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् ।" **—प्रश० व्यो० पृ० ५६५ ।** (२) तुलना—" साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्य अबाधितविषयत्वादेरसंभवात्"**—प्रमेयक० पृ० ३५७ ।** (३) अविनाभावित्वमेव । (४) तुलना—" अन्यथानुपपन्नत्वं रूपै किं पञ्चभि कृतम् । नान्यथानुपपन्नत्व रूपैः किं पञ्चभि कृतम् ॥"**—प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० र० पृ० ५२७ ।** (५) तुलना—"बाधाया अविनाभावस्य च विरोधादति । तथाहि—सत्यप्यविनाभावे यथोक्ते बाधासम्भव मन्यमानैरबाधितविषयत्व रूपान्तरमुच्यते, सा चेय तत्सम्भावना न सभवति बाधाया अविनाभावेन विरोधात् सहानवस्थानलक्षणात् । तमेव विरोध साधयन्नाह—अविनाभावो हि इत्यादि । सत्येव हि साध्यधर्मे भावो हेतोरविनाभाव उच्यते, प्रमाणबाधा तु तस्मिन्नसति । यदि हि सत्येव तस्मिंस्तदभावविषय प्रमाण प्रवर्तेत तदास्य भ्रान्तत्वादप्रमाणतैव स्यादिति कुतो बाधा ? तत स हेतुस्तल्लक्षण साध्याविनाभावी धर्मिणि स्यात् अत्र च साध्यधर्म कथन्न भवेत् यतो बाधावकाश स्यात् । तस्मादविनाभावस्य प्रमाणबाधायाश्च सहानवस्थानम्, अविनाभावेनोपस्थापितस्य च तदभावस्य परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया विरोधेन एकत्र धर्मिण्यसभवादिति ।"**—हेतुबि० टी० पृ० १९५ B । वादन्यायटी० पृ० १३८ । न्यायमं० पृ० ४४८ । प्रमेयक० पृ० ३५७ । प्रमाणमी० पृ० ४१ ।** (६) साध्याभाव एव । (७) धर्मिणि विपक्षे । (८) हेतुसम्भव । (९) तुलना—"किञ्चाबाधितविषयत्व निश्चितमनिश्चित वा हेतोर्लक्षण स्यात् ?"**—प्रमेयक० पृ० ३५८ ।** (१०) अबाधितविषयत्वनिश्चय । (११) तुलना—"तन्निबन्धन ह्यनुपलम्भ , सवादो वा स्यात् ।" **—प्रमेयक० पृ० ३५८ ।** (१२) तुलना—"सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी । विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादिरदृष्टावापि सत्त्वत ॥"**—तत्त्वसं० पृ० ६५ ।** " स्वसर्वानुपलम्भयो । आरेका-

1 **—दावपिविनाभावादन्यद्** आ०, **—दावविनाभावाभावादन्यद्** श्र० ।

द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; प्रागनुमानप्रवृत्तेः[1] संवादस्याऽसिद्धत्वात् । तदुत्तरकालं त[2]त्सिद्ध्यभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रयः, तथाहि–अनुमानात् प्र[3]वृत्तौ संवादसिद्धिः; ततश्च अबाधितविषयत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति । अथान्यत् किञ्चित्, तत् किं तद्विषयं प्रमाणान्तरम्, अविनाभावावगमो वा ? तत्र प्र[4]माणान्तरात् कुतश्चिदबाधितविषयत्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्वं साध्यस्यापि अ[5]त एवावगमात् । न ह्यसति साध्यसद्भावावगमे तद्बाधाविरहो नि[1]श्चेतुं शक्यः । अथाविनाभावावगमात् तद[6]वगमः; तन्न; पञ्चरूपयोगिनि हेताववविनाभावपरिसमाप्तिवादिना[7]म् अबाधितविषय[2]त्वस्याऽनवगमे अविनाभावाऽवगमस्यैवाऽसंभवात् । ततोऽबाधितविषयत्वस्याऽसिद्धेः न तद्धेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

नाप्यसत्प्रतिपक्षत्वम्, य[8]तः प्रतिपक्षः तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रतिषिध्येत ? तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावानुपपत्तिः । ययोस्तुल्यबलत्वं न तयोर्बाध्यबाधकभावः यथा राज्ञोः, तुल्यबलत्वञ्च प[3]क्षप्रतिपक्षयोरिति । अतुल्यबलत्व तु अनयोः किंकृतम्–पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? न तावत् प्रथमपक्षो युक्तः, पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यविशेषात् । नहि मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादेः पक्षधर्मत्वादिकं न संभवति, शा[9]स्त्रव्याख्यानलिङ्गस्यैव वा संभवति । द्वितीयपक्षोऽप्यसंभाव्यः; अनुमानबाधाया अद्याप्यसिद्धेः । नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वम् अपरस्य च बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव त[10]त्प्रसङ्गात् । अन्योन्याश्रयश्च;

सिद्धते "–न्यायवि० का० ४०६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३ । सन्मति० टी० पृ० १८ । आत्मतत्त्ववि० पृ० ९४ । तर्कभा० मो० लि० पृ० २२ । न्यायली० पृ० २२ । सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सर्वज्ञत्वमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वादसिद्धत्वम्, आत्मसम्बन्धिनोऽपलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारी ।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम् । (२) सवादसिद्धिस्वीकारे । (३) अर्थक्रियाया सत्याम् अर्थक्रियास्थितिलक्षण सवाद सिद्ध्यति । (४) तुलना–"तद्बाधाभावनिर्णीति सिद्धा चेत्साधनेन किम् । यथैव हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५ । "तदाप्यकिञ्चित्करत्व हेतो, यथैव हि हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये तत्साधनासमर्थत्वादकिञ्चत्करत्व तथैव बाधाविरहनिश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धेस्तत्साधनाय प्रवर्तमानस्य सिद्धसाधनादपि इति ।"–स्या० र० पृ० ५२६ । (५) प्रमाणान्तरादेव । (६) अबाधितविषयत्वावगम-आ० टि० । (७) यौगानाम्–आ० टि० । "एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभाव समाप्यते"–न्यायकलि० पृ० २ । (८) तुलना–"यत प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा सन् स्यात् ।"–प्रमेयक० पृ० ३५९ । स्या० र० पृ० ५२७ । "अत आह तुल्ये लक्षणे हि इत्यादि । शङ्क्यमानप्रतिहेतुना तुल्य लक्षण दर्शनादर्शनमात्रनिमित्ताविनाभावरूप यस्य तस्मिन्, दृष्ट प्रतियोगिन प्रतिहेतोर्बाधकस्य सभव स येषामपि तत्तुल्यलक्षणाना प्रतियोगी न दृश्यते तेष्वपि शका प्रतिहेतुसम्भवविषयामुत्पादयति । किं कारणम् ? अदृष्टप्रतियोगिनो दृष्टप्रतियोगिनो विशेषाभावात् । न हि तस्येतरेण कश्चिद्विशेषोऽस्ति यतस्तत्सभवो न शंक्येत । अथ विशेष प्रतिबन्धलक्षणोऽविनाभावनिश्चायको दृष्टप्रतिहेतोरदृष्टप्रतियोगिन इष्यते, यत प्रतियोगिसभवाशकाऽस्तमुपैति तदा सति वा विशेषे स विशेषो हेतोर्लक्षणम् ।"–हेतुबि० टी० पृ० २०४ A. । (९) अमूर्खोऽय शास्त्रव्याख्यानादित्यस्यापि सभवात्–आ० टि० । (१०) बाध्यत्वस्य बाधकत्वस्य वा ।

1 विनिश्चेतुं ब० । 2–त्वानवगमे ब० । 3 पक्षयोरिति ब० ।

तथाहि–अतुल्यबलत्वे अनुमानबाधा, तस्याञ्च अतुल्यबलत्वमिति । ततः सूक्तम्–यथोक्ता**ल्लिङ्गात् लिङ्गिधीः अनुमानमिति ।**

ननु चास्य[१] निष्फलत्वात् किं तत्स्वरूप[1]निरूपणप्रयासेन ? फलवता हि प्रमाणेन भवितव्यम् नान्येन अति[२]प्रसङ्गात्, इत्याशङ्कापनोदार्थं **'तत्फलम्'** इत्याद्याह । **तस्य** अनुमानस्य **फलं हानम् आदि**र्यस्य उपादानानादे. तस्य **बुद्धयः**। ननु न किञ्चिद् वास्तव प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अन्यत्राऽविद्यावासनाविशेषात्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, तदुभयसद्भावस्य वास्तवस्य **'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्'** [लघी० का० ७] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वा[३]त् ।

अत्र सौगतः प्राह–यदुक्तं **'साध्या[2]विनाभाव'** इत्यादि, त[3]त्सूक्तम्, अविनाभाव-

अविनाभावस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव नियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव तत्सद्भावेनेति बौद्धस्य पूर्वपक्षः

बलेनैव सर्वत्र हेतोः गमकत्वप्रतीते., स त्वविनाभावः ता[४]दात्म्यतदुत्पत्तिनियतत्वात् कार्य[4]स्वभावहेतावेव अवतिष्ठते । तदात्म्येन हि स्वभावहेतोः अविनाभावः परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या[5] तु कार्यहेतोः । न च अन्यल्लिङ्गमस्ति, अ[५]नुपलब्धेरपि स्वभावहेतौ अन्तर्भावात् । घटाद्य[६]भावो हि घटादिविविक्तभूतलादिस्वभावः, त[७]दनुपलब्धिश्च त[८]द्विविक्तभूतलादिस्वभावोप[6]लब्धिः ।

त[९]त्प्रतिपत्तिश्च ऊहज्ञानात्; इ[7]त्यपि श्रद्धामात्रम्, कार्यहेतोरविनाभावस्य प्र[१०]त्यक्षा-

(१) अनुमानस्य । (२) काकदन्तादीनामपि निरूपणप्रसङ्गात् । (३) पृ० २०८ । (४) "स च प्रतिबन्ध साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात् साध्यादर्थादुत्पत्तेश्च । अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् । ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धि ।"–**न्यायबि० पृ० ४०-४२** । "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमो दर्शनान्नादर्शनात् ॥ यत एव प्रतिबन्धवशाद् गमकत्वात्तस्मात् कार्यकारणभावाद्वा नियामकात् साध्यसाधनयोरव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यलक्षणान्नियामकात् कार्यस्य स्वभावस्य च लिंगस्याविनाभाव साध्यधर्मं विना न भाव इत्यर्थ "–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३३ । हेतुबि० टी० पृ० ६ B** । "यत्तादात्म्यतदुत्पत्त्या सम्बन्ध परिनिश्चितम् । तदेव साधन प्राहु सिद्धये न्यायवादिन ॥"–**तत्त्वस० पृ० ४२९** । (५) "इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगा स्वभावानुपलब्धौ सग्रहमुपयान्ति"–**न्यायबि० पृ० ५५** । "अनुपलब्धेस्तु स्वभावेऽन्तर्भाव ।"–**तत्त्वस० प० पृ० ४३१** । "स्वभावानुपलब्धिस्तु स्वभावहेतावन्तर्भावितेति तस्या तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्ध । व्यापककारणानुपलब्धी तु तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धवशादेव व्याप्यव्यापकयोर्निवृत्ति साधयत ।"–**हेतुबि० टी० पृ० ७ A** । (६) "यस्मादेकज्ञानसंसर्गिणो प्रत्यक्षेण एकस्य ग्रहणमेव अन्यस्याग्रहणम्, तदग्रहणमेव च तस्याभावग्रहणम्, भावे हि तस्याग्रहणायोगात् । यदाह–अन्यहेतुसाकल्ये तदव्यभिचाराच्चोपलम्भ सत्ता, तदभावोऽनुपलब्धिरसत्ता, अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति ।"–**प्रमाण वा० स्ववृ० टी० १।५** । (७) घटानुपलब्धि । (८) घटरहित । (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च । (१०) तुलना–**न्यायकु० पृ० १२ टि० ३** । "यस्तु अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथम धूमस्यानुपलम्भ एक, तदनन्तरमग्नेरुपलम्भ ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तर धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद् व्या-

1–**पप्ररूपण**–ब० । 2 **साध्याविनाभावबलेनैव** आ० । 3 **तदसूक्तम्** श्र० । 4 **कार्यहेतोः स्वभाव-** श्र०, **कार्यसद्भावहे**–ब० । 5–**त्त्या का**–ब० । 6–**लब्धे.** आ० । 7 **इत्याद्यपि** ब० ।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः । तथाहि–अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूतलाद्यर्थेषु प्रथमम् अग्निधूमयोरनुपलम्भः एकः, अनन्तरम् अग्नेरुपलम्भः ततो धूमस्य[1] इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनु[1]पलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भः इति द्वावनुपलम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तौ कार्यकारणभावावगमो भवति अग्नेः कार्यं धूमः । य[2]श्च यत्कार्यः स तेन नियतः । यदि [3]तेन नियतो न स्यात् तर्हि निरपेक्षत्वात् नित्यं[4] सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । य[5]श्च नियतः स नियामकवान्, तदभावे स्वातन्त्र्यात् नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः पुनः प्रसङ्गः स्यात् । ततश्चायमर्थः सम्पन्नः–यो यस्मादुत्पद्यमानः सकृदप्युपलब्धः स तस्मादेव[6] नान्यस्मात्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात् सर्वस्योत्पत्तिः, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्व[7]भावहेतुद्वयेन च कार्यहेतोः सार्वत्रिकी व्याप्तिः प्रतीयते ।

स्वभाव[8]हेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन । तथाहि–अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम्, अर्थक्रिया च क्रमयौ[2]गपद्याभ्यां व्याप्ता, ते[9] चाऽक्षणिकान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तेते, सा[10] च सत्त्वम् । कस्मात् पुनः अक्षणिकात् क्रमयौगपद्ययोर्व्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । का[11]लतः पौर्वापर्यं हि क्रमः तद्विपरीतं यौगपद्यम्, इत्थञ्च ते नानारूपे, अक्षणिक[3]त्वञ्च एकरूपता, [4]एकरूपता-नानारूपते च एकाश्रिते विरुद्धे, अतः अक्षणिकान्निवर्त्तमानं सत्त्वं क्षणिक एव अवतिष्ठते प्रकारान्तरासंभवात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तस्तृतीयः प्रकारोऽस्ति यतस्तत्र[12] अ[13]स्य वृत्तिराशङ्क्येत ।

प्तिग्रह इत्येषा सिद्धान्त । तदुक्तम्–"धूमाधीर्वह्निविज्ञान धूमज्ञानमधीस्तस्यो । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वय ॥"–**जैनतर्कभा० पृ० ११** । "प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभाव ।" –**हेतुबि०पृ० ५३ B.** ।

(१) उपलम्भ इति शेष । (२) धूमोऽग्निनियत तत्कार्यत्वात् इति । (३) अग्निना । (४) "नित्य सत्त्वमसत्त्व वा हेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावाना कादाचित्कत्वसभव ॥"–**प्रमाणवा० १।३६** । (५) धूमोऽग्निनियामक अग्निकार्यत्वेन तन्नियतत्वात् । (६) उत्पद्यते इति शेष । (७) आसन्नोक्त-नियतत्वनियामकत्वरूपेण–**आ० टि०** । पूर्वोक्त नियतत्वनियामकत्वलक्षण हेतुद्वयम् । (८) "सन् शब्द कृतको वा, यश्चैव य सर्वोऽनित्य यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधन विपर्यये वाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि न सर्वं सत् कृतक वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् । सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षण हि निरुपाख्यमिति ।"–**वादन्याय पृ० ७** । **तत्त्वस० पृ० १४३** । **हेतुबि० टी० पृ० १४३ A** । **क्षणभंगसि० पृ० २०** । **न्यायकु० पृ० ८ टि० १** । (९) क्रमयौगपद्ये । (१०) अर्थक्रिया । (११) "क्रमो नाम परिपाटि कार्यान्तरासाहित्य कैवल्यमङ्कुरादे । यौगपद्यमपि तस्यापरैर्बीजादिकार्यैं साहित्य प्रकारान्तरञ्चाङ्कुरादे, तदुभयावस्थाविरहेऽप्यन्यथाभवनम् "–**हेतुबि० टी० पृ० १४३ B** । (१२) तृतीये क्षणिकाक्षणिकबहिर्भूते प्रकारान्तरे । (१३) सत्त्वस्य ।

1–**पलम्भाऽनन्त**–आ०, श्र० । 2–**यौगपद्यव्या**–व० । 3–**कता चैक**–ब० । 4 **'एकरूपता'** नास्ति आ०, श्र० ।

अनुपलब्धिः पुनः सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपलब्धिश्च स्वभावहेतुः, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिबन्धः । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिबन्धचिन्ता इति ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि अविनाभावसम्भावनात् कृत्तिकोदयादिहेतुना गमकत्वप्रदर्शनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]—'अविनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियतः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, नहि[2] तादात्म्यम् अविनाभावनियमनिमित्तम्; तस्मिन् सति भेदाभावेन सम्बन्धाभावे अविनाभावानुपपत्तेः, भेदाधिष्ठानत्वात् सम्बन्धस्य । न चानंशार्थवादिनः[3] तादात्म्यभेदौ मनागपि उपपद्य(द्ये)ते । तादात्म्यं हि तत्स्वभावता, तेन साध्येन साधनस्यैक्यम्, न चैक्ये भेदः संभवति, भेदे वा नैक्यम्, अतः कथं तदात्मतया शिंशपा वृक्षं गमयेत् ? तादात्म्येन[4] च गमकत्वे हेतुग्रहणवेलायामेव तद्व्यतिरेकितया[5] साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् नानुमानस्य साफल्यम् । न ह्यगृहीतं लिङ्गं लिङ्गिविषयां धियमाधत्ते । गृहीतौ[6] च यदि लिङ्गप्रतीतौ न लिङ्गी प्रतिभासेत् तदा कथं तयोः[7]स्तादात्म्यम् ? प्रतिभासे[8] तु सिद्धमनुमानस्य वैफल्यम्, प्रतिज्ञार्थैकदेशता[9] च हेतो । विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्य[10][11] साफल्यञ्चेत्, ननु तत्स्व[12]-

(१) पृ० ४४४ प० १० । (२) तुलना—"तथा वृक्षत्वशिंशपात्वयोर्न तादात्म्यप्रतिबन्ध साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसगात् । तथाहि—धर्मिण्युपलब्धे तत्तादात्म्यादुभयोरप्युपलम्भे कथ साध्यसाधनभाव ।"—प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । "अपि च तादात्म्ये कथ गम्यगमकभाव, न हि तदेव कर्म कर्तृ चेति युक्तम्, तस्य भेदाश्रयत्वात् ।"—न्यायवा० ता० पृ० १६३ । "न च तादात्म्ये गम्यगमकता घटते एकस्य सकृज्ज्ञातत्वाज्ञातत्वायोगात् ।"—बृह० पं० पृ० ९५ । "तादात्म्ये च यदनुमान तदपि न साधीय, सिद्ध हि लिङ्ग साध्य लैङ्गिकम्, न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते ।" —प्रक० पं० पृ० ६७ । "न च तादात्म्ये गम्यगमकभावव्यवस्था युक्ता, तस्या भेदाश्रयत्वात् । यदि शिंशपात्वे गृह्यमाणे वृक्षमगृहीत क्व तादात्म्यम् ? गृहीत चेत् क्वानुमानम् ?"—प्रश० कन्द० पृ० २०७। "अपि च यदि तादात्म्य गमकत्वागमिष्यते तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावादविनाभावानुपपत्ति" —स्या० र० पृ० ५३३ । (३) सौगतस्य । (४) तुलना—"तादात्म्ये तावद् गमकत्वाङ्गे हेतुसाध्ययोरव्यतिरेके गम्यगमकभाव एव दुरुपपाद । न खल्वगृहीत लिङ्ग लिङ्गिप्रतीतिमाधातुमर्हति । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्ग (लिङ्गी) प्रतिभासते न वा ? अप्रतिभासे तद्बुद्ध्या तदग्रहणात् कथ तस्य तदात्मकत्वम् । प्रतिभासे तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव सोऽर्थ इति किमनुमानेन ?"—न्यायम० पृ० ११३ । "तादाम्येन च गमकत्वे हेतुप्रतिपत्तिवेलायामेव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वान्नानुमानस्य साफल्यम् ।"—स्या० र० पृ० ३५३। (५) हेतुतादात्म्येन अभिन्नत्वात् । (६) गृहीतिशब्दस्य सप्तम्येकवचनम् । लिङ्गग्रहणे सत्यपि, चशब्दस्य अप्यर्थकत्वात् । (७) लिङ्गलिङ्गिनो । (८) लिङ्गप्रतीतौ साध्यस्य प्रतिभासे । (९) साध्यसाधनयो वृक्षत्वशिंशपात्वयो तादात्म्ये हि प्रतिज्ञैकदेशभूत यत् वृक्षत्व साध्य तत्तादात्म्यापन्न शिंशपात्वमेव च हेतु इति साध्यस्य असिद्धत्वात् हेतोरप्यसिद्धत्वमिति भाव । (१०) तुलना—"विपरीतसमारोपव्यवच्छेदादार्थमनुमानमिति चेत्, न, तत्स्वरूपग्रहणे विपरीतारोपणावसराभावात् । न हि शिर पाण्यादिविशेषदर्शने सति स्थाणुसमारोप प्रवर्तते, तत्र तद्भेदादुपपद्येतापि, न हि शिर पाण्यादय एव पुरुष इति, तद्ग्रहणेऽप्यपुरुषारोप काम भवेत्, इह वृक्षत्वशिंशपात्वयोरभेदात् शिंशपात्वग्रहणे सति का कथा वृक्षेतरसमारोपस्य ।"—न्यायमं० पृ० ११३ । स्या० र० पृ० ५३५ । (११) शिंशपात्वसत्त्वादेर्हेतो —आ० टि० । (१२) हेतुस्वरूपे ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोपः स्यात्? तत्र प्रतिपन्ने कोऽवसरो वि[1]परीतसमारोपस्य? न हि शिरःपाण्यादिविशेषोपलम्भे स्थाणुसमारोपः समाविशति। तत्स्वरूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य?

किञ्च, वृ[2]क्षत्वग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदशिशपात्वसमारोपः, नतु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपः। शिशपात्वं हि यस्य प्र[1]त्यक्षं वृक्षत्वं न तस्याऽप्रत्यक्षम्।

किञ्च, सा[3]ध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्षत्वेनापि किन्न शिंशपात्वं तादात्म्याऽविशेषात्? अथ शिशपात्वमेव वृक्ष[2]त्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्वं शिंश[3]पात्वे, न तर्हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव। तन्न तादात्म्ये अविनाभावस्य नियतत्वम्।

नापि तदुत्पत्तौ; व[4]ह्न्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेषु श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुपलब्धेः। न च सामान्ययोः कार्यकारणभावः किन्तु विशेषयोः, ययोश्चाऽन[5]योर्महानसादौ कार्यकारणभावोऽवगतः न तयोर्गम्यगमकभावः, ययोस्तु पर्वतस्थयोः गम्यगमकभावः न तयोः कार्यकारणभावोऽवगतः। न चानवगते त[6]स्मिन् त[7]योरविनाभावो ग्रहीतुं शक्यः।

(१) शिंशपात्वलक्षणे हेतुस्वरूपे प्रपिपन्ने हि तदभेदाद् वृक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य वृक्षत्वेतरत्वस्य आरोप कथ स्यात्? (२) "तुलना–अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यधर्मग्रहणाद्विशेषानध्यवसायात् कदाचिदशिंशपासमारोप स्यान्न तु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्त । प्रमातुः शिंशपात्व हि यस्य प्रत्यक्षगोचर । परोक्ष तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम् ॥" –**न्यायमं० पृ० ११४**। (३) तुलना–"तथोभयोस्तादात्म्याविशेषेऽपि शिंशपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वृक्षत्वेन शिंशपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात्।"–**प्रश० व्यो० पृ० ५७१**। "किञ्च साधसाधनयोरव्यतिरेकाद् यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वृक्षत्वेनापि शिंशपात्वमनुमीयेत तादात्म्याविशेषात्। ततश्च सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्या कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर्यो भेद उक्त स हीयेत। ननु चान्य सम्बन्ध अन्यश्च प्रतिबन्ध, द्विष्ठ सम्बन्ध, प्रतिबन्धस्तु परायत्तत्वलक्षण । तत्र शिंशपात्व वृक्षत्वे प्रतिबद्ध न वृक्षत्व शिंशपात्वे, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि अनित्यत्वे नियत न त्वनित्यत्व तत्रेति, तथा धूमस्याग्नौ प्रतिबन्ध. न त्वग्नेर्धूमे, सत्यमेवम्, किन्त्वेवमुच्यमाने नियम एवाङ्गीकृतो भवेन्न तादात्म्यम्। तादात्म्ये हि यथा शिंशपा शिंशपा विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिंशपारहित न दृश्येत, दृश्यते च खदिरादौ शिंशपारहितं वृक्षत्वम्, विद्युदादौ च प्रयत्नानन्तरीयकत्वरहितमनित्यत्वमुपलभ्यत इति कथमभेद? विना साधनधर्मेण साध्यधर्मोऽयमस्ति हि। दृष्टस्तद्व्यतिरेकेण तदात्मा चेति कैतवम् ॥"–**न्यायमं० पृ० ११४। प्रक० प० पृ० ६७। स्या० र० पृ० ५३५**। (४) तुलना–"कार्यहेतुरपि न सभवति, भवतां हि क्षणयोर्वा कार्यकारणभावो भवेत्, सन्तानयोर्वा? यदि धूम कार्यत्वादनलमनुमापयेत् कटुमलिनगगनगामित्वादिधर्मैरपि तस्य गमको भवेत्। न च कथञ्चित्तत्कार्यत्व कथञ्चिदतत्कार्यत्वञ्च धूमस्योपपन्नम्, सर्वात्मकस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रभवत्वात्।"–**न्यायमं० पृ० ११६। स्या० र० पृ० ५३५**। (५) कार्यकारणभूतयो धूमाग्न्यो । (६) कार्यकारणभावे। (७) पर्वतस्थधूमाग्न्यो ।

1 **प्रत्यक्षं कथं वृक्षत्वं तस्याप्रत्यक्षत्वम्** श्र०, ब०। 2–**क्षत्वेन प्रति**–श्र०। 3–**पात्वेन न तर्हि** श्र०।

न च अगृहीतोऽसौ[1] अनुमानाङ्गम्। तदानीं[2] ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रतिपत्तेर्जातत्वात् किमनुमानेन ?

तादात्म्य[3]तदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावप्रतिनियमे च कथं कृत्तिकोदय-शकटोदययोः चन्द्रोदय-समुद्रवृद्ध्योश्च[2] गम्यगमकभावस्तत्र[4] तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात्।

यदप्युक्तम्[5]-'अविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्य अविकल्पकतया अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य तथा[6]भूततया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्यासंभवात्। नहि निर्विकल्पकम् 'इदमस्मिन् सत्येव भवति अतोऽन्यथा[7] न भवत्येव' इत्येतावतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इत्युक्तमनन्तरमेव[8]। नापि तत्प्रभवो[9] विकल्पः, तस्य भवतां[10] प्रामाण्यानभ्युपगमात्।

"व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्व[11] प्रतिबन्धस्तु वस्तुनोः।
विकल्पैर्ग्रहण तस्य[12] को ब्रूयात् सौगतात् परः॥" [न्यायम० पृ० ११७]

यदपि-'स्वभावहेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणेन व्याप्तिः प्रतीयते' इत्याद्युक्तम्[13], तदप्यु-

(१) अविनाभाव। (२) अनुमानप्रयोगकाले तु कार्यकारणयो अविनाभावग्रहणे स्वीक्रियमाणे। (३) तुलना-"एव सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्, शास्त्रे कार्यादिग्रहण निदर्शनार्थं कृत नावधारणार्थम्। कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा अध्वर्युरोश्रावयन् व्यवहितस्य होतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदय समुद्रवृद्धे कुमुदविकाशस्य च, शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति वचनात् सिद्धम्।"-प्रश० भा० पृ० ५६२। न्यायमं० पृ० ११७। "न च तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धाभ्युपगमे रूपदर्शनात् स्पर्शानुमानम्, उदयादस्तमयप्रतिपत्ति, कृत्तिकोदयाच्च रोहिण्यनुमान न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात्।" -प्रश० व्यो० पृ० ५७१। "अपि च रसादन्यद्रूप रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातार, न चानयोरस्ति कार्यकारणभावस्तादात्म्य वा। अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य ह्यस्तनेन सवितुरुदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्ध्या मध्यनक्षत्रदृष्ट्या चाष्टमास्तमयोदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्य वा, अथ च दृष्टो गम्यगमकभाव।" -न्यायवा० ता० पृ० १६१-१६३। प्रक० प० पृ० ६७। प्रश० क० पृ० २०९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९९। सन्मति० टी० पृ० ५९३। स्या० र० पृ० ५३६। (४) कृत्तिकोदयादिहेतौ। (५) पृ० ४४४ प० १६। (६) अविकल्पतया-आ० टि०। (७) साध्याभावे। (८) पृ० ४२७ पं० २। (९) निर्विकल्पकजन्यो विकल्प। (१०) सौगतेन। (११) तुलना-"अपि च-व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्व प्रतिबन्धश्च वस्तुनो। विकल्पैर्ग्रहण तस्य कथ सङ्गच्छतामिदम्॥" -न्यायम० पृ० ११७। "यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभाव प्रतिबन्ध इष्यते स किं वस्तुधर्मो विकल्पारोपिताकारधर्मो वा ? तत्र नायमारोपितधर्मो भवितुमर्हति, वस्तु वस्तुना जन्यते वस्तु च वस्तुस्वभाव भवेत् तस्माद्वस्तुधर्म प्रतिबन्ध। विकल्पैश्च वस्तु न स्पृश्यते तत्प्रतिबन्धश्च निश्चीयत इति चित्रम्। इदञ्च स्वभापितम् वस्तुनो प्रतिबन्धस्तादात्म्यादि गम्यगमकत्वञ्च विकल्पारोपितयोरपोहयो। तदेवमन्यत्र प्रतिबन्ध अन्यत्र तद्ग्रहणोपाय अन्यत्र प्रतीति अन्यत्र प्रवृत्तिप्राप्ती इति सर्वं कैतवम्।" -न्यायम० पृ० ३४। (१२) प्रतिबन्धस्य अविनाभावरूपस्य। (१३) पृ० ४४५ प० ११।

1-पत्तेर्ज्ञात-श्र०। 2-वृद्धयोर्वा ग-ब०।

क्तिमात्रम्; यतो विपक्षे बाधकं प्रमाणं क्रमयौगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम्[1]। अनुमानञ्च सिद्धव्याप्तिकमेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्। व्याप्तिश्च तत्रा[2]प्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रथमानुमानेन वा ? अनुमानान्तरेण चेत्; अनवस्था। प्रथमानुमानेन चेद्; अन्योन्याश्रयः। अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणान्तरं प्रतिपत्तव्यः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तद्ग्रहणानुपपत्तेः[3] इति।

विवृतिव्याख्यानम्– एतदेवाह–'नहि' इत्यादि। तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भावः **तादात्म्यम्,** तस्मात् साध्याद् आत्मलाभः **तदुत्पत्तिः,** पुनरनयोः इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। ननु स्वन्तत्वात्[4] तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति; तन्न; अस्य लक्षणस्य[5] "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" [जैनेन्द्रव्या० २।२।१०४] इत्यनेन अनैकान्तिकत्वात्[6]। ते **तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि** नैव **ज्ञातुं शक्येते**। कथमित्याह–'**विना**' इत्यादि। साध्याभावप्रकारेण **अन्यथा** या **अनुपपत्तिः** अघटना साधनस्य तस्याः सम्बन्धी ग्राहकत्वेन **तर्कः** तेन विना। तदेवं वृक्षत्वशिंशपात्वादौ तादात्म्यादेः सद्भावेऽपि अविनाभावबलेनैव शिंशपात्वादेरेव वृक्षादिकं प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादेः[4] शिंशपादिकं प्रति इति प्रतिपाद्य, इदानीं तदभावेऽपि[7] तद्बलेनैव[8] गमकत्वं प्रतिपादयन्नाह–'**ताभ्याम्**' इत्यादि। **ताभ्यां** तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां **विनैव एकलक्षणस्य** अविनाभावस्य **सिद्धिः** निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा। एतदेव समर्थयमानः प्राह–'**नहि**' इत्यादि। [5]हि यस्मात् **न वृक्षादिः** आदिशब्देन रसादिपरिग्रहः। **छायादेः** अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकारः, **स्वभावः** वृक्षादिछायाद्योः[9] देशादिविभेदात्[6], **कार्यं वा** सहभावात् इत्यभिप्रायः।

ननु[10] च आस्वाद्यमानात् रसात् वृक्षाच्च सामग्री[7] अनुमीयते ततो रूपस्य छायायाश्चा-

---

(१) अनुमीयतेऽनेनेति अनुमान हेतु। (२) नित्यमर्थक्रियाशून्य क्रमयौगपद्यानुपलम्भात् इत्यत्र। (३) व्याप्तिग्रहणानुपपत्ते। (४) 'सु' इति सञ्ज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे पाणिनिव्याकरणस्य 'घि' सञ्ज्ञाया स्थाने प्रयुज्यते। "द्वन्द्वे सु।" १।३।९७। द्वन्द्वे से स्वन्त पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।"–जैनेन्द्रव्या०। (५) 'द्वन्द्वे सु' इति व्याकरणसूत्रस्य। (६) अत्र हि हेतुशब्द स्वन्तस्तथापि नास्य पूर्वनिपात। (७) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि। (८) अविनाभावबलेनैव। (९) वृक्षादि छायादेर्न स्वभाव देशादिभेदात्, न च कार्यं सहभावात् –आ० टि०। (१०) "एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गति। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्॥ या च रसतो मधुरादिकात् रूपादे, आदिशब्दात् गन्धस्य स्पर्शस्य च एकसामग्र्याधीनस्य रसादिना सह एकसामग्र्यायत्तस्य गति, सा कथमित्याह हेतुधर्मानुमानेन रसकारणस्य धर्मो रसादिसहचररूपजनकत्व तदनुमानेन रसाद् रूपादिगति। न हि कार्य रस कारणमन्तरेण, कारणञ्चास्य रससहकारिरूपजनक पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्ते। अतस्तस्मिन्ननुमितेऽनुमितमेव रूपम् धूमेन्धनविकारवत्। धूमाद् हेतुधर्मानुमानेन इन्धनविकारस्य अङ्गारादेर्धूमसहचरस्यैव वानुमानम्।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० ३।८।** "तेनायमर्थो रसात् सकाशात् तद्धेतो रससमानकालभाविरूपजनकत्वन्निश्चीयते, एव हि तस्य रससमानकालभाविरूपजनकत्व निश्चीयते। यदि समानकालभाविनो रूपस्यापि निश्चय स्यात् तेनातीतैककालानामेकैव गति कार्यलिङ्गजा।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।८। हेतुवि० टी० पृ० ५४A.।**

1–लक्षणमनुमानञ्च सि–ब०। 2 इच्यन्तत्वात् श्र०, स्वल्पान्तरत्वात् ब०। 3–मित्याद्याह ब०। 4 वृक्षादेः ब०। 5 हि य–ब०। 6 देशादिभे–श्र०, ब०। 7 सामाग्र्यानु–ब०, सामग्र्यानु–श्र०।

नुमानम् अनुमितानुमानात्, इत्यप्यसत्; तथा व्यवहाराभावात्। नहि आस्वाद्यमानाद् रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति; वर्त्तमानरूपादेरप्रतीतिप्रसङ्गात्। तथा च 'इदमाम्रफलम् एवंविधरूपम् एवंविधरसत्वात्' इत्यनुमानम्, पावकरूपदर्शनात् तत्समकालोष्णस्पर्शानुमानम्, तदर्थिनः तत्र प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति। व्यवहारानुसारेण च भवता प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २।५] इत्यभिधानात्। सामग्रीतो रूपानुमाने च कारणात् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात्। ततः सिद्धम्–अकार्यादस्वभावाच्च वृक्षादेः छायाद्यनुमानम्। तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्राह–'नच' इत्यादि। नच नैव वृक्षादेः छायाद्यनुमाने विसंवादो व्यभिचारोऽस्ति तत्प्राप्तिप्रतीतेः। अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह–

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥ १३ ॥

विवृतिः–न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा।

कारिकाविवृत्योर्व्याख्यानम्– **चन्द्र आदिर्यस्य** आदित्यादेः स तथोक्तः, तस्मात्, **जलचन्द्र आदिर्यस्य** जलादित्यादेः सोऽपि तथोक्तः तस्य **प्रतिपत्तिः तथा** [अन्यथाऽ]नुपपत्तिप्रकारेण **अनुमा** अनुमानम्। जलचन्द्रादिना प्रतिपत्तिः चन्द्रादेरिति वा व्याख्यातव्यम्। एतदेव व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना। 'नहि' नैव **जलचन्द्रादेः**

(१) तुलना–"समानक्षणयोर्गम्यगमकभावोपलब्धेः, तथाहि–रूपक्षणात् समानकालः स्पर्शोऽनुमीयते न पूर्वः, तत्र एकसामग्र्यधीनत्वात् सम्भव एव। न च रूपस्पर्शयोः परस्परोत्पत्तौ कारणत्वे प्रमाणमस्ति इतरान्वयस्येतरत्रानुपलब्धेः।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७१। "लौकिकानाञ्चैकस्माद् रसाद् रूपानुमानम्। न चैते पिशितचक्षुषः क्षणानामन्योन्यभेदमध्यवस्यन्ति। न चानध्यवस्यन्तः प्रवृत्तरूपोपादानसामर्थ्यं रसहेतुमनुमातुमुत्सहन्ते।"–न्यायवा० ता० पृ० १६३। "लोकस्येत्थमप्रतीतेः, रूपमेव रसाल्लोकः प्रतिपद्यते। लौकिकी च प्रतीतिः परीक्षकैरप्यनुसरणीया।"–प्रक० प० पृ० ६७। बृह० पं० पृ० ९४। (२) न प्राप्नोतीत्यर्थः किन्तु इदमाम्रफलमेवंविधसामग्रीकमिति प्राप्तिः–आ० टि०। (३) रूप-उष्णस्पर्शार्थिनः। (४) रूपादौ न प्रवृत्तिं प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम्–आ० टि० (५) सौगतेन। (६) तुलना–"तथा च रसात् कार्यात्तत्कारणं रूपमनुमातव्यं ततश्चानुमिताद्रूपात् कारणात् तत्कार्यं रससमानकालं रूपमनुमातव्यं तथा च कारणात् कार्यानुमानं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यदिति नाभ्यामेव प्रतिबन्धसिद्धिः।"–न्यायवा० ता० पृ० १६२। प्रक० पं० पृ० ६७। बृह० प० पृ० ९४। "रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।"–परीक्षामु० ३।६०। सन्मति० टी० पृ० ५९३। प्रमाणनय० ३।६६। प्रमाणमी० पृ० ४३। (७) यदि सामग्री कारणं रूपादयस्तु कार्यं तदा स्वभावलिङ्गं कार्यलिङ्गं कारणलिङ्गमिति त्रयप्रसक्तेः–आ० टि०। (८) "त्रीण्येव च लिङ्गानि। अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति।"–न्यायबि० पृ० ३५। (९) कारणहेतुसमर्थनार्थम्। (१०) "चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेरसौ चन्द्रादिः तस्मात् कारणभूतात्, जले स्वच्छाम्भसि चन्द्रादेः चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्य प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमा अनुमानमनुगन्तव्यमव्यभिचारात्। किंवत्? तथा कार्यात्कारणप्रतिपत्तिवत्।"–लघी० ता० पृ० ३२। तुलना–"चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविधः। छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१। (११) जलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रादेः। (१२) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि–आ० टि०।

1 अनुमित्यनुमा–आ०, ब०। 2 प्रतिपत्तिश्च ब०।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अतः[१] तत्र[२] अव्यभिचारिणी प्रतिपत्तिः प्रतीयते इति।

जलादौ न आदित्यादेः प्रतिबिम्बं किन्तु स्वदेशस्थ एव आदित्यादिः तत्र प्रतिभासते इति प्रतिबिम्बाभाववादिनः कुमारिलभट्टस्य पूर्वपक्षः –

ननु जलादौ[1] न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति, तत्संभवे बिम्बसन्निधानात् प्रागपि तत्र[३] तदुपलम्भप्रसङ्गात्[४]। अथ बिम्बसन्निधान एव तदुत्पद्यते[५] अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्गः, ननु तत्सन्निधाने[६] गुणरूपम्, द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत? न तावद् गुणरूपम्; द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। अथ द्रव्यरूपम्; तत्किं निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूपं वा? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; तत्र[७] अवयव[८]प्रतिभासनात्। नापि सावयवम्[2]; जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भासम्भवात्[९]।

स्पर्शवन्तश्च परमाणवः स्पर्शवद्द्रव्यस्यारम्भका[3] भवन्ति, तत्र चास्य[१०] किं जलादिपरमाणव एव आरम्भकाः[११], अन्ये वा? न तावदन्ये, स्पर्शवदवयविदेशे तेषां[१२] तदारम्भकत्वासंभवात्। अथ जलादिपरमाणव एव तदारम्भकाः; तन्न, जलमयत्वेन अस्याऽप्रतिभासनात्। जलरूपवैलक्षण्यप्रतीतेश्च, शुक्लं हि रूपं जलस्य, न च मुखादिप्रतिबिम्बे तदस्ति[१३]। न च बिम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम्; निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशावस्थितस्य[4] रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात्[१४][5]। द्वयोश्च[१५] सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः। आश्रयद्रव्यस्य च[6] आदर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्, नचैतदस्ति। अतो न प्रतिबिम्बं किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम्। ननु यदि तन्नास्ति[१६] कथं जलादौ सूर्यादिप्रतिबिम्बप्रतिभासः? इत्यप्ययुक्तम्; तत्र[१७] तत्प्रतिभासाऽसंभवात्[१८], स्वदेशस्थस्यैव आदित्यादेः[7] तत्र[१९] प्रतिभासनात्।

अत्रैके[8] प्रतिबिम्बोदयवादिनः[२०] पर्यनुयुञ्जते–यदि स्वप्रदेशस्थ एव सविता उपलभ्यते न प्रतिबिम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते? नहि अन्यत्रस्थः[२१] अन्यत्र[२२] द्रष्टुं

(१) जलचन्द्रादे। (२) चन्द्रादौ। (३) जले –आ० टि० (४) प्रतिबिम्बोपलम्भ। (५) प्रतिबिम्बम्। (६) बिम्बसन्निधाने। (७) प्रतिबिम्बे –आ० टि०। (८) हस्तपादादीनाम् –आ० टि०। (९) यदि सावयव प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूत जले समुत्पन्न तदा तस्य स्पर्शादिभि पृथग्भूतैर्भवितव्यम्, न चैतत्सभवति, जलीयस्पर्शाद्यात्मकत्वात् प्रतिबिम्बस्पर्शादीनाम्। (१०) प्रतिबिम्बस्य। (११) उत्पादका (१२) अन्येषाम् –आ० टि०। (१३) शुक्ल रूपम्। (१४) कार्यद्रव्यरूपारम्भक हि समवायिकारणगत रूप भवति। (१५) अथ निमित्तकारण तत्रागत्य निष्पादयतीत्याह –आ० टि०। निमित्तसमवायिकारणयो। "सहैकत्र द्वयासत्त्वान्न वस्तु प्रतिबिम्बकम्। तत्कथ कार्यता तस्य युक्ता चेत्पारमार्थिकी॥ अवस्तुत्वे हेतु सहैकत्र द्वयासत्त्वादिति। यत्रैव प्रदेशे आदर्शरूप दृश्यते प्रतिबिम्बकञ्च तत्रैव। न चैकत्र प्रदेशे रूपद्वयस्यास्ति सहभाव सप्रतिघत्वात्, अत सहैकत्र द्वयो रूपयो सत्त्व न प्राप्नोति। तस्माद् भ्रान्तिरियम्। अतो नास्त्येव किञ्चिद्वस्तुभूत प्रतिबिम्बक नाम।" –तत्त्वस० प० पृ० ४१८, ६९७। (१६) प्रतिबिम्बम्। (१७) जलादौ। (१८) सूर्यादिप्रतिबिम्ब। (१९) जलादौ (२०) जैनादय। (२१) नभोदेशस्थ। (२२) जलादौ।

1 जलादेर्न ब०। 2 नावयवम् श्र०। 3 स्पर्शद्रव्य–श्र०। 4 –स्थितस्य कार्य–ब०। 5–रूपारम्भक–श्र०। 6 वा ब०। 7–त्यादेः प्रति–ब०, श्र०। 8 अत्र केचित् प्र– श्र०।

पार्यते सर्वदा[1] तथादर्शनप्रसङ्गात्। न च प्रतिविम्बमन्तरेण कूपादिषु अधस्तात्[2]तद्वीक्षणम्। प्राङ्मुखश्[3]च दर्पणं पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात्? यदि च वहिर्निष्क्रान्तमिन्द्रियं[4] तत्रैव वोधयेदर्थं तत एतदेवं[5] भवेत्, शरीरे तु[6] तद्बोधकमिति। उक्तञ्च–

"[7]अन्ये तु चोदयन्त्यत्र[1] प्रतिविम्बोदयैषिणः। स एव चेत् प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते?॥
कूपादिषु कुतोऽधस्तात्[8] प्रतिविम्बाद्विनेक्षणम्। प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्च[9] प्रत्यङ्मुखः कथम्?॥
तत्रैव वोधयेदर्थं वहिर्यात[10] यदीन्द्रियम्। तत एतद्भवेदेव शरीरे तत्तु बोधकम्॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८३-१८६।] इति[11]।

[12]अत्रोच्यते–जले सूर्यादिदर्शिनां द्वेधा चक्षुः सर्वदा प्रवर्त्तते, एकमूर्ध्वम्, अपरञ्च अधस्तात्। तत्र नोर्ध्वांशप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽनृजुत्वात्, अवाग्वृत्या तु तं वुध्यते पारम्पर्यार्पितं स[2]न्तम् अधिष्ठानर्जुत्वात्, अवागिव च मन्यते। [13]ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आदित्यः सान्तरालः प्रतीयते। एवं दर्पणादौ नायनो रश्मिः प्रतिहतो व्यावृत्य स्वकीयमेव मुखं प्राङ्मुखरश्मेः समर्पयति, ततश्च प्राग्नतया नायनरश्मिवृत्त्या मुखं वुध्यमानः प्रतिपत्ता प्रत्यक् तद्वृत्तिसमर्पितं 'प्रत्यग्' इत्यवगच्छ[3]ति। त[4]दुक्तम्–

"[14]अप्सूर्यदर्शिना नित्यं द्वेधा[15] चक्षुः प्रवर्त्तते। एकमूर्ध्वमधस्ताच्च [16]तत्रोर्ध्वांशप्रकाशितम्॥

(१) जलादावेव सूर्यदर्शनं स्यात्। (२) सूर्यादि। (३) पुरुष। (४) अर्थदेशे गत्वा। (५) स्वदेशस्थ एव आदित्यादिस्तत्र प्रतिभासत इति –आ० टि०। (६) इन्द्रियं चक्षुः। (७) व्याख्या–"जलादिषु यथैकोऽपि नानात्मा सवितेक्ष्यते–इत्यस्य हेतुव्यभिचारविषयत्वेनोक्तस्यासिद्धिं मन्यमाना प्रतिविम्वमर्थान्तरमिच्छन्तश्चोदयन्ति। यदि स एव एवादित्यो दृश्यते न प्रतिविम्वं तत्किमिति उपरिष्टादस्य दर्शनं न भवति? एवं हि तस्य दर्शनं भवेत् यदि देशावस्थितस्वरूपं गृह्णीयात् नान्यथा, अन्यथा हि अतिप्रसङ्गः। किञ्च, कूपादिषु च दूराधःप्रविष्टस्यार्कादेः कथं ग्रहणं भवेत् यदि तत्र प्रतिविम्वं नोत्पन्नं स्यात्? न हि तत्र तथार्कादिर्व्यवस्थित इति। अपि च प्राङ्मुखो दर्पणमवलोकयन् कथमिव प्रत्यङ्मुखो भवति? न हि तस्य तदा पृष्ठाभिमुखं मुखमुपजातं दृश्यते। एवं मन्यते यदि वहिर्निर्गतमिन्द्रियमादित्यं वोधयेत्तत एतत्स्यात् उपरिस्थितमेव पश्येन्नाधस्तादिति। यावता धर्माधर्मवशीकृते शरीरे एव तदिन्द्रियं ग्राहकमिष्यते नोपरिस्थम्।"–तत्त्वस० प० पृ० ६१४। (८) 'प्रतिविम्वेक्षणं भवेत्'-मी० श्लो०। (९) 'स्याच्चेत्प्र' –मी० श्लो०। (१०) 'यदिन्द्रियं' –मी० श्लो०। (११) उद्धृता एते –तत्त्वस० पृ०६१४। प्रमेयक० पृ० ४०८। (१२) प्रतिविम्वनिषेधिभिः –आ० टि०। (१३) ऊर्ध्वाधोरश्मीनामेकत्वात् –आ० टि०। (१४) व्याख्या–"एकमेव चक्षुरुत्कण्ठितलम्वमानसर्पवत् द्वेधा वर्तते अधस्तादूर्ध्वञ्च। तत्रोर्ध्ववृत्तिप्रकाशितं देहानार्जवान्नात्मा वुद्ध्यत इति। कस्मात्तर्हि वुद्ध्यत अत आह–पारम्पर्येति। ऊर्ध्ववृत्तिरधोवृत्त्यै समर्पयति सा च आत्मन इति। कः पुनरूर्ध्ववृत्तेरधोवृत्त्या सम्बन्धो येन समर्पयति अत आह ऊर्ध्वेति। एकस्यैव हि तावदंशौ तेनास्योर्ध्ववृत्तेस्तया वृत्त्या धर्मिरूपेणैक्यमिति अधोवृत्त्याऽववुध्यमानस्तदानुगुण्यादवागिव सूर्यं मन्यत इति। यत्तु प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् कथं प्रत्यङ्मुखो दृश्यत इत्युक्तं तत्राह–एवमिति। तत्रापि प्रत्यग्वृत्तिप्रकाशितं मुखम् अधिष्ठानानार्जवान्नात्मा प्रतिपद्यत इति, किन्तु प्रत्यग्वृत्तिः प्राग्वृत्त्यै समर्पयति तया च समर्पितं प्राग्वृत्त्या वुध्यमानः तदानुगुण्येन प्रत्यगिति वुध्यते। नन्वत्र दर्पणस्थमेव

1 चोदयन्त्यत्र श्र०। 2 स तम् श्र०। 3–च्छतीति व०। 4 उक्तञ्च श्र०।

[1]अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते । पारम्पर्यार्पितं सन्तमवाग्[2]वृत्त्या नु बुध्यते ॥
[3]ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात् अवागिव च मन्यते । अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥
एवं [4]प्राग्नतया[1] वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुखं [5]भ्रान्तः प्रत्यगित्यवगच्छति ॥"
[मी० श्लो शब्दनि० श्लो० १८६-१९० ।] [6]इति ।

किञ्च, यदि प्रतिविम्बमर्थान्तरं बिम्बादुत्पन्नं तदा[2] कथं बिम्बे चलति नियमेन [7]तदपि चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठेत्? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च [8]ततोऽर्थान्तरभूतो घटः नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीतम् । प्रतीयते च विम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन प्रतिबिम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न [9]तत् [10]ततोऽर्थान्तरम् । § यदि च [11]तत्ततोऽर्थान्तरं § स्यात् तदा दर्पणादौ बिम्बापाये कुतो नोपलभ्यते ? विनष्टत्वाच्चेत्; न; निमित्तकारणापाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीते. । न खलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादेः कार्यस्य विनाशः स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा [12]तदपाये [13]तद्विनाशः; तथापि प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् [14]तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः घटविनाशे कपालोपलम्भवत्, [15]न चैवमस्ति । ततो न

मुख गृह्यते न जलपात्रेष्विव अध सान्तराल तत्कस्य हेतो ? अत्रापि सान्तरालमेव प्रत्यग्वृत्त्या प्रकाशित प्राग्वृत्त्यै समर्पित तथैव ग्रहीतव्यम्, उच्यते-वस्तुस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाददोष । तैजसेषु हि दर्पणादिषु तद्गतमेव मुख गृह्यते जले तु सान्तरालमिति किमत्रपृच्छ्यते इति ।"—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ७७६-७७। "ये हि जलपात्रे जल सूर्यञ्च पश्यन्ति तेषामप्सूर्यदर्शिनामेकमेव चक्षुरूर्ध्वमधश्च द्विधा भागश प्रवर्तते। तत्रोर्ध्वभागप्रकाशितमादित्यमात्मा पुरुषो न गृह्णाति । कुत ? अधिष्ठानानृजुस्थत्वात्—चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठानस्यार्जवेन तदानवस्थितत्वात् । पारम्पर्येण तु सौरेण तेजसा वृत्तेरर्पितमादित्यमवाग्वृत्त्या कारणभूतया बुध्यते । तथाहि—किल सौर तेजस्तेजस्विन वृत्तेरर्पयति वृत्तिश्चक्षुषश्चक्षुरात्मन इत्येतत् पारम्पर्यार्पण सूर्यस्य तेजस्विन इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरिस्थञ्च तमादित्यमवागिव अध स्थितमिव मन्यते । क ? आत्मा । न पुनरधस्तादन्य एवादित्य । कुत ? तदेकत्वात् तस्यादित्यस्य अभिन्नत्वात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मादनन्तरोदितेनैव चक्षुषो वृत्तिवशेन सान्तरालोऽधस्तात्कूपादिषु सूर्यो दृश्यते जलादिपात्रभेदाच्च । अन्यथा कथमभेदेन ग्रहण स्यात् ? प्रथम किल चक्षूरश्मयो मुखमादाय निर्गच्छन्ति यावदादर्शादिदेशम्, सा प्राङ्नता वृत्तिरुच्यते। ते च तत्रादर्शादौ प्रतिहता निवर्त्तमाना स्वमुखमेव यथावस्थितमागच्छन्ति । सा च प्रत्यग्वृत्ति । तत्र प्राङ्नता वृत्तिर्मुख प्रत्यग्वृत्तेरर्पयति, प्रत्यग्वृत्तिश्चात्मन, तत आत्मा प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितमवगच्छन् मुख भ्रान्त्या प्रत्यङ्मुख यास्यामीति मन्यते । चक्षुवृत्तेर्वैचित्र्यमेव भ्रान्तिबीजमिति भाव ।" —तत्त्वस० पं० पृ० ६१५ । (१५) 'चक्षुर्द्वेधा' —मी० श्लो० । (१६) 'तत्रोर्ध्वांशुप्र'—तत्त्वस० ।

(१) 'अधिष्ठानानृजुस्थत्वान्नात्मा' —मी० श्लो०, तत्त्वसं० (२) 'वृत्त्याऽववु'—तत्त्वसं० । 'वृत्त्या तु वु' —मी० श्लो० । (३) 'ऊर्ध्ववृत्तेस्तदे'—मी० श्लो०, 'ऊर्ध्ववृत्तितदे'—तत्त्वसं० । ऊर्ध्ववृत्तिरश्मीनामधोवृत्तिभि रश्मिभि सममेकत्वात् —आ० टि० । (४) 'प्राग्भूतया' —मी० श्लो० । (५) 'भ्रान्त्या' —मी० श्लो०, तत्त्वस० । 'भ्रान्ते'—प्रमेयक० । (६) उद्धृता इमे —तत्त्वस० पृ० ६१४ । प्रमेयक० पृ० ४०८ । (७) प्रतिबिम्बमपि । (८) दण्डात् । (९) प्रतिबिम्बम् । (१०) बिम्बात् । (११) प्रतिबिम्बम् । (१२) निमित्तकारणस्य बिम्बस्याभावे । (१३) कार्यभूतस्य प्रतिबिम्बस्यापाय । (१४) प्रतिबिम्बावयव । (१५) न खलु प्रतिबिम्बनाशे पश्चात्त्रुटिता अवयवा समुपलभ्यन्ते ।

1 प्राग्गतया श्र० । 2 तदा तत्कथं आ० । § एतदन्तर्गत. पाठो नास्ति आ० ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपमन्तव्यम्, किन्तु तेन[1] प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुखादि-बिम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति।

तन्निरसनपुरस्सरं प्रतिबिम्बस्य परमार्थतः पुद्गलात्मकत्वप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[2]—'जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतोऽस्य[1] असंभवः ग्राहकप्रमाणासंभवात्, उत्पादककारणाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्यः[2] पक्षोऽनुपपन्नः, निखिल[3]प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र[4] तत्सद्भावावेदकस्य संभवात्। 'निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामि' इति[3] प्रतीतिः प्रतिप्राणि प्रसिद्धा। नहि इयं 'चन्द्रं पश्यामि' इत्येवं रूपोपजायते, नापि जलम्। किं तर्हि? चन्द्रादेः प्रतिबिम्बमिति। न चेयं प्रतीतिर्भ्रान्ता; सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशे-नैव रूपेण उपजायमानत्वात्। यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशेनैव रूपेण उपजायते न तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसंवेदनम्, तथाभूता चेयं प्रतिबिम्बप्रतीतिः, तस्मान्न भ्रान्ता इति। भ्रान्तसंवेदनस्य तथाविधधर्म्मस्वरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। नहि भ्रान्तं शुक्तिकादौ रजतादिसंवेदनं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव पुंसां तदुत्पत्तिप्रतीतेः, अदुष्टेन्द्रिययोगिनां तेषां तदनुपपत्तेः।

किञ्च, यत्र ज्ञाने समुत्पन्ने बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं वा प्रादुर्भवति तद् भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकायां रजतादिज्ञानम्। न च आदर्शादौ प्रतिबिम्बप्रतीतौ 'नैतदेवम्' इत्येवंरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति। न च बाधकाभावेऽप्यस्य भ्रान्तत्वं वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात्। कारणदोषाऽप्रतीतेश्च न तत्प्रतीतिर्भ्रान्ता। प्रतिबिम्बप्रतीतेः खलु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र दोषाः प्रतीयन्ते। नहि क्षुदादिरात्मनो दोषः निद्रादिर्मनसः काचकामलादिश्चक्षुषः तत्प्रतीत्युत्पत्तौ प्रतीयते; सन्तृप्तस्य निद्राद्यनुपहतचेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तुः प्रतिबिम्बप्रतिपत्तेः प्रतीयमानत्वात्। तदेव सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्षं बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्वप्रसाधकम्।

तथा अनुमानमप्यस्य आश्रय-बिम्बाभ्यामर्थान्तरत्वप्रसाधकमस्त्येव। तथाहि—

(१) जलदर्पणादिना। (२) पृ० ४५१ प० २। (३) तुलना—"न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम्"—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८०। "न हि दृष्टाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति"—नयच० वृ० पृ० १८। "न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति।"—हेतुबि०टी० पृ० ८७ A। (४) जलादौ। (५) प्रतिबिम्बे। (६) प्रतीतिः। (७) पश्यामीत्येवं रूपोपजायते इति शेषः। (८) एकादृश—आ० टि०। (९) पुरुषाणाम्। (१०) तुलना—"तस्मात् यस्य च दुष्टं कारणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययः नान्य इति।"—शाबरभा० १।१।५। (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य। (१२) आत्ममनश्चक्षुरादिषु। (१३) प्रतिबिम्बप्रतीतिः। (१४) प्रतिबिम्बस्य। (१५) जलादि।

1 यतो यस्यासंभ—श्र०। 2—द्यपक्षो—श्र०। 3 इति प्रतिप्रा—ब०। 4 न तेन तद् ब०। 5 —विधरूपेणो—ब०। —विधरूपेणो—ब०। 6—दृशेनैकरूपेण श्र०। 7 न हि चक्षुरादि—श्र०, ब०। 8—हतमनसो ब०। 9 प्रतिबन्धप्रति—ब०।

यद्[1] यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-बिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यञ्च चन्द्रादिप्रतिविम्बमिति। न चैतदसिद्धम्, बिम्बाकारानुकारितया हि बिम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिबिम्बम्, यथा मुद्राकारानुकारिणी प्रतिमुद्रा। तत्प्रतीतौ[2] च कथं ततो[3] विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वमस्य[4] असिद्धम्। न चैतद्[5] बिम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्; जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिबिम्बमपश्यतः[6] तत्प्रती[7]ति[1]दर्शनात्। न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य[8] ततो[9] भेदं न प्रसाधयतीति वाच्यम्; सर्वत्र भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्याः[10] प्रतीतिभेद[11]निबन्धनत्वात्। अतः बिम्बात् प्रतिबिम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम्। कथमन्यथा यद्वस्तु कदाचिदपि न प्रतीतं तस्मि[12]न्न[2]परिदृश्यमाने व्यवहितेऽपि[3] तद्बिम्बावारकाभावे[13] तत्प्रतिबिम्बप्रतीतिः स्यात्? तद्बिम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात्[14]। तन्न ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिबिम्बासंभवः।

नाप्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य चात्र संभवात्। प्रतिबिम्बोत्पत्तौ[15] हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिकं तु निमित्त-

(१) प्रतिविम्ब जलाद्याश्रयात् चन्द्रादिविम्बाच्च भिन्न तद्विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वात्। तुलना–"तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्य तत्ततो भिन्न यथा मुद्रात प्रतिमुद्रा "–**स्या० र० पृ० ८६३**। (२) विम्बाकारानुकारितया प्रतीतौ च। (३) चन्द्रादिविम्बादाश्रयभूतदर्पणादिश्च। (४) प्रतिविम्बस्य। (५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिविम्बदर्शन। (६) पुरुपस्य। (७) प्रतिविम्ब। (८) प्रतिविम्बस्य। (९) आश्रयाद् विम्बाच्च। (१०) भेदवार्तया। (११) प्रतीतिभेदो निवन्धनमस्या इति। (१२) वस्तुनि विम्बाख्ये। (१३) विम्बस्य आवरण यदि स्यात् तदा प्रतिविम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्बिम्बावारकाभावे। (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयो, अव्यवहितत्वनिवन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य। (१५) **स्याद्वादरत्नाकरे**। (पृ० ८६५) अस्य सोद्धरण खण्डनमित्थम्–"यदपि प्रभाचन्द्र प्राह–प्रतिविम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारण चन्द्रादिक च निमित्तकारण गगनतलावलम्बिन चन्द्र निमित्तीकृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्तार्जवविजृम्भितम्, यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्रादेश्छायापुद्गला पृथिव्यादावाश्रये छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिविम्बस्य छायापुद्गला दर्पणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिविम्बरूपतया परिणमन्ते तदा किन्नाम क्षूण स्यात् अस्यापि छायाविशेपस्वभावत्वात्। तथा चागम –सामा उदिया छायाऽभासुरगया निसिम्मि कालाभा। सा च्चेह भासुरगया सदेहवन्ना मुणेयव्वा॥ आदरिसस्सतो देहावयवा हवेति सकता। तेसिं तत्थुवलद्धी पगासजोगा न इयरेसिं॥ प्रकरणचतुर्दशशतीकारोपि **धर्मसारप्रकरणे** प्राह–न ह्यङ्गनावदनछायानुसक्रमातिरेकेणादर्शके तत्प्रतिविम्बसभव इत्यादि।"–**स्या० र० पृ० ८६५**। तच्च चिन्त्यम्–आ० वादिदेवसूरिमतेन हि मुखादिविम्बस्य छायापुद्गला मुखाद्विनिर्गच्छन्त दर्पणादौ स्वच्छतादिसमाग्रीवशात् प्रतिविम्बमारभन्ते 'अस्मन्मते तु स्वच्छ एवादर्शादौ विम्बसन्निधाने तद्गतछायापुद्गलसक्रमात् प्रतिविम्बमुत्पद्यते' (**स्या० र० पृ० ८६४**) इति स्वयमभिधानात्। तत्रेद विचारणीय यत्–मुखादिभ्य छायापुद्गलविनिर्गमन किन्निवन्धनम्? यदि तेषा स्वभावोय यत्ते सदैव विनिर्यान्ति तदा चक्षुषो रश्मिविनिर्गमन नैयायिकादिभि उक्त कथ प्रतिक्षिप्यते। यदि हि अभास्वरान्मुखात् घटादेर्वा छायापुद्गलविनि सृति युक्तिपथप्रस्थायिन्यभिमन्यते तदा भास्वररूपशालिचक्षुषो रश्मिविनिर्याण तु न्यायानुभवसङ्गत सुतरामेव स्यात्। अत-

1–**तिरदर्शनात्** ब०। 2 **तस्मिन्नुपरि**–श्र०। 3 **व्यवहितोऽपि** आ०।

कारणम्, गगनतलावलम्बिनं चन्द्रं निमित्तीकृत्य जलादेस्तथा[1]परिणामात्।

यदप्युक्तम्[2]–'तत्सन्निधाने गुणरूपम् द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; द्रव्यरूपस्यैवास्य[3] [4]तत्सन्निधाने [5]तत्रोत्पादाभ्युपगमात्।

यदपि–'निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तत् स्यात्' इत्याद्युक्तम्[6], तदप्युक्तिमात्रम्; अस्मदादीन्द्रियग्राह्यद्रव्यस्य निरवयवत्वाऽसिद्धेः[7]।

यत्पुनरुक्तम्[8]–'नापि सावयवं जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भाऽसभवात्' इति, तदप्यसाम्प्रतम्; यतो जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्तदा स्यात् यदा जलादेः तत्प्रतिबिम्बमर्थान्तरभूतं द्रव्यं स्यात्, यदा तु जलादिकमेव [9]तथा परिणमते तदास्य [10]ततोऽर्थान्तरत्वासंभवात् कथं पृथक् [11]तत्स्पर्शोपलम्भस्याशङ्काऽपि स्यात्?

एतेन 'जलादिपरमाणव एवास्य आरम्भका अन्ये वा' [12]इत्यादि प्रत्युक्तम्; जलपरमाणूनामेव [13]उक्तप्रकारेण तदारम्भकत्वप्रतिज्ञानात्। प्रतिविम्बे जलरूपाद् वि[14]लक्षणरूपप्रतीतेः कथ ते[15] तदारम्भकाः? [1]इत्यप्यनुपपन्नम्; पुद्गलानां विचित्ररूपादिपरिणामसामग्रीसन्निधाने विचित्ररूपादिपरिणत्युपपत्तेः। दृश्यते हि मुखादिविम्बेऽपि [16]तत्सन्निधाने विचि[2]त्रा रूपपरिणतिः, कोपाद् रक्ततया लज्जातः कृष्णतया हर्षात् सुकान्तिमत्तया मुखादेः परिणामप्रतीतेः। अतो मुखचन्द्रादिविम्बसन्निधाने जलादेर्विचित्रो रूपादिपरिणामो न विरोधमध्यास्ते।

एतेन इद[17]मपि प्रतिव्यूढम्–'द्वयोः सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः, आश्रयद्रव्यस्य चादर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्' इति, द्वयोः सावयवद्रव्ययोः [18]अत्राऽसंभवात्, एकस्यैव जलादिद्रव्यस्य स्वसामग्रीविशेषवशात् [19]तथा[3]परिणामात्। नच [20]समानाकाशदेशत्वं सावयवयोः विरुद्धम्; जलभस्मनोः वातातपयोर्वा सावयवयोरपि

श्चक्षुषो रश्मिविनिर्गमन प्रतिक्षिपद्भि मुखादिविम्वात् छायापुद्गलविनि सृति स्वीक्रियमाणा स्ववधाय कृत्योत्थापनमेव प्रतिभाति। **स्या० रत्नाकरस्य** ६९८ पृष्ठे तु एभिरेव प्रमेयकमलमार्तण्डमनुसरद्भि स्पष्टमुक्तम् यत्–"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिविम्वाकारविकारधारिण सम्पद्यन्ते" इति, अत्रैव च चक्षुषो रश्मिनिर्गमनस्य प्रतिषेधात् ज्ञायते यत्तत्प्रकरणे तु वादिदेवसूरय प्रभाचन्द्रमर्थंत शब्दतश्च अनुसरन्ति, अत्र तु तत्खण्डनाभिलाषेण पूर्वापरविरोधमपि न पश्यन्तीति चित्रमेतत्।

(१) प्रतिबिम्बाकारतया। (२) पृ० ४५१ प० ४। (३) प्रतिविम्बस्य। (४) बिम्ब। (५) जलादौ। (६) पृ० ४५१ प० ६। (७) हस्तपादाद्यवयवैः सावयवमेव तत्प्रतिविम्बमभ्युपगम्यते। (८) पृ० ४५१ प० ७। (९) प्रतिबिम्बरूपेण। (१०) जलादे। (११) प्रतिबिम्ब। (१२) पृ० ४५१ प० ९। (१३) बिम्बसन्निधानेन जलादीना प्रतिविम्बाकारतया परिणमनप्रकारेण। (१४) श्यामरूप प्रतिबिम्बे जलादौ शुक्ल रूपम्। (१५) जलादय। (१६) विचित्रकोपाद्युद्रेचकसामग्रीसन्निधाने। (१७) पृ० ४५१ प० १४। (१८) प्रतिबिम्बोत्पत्तिस्थले। (१९) प्रतिबिम्बाकारतया। (२०) तुलना–"तदपि समानदेशप्रसारिसमीरातपाभ्या व्यभिचारि"–**स्या० र० पृ० ८६१**।

1 **इत्यनुप–**श्र०। 2 **विचित्ररूप–**श्र०। 3 **परिमाणात्** आ०।

तत्प्रतीतेः। प[1]रिमा[१]णगौरवोत्कर्षनियमोपि सावयवयोर्नास्ति; ज[२]लकनकादिसंयुक्ताऽनलादौ त[2]द्प्र[३]तीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्[४]–'अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्त्तते' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; र[५]श्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः । ततस्तद[3]प्रसिद्धिः चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपिता[६] ।

ननु प्रतिबिम्बोदयवादिनां मते विम्बानुकारिणा प्रतिविम्बेन भवितव्यम् तत्कथं सव्यदक्षिणविपर्ययेण प्रतिबिम्बस्य प्रतीतिः; इत्यप्यचोद्यम्; स्वसामग्रीतः तस्य सव्यदक्षिणस्वभावतयैव उत्पत्तेः । बिम्बाभिमुखेन हि प्रतिबिम्बेन भवितव्यम्, आभिमुख्यञ्च सव्यदक्षिणविपर्यासव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति त[७]थैव अस्योत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा 'प्र[८]तिबिम्बम्' इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्नः स्यात् ।

किञ्च, य[९]न्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य[१०] सव्यदक्षिणवि[4]पर्यासो गुण एव, यत एव

(१) तुलना–"करम्बितकनकपारदाभ्यामनैकान्तिकत्वात् " –स्या० र० पृ० ८६१ । (२) उष्णजले हि जलाग्न्यो द्वयो सावयवयो समानदेशता जाता न च परिमाणगौरवयोरुत्कर्ष, तथा तप्तसुवर्णे सुवर्णाग्न्यो सावयवयो सम्बन्धेऽपि न तयोरुत्कर्ष सन्दृश्यते इति भाव । (३) परिमाणगौरवयोरप्रतीते – आ० टि० । (४) पृ० ४५२ प० १५ । (५) तुलना–"स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणासिद्धे चाक्षुष तेज प्रतिस्रोत प्रवर्तितमिति चातीवासगत प्रमाणाभावात् ।"–प्रमेयक० पृ० ४२५ । चाक्षुप तेज. प्रतिस्रोत प्रवर्तितमिति चातीवासङ्गतम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तैजासि जलेनाभिसम्बन्ध्य पुन सवितार प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यक्षादिप्रमाणत प्रतीयन्ते । यथा च नायनरश्मीना विषय प्रति प्रवृत्तिर्नास्ति तथा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।"–स्या० र० पृ० ६९८ । (६) पृ० ७५–८२ । (७) सव्यदक्षिणविपर्ययेणैव । (८) तुलना–"तदपि प्रतिबिम्बशब्दनिरुक्त्यैव कृतोत्तरम्, पर मिथ्याभिनिवेशान्न चेतयते भवान् । प्रत्यर्थिविम्ब प्रतिविम्बमुच्यते । प्रत्यर्थिता चास्य सकलतदीयालकतिलकभ्रूभङ्ग भ्रूकुटयादिविशेपस्वीकरणेनाभिमुखतया पुर स्थायित्वम् । तच्च सव्यदक्षिणपार्श्वविपर्यासव्यतिरेकेणास्य नोपपद्यते इति तथैवोत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा तु प्रतिबिम्बमिति व्यपदेश एवास्यानुपपन्न स्यात् ।"–स्या० र० पृ० ८६२ । (९) तुलना–"किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तर तस्य सव्यदक्षिणपार्श्वयोर्विपर्यासो गुण एव । यत एव विम्बविपरीतधर्मयोगोऽत एवातोऽस्यान्यत्वमिति ।"–स्या० र० पृ० ६८२ । "आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणतोपलभ्यते इतरत्र प्रतिविम्बमात्रमेव । अत्राह–विपरीतग्रहण कुत प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति ? प्रसन्नद्रव्यपरिणामविशेषाद भवति । अत्र चोद्यते नादर्शतलादिच्छायासद्भाव । किं तर्हि ? नयननिर्गतेन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रतिहतनिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति, तदयुक्तम्, विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात् कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात् ग्रहणशक्त्यभावाच्च । विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव ग्रहण प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमेव ग्रहण स्यात् विपर्यासहेत्वभावात् । कुड्यादिषु वाऽतिप्रसङ्ग स्यात्, नयनरश्मे प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात् ।" –राजवा० पृ० २३३ । न्यायवि० वि० पृ० ५६७ B. । "कथ पुनर्दर्पणतलादिषु प्रतिबिम्ब मुखादीना सम्मुखमेव छायाकारेण परिणमते न पराङ्मुखम् ? कथ वा कठिनमादर्शमण्डल प्रतिभिद्य मुखतो विनिर्गता पुद्गला प्रतिबिम्बमाजिहत इति ? यत्तावदुच्यते सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुदेति नान्यतो मुखमिति, तत्र परिणाम स तादृश पुद्गलानाम्, नहि तद्विषय पर्यनुयोग कर्त्तुं शक्य "–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६४ । (१०) मम–आ० टि० । जैनस्य ।

1 परिणाम –ब० । 2 तदप्रतिपत्तेः ब० । 3 –दसिद्धिश्च चक्षु –ब० । 4 –विपर्ययो गुण ब० ।

विम्बधर्मविपरीतधर्मयोगोऽत एव अस्य[1] अतोऽन्यत्वम्[2]। यदि च[3] प्रतिबिम्बमन्यन्न स्यात्, आदर्शादिना प्रतिहतैर्नायनरश्मिभिर्व्यावृत्य देशविपर्यासेन मुखादेरेव आदर्शादौ प्रकाशनात्, तदा कुडयादिनाऽपि प्रतिहतास्ते व्यावृत्य किमिति कुडयादौ मुखन्न प्रकाशयन्ति विशेषाभावात् ? नचात्र[4] स्वच्छता उपयोगिनी, रश्मिप्रतीघातमात्रस्यैव तत्रोपयोगात्, तच्च[5] उभयत्राप्यविशिष्टम्[6], प्रत्युत कुडयादिना[1] घनद्रव्येण अतिशयवान् प्रतीघातो विधीयते, अतः तत्र अतिशयवता तत्प्रतिभासेन[7] भाव्यम्। कारणातिशयाद्धि कार्यातिशयो दृष्टः, यथा पित्तातिशयात् शङ्खादिषु पीतत्वावभासातिशयः। अस्मन्मते[8] तु निर्मले स्वच्छ एव आदर्शादौ बिम्बसन्निधाने प्रतिबिम्बमुत्पद्यते न पुनः कुडयादौ तद्विपरीते, अतस्तत्र[9] तत्प्रतिभासाभावः[11]।

किञ्च, आदर्शादिना प्रतिहता रश्मयः व्यावृत्य यदि बिम्बमेव प्रकाशयन्ति, तदा[12] महतो हस्त्यादे[4] स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात्। नचैवम्। अतः प्रतिविम्बमेव तत्र[13] तथाभूतमुत्पन्न[14] प्रतिभासते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। स्वपरिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिविम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्ति[5]रविरुद्धा। यदि[15] च कृपाणादौ काचादौ[16] चाश्रये प्रतिहतास्ते[17] व्यावृत्त्य बिम्बमेव प्रकाशयन्ति; तदा आयत-श्याममुखप्रतीतिर्न स्यात्। अस्मन्मते तु आश्रयस्य[18] आयतत्वात् श्यामत्वाच्च तदारब्धस्य प्रतिबिम्बस्यापि आयतत्व श्यामत्वञ्चोपपन्नम्। जलादेस्तु अतिस्वच्छत्वात् बिम्बाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्तिः।

यदप्युक्तम्[19]-'यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरमुत्पन्नम्' इत्यादि; तदप्यचर्चिताभिधानम्; अर्थान्तरस्यास्योत्पत्तावपि[20] नियमेन निमित्तकारणक्रियानुकारितया[21] तत्क्रियायां[22] नियमेन क्रियावत्त्वोपपत्तेः प्रदीपप्रकाशवत्, छत्रछायावद्वा। यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति प्रकाशश्छाया च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एवं बिम्बे चलति नियमेन

(१) प्रतिविम्बस्य। (२) विम्बात्। (३) तुलना-"यदि चादर्शादिप्रतिहता रश्मय मुख प्रकाशयन्ति तदा शिलातलादिप्रतिहता अपि ते तत्प्रकाशयेयु विशेषाभावात्"-स्या० र० पृ० ८६४। (४) व्यावृत्य विम्बप्रकाशने। (५) प्रतिघातमात्रम्। (६) दर्पणादौ कुड्यादौ च। (७) विम्बप्रतिभासेन। (८) जैनमते। (९) अस्वच्छेऽपारदर्शिनि। (१०) कुड्यादौ। (११) विम्ब। (१२) तुलना-"तदा महतो हस्त्यादे स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गाल्लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात्।" -स्या० र० पृ० ८६४। (१३) दर्पणादौ। (१४) लघ्वाकारोपेतम्। (१५) तुलना-"अपि च यदि काचकृपाणादौ प्रतिहतास्ते व्यावृत्य विम्बमेव प्रकाशयन्ति तदा तत्रायतश्याममुखप्रतीतिर्न स्यात्।"-स्या० र० पृ० ८६४। (१६) श्यामकाचादौ। (१७) रश्मय। (१८) कृपाणस्य काचादेश्च। (१९) पृ० ४५३ पं० ५। (२०) तुलना-अर्थान्तिरस्योत्पत्तावापि नियमेन परिणामकारणक्रियानुकारितया तस्मिंश्चलति चलनस्य तिष्ठति स्थानस्य च तत्रोपपत्ते।"-स्या० र० प० ८६२। (२१) मुखादिविम्ब। (२२) मुखादौ क्रियाया सत्याम्।

1 -दर्शनादौ ब०। 2 -ष्ट पटकुडया -ब०। 3 -ना द्रव्येण ब०। 4 हस्तादे. आ०। 5 लघुप्रति -श्र०।

प्रतिबिम्बं चलति तिष्ठति तु तिष्ठति। न खलु घटे नियमेन निमित्त[1]कारण[1]क्रियानुविधानं न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र[2] तन्निषेद्धु[3]मुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि तन्निषेध[4]प्रसङ्गात्। घटे च तद्वद्[5] भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः [2]प्रदीपप्रकाशादावपि [6]तन्निषिद्ध्यतामविशेषात्। प्रतीतिविरोधः अन्यत्राप्यवि[3]शिष्टः।

यच्चान्यदु[7]क्तम्–'निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीतेः' इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; [8]प्रदीपछत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशच्छाययोरपायप्रतीतेः।

एतेन 'प्रतिबि[4]म्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः' [9]इत्यादि प्रत्युक्तम्; [10]प्रदीपादेर्विनाशेऽपि तद[11][5]प्रतीतेः। न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवाः क्वचित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थायिनो भवन्तीति।

साम्प्रतम् '*[6]अतीतै[12]ककालानां गतिः नाऽनागतानां व्यभिचारात्*'' [**प्रमाणवा०** स्ववृ० १।१२] इत्येतन्निराकुर्वन्नपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति–

भविष्यत् प्रतिपद्येत [13]शकटं कृत्तिकोदयात्।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति[14] ॥ १४ ॥

(१) दण्डादि–आ० टि०। (२) प्रतिबिम्बेऽपि। (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम्। (४) निमित्तकारणक्रियानुविधान। (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुक्लरूपादिकमपि। (६) निमित्तकारणभूतप्रदीपवत् भासुररूपादिक तत्प्रकाशे निषिद्धचताम्। (७) पृ० ४५३ प० १०। (८) तुलना–"न खलु मृदाद्यपाये कलशादावपायो नोपलब्ध इति।"–**स्या० र० पृ०** ८६३। (९) **पृ० ४५३ प० ११**। (१०) तुलना–"सौदामिनीप्रदीपादिद्रव्याणा विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनुपलम्भात्।"–**स्या० र० पृ०** ८६३। (११) अवयवोपलम्भ–**आ० टि०**। (१२) 'अतीतानामेककालानाम्' –**प्रमाणवा० स्ववृ०**। व्याख्या–"तत्रापि रसादे रूपाद्यनुमाने अतीतानामेककालानाञ्च गति रसोपादानसमानकालभाविनोऽतीता. लिङ्गभूतरससहभाविन एककाला तेषाङ्गति नानागतानाम् वर्तमानेन लिङ्गेनानुमान व्यभिचारात्, अनागतं हि कारणान्तरप्रतिबद्धं तत्र प्रतिबन्धवैकल्यसंभवान्न भवेदपि। यच्चाद्योदयात् श्व सूर्योदयाद्यनुमानन्न तदनुमान नियामकलिङ्गाभावात्, अद्य गर्दभदर्शनात् श्व सूर्योदयानुमानवत्।"–**प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी०** १।१२। उद्धृतमिदम्–**सिद्धिवि० टी०** पृ० ३११A। **प्रमेयक० पृ० ३८१। स्या० र० पृ० ५९०**। (१३) रोहिणीनक्षत्रम्। (१४) "शकट रोहिणी धर्मी मुहूर्त्तान्ते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्म, कुत ? कृत्तिकोदयादिति साधनम्। न खलु कृत्तिकोदय. शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा, केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरमिति प्रतिपद्येत अनुमन्येत सर्वोऽपि जन इति। तथा श्व प्रात आदित्य सूर्य उदेता उदेष्यति अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत। तथा श्वो ग्रहणं राहुस्पर्शो भवष्यति एवविधफलकाङ्क्षादिति वा प्रतिपद्येत सर्वत्राऽव्यभिचारात्"–**लघी० ता० पृ०** ३३। तुलना–"कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत्।"–**मी० श्लो० पृ०** ३५१। **प्रश० व्यो० पृ० ५७१। प्रमाणप० पृ० ७१। परीक्षामु० ३।७१। सन्मति० टी० पृ० ५९१। प्रमाणनय० ३।८०। प्रमाणमी० पृ० ४१। जैनतर्कभा० पृ० १६**। "प्रतिवन्धपरिसख्यायाम् उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम् ?"–**सिद्धिवि० पृ०** ३१७B।

1–**क्रियानुमानं** ब०, –**क्रियाविधानं** आ०। 2–**प्रदीपादावपि** ब०। 3–**विशिषः** आ०। 4–**बिम्बप्रकाशे** ब०। 5 **तत्प्रतीतेः** श्र०। 6 **प्रतीतै**–आ०।

विवृतिः–तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाणसंख्याञ्च प्रतिरुणद्धि ।

भविष्यद् भावि, **प्रतिपद्येत** जनः । किम् ? **शकटम्** । कुतः ? **कृत्तिकोदयात्** । तथा **श्वः** प्रातः **आदित्य उदेता इति** प्रतिपद्येत अद्य आदित्योदयात् इति गम्यते । **'ग्रहणं वा भविष्यति'** इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाद्धादेः ।

कारिकायाः तात्पर्यार्थमुपदर्शयन्नाह–**'तद्'** इत्यादि । तस्मात् एकलक्षणान्विताद्धेतोः **एतद् भविष्यद्विषयं** भाविशकटोदयादिगोचरम् **अविसंवादकं ज्ञानं** सिद्धम् । तत् किं करोति ? इत्याह–**प्रतिबन्धसंख्यां प्रतिरुणद्धि** तादात्म्यतदुत्पत्त्योरत्राऽसम्भवात् । अथ कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकार्यत्वादयमदोषः; तन्न; अतीतकृत्तिकोदयादेः शकटोदयात् प्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । अन्योन्यकार्यत्वे अन्योन्याश्रयप्रसक्तिः । अन्यच्च तत् किं करोति ? इत्याह–**प्रमाणसंख्याञ्च प्रतिरुणद्धि** परपरिकल्पितस्य प्रतिबन्धस्य पक्षधर्मत्वादेश्चाऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावात् । तन्न कार्यस्वभावानुपलब्धिलिङ्गप्रभवं त्रिविधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्यानियमः सौगतानां व्यवतिष्ठते प्रागुक्तलिङ्गप्रभवानुमानानां ततोऽर्थान्तरत्वप्रसिद्धेः ।

एतेन नैयायिकोपकल्पितः पञ्चधैवानुमानमित्यनुमानसङ्ख्यानियमः प्रत्याख्यातः, पूर्वोक्तानुमानानां पञ्चस्वनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु *"अस्येदं कारणं कार्यं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्"* [वैशे०सू० ९।२।२] इति सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्, अविनाभावस्य अत्रैव परिसमाप्तेः, तत्कथं नैयायिकानामनुमानसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेत ? अत्र कारणात् कार्यानुमानम्; यथा ज्वलदिन्धनदर्शनात्

---

(१) [illegible] (घटिकादिलिखिताङ्कगणनाया) –आ० टि० । (२) [illegible] । (३) [illegible] । तुलना–'न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा [illegible] ।"–परीक्षामु० ३।६१ । प्रमाणनय० ३।६७ । (४) [illegible] –"भावेन च भावो भाविनाऽपि [illegible] । यदि [illegible] भविष्यत् [illegible] ।"–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १७७ । (५) [illegible] –आ० टि० । (६) [illegible] । (७) [illegible] । (८) [illegible] । (९) [illegible] । (१०) [illegible] । (११) [illegible] । (१२) "[illegible]

1–पदेन [illegible] । 2–[illegible] । 3–प्रतिबिम्बस्य [illegible] । 4–पञ्चधैवा–[illegible] । 5–[illegible] ।

भविष्यति भस्म इति। कार्यात् कारणानुमानम्; यथा नदीपूरोपलम्भात् वृष्टेः। संयोगिदर्शनात् संयोगिनोऽनुमानम्; यथा धूमदर्शनाद् वह्नेः। समवायिदर्शनात् समवायिनोऽनुमानम्; यथा शब्दाद् आकाशस्य। [1]एकार्थसमवायिदर्शनात् एकार्थसमवायिनोऽनुमानम्, यथा रूपाद् रसस्य। विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम्; यथा विस्फूर्जितनकुलदर्शनात् सन्निहितसर्पज्ञानमिति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं कृत्तिकोदयादीनां पूर्वचरादिहेतूनामपि पृथक् रूपेण गमकत्वप्रदर्शनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]—'सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; तदतिरिक्तानां[2] कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्वप्रतिपादनात्। अविनाभाववशाद्धि हेतोरनुमानाङ्गत्वं न कारणादिरूपतामात्रेण अस्या[3]ऽव्यापकत्वादतिप्रसङ्गाच्च। अविनाभावस्य तु सकलहेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्वशादेव हेतोर्गमकत्वं प्रतिपत्तव्यम्। नहि तद्व्यतिरेकेण[4][2] क्वचिदपि हेतोर्गमकत्वं प्रतीयते, सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्तेः। कार्यकारणभावस्य च षट्पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात्[5] परमते[6] कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धिः। संयोगसमवाययोरपि तत्रैव[7] निषेधात् संयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धिः। विरोधिनोप्यविनाभावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्।

गमकम्, यथाहि—विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्टाद् वृष्टो देव इति। तथा च वहलस्वरूपफेनफेनिलपर्णकाष्ठादिवहनविशिष्टस्य नदीपूरस्य वृष्टिकार्यत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तमनुमानम्—अय नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिति। पूरस्तु उभयतटव्यापकोदकसयोग। स पारम्पर्येण वृष्टिकार्य इति। कारणमिति कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेरुपलभ्यमान तल्लिग यथा च विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मण। तथा धूमोऽग्ने सयोगी समवायी च उष्णस्पर्शो वारिस्थ तेजो गमयतीति। विरोधीच यथाहिर्विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादेर्लिङ्गमिति।"—**प्रश० व्यो० पृ० ५७२। प्रश० किर० पृ० ३०२।**

(१) **पृ० ४६० प० १९।** (२) तुलना—"समुद्रवृद्धचादौ यथोदितसम्वन्धाभावेऽप्यनुमानदर्शनात्। सयोगसमवायैकार्थसमवायास्तु नानुमानोत्पत्तौ कारणम्। नहि कमण्डलुना छात्रानुमानम्, नापि रूपादे पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रसानुमानमिति। यच्च विरुद्धस्यानुमानस्योदाहरण भूत वर्षणकर्म अभूतस्य वाय्वभ्रसयोगस्यानुमापक तथाऽभूत वर्षणकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसयोगस्यानुमापकमिति, तदनुपपन्नम्, भावाभावयोर्ह्यत्र गम्यगमकता, न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् कार्यकारणभावादय एव सम्वन्धा यस्य येन नियता अव्यभिचारिण स हेतुरिति।"—**प्रक० पं० पृ० ६८। न्यायवा० ता० पृ० १६४। स्या० र० पृ० ५३२। लघी० ता० पृ० ३४।** (३) कारणादिरूपतामात्रस्य कृत्तिकोदयादिहेतुषु अव्याप्ति, धूमादिसाध्य प्रति व्यभिचारित्वाद्धत्वाभासभूतेषु अग्न्यादिषु सद्भावाच्चातिप्रसग। (४) अविनाभाव विना। (५) **पृ० २२०।** (६) वैशेषिकमते। (७) षट्पदार्थपरीक्षायाम् **पृ० २९७।**

---

1 **'एकार्थसमवायिदर्शनात्'** नास्ति व०। 2 **तदव्यतिरि**—व०।

सांख्यपरिकल्पितेभ्यो मात्रामात्रिकादिसप्तहेतुभ्योऽपि कृत्तिकोदयादि पूर्वचरादिहेतूना पृथक्तया गमकत्वप्रसाधनम्–

यदपि सांख्यैरभिहितम्–मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि-वध्य-घाताद्यै[१] सप्तधाऽनुमितिः। तत्र मात्रामात्रिकानुमानम्; यथा चक्षुषो विज्ञानानुमानम्। कार्यात् कारणानुमानम्, यथा विद्युद्दर्शनात्[२] कारणविज्ञानम्। प्रकृतिविरोधिदर्शनात्[1] तद्विरोध्यन्तरानुमानम्, यथा न वर्षिष्यति वलाहक' प्रत्यनीकपवनयोगित्वात्। सहचराऽनुमानम्; यथा चक्रवाकयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम्। स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनुमानम्, यथा छत्रविशेषदर्शनात् राज्ञोऽनुमानम्। वध्यघातानुमानम्, यथा सहर्पनकुलदर्शनात् 'घातितोऽनेन सर्पः' इति ज्ञानम्। आदिग्रहणात् संयोग्यनुमानम्, यथा समुदायवर्तिनि परिव्राजके 'कः परिव्राजकः' इति संशये त्रिदण्डदर्शनात् 'परिव्राजकोऽयम्' इति ज्ञानमिति। तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्[३], कृत्तिकोदयादिहेतूनां नैयायिकोपकल्पितहेतुभ्य इव[४] अतोऽप्यर्थान्तरभावाऽविशेषात्[2]।

अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या संशयहेतुत्वात्' इति नियम निराकुर्वन्नाह–

[५]अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः।
तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः॥ १९॥

विवृतिः–[७]अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च, तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात्। तथा च कुतः

(१) आदिशब्दात् सयोग्यनुमान सप्तमम्–आ० टि०। (२) विद्युत कादाचित्कत्वेन कार्यत्वात् केनापि कारणेन भवितव्यमिति–आ० टि०। (३) तुलना–"एतेन सप्तविध सम्बन्ध इति प्रत्युक्तम्"–न्यायवा० पृ० ५७। "एतेनैव–मात्रानिमित्तसयोगिविरोधिसहचारिभि। स्वस्वामिवध्यघाताद्यै साख्याना सप्तधानुमा।"–न्यायवा० ता० पृ० १६५। नयचक्रवृ० पृ० ४२४ A। लघी० ता० पृ० ३४। (४) साख्यकल्पितहेतोरपि। (५) "प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धे, सति वस्तुनि तस्या असभवात्, अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात्। (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा सशयहेतु प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धेरिति।"–न्यायबि० पृ० ५९। वादन्याय पृ० १८। "अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धे सशयहेतुतयाऽगमकत्वादिति भाव।"–वादन्यायटी० पृ० १९। हेतुबि० टी० पृ० १६२ A। (६) "विदुर्जानन्ति, के? लौकिका। अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य, तेन लौकिका गोपालादयोऽपि किं पुन परीक्षका इत्यर्थ। कम्? अभावम् असत्ताम्, कस्य? अदृश्यपरचित्तादे परेषामातुराणा चित्त चैतन्यमादिर्यस्यासौ परचित्तादि, अदृश्यश्चासौ परिचित्तादिश्च स तथोक्तस्तस्य। आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिप्रभृतिर्गृह्यते यस्य सूक्ष्मस्वभाव। कुत? तदित्यादि, तस्य परचित्तादे कार्यभूतोऽविनाभावी आकार उष्णस्पर्शादिलक्षण तस्य विकारोऽन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनविशेषारोग्यादे तस्यानुपपत्तित असभवात्।"–लघी० ता० पृ० ३४। (७) "अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तम्, परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्ते सस्कर्तॄणा पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२। लघी० ता० पृ० ३५।

1 प्रतिकृतिवि–श्र०। 2–प्यर्थान्तरविशेषाभावात् श्र०।

परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः[1] **तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।**

कारिकार्थः—

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिपरिग्रहः, तस्याऽ**भावं लौकिका विदुः ।** कुत इत्यत्राह–**'तदाकार'** इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना सहभावी शरीरगत उष्णस्पर्शादिलक्षण आकारः **तदाकारः** तस्य **विकारः** अन्यथाभाव **आदिर्यस्य** वचनविशेषस्य तस्य **अन्यथानुपपत्तितः ।**

अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापारः न भावरूपाणां प्रत्यक्षादीनामिति अभावस्य प्रथक् प्रामाण्यवादिनो मीमांसकस्य पूर्वपक्षः –

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापारः, परचित्ताभावश्च अभावः तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेद्यः । तच्च[1] अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्, तद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भिन्नविषयत्वात्[2] भिन्नफलसाधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वादिविशेषणविशिष्टं तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतञ्चेदम्, तस्मात् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम्; तथाहि–इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपायाः प्रत्यक्षादिसामग्रीतः[3] तावदभावप्रमाणं नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन सह इन्द्रियाणां सन्निकर्षाभावात् । न हि तत्र तेषां संयोगलक्षणः सन्निकर्षः संभवति[3]; अभावस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षणः, द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात्[4] । तयोरभावे[5] च तत्प्रभेदः संयुक्तसमवायादिः दूरादपास्तः । संयुक्तविशेषणभावोऽप्यसंभाव्यः[6][4][5]; घटाभावस्य भूप्रदेशविशेषणत्वाभावात् । विशेषणं हि संयुक्तं समवेतं वा भवति यथा दण्डो गुणादिश्च, न चाभावः क्वचित् संयुक्तः समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च–

"न[7] तावदिन्द्रियैरेषा[8] नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धो[8] योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि[9] ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८]

(१) "अभावोऽपि प्रमाणाभाव नास्तीत्यर्थस्यासन्निकृष्टस्य"–शाबरभा० १।१।५। (२) "अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते। प्रमाणामभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥"–मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५४। (३) द्रव्यद्रव्ययोश्च सयोगात्। (४) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामेव च समवायित्वम् । (५) सयोगसमवाययो । (६) चक्षु सयुक्त भूतल तद्विशेषणश्चाभाव इति । "मा भूत् सयोगत, सयुक्तविशेषणत्वाद् गह्यतामिति चेत्, न, असति सम्वन्धे विशेषणत्वायोगात् । अस्त्येव सम्वन्ध इति चेत्, कोऽसौ ? न तावत्सयोग, अद्रव्यत्वात् । न समवाय, तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा सयुक्तसमवायादेव ग्रहणात् तद्विशेषणत्वमवक्तव्य स्यात् । तन्न तावद् भवतामस्ति सन्निकर्ष अस्माक तु अस्ति सयुक्तसमवाय । तथापि तु नैन्द्रियकत्वमित्यत्रैव वक्ष्याम ।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ०४७९ (७) "न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मति"–मी० श्लो०। (८) 'संयोगो'–मी० श्लो०। सन्मति० टी० पृ० ५८०। प्रमाणमी० पृ० ९। (९) उद्धृतोऽयम्–

1–सिद्धिपरी–ज० वि०। 2 'भिन्नविषयत्वात्' नास्ति व०। 3 प्रत्यक्षस्तत्साम–व०। 4–विशेषणीभावो श्र०। 5–भाव्यो यथा घटा–व०।

यदि नेन्द्रियादिसामग्रीतस्तदुत्पद्यते, कुतस्तर्हि तदुत्पद्येत इति चेत् ? उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेध्यार्थानुपलब्धि-भूतलाद्याश्रयोपलब्धि-प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षण-सामग्रीविशेषात्।

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

इति तल्लक्षणसामग्रीतस्तदुत्पत्तिश्च तदन्यतमस्याप्यपाये तदनुपपत्तेः सुप्रसिद्धा। यदि हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाद्याश्रयोपलब्धावपि अभावप्रतीतिर्न स्यात्। यदि च भूतलाद्याश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा भूतलाद्यवच्छेदेन घटाद्यभावप्रतीतिर्न स्यात्। नहि अज्ञातस्य विशेषणत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात्। न च सामान्येन घटाद्यभावप्रतीतिरुपजायते, किन्तु भूतले। तथा, यदि प्रतियोगिस्मरणं न स्यात् तर्हि 'नास्ति' इत्येवंरूपा प्रतीतिः स्यात् नतु 'घटो नास्ति' इति। अतः सिद्धं प्रत्यक्षसामग्रीतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमभावप्रमाणस्य।

तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि, तस्य हि सामग्री लिङ्गादिलक्षणा, न च अभावेना-

---

सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ B। प्रमेक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५८०। जैनतर्कवा० पृ० ७८। न्यायाव० टी० पृ० २२। स्या० र० पृ० २८०। प्रमाणमी० पृ० ९।

(१) भूतलाद्याश्रयलक्षणम्। (२) यस्याभावः क्रियते स प्रतियोगी यथा घटाभावे घटः। (३) उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२। न्यायम० पृ० ५०। बृहदा० वा० पृ० ८८५। सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ B। प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० २३, २७६। न्यायाव० टी० पृ० २२। न्यायवि० वि० पृ० ४८८ A। स्या० र० पृ० २८०। प्रमेयर० पृ० ६९। रत्नाकराव० २।१। विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३। प्रमाणमी० पृ० ९। जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९२। प्रभाकरवि० पृ० ५८। प्रमेयरत्नको० पृ० ५८। (४) 'सात्मनः परिणामः'–मी० श्लो०। "तामेव द्विधा विभजते सेति। योऽयमात्मनो घटादिविषयः प्रत्यक्षादिज्ञानस्वरूपः परिणामः तदभावमात्रमेवानुत्पत्तिरभावः इति बोध्यते। तच्च घटाद्यभावविषयं नास्ति, बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाणं नास्ति इति।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५। "सा प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः निषेध्याभिमतघटादिपदार्थज्ञानरूपेणापरिणतः सोऽस्यावस्थ्यमात्मद्रव्यमुच्यते, घटादिविविक्तभूतलज्ञानं वा"–तत्त्वसं० प० पृ० ४७१। आत्मनः स्वरूपस्यापरिणामः इति प्रसज्य इति प्रतिषेधः–आ० टि०। (५) पर्युदासः–आ० टि०। भूतलादिवस्तुन्याश्रयभूते। उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२। 'इष्यते'–तत्त्वसं० का० १६४९। प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५८०। स्या० र० पृ० २७८। षड्द० बृह० पृ० १२० A। रत्नाकराव० २।१। बृहत्सर्व० पृ० १५२। (६) अभावोत्पत्तिश्च। (७) प्रतिषेध्यानुपलब्धि-आश्रयोपलब्धि-प्रतियोगिस्मरणेष्वन्यतमस्य। (८) इह भूतले घटाभाव इति प्रतिनियतदेशतया। (९) भूतलस्य (१०) "न चाप्यस्यानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते। भावांशो ननु लिङ्गं स्यात्तदानीं नाजिघृक्षणात्॥"–मी० श्लो० पृ० ४८४।

1–लब्धिप्रतिषेधध्यभूतला–श्र०। 2–त्वा तत्प्रति–आ०, ब०।

ऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । [1]अनुपलब्धिरस्तीति चेत्, नन्वसौ गृहीतव्याप्तिका, अगृहीतव्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत्? न तावदगृहीतव्याप्तिका, अतिप्रसङ्गात्। नापि गृहीतव्याप्तिका; यतो व्याप्तिग्रहणं धूमाग्निवद् उभ[2]यधर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च कुतः अभावाख्यधर्मग्रहणम्—अत एव अनुमानात्, तदन्तराद्वा? यदि अत एव; अन्योन्याश्रयः; तथा[1]हि—अतोऽनुमानादभावसिद्धौ अनुपलब्धेरभावेन अविनाभावित्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ चा[2]ऽतोऽनुमानादभावसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तत्सिद्धौ चा[3]ऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्याख्यं[4] लिङ्गमपि उपलब्ध्यभावस्वभावम्, अतः तत्स्वरूपप्रतिपत्तावपि उक्तदोषानुषङ्गः । अनुपलब्धेरग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्योः अविनाभावप्रतिपत्तिरतिदुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीसमुत्थता; प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाणसामग्र्याः अर्थापत्त्यादिसामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-शब्दादिलक्षणायाः सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षादिभ्यो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम् ।

नापि भिन्नविषयत्वम्[3]; तथाहि—'इह भूतले घटो नास्ति' इति प्रत्ययः न तावद् भावविषयः, [4]तद्वैलक्षण्येन प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषयः, भूतलम्, तत्संसर्गो वा? प्रथमपक्षे सति घटे घटसत्ताप्रत्ययवत् अभावप्रत्ययोऽपि स्याद् [5]आलम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु[6] सघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्गः वि[5]षयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्संसर्गः; घटसंयुक्तेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविविक्तं भूतलम् [7]अस्य विषयः; ननु [8]तद्विविक्त्यं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, †तद्व्यतिरिक्तं वा? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्;† तर्हि विद्यमानेऽपि घटे [9]तत्प्रत्ययप्रसङ्गः । अथ 'तद्व्यतिरिक्तम्; तर्हि नाममात्रं भिद्यते नार्थः, वि[6]विक्तताशब्देन अभावस्यैव अभिधानात् । अतः सिद्धो भावादर्थान्तरम् अभावप्रमाणस्यैव परिच्छेद्योऽभावः, प्रत्यक्षादीनां भावविषयतया अभावगोचरचारित्वाभावात् ।

---

(१) "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिग भविष्यति । न चानवगत लिङ्ग गृह्यते चेदसावपि । अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना ॥ स चान्येन ग्रहीतव्यो गृहीते हि लिङ्गता । तद्गृहीतिर्हि लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता ॥ लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यत । क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्व लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥" –मी० श्लो० पृ० ४८६–८८ । शास्त्रदी० पृ० ३३५ । (२) साध्यसाधनरूपोभयधर्म–आ० टि० । (३) असिद्धम्–आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविलक्षणतया । (५) विषयभूतस्य घटस्य । (६) "न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात्" –शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (७) घटो नास्तीतिप्रत्ययस्य । (८) "कोऽय घटविवेक ? यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्ग । घटसयोगाभावश्चेत्, अङ्गीकृतस्तर्हि अभाव ।'–शास्त्रदी० पृ० ३२७ । (९) नास्तीतिप्रत्यय ।

1–हि अनुमा–आ० । 2 वाऽतो आ० । 3 वाऽन–आ० । 4–स्यलि–आ०, ब० । 5 विषयभूतलस्य ब० । विषयभूतस्य भूतस्य श्र० । †एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 6 विविक्तशब्देन आ० ।

यदि चाभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टः परिच्छिद्येत ? यदा हि केनचिद् अपवरकः स्वरूपेण गृहीतः जिज्ञासाऽभावाद् 'देवदत्तोऽत्र नास्ति' इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदेशमसौ गतः, यदा केनचित्पृष्टः 'किं तत्र देवदत्त आसीन्न वा' इति ? प्रतिवचनञ्चासौ तदैव तद्देशमनुस्मृत्य देवदत्ताभावं प्रतिपद्य प्रयच्छति 'नासीत्' इति । नहि तत्र इन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसंभवः ? ततो न प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभाव ।

नाप्यनुमानादिपरिच्छेद्यः, तदविनाभाविनो लिङ्गादेरसंभवात् । अनुपलब्ध्यादेश्च तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव कृतोत्तरत्वात् । अतः पारिशेष्याद् अभावप्रमाणगोचर एव अभाव इति नासिद्धं भिन्नविषयत्वम् । उक्तञ्च–

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

नापि भिन्नफलसाधकत्वम्, अभावावगतिलक्षणफलस्य अभावप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः । अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य प्रतिपेध्याधारग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य नञर्थविषयस्य नञर्थसंवित्तिफलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

---

(१) "स्वरूपमात्रं दृष्ट्वाऽपि पश्चात्किञ्चित्स्मरन्नपि । तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते ॥ यदा हि कश्चित् प्रातःकाले कञ्चिद्देशमध्यासीनस्तत्र व्याघ्रादिकमदृष्ट्वा तदस्मरणाच्च तदभावमप्यगृहीत्वा देशमात्रं दृष्ट्वा देशान्तरगतो मध्यन्दिने पृच्छ्यते 'कश्चित्तस्मिन्देशे प्रातःकाले व्याघ्रो गजः सिंहः पार्थिवो वा समागतः ?' इति । स तदा तं देशमवगतत्वात्स्मरन्नपि तत्र देशेऽन्येषां व्याघ्रादीनामभावं प्रागगृहीतं तदैव गृह्णाति । न च मध्यन्दिने समये प्रातःकालिकस्याभावस्यानिन्द्रियसन्निकृष्टस्य सम्भवति प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, तस्येन्द्रियसन्निकृष्टवर्तमानविषयत्वात् ।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४८३ । शास्त्रदी० पृ० ३३९ । (२) उत्तरम् । (३) देवदत्ताभावे । (४) "नाप्यनुमेयः, अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धग्रहणासंभवात् ।" –शास्त्रदी० पृ० ३४० । (५) "मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् । भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता । तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ॥ अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते । प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद् भावात्मकात् पृथक् ॥" –मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५, ४६, ५५ । (६) व्याख्या–"ओचक (उम्वेक) स्त्वेवं व्याख्यातवान् यत्र घटाख्ये वस्तुनि प्रत्यक्षादि सद्भावग्राहकं नोपजायते तस्य नास्तिता भूप्रदेशाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया"–स्या० र० पृ० २७९। "तत्र सदसद्रूपेणोभयात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूपे वस्त्वंशेऽसद्रूपाख्ये प्रमाणपञ्चकमर्थापत्तिपर्यन्तं न जायते । किमर्थम् ? वस्तुनः सत्तांशावबोधार्थम् । तत्र अभावांशे प्रमेये अभावस्य प्रमाणता ।" –तत्त्वसं० प० पृ० ४७० । उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । हेतुबि० टी० पृ० १९० A । तत्त्वसं० का० १६४८ । षड्द० श्लो० ७६ । प्रमेयक० पृ० १८९ । सन्मति० टी० पृ० ५८० । नन्दि० मलय० पृ० २५ । स्या० र० पृ० २७९ । 'वस्त्वसत्तावबोधार्थं'–षड्द० श्लो० ५०, बृह० पृ० १२० A, । प्रमेयर० पृ० १३९ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३ । चित्सु० पृ० २६८ । बृहत्सर्व० पृ० १६५ । नन्दि० मलय० पृ० २५ । (७) असिद्धमित्यत्रापि योज्यम्–आ० टि० । (८) प्रतिपेध्यो घट तस्याधारो भूतलादि (९) प्रतियोगिस्मरणम् प्रतियोग्यनुपलब्धिश्च ग्राह्या ।

---

1 –च हि तद्दे –श्र० । 2 –देव सिद्धेः श्र० ।

न च अवस्तुविषयत्वादस्य[1] अप्रामाण्यम्; अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्तेः। यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भावः, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति। अवस्तुत्वे चास्य[2] भेदो दुर्घटः, यदवस्तु न तस्य भेदः यथा खपुष्पादेः, अस्ति च प्रागभावादिभेदोऽभावस्य इति। तदवस्तुत्वे च अर्थानां [3]साङ्कर्यं स्यात्, दध्यादेः क्षीराद्यवस्थायां प्रागभावादेरवस्तुतयाऽसाङ्कर्याऽहेतुत्वात्, तथा च प्रतिनियतव्यवहारवार्त्तोच्छेदः स्यादिति। तदुक्तम्–

"[4]न च स्याद्व्यवहारोऽयं [5]कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते॥
[6]यद्वाऽ[7]नुवृत्तिर्व्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्। तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्॥
[8]न चावस्तुन एते स्युः भेदाः [9]ते[10]नास्य वस्तुता। कार्यादीनामभावः को [11]भावो यः कारणादितः(ना)॥
[12]वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च [13]तत्प्रामाण्यं समाश्रिता। [14]क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्। गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते॥

---

(१) अभावस्य। (२) अभावस्य। (३) परस्परात्मत्वम्। (४) व्याख्या–"यत् खलु दधिरूप प्रागभूत्वा भवति तदुपादेय कार्यम्, यच्च प्रागवस्थित क्षीररूप पश्चान्न भवति तदुपादानकारणम्, सोऽय कार्यकारणविभाग। तथा गौरश्वो न भवति, अश्वो न भवति गौ, विषाणशून्य शश इत्यादि व्यवहारोऽसत्यभावस्य प्रागभावादिरूपभेदे नोपपद्यत इति।"–**मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७४।** (५) कार्यस्य प्रागभाव कारणम्–**आ० टि०।** (६) व्याख्या–"अस्ति ह्यभावस्य प्रागभावादिरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति। तत्रैव हेत्वन्तरमाह प्रमेयेति"–**मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५।** "अभावो वस्तु इति पक्ष, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति हेतुद्वय गवादिवदिति दृष्टान्त।"–**तत्त्वस० प० पृ० ४७३।** (७) अभाव इति–**आ० टि०।** (८) प्रागभावादि–**आ० टि०।** (९) व्याख्या–"न ह्यवस्तुनो भेदो युक्त वस्त्वधिष्ठानत्वात्तस्य तस्मादभावो वस्तु। कीदृशं पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह–कार्यादीनामिति। क्षीरादे कारणस्य यो भाव स एव दध्यादे कार्यस्याभाव, कार्यस्य दध्यादेर्यो भाव स एव क्षीरादे कारणस्याभाव इत्येतदभाववस्तुत्वम्।"–**तत्त्वस० पं० पृ०४७३।** (१०) भेदवत्त्वेन। (११) 'को योऽभाव कारणादिन'–**मी० श्लो०।** 'स यो भाव कारणादिना'–**तत्त्वसं०।** 'को भावो य कारणादि न'–**सन्मति० टी०।** 'को भावो य कारणादिन'–**स्या० र०।** 'को भावो य कारणादिना'–**षड्द० बृह०।** (१२) व्याख्या–"प्रत्यक्षादिभि सद्रूपेण प्रमीयमाणमपि घटादिकमसद्रूपेण अभावस्य प्रमेयम्, असंकरोऽसद्रूपमभाव इति यावत्।"–**मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७३।** (१३) 'तत्प्रामाण्यसमाश्रया'–**मी० श्लो०।** (१४) व्याख्या–"क्षीरमृदादौ कारणे दधिघटादिलक्षण कार्य नास्तीत्येव यत्प्रतीयते लोके स प्रागभाव उच्यते। यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादौ दध्यादि कार्य भवेदेव। एव दध्नि क्षीराख्यस्य यन्नास्तित्वमय प्रध्वसाभाव, अन्यथा दध्नि क्षीर भवेदेव। गवादौ अश्वादेरभावोऽन्योन्याभाव उच्यते। यस्मात्तस्य गवादे पररूपमश्वादिस्वभावो नास्ति तस्मात्तयोरन्योन्याभाव उच्यते। अन्यथा गवादौ भवेदश्वादि यद्यन्योन्याभावो न भवेत्। शशशिरसोऽवयवा निम्ना (अनुन्नता) वृद्धिकाठिन्याभ्या रहिता विषाणादिरूपेण अत्यन्तमसन्त अत्यन्ताभाव उच्यते। यदि त्वत्यन्ताभावो न भवेत् शशे शृङ्ग भवेदेव।"–**तत्त्वसं० प० पृ० ४७२।** उद्धृतोऽयम्–**न्यायमं० पृ० ६५। हेतुबि० टी० पृ० ८१ B.।**

1–वस्तुतत्तयासांकर्यहेतुत्वात् व०। 2 **उक्तञ्च** श्र०।

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः । शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥
क्षीरे दधि भवेदेव दध्नि क्षीरं घटे पटः । शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्त्तिरात्मनि ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह । व्योम्नि संस्पर्श(र्शि)ता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७, ९, ८, २-६ ।] इति ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरम् अभावस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणान्तर्भावसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'अभावप्रमाणं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; तद्विषयस्य प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमानतया तस्य ततो भेदानुपपत्तेः । द्विविधो हि अभावः—विप्रकृष्टार्थसम्बन्धी, अविप्रकृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः स प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते, इन्द्रियव्यापारादनन्तरम् 'अघटं भूतलम्' इत्यादिप्रत्ययप्रतीतेः । अप्रत्यक्षत्वञ्च अभावस्य इन्द्रियेणाऽसम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात्, असद्रूपत्वाद्वा? न तावदसम्बद्धत्वात्, रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उन्नता अथ च वृद्धिमन्तः कठिना अवयवा विषाणत्वेन व्यपदिश्यन्ते, यदा च शशशिरसोऽवयवा निम्ना अनुन्नता अथ च वृद्धिकाठिन्यविरहिता तदा त एव शृङ्गाभावरूपेण व्यपदेशार्हाः । (२) रसगन्धौ । (३) सम्पर्शिणो भावः सम्पर्शिता स्पर्श इत्यर्थः । 'सम्पर्शकास्ते च'—तत्त्वस०, स्या० र० । 'सम्पर्शना ते च' —सन्मति० टी० । (४) रूपरसगन्धा —आ० टि० । (५) अभावस्य । (६) एतेऽष्टावपि श्लोकाः निम्नग्रन्थेषु उद्धृताः—तत्त्वस०, तत्त्वस० प० पृ० ४७१–४७३ । प्रमेयक० पृ० १९० । सन्मति० टी० पृ० ५८०–८१ । षड्द० बृह० पृ० १२० B । 'न च स्याद्व्य' इति श्लोकं विना सप्त श्लोकाः—स्या० र० पृ० २८१–८३ । (७) पृ० ४६३ प० ८ । "अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।"—प्रश० भा० पृ० ५७७ । (८) तुलना—"प्रत्यक्षादिनैवाभावस्य प्रतीतेः, तथा चाक्षव्यापारादिह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमपरोक्षमुत्पद्यमानं दृष्टम्" —प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । प्रश० कन्द० पृ० २२६ । "शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।"—न्यायसू० २।२।२ । "अभावोऽप्यनुमानमेव"—न्यायवा० पृ० २७६ । "सत्यमभावः प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमानस्वरूपत्वात् प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छित्तये मृगयते । अदूरमेदिनीदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा । परिच्छेदः परोक्षस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि ॥"—न्यायम० पृ० ५१ । "अन्यस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्योपलब्ध्या घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धिः । एतदुक्तम्भवति—घटग्राहकत्वस्य भूतलग्राहकत्वस्य चैकज्ञानसंसर्गित्वात् यदा भूतलग्राहकमेव तज्ज्ञानं भवति तदा घटग्राहकत्वाभावं निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्यक्षसिद्धैव घटानुपलब्धिः ।"—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । "यदि वस्तु प्रमाभावः मेयाभावस्तथैव च । प्रत्यक्षेऽन्तर्गतोऽभावः तथा सति कथन्न ते ॥"—तत्त्वस० पृ० ४७५ । "भावांशवदितरस्यापि प्रत्यक्ष एव" —सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ A । "एवञ्चाभावप्रमाणवैयर्थ्यम् असदंशस्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्यत्वसिद्धेः ।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । "अभावप्रमाणं तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवति" —स्या० र० पृ० ३१० । न्यायाव० टी० टि० पृ० २१ । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षादेः—आ० टि० । (११) "न चाभावस्यासत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्व्यवसीयमानत्वात्, तथाहि—इह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमिन्द्रियभावव्यतिरेकानुविधानादिन्द्रियजम् ।" —प्रश० व्यो० पृ० ४०० ।

1–तामेव न ब० । 2–दस्त्यप्र–ब० । 3 विप्रकृष्टोऽर्थसम्बन्धी चेति ब० । 4–सम्बन्धाभाव आ० । 5–सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य असम्बद्धस्य ग्रहणं तथा अभावस्यापि। ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्त्तिनोऽपि[1] ग्रहणप्रसङ्गः[2] अविशेषात्; इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम्। नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्त्तिनो ग्रहणं दृष्टम्। अथ रूपे चक्षुषः संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावादसम्बद्धत्वमसिद्धम्; तन्न, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वस्य प्रागेव[3] प्रतिपादनात्। तत्सम्बन्धात्[4] तस्य[5] तेन[6] ग्रहणे च रसादेरपि ग्रहणप्रसक्तिः तदविशेषात्[7]। अयोग्यत्वात्तदग्रहणे[8] देशान्तरादिस्थस्य अभावस्याप्यत[9] एवाग्रहणमस्तु अविशेषात्।

किञ्च, आश्रयग्रहणसापेक्षम्[10] अभावग्रहणम्, आश्रयश्च[11] सन्निहित एव गृह्यते, तत्कथं देशान्तरादिस्थस्य अभावस्य ग्रहणसम्भावनाऽपि? तन्नेन्द्रियेणासम्बद्धत्वादस्य[12] अप्रत्यक्षता युक्ता।

नाप्यरूपित्वात्; तस्य[13] प्रत्यक्षतां प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्व[2] प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्, परमाणूनां रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात्। गुण-कर्म-सामान्येन अनेकान्ताच्च; न खलु रूपादिगुणस्य गमनादिकर्मणः गोत्वादिसामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षतां प्रतिहन्ति; असद्रूपस्य हि सद्रूपतया प्रत्यक्षत्वमनुपपन्नं न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थानां प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात्। नहि घटस्य पटात्मना प्रत्यक्षत्वविरोधे स्वात्मनापि तद्विरोधो[14] युक्तः, सर्वत्र प्रत्यक्षव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। ततस्तम्[15]मिच्छता भाववद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम्। ननु तथापि अभावस्य कथं प्रत्यक्षता विरोधादिति[16] चेत्? भावस्य कथम्? प्रत्यक्षग्राह्यत्वाच्चेत्; इतरत्र[17] समानम्। तथाहि–उन्मीलिते चक्षुषि भूतलं घटाभावश्च प्रतिभासते, न निमीलिते। अतः समाने तद्भावभावित्वे[18] कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्षं न घटाभाव[3]ज्ञानमिति नियमविभागो युक्तः? प्रयोगः–यच्चक्षुर्भावाऽभावानुविधायि तत् प्रत्यक्षम् यथा भूतलादिज्ञानम्, तदनुविधायि च घटाद्यभावज्ञानमिति। अप्रत्यक्षत्वे चास्य[19] आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारकत्वेन प्रसिद्धः[4]। तदुपकृत[20]चक्षुःप्रभवत्वानभ्युपगमे च घटाद्यभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्तिः स्यात्।

(१) अभावस्य। (२) असम्बद्धत्वस्य समानत्वात्। (३) पृ० ७७। (४) सयुक्तसमवायसम्बन्धात्। (५) रूपस्य–आ० टि०। (६) इन्द्रियेण–आ० टि०। (७) सयुक्तसमवायाविशेषात् 'चक्षु सयुक्तमामादिक तत्र च रसस्य समवायात्। (८) रसस्याग्रहणे। (९) अयोग्यत्वादेव। (१०) तुलना–"नचासम्बद्धत्वाविशेषाद्देशान्तरादिषु सर्वाभावग्रहणमाशङ्कनीयम्, आश्रयग्रहणसापेक्षत्वादभावप्रतीते, आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षत्वात्।"–न्यायमं० पृ० ५२। (११) आश्रयो भूतलादि। (१२) अभावस्य। (१३) रूपित्वस्य। (१४) प्रत्यक्षत्वविरोध। (१५) प्रत्यक्षव्यवहारम्। (१६) प्रत्यक्षश्चेत् कथमभाव, अभावश्चेत् कथ प्रत्यक्ष इति विरोध.। (१७) अभावेऽपि। (१८) चक्षु–आ० टि०। (१९) घटाद्यभावज्ञानस्य। (२०) आलोकसहकृत।

1 तस्य तत्र प्र–श्र०। 2 रूपत्वं श्र०। 3 घटभाव–ब०। 4 प्रतिसिद्धः ब०।

नन्वघटाद्यभावज्ञाने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धम् रूपज्ञानानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनवत्, यथैव हि दूरदेशस्थितज्वलज्ज्वलनज्वालारूपोपलम्भानन्तरभाविनि तद्गतोष्णस्पर्शसंवेदने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धं तथा भूतलोपलम्भानन्तरभाविनि घटाद्यभावज्ञानेऽपि, इत्यप्यसाम्प्रतम्; 'इह भूतले घटो नास्ति' इति ज्ञानस्य भेदाऽसिद्धेः। सिद्धे हि ज्ञानभेदे तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य अन्यथासिद्धत्वं वक्तुं युक्तम् रूपस्पर्शज्ञानवत्। न चात्र तद्भेदोऽस्ति, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिज्ञानवत् 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिज्ञानस्यापि एकस्य उभयांशावलम्बिनः अनुपरतनयनव्यापारे प्रतिपत्तरि प्रतीतेः। अस्तु वा तद्भेदः, तथापि इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन उभयस्योपलम्भाऽविशेषे कथमेकस्य प्रत्यक्षत्वमन्यस्याऽप्रत्यक्षत्वं वक्तुं युक्तं स्वेच्छाकारित्वप्रसङ्गात्?

प्रतियोगिस्मरणानन्तरभावित्वात् घटाद्यभावप्रतीतेरप्रत्यक्षत्वे सविकल्पकप्रत्यक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः। तद्धि निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं शब्दार्थसम्बन्धस्मरणे सति 'घटोयम्' इत्याद्याकारमुपजायते। तथाविधस्याप्यस्य इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायितया प्रत्यक्षत्वे घटाद्यभावप्रत्ययस्यापि तदस्तु अविशेषात्। न चैवं रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनेऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गः इत्यभिधातव्यम्, स्पर्शग्रहणयोग्यताशून्यत्वाच्चक्षुषः स्पर्शनस्यैव तद्ग्रहणयोग्यतासद्भावात्, अन्यथा उपहतत्वगिन्द्रियस्यापि

(१) अनुमया –आ० टि०। "अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धम्"–मुक्ता० का० १९–२०। तुलना–"न च दूरव्यवस्थितहुतवहरूपदर्शनपूर्वकस्पर्शानुमानवदिदमन्यथासिद्धं तद्भावभावित्वम्; तत्र हि बहुशः स्पर्शदर्शनकौशलशून्यत्वमवधारितं चक्षुषः, स्पर्शपरिच्छेदि च राशान्तरं त्वगिन्द्रियमवगतम्। अविनाभाविना च पुरा तथाविधयो रूपस्पर्शयोरुपलब्धेत्यनुमेय एवासौ स्पर्श इति युक्तं तत्रान्यथासिद्धत्वं चक्षुर्व्यापारस्य, प्रकृते तु नेदृशः प्रकारः समस्ति।"–न्यायमं० पृ० ५१। 'यत्तु भूप्रदेशग्रहणजन्मन्येव अक्षाणामुपयोगित्वादक्षापेक्षित्वमन्यथासिद्धमभावज्ञानस्येत्युक्तम्; तदयुक्तम्, न खलु ज्ञानद्वयं क्रमेणोत्पद्यमानमिदमनुभूयते प्रथममिन्द्रियजं भूप्रदेशज्ञानं ततः प्रतियोगिस्मरणे सति मानसमिन्द्रियानपेक्षं नास्तिताज्ञानं च। एकस्यैव कुम्भादिविविक्तभूप्रदेशग्राहिणो ज्ञानस्याभावग्राहित्वेनाप्यनुभूयमानत्वात्, तस्य चेन्द्रियजन्यत्वेन त्वयापि प्रतिपन्नत्वान्नान्यथासिद्धमक्षापेक्षित्वमभावज्ञानस्य।'–स्या० र० पृ० ३१०। (२) इन्द्रिय। (३) इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र। तुलना–"तथा चेह घटो नास्तीति ज्ञानमेकमेवेदमिह कुण्डे दधीति ज्ञानवद् उभयालम्बनमनुपरतनयनव्यापारस्य भवति, तत्र भूप्रदेशमात्र एव नयनजं ज्ञानमितरत्र प्रमाणान्तरजमिति दुरन्तोऽयं विभागः।"–न्यायमं० पृ० ५१। (४) भूतलघटाभावौ उभयम्। (५) ज्ञानभेदः। (६) भूतलघटाभावौ उभयम्। (७) ज्ञानस्य। (८) घटाभावस्य। (९) घटस्मरण। (१०) वैशेषिकाद्यभिमताय–आ० टि०। (११) सविकल्पकम्–आ० टि०। (१२) स्मरणानन्तरभाविनोऽपि सविकल्पकस्य। (१३) प्रत्यक्षत्वम्। (१४) इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानस्य समानत्वात्। (१५) स्पर्शग्रहण। (१६) चक्षुषा स्पर्शग्रहणं सति–आ० टि०। (१७) उपहतत्वगिन्द्रियस्यापि–आ० टि०। पक्षाघातादिना शून्यस्पर्शनेन्द्रियस्य पुंसः।

1 –न्वयव्यतिरेका– ब०। 2 तदा श्र०। 3 ज्ञानस्यास्य भे– श्र०। 4 ज्ञानस्य भे– श्र०। 5 प्रतिपत्ति प्र– भा०, श्र०। 6 –प्रत्यक्षस्यापि श्र०।

स्पर्शसंवित्तिः स्यात्। तस्मादानुमानिकमेव इदं[1] विज्ञानं 'यद्[2] रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि वा, यदेवं[3]विधरूपवत् तदेवंविधस्पर्शवत्' इति सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्तेः, यदित्थमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तदग्निमत्, यद्वा यदेवंविधधूमवत् तदेवंविधाग्निमत्' इत्याद्य[4]वगताविनाभावहेतुप्रभवं विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शविज्ञानमिति। ततः स्थितमेतत्–देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यत इति।

यस्तु[5] देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः सोऽनुमानादेः; तत्र देशविप्रकृष्टस्य कमलाकरकमलादेः सम्बन्धी विकासाद्यभावः दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते। कालविप्रकृष्टस्य च शकटादेः[6] मुहूर्त्तान्ते[1] उदयाभाव. अश्विन्युदयात् प्रतीयते। स्वभावविप्रकृष्टस्य[2] च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभावः व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते। न खलु एवंविधाभावः एवंविधलिङ्गादन्यतः कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्य.।

एतेन यदुक्तम्[7]–'यद्यभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देवदत्ताद्यभावः परिच्छिद्येत[8]' इत्यादि; तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरके देवदत्तः' इत्यादिप्रतीतेः स्मृतित्वात् 'आसीत् तत्र घटः' इत्यादिप्रतीतिवत्। अपवरकग्राहिणा[4] हि प्रत्यक्षेण तत्राऽसन्निहिता[9]र्थानामभावा[5] युगपत्प्रतिपन्नाः तत्र[10] सन्निहितार्थसद्भाववत्। तदुत्तरकालञ्च संस्कारप्रबोधवशात् तद्भावाभाव[11]विषया प्रतीतिः उदयमासादयन्ती स्मृतित्वन्न जहातीति। न[12] चैतद् वक्तव्यम्–'सकृदनुभूतेषु सकलपदार्थाभावेषु

---

(१) रूपदर्शनान्तरभावि स्पर्शज्ञानम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात्। (२) इयं सामान्येन व्याप्तिः। (३) एषा विशेषतो व्याप्तिः। (४) सामान्यतो विशेषतश्च। (५) तुलना–"कश्चित्पुनरसन्निकृष्टदेशवृत्तिरनुमेयोऽपि भवत्यभाव यथा सन्तमसे सलिलधाराविसरसिक्तसस्यमूलमभिवर्षति देवे घनपवनसंयोगाभावोऽनुमीयते, यथा वाऽर्थापत्तावुदाहृत गृहभावेन चैत्रस्य बहिरभावकल्पनमिति। आगमादप्यभावस्य क्वचिद् भवति निश्चय। चौरादिनास्तिताज्ञानमध्वगानामिवाप्तत॥"–न्यायमं० पृ० ५४। (६) रोहिण्यादिनक्षत्रस्य। (७) पृ० ४६६ पं० १। (८) तुलना–"अस्य स्मरणत्वात्। यद्यपि पूर्वं हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पक ज्ञान नोत्पन्नं तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवकुले निर्विकल्पक ज्ञानमुत्पन्नम्। अन्यथा हि यदाह देवकुलमद्राक्ष न तदा त समीपवर्तिन हस्तिनमिति प्रश्नानन्तर स्मरण न स्यात्। तत्तु दृष्टम्। यस्य वस्तुन पूर्वं नाभाव परिच्छिन्नस्तत्र परप्रश्नानन्तर सशेते 'न निरीक्षित मया किं तत्र देवदत्तोस्त्युत हस्ती' इति। न चेदानीमभाव निश्चिनोति अत पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीतेर्युक्तमेतत् स्मरणं 'न मया तत्र हस्ती दृष्ट' इत्यादि।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९३। न्यायम० पृ० ५३। प्रश० कन्द० पृ० २२७। (९) देवदत्तादीनाम्। (१०) अपवरके। (११) येषामर्थाना सद्भाव तेषा सद्भावतया येषाञ्च देवदत्तादीनामभावस्तेषामभावरूपेण। (१२) तुलना–"ननु मेचकबुद्ध्या सकलाभावग्रहणे सहसैव सकलाभावस्मृतिरुप-

---

1 मुहूर्त्तान्ते श्र०। 2–स्य चै–श्र०। 3 परिच्छिद्यते श्र०, परिच्छेद्यते आ०। 4–हिणा प्र-आ०, श्र०। 5–नामभावो युगपत्प्रतिपत्तेः तत्र ब०।

सहसैव स्मृतिः स्यात्' इति, अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यकारणत्वात्, अनुभूतेष्वपि हि भावाभावस्वभावेषु निखिलार्थेषु यस्य यस्य संस्कारोद्बोधनिमित्ता प्रश्नादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृतिः प्रादुर्भवति 'इदं तत्रासीत्, इदं नासीत्' इति ।

यदपि-'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाद्याश्रयग्रहण[1]रूपा सामग्री' इत्याद्युक्त[1]म्, तदप्यसारम्, आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न खलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यक्षं भूतलग्रहणादृते घटते । न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति, अन्धकारे प्रदीपाभावप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेऽप्यु[2]पपत्तेः । न चान्धकार एव आश्रयः इत्यभिधातव्यम्; प्रकाशाभावमात्रतया भ[2]वता त[3]स्य इष्टेः, स[4] एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य त[5]द्व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्तत्र[6] ग्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीतिः आश्रयग्रहणनिरपेक्षैवोत्पद्यते, निमीलिताक्षस्या[3]पि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनन्तरं गन्धाभावप्रतीतिः उत्पद्यते । न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति, दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात् । तथा 'नास्ति शब्दः' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षाद्भवति अभावप्रतीतिः । न हि श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य आ[7]श्रयो ग्रहीतु शक्यः, तस्य अत्यन्तपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायात् । तन्नाश्रयग्रहणमभावप्रमाणसामग्र्यामनुप्रविशति ।

अनुप्रविशतु वा, त[8]थापि आ[9]श्रयस्य ग्रहण किं [10]निषेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ? [11]प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्-किम् अभावाक्रान्तस्य, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविशेषितयोः [12]आश्रयप्रतियोगिनोः ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयोः [13]तत्कारणत्वाभ्युपगमे 'अभावज्ञानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं[4] स्यात् । न च [14]स्वात्माश्रयस्य कस्यचित् सिद्धिर्युक्ता [15]अतिप्रसङ्गात् । चक्रकप्रङ्गश्च-अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्तौ[5] च [16]तद्विशेषितयोः आश्रयप्रतियोगिनोः प्रतिपत्तिः, तस्याञ्च सत्याम् अभाव-

---

जायेत, मैवम्, यत्रैव प्रश्नादि स्मरणकारणमस्य भवति तदेव स्मरति न सर्वम् अविद्यमानस्मरणनिमित्तम्। अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेष्वपि वर्णेषु युगपदन्त्यवर्णानुभवसमनन्तर स्मरणम् । अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेऽपि क्रमेण स्मरण भविष्यतीति न मेचकबुद्धावय दोष ।"-**न्यायम० पृ० ५३ ।**

(१) पृ० ४६४ प० २ (२) वैशेषिकेण (३) अन्धकारस्य । "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तम ।"-**वैशे० सू० ५।२।१९ ।** (४) प्रकाशाभाव एव । (५) प्रदीपाभावभिन्नस्य । (६) प्रदीपाभावप्रतिपत्तौ । (७) आकाशम् । (८) तुलना-"तत्र निषेध्याधारो वस्त्वन्तर प्रतियोगिससृष्ट वा प्रतीयते, अससृष्ट वा ? प्रतियोगिनोऽपि स्मरण वस्त्वन्तरससृष्टस्य अससृष्टस्य वा ?"-**प्रमेयक० पृ० २०३। सन्मति० टी० पृ० २४। जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९३। स्या० र० पृ० ३११।** (९) भूतलस्य (१०) घटाभावसहितस्य । (११) घटस्य । (१२) भूतलघटयो (१३) अभावप्रतीतिहेतुत्वे । (१४) स्वस्य स्वापेक्षया प्रतीतौ स्वात्माश्रयत्वम् । (१५) अग्नेरेव अग्निसिद्धिप्रसङ्गात् । तथा च सर्वं सर्वस्य सिद्ध्येत् (१६) अभावविशिष्टयो ।

1-**ग्रहणत्वारूपा** श्र० । 2-**प्युपपत्तेः** श्र० । 3-**पि घ्रा**-आ०, श्र० । 4-**क्त भवतिन** श्र० । 5-**त्तौ तद्वि**-आ०, ब० ।

प्रमाणोत्पत्तिरिति । अभावनिरपेक्षतया च आश्रये प्रतियोगिनि च गृह्यमाणे यद्यभावप्रतीतिः स्यात् तदा सघटेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रतीतिः स्याद् विशेषाभावात् । ततो यथोक्तसामग्र्या विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः चक्षुरादिसामग्रीत एव अभावप्रमाणस्य उत्पत्तिः स्वपरात्मना सदसद्रूपघटाद्यर्थविषयता चाभ्युपगन्तव्या । ननु परात्मना घटादेरसत्त्वं प्रतीयमानं[2] न स्वात्मतया प्रतिपन्नं स्यात्, यच्च स्वात्मतया न प्रतीयते कथं तत्तस्य रूपम् अतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; यतः परात्मनाऽपि प्रतीयमानमसत्त्वं घटादेरेव प्रतीयते नतु परस्य, 'घटो हि पटो न भवति' इत्येवं नञर्थः प्रतीयते, ननु[3] 'पटः पटो न भवति' इत्येवम् । अतः परात्मना प्रतीयमानोऽपि नञर्थः घटादेरेव प्रतीयते इति तस्यैव[1] तद्रूपेण[2] असत्त्वमिति[4] व्यपदिश्यते ।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'घटविविक्तत्वं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, यतः तद्विविक्तत्वं तद्धर्मतया[4] ततः[5] कथंञ्चिद् व्यतिरिक्तं पृच्छ्यते, पदार्थान्तरतया वा[6] ? तत्र तद्धर्मतयैव तत् कथञ्चिद्भिन्नमुपपन्नं न पुनः पदार्थान्तरतया । स्वहेतुतो[7] हि भावाः परस्परा[8]ऽसङ्कीर्णस्वभावविशिष्टाः समुत्पन्नाः, तद्विपरीता वा ? प्रथमविकल्पे सिद्धमेषां स्वकारणकलापादेव अन्या[9]ऽसंसृष्टस्वभावत्वम्, अतो वैयर्थ्यमर्थान्तरभूताभावपरिकल्पनायाः । यत् स्वरूपतो विविक्तस्वभावं न तत्र अर्थान्तरभूताऽभावपरिकल्पना फलवती यथा[10] प्रागभावादौ, स्वरूपतो विविक्त[5]स्वभावाश्च भावाः स्वहेतुतः समुत्पन्ना इति । द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः; स्वरूपतोऽविविक्तानामर्थानां व्यतिरिक्ताभावेन वैविक्त्यस्य[6][11] कर्तुमशक्यत्वात् । यत् स्वभावतो[7]ऽविविक्तस्वरूपम् न तत्र अर्थान्तरभूताभावेन विवेकः कर्तुं शक्यः यथा एकव्यक्तौ, स्वभावतोऽविविक्तस्वरूपाश्च परमते पदार्था इति ।

(१) घटस्यैव । (२) पटरूपेण (३) पृ० ४६५ प० २० । (४) घटधर्मतया । (५) घटात् । (६) द्विविधा हि विविक्तता–धर्मधर्मिरूपेण कथञ्चिद्विविक्तता यथा ज्ञानात्मनो , पदार्थान्तररूपेण सर्वथा यथा घटपटयो । (७) तुलना–"सर्वे हि भावा स्वस्वरूपस्थितयो नात्मान परेण मिश्रयन्ति तस्यापरत्वप्रसङ्गात् "–**प्रमाणवा० स्ववृ० १।४२ ।** "नाप्येषा परस्पराभिन्नानामभावेन भेद शक्यते कर्त्तुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभाव सभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेद क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्ते । नापि भेदव्यवहार क्रियते, यतो भावानामात्मात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेद , स च प्रत्यक्षप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतु ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ ।** "यत स्वकारणकलापात् स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावा समुत्पन्ना नात्मान परेण मिश्रयन्ति तस्याऽपरत्वप्रसङ्गात् ।"–**प्रमेयक० पृ० २०८ । सन्मति० टी० पृ० ५८८ । स्या० र० पृ० ५८१ ।** (८) अन्योन्यममिलितस्वरूपा भिन्ना इत्यर्थ । (९) भिन्नस्वभावत्वम् । (१०) प्रागभावे नास्ति प्रध्वसादिरित्यत्र । (११) भिन्नताया ।

1 इति स्या–ব০ । 2–मान स्वा–श्र० । 3 न तु पटो न ব০ । 4–स्त्वमित्येवं व्य–ব০ । 5–क्तभावाश्च श्र० । 6 विविक्तस्य ব০ । 7–तो विवि–ব০ ।

किञ्च, अभावं[1] विना भावानां विवेको[2]ऽसम्भवे कथमभावानाम[3]न्योन्यं भावान्तरा[4]च्च विवेकः स्यात् ? तत्रापि[5] तद्धेतो[6]रभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः। अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य[7] विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो[8] विवेकः, तर्हि वैयर्थ्यम् अर्थान्तरा[9]भावपरिकल्पनायाः, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो[10] व्यावृत्तिप्रसिद्धेः। तथाहि–घटादेः अन्यतो व्यावृत्तिः विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव[11], अन्यतो व्यावृत्तित्वात्, या अन्यतो व्यावृत्तिः सा विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादे[12]रिति।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावः तावन्न भिद्यते सर्वत्रैव अस्य[13] एकत्वेनाऽभ्युपगमात्। ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽभाव[14]निबन्धना। तत्र[15] हि इतरेतराभावः, अभावान्तरं वा निबन्धनं स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्, किं स एव, अन्यो वा ? न तावत् स एव, अतो[16] घटादेर्व्यावर्त्तमानत्वात्। यत्[17] यतो व्यावर्त्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्तिः यथा पटाद् व्यावर्त्तमानस्य घटस्य न पटा[18]देव व्यावृत्तिः, व्यावर्त्तते च इतरेतराभावाद् घट इति। इतरेतराभावान्तराभ्युपगमे च अस्य[19] एकत्वक्षतिः अनवस्था[20] च स्यात्। अथ अभावान्तर[21]मस्य[22] ततो[23] व्यावृत्तेर्निबन्धनम्, तन्न, इतरेतरव्यावृत्तेः अभावान्तरनिबन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽनर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदम्[24]तः प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरुपपत्तेः। अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः ?

(१) तुलना–"किञ्च भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वरूपेण भेदः, तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितेन।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६।** "यदि चेतरेतराभाववशात् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तेत तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादेः किं स्वतो व्यावर्त्तेत, अन्यतो वा ?"–**प्रमेयक० पृ० २०८। स्या० र० पृ० ५८१।** (२) भेदाभावे। (३) प्रागभावः प्रध्वंसाद् भिन्नः। (४) प्रागभावः घटादेर्भिन्नः इति। (५) अभावेष्वपि। (६) भेदहेतोः इतरेतराभावस्य। (७) अभावस्य। (८) भावाद् घटादेः अभावान्तराच्च प्रागभावादेः। (९) भिन्नाभावः। (१०) पटादेः। (११) घटो भूतलं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतराभावादेव (विलक्षणस्वभावादेव) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिर्न पुनरभावादिति भावः–**आ० टि०।** (१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव नाभावनिबन्धनैव–**आ० टि०।** (१३) इतरेतराभावस्य। (१४) द्वितीयाभावः। (१५) अभावनिबन्धनत्वे–**आ० टि०।** (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतराभावात्। (१७) घट-इतरेतराभावयोः व्यावृत्तिर्न तदितरेतराभावनिबन्धना तस्मादेव तस्य व्यावर्तमानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव–**आ० टि०।** (१९) इतरेतराभावस्य। "गव्यश्वाभावोऽश्वे च गोरभावः इतरेतराभावः, स च सर्वत्रैको नित्य एव पिण्डविनाशेऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात्। यथा सामान्यमदृष्टवशादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्ध्यते नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम्, तथेतरेतराभावोऽपि।"–**प्रश० कन्द० पृ० २३०।** (२०) द्वितीयेतरेतराभावस्य व्यावृत्त्यर्थम् तृतीयः इतरेतराभावः कल्पनीयः तद्व्यावृत्त्यर्थञ्च चतुर्थ इति। (२१) इतरेतराभावाद् भिन्नः कश्चित् प्रागभावादिरूपः अभावः अभावान्तरम्। (२२) घटस्य। (२३) इतरेतरतः–**आ० टि०।** (२४) प्रागभावः।

1 **व्यावृत्तमान**–आ०।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घटः[1] स्यात् । यस्य[1] यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति ।

यदपि–अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्[2], तदपि[3] वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यास्य[4] वस्तुत्वानुपपत्तेः । यत्[5] सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति । अस्तु वा अस्य वस्तुत्वम्; तथापि तत्[6] केन गृह्यताम्–किमभावाख्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भावः, अभावो वा ? यदि भावः, कथमभावग्राह्यः तस्य[7] तद्विष[8]-यत्वाऽनभ्युपगमात् ? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च । यत्[9] तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रयः यथा शशविषाणम्, तुच्छस्वभावश्च[2] परैः परिकल्पितोऽभाव इति । अथ अभावः, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे[3] नीलादावपि तस्य[10] अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्त्तोच्छेदः स्यात् । अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्[11]; तन्न, प्रमाणान्तराणामभावग्राहकत्वानभ्युपगमे तद्गत[12]वस्तुत्वग्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात् । तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते ।

नापि फलम्; अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात् । किञ्च, सिद्धे[5] स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता[6] । न च अस्य[13] तत्सिद्धम् । ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूपं प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतुं शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतः केयं तदनुत्पत्तिः[14]–किं निषेध्य[15]विषय[7]ज्ञान-रूपतया आत्मनोऽपरिणामः, अन्य[16]वस्तुविज्ञानं वा ? तत्र अपरिणामस्य[17] अभावस्व[8]-भावत्वात् कथं तथाविध[18][9]ज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात् ? कथं वा प्रामाण्यम् ? प्रमेयपरि-च्छेदकस्य हि प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छे-दकमतिप्रसङ्गात्[19] ? यत्[20] स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदकं यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्मादव्यावर्तमानत्वात् । (२) पृ० ४६७ पं० १ । (३) वस्तुत्वम् । (४) अभावस्य । (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात् । (६) वस्तुत्वम् । (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य । (८) अभावविषयत्व । (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्व-भावत्वात् । (१०) वस्तुत्वस्य । (११) वस्तुत्वम् । (१२) अभावगत । (१३) अभावस्य । (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति । (१५) निषेध्यो घटादि । (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु । (१७) तुलना–"नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणता । न युज्यते प्रमेयस्य सा हि सवित्तिलक्षणा ॥ यत्प्रमेयाधिगतिरूप न भवति न तत्प्रमाण यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिशून्यश्चाभाव इति व्यापकानु-पलब्धि ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४७८ । "यत प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात् कथ प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात् ।"–प्रमेयक० पृ० २०५ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । स्या० र० पृ० ३१० । (१८) 'अत्र घटो नास्ति' इत्याकारकज्ञानोत्पादने । (१९) खरविषाणादेरपि परिच्छेदक-त्वप्रसक्ति । (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात् ।

1 पट ब० । 2–श्च परि–ब० । 3 अभावस्वरू–श्र० । 4–ते तन्न श्र० । 5 सिद्धस्वरूपे ब० । 6 युक्तम् ब० । 7–विषयज्ञानतया ब० । 8 अभावस्य भावत्वात् आ० । 9–विधस्य ज्ञान–श्र० ।

वन्ध्यास्तनन्धयः, [1]स्वरूपेणाकिञ्चिद्रूपञ्च परपरिकल्पितमभावप्रमाणमिति । परिच्छेदकत्वं हि ज्ञानधर्मः, सोऽश्वविषाणप्रख्यस्य अध्यक्षाद्यभावस्यातिदुर्घटः । ततश्च 'प्रमा[(१)]णाभावः प्रमाणञ्च' इति प्रति[(२)]ज्ञा-पदयोः विरोधः, यथा 'इदञ्च, नास्ति च' इति ।

अन्यवस्तुविज्ञानपक्षेऽपि किमन्यस्मिन् वस्तुमात्रे, घटाभावाश्रये [3]वा ज्ञानमभावपरिच्छेदकं स्यात् ? तत्राद्यपक्षे यत्र कुत्रचिद् [2]यस्य कस्यचिद् [(३)]अभावस्य ज्ञानं स्यात् । अथ घटाभावाश्रयस्य; नन्वेतत् घटाभावे सिद्धे सिद्ध्येत्, न चासौ भवत्पक्षे सिद्धः ।

प्रतियोगितापि एतेन प्रत्याख्याता; सि[4]द्धे हि घटाभावे 'अयमस्य आश्रयः, अयञ्च प्रतियोगी' इति सिद्ध्येत् । ततोऽभावप्रमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपसामग्रीविषयफलानामव्यवस्थितेः वस्तुधर्म एवाभावः प्रत्यक्षादिप्रमाण[5]सिद्धश्च भाववदभ्युपगन्तव्य इति ।

'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः प्रत्यक्षानुमानग्राह्यः' इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः -

अत्र सुगतमतावलम्बिनः प्राहुः[(४)] – [6]न भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । प्रत्यक्षस्य हि स विषयो भवति यो जनकत्वे सति आकारसमर्पकः, अभावस्य च जनकत्वमाकारसमर्पकत्वञ्चातिदुर्घटम् । [(५)]यद् अभावरूपं न तत् कस्यचिज्जनकं स्वाकारसमर्पकञ्च यथा खपुष्पम्, अभावरूपश्चाभावो भवद्भिरिष्ट इति । स्वाकारमर्पयतो ज्ञानजनकत्वे चास्य[(६)] भावरूपतैव स्यात् । यत् स्वाकारमर्पयत् ज्ञान

(१) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरूपतया अभावप्रमाणं प्रमाणाभावात्मकम्, अथ च अभावपरिच्छेदकत्वेन परिच्छेदकत्वधर्माधारभूतं प्रमाणात्मकञ्चेति विरोधः । (२) प्रमाणाभावरूपस्वीकरणं प्रतिज्ञा, परिच्छेदकत्वेन प्रमाणरूपतोवर्णनं पदम् । (३) भूतलादौ वा । (४) "एवम्मन्यते–अभावो नाम नास्त्येव केवलं मूढस्य भावविषयमेव प्रत्यक्षमन्याभावं व्यवहारयति ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ ।** "एकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरं तदुपलब्धिश्चानुपलब्धिर्विवक्षिता उपलब्धेरन्यत्वादभक्ष्याऽस्पर्शनीयवत्, स एवाभावः, तदतिरिक्तस्य विग्रहवतोऽभावस्याभावात् ।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० २।३ ।** "तस्मादुपलब्धिविज्ञानादन्या वस्त्वन्तरविषया उपलब्धिः ज्ञानात्मिकाऽनुपलब्धिः । कथं पुनरुपलब्धिरेवानुपलब्धिरुच्यते इत्याह विवक्षितेत्यादि । यथा भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे विवक्षिताद् भक्ष्यादन्यत्वादभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो भक्ष्योऽपि सन् तदन्यस्योच्यते, यथा च स्पर्शनीयाऽस्पर्शनीयाधिकारे विवक्षितात् स्पर्शनीयादन्यत्वादस्पर्शनीयश्चाण्डालादिस्तदन्यस्य स्पर्शनीयोऽपि सन्नुच्यते तद्वदुपलब्धिरेवानुपलब्धिर्मन्तव्या तस्मात् प्रतिषेध्याद् घटादेः स्वविषयविज्ञानजननयोग्याद् योऽन्य उपलम्भजननयोग्य एव न तद्विपरीतः स्वभावो घटविविक्तप्रदेशरूपः स एव चात्र अनुपलब्धिशब्देनोच्यते ।"–**हेतुबि० टी० पृ० १६३ A. ।** "तस्यान्यस्य प्रदेशस्य केवलस्य यत् तत् कैवल्यम् एकाकित्वमसहायता तदेवापरस्य प्रतियोगिनो घटादेर्वैकल्यमभाव इति । तस्मादन्यभाव एव भावांश एव त्वदभिमतस्तदभावः प्रतियोग्यभावांशो न ततः पृथग्भूतं धर्मान्तरमित्युच्यते सुगतसुतैः ।"–**हेतुबि० टी० पृ० १७९ B ।** "न ह्यभावः कश्चिद्विग्रहवान् यः साक्षात्कर्त्तव्यः अपि तु व्यवहर्त्तव्यः ।"–**क्षणभङ्गसि० पृ० ६५ ।** (५) अभावः कस्यचिज्जनकः स्वाकारसमर्पकश्च न भवति अभावरूपत्वात् । (६) अभावस्य ।

1 स्वरूपेणास्वरूपेणा–श्र० । 2 **'यस्य कस्यचित्'** नास्ति आ० । 3 **अभावज्ञान** श्र० । 4–**द्धे घ**–आ० । 5–**सिद्धभावव**–आ० । 6 **न तावत्स्व**–व० ।

[1]जनयति तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञानं जनयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्नं केनचिद्रूपेण प्रतिभासमानं काञ्चिदर्थक्रियां करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

किञ्च, अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यापि[2] असत्त्वप्रसङ्गात् कुतः किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येवं प्रत्यक्षं तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधातव्यम्, शब्द[3]संसर्गेणोपजायमानस्यास्य[4] विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्पानाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसंस्पर्शित्वात्तेषाम्[5] । तन्न प्रत्यक्षतोऽभावसिद्धिः । नाप्यनुमानतः; तद्धि[6] साध्यप्रतिबद्धलिङ्गबलादुदयमासादयति । प्रतिबन्ध[7]श्च साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयते[8] ? न तावत् प्रत्यक्षतः; अभावस्य उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततोऽस्य[9] केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । अनुमानतः तत्प्रतीतौ अनवस्था, तत्रापि[10] अनुमानान्तरात् तत्प्रतीति[11]प्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्धप्रतिबन्धं लिङ्गं साध्यसाधनाय प्रभवति अतिप्रसङ्गादिति ।

तन्निराकरणपूर्वकम् अभावस्य भावान्तररूपस्य वस्तुसतः समर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[12]–'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभावः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्; भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धिः । यस्य[13] यतः प्रतीत्यादिभेदः तस्य ततो भेदः यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादिभेदश्च भावादभावस्य इति । न चायमसिद्धः; तथाहि–भावा[14]ऽभावयोस्तावत् प्रतीतिभेदः सुप्रसिद्ध एव 'इदमत्रास्ति, इदं नास्ति' इति । नहि प्रतीयमानापीत्थं भेदेन अभावप्रतीतिरपह्नोतुं युक्ता; भावप्रतीतेरप्यपह्नवप्रसङ्गात् । ननु निर्विकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च तद्वशा[15]दर्थव्यवस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्याऽभावात्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्; सविकल्पकसिद्धौ निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्त[16]र्बहिर्वा वस्तुव्यव-

(१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारार्पकत्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि । (३) "एकोपलम्भानुभवादिद नोपलभे इति । बुद्धेरुपलभे वेति कल्पिकाया समुद्भव ॥"–**प्रमाणवा०** ४।२७० । (४) प्रत्यक्षस्य –**आ० टि०** । (५) विकल्पानाम्–**आ० टि०** । (६) अनुमान हि । (७) अविनाभाव । (८) प्रत्यक्षात्–**आ० टि०** । (९) अभावस्य –**आ० टि०** । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि । (११) अविनाभावप्रतीति । (१२) **पृ०** ४७६ **प०** १० । (१३) अभावो भावस्वरूपातिरिक्तः प्रतीतिस्वरूपसामग्र्यर्थक्रियाभेदात् । (१४) तुलना–"इद तावत्सकलप्राणिसाक्षिक सवेदनद्वयमुपजायमान दृष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ।"–**न्यायमं० पृ०** ५८ । (१५) विकल्पवशात्–**आ० टि०** । (१६) अन्तश्चेतनात्मकस्य बहिश्चाचेतनस्वरूपस्य वस्तुन ।

1–स्याज्ञाने ब० । 2–संसर्गगणोप–ब० । 3–तीयेत् आ० । 4–**प्रतिबन्धलिङ्गं ब०** । 5 **प्रामाण्यादित्यपि** श्र० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्[1]। [2]तत्सामर्थ्येनोत्पन्नोऽभावविकल्पाद् अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि [3]अतोऽतिदुर्लभा। अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः, अभावसिद्धौ [4]तत् किं काकैर्भक्षितम्? प्रथमं हि इन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम् अनेक[5]भावाभावोपाधिखचितमुपाधिमन्तं प्रतिपद्यते, ततः शब्दार्थयोः प्रतिपन्न[6]प्रतिबन्धः प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचक शब्दं स्मृत्वा 'इदमिहास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं [4]दर्शयति। यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न प्रतिपन्नाः तदा [7]प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात्। नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्। अतः प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथानुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति।

न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपपत्तिर्युक्ता। [8]या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः, विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति। अथ भाव अभावप्रतीतेर्निबन्धनम् अतः स[9] एवास्या[10] विशेषणं भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्टं सिद्ध्येत्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः किं निषिध्यमानो [5]घटादिर्भावः [11]अस्या निबन्धनमभ्युपगम्यते, [12]तदाश्रयो भूतलादिर्वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्बाधतया प्रतीयमानयोर्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः। [13]यन्निर्बाधतया प्रतीयमानयोः प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च निर्बाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति। न च तत्प्रतीत्योर्निर्बाधता वैलक्षण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्; तद्बाधकस्य कस्य[6]चिदप्यभावात्, परस्परा[14]ऽसङ्कीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च। नहि कश्चिदबालिशो[7] भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति। [8]यदि च भाव एव अभावः स्यात्, तर्हि [15]तत्सत्ताक्षणे [16]तद्देशे चाऽभावप्रतीतिः स्यात्। न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियतां भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७। (२) निर्विकल्पक –आ० टि०। तुलना–"तत्र विकल्पमात्रसवेदनमनालम्बनमात्माशालम्बन वेत्यादि यदभिलप्यते तन्नास्तिताज्ञान इव अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि प्रामाण्य भवतु द्वयोरपि वा मा भूत्।"–न्यायम० पृ० ५८। (३) भावविकल्पात्। (४) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम्–आ० टि०। (५) अनेके भावा अभावाश्च उपाधय विशेषणानि तैः खचित शबलित चित्रितम् उपाधिमन्त विशेष्यभूतमर्थम्। (६) गृहीतसङ्केत। (७) यस्याऽभाव स प्रतियोगी। (८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीति विशेषणग्रहणपूर्विका विशिष्टप्रतीतित्वात्। (९) भाव एव। (१०) अभावप्रतीते –आ० टि०। (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीते। (१२) घटाभावाश्रयो। (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्बाधप्रतीतिवैलक्षण्यात्। तुलना–"नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरस्त्युदय, नापि व्यवहारभेदस्य सभव।"–प्रश० कन्द० पृ० २२९। (१४) अन्योन्य भिन्नस्वभावतया। (१५) भावसत्ताक्षणे (१६) भावदेशे।

1–न्नाच्चाभाव–श्र०। 2–अभावसि–ब०। 3 अनेकमभावा–ब०। 4 प्रदर्श–श्र०। 5 घटादिभाव ब०। 6–चिदभा–ब०। 7–शोऽभावमेव भावतया आ०, श्र०। 8 यदि भाव ब०।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमानघटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतः भूतलादिभावः तदभावप्रतीतेर्निबन्धनम्; तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, विशिष्टं वा ? प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् तदविशेषात् । द्वितीयपक्षेऽपि किङ्कृतमस्य वैशिष्ट्यम्–स्वरूपकृतम्, घटसंसर्गरहितत्वकृतं वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्; सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात् स्वरूपसत्त्वस्य तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटसंसर्गरहितत्वनिबन्धनत्वे तु नास्ति विवादः घटाभावस्य घटसंसर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्यम्–अभिमानमात्रमेवायं 'नास्ति' इति व्यवहारः, सद्व्यवहारानुदय एव तत्संभवादिति; यतः प्रतीयमानस्य बाधारहितस्यास्याभिमानिकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्यवहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः । यदि च सद्व्यवहारानुदय एव नास्तीतिव्यवहारस्य

(१) तुलना–"त इदं प्रष्टव्या नास्तीति संविद किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्, दत्त स्वहस्तो निरालम्बनं विज्ञानमिच्छता महायानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्, कण्टकादिमत्यपि भूतले कण्टको नास्तीति संवित्ति तत्पूर्वकश्च निःशङ्क गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवार । केवलभूतलविषयं नास्तीति संवेदनम्, कण्टकसद्भावे च कैवल्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत्, ननु किं कैवल्य भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूप तावत् कण्टकादिसंवेदनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोष । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धि ।"–प्रश० कन्द० पृ० २२९ । प्रश० किर० पृ० ३२९ । (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकरैः । "अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्वं नाऽपरम् न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयम्, यस्मात्तदर्थासंसृष्टानुभवयुक्ततैवात्मन तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता, सा चावस्था आत्मन स्वसंविदितैव । अत प्रमेय नावशिष्यते ।"–बृह० पं० पृ० ११९–२० । "तस्माद् भावग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेवाऽभावावगमं प्रसूते (पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादन्य प्रमेयाभाव, प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयंप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावाख्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि ता विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्ते कारणत्वपरिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्नुते ॥"–प्रकरणप० पृ० १२९ । नयवि० पृ० १६२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ । (६) काल्पनिकत्वे । (७) तुलना–"ज्ञानाभावे ज्ञानभ्रम व्यवहाराभावे व्यवहारभ्रम आलोकादर्शने अन्धकारभ्रमवत्, न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । अप्रमिते न भ्रमाऽयोगात् सुषुप्त्यादिवत् ।–अथापि वैयात्यादुच्यते न च सत्त्वतो नास्तीति बुद्धिव्यवहारौ स्त, किन्तु चैत्रदर्शनाभावे चैत्रो नास्तीति ज्ञान भ्रम चैत्रोचितव्यवहाराभावे च तदभावे व्यवहारभ्रम । अत्रैव निदर्शनमाह–आलोकादर्शनेऽन्धकारभ्रमवत् तदेतन्निराकरोति–न; सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावे तद्भ्रम सुषुप्त्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्ग । नहि तदा ज्ञान नापि व्यवहार, समस्तविज्ञानोपसंहृतिलक्षणत्वात्सुषुप्त्याद्यवस्थाया. । हेत्वन्तरमाह–अप्रमिते न भ्रान्त्ययोगात् सुषुप्त्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावे समारोपभ्रान्तिर्न पुनरमतो ज्ञानाकारस्य नाकारह त्युपपादित विभ्रमविवेके, अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावो

१–घटाद्याश्रय तयाऽभि–आ० । २ किङ्कृतमस्य ब० । ३–हृतम् ब० । ४–हृतम् ब० ।

अङ्गम्, तदा सुषुप्तावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् सद्व्यवहारानुदयस्य तत्राप्यविशेषात्। [2]ततो निर्बाधयोर्भावाऽभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यसिद्धेः सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तवो भेदः।

[1]स्वरूपभेदाच्च, अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्वं स्वरूपं नेतरस्य[2]। स्वरूपभेदेऽपि अनयोर[3]भेदे भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदादन्यतोऽप्रसिद्धेः।

सामग्रीभेदा[4]च्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च[5] तद्भेदः। तथाहि–घटादिभावमुत्पादयितुकामः तदुत्पादनानुकूलामेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुपादत्ते, विनाशयितुकामस्तु त[5]द्विलक्षणां मुद्गरादिसामग्रीमिति।

ननु [6]मुद्गरादिसामग्री परस्पराऽसंसृष्टकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न च तदुत्पादवत् तद[7]भावोऽप्यत[8] एव भविष्यतीत्यभिधातव्यम्, यतः सर्वोऽपि कार्यभेदः कारणभेदेन व्याप्तः। न च अभाव-कपाललक्षणकार्यभेदे कारणभेदोऽस्ति, मुद्गरलक्षणस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतेः। न च त[9]स्यैकस्यैव अन्योन्यविरुद्धकार्यद्वय[10]जनकत्वं युक्तं विरोधात्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्। तथाहि–[11]मुद्गरादिव्यापारानन्तरं लौकिकेतरयोः 'अनेन विनाशितो घटः' इति [7]प्रतीतिः, न पुनः 'कपालानि

उपलब्धपूर्वा। तदुपलम्भे वा कृतमत्र भ्रमोपन्यासेन। तस्मादप्रमिते भ्रान्त्यनुपपत्तेरयुक्तमेतदित्यर्थः।" –विधिवि०, न्यायकणि० पृ० ७३–७४।

(१) तुलना–"स्वरूपभेदस्योपपत्तेः, यथाहि कारणादुत्पद्यमानाः रूपादयः परस्परं स्वरूपभेदाद् भिद्यन्ते तथाऽभावोऽपि भावादिति। अस्ति च द्रव्यादिषड्लक्षणाऽलक्षितत्वं भावपरतन्त्रेण गृह्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति।"–प्रश० व्यो० पृ० ४००। (२) भावस्य। (३) भावाभावयोः। (४) सामग्रीभेद। (५) उत्पादसामग्रीभिन्नाम्। (६) "तस्मात् स्वरसतो निवर्तते काष्ठादि, अग्न्यादिभ्यस्तु अङ्गारादिजन्म इत्येव भद्रकम्।"–हेतुबि० टी० पृ० ८३ A। "तदयमत्र समुदायार्थः–मुद्गरव्यापारानन्तरं द्वयं प्रतीयते, घटनिवृत्तिः कपालञ्च। तथैते विनाशरूपतया प्रतीयेते। तत्र घटनिवृत्तेर्नीरूपत्वेनाकार्यत्वादिति वक्ष्यति। तत्कार्यत्वेन तु तत्प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव, कार्यत्वे वास्या न घटनिवृत्तिरूपत्वं स्यात् घटसम्बन्धित्वेन कृतकत्वात्, विनाशरूपतया च न प्रतीतिः स्यात् घटस्य सत्त्वात्। निर्हेतुके तु विनाशे स्वरसतो निवर्तमान एव घटो मुद्गरादिसहकारी कपालजनकत्वेन सदृशक्षणानारम्भकत्वात् मुद्गरव्यापारानन्तरं घटनिवृत्तेः कपालस्य च सद्भावात् तयोर्विनाशरूपतया विनाशस्य च सहेतुकत्वेन मन्दमतीनामवसायो युज्यत एव। प्रयोगस्तु ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः तद्यथाऽसम्भवत्प्रतिबन्धा कारणसामग्री कार्योत्पादने, अन्यानपेक्षश्च कृतको भावो विनाश इति स्वभावहेतुः।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।१९६–९७। प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२६९–७०। तत्त्वस० पृ० १३२। (७) घटविनाशोऽपि। (८) मुद्गरादिव्यापारादेव। (९) मुद्गरादिव्यापारस्य। (१०) घटविनाश-कपालोत्पादलक्षण। (११) तुलना–"तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावात्प्रसादिवत्। मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः विनष्टो घटः उत्पन्नानि कपालानि इति व्यवहारद्वयसद्भावात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २००।

1–दयस्य च त–ब०। 2 तत्रानिर्बा–श्र०। 3–भेदाद्वाऽभा–ब०। 4 एतयोर–ब०। 5–भेदाद्वाऽन–ब०। 6–श्च तथा तद्भेद ब०। 7 प्रतीतेः ब०।

उत्पादितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धानं स्वप्नेऽप्यनुभूयते । न खलु विषादिना शत्रुवधे वह्न्यादिना च पटदाहे [1]प्रवृत्तस्य[1] शत्रुपटविनाशादृते 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तुः पटविनाशकस्य[2] वा अनुसन्धानमस्ति । नापि पार्श्वस्थानाम्[2] 'अन्यत् किञ्चिदनेनो[3]त्पादितम्' इति प्रतीतिः, किन्तु 'तद्विनाश एव अनेन कृतः' इत्यखिलजनानां प्रतीतिः । तद्विनाशे एव चासौ परितुष्यति । नहि अवयवनिष्पत्त्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावानां स्वभावतो विनाशस्वभावनियततया विनाशस्य अहेतुकत्वान्न मुद्गरादेः तद्धेतुत्वम्; इत्यप्यपेशलम्; तेषां [4]तत्स्वभावनियतत्वस्य अक्षणिकत्वसिद्धौ निराकृतत्वात्[5] ।

यदप्युक्तम्[6]–'कार्यभेदः कारणभेदेन व्याप्तः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; एककारणस्य एककार्योत्पादकत्वेन अविनाभावाऽभावात्, प्रदीपादेरेकस्यापि [7]अनेककार्योत्पादकत्वप्रतीतेः । अतः सिद्धः सहेतुको विनाशः । तथा च [8]घटाभावोत्पादकसामग्रीतो [9]भावोत्पादकसामग्र्या भेदसिद्धेः सिद्धो भावाऽभावयोर्भेदः ।

अर्थक्रियाभेदाच्च, सुप्रसिद्धो हि भावाऽभावयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेदः, जलाद्यर्थिनः तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । [10]प्रमोदाद्यर्थक्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेदः; तथा हि शत्रुविनाशः [4]कृतः श्रुतो वा परं प्रमोदमाधत्ते, तत्सद्भावस्तु विषादम् । न ह्यत्र भावाभावाभ्यामन्यस्य प्रमोद-विषादहेतुत्वं प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्[11]–'अभावोऽपि यदि कुतश्चि[5]दुत्पद्येत काञ्चिदर्थक्रियां कुर्यात् तदा भाव[6] एव स स्यात्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो भाव[12]प्रतीतिविषयत्वं भावत्वम्, न पुनः अर्थक्रियाकारित्वादि । अभावो हि स्वकारणकलापाद् भावविलक्षणतयोत्पन्नः अर्थक्रियाञ्च कुर्वाणः पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया ।

यच्चान्यदुक्तम्[13]–'यदि अभावः स्वाकारं ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरूपता स्यात्' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; अर्थाकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतिक्षेपात् । निराकारमेव हि ज्ञानं [14]योग्यतया[7] योग्यदेशस्थं योग्यञ्चार्थं प्रकाशयति इत्युक्तं [15]प्रत्यक्षप्ररूपणप्रस्तावे ।

---

(१) पुरुषस्य । (२) प्रेक्षकजनानाम् । (३) विषदायिना, पटविनाशकेन वा पुरुषेण । (४) विनाशस्वभावनियतत्वस्य । (५) पृ० ३८६ । (६) पृ० ४८० पं० १० । (७) वर्तिकामुखदाह-तैलशोष-कज्जलोत्पादन-अन्धकारविनाशादि । (८) मुद्गराद्यभिघातादिरूपाया । (९) घटोत्पादकमृत्पिण्डादिरूपाया । (१०) तुलना–"सुखदुःखसमुत्पत्तिरभावे शत्रुमित्रयो । कण्टकाभावमालक्ष्य पदं पथि निधीयते ॥ "पश्यन्नभाव को नाम निह्नुवीत सचेतनः ।"–न्यायम० पृ० ५९ । (११) पृ० ४७७ प० २ । (१२) तुलना–"सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव उच्यते असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति ।"–न्यायमं० पृ० ५९ । (१३) पृ० ४७७ पं० ४ । (१४) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणया । (१५) पृ० १७१ ।

---

1 प्रवृत्त श–आ० । 2–स्य चानुस–श्र० । 3 घटादिभावो–ब० । 4 कृतः परं ब० । 5–दुत्पद्यते आ० । 6 भाव एव स्यात् श्र०, ब० । 7–या प्रदेशस्थं ब० ।

न चाऽवस्तुत्वादभावस्य किं प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातव्यम्; प्रमाणतः [1]प्रतीयमानत्वादिसाधनात् [१]तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धेः। तथाहि–अभावो वस्तु, प्रमाणतः प्रतीमानत्वात्, यत् प्रमाणतः प्रतीयमानं तद् वस्तु यथा भावः, प्रमाणतः प्रतीयमानश्चाऽभाव इति। तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति। तथा, यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु तथा [2]प्रदीप., अर्थक्रियाकारी चाऽभाव इति। तथा, यद् अवान्तरभेदेन भिद्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, [२]प्रागभावाद्यवान्तरभेदेन भिद्यते चाऽभाव इति। ततः सिद्धो भाववद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्मः प्रमेय इति। प्रमाणं तु तत्परिच्छेदकम् अभावाख्यं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं वास्तवं न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परिच्छेदसिद्धेः। [३]यत् प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते न तत्र प्रमाणनि[3]यमः यथा वह्न्यादौ, प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति। यत् पुनः यत्प्रकारप्रमाणान्तरान्न परिच्छिद्यते [4]तत्र [5]तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा [४]रूपरसादाविति।

ततः सूक्तम्–**'अदृश्यस्यापि परचित्तविशेषस्य अभावः तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः'** इति। सर्वत्र हि गमकत्वं अन्यथानुपपत्तिप्रसादादेव, सा च अदृश्यानुपल[6]ब्धावप्यस्ति इति कथं नास्या गमकत्वम्?

'अदृश्य' इत्यादिना व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे–**अदृश्यानुपलब्धेः** सकाशात् **संशयैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति** सौगतस्य **अपि तु स्वचित्तभावश्च** न सिद्ध्यति। कुत एतद्? इत्यत्राह–**'[7]तद्'** इत्यादि। तस्य स्वचित्तस्य यद् **अनंशं तत्त्वं** [8]सजातीयविजातीयव्यावृत्तं मध्यक्षणस्वरूपं तस्य **अदृश्यात्मकत्वात्**। ततः किं जातम्? इत्यत्राह **'तथा च'** इत्यादि। **तथा च** ते[9]न च [५]स्वचित्तभावाऽसिद्धिप्रकारेण **कुतः** न कुतश्चित् **परमार्थस[10]तो** मानाद् भावस्य **क्षणभङ्गसिद्धिः** धर्मिहेतुदृष्टान्तादेरसिद्धे.। न खलु बहिरन्तर्वा अनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मत[६]याऽसिद्धौ धर्म्यादेः सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च कुतः क्षणभङ्गादेः

विवृतिव्याख्यानम्—

(१) अभावस्य। (२) "स च द्विविध प्रागभाव प्रध्वंसाभावश्चेति। चतुर्विध इत्यन्ये इतरेतराभाव, अत्यन्ताभावश्च तौ च द्वौ। षट्प्रकार इत्यन्ये —अपेक्षाभाव सामर्थ्याभावश्च ते च चत्वार इति।" —न्यायमं० पृ० ६३। "अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदत। प्रागभावस्तथा ध्वसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च॥ एव त्रैविध्यमापन्न संसर्गाभाव इष्यते।"—मुक्ता० का० १२-१३। (३) अभावपरिच्छेदक पृथगभावाख्य प्रमाण नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरादपि तस्य परिच्छिद्यमानत्वात्। (४) रसो यथा रूपग्राहिचाक्षुषप्रत्यक्षान्न परिच्छिद्यते अत तद्ग्रहणाय रासनप्रत्यक्षस्य नियमो भवति, नचैवमभावे प्रत्यक्षादिभि परिच्छिद्यमाने प्रमाणान्तरत्वनियम। (५) स्वचित्तसद्भाव। (६) अदृश्यात्मकत्वादसिद्धौ सत्याम्।

1 प्रमीयमान–ब०। 2 प्रदीपादि अर्थ–ब०। 3–नियमोऽपि यथा ब०। 4 तत्तत्प्रका–आ०। 5 तत्प्रमाणनि–आ०। 6–लब्धावस्तीति आ०। 7 'तदित्यादि' नास्ति आ०, ब०। 8 सजातीयव्या–ब०। 9 तेन स्वचि–आ०। 10–सतो भावस्य अनुमानात् क्ष–श्र०।

सिद्धिः स्यात् ? कस्य तर्हि क्षणभङ्गसिद्धिः स्यात् ? इत्याह–'तद्' इत्यादि । **तस्माद्** अनंशतत्त्वाद् **विपरीतं** सांशं तत्त्वं तस्य। कथम्भूतस्य ? अभेदलक्षणस्य[1] युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य **स्याद्** भवेत् क्षणभङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति **एव**कारार्थः ।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम्[2] ।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥

विवृतिः–स्थूलस्यैकस्य[1] दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः विज्ञानानंशतत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ।

कारिकार्थः— **वीक्ष्यम्,** उपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलमेकं ग्राह्यम्[3], तस्य ये **अणवः** अतिसूक्ष्मा भागाः तेषां **पारिमाण्डल्यं**[4] वर्तुलत्वं यच्च **क्षणभङ्गादि** आदिशब्देन कार्यकारणसामर्थ्यादिपरिग्रहः[5] तस्याऽ**वीक्षणम्** अग्रहणम् । अत्र दृष्टान्तमाह '**स्व**' इत्यादि । **स्वसंविदो** बौद्धकल्पितनिरंशबुद्धेर्यः[6] **विषयाकारस्य** स्थूलाद्याकारस्य **विवेकः** निवृत्तिः तस्य **अनुपलम्भवत्**। नहि तस्यां[6] प्रतिभासमानायां

(१) अनेकपर्यायेषु अनुगताकारतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति यावत्, अथवा अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य स्कन्धस्येति। (२) "वीक्ष्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्त स्थूल तस्याणव सूक्ष्मा भागा अवयवास्तेषा पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वम् अन्योन्यविवेकः क्षणे क्षणे भङ्ग· क्षणभङ्गः समय प्रति नाश इत्यर्थ । स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यादिरसौ तथोक्त, वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्य च क्षणभगादिश्च तत्तथोक्तम्, तस्याऽवीक्षण प्रत्यक्षेणानुपलम्भोऽशक्ति. । न खलु साव्यवहारिकप्रत्यक्षेण क्षणभङ्गादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यादित्यर्थं, सत्त्वात्प्रमेयत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूना कथञ्चिदनेकानित्यादिधर्मव्याप्यत्वात्तदविनाभावप्रसिद्धे· । प्रकृतार्थे दृष्टान्तमाह–स्वसविदित्यादि। स्वसवित् स्वसवेदनं तस्या विषयाकारो घटाद्याकारस्तस्माद्विवेको व्यावृत्तिस्तस्यानुपलम्भ· प्रत्यक्षेणाग्रहण तद्वत्। यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने बहिरर्थाकारनिवृत्तिर्विद्यमानेनापि न प्रतिभासते सौगताना तस्य तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तश्चाणुपारिमाण्डल्यादि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथाशक्त्यभावात् । ततोऽनुमानमनेकान्तमते सफलमित्यर्थं ।"–लघी० ता० पृ० ३६ । (३) घटपटादि। (४) "नित्यं परमाणुमन सु तत्तु पारिमाण्डल्यम्,परिमाण्डल्यमिति तस्य नाम, तथाहि–परिमण्डलानि परमाणुमनासि तेषा भाव पारिमाण्डल्य तत्परिमाणमेव ।"–प्रश० भा०, व्यो० पृ० ४७३ । "पारिमाण्डल्यमिति सर्वापकृष्ट परिमाणम् ।"–प्रश० कन्द० पृ० १३३। "पारिमाण्डल्य परमाणुपरिमाणम्"–सप्तप० टी० पृ० ४९। मुक्ता० का० १५। (५) स्वर्गप्रापणादौ –आ०टि०। (६) सविदि–आ० टि०।

1–स्यादृश्या–ज० वि० । 2–करणसा–व० । 3–द्वपरिक–श्र० ।

विषयाकारविवेकः[1] प्रतिभासते स्थूलाद्याकारभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्[2]। यत्र[3] यदा वास्तवो यदाकारः प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीताकारस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विषयाकारविवेकः सौगतकल्पितायां संविदि इति[1]।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकार्थं विवृण्वन्नाह–'स्थूलस्य' इत्यादि। **स्थूलस्य** महतः **एकस्य**[4] क्रमाऽक्रमानेकविवर्त्तव्यापिनः प्रतिपादितप्रकारेण **दृश्यात्मन एव** उपलभ्यस्वभावस्यैव **अनित्यत्वं सिद्ध्यति** 'नान्यस्य[5]' इति सम्बन्धः। कुत एतत्? **अनुपलम्भात्** हेतोः तस्यैव **पूर्वापराकारकोट्योः**[2] **अभावसिद्धेः**। तथा च यदुक्तं परेण[6]–"*यद् यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षणः पूर्वापरकोट्योः*" [ ] इति; तदयुक्तम्, यतः कथञ्चित्तत्र[7] तद[8]भावसाधने सिद्धसाधनम्। सर्वथा तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्चाऽसिद्धिः, तथा[3] तत्र[10] तद[11]नुपलम्भाऽसिद्धेरिति। ननु चास्तु स्थूलादिस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं न तु परमार्थसत्वम् मरीचिकाजलादिवदसत्त्वात्, इत्याशङ्क्याह–'बुद्धेः' इत्यादि। यथोक्तस्यैवार्थस्य **परमार्थसत्त्वं बुद्धेर्वेद्यवेदकाकारप्रभेदस्य**[12] **इव**। प्रयोगः–यद्[13] अनेकस्वभावं तदेव परमार्थसत् यथा वेद्यवेदकाद्यनेकस्वभावा संवित्, अनेकस्वभावञ्च अन्तर्बहिर्वा जैनाभ्युपगतं वस्तु इति। तथापि मरीचिका[14]तोयनिदर्शनेन अस्या[15]ऽसत्त्वे बुद्धेरप्य[16]तोऽसत्त्वप्रसङ्गः विशेषाभावात्। ननु नाऽने[4]कस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं परमार्थसत्त्वं वा अपि तु परमाण्वादेः[5], इत्यत्राह–'**न पुनः**' इत्यादि। **न पुनः** नैव परिमण्डलसम्बन्धात्[17] **परिमण्डलः** परमाणुः **आदिर्यस्य** यौगकल्पितावयव्यादेः[6] स तथोक्तः तस्याऽनित्यत्वं परमार्थसत्त्वञ्च। निदर्शनमाह–

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम्। (२) यदि हि संविदि ग्राह्याद्याकारा प्रतिभासेरन्, तदैव तस्या प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्वं शक्येत कल्पयितुम्, यदा च संवित्ति ग्राह्याद्याकारशून्यैवास्ति तदा कथं तत्र भ्रान्तत्वेनापि स्थूलाद्याकारः प्रतिभासेत? (३) संविदि न भ्रान्ततयाऽपि स्थूलाद्याकारप्रतिभासः, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात्। (४) स्कन्धस्य। (५) निरंशपरमाणुरूपस्वलक्षणस्य। (६) सौगतेन। (७) पूर्वापरक्षणयो–आ० टि०। (८) मध्यक्षणाभाव–आ० टि०। (९) सर्वथा। (१०) पूर्वापरक्षणयोः। (११) मध्यक्षण। (१२) बौद्धमते–आ० टि०। (१३) स्थूलादिस्वभाव एवार्थः परमार्थसन् अनेकस्वभावत्वात्। (१४) "यथोक्तम् आर्यरत्नावल्याम्–मरीचितोयमित्येतदिति मत्वा गतोऽत्र सन्। यदि नास्तीति तत्तोयं गृह्णीयान् मूढ एव सः॥ मारीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णतः। नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते॥ अज्ञानकल्पितं पूर्वं पश्चात्तत्त्वार्थनिर्णये। यदा न लभते भावमेवाभावस्तदा कुह॥ इति। तदेवं निःस्वभावानां सर्वभावानां कुतो यथोक्तप्रकारसिद्धिः। तस्माल्लौकिकं विपर्यासमभ्युपेत्य सांवृतानां पदार्थानां मरीचिकाजलकल्पानामिदंप्रत्ययतामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नान्येन।"–माध्यमिकवृ० पृ० १८८। (१५) स्थूलाद्यनेकस्वभावस्य वस्तुनः। (१६) मरीचिकातोयदृष्टान्तात्। (१७) परिमण्डलं वर्तुलाकारः।

1–ति विवृ–ब०। 2 पूर्वापरकोट्योर–श्र०, ब०। 3 तदुपलम्भासिद्धिरिति ब०। 4 नानेक–ब०। 5–ण्यादि. ब०। 6 –त्व निद–ब०।

'विज्ञान' इत्यादि । **विज्ञानस्य** यद् **अनंशं तत्त्वं** स्वरूपं तस्य इव **तद्वदिति** । ननु बहिरन्तश्च अनंशस्यैव तत्त्वस्य उपलम्भः अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भाच्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्वं सिद्ध्यति इति यौग-सौगताः; तत्राह–**'नापि'** इत्यादि । **नापि** नैव **क्षणिकाः परिमण्डलाः** परमाणवः **आदयो** यस्य अवयव्यादेः स तथोक्तः तस्य **अविभागविज्ञानतत्त्वस्य** वा **जातुचित्** कदाचिदपि **स्वयम्** आत्मना **उपलब्धिः** । कुत एतदित्यत्राह–**'तथैव'** इत्यादि । **तथैव** परपरिकल्पितप्रकारेणैव **अप्रतिभासनात्** । अथ बहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनंशादिस्वभावतया अप्रतिभासनेऽपि सच्चेतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोषः; अत्राह–**'तत्कथञ्चिद्'** इत्यादि । **तस्य** बहिरन्तस्तत्त्वस्य **कथञ्चित्** न सर्वात्मना **तत्स्वभावप्रतिभासे** सच्चेतनादिस्वरूपप्रतिभासने अङ्गीक्रियमाणे **अनेकान्तसिद्धिः** एकस्य द्वयेतरस्वभावसिद्धेः[1] ।

एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतुं निराकुर्वन्नाह–

अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।
कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

विवृतिः–साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसंभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः[3] प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वञ्चानुपलब्धेः कृतकत्वादनित्यत्वं सिद्ध्येत् नान्यथा ।

यौगसौगतकल्पितं यद् **अनंशं** तत्त्वम्, क्व ? **बहिरन्तश्च** । तत्किम्[2] ?

कारिकार्थ.– **अप्रत्यक्षं** प्रत्यक्षग्राह्यं न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह–**तदप्रतिभासनात्** तस्य अनंशतत्त्वस्य अप्रतीतेः । ततः किं जातम् ? इत्यत्राह–**'कस्तद्'** इत्यादि । **कः**, न कश्चित् **तस्य** अनंशस्य **स्वभावो हेतुः**

(१) यौगाना मते अन्त अनशस्य निरवयवस्य व्यापिन आत्मन उपलम्भ, वहिश्च निरशावयविन । सौगतमते च स्वलक्षणस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभाव, मध्यमक्षण एव च स्थायिता । (२) "यत् सौगतैः परिकल्पित वहिरचेतनम् अन्तश्चेतनम्, निरशम्, अशा द्रव्यक्षेत्रकालभावविभागा तेभ्यो निष्क्रान्तं निरंशं तदप्रत्यक्षं प्रत्यक्षाविषय । कुत ? तदभासनात् तस्य निरशतत्त्वस्याभासनादननुभवात् । न खलु द्रव्यादिविभागरहित चिदचिद्वा तत्त्व प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते, तत्र नित्यानित्याद्यनेकाशव्यापित्वेन वस्तुन प्रतीते । ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो धर्म को हेतुर्लिङ्ग स्यात्, न कोऽपि इत्यर्थः । प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य कार्यञ्च किन्नु हेतु स्यात्, सर्वथा निरंशस्यापरिणामिन कार्यकरणायोगात् यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचन न कुतोऽपीत्यर्थं । तन्न सौगतमतेऽनुमान प्रामाण्यमास्कन्दत्यनुपपत्ते ।"–लघी० ता० पृ० ३७ । (३) "प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन. कार्यकारणभाव ।"–हेतुबि० टी० पृ० ७३ । "भावे भाविनि तद्भाव भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भत ॥" (सम्बन्धप०)–प्रमेयक० पृ० ५१० । स्या० र० पृ० ८१८ ।

1–भावादिसिद्धेः ब० । 2 किमप्रत्यक्षग्राह्यं ब० ।

स्यात् । **किं** न किञ्चित् **तस्य** अनशस्य **कार्यं**[1] हेतुः । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् भिन्नानां संयोगिसमवाय्यादीनां निरास. सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्गं घटते **यतोऽनुमा**[2] स्यात् ।

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–**'साक्षात्'** इत्यादि । **साक्षात् स्वभावं** [3]स्वरूपम् **अप्रदर्शयतो** भावस्य यत् **निरंशं तत्त्वं** स्वरूपं तस्य **अनुमितौ** क्रियमाणायां **स्वभावहेतोरसंभवः** । कुत इत्याह–**'स्वभाव'** इत्यादि । **स्वभावस्य** स्वरूपस्य **विप्रकर्षाद्** अदृश्यत्वात् । **तत एव** तद्विप्रकर्षादेव **कार्यहेतोरप्रतिपत्तिः** । कुत [4]एतत् ? इत्याह–**'कार्य'** इत्यादि । **कार्यकारणयोः सर्वत्र** बहिरन्तर्वा **अनुपलब्धेः** अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतोः प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र सोऽस्ति इत्याह–**'नच'** इत्यादि । **नच** नैव **अत्र** यौग-सौगतकल्पिते एकान्ते **प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं** यस्य स तथोक्तः । कः ? **प्रभवः**, कार्यकारणभावः '[5]प्रभवति'(२) 'प्रभवति अस्मात्' इति च व्युत्पत्तेः । यथा च तत्कल्पितैकान्ते प्रभवो न घटते तथा विषयपरिच्छेदे[6] प्रपञ्चितम्(३) । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः, किन्तु क्वचित् इन्द्रियशक्तिवत् कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात्; इत्याशङ्क्य आह–**'कार्य'** इत्यादि । **कार्यस्य व्यतिरेकः** विवक्षितकारणव्यतिरिक्तकारणसाकल्येऽपि अनुत्पादः तेन **उपलक्षिता**[7] वा । पक्षान्तरसूचको वाशब्दः । **कारणशक्तिः 'न चात्र'** इति सम्बन्धः । निरंशयोः कार्यकारणयोः मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकतः कार्यव्यतिरेकाऽसिद्धिः इत्यभिप्रायः । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरणं युक्तम् इत्याह–**'तदङ्गीकरणम्'** इत्यादि । **तस्याः कारणशक्तेः अङ्गीकरणम्** कार्यव्यतिरेकतः सद्भावस्वीकरणं **प्रमाणान्तरमन्तरेण** ऊहाख्यप्रमाणं विना **अनुपपन्नम्** । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे कार्यव्यतिरेकतः कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभावादिसम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्–**'अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते'** [लघी० का० ११] इत्यत्र । कुतः पुनस्तदङ्गीकरणं तदन्तरेणाऽनुपपन्नम् ? इत्याह–**'स्वयम्'** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **उपलब्धस्य** मध्यदशायां दृष्टस्य **प्रागूर्ध्वञ्च**[8] या तस्यैव **अनुपलब्धिः** स्वयमेव अदर्शनं तस्या यत् सिद्धं **कृतकत्वं** कार्यत्वं तस्माद् **अनित्यत्वं** शब्दादेः **सिद्ध्येत् नान्यथा** न प्रकारान्तरेण । नच प्रत्यक्षमनुमानं

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति यत्कार्यमिति कार्यव्युत्पत्ति, प्रभवति कार्यं यस्मात् कारणात् इति कारणव्युत्पत्ति –आ० टि० । (३) पृ० २२०, पृ० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्ते । (५) कारणशक्तिस्वीकार । (६) ऊहप्रमाणमन्तरेण ।

1 कार्यहेतुः श्र० । 2–नुमानं स्यात् आ०, श्र० । 3 स्वरूपं दर्शय–ब० । 4 एतद्वेत्याह–ब०, एतदित्यत्राह श्र० । 5 प्रभवति अस्मात् इति व्यु–ब०, श्र० । 6 प्रपञ्चितः ब० । 7–क्षितो वा ब० । 8–ञ्च तया ब० ।

वा तथा प्रत्येतुं समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते। कृतकत्वानित्यत्व-ग्रहणमुपलक्षणं सकलहेतुसाध्यानाम्।

ननु सर्वोऽयं कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पारमार्थिकः तत्कथं प्रमाणान्तरप्रसक्तिः? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धायां तत्कल्पितोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात्। न च तत्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति–

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

विवृतिः–सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि, निश्चयस्यापि कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतस्तत्संव्यवहारसिद्धिः? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलापसंसर्गयोग्यायोग्य-विनिर्भासैकज्ञानं प्रतिपत्तव्यं स्वरूपवत्।

धीः बुद्धिः, कथम्भूता? **निश्चयात्मा** विकल्पबुद्धिः इत्यर्थः। पुनरपि कथम्भूता? इत्याह–**'विकल्प'** इत्यादि। **विकल्पो** व्यवसायः, **अविकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ** यस्याः सा तथोक्ता। क? **बहिरन्तश्च;** बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति। सा किम्? इत्यत्राह–

कारिकार्थ –

(१) "तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽय सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेनेत्युक्तम्।–आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि। सर्व एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरग्निधूमयोर्वास्तवो भेद तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहारायोगात्। अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गम् अनुमेय साध्यधर्मी साध्यधर्मश्च तेषा व्यवहारो नानात्वप्रतिरूप, बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्तेन बुद्धिप्रतिभासगतेन भिन्नेन रूपेण भेदव्यवहार इति यावत्।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११४।** (२) विकल्पासिद्धि। (३) "किं पुन सिद्ध्येत्? न सिद्ध्येदित्यर्थ। का? धी बुद्धि। किं विशिष्टा? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धिरित्यर्थ। पुनरपि कथम्भूता? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पो व्यवसाय अविकल्पोऽव्यवसाय तावात्मानौ यस्या सा तथोक्ता। क्व? बहिरन्तश्च, अत्र यथासख्यमभिसम्बन्ध कर्त्तव्य, बहिर्घटादिविषये विकल्पात्मा, अन्त स्वरूपे निर्विकल्पात्मा चेति। कुतो न सिद्ध्येत्? स्वत. स्वसवेदनात्, तस्य निर्विकल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदन स्वसवेदनमिति वचनात्। न केवलं स्वत, अपि तु परतोऽपि। किं पुन सिद्ध्यति? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्ध्यतीत्यर्थ। कुत? अनवस्थिते। तदपि विकल्पान्तरतः, स्वतो न सिद्ध्यति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्ध्यर्थं विकल्पान्तरं कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपरमात्। ततोऽनुमानस्यासिद्धे कथं बौद्धकल्पित प्रमाणसख्यानियमो घटत इति भाव।"–**लघी० ता० पृ० ३८।** (४) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदनम्। चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिण सुखादय। सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ता। सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात् स्वसविदिता नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहण कृतम्। नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था यस्यामात्मनः सवेदन न प्रत्यक्ष स्यात्। येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसवेदनं प्रत्यक्षम्।"–**न्यायबि० टी० पृ० १९।** (५) तुलना–"स्वत एव विकल्पसविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्पः स्यात्, परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्ति।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७०।**

1–विकल्पकं ई० वि०। 2 निर्विकल्पः ब०, श्र०।

किं पुनः सिद्ध्येत् ? नैव सिद्ध्येत्। कुतः ? [1]**स्वतः** स्वसंवेदनात् निर्विकल्पकात्। [2]यत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्ध्यति यथा क्षणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पेन गृह्यते च वि[3]कल्पस्वरूपमिति। तर्हि विकल्पान्तरात् तत् सेत्स्यति, इत्यत्राह–'**परतः**' इत्यादि। न केवलं स्वतः [4]अपि तु **परतः** विकल्पान्तरादपि **किं पुनः सिद्ध्येत्** इति '[5]नो सिद्ध्येत्' इति सम्बन्धः। कुत एतत् ? इत्याह–**अनवस्थितेः** अनवस्थानात् विकल्पान्तरस्यापि तदन्तरात् सिद्धिप्रसङ्गात्।

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–'**सर्व**' इत्यादि। **सर्वविज्ञानानां** विकल्पेतरज्ञानानां **स्वसंवेदनम्** आत्मग्रहणं **प्रत्यक्षम् अवि[6]कल्पकं** निर्विकल्पकं [7]**यदि** चेत् इष्यते। अत्र दूषणम् '**निश्चय**' इत्यादि। **निश्चयस्यापि** न केवलम् अनिश्चयस्य **कस्यचिद्** अनुमानानुमेयव्यवहारहेतोः **स्वत एव** स्वसंवे[8]दनादेव '**अनिश्चयात्**' निश्चयाभावात्। [9]अथ अन्यतो निश्चयः स्यादत्राह–'**निश्चय**' इत्यादि। प्रकृतान्निश्चयाद् अन्यो निश्चयः **तदन्तरम्** तस्य **कल्पनायाम्** [10]**अनवस्थानात्**। **कुतः**, न कुतश्चित्, **तस्मात् संव्यवहारस्य** कार्यकारणभावादिलक्षणस्य **सिद्धिः**। तस्यैव असिद्धेः इत्यभिप्रायः। अस्तु तर्हि धीः निश्चयात्मा बहिरिव [11]अन्तरपि इत्यत्राह–'**ततः**' इत्यादि। **ततः** तस्माद् उक्तदोषात् **स्वार्थेऽपि** स्वस्य बुद्धेः अर्थो ग्राह्यं बहिःस्वलक्षण तत्रापि न केवलं सामान्ये **कथञ्चित्** न सर्वात्मना, 'अभिलप्यते अनेन'(३) 'अभिलप्यते' इति [12]च **अभिलापौ** शब्दजात्यादी तयोः **संसर्गः** 'अस्येदं वाचकम्, अस्येदं वाच्यम्' इति योजनं तस्य **योग्ययोग्यौ निर्भासौ** तयोरेकं साधारणं **ज्ञानं** प्रतिपत्तव्यम् सौगतैः। अत्र दृष्टान्तमाह–'[13]**स्वरूपवत्**' इति। **स्वरूप** इव तद्वदिति।

एवं परं प्रति तर्कादिकं प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तरत्वनियमं विधुरयन्नाह–

उपमा(५)नं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादनम् ? ॥१९॥

---

(१) विकल्पस्वरूपमसिद्धं निर्विकल्पेन गृह्यमाणत्वात्। (२) नीलादौ क्षणक्षय, अहिंसाक्षणे च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम्। (३) इति अभिलाप शब्द। (४) इति अभिलाप अभिलप्यमानो जात्यादि। (५) "अत्र यदित्येतदध्याह्रियते। प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात् उपजायमान साध्यस्य ज्ञेयस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधन गोसदृशो गवय इति ज्ञान यद्युपमान प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवैसादृश्यादुपजायमान साध्यसाधन गोविलक्षणो महिष इति ज्ञान किं प्रमाण स्यात् ? तस्य किन्नामेत्याक्षेप। नहि तदुपमानमेव तल्लक्षणाभावात्। नापि प्रत्यक्षादि, भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च। तथा सञ्ज्ञिनो वाच्यस्य प्रतिपादन च

---

1 कुत. स्वस–आ०, श्र०। 2–तः सवेद–ब०। 3–कल्परूपमिति श्र०। 4 अपि विक–आ०। 5 'नो सिद्धयेदिति' नास्ति आ०, श्र०। 6–ल्पंनि–ब०। 7 यदीष्यते ब०। 8–वेदनानिश्च–आ०, श्र०। 9 'अथ' नास्ति आ०। 10 अनवस्थाभावात् ब०। 11 अन्तरेऽपि ब०। 12 वाभि–ब०। 13 'स्वरूपवदिति' नास्ति आ०, ब०।

विवृतिः–प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथा न युज्यते[1]। प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'वृक्षोऽयम्' इति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात्। 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु इतरेषु[2] तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम्? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं[3] नाप्रमाणं भवितुमर्हति।

कारिकार्थः—

प्रसिद्धोऽर्थो[4] गौः तेन **साधर्म्य** सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् **साध्यस्य** सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य **साधनं** सिद्धिः **उपमानं** प्रमाणम्। 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्र दूषणमाह–'**तद्**' इत्यादि। तेन प्रसिद्धार्थेन **वैधर्म्य** वैसदृश्यं यन्महिष्यादेः तस्मात् साध्यसाधनं 'गोविलक्षणा एते महिष्यादयः' इति प्रतीतिः, तत् **किं प्रमाणम्** किमभिधानं तत्प्रमाणम्[5]? तस्य किञ्चिन्नाम कर्त्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न संभवति। तथा च सप्तमप्रमाणप्रसङ्गात् 'षडेव प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः।

उपमानं पृथक् प्रमाणमिति मीमांसकस्य पूर्वपक्षः—

ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्तिः? येन हि प्रतिपत्रा[6] गौरुपलब्धा न गवयः, न च अतिदेश(१)वाक्यं[7] श्रुतं 'गौरिव गवयः' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सदृशो गौः' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम्(२)।

विवक्षितसज्ञाविषयत्वेन सकलन यथा वृक्षोऽयमिति। तदपि किन्नाम प्रमाण स्यादित्याक्षिप्यते। न खलु सज्ञासज्ञिसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्ते, उपमानाप्रामाण्यापत्तेश्च।"–लघी० ता० पृ० ३९। "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।"–न्यायसू० १।१।६। (६) तुलना–"गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादौ प्रवर्तते। तद्वैसादृश्यविज्ञान यत्तदन्या प्रमा न किम्॥"–तत्त्वसं० पृ० ४५०। "साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेव प्रसज्यते।"–न्यायकुसु० ३।९।" सादृश्यञ्चेत् प्रमेय स्यात् वैलक्षण्यन्न किं तथा।"–जैनतर्कवा० पृ० ७६। उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ४९८। रत्नाकराव० ३।४। प्रमेयर० ३।५। प्रमाणमी० पृ० ३५।

(१) "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्वन्ध अतिदेश."–व्युत्पत्तिवा० ग०। "इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेश"–वाचस्पत्यम्। "ताद्वदिद कर्त्तव्यमित्यतिदेश।"–शास्त्रदी० पृ० २७७। (२) "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे वुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शन गोस्मरणस्य।"–शावरभा० १।१।५। "सादृश्यदर्शनोत्थ ज्ञान सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टगो पुरुषस्य गवय तत्सदृश पश्यतो यद् गोविषयक गवयसदृशज्ञान तदुपमानम्।"–प्रक० पं० पृ० ११०। "सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत्प्रतियोगिनि जायते। सादृश्यविषय ज्ञानमुपमान तदुच्यते॥"–वृह० पं० पृ० १०९। "पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यासावस्माभिर्नगरे दृष्टा गौ साऽनेन सदृशीति।"–शास्त्रदी० पृ० २५८। नयवि० पृ० १४६। तन्त्ररह० पृ० १३।

---

1 युज्येत ज० वि०। 2 इतरेषु तस्यैव ई० वि०। 3–त्ति प्रमा–ई० वि०। 4 प्रसिद्धार्थो श्र०। 5–णं किञ्चि–ब०। 6 प्रतिपत्ता आ०, ब०। 7 न वातिदे–ब०।

अत्र च विप्रकृष्ट[1]सादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टं[2] सादृश्यं करणम्[3]। उक्तञ्च–

"दृश्यमानाद्[4] यदन्यत्र[5] विज्ञानमुपजायते ।
सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम्[6] ॥" [ ]

अस्य[7] च अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्। यद्यपि गौरनेन[8] प्रागेव उपलब्धः, सादृश्यञ्चेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि 'गवयसदृशो गौः' इति प्रागप्रतिपत्तेः अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वम्[9]। तर्हि इदानीमेव गोः स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधिगमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगन्तृत्वमस्य[10], इत्यप्ययुक्तम्, [11]तद्विशिष्टत्वस्य तत्र[12] ताभ्या[13]मनधिगतेः। यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्यं प्रतिपन्न गौश्च स्मृत्या, तथापि सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां वाऽप्रतीतेः [14]तद्विषयत्वेन उपमानस्य अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्। नहि अनुमानेऽपि [15]अतोऽन्यत् प्रामाण्यनिबन्धनम्। प्रत्यक्षेऽपि हि प्रदेशा[16]दौ धर्मिणि स्मृत्या चाग्नौ प्रतिपन्नेऽपि अग्निविशिष्टप्रदेशादिविषयत्वेन अनुमानस्य प्रामाण्यं तद्वदुपमानस्यापि। तदुक्तम्–

"तस्माद्[17]यत्स्मर्यते तत्स्यात् सादृश्येन[18] विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा [19]तदन्वितम् ॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। [20]विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥
प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणता ॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३९] इति[21]।

ननु अस्तु उपमानं प्रमाणम्, नतु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं तदन्यतमस्वभावत्वात्तस्य; इत्यप्यनुपपन्नम्; [22]तदन्यतमस्वभावत्वस्य [23]तत्राऽसंभवात्। तथाहि–न [24]तावत् प्रत्यक्षरूपं तत्, परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात्। नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गौ। (२) सन्निकृष्ट गवयनिष्ठ सादृश्यम्। (३) साधकतम करणम्–आ० टि०। (४) गवयात्। (५) गवि। (६) उद्धृतोऽयम्–आप्तप० पृ० ५३। प्रमेयक० पृ० १८५। 'तत्त्वज्ञै'–सन्मति० टी० पृ० ५७५। (७) उपमानस्य। (८) पुरुषेण। (९) स्मृतिवत्–आ० टि०। (१०) उपमानस्य। (११) सादृश्य –आ० टि०। (१२) गवि। (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम्। (१४) विशिष्टविषयत्वेन। (१५) विशिष्टविषयत्वात्। (१६) पर्वतादौ –आ०टि०। (१७) गौ। 'तस्माद् दृश्यते'–न्यायाव० टी० पृ० १९। (१८) इति सादृश्यावधारणम् –आ० टि०। (१९) तयो गोगवययोरन्वितम्। 'तदाश्रित'–तत्त्वस०। व्याख्या–"यस्मादेव प्रत्यक्षे गवये न किञ्चिदुपमानस्य प्रमेयमस्ति तस्मात्स्मर्यमाणैव गौर्गवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्ट वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति। ननु गवये सादृश्य प्रत्यक्ष गृहीत गौ स्मर्यते किमन्यदुपमेयमत आह–प्रत्यक्षेणेति। तत्रैव दृष्टान्तमाह प्रत्यक्षे इति।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४४५। (२०) 'विशिष्टस्यान्यत सिद्धे'–प्रमेयक० पृ० ३४५। (२१) उद्धृता इमे–तत्त्वस० पृ० ४४५। प्रमेयक० पृ० ३४५। सन्मति० टी० पृ० ५७६। आद्यौ द्वौ–स्या० र० पृ० ४९७। जैनतर्कभा० पृ० १०। (२२) प्रत्यक्षाद्यन्यतम। (२३) उपमाने। (२४) "तदिदमुपमान न प्रत्यक्षम्, तिरोहिते गवि चक्षुःसन्निकर्षातिवर्तिनि जायमानत्वात्। न च स्मृतिः; गोदर्शनसमयेऽप्रतीतगवयस्य तत्सादृश्यानुभवाभावात्।"–प्रक० प० पृ० १११।

1–स्य ताभ्या–ब०। 2–मानप्रमा–ब०।

त्यभिधातव्यम्[1]; प्रत्यक्षप्रतिपन्ने एव अर्थे स्मरणस्य आविर्भावात्। न च गोप्रत्यक्षकाले तत्प्रत्यक्षेण[2] गवयाप्रतिपत्तौ तत्सादृश्यं[3] प्रत्येतुं शक्यम्।

"भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते। सादृश्यं तस्य[1] नु (तु) ज्ञप्तिः गृहीते [2]प्रतियोगिनि[4]॥"

[न्यायमं० पृ० १४६] इत्यभिधानात्।

नाप्यनुमानरूपतास्य; लिङ्गादनुत्पत्तेः। अत्र हि लिङ्गम्–सादृश्यं परिकल्प्येत[3], परिदृश्यमानो गवयो वा? यदि सादृश्यम्, तत्किं गोगतम्, गवयगतं वा लिङ्गं स्यात्? न तावद् गोगतम्; गवयदर्शनात् प्राक् तस्य[5] असिद्धत्वात्। नचाऽसिद्धस्य लिङ्गत्वम्; अतिप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गाच्च[4], गोगतत्वेन हि सादृश्यं प्रमेयम्[7] तदेव च[8] लिङ्गमिति। गवयगतं तर्हि लिङ्गमस्तु उक्तदोषद्वयासंभवादिति चेत्; न, अत्रापि व्यधिकरणासिद्धत्वप्रसक्तेः[9]। न च व्यधिकरणासिद्धस्य गमकत्वं काककार्ष्ण्यादिवत्[10]।

एतेन गवयस्यापि लिङ्गता प्रत्याख्याता; व्यधिकरणत्वाविशेषात्[11]। उक्तञ्च–

"न[5] चैतस्यानुमानत्वं[12] पक्षधर्माद्यसंभवात्। प्राक्[13] प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मत्वेन न[6] गृह्यते॥

(१) तुलना–"न च स्मरणमेवेद प्रमेयाधिक्यसम्भवात्। गवयेन हि सादृश्य न पूर्वमवधारितम्॥"–न्यायमं० पृ० १४६। (२) गोप्रत्यक्षेण। (३) गवयसादृश्यम्। (४) गवयसादृश्यस्य प्रतियोगी गवय। (५) "ननु च ज्ञातसम्बन्धिता तुल्या, सा चात्र लक्षणम्, तत्र वान्यत्र वेति क्वेदमुपयुज्यते? बाढमुपयुज्यते, एकदेशदर्शनादिति हि तत्र लक्षणम्, ज्ञातसम्बन्धस्येति विशेषणम्। अतो न गवयस्य सादृश्य सदृशावगतेरेकदेश। किञ्च असकृद् दृष्टसम्बन्धो ह्यनुमानस्य हेतु असजातीयव्यावृत्तिसव्यपेक्षश्च, द्वयमत्र नास्तीति प्रमाणान्तरम्।"–बृह० पृ० १०८। प्रक० पं० पृ० १११। शास्त्रदी० पृ० २८७। (६) गोसादृश्यस्य। (७) साध्यम्। (८) सादृश्यम्। (९) साध्य हि गविगत सादृश्य लिङ्गञ्च गवयगत सादृश्यमिति व्यधिकरणासिद्ध –आ० टि०। (१०) 'धवल प्रासाद काकस्य कार्ष्ण्यात्' इतिवत्। (११) गवयो हि वनवर्ती सादृश्यञ्च गवि साध्यमिति व्यधिकरणासिद्धता। (१२) व्याख्या–"ये तु शाक्या प्रमाणद्वयवादिन साख्या वा प्रमाणत्रयवादिनोऽस्यानुमानान्तर्भावं मन्यन्ते तान् प्रत्याह **न चेति**। असम्भवमेव दर्शयति–**प्रागिति**। प्रमेयो गौ तद्गत तावत्सादृश्य न लिङ्ग तस्य प्रागुपमानात्तद्धर्मत्वेनाऽग्रहणादिति। गवयगतमपि सादृश्यं गवि प्रमेये न पक्षधर्म इत्याह **गवये इति**। गोगतस्य च प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादपि न लिङ्गता, तदेव हि गोगतं प्रमेयमित्याह–**प्रतिज्ञेति**। सादृश्यविशिष्टो गवयोऽपि पक्षधर्मत्वाभावादेव न लिङ्गमित्याह **गवये इति**। ननु तत्सम्बन्धितामात्रमेव तद्धर्मत्व न सयोगसमवायावेव, अस्ति गवयस्य गोसम्बन्ध तस्यासौ सदृश, तत्र कथमपक्षधर्मत्वमत आह–**सादृश्यमिति**। भवतु कथञ्चित्पक्षधर्मता, न त्वन्वयोऽस्ति। नहि गवयगतं गोसादृश्य गोगतेन गवयसादृश्येनान्वितं दृष्टम्, इदानीमेव गवयसादृश्य गृह्यते। ननु युगपद् गवयं गाञ्च पश्यतोऽन्यद्वाऽर्थद्वयं परस्परसदृशं येन यत्सदृश तदपि तेन सदृशमिति शक्यमेवान्वयग्रहण कर्त्तुम् अत उक्तं **सर्वेणेति**। सत्यं दृष्टं न तु सर्वेण गवय दृष्ट्वा तत्सादृश्य गृह्णतैवमन्वयो गृहीतो भवतीति। अस्ति चादृष्टसदृशद्वयस्याप्येकमेव गां दृष्ट्वैव वने द्वितीयं गवयं पश्यतस्तदैव सादृश्यविशिष्टे प्रत्यय इत्याह–**एकस्मिन्निति**।" –मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४४७। (१३) गवयदर्शनात् प्राक्–आ० टि०।

1 तस्य तज्ज्ञप्तिः श्र०, व०। 2 प्रत्ययोगिनि व०। 3 परिकल्पत आ०। 4–प्रसंगाद् गोग–व०। 5 न च तस्यानु–श्र०। 6 न दृश्यते व०।

गवये गृह्यमाणञ्च न गवां[1]र्थानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥
गवयश्चाप्य[2]सम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तद[3]न्वयि ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने । सादृश्येन स[1]हैवा[4]स्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥"
[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ४३–४६] इति[5] ।

नाप्येतत् शा[2]ब्दम्, अ[6]श्रुताऽतिदेशवाक्यस्य प्रतिपत्तु. तत्संभवात् । ना[7]प्यर्थापत्तिः[3]; अन्यथानुपपद्यमानदृष्ट-श्रुतार्थानपेक्षणात् । नाप्यभावः, [4]प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिति ।

तन्निरसनपुरस्सरम् उपमानस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भावप्रदर्शनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्त[8]म्–'अनेन सदृशो गौः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, त[9]थाविधायाः प्रतीतेरेवाऽसभवात् । तथाहि–अश्रुतातिदेशवाक्यो ना[5]गरकः कानने पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोसदृशं पशुं प[6]श्यन् एवं बुद्ध्यते ब्रवीति च–'गवा सदृश एव कश्चित् पशुः' इति, ननु 'अनेन सदृशो गौः' इत्येवंविधज्ञानमभिधानं वा कस्यचित्तादानीमस्तीति । अस्तु वा, तथापि अस्य[10] प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणान्तरत्वम् । ननु अनुभूतेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्त्तते दर्शनस्मरणनिबन्धन[7]त्वात्तस्याः[11], न च पुरोवर्त्तिगवया[12]वच्छिन्नसादृश्योपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूतः, गवयाग्रहणे तदवच्छिन्नसादृश्यविशेषितस्य गोपिण्डस्य ग्रहीतुमशक्तेरिति, तदयुक्तम्, यतः कस्य अनुभवाभावः–[13]गवयावच्छेदस्य,

(१) 'गवामनुमापकम्'–**मी० श्लो०** । (२) व्यधिकरणत्वात्, सम्बन्धे हि गमको गम्य गमयति –**आ० टि०** । (३) न च तदन्वयि गवयगत सादृश्य पूर्वं दृष्ट किन्तु गवयदर्शनकाल एव सर्वस्यापि प्रमातुरुदीयते, अनेनानधिगतार्थाधिगन्तृत्व प्रामाण्यबीजमुपमानस्य ज्ञापितम् –**आ० टि०** । (४) 'सहैकस्मिन्'–**सन्मति० टी० पृ० ५७७** । (५) उद्धृता इमे–**प्रमेयक० पृ० १८७** । **सन्मति० टी० पृ० ५७७** । तुलना–"त्रैरूप्यानुपपत्तेश्च न च तस्यानुमानता । पक्षधर्मादि नैवात्र कथञ्चिदवकल्पते ॥ (प्राग्गोगत हि सादृश्य न) धर्मत्वेन गृह्यते । गवये गृह्यमाणञ्च न गवामनुमापकम् ॥ प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता । गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति ॥"–**तत्त्वस० का० १५३९–४१** । (६) "श्रुतातिदेशवाक्यत्वन्न चातीवोपयुज्यते । येऽपि ह्यश्रुततद्वाक्यास्तेषामपि भवत्ययम् ॥"–**मी० श्लो० उपमान० श्लो० १०** । (७) तुलना–"अन्यथानुपपद्यमानदृष्टश्रुतार्थानपेक्षत्वान्नार्थापत्ति । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणान्नाभावः ।"–**तत्त्वस० प० पृ० ४५०** । (८) **पृ० ४८९ प० १६** । (९) तुलना–"एवविधप्रतीत्यभावात् । प्रसिद्धेन हि सादृश्यमप्रसिद्धस्य गम्यते । गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विपर्ययः ॥ तथाहि –अश्रुतातिदेशको नागरक कानने परिभ्रमन्नदृष्टपूर्वं गोसदृश प्राणिनमुपलभमान एव बुद्धचते ब्रवीति च, अहो नु गवा सदृश एष कश्चन प्राणीति । नत्वनेन सदृशो गौरिति ज्ञानमभिधान वा तदानी कस्यचिदस्तीति अत प्रमितेरेवाभावात् किं प्रमाणचिन्तया ।"–**न्यायम० पृ० १४६** । (१०) तुलना–"एकत्वसादृश्यप्रतीत्यो. सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात् ।"–**प्रमेयक० पृ० ३४५** । **न्यायाव० टी० पृ० १९** । **स्या० र० पृ० ४९७** । **प्रमाणमी० पृ० ३५** । **जैनतर्कभा० पृ० १०** । (११) प्रत्यभिज्ञाया । (१२) गवयनिष्ठसादृश्यविशेषणविशिष्टतया । (१३) इद सादृश्य गवयनिष्ठमित्याकारस्य ।

1 **सहैकस्मि**–ब० । 2 **शब्दम्** ब० । 3–**त्तिरन्यथापत्तेः अन्यथानुप**–आ० । 4 **प्रमाण प्रमेय**–ब०, श्र० । 5 **नागरिक** ब० । 6 **पश्यन्मेवं** ब० । 7–**नत्वात् न च** ब०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स[1] एवायम्' इत्यादि प्रतीतेरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उ[1]त्तरपर्यायावच्छेदस्य पूर्वमननुभवात्। अथात्र[2] अवच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेद्यस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता; तदन्यत्र[3]ापि समानम्—अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेद्यस्य अधिगमात्। कथमप्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीतिः—गोदर्शनसमये, उत्तरकालं वा ? प्रथमविकल्पे [4]उत्तरपर्यायस्यापि द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्गः, पूर्वपर्यायप्रतीतिसमये [5]तस्याप्यप्रतीतेः। अथ उत्तरप्रत्यक्षेण [2]प्रतीतस्य [6]तस्य तद्विशेषणता; तदेतदन्यत्रा[7]प्यविशिष्टम्। तन्न गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावः।

नापि सादृश्यस्य; तद्धि असन्निहितत्वान्नानुभूयते, प्रतिबन्धकसद्भावाद्वा ? न तावदसन्निहितत्वात्, सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धेः। नापि प्रतिबन्धकसद्भावात् तस्यानुपलम्भः; गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिबन्धकस्य कस्यचिदप्यनुपलम्भात्। ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भसमये प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भः स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; एकैकत्र अ[8]स्य समाप्ततया प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्तेः। कथमन्यथेदं शोभेत—

"सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि [9]तत्तस्मादुपलभ्यते ॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५] इति।

'इदमनेन सदृशम्' इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुनः तत्स्व-

(१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमेकत्वमित्याकारस्य। (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने। मीमासकाभिमतोपमानस्य प्रशस्तपादभाष्यादिषु आगमस्मरणयोरप्यन्तर्भावः प्रादर्शि, तथाहि—"आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव।"—प्रश० भा० पृ० ५७६। "किञ्च स्मृतिस्वभावत्वाद्वा न प्रमाणमुपमान स्मृत्यन्तरवत् ··· एव तु युज्यते तत्र गोरूपावयवै सह। गवयावयवा केचित्तुल्यप्रत्ययहेतव ॥ तत्रास्य गवये दृष्टे स्मृति समुपजायते।"—तत्त्वसं० पृ० ४४८। "भवतु वैषा बुद्धिरनेन सदृशो गौ तथापि स्मृतित्वान्न प्रमाणफलम्।"—न्यायमं० पृ० १४६। "तस्माद् गवयग्रहणे सति असन्निहितगोपिण्डावलम्बिनी सादृश्यप्रतीति सदृशदर्शनाभिव्यक्तसस्कारजन्या स्मृतिरेव न प्रमाणान्तरम्।"—प्रश० कन्द० पृ० २२१। "सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावय क्रम —पूर्वं तावत् गोगवययोर्विषाणित्वादिसादृश्य गवि प्रत्यक्षत प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तर 'यदेतद् विषाणित्वादिसादृश्य पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तद् गव्यप्युपलब्धम्' इति स्मरति तदनन्तर विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसन्धान जायते 'अनेन पिण्डेन सदृशो गौ' इति। एवञ्च स्मार्तमेतद् ज्ञान कथ प्रमाणान्तर भवेत् ?" —सन्मति० टी० पृ० ५८२। (३) सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेऽपि। (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्थले। (५) उत्तरपर्यायस्यापि। (६) उत्तरपर्यायस्य—आ० टि०। (७) अन्वितद्रव्यस्थानीयमत्र गोगवयगत सादृश्य विवक्षितम्, अत्रापि गवयप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविशेषणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्—आ० टि०। (८) सादृश्यस्य। (९) 'तस्मात्तदुपपद्यते'—मी० श्लो०। 'तस्मात्तदुपलभ्यते'—न्यायमं० पृ० १४७। उद्धृतोऽयम्—न्यायमं० पृ० १४७। प्रमेयक० पृ० ३४६। प्रश० कन्द० पृ० २२१। तुलना—"सामान्यवद्धि सादृश्य प्रत्येक च समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते ॥"—तत्त्वसं० पृ० ४४५।

1 गवय एवायम् ब०। 2 प्रतीतस्य तद्वि–श्र०।

रूपप्रतिपत्तिः। प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूतं गोपिण्डसंस्थानविशेषम् अवहितचेतसा परिभाव्य तयोः सादृश्यव्यवहारं प्रवर्त्तयति [1]सङ्कलयति चैवम्–'मया पूर्वमेव गौः अनेन प्राणिना †तुल्यसंस्थानः प्रतिपन्नः, ततस्तां† तुल्यसंस्थानतां स्मृत्वा सादृश्यं व्यवहरामि' इति। ततो [1]यः सङ्कलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा 'स एवायम्' इति प्रत्ययः, सङ्कलनात्मकश्च 'अनेन सदृशो गौः' इति प्रत्यय इति। सङ्कलनं हि पूर्वोत्तरसमयसमधिगतयोः वस्तुरूपयोः [2]एकधर्मयोगितया सदृशादिधर्मयोगितया वा प्रत्यवमर्शनम्। तदात्मकत्वञ्च अत्रास्ति, गोगवययोः सदृशधर्मान्वितत्वेन प्रत्यवमर्शसम्भवात्।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वप्रसङ्गः तत्सामग्रीत एवास्य आविर्भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तेः। न च विलक्षणसामग्रीप्रभवं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं युक्तमतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; अत्रापि तत्सामग्र्या विद्यमानत्वात्। तथाहि–[3]स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षम् [4]एवंविधं ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्षं वा? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि एतत् स्यात्। अथ स्मरणापेक्षं जनकत्वम्, तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्ष वा [5]तत्तज्जनयेत्? यदि स्मरणमात्रापेक्षम्, तदा अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत्। अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्ष वा? प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि [6]तस्य तज्जनकत्वप्रसङ्गः, सादृश्याप्रतिपत्तेः [7]उभयत्राप्यविशेषात्। गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणा[4]पेक्षित्वे तु सिद्ध. पूर्वमेव सादृश्यानुभव., तदसिद्धौ संस्कारविशेषाभावतः [8]तत्स्मरणस्यैवाऽनुपपत्तेः। पूर्वं तदननुभवे च

(१) अनेन सदृशो गोरिति प्रत्यय प्रत्यभिज्ञानात्मक सङ्कलनात्मकत्वात्। (२) स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने–आ० टि०। (३) तुलना–"तत्र किं स्मरणापेक्षमिन्द्रियमेव ज्ञान जनयति अनपेक्ष वेति? अनपेक्षस्य ज्ञानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणेऽप्येतत् स्यात्। अथ पिण्डमात्रस्मरणे, अश्वादिपिण्डस्मरणे स्यात्। अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणापेक्ष जनकम्, तत्रापि यदि स्मरणमात्रमपेक्षेत, गजादिस्मरणेऽपि स्यात्। अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणमपेक्षते, गवयसादृश्यावच्छिन्न गोपिण्डस्मरण वेति? गोपिण्डमात्रस्मरणे अश्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात्। गवयादिसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे पूर्वमेवानुभवो वाच्य, तदन्तरेण सस्कारानुत्पत्तेः स्मरणस्यैवाभावात्। अत सविकल्पज्ञानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्डे पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्य। येन हि संस्कारोत्पत्तौ स्मरणान्मदीयया गवा सदृशोऽय गवय इति ज्ञान स्यात्। पूर्वं च गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयोपलम्भात् 'मदीया गौरनेन सदृशी' इति कथमेतत् स्मरण न स्यात्? तथा पृष्टो ब्रवीति एतत्सदृशी मयोपलब्धा न तु प्रमाणान्तर निर्दिशति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८८। (४) अनेन सदृशो गौरिति–आ० टि०। (५) गवयप्रत्यक्षम्। (६) गवयप्रत्यक्षस्य। (७) यथा हि महिष्यादिस्मरणे न गोसादृश्य प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्ति। (८) सादृश्यस्मरणस्यैव।

1 संकल्पयति ब०। † एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 2 एकधर्मयोगितया वा प्र– ब०। 3–विद्यज्ञान–ब०, –विद्यविज्ञान–श्र०। 4–णापेक्षत्वे ब०।

गोपिण्डसंस्थानविशेषविषयं निपुणनिरूपणमनर्थकमेव स्यात्। पिण्डमात्रस्मरणेऽपि सन्निकृष्टसादृश्यदर्शनबलेन विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतेरुत्पादप्रसङ्गात्। न च पिण्डमात्रामनुस्मरतः संस्थानविशेषमनिरूपयतः सादृश्यप्रतीतिरुत्पद्यते। अतो मन्यामहे–गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डानुभवभावितेयं[1] स्मृतिरिति। तथाविधस्मृतिसहायञ्च गवयप्रत्यक्षम् 'अनेन सदृशो गौः' इति ज्ञानमुत्पादयतीति सिद्धमस्य स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वम्। अतः नोपमानं प्रत्यभिज्ञानाद् भिद्यते, अभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, यदभिन्नसामग्रीप्रभवं तदभिन्नम् यथा अविनाभावलक्षणलक्षितहेतुतः समुपजायमानं कार्यस्वभावाद्यनुमानम्, स्मृतिप्रत्यक्षलक्षणाऽभिन्नसामग्रीप्रभवञ्च प्रत्यभिज्ञानोपमानलक्षणं ज्ञानद्वयमिति।

यदप्युक्तम्[2]–विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टं[2] सादृश्यं करणम्' इत्यादि, तत्र किमिदं सन्निकृष्टसादृश्यस्य[3] करणत्वम्–तदनुमापकत्वम्, तत्स्मारकत्वम्, तदुपमापकत्वं वा? प्रथमपक्षे पूर्वापरविरोधः–पूर्वं तस्य तदनुमापकत्वप्रतिषेधात् इह चाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु सन्निकृष्टसादृश्यस्य[4] विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिहेतुत्वात् उपमानहेतुत्वानुपपत्तिः, स्मृतेः उपमानत्वाऽसंभवात्। [5]तत्स्मृतिसहायं तु [6]तत् तद्धेतुः स्यात् न केवलम्, तथा च '*दृश्यमानाद् यदन्यत्र*' इत्यादि दुर्घटम्। एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः; केवलस्य[7] तत्सादृश्यस्य तदुपमापकत्वासंभवात्। न च सादृश्यस्य ज्ञानजनकत्वं संभवति; अर्थे ज्ञानजनकत्वस्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। अतः सदृशवस्तुविषयाभ्यां दर्शनस्मरणाभ्यां गो-गवययोः सादृश्यपरामर्शि प्रत्यभिज्ञानाऽपरपर्यायमुपमानं जन्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तस्मात् उपमानस्य प्रत्यभिज्ञास्वभावत्वान्न प्रमाणान्तरत्वं युक्तम्।

अनुमान[4]स्वभावत्वाद्वा[8]। कथमस्यानुमानत्वमिति चेत्? उच्यते स्मर्यमाणो गोपिण्डो विवक्षितगवयावच्छिन्नसारूप्यमान्, तेन अवच्छिद्यमानत्वात्, यद् यदेवम् तत्तत्तथा

(१) प्रतीति। (२) पृ० ४९० पं० १। (३) गवयगतसादृश्यस्य। (४) विप्रकृष्टस्मृति–आ० टि०। (५) सन्निकृष्टसादृश्यम्–आ० टि०। (६) उपमान–आ० टि०। (७) विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिनिरपेक्षस्य। (८) न प्रमाणान्तरत्वं युक्तमिति सम्बन्ध। तुलना–"तेषां तद्गोचरत्वेऽपि भवत्येवानुमैव हि। त्रिरूपलिङ्गजन्यत्वमस्य चैव प्रतीयते॥ यो गवा सदृशोऽसौ हि गवयश्रुतिगोचर। सकेतग्रहणावस्थो बुद्धिस्थो गवयो यथा॥ गोसदृशत्व हेतु, गवयश्रुतिगोचरत्वं साध्यधर्म, संकेतग्रहणकाले विकल्पबुद्धिप्रतिभासी बुद्धिस्थो गवयो दृष्टान्त दृश्यमानो गवयो धर्मी॥"–तत्त्वसं० पं० पृ० ४५३-५४। "तथाप्यनुमानजन्यत्वान्न प्रमाणान्तरमाविशति। स्मर्यमाणो गौ धर्मी एतत्सदृश इति साध्यो धर्म एतदवयवसामान्ययोगित्वात् सन्निहितद्वितीयगवयपिण्डवत्। तदसन्निधाने सामान्येन व्याप्तिर्दर्शयितव्या। यत्र यदवयवसामान्ययोगित्व तत्र तत्सादृश्य यथा यमयोरिति।"–न्यायमं० पृ० १४८। "यदा च प्रत्यक्षेण प्रतियन्नपि गवाश्वादौ भूयोऽवयवसामान्ययोगं तद्वियोगं वा व्यामूढः सदृशासदृशव्यवहार न प्रवर्त्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् त्रैरूप्यसद्भावादनुमानप्रमाणता समस्त्येव। तथाहि–गवाश्वादौ विषाणाद्यवयवसामान्ययोग तद्वियोगो वा प्रागुपलब्ध इदानी स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतो··"–सन्मति० टी० पृ० ५८३।

1–भवप्रभावि–श्र०, ब०। 2–कृष्टसा–श्र०। 3–स्य स्मृति–ब०। 4–नत्वाद्वा ब०।

यथा सन्निहितो गवयपिण्डः, तथा चायम्, तस्मात्तथेति। यदि वा, अविलक्षणविषाणाद्यवयवयोगित्वादिति हेतुः, साध्य-दृष्टान्तौ तौ एव।

सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानफलस्य उपमानस्य पृथक् प्रामाण्य वर्णयतो नैयायिकस्य पूर्वपक्ष –

ननु माभूत् मीमांसकाभ्युपगतमुपमानं प्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणान्तरम्, नैयायिकैरभ्युपगतं तु भविष्यति। [1]ते हि "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इत्युपमानलक्षणं वर्णयन्ति। तत्र [2]प्रसिद्धश्च तत्साधर्म्यञ्च, प्रसिद्धेन वा गवा साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्धं वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयः तस्मात्, तमाश्रित्य साध्यस्य सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनं बोधनम् उपमानम्। श्रुतातिदेशवाक्यस्य हि प्रमातुः अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं यद् इन्द्रियजं संज्ञा[3]संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलं तदुपमानं प्रतिपत्तव्यम्। [4]तद्धि इन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव [5]तदगोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम्। श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविकवचः 'यादृशो गौस्तादृशो

(१) "प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। यथा गौरेवं गवय इति। किं पुनरत्र उपमानेन क्रियते ? यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। यथा गौरेव गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्द सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतिपद्यत इति। यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रपिपद्यमानस्तामौषधी भैषज्यायाहरति।"–न्यायभा० १।१।६। (२) "प्रसिद्धसाधर्म्यादिति–प्रसिद्ध साधर्म्यं यस्य, प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽय प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ। किमुक्तम्भवति ? आगमाहितसस्कारस्मृत्यपेक्ष सारूप्यज्ञानमुपमानम्। यदा ह्यनेन श्रुत भवति यथा गौरेव गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्य पश्यतोऽस्य भवति अय गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्ति।"–न्यायवा० पृ० ५७। "प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च। श्रुतिमयी यथा गौरेव गवय इति। प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृश पिण्ड इति। तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतु। तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिसहित सादृश्यज्ञानमुपमानाख्य प्रमाणमास्थेयम्।"–न्यायवा० ता० पृ० १९८। (३) "अद्यतनास्तु व्याचक्षते–श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियज सज्ञासज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम्। तद्धीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव तदगोचरप्रमेयप्रमितिसाधनात् प्रमाणान्तरम्। श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरक कानने परिभ्रमन् गोसदृश प्राणिनमवगच्छति, ततो वनेचरपुरुषकथित यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा च प्रतिपद्यते अय गवयशब्दवाच्य इति। तदेतत्सज्ञासज्ञिसम्बन्धज्ञान तज्जन्यमित्युपमानफलमित्युच्यते।"–न्यायम० पृ० १४२। न्यायकलि० पृ० ३। "सम्बन्धस्य परिच्छेद सज्ञाया सज्ञिना सह। प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफल विदु॥"–न्यायकुसु० ३।१०।–"ग्रामीणस्य प्रथमत पश्यतो गवयादिकम्। सादृश्यधीर्गवादीना या स्यात्सा करण मतम्॥ वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते। गवयादिपदाना तु शक्तिधीरुपमाफलम्॥" मुक्ता०का० ७९-८०। तर्कस० उपमानपरि०। (४) सारूप्यज्ञानम्। (५) इन्द्रियागोचर।

1 तथाहि ब०।

गवयः' इति स्मृत्वा प्रतिपद्यते 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति । तदेतत् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वात् उपमानफलम् । नहि [१]प्रत्यक्षस्य तत्फलम्; वनस्थगवयाकारमात्रपरिच्छेदफलत्वात्तस्य । नाप्यनुमानस्य; पक्षधर्म-अन्वय-व्यतिरेकादिसामग्रीमन्तरेणापि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिप[1]त्तेरुत्पादप्रतीतेः । नाप्यागमस्य तत्फलम्; न खलु नागरकः प्रतिपत्ता आरण्यकवाक्यादेव अरण्यस्थं[2]प्राणिनं गवयशब्दवाच्यतया प्रतिपद्यते, किन्तु सारूप्यं प्रसिद्धेन गवा [२]तस्य पश्यन् । नहि गवयादर्शने 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । तद्दर्शने तु तदेव 'श्रुतातिदेशवा[3]क्यस्य हि' इत्याद्युक्तप्रकारेण तत्प्रतीतिफलमुपमानमुच्यते इति ।

वृद्धनैयायिकास्तु [३]प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमानं वर्णयन्ति । गवयार्थी हि नागरकः अनवगतगवयस्वरूपः तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति 'कीदृशो गवयः' इति ? स तं प्रत्याह–'यादृशो गौः तादृशो गवयः' इति । तदेतद्वाक्यम् [4]अप्रसिद्धस्य गवयस्य प्रसिद्धेन गवा सारूप्यमभिदधत् तद्द्वारकम् अप्रसिद्धस्य पशोः गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयति इत्युपमानमुच्यते इति ॥ छ ॥

[5]अत्रोच्यते । यत्तावदभिनवनैयायिकैरभिहित[४]म्–'श्रुतातिदेशवाक्यस्य' इत्यादि;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरम् उपमानस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भावसमर्थनम्–

तत्र किं साक्षात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता उच्येत, परम्परया वा ? प्रथमपक्षे न मीमांसकोपवर्णितोपमानादस्य कश्चिद्विशेषः, अतस्तत्पक्षोक्तदूषणगणप्रसङ्गोऽत्राप्यनिवारितप्रसरः प्रतिपत्तव्यः । न खलु भवत्कल्पितम् [6]अप्रसिद्धपिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियप्रभवं साक्षात् [५]तत्प्रतिपत्तेरङ्गं भवितुमर्हति । तद्धि केवलं तदङ्गं भवेत्, [7]संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्मृतिसहायं वा ? यदि केवलम्; तदा अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि दृष्टगोः

(१) "प्रत्यक्ष तावदेवैतद्विषये न कृतश्रमम् । वनस्थगवयाकारपरिच्छेदफल हि तत् ॥ अनुमान पुनर्नात्र शङ्कामप्यधिरोहति । क्व लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध क्व संज्ञासज्ञितामति ॥ आगमादपि तत्सिद्धिर्न वनेचरभाषितात् । तत्काल सज्ञिनो नास्ति गवयस्य हि दर्शनम् ॥"–न्यायमं० पृ० १४२ । "सेय न तावद्वाक्यमात्रफलम्, अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षफलम्, अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् । नापि समाहारफलम्, वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वात् । वाक्यतदर्थयो स्मृतिद्वारोपनीतावपि गवयपिण्डसम्बन्धेनापीन्द्रियेण तद्गतसादृश्यानुपलम्भे समयपरिच्छेदासिद्धे "–न्यायकुसु० ३।१० । (२) गवयस्य । (३) "अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते–सज्ञासज्ञिसम्बन्धप्रतीतिफल प्रसिद्धेतरयो सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम् । गवयार्थो हि नागरकोऽनवगतगवयस्वरूप तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति कीदृग्गवय इति, स तमाह यादृशो गौस्तादृशो गवय इति । तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्द्वारकमप्रसिद्धस्य गवयसज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते ।"–न्यायमं० पृ० १४१ । (४) पृ० ४९६ प० ८ । (५) सज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ।

1–त्तेरुत्पत्तेः ब० । 2–स्थं प्राणिनं ब० । 3–वाक्यो हि आ०, ब० । 4 असिद्धस्य, आ० । 5 अत्र प्रतिविधीयते ब०, श्र० । 6 असिद्ध–ब० । 7 संज्ञासम्बन्ध–आ० ।

नागरकस्य अटव्यां गवयं पश्यतः प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं तत्सम्बन्धप्रतिपत्तिं विदध्यात् । अथ [1]तद्वाक्यश्रवणसहायस्यैवास्य[1] तत्प्रतिपत्तिजनने सामर्थ्यं न केवलस्य, तेनायमदोषः, तर्हि श्रुतविस्मृतातिदेशवाक्यस्यापि प्रतिप[2]त्तुः तत् तत्प्रतिपत्तिं विदध्यात् । अथ [2]तत्स्मृतिसहा[3]यं सत् तत्[3] तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्; तर्हि प्रत्यभिज्ञानप्रसादादेव साक्षात् तत्प्रतिपत्तिरङ्गीकृता स्यात्, तस्यैव गोगवययोः सादृश्यपरामर्शद्वारेण संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः । तत्स्मृतिसहायेन हि गवयप्रत्यक्षेण उपलब्धोपलभ्यमानयोः गोगवययोः सारूप्यपरामर्शिप्रत्यभिज्ञाख्यं ज्ञान जन्यते अन्य[4]तस्तत्परामर्शायोगात् । नहि गवयप्रत्यक्षं गोस्मरणमुभय वा तत्परामृष्टु समर्थमित्यु[5]क्तं मीमांसकोपकल्पितोपमानविचारावसरे । ते[6]न च तत्परामर्शं कुर्वता संज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्विधीयते इति ।

एतेन 'परम्परया तत्प्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता' इत्यपि प्रत्युक्तम्; साक्षात् तत्सम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्ग[7]प्रत्यभिज्ञानजनकत्वेन प्रसिद्धसारूप्यज्ञानादेरपि उपचारेण उपमानताभ्युपगमे सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात्। चक्षुरादिना अतिप्रसङ्गाच्च; तस्यापि परम्परया तज्जनकत्वसभवात् । ततः 'तद्धि इन्द्रियज[8]नितमपि' इत्या[4]दि प्रत्याख्यातम्; प्रत्यभिज्ञानस्यैव इन्द्रियागोचरसंज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः ।

यदप्युक्त[9]म्–'नाप्यागमस्य तत्फलम्' इत्यादि, तत्र सिद्धसाधनमेव, तत्सम्बन्धज्ञानस्य [10]प्रत्यभिज्ञानफलत्वात् । किञ्च, शब्दादनुत्पद्यमानत्वाद्वास्य आगमाऽफलत्वम्, तत्प्रतीतावुपायस्य अपरस्योपदेशात्, [11]वाच्यसवित्त्यपेक्षणाद्वा ? तत्राद्यपक्षे किं सामान्यतोऽतिदेशवाक्यात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानानुत्पत्तिः, विशेषतो वा ? यदि सामान्यतः; तदा 'अयमसौ गवयः यस्य मया पूर्वं संज्ञा श्रुता' इत्येवमाकारा प्रतिप[5]त्तिरतिदुर्घटा स्यात्,

(१) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानस्य । (२) अतिदेशवाक्य । (३) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानम् । (४) गवयप्रत्यक्षात्–आ० टि० । (५) पृ० ४९४ प० १२। (६) प्रत्यभिज्ञानेन । (७) साक्षात्सम्बन्धबोधकारण यत् प्रत्यभिज्ञान तस्य जनकत्वेन, कारणे कार्योपचारादित्यर्थं । (८) पृ० ४९६ प०१०। (९) पृ० ४९७ पं० ४। (१०) तुलना–"यादृशो गौस्तादृशो गवय इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य वने गवयमुपलभमानस्याय गवय इति प्रतीतिरुपमानफलमुच्यते । तत्र तावद् गोसदृशो गवय इति प्रथमावगति पुरुषवाक्यमात्रप्रभवा नोपमान भवति । यदपि वनगतस्य गवये तद्गते च गोसादृश्ये ज्ञान तदपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षम् । या त्वेतस्य गवयशब्दवाच्यतावगति सापि गवयशब्दप्रयोगादानुमानिकी । यस्य शब्दस्य यत्र प्रयोग तस्य तद्वाच्यतया सम्बन्धनियमोऽवगत । वने च सञ्ज्ञिनमुपलभ्यैतस्यैव सा मया सञ्ज्ञाऽवगतेति तज्ज्ञान स्मरणमेवेति नोपमानस्यावकाश ।"–प्रक० पं० पृ० ११२। प्रश० क० पृ० २२१-२२ । "तथा गोसदृशो गवय इति सङ्केतकाले गोसदृश-गवयाभिधानयो वाच्यवाचकसम्वन्ध प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञेति किन्नेष्यते ?"–प्रमेयक० पृ० ३४७। स्या० र० पृ० ४९८ । (११) "न निराकाङ्क्षताबुद्धिस्तदानीमुपजायते । तदुत्पादनपर्यन्तः शब्दव्यापार इष्यते ॥ न चासौ निर्वहत्यत्र वाच्यसवित्त्यपेक्षणात् । शब्देन तदनिर्वाहान्न स्वकार्यं कृत भवेत् ॥"–न्यायमं० पृ० १४४।

1 तद्वाक्यात् श्रव–ब० । 2–पत्तुस्तत्प्रति–श्र० । 3–यं सत्तत्प्रति–ब० । 4–जनकमपि ब० । 5–त्तिरितिदुर्घ–ब० ।

अतिदेशवाक्योच्चारणवैयर्थ्यञ्च[१]। यत् यत्प्रतिपत्त्यर्थिनः तद्विषयां प्रतिपत्तिं मनागपि नोत्पादयति न तत्तं प्रति प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते यथा जल[1]प्रतिपत्त्यर्थिनोऽनलवाक्यम्, नोत्पादयति च गवयप्रतिपत्त्यर्थिनः तत्प्रतिपत्तिं मनागपि अतिदेशवाक्यमिति । अथ विशेषतः; तदा आगमप्रमाणाय दत्तो जलाञ्जलिः, तस्य प्रत्यक्षवत् देशकालाकार-विशेषतः क्वचिदपि विषये विज्ञानजनकत्वासंभवात्, सामान्यत एवागमात् सर्वत्र संवित्तिसंभवात् ।

अथ तत्प्रतीत्युपायस्य[२] अपरस्योपदेशान्नास्य आगमफलत्वम्, यत्र हि शब्दप्रत्ययादेव अर्थतथात्वम् उपायान्तरनिरपेक्षमवधार्यते स आगमः, यत्र[2] तु पुरुषः अर्थ-प्रतीतौ उपायान्तरमपरमुपदिशति तत्र तत एवोपायात् प्रसिद्धसाधर्म्यादिलक्षणात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धाद्यवधारणम्, उपायमात्रावगम एव तु शब्दव्यापार इति; तदसाम्प्रतम्; शब्दव्यापारप्रभवस्याप्यस्य एतावता[३] विशेषेण यद्यागमात् प्रमाणान्तरत्वमिष्यते, तदा प्रमाणानामानन्त्यप्रसङ्गात् नैयायिकस्य 'चत्वारि[४] प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः स्यात् । तथाहि[५]–'यः सिंहासनाधिरूढः स राजा, पयोऽम्बुभेदी हंसः, षट्पादैः मधुपः,

(१) गवयप्रतिपत्त्यर्थिनोऽतिदेशवाक्योच्चारण व्यर्थम् तत्प्रतिपत्त्यजनकत्वात् । (२) "ननु शब्दस्वभावत्वादस्याप्तोपदेशः शब्द. इत्यनेन गतार्थत्वान्नेद प्रमाणान्तर भवेत् ······उच्यते–यत्र शब्दप्रत्ययादेव तत्प्रणेतृपुरुषप्रत्ययादेव वा अर्थतथात्वमुपायान्तरानपेक्षमवगम्यते स आगम एव ततस्तदर्थप्रतीते । यत्र तु पुरुषः प्रतीत्युपायमपरमुपदिशति तत्र तत एवोपायात्तदर्थावधारणम् । उपायमात्रावगमे तु शब्दव्यापार, यथा परार्थानुमाने अग्निमानय पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसवदिति । अत्र हि न पुरुषोपदेशविश्वासादेव शैलस्य कृशानुमत्ता प्रतिपत्ता निमित्तान्तरनिरपेक्ष. प्रतिपद्यते अपि तु तदवबोधकधूमाख्यलिङ्गसामर्थ्यादेव । तदिह यद्याटविको नागरकाय गवयार्थिने तदवगमोपाय प्रसिद्धसाधर्म्यं नाभ्यधास्यत्तर्हि तदुपदेश आगम एव अन्तरभविष्यत् । तदुपदेशात्तु तत एव तदर्थावगम इति सत्यपि शब्दस्वभावत्वे प्रमाणान्तरमेवेदम् ।"–न्यायमं० पृ० १४२ । (३) उपायान्तरनिर्देशमात्रादेव । (४) "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा. प्रमाणानि ।"–न्यायसू० १।१।३। (५)तुलना–'अनन्तोपायजन्याश्च समाख्यायोगसविद । साधर्म्यमनपेक्ष्यापि जायन्ते नरपादिषु ॥ सितातपत्रपिहितब्रध्नपादो नराधिप । तेषां मध्य इति प्रोक्त उपदेशविशेषत ॥ कालान्तरेण तद्दृष्टौ तन्नामास्येति या मति. । सा तदाऽन्या प्रमा प्राप्ता साधर्म्याद्यनपेक्षणात् ॥"–तत्त्वसं० पृ० ४५५ । "ननु चाप्तोपदेशात् प्रतिपाद्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणान्तरमिति चेत्; तर्हि आप्तोपदिष्टोपमानवाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमान श्रुतात्प्रमाणान्तरम् । सिंहासनस्थो राजा, मञ्चके महादेवी, सुवर्णपीठे सचिव, एतस्मात्पूर्वत एतस्मादुत्तरत एतस्माद्दक्षिणत एतन्नामाणवयं (न्नामकमिद) ग्रामवानक (ग्रामधानक) मित्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात् सोऽयं राजेत्यादि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति, षडाननो गुहश्चतुर्मुखो ब्रह्मा तुङ्गनासो भागवत क्षीराम्भोविवेचनतुण्डो हसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसस्कारस्य तथाप्रतिपत्तिर्वा यद्यागमज्ञान तदा तद्वदेवोपमानमवसेय विशेषाभावात् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ । "पयोम्बुभेदी हस स्यात् षट्पादैर्भ्रमर. स्मृत. । सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छद ॥ पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्य पृथुस्तनी । युवतिश्चैकशृङ्गोपि गण्डक. परिकीर्तित. ॥ शरभोऽप्यष्टभि पादै सिंहश्चारुसटान्वित. । इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव मराला-

1 जलप्रत्यर्थि–ब० । 2 यत्र पुरु–ब० ।

सप्तपर्णैर्विषमच्छदः' इत्येवमादिवाक्यैर्जनितसंस्कारस्य यथोक्त[1]विशेषणविशिष्टं राजादिकं पश्यतः 'अयमसौ राजा' इत्येवमादि[2]र्या सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुत्पद्यते सा [1]भवन्मते प्रमाणचतुष्टयानन्तर्भूतत्वात् प्रमाणान्तरं स्यात् । न ह्य[3]सौ उपमानम्, प्रसिद्धसाधर्म्यानपेक्षणात् । नाप्यागम., तत्प्रतीतौ[4] सिंहासनाधिरूढत्वादेरुपायान्तरस्योपदेशात् । तथाप्यस्य आगमेऽन्तर्भावे उपमानस्यापि तत्रान्तर्भावोऽस्तु अविशेषात् ।

एतेन 'वाच्यसंवित्त्यपेक्षणात्' इत्यपि प्रतिव्यूढम्, उक्तप्रतीतेस्तदपेक्षणेऽपि [2]आगमे अन्तर्भावाऽभ्युपगमात् । ननु उपा[3]यान्तरादर्थप्रतीतावपि उपमानस्य आगमेऽन्तर्भावाभ्युपगमे 'अग्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् महानसवत्' इत्यादेः परार्थानुमानस्य कुतस्तत्र[4]न्तर्भावो न स्यादिति चेत् ? 'अनु[5]मानकारणकार्यत्वात्' इति ब्रूमः । तथाहि–प्रतिपादकस्वार्थानुमानकार्यत्वात् प्रतिपाद्यस्वार्थानुमानकारणत्वाच्च वचनरूपस्यापि परार्थानुमानस्य अनुमानता न विरुध्यते । नचैतद् भवत्कल्पितोपमाने संभवति । न खलु उपदिष्टप्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणोपायादर्थप्रतीतिं विहाय अन्यदुपमानं किञ्चिद् भवतः प्रसिद्धमस्ति यत्कारणकार्यतया अस्य[6] उपदेशप्रभवस्याप्युपमानता स्यादिति[7] ।

एतेन वृद्धनैयायिकैर्यदुक्तमुपमानलक्षणम्–'प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमानम्' इति; तदपि प्रत्याख्यातम्, अतिदेशवाक्यात्मनोऽस्य आगमस्वभावतया उपमानत्वायोगात् । किञ्चिद्विशेषमादाय अस्य अनागमस्वभावत्वाभ्युपगमे प्राक्प्रतिपादिताशेषदोषानुषङ्गः स्यात् । ततो गोगवययोः सारूप्यपरामर्शात्मकं ज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञाख्यं मुख्यत[5]ः उपमानं युक्तं नान्यदिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्, अत्र उक्तदोषाणां लेशतोप्यवकाशासंभवा[6]त् ॥ छ ॥

कारिकायामनुक्तमपि दूषणं 'प्रसिद्ध' इत्यादिना दर्शयन्नाह–**प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम्** विवृतिव्याख्यानम्– **अन्यथानुपपन्नत्वेन** साध्याभावप्रकारेण **निर्णीतं चेत्** यदि तर्हि

दीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्त दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात् । परेषा तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपपद्यत उपमानादौ तस्यान्तर्भावाभावात् ।"–**प्रमेयर० पृ० ८४ । स्या० र० पृ० ४९८ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । जैनतर्कभा० पृ० १० ।**

(१) नैयायिकमते । (२) तुलना–"वाक्यादेव सङ्केतस्य प्रतीतत्वात् । तथाहि–सादृश्यवाक्यस्यायमर्थो यो गोसदृश स गवय इत्येव व्यवहर्त्तव्य । स च वाक्यादुपलब्धसङ्केत सादृश्यावच्छिन्न पिण्डमुपलभमान पर व्यवहरति अयं गवय इति ।"–**प्रश० व्यो० पृ० ५८९ ।** "उपमान तावत् यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्, तज्जनिता धीरागम एव ।"–**साख्यतत्त्वकौ० पृ० ३९ । वैशे० उप० पृ० २३७ ।** (३) अतिदेशवाक्यावगतप्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानात् । (४) आगमे–**आ० टि० ।** (५) "तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्"–**परीक्षामु० ३।५६ ।** (६) सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धस्य–**आ० टि० ।** (७) अतोऽस्यागमेऽन्तर्भावो युक्त इति तात्पर्यम्–**आ० टि० ।** (८) **पृ० ४९७ प० ९ ।**

1–विशेषविशि–श्र० । 2–मादिकाया स–व०,–मादित्यासं–श्र० । 3–सौ तु उप–श्र० । 4–तौ हि सिंहा–श्र० । 5–तः प्रमाणं युक्तं व० । 6–वादिति व० ।

लिङ्गमेव तल्लक्षणत्वात्[2] लिङ्गस्य । अथ तथात्वेन तदनिर्णीतं तत्र दूषणमाह–**'ततः'** इत्यादि । ततः[1] प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् **प्रतिपत्तिः** साध्यसंवित्तिः **अन्यथा** अन्यथानुपपन्नत्वनिर्णयाभावप्रकारेण **न युज्यते** । **'प्रत्यक्ष'**[3] इत्यादिना प्रथमं कारिकार्द्धं व्याचष्टे–**प्रत्यक्षे** दर्शनेन विषयीकृते **अर्थे** गवयलक्षणे 'गवयः' इति **संज्ञा** तस्या गवयलक्षणोऽर्थः **संज्ञी** तयोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः **सम्बन्धः** तस्य **प्रतिपत्तेः** 'गवयोऽयम्' इति संवित्तेः **प्रमाणान्तरत्वे** अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह–**'वृक्ष'**[4] इत्यादि । **अयं**[3] दृश्यमानो भावः **वृक्षः इति** यत् **ज्ञानं** तत् 'प्रमाणान्तरं स्यात्' इत्यध्याहारः । कस्य तज्ज्ञानम् ? इत्याह–**वृक्षदर्शिनः** । अत्र निदर्शनमाह–**'गवय'**[5] इत्यादि । **'अयं गवयः' इति ज्ञानं यथा गवयदर्शिनः** उपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तथा प्रकृतमपि तदन्तरं स्यात् । उपमानं कस्मात् तन्न भवतीति चेत् ? अत्राह–**'प्रसिद्ध'** इत्यादि । **प्रसिद्धार्थसाधर्म्याद् या साध्यसिद्धिः** तस्या **अभावात्** तत्प्रमाणान्तरम्[4] । कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यत इति चेत् ? उच्यते वृक्षानभिज्ञो[6] यदा कश्चित् कञ्चित् पृच्छति 'कीदृशो वृक्षः' इति ? स तं प्रत्याह–'शाखादिमान् वृक्षः' इति । तद्वाक्याद्याहितसंस्कारः प्रष्टा पुनः शाखादिमन्तं पदार्थं पश्यन् 'अयं वृक्षः' इति प्रतिपद्यते । अनेन[7] च **तद्वैधर्म्यात्** तत्प्रतिपत्तिवैलक्षण्यात्[5] इत्ययमर्थो व्याख्यातः[8] ।

तथाऽपरमपि प्रमाणान्तरं परस्य आपादयितु **'गौरिव'** इत्याद्याह । अस्यायमर्थः- यदा कश्चिदाटविकः नगरस्थेन 'कीदृशो गवयः' इति पृष्टः इदमाह–'गौरिव गवयः' इति । तदा तस्य नागरकस्य **'गौरिव गवयः'** इत्येवं वाक्यं **श्रुत्वा पर्यटतो गवयदर्शिनः**[9] **तन्नामप्रतिपत्तिवत्** । तच्छब्देन[6] दृष्टो गवयः परामृश्यते, तस्य 'गवयः' इति नाम तस्य प्रतिपत्तिः सेयं तद्वदिति । **प्रत्यक्षेषु** दर्शनविषयीकृतेषु **इतरेषु** प्रसिद्धार्थविसदृशेषु **तिर्यक्षु** महिष्यादिषु **तस्यैव** 'गौरिव गवयः' इति वाक्यं श्रुतवतः **पुनः** पश्चाद् **'अगवयोऽयम्'** इति **निश्चयः किन्नाम** किमभिधानं **प्रमाणं** स्यात् ? सामान्येन

(१) तुलना–"योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः' इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव । यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव ।"–सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४० । न्यायली० पृ० ५६ । वैशे० उप०पृ० ३३७ । (२) अन्यथानुपपत्तिलक्षणत्वात् । (३) तुलना–"वृक्षोऽयमित्यादि"– परीक्षामु० ३।१० । प्रमेयक० पृ० ३४७ । (४) प्रमाणान्तरम्–आ० टि० । (५) न पुनरुपमानरूपम्– आ० टि० । (६) महिष्यादिषु वैधर्म्यात् प्रमाणान्तरत्वापत्तिः–आ० टि० । (७) ग्रहणवाक्यम्–आ० टि० । (८) यथा तन्नामप्रतिपत्तिर्भवतः प्रमाणान्तरं तथा गवये दृष्टेऽर्थप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरं प्राप्नोति इति भावः–आ० टि० ।

1 अथातथा–आ० । 2 ततप्रसिद्धा–ब० । 3 प्रत्यक्षत इत्या–श्र० । 4 वृक्षोऽयमित्या–श्र० । 5 गवयोऽयमित्या–श्र०, ब० । 6 वृक्षाज्ञो आ०, वृक्षायज्ञो ब० । 7 तेन च आ० । 8 व्याख्यायते ब० । 9 गवय इति दर्शिनः श्र० ।

निश्चयवचनम् अशाब्द[1]स्य मीमांसकसम्बन्धिनः शाब्दस्य[2] च नैयायिकसम्बन्धिनो निश्चयस्य सङ्ग्रहार्थम्, तेन मीमांसकं प्रति यद् व्याख्यानं तदपि सङ्गृहीतम्, इतरथा 'अगवयनामनिश्चयः' इति ब्रू[3]यात्। अथ अगवयज्ञानं प्रमाणं न भवतीत्युच्यते; अत्रोत्तरमाह–**'हानोपादान'** इत्यादि। **हानोपादा[4]नोपेक्षाप्रतिपत्तिः फलं** यस्य अगवयज्ञानस्य **तन्न अप्रमाणं भवितुमर्हति** किन्तु प्रमाणमेव तदिति प्रमाणेयत्ताव्याघातः।

तथाऽपरमपि परस्याऽनिष्टं प्रमाण दर्शयन्नाह–

प्र[4]त्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ? ॥ २० ॥

विवृतिः–आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन प्रमाणमप्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव। यथा[5] एतस्मात् पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधा[5]नकमेतन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः। कश्चायं निश्चयः संज्ञा[6]संज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति ?

प्रत्यक्षश्च तदर्थान्तरश्च तस्य **अपेक्षा** य[7]स्यां सा तथोक्ता। कासौ ? इत्याह–

कारिकार्थ – **सम्बन्धप्रतिपत्** वाच्यवाचकयोः यः सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तिः **यतः** यस्मा[8]त् 'जायते' इत्यध्याहारः, **तत्प्रमाणम्**। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**'न चेत्'** इत्यादि। **न चेत्** प्रमाणं **सर्वं** मीमांसक-नैयायिककल्पि[9]तम् **उपमानम् कुतः ?** न कुतश्चित् प्र[6]माणमिति सम्बन्धः **तथा** तेन तदप्रामाण्यप्रकारेण।

---

(१) मीमासका हि सादृश्यज्ञानमुपमानकथयन्ति अतस्तेषामुपमान न शब्दात्मकम्। (२) नैयायिकास्तु सज्ञासज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमान वर्णयन्ति अतस्तेषामभिप्रायेण तच्छाब्दबोधात्मक भवति। (३) सूत्रकार–आ० टि०। अकलङ्कदेव। (४) "यतो यस्माज्ज्ञानाद् भवति। का ? सम्बन्धप्रतिपत् सम्वन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत् ज्ञप्ति। कि विशिष्टा ? प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा, प्रकृतात् शब्दलक्षणादर्थादन्योऽर्थोऽर्थान्तर प्रत्यक्ष च तदर्थान्तरञ्च प्रत्यक्षार्थान्तर वृक्षादि तत्तथोक्तम्, तस्यापेक्षा यस्या सा प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा। तज्ज्ञान चेद् यदि न प्रमाण स्यात्तदा तर्हि सर्वं नैयायिकमीमासकादिकल्पितमुपमान कुत प्रमाण स्यादविशेषात्। न हि सादृश्यसम्बन्धज्ञान प्रमाण न पुनर्वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञानमिति विशेषोऽस्ति। तत सज्ञासज्ञिसङ्कलनमपि प्रभाणान्तरमेव भविष्यतीति कुत प्रमाणसख्यानियम ?"–लघी० ता० पृ० ४०। (५) तुलना–"तथा अस्मात्पूर्वमिद पश्चाद्दीर्घं ह्रस्वमिद महत्। इत्येवमादिविज्ञाने प्रमाऽनिष्टा प्रसज्यते॥"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२। (६) उपमानम्–आ० टि०।

---

1 असादृश्यामीमा–ब०। 2 सादृश्य च ब०। 3 इतरथा गव–आ०, ब०। 4–दानोपेक्षा. फल आ०, ब०। 5–धानक ये तन्ना–ई० वि०। 6 सज्ञासम्प्र–ज० वि०। 7 यस्या सा श्र०। 8–स्माज्ज्ञायते श्र०। 9–ल्पितं कुत. ब०, आ०।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'आगम'** इत्यादि। [१]यो यस्य अविसंवादकः पुरुषः स तस्य

विवृतिव्याख्यानम्– आप्तः तस्य वचनम् **आगमः** तेन **आहितः संस्कारो** यस्य **तदर्थदर्शिन** आगमार्थदर्शिनः **तन्नामप्रतिपत्तिः** आगमार्थाभिधानप्रतिपत्तिः **साकल्येन** अनवयवेन या काचित् तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः सा **प्रमाणमप्रमाणं वा ?** 'स्यात्' इत्यध्याहारः। यदि प्रमाणम्; प्रमाणसंख्याव्याघात.। अथ अप्रमाणम्; तर्हि उपमानमप्यप्रमाणं स्यादविशेषात्, अतः स एव तत्संख्याव्याघातः। ननु तस्य[२] तत्प्रतिपत्तिरुपमानमेव[३] तच्च[४] प्रमाणमिष्टमेव इत्युक्तदोषानवकाश इत्याशङ्क्याह–**'न पुनः'** इत्यादि। **न पुनः** नैव **उपमानमेव** तत्प्रतिपत्तिरित्यनुवर्त्तते। किन्तु ततोऽन्यापि विद्यते इत्यभिप्रायः। अत्रोदाहरणमाह–**'यथा'** इत्यादि। **'यथा'** इत्युदाहरणप्रदर्शने, **एतस्मा**न्नगरादेः **पूर्वं पश्चिममुत्तरं**[1] **दक्षिणं वा ग्रामधानकं** ग्रामविशेषस्येयं संज्ञा **एतन्नामकं** एतदनिर्दिष्टं नाम यस्य तत्तथोक्तम् **इत्येवमाहितसंस्कारस्य** पुंसः **पुनस्तद्दर्शिनो** यत् तत् **'एतस्मात्'** इत्यनेन **'ग्रामधानकम्'** इत्यनेन चोक्तम् तत्पश्यतीत्येवशीलस्य **तन्नामप्रतिपत्तिः** ग्रामधानकनामप्रतिपत्तिः। चशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। **'एतस्मात्'** इत्यनेन अपेक्षं प्रत्यक्षार्थान्तर[५]मुक्तम् **'पूर्वम्'** इत्यादिना[2] तु तदपेक्षं ग्रामधानकम्। अत[६] एवा[3]ऽस्य विशेषः। भवतु इयं[७] प्रमाणं को दोषः इति चेत् ? अत्राह–**'कश्च'** इत्यादि। **कश्च ?** न कश्चिद् **अयम्** परेणोच्यमानो **निश्चयोऽ**वश्यंभावः। कोऽसौ ? इत्याह–**संज्ञा[4]संज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्या[८]दिप्रतिपत्तिसाधनमिति** किन्तु तदपि स्यादिति भावः। एतदेव दर्शयन्नाह–

इदमल्पं महद्दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम्[९] ॥ २१ ॥

(१) तुलना–"रजस्तमोभ्या निर्मुक्तास्तपोज्ञानवलेन ये। येषा त्रिकालममल ज्ञानमव्याहृत सदा ॥ आप्ता शिष्टा विबुद्धास्ते तेषा वाक्यमसशयम्। सत्य वक्ष्यन्ति ते, कस्मादसत्य नीरजस्तमा ॥" –चरक० सू० ११।१८–१९। "आप्त खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।"–न्यायभा० १।१।७। सांख्यका० माठर० का०५। युक्तिदी० पृ० ४६। "आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्य "–रत्नक० श्लो० ५। "यो यत्राविसवादक स तत्राप्त ततोऽपरोऽनाप्त।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६। (२) आगमार्थदर्शिन। (३) तन्नामप्रतिपत्ति। (४) उपमानम्। (५) नगरादि –आ० टि०। (६) प्रसिद्धसाधर्म्याद्यभावात–आ० टि०। (७) नामप्रतिपत्तिः–आ० टि०। (८) द्वित्वादिसंख्याया अपि अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति भाव –आ० टि०। (९) "साधनान्तर प्रमाणान्तर स्यात्। किम् ? विकल्पो निश्चय। तस्योल्लेखमाह–इदमस्मादल्पम्, इदमस्मान्महत्, इदमस्मादासन्नम्, इदमस्मात्प्राशु दीर्घञ्च, इदमस्मान्न प्राशु इति। वाशब्द परस्परसमुच्चये। कस्मिन् ? समक्षे प्रत्यक्षे पदार्थे। कुत ? व्यपेक्षात, विरुद्धस्य प्रतिपक्षस्यापेक्षा कथञ्चिदजहद्वृत्ति तत इति। एवम् अल्पमहत्त्वादिसङ्कलनमपि परप्रमाणसख्यानियमं विघट-

1 –त्तरं वा ग्रा–श्र०। 2–ना च तद–ब०, श्र०। 3 एव योऽस्य आ०। 4–संज्ञिप्रतिपत्ति–श्र०।

विवृतिः–दृष्टेष्वर्थेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानमधरोत्तरादिज्ञानं द्वित्वादिसंख्याज्ञानमन्यच्च प्रमाणमविसंवादकत्वादुपमानवत्। अर्थापत्तिः 'अनुमानात् †प्रमाणान्तरं न वा' इति किन्नश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्†। तत्समञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्संख्यानवस्थानात्।

कारिकार्थः – **विकल्पशब्दः** प्रत्येकमभिसम्बध्यते, **इदमल्पमिति** विकल्पः, **इदं महदिति** विकल्पः, **इदं दूरमिति** विकल्पः, **इदमासन्नमिति** विकल्पः, **इदं प्रांशु** इति विकल्पः, तथा **अल्पं नेति विकल्पः महन्नेति, दूरं नेति, आसन्नं नेति, प्रांशु नेति। वा**शब्दः पक्षान्तरसूचकः। कुतोऽसौ विकल्पो जायते ? इत्याह–**'व्यपेक्षातः'** इति। आमलकापेक्षया बिल्वं महत्, देवदत्तसमीपकूपापेक्षया पर्वतादिकं दूरम्, एवमन्यत्रापि योज्यम्। इदमल्पमित्यादिग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अधरोत्तरादिविकल्पस्य द्वित्वादिविकल्पस्य च ग्रहणम्। क्वासौ जायते ? इत्याह–**समक्षेऽर्थे।** स किम् ? इत्याह–**साधनान्तरं** प्रमाणान्तरम्।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'दृष्टेषु'** इत्यादि। विवृतिव्याख्यानम्– **दृष्टेषु** प्रत्यक्षेषु **अर्थेषु परस्परम्** अन्योन्यं **व्यपेक्षालक्षणं** यस्य तत्तथोक्तम्। किं तत् ? **अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्,** आदिशब्देन दूरादि गृह्यते। तथा **अधरोत्तरादिज्ञानम्** अत्रापि आदिशब्देन मध्यादिज्ञानपरिग्रहः[3]। **द्वित्वादिसंख्याज्ञानम्,** इहापि आदिशब्देन त्रित्वादिसंख्याज्ञानपरिग्रहः। **अन्यच्च** पूर्वापरादिज्ञानम्। तत्किम् ? इत्याह–**प्रमाणम्।**

यतीत्यर्थः।"–लघी० ता० पृ० ४०। तुलना–"एकविषाणी खड्ग सप्तपर्णो विषमच्छद इत्याहितसंस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शिनामभिज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात् ? तथा सख्यादिलक्षणश्रवणात् तथादर्शिनः समभिज्ञानं सख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात् पश्यतान्च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्तरम्।"–सिद्धिवि०,टी० पृ०१५०B। परीक्षामु० ३।५–१०। प्रमाणनय०३।५–६। प्रमाणमी० १।२।४। उद्धृतोऽयं श्लोकः–'समक्षार्थे'–स्या० र० पृ० ४९८। प्रमेयर० ३।५। प्रमाणमी० पृ० ३५।

(१) तुलना–"तेषां द्व्यादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरम्, गणितज्ञसंख्यावाक्याहितसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्व्यादिषु संख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्व्यादीनि तानीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः द्व्यादिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यम्। तथोत्तराधर्यज्ञानं सोपानादिषु स्थविष्ठज्ञानं पर्वादिषु महत्त्वज्ञानं स्ववंशादिषु, संस्थानज्ञानं त्र्यस्रादिषु, वक्रर्ज्वादिज्ञानञ्च क्वचित्प्रमाणान्तरमायातम्।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२। (२) तुलना–"अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवाभावान्यपि प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते–सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।१२। "उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्"–सर्वार्थसि० १।११। "अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेन्तर्भावात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१। (३)तुलना–"तस्पड्क्त्यादिसन्दृष्टौ एकपादपदर्शनात्। द्वितीयशाखिविज्ञानादाद्योसाविति निश्चयः॥ प्रमाणान्तरमासक्तं सादृश्याद्यनपेक्षणात्।"–तत्त्वस० पृ० ४५०।

---

1 परस्पर व्य–ई० वि०। 2 अल्पबहुत्वादि–ई० वि०। † एतन्दतर्गतः पाठो नास्ति ई० वि०। 3 जात ब०। 4 दृष्टेत्यादि ब०। 5 इत्यत्राह ब०, श्र०।

कुतः ? **अविसंवादकत्वात्** । किमिव ? इत्याह[1]–**उपमानवदिति** । एवं नैयायिकमीमांसकयोः प्रमाणान्तरसम्प्लवं[1] तदभिमतप्रमाणसंख्यानियमनाशकं निरूप्य इदानीं मीमांसकाभिताऽर्थापत्तिं विचिन्तयन्नाह–**'अर्थापत्तिः'** इत्यादि । याऽसौ–

"प्रमाणषट्कविज्ञातो[2] यत्रार्थोऽनन्यथाभवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता[3] ॥" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १]

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकैः परिकल्पितार्थापत्तिः सा **'अनुमानात् प्रमाणान्तरं नवा' इति किन्नश्चिन्तया ?** अयमभिप्रायः–अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य[4] साध्याभावे नियमेनाऽनुपपद्यमानस्य[5] अविनाभावस्वभावलिङ्गलक्षणलक्षितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपन्नम् । तत्प्रभवञ्च[6] ज्ञानमनुमानमेवेति । अतः–

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट्प्रमाणानि जैमिनेः[7] ॥" [षड्द०समु०श्लो०७२ (?)]

इति कुमारिलस्य वदतः प्रमाणसङ्ख्याव्याघातः[8], प्रभाकरस्य च अभावं प्रत्यक्षविशेषं[5] वदतः 'पञ्च[9] प्रमाणानि' इति[10] ।

अर्थापत्ति अनुमानादतिरिक्त प्रमाणमिति वदतो मीमांसकस्य पूर्वपक्ष –

ननु चार्थापत्तेः स्वरूपादिभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धेः कथं प्रमाणसंख्याव्याघातः ? तथा च प्रयोगः–अर्थापत्तिः प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्, विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूपं तत्ततः प्रमाणान्तरं यथा प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । नच विभिन्नस्वरूपत्वमसिद्धम्, तथाहि–तस्याः स्वरूपम्[11]–दृष्टः श्रुतो वाऽ-

(१) एकत्र प्रमेये बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः सम्प्लवः । (२) व्याख्या–"यत्र देशकालादौ प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दार्थापत्त्यभावलक्षणैः षड्भिः प्रमाणैः परिच्छिन्नोऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते यद्येवम्भूतोऽर्थो न भवेदित्येवं या परोक्षार्थविषया कल्पना साऽर्थापत्तिः प्रमाणमुदाहृता शबरस्वामिना ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५६ । (३) उद्धृतोऽयम्–'नान्यथा भवेत्'–मी० श्लो० । प्रश० व्यो० पृ० ५९० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१६ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । 'कल्पयत्यन्य'–तत्त्वसं० पृ० ४५६ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । प्रकृतपाठः–प्रमेयक० पृ० १८७ । स्या० र० पृ० २७६ । रत्नाकराव० २।१ । (४) पीनत्वस्य–आ० टि० । (५) रात्रिभोजनाभावे–आ० टि० । (६) लिङ्गप्रभवञ्च । (७) तुलना–"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५० । (८) अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् पञ्चसंख्यापत्तेः–आ० टि० । (९) "तत्र पञ्चविधं मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा । शास्त्रं तथोपमानार्थापत्तीति गुरोर्मतम् ॥"–प्रक० पं० पृ० १२७ । (१०) प्रमाणसंख्याव्याघात इति सम्बन्धः, तस्य चत्वारि [एव स्युः]–आ० टि० । (११) "अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना, यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।"–शाबरभा० १।१।५ । "विना कल्पनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमर्थं सार्थापत्तिस्तु कल्पना ॥ दृष्टेनार्थेन दृष्टस्यार्थस्यार्थान्तरकल्पनायामसत्यामनुपपत्तिमापादयता साऽर्थान्त-

1 इत्यत्राह ब०, श्र० । 2–नियमविना–श्र० । 3–सकपरिकल्पि–ब० । 4 न चेदिति ब०, न चेति श्र० । 5 प्रत्यक्षादिविशेषं ब०, श्र० ।

र्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना। तत्र दृष्टः प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुपलब्धः, श्रुतः लौकिकाद् वैदिकाद्वा वाक्यादवगतः तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तरकल्पना सा अर्थापत्तिः। सा च षट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात्। तत्र प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहाख्यकार्यान्यथानुपपत्त्या वह्नेर्दाहशक्तिकल्पना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः। देशान्तरप्राप्तेर्लिङ्गादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिकल्पना अनुमानपूर्विका। तथा उपमानज्ञानावगतगवयसारूप्यविशिष्टगोपिण्डान्यथानुपपत्त्या तस्य तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिकल्पना उपमानपूर्विका।

ता एता अर्थापत्तय प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात्। न खलु शक्तयः प्रत्यक्षपरिच्छेद्याः अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानपरिच्छेद्याः, प्रत्यक्षाविषये अनुमानस्याऽप्रवृत्तेः तत्पूर्वकत्वात्तस्य। प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमान प्रवर्त्तते। न च शक्तेरतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे तत्र केनचिल्लिङ्गेन सह अस्याः प्रतिबन्धप्रतिपत्तिर्युक्ता। नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्प्रतिपत्तिः; प्रत्यक्षाविषये तत्प्रवृत्तेरेवाऽसंभवात्। नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, तद्धि इदमेव, अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रवर्तेत? न तावदिदमेव, चक्रकप्रसङ्गात्–सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः, तद्ग्रहणञ्च शक्तिप्रति-

रकल्पना साऽर्थापत्तिः।"–प्रक० प० पृ० ११३। "प्रमितस्यार्थस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये याऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्ति।"–शास्त्रदी० पृ० २९०। नयवि० पृ० १५२। तन्त्ररह० पृ० १३। प्रभाकरवि० पृ० ५३।

(१) "दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा। प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात्पूर्वविलक्षणा॥"–मी० श्लो० अर्था० श्लो० २। "दृष्टशब्देन यद्यप्युपलब्धमात्रमुच्यते तथापि श्रुतशब्दसन्निधानात् गोबलीवर्दन्यायेन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमुच्यते।"–बृह० पं० पृ० ११७। मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४५०। (२) स्फोट–आ० टि०। (३) सादृश्य। (४) सारूप्यविशिष्टगोपिण्डस्य–आ० टि०। (५) उपमानज्ञान। (६) "शक्तयोऽपि च भावाना कार्यार्थापत्तिकल्पिता। प्रसिद्धा पारमार्थिक्य प्रतिकार्यं व्यवस्थिता।"–मी० श्लो० शून्य० श्लो० २५४। "तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे। कार्यादर्शनत शक्तेरस्तित्व सम्प्रतीयते। कार्यस्य ननु लिङ्गत्व न सम्बन्धानपेक्षणात्। दृष्ट्वा सम्बन्धिता चैषा शक्तिर्गम्येत नान्यथा। तद्दर्शने तदानी च प्रत्यक्षादेरसभवात्। अर्थापत्ते प्रमाणत्व त्रैलक्षण्याद्विना भवेत्। शक्तिकल्पनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह यत्रेति। चोदयति कार्यस्येति। कारणवत्तया शक्ति कल्प्यते, कार्याच्च कारणबुद्धिरनुमानमिति। निराकरोति नेति। कारणमाह सम्बन्धेति। बीजे सत्यङ्कुरोत्पत्तिदर्शनाद् बीजकारणत्वमवगम्यते, सत्यपि तस्मिन् मूषिकाघ्राते अङ्कुरानुत्पत्तेरकारणत्व तदिद कारणाकारणत्वव्याघातपरिजिहीर्षया शक्तिकल्पनम्, सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वान्नानुमानम् इतश्च नानुमानमित्याह–दृष्ट्वेति सार्द्धेन। सम्बन्धिग्रहणपूर्वकं हि सम्बन्धग्रहणम्, न च शक्तेः प्रत्यक्षग्रहण सम्भवति अतोऽवश्य सम्बन्धग्रहणवेलाया शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्। अर्थापत्तिर्हि त्रैलक्षण्यवर्जिता शक्नोति ता ग्रहीतुमिति।"–मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६२-६३। शास्त्रदी० पृ० ३०६। (७) प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। (८) अनुमानस्य। (९) अविनाभावे–आ० टि०। (१०) प्रत्यक्षात्–आ० टि०। (११) अविनाभाव। (१२) अन्वयव्यतिरेक।

1 तज्ज्ञानग्राहकशक्ति–श्र०।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति) श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति। अथान्यतोऽनुमानात्तत्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः; ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवर्त्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्[१], तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय.—सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च [1]अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षे त्वनवस्था—अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः । नहि तत्[२] प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति । शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ संभावनैव नास्ति; शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्[३]प्रतिपत्तिप्रतीतेः । अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम् ।

तथा शब्दसाधनार्[2]थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तद[४]न्यथानुपपत्त्या तस्य[५] नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्तिः । [६]नहीदं श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्; पीनादिपदानां स्वार्थप्रतिपादनपरतया रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः । अथ पदसमुदायात् तत्प्रतिपत्तिः; तन्न; अस्य अन्या[७]र्थप्रतिपादनपरत्वात् । श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि-

(१) प्रथमानुमानात् । (२) अनुमानान्तरम् । (३) शक्तिप्रतिपत्तेः । (४) वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या ।(५)शब्दस्य ।(६)"वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः कैश्चिदाश्रितः। तदर्थोपप्लुतस्यान्यैरिष्टो-वाक्यान्तरस्य तु। न तावच्छ्रूयमाणस्य वचसोऽर्थोऽयमिष्यते। न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा। पदार्थान्वियरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते। न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते। न दिवादिपदार्थाना संसर्गो रात्रिभोजनम्। न भेदो येन तद्वाक्य तस्य स्यात् प्रतिपादकम्। अन्यार्थव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना। तस्माद्वाक्यान्तरेणायं बुद्धिस्थेन प्रतीयते। प्रमाणं तस्य वक्तव्य प्रत्यक्षादिषु यद्भवेत्। न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्ष तावदिष्यते। नानुमान न चेद हि दृष्ट तेन सह क्वचित्। यदि त्वनुपलब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते। तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमितिर्भवेत्। श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्व केचित्कल्पयन्ति, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति, तत्रानन्तरपक्ष निराकरोति **न तावदिति**। कारणमाह—**न हीति** । किञ्च यदि वाक्यं वाचकं स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्यं वाचकमित्याह **वाचकतेति** । कथ तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिरत अह—**पदार्थेति** । किमिति रात्रिभोजन दिवावाक्यस्यार्थो न भवत्यत आह—**न रात्रीति** । न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते, ते कथमन्वितरूपतया तद्वाक्यार्थीभवेयुरिति । यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजन दिवादिपदाना ससर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव वाक्यस्यार्थ स्यात् न तु तदस्तीत्याह **न दिवेति** । यद्यपि चानेकार्थता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्यापृतस्य नार्थान्तिर सभवतीत्याह—**अन्यार्थेति** । तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव कल्पितस्यायमर्थो न तु श्रुतस्येत्याह **तस्मादिति** । तस्य तु वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारणीयमित्याह—**तस्येति** । यच्च तदर्थान्तिर तदा यद्यपि वाक्यार्थत्वादागमिक न निष्प्रमाणक तथापि तदेव वाक्य किं प्रमाणकमिति चिन्त्यमिति । तत्रार्थापत्तिरेव प्रमाणमिति वक्तु पूर्वेषा तावदसम्भव दर्शयितुमाह **न हीति** ।"—**मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ०** ४६४–६५ । (७) दिवा न भुङ्क्ते इति निषेधार्थप्रतिपादनपरत्वात्।

1 'अतः' नास्ति आ० । 2–र्थप्रतीत्यन्य–श्र०, ब० ।

भोजनविधिः, विधिप्रतिषेधयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधतो मिथः संसर्गाभावात्। न[1] चानन्वि[2]तस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता दृष्टेष्टा वा, प्रतीतिविरोधात्। नापि तथा[3]विधे पदसमुदाये अभिधात्री[4] तात्पर्यशक्तिर्वा[5]ऽस्तीति। अतः अर्थापत्तित एव रात्रिभोजनलक्षणोऽर्थः प्रतीयते इति प्रमाणान्तरं श्रुतार्थापत्तिः सिद्धा। तदुक्तम्–

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहाद् दहनशक्तिता। वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात्तच्छक्ति[6]योगिता॥
गवयोपमिता[7]या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता। अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्याऽवबोधितात्॥
शब्दे[8] वाचकसामर्थ्यात् तन्नि[9]त्यत्वप्रमेयता। अभि[10]धा नान्यथा सिद्धेरिति वाचकशक्तिता॥
अर्थापत्त्यावगम्यैव तदन्यत्व[11] (दनन्य) गतेः पुनः। अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः॥
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभि[12]धास्यते।" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३–७]

"*पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ। रात्रिभोजनविज्ञानं श्रु[13]तार्थापत्तिरुच्यते॥*"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१] इति।

अभावार्थापत्तेस्तु लक्षणम्–

"*प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात्। गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शि[14]ता॥*
तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत्।" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८–९] इति।

---

(१) मा भूत्संसर्ग को दोष इत्याह–आ० टि०। (२) संसर्गरहितस्य। (३) अन्यार्थप्रतिपादनतत्परे। (४) साक्षात् शक्ति। (५) लक्षणा। (६) गमनशक्ति–आ० टि०। 'ज्ञानाद्दाहाद्दहनशक्तता। वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तियोग्यता॥"–मी० श्लो०। स्या० र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–तत्त्वस० पृ० ४५७। प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी० पृ० ५७९। (७) 'गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता'–मी० श्लो०। 'ग्राह्यशक्तता'–स्या० र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी० पृ० ५७९। तुलना–"गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता। उपमाबलसम्भूतसामर्थ्येन प्रतीयते॥"–तत्त्वस० पृ० ४५९। (८) 'शब्दे बोधकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम्'–मी० श्लो०। (९) तस्य शब्दस्य नित्यत्वेन प्रमेयत्व परिच्छेद्यत्वम्–आ० टि०। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी० पृ० ५७९। स्या० र० पृ० २७८। (१०) "अभिधा नान्यथा सिद्ध्येदिति वाचकशक्तताम्। अर्थापपत्त्यावगम्यैव तदनन्यगते पुन॥"–मी० श्लो०। 'अर्थापत्त्यावगम्यैव'–तत्त्वस० पृ० ४५९। '"वाचकशक्तता। अर्थापत्त्यावगम्यैव'–स्या० र० पृ० २७८। प्रकृतपाठ–प्रमेयक० पृ० १८८। "अभिधानमभिधा अर्थप्रतिपादनमिति यावत्। सा शब्दस्य अन्यथा–वाचकशक्त्या विना न सिद्ध्येदित्येव बोधकशक्तताम्, अवगम्य बुद्ध्वा, तदनन्यगते तस्या बोधकशक्तेरन्या गतिर्नास्ति शब्दनित्यत्वमन्तरेणेति। पुनरर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दस्य नित्यत्वनिश्चय।"–तत्त्वस० पृ० ४५९। (११) एकया अर्थापत्त्या वाचकशक्तिमवगम्य अन्यया शब्दस्य नित्यत्व निश्चिनुयात् प्रमाता–आ० टि०। (१२) मीमांसासूत्रे। (१३) 'शब्दार्थापत्तिरुच्यते'–स्या० र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–तत्त्वस० पृ० ४५७। प्रमेयक० पृ० १८८। सन्मति० टी० पृ० ५७९। (१४) 'वर्णिता'–तत्त्वस० पृ० ४६०। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५७९। स्या० र० पृ० २७८। व्याख्या–"प्रत्यक्षादे प्रमाणस्याभावेन निवृत्त्या निर्णीतो निश्चितो यश्चैत्राभावः तेन विशेषिताद् गेहात् इह गृहे चैत्रो नास्तीत्यत चैत्रस्य जीवने सति या बहिर्भावसिद्धि

---

1 तथाविधपद–श्र०। 2–शक्तता ब०। 3–स्याद्विबोधि–आ०, ब०। 4–शक्तता ब०, श्र०। 5–श्रुतेः ब०।

जीवतो[1] हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्तिः। अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धेः अनुमानमेवेयमित्युच्यते, तन्न, तत्सामग्र्यभावात्। पक्षधर्मतादिसामग्र्या हि यद्विज्ञानं जन्यते तदनुमानं प्रसिद्धम्, सा[1] चेह नास्ति। तथाहि–बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्र[2]विशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य हेतुत्वम्–किं गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे[3] चैत्राभावस्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा [2] तत्र नैतेषां मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते; पक्षधर्मत्वाभावात्। नह्येते चैत्र[3]धर्माः तद्[4]बहिर्भावधर्मा वा।

किञ्च, प्रमेयानु[5]प्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि–आगमावगतजीवनस्य

बहिश्चैत्रो विद्यते इत्येवं निश्चयरूपा, इह भाष्ये वर्णिता शबरस्वामिना, तदन्यासामर्थापत्तीनामुपलक्षणार्थमुदाहृतेति यावत्। यथा जीवति देवदत्ते गृहेऽदर्शनेन बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनेति।"–**तत्त्वसं० पं० पृ० ४६०।**

(१) पक्षधर्मतादिसामग्री। (२) "पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद् भिन्नैवाप्यनुमानत । बहिर्देशविशिष्टेऽर्थे देशे वा तद्विशेषिते। प्रमेये यो गृहाभाव पक्षधर्मस्त्वसौ कथम् ॥ तदभावविशिष्ट तु गृह धर्मो न कस्यचित्। गृहाभावविशिष्टस्तु तदासौ न प्रतीयते ॥ गम्यते तु गृह तत्र न च चैत्रः प्रतीयते। न चात्रादर्शनं हेतुर्यथाऽभावेऽभिधास्यते ॥ तेन वेशमन्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कल्प्यते। अदर्शनादभावे च प्रमेयस्यावधारिते ॥ बहिर्भावमतिर्नासौ तेनादर्शनहेतुका। चैत्राभावस्य हेतुत्वं गेहेऽभावश्च सस्थित ॥ पक्षधर्मत्व तावन्निराकरोति **बहिरिति**। गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तस्य बहिर्देशस्य वा धर्म , अभावविशिष्टं तु गृह न कस्यचिद्धर्म इत्याह **गृहाभावेति**। असौ देवदत्तो बहिर्देशो वेति। कथमित्याह **गम्यते इति**। चैत्रग्रहणमुपलक्षणम्, गृहमेव गम्यते न चैत्रो बहिर्देशो वा। न चानवगतस्य धर्मावगति सभवतीति। यदि तु चैत्रादर्शन हेतुरित्युच्यते अत आह **न चेति**। यथा ह्यभावेऽनुमेये लिङ्गत्वमभावस्य न सभवति तथाऽत्रापि पक्षधर्मत्वाभावादेव। " इतश्च नादर्शनस्य हेतुत्वमित्याह–**अदर्शनादिति**। अदर्शनादभावेऽवगते पश्चादुपजायमाना बहिर्भावमतिर्नादर्शननिमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्व न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह चैत्राभावस्येति।"–**मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५४–५५**। तुलना–**न्यायमं० पृ० ३७**। (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षया–**आ० टि०**। (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षया–**आ० टि०** (५) प्रमेयस्य साध्यस्य हेतुग्रहणकाल एव अनुप्रवेश ज्ञानम्। "जीवतश्च गृहाभावः पक्षधर्मोऽत्र कल्प्यते। तत्सवित्तिर्बहिर्भाव न चाबुद्ध्वोपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते। न तद्ग्रहणवेलायामग्न्यधीनं हि किंचन ॥ गेहाभावस्तु य शुद्धो विद्यमानत्ववर्जित । स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्बहिर्वृत्तेर्न साधक ॥ विद्यमानत्वससृष्टगृहाभावधियाऽनया। गेहादुत्कलितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥ गेहाभावत्वमात्र तु यत्स्वतन्त्र प्रतीयते। न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यैवावधार्यते ॥ सिद्धे सद्भावविज्ञाने गेहाभावधियाऽत्र तु। गेहादुत्कलिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारो मृतादिना। यस्य त्वव्यभिचारित्व न ततोऽन्यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गेहे चैत्राभावे ह्यभावत । ज्ञाते यत्सत्त्वविज्ञान तदेवेद बहि स्थितम् ॥ पक्षधर्मात्मलाभाय बहिर्भाव प्रवेशिन । तद्विशिष्टोऽनुमेय स्यात् पक्षधर्मान्वयादिभि ॥ पक्षधर्मादिविज्ञान बहि सबोधतो यदि। तैश्च तद्बोधतोऽवश्यमन्योन्याश्रयता भवेत्। अन्यथानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता। ताद्रूप्येणैव विज्ञानान्न दोष प्रतिभाति न ॥ येन बहिर्भावेन विशिष्टश्चैत्रोऽनुमातव्य, स पक्षीकृतजीवच्चैत्रधर्मतया गृहाभावस्यात्मलाभाय तत्प्रतीतिवेलायामेवानुप्रवेशित इति। तदेव सत्यपि यद्यनुमानत्वमिष्येत तत्स्फुटमितरेतराश्रयमित्याह–**पक्षधर्मादीति**।

---

1 **जीवतोऽस्य हि** श्र०। 2 **चैत्रस्य विशिष्टे बहिर्भावे** श्र०। 3 **'गृहे चैत्राभावस्य वा'** नास्ति आ०।

चैत्रस्य गृहाभावेन बहिर्भावः कल्प्यते, [1]अन्यथा मृतेन अनेकान्तः स्यात् । अभावश्च गृहीतः, सन्[2] बहिर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत् । अभावग्रहणञ्च सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाभावपूर्वकम् । इह च सदुपलम्भकमस्त्येव [2]जीवनग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्, सति तस्मिन् कथमभावग्रहणं प्रवर्त्तेत इति ? [1]प्रवर्त्तमानमेव एतत्स[2]दुपलम्भकं प्रमाणं पृथग्विषयं[3]मवस्थापयति । जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तस्य[4] प्रतिपन्नं तद् गृहेऽभाव परिच्छिन्दता प्र[5]माणेन स्व[6]विषयादन्यत्र[7] सङ्कोच्यते 'बहिरस्य भावः गृहे त्वभाव' इति । तेन जीवतो गृहेऽभावलक्षणसाधनप्रतिपत्तेः [4]बहिर्भावलक्षणसाध्यप्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धेः सिद्धः प्रमेयानुप्रवेशः, अतः नेयमनुमानम् । नहि वह्न्याद्यनुमाने धूमादिलिङ्गग्रहणसमये [8]अनुमेयप्रतिपत्तिः प्रतीता, धूमादिग्रहणोत्तरकाल तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः । ननु अर्थापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान [5]एव, सत्यमेव तत्; तथापि प्रमाणद्वयं[9]समर्पितैकवस्तुविषयभावाभावसमर्थनार्थं प्रवर्त्तमाना अर्थापत्तिः परामृशत्येव प्रमेयद्वयम्, अन्य[10]था तत्सं[11]घटनायोगात् । अतश्च येयं[6]म् आगमादनियतदेशतया क्वचिदस्तीति संवित्तिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'बहिरस्ति' इति संवित् संवृत्ता । तदतो वैलक्षण्यात् नानुमानमर्थापत्तिः ।

सम्बन्धग्र[7]हणाभावाच्च[12] । भा[13]वाभावौ हि न युगपद् वह्नि-धूमवद् एकत्रेन्द्रियप्रभ-

नन्वर्थापत्तावपि तुल्योऽय दोष, तत्रापि हि गृहाभावमात्र मरणेनाप्युपपन्न न बहिर्भाव कल्पयति, विद्यमानत्वससृष्टस्तु कल्पयेत्, स त्वनवगते बहिर्भावे न शक्यतेऽवगन्तुम्, नचानवगत कल्पको भवति, तदवगमे च प्रमेयाभाव स्यादत आह–अन्यथेति । अन्यथानुपपत्तिरूपे प्रमाणान्तरे योऽय विद्यमानत्वससृष्टगेहाभावबुद्धावेव प्रमेयस्य बहिर्भावस्यानुप्रवेश स न दोष । कस्मात् ? ताद्रूप्येणैव ज्ञानात् । ईदृग्रूपमेव हि एतत्प्रमाण यदर्थञ्च यस्यासत्यर्थान्तिरे मिथ प्रतिघातेनासम्भवमालोच्य अर्थान्तरकल्पनया प्रतिघात परिहृत्य सम्भवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणान्तरत्वम् अनुपपत्तिरिति चावगतस्यार्थान्तिरेण प्रतिघातश्चोच्यत इति।"–मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५५–७७ । शास्त्रदी० पृ० २९७ । तुलना–न्यायम० पृ० ३७ ।

(१) केवलेन गृहाभावेन यदि बहिर्भावः कल्प्येत । (२) जीवित्वग्राह्यागमाख्य प्रमाणम् । (३) न हि निर्विषय प्रमाण भवति, एव च भावो गृहीतो नाभावस्तत्कथ स हेतुः, भाववदद्यापि साध्यत्वात्–आ० टि० । (४) चैत्रस्य । (५) अभावप्रमाणेन । (६) गृहलक्षणात् । (७) बहि । (८) वह्नि । (९) जीवति चैत्र इति आगमाख्य प्रमाणम्, गृहे च नास्तीत्यभावप्रमाणम्, तत्समर्थनार्थं बहिरस्तीत्यर्थापत्ति प्रवर्त्तते अन्यथा प्रमाणद्वयस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्–आ० टि० । आगमप्रमाणेन हि चैत्रस्य भावो विषयीकृतः अभावप्रमाणेन च तस्याभाव इति, अत चैत्रविषयकसद्भावाभावयोः अविरोधस्थापनार्थम् अर्थापत्तिः प्रवर्तते, सा च चैत्रो गृहे नास्ति बहिरस्ति इति प्रमेयद्वय परामृशति (१०) अर्थापत्तिं विना । (११) भावाभावयो.–आ० टि० । भावाभावयो सघटनस्य अविरोधस्य अयोगात् अभावापत्ते । (१२) नेयमनुमानमिति गतेन सम्बन्ध ।(१३) "गृहाभावबहिर्भावौ न च दृष्टौ नियोगत । साहित्ये तु प्रमाणञ्च तयोरन्यन्न विद्यते ॥"–मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३१ । तुलना–न्यायम० पृ० ३७।

1 सच आ०, ब० । 2 जीवग्राह्याग–आ०, ब० । 3 वर्त्तमा–श्र० । 4 बहिर्भावलक्ष्यसाध्य–ब०। 5 एवासत्यमेतत् ब० । 6 योऽयम् श्र० । 7–ग्रहणाभावाभावाच्च श्र० ।

वप्रत्यये प्रतिबद्धतया बोद्धुं शक्यौ, गृहाभावस्य हि व्याप्यत्वे बहिःसद्भावो व्यापकः, स च प्रत्यक्षेण अर्वाग्दर्शिभिः साक्षात्कर्त्तुमशक्यः अनन्तदेशवृत्तित्वात्। ननु[१] कश्चिद् द्वारि स्थितः कस्यचिद् देवदत्तादेः भावाभावौ गृह्णाति–'यदा[1] एतस्य गृहेऽभावः तदा अन्यत्र सद्भावः' इत्येवं व्याप्तिग्रहणोत्तरकालं चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद्[2] बहिःसद्भावो निश्चीयते, सत्यम्; तथाप्यनुमानादस्या वैलक्षण्यम्–तत्र[२] हि सामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे सति उत्तरकालं[३] पक्षधर्मतानिश्चयसमये व्यापकस्य[४] नियतदेशतया[५] प्रतिपत्तिः, अत्र[६] तु वैपरीत्यम्। नहि गृहेऽभावात् नियतदेशतया चैत्रः प्रतीयते[७]। यादृश एव हि व्याप्तिकाले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते।

किञ्च, गृहद्वारवर्त्तिनो[3] गृहेऽभावस्य बहिःसद्भावेन सम्बन्धग्रहे[4] गृहे[5] चैत्रसद्भावेन बहिस्तदभावसाधने कथं सम्बन्धग्रहः स्यात्? तदुक्तम्[6]–

"नन्वस्त्येव[7] गृहद्वार[८]वर्तिनः[8] सङ्गतिग्रहः।
भावेना[९]भावसिद्धौ तु कथमेष[9][१०] भविष्यति॥" [न्यायम० पृ० ३८]

न खलु गृहे चैत्रस्य सद्भावाऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तन्नास्तित्वावसाये गृहे तत्सद्भावस्य[११] देशान्तरे तन्नास्तित्वेन[१२] अध्यक्षतः सम्बन्धग्रहो घटते, देशान्तराणामानन्त्यात्। कथमेवं[१३] धूमस्य अनग्नि[१४]व्यतिरेकनिश्चयः इति चेत्? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम्? धूमज्वलनयोः अन्वयग्रहणसंभवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसंभवात्। नहि भूयोदर्शनसुलभनियम[10]ज्ञानसम्पाद्यमानसाध्याधिगम[11]निर्वृत्तचेतसाम्[१५] अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित् प्रयोजन साध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात्? इह[१६] पुनः अन्वया[12]धिगमसमय एव गम्यधर्मस्य[१७]

(१) गृहद्वारि स्थितो यस्तु बहिर्भाव प्रकल्पयेत्। यदैकस्मिन्नय देशे न तदाऽन्यत्र विद्यते॥ तदाप्यविद्यमानत्व न सर्वत्र प्रतीयते। न चैकदेशे नास्तित्वाद् व्याप्तिर्हेतोर्भविष्यति।"–**मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३४–३५**। (२) अनुमाने हि। (३) प्रयोगकाले। (४) अग्ने। (५) पर्वतादिस्थतया–**आ० टि०**। (६) अर्थापत्तौ। (७) अपि तु बहिः यत्र कुत्राप्यस्ति इत्यनियतरूपेण। (८) 'गृहद्वारे वर्तिनः'–**न्यायमं०**। (९) 'भावेन भावसिद्धौ'–**न्यायम०**। (१०) सम्बन्धः। (११) व्याप्यभूतस्य। (१२) व्यापकभूतेन। (१३) "ननु चाग्न्याद्यभावेऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम। तद्देशागमनात् स्पष्टो व्यतिरेको न सिद्धयति। यस्य वस्त्वन्तराभाव प्रमेयस्तस्य दुष्यति। मम त्वदृष्टमात्रेण गमकाः सहचारिणः। य खलु वस्त्वन्तरेषु विपक्षेषु लिङ्गस्याभावावधारणमनुमानाय प्रार्थयते तस्यैव दोष, वय तु द्वित्रिचतुरेषु अवगताग्निसाहचर्याद् धूमाद्विपक्षादर्शनमात्रेण सहचारिणमग्निमनुमिमाना न सर्वविपक्षेषु धूमाभावावधारणं प्रार्थयामहे। नापि सर्वधूमवतामग्न्यन्वयमिति।"–**मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४६०**। (१४) अनग्निप्रदेशानामानन्त्यात्–**आ० टि०**। (१५) प्रतिपत्तॄणाम्। (१६) अर्थापत्तौ। (१७) बहि सद्भावस्य–**आ० टि०**।

1 **यदि तस्य** ब०। 2 **गृहे भावाभावात्** श्र०। 3–**द्वारप्रवर्त्ति**–ब०। 4–**ग्रहो गृहे चैत्र** ब०। 5 **'गृहे'** नास्ति आ०, श्र०। 6 **उक्तञ्च** ब०। 7 **नन्वस्त्वेव** आ०। 8–**द्वारिवर्त्तिन** ब०। 9 **कथमेव** श्र०। 10–**निश्चयमज्ञान**–श्र०। 11–**निवृत्तचे**–ब०। 12 **अन्वयावगम**–ब०, श्र०।

प्रतीतिः अनुमानमेव, तथाहि–दृष्टात् श्रुताद्वाऽर्थाद् अर्थान्तरे प्रतीतिः अनुमानमेव, अविनाभावबलेन उपजायमानत्वात्, यद् यद् अविनाभावबलेनोपजायते तत्तदनुमानेव यथा धूमादग्निविज्ञानम्, अविनाभावबलेनोपजायते चार्थापत्त्यभिमता प्रतीतिरिति।

किञ्च, असौ तत्सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञातः, अज्ञातो वा तत्कल्पनानिमित्तं स्यात्? न तावदज्ञातः, बालादेरपि अतोऽदृष्टार्थकल्पनाप्रसङ्गात्। अथ ज्ञातः; तत्रापि किं साध्यप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बद्धतया असौ ज्ञातः, पूर्वं वा? प्रथमपक्षे किं प्रमाणान्तरात् तत्सम्बद्धतया तदाऽसौ ज्ञातः, तत एव वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तत्प्रतिपत्तिकाले तत्सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरस्यासंभवात्, संभवे वा साध्यस्यापि अत एव सिद्धेः किमर्थापत्त्या?

अस्तु वासौ, तथापि–अनुमानान्न भिद्यते; तथाहि–अर्थापत्तिः अनुमानमेव, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायमानत्वात्, यद्यत्प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमाद् वह्निविज्ञानम्, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद्धेतोः उपजायते चार्थापत्त्यभिमतं ज्ञानमिति। अथ तत एव साध्यसम्बद्धतया असौ ज्ञातः; तदा अन्योन्याश्रयः–सिद्धायां हि अर्थापत्तौ तदुत्थापकार्थस्य तत्सम्बद्धतया ज्ञप्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अर्थापत्तिसिद्धिरिति। अथ पूर्वं तत्सम्बद्धतयाऽसौ ज्ञातः किं साध्यधर्मिण्येव, दृष्टान्तधर्मिणि वा? प्रथमविकल्पे अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यम् तत्साध्यस्य प्रागेव प्रसिद्धत्वात्। दृष्टान्तधर्मिण्यप्यनभ्युपगमान्नासौ तत्सम्बद्धतया ज्ञातव्यः।

किञ्च, तत्रासौ साध्यसम्बद्धतया भूयोदर्शनात्, विपक्षेऽनुपलम्भात्, अर्थापत्त्य-

"न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसङ्कीर्णोदाहरणाभावात्, प्रकारान्तराभावाच्च।"–न्यायकुसु० ३।१९। "सिद्ध साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्ते· प्रभावक। सभवादेश्च यो हेतु सोऽपि लिङ्गान्न भिद्यते॥ दृष्टान्तनिरपेक्षत्व लिङ्गस्यापि निवेदितम्। तन्न मानान्तर लिङ्गादर्थापत्त्यादिवेदनम्॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१७। प्रमेयक० पृ० १९३। सन्मति० टी० पृ० ५८५। जैनतर्कवा० पृ० ७७। स्या० र० पृ० २८३। रत्नाकराव० २।१।

(१) दृष्ट श्रुतो वाऽर्थ–आ० टि०। (२) सम्बद्धरूपतया–आ० टि०। (३) तुलना–"अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वागम अर्थापत्तेरेव प्रमाणान्तराद्वा?"–प्रमेयक० पृ० १९३। स्या० र० पृ० २८४। (४) साध्यप्रतिपत्तिकाले (५) सम्बन्धग्राहिण प्रमाणान्तरादेव। (६) पीनत्वगृहाभावादे–आ० टि०। (७) मीमासका हि अर्थापत्तौ सम्बन्धावगम दृष्टान्ते न स्वीकुर्वन्ति अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गात्। "अविनाभाविता चात्र तदैव परिकल्प्यते। न प्रागवधृतेत्येव सत्यप्येषा न कारणम्" (मी० श्लो०, अर्था० श्लो० ३०) इत्यभिधानात्। (८) दृष्टान्तधर्मिणि चेद् दृष्ट श्रुतो वार्थ पूर्व प्रतिपन्न तदा साध्यधर्मिणि किमायातम्–आ० टि०। (९) दृष्टान्तधर्मिणि। तुलना–"अथ प्रमाणान्तरात्तदवगम, तत्कि भूयोदर्शन विपक्षेऽनुपलम्भो वा?"–प्रमेयक० पृ० १९४। स्या० र० पृ० २८४। (१०) विपक्षा हि अनग्निदेशाद्या अनन्ता एव–आ० टि०।

1–न्तरप्रतीति–श्र०। 2–द्वह्निविज्ञानम् ब०। 3 वा कल्पना–आ०। 4–सम्बद्धाद् ब०। 5–सम्बद्धाद्धे–आ०। 6 प्रागेव सिद्ध–श्र०। 7–सौ सम्बद्ध–ब०,–सौ साध्यस्य सम्बद्ध–श्र०।

न्तराद्वा प्रतीयेत ? न तावद् भूयोदर्शनात्, शक्तेरतीन्द्रियतया भूयोदर्शनाऽसंभवात्। नापि विपक्षेऽनुपलम्भात्, तस्यापि उपलब्धियोग्येष्वेवार्थेषु सम्बन्ध[1]प्रतिपत्तिहेतुत्वात्। नापि अर्थापत्त्यन्तरात्, अनवस्थाप्रसङ्गात्। कथ तर्हि साध्यसाधनयोः सम्बन्धप्रतिपत्तिर्भवतोऽपीति चेत् ? ऊ[2]हाख्यप्रमाणान्तरात्। अस्माकं तदभ्युपगमे को दोषः इति चेत् ? प्रमाणसंख्याव्याघातः, तथा *"प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमानं प्रवर्त्तते"* [ ] इत्यादिग्रन्थविरोधश्च, सर्वत्र ऊहाख्यप्रमाणादेव सम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः। न खलु तस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति येन शक्तेरतीन्द्रियतया केनचिल्लिङ्गेन सह सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः अनुमानतोऽप्रतिपत्ति. स्यात्।

यदपि–'प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहाख्यकार्यान्यथानुपपत्त्या' इत्यादि प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तेर्लक्षणमुक्तम्[2], तत्र अनुपपत्तिस्वरूप वक्तव्यम्–किं सा[3]ध्येन विना स्फोटादेरभावः अनुपपत्तिः, प्रमाणविरोधो वा ? प्रथम[4]पक्षे तेन विना नोपपद्यते इति व्यतिरेकभणितिः, व्यतिरेकश्च प्रतीयमानः 'तस्मिन् सति उपपद्यते' इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ च लिङ्गस्यैव गमकस्य धर्माविति कथमर्थापत्तिरनुमानादतिरिच्येत ? प्रमाणविरोधोऽपि बाध्यबाधकभावान्नान्यः। तथा च शुक्तिकायां रजततदभावग्राहिणोर्विज्ञानयोः बाध्यबाधकभावे सति रजतान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरक[3]ल्पनानुषङ्गः स्यात्, त[5]ल्लक्षणाया अनुपपत्तेरत्राप्यविशेषात्।

किञ्च, प्रमाणयोः परस्परप्रतिबन्धकत्वे सति अर्थापत्तिः प्र[4]वर्त्तते, ते च वक्तव्ये। ननु किमत्र वक्तव्यं सुप्रसिद्धत्वात् ? तथाहि–'स्फोटस्वरूपं तावद् अध्यक्षं परिच्छिनत्ति', 'न च तस्य दृ[5]ष्टं का[6]रणं सभवति, कारणा[7]न्तरञ्च नोपलभ्यते, कारणाभावे च कार्याभावो दृष्टः, अतः कारणाभावाख्यलिङ्गप्रभवानुमानात् त[8]स्याभावः प्राप्तः' इत्येवं प्र[9]माणद्वयविघटनायां तत्सङ्घटनात्मिका तयोर्विषयभेदं दर्शयन्ती अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते। स्फोटज्ञानं हि स्फोटविषयम्, कारणाभावानुमानञ्च परिदृश्यमानकारणनिबन्धनकार्याभावविषयमिति, तदप्यसमीचीनम्, यतः कारणाभावोऽत्र कार्याभाव[6]निश्चये लिङ्गम्, स च निश्चितः, अनिश्चितो वा तल्लिङ्ग स्यात् ? न तावदनिश्चितः, वाष्पादेरपि धूमादि-

(१) तुलना–"भूयोदर्शनगम्या च व्याप्ति"–मी० श्लो० अनु० श्लो० १२। (२) पृ० ५०६ प० ४। (३) दहनशक्त्या। (४) तुलना–"तेन विना नोपपद्यते इति च व्यतिरेकभणितिरियम्, व्यतिरेकश्च प्रतीत तस्मिन् सत्युपपद्यते इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ च गमकस्य लिङ्गस्य धर्म इति च कथमर्थापत्तिर्नानुमानम्।"–न्यायम० पृ० ४१। (५) प्रमाणविरोधलक्षणाया। (६) वह्निरूपम्–आ० टि०। (७) शक्तिरूपम्–आ० टि०। (८) स्फोटस्य–आ० टि०। (९) स्फोट प्रत्यक्षेण तावत्स्फोटसद्भाव आवेदित, शक्तिरूपकारणाभावानुमानेन तु स्फोटाभावोऽनुमित इति- स्फोटविषये प्रत्यक्षानुमाने विघटेते, अतस्तयोर्विषयभेदं प्रदर्शयन्ती अर्थापत्ति सघटनकारिणी भवति।

1 सम्बन्धं प्रति हेतु–आ०। 2 ऊहात् अस्मा–ब०। 3–कल्पनानुषङ्गात् ब०, श्र०। 4 प्रवर्त्तते च वक्त–ब०। 5 दृष्टकारणं श्र०। 6–निश्चयलिङ्गम् श्र०।

तया सन्दिग्धस्य लिङ्गताप्रसङ्गात्। अथ निश्चितः; कुतस्तन्निश्चयः ? कारणानुपलब्धेश्चेत्; सा किं दृश्यानुपलब्धिः, अदृश्यानुपलब्धिर्वा ? यद्यदृश्यानुपलब्धिः; कथमतोऽभावसिद्धिः, परमाणुपिशाचादिना अनेकान्तात् ? अथ दृश्यानुपलब्धिः; तर्हि अतः कारणाभावसिद्धेः कथमर्थापत्तेः कारणसद्भावावेदिकायाः प्रामाण्यं स्यात् ? चक्रकप्रसङ्गाच्च न कारणाभावस्य लिङ्गता; तथाहि–कार्यकारणयोः सम्बन्धग्रहणे सति कारणाभावाख्यमनुमानं प्रवर्त्तते, सम्बन्धग्रहणञ्च कारणग्रहणे सति, कारणग्रहणञ्च अर्थापत्तितः, अर्थापत्तिश्च कारणाभावानुमाने सति, तच्च सम्बन्धग्रहणे सति इति। न च अर्थापत्तित एव स्फोटादौ कारणसद्भावसिद्धिः; अनुमानतोऽपि तत्सिद्धेः। तथाहि–स्फोटादि कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा धूमादि, कार्यञ्चेदं स्फोटादि, तस्मात् कारणपूर्वकमिति।

एतेन अनुमानोपमानपूर्वकाऽर्थापत्तिद्वयमपि[१] प्रत्याख्यातम्[२]; तस्यापि शक्तिविषयत्वेन प्रत्यक्षपूर्वकार्थापत्तिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषानुषङ्गात्।

यापि शब्दनित्यत्वसिद्धौ अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरुक्ता[३]; साप्ययुक्ता; शब्दस्यानित्यत्वेऽपि [1]वाचकत्वस्योपपत्तेः, तदनित्यत्वञ्च अग्रे प्रसाधयिष्यामः।

या[४]पि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि श्रुतार्थापत्तिरुक्ता[५]; सो[2]ऽप्यनुमानमेव, कार्यतः कारणप्रतिपत्तेः। असति हि रसायनाद्युपयोगे पीनत्वं स्वात्मनि अन्य[६]त्र च भोजनकार्यत्वेन अवगतम्, तच्च देवदत्ताख्ये धर्मिणि आप्तवाक्यात् का[७]लविशेषे भोजननिषेधेन निश्चीयमानं [3]प्रतिषिध्यमानकालव्यतिरिक्तकालेऽप्रतिषिद्धं [4]स्वो[८]पपादकस्य [5]कार[९]णस्य सत्तामवगमयति। नहि कारणं विना कार्यस्योदयो घटते, अहेतु[१०]कत्वेन सदा सत्त्वस्य

(१) पृ० ५०६ पं० ५,६। (२) तुलना–"उपमानस्य तु स्मरणादभेदे तत्पूर्विकाऽर्थापत्तिरनुमानमेव, व्याप्ते पूर्वं ग्रहणात्। तथा च सादृश्यावच्छिन्नो गोपिण्डो वाहादिसमर्थः गोपिण्डत्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधगोपिण्डवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९०। (३) पृ० ५०७ पं० ९। (४) पृ० ५०७ पं० ११। (५) तुलना–"श्रुतार्थापत्तिरपि वराकी नानुमानाद् भिद्यते, वचनैकदेशकल्पनाया अनुपपन्नत्वादर्थस्य च कार्यलिङ्गस्य सत्त्वात्। यथा क्षितिधरकन्धराधिकरण धूममवलोक्य तत्कारणमनलमनुमिनोति भवान् एवमागमात्पीनत्वाख्य कार्यमवधार्य तत्कारणमपि भोजनमनुमिनोतु कोऽत्र विशेष "–न्यायम० पृ० ४५। "क्षपाभोजनसम्बन्धी पुमानिष्ट प्रतीयते। दिवाभोजनवैकल्यपीनत्वेन तदन्यवत्॥ भोजने सति पीनत्वमन्वयव्यतिरेकत । निश्चित तेन सम्बद्धाद्वस्तुनो वस्तुतो गति ॥"–तत्त्वसं० पृ० ४६५। सन्मति० टी० पृ० ५८७। स्या० र० पृ० ३०६। "पीनो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभोजनकल्पनाऽनुमितानुमानम्, लिङ्गभूतेन वाक्येन अनुमितात् पीनत्वात् तत्कारणस्य रात्रिभोजनस्य अनुमानात्।"–प्रश० कन्द० पृ० २२३। "देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वादिति।"–वैशे० उप० ९।२।५। (६) स्थूले पुरुषान्तरे। (७) दिवा। (८) पीनत्वोपपादकस्य–आ० टि०। (९) भोजनस्य। (१०) तुलना–"नित्य सत्त्वमसत्त्व हि हेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातश्च भावाना कादाचित्कत्वसभव ॥"–प्रमाणवा० ३।३४।

1 वाचकस्योपपत्तेः आ०। 2 योऽपि ब०। 3 प्रतिषेध्यमान–आ०। 4 स्वोत्पादकस्य ब०, श्र०। 5 कारणसत्तामव–ब०।

असत्त्वस्य[1] वा प्रसङ्गात्। प्रयोगः–रात्रिभुक्तिमान् देवदत्तः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनः स स रात्रिभुक्तिमान् यथा नक्तञ्चरः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्तः, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति। ततो 'नहीदं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्' इत्या[१]द्ययुक्तमुक्तम्, [२]यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षणलिङ्गस्यैवातो वाक्या[2]त् प्रतिपत्तेः, [३]तत्प्रतिपन्नाच्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्र[3]तिपत्तिसिद्धिरिति।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः सा[४]प्यनुमानमेव, जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावावगमात्। तथाहि–जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावः बहिर्भावेन तद्वान्, जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। ततश्च गृहादीनां लिङ्गत्वनिराकरणं शब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मतांशाऽस्पर्शित्वात्।

यत्पुनः प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्[५]; तदपि न युक्तम्; [६]यतः किं प्रमेयमत्राऽभिप्रेतम्– किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषितं वा सत्त्वम्? तत्र सत्तामात्रं तावद् आगमादेवाऽवगतमिति न[4] प्रमाणा[5]न्तरप्रमेयतामवलम्बते। बहिर्देशविशेषितं तु सत्त्वं भवति प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेशः। गृहे चैत्राभावग्राहकं हि प्रमाणं तत्रै[७]व तत्सद्भावावेदकं प्रमाणमपाकरोति न पुनः बहिस्तत्सदसत्त्वचिन्तां करोति।

"मृतस्य[८] जीवतो दूरे तिष्ठतः प्राङ्गणेऽपि वा।
गृहाभावप[6]रिच्छेदे न विशेषोस्ति कश्चन॥" [न्यायम० पृ० ४३]

---

(१) पृ० ५०७ पं० १२। (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि–आ० टि०। (३) वाक्यप्रतिपन्नात्। (४) तुलना–"साप्यनुमानमेव, व्याप्तेः पूर्वमेव ग्रहणात्। तथाहि–देवदत्तो बहिर्देशसम्बन्धी जीवनसम्बन्धित्वे सति गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९१। "तदापि गेहायुक्तत्वं दृष्ट्याऽदृष्टेर्विनिश्चितम्। अतस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावसीयते॥ सद्मना यो ह्यसंसृष्टो नियतं बहिरस्त्यसौ। गेहाङ्गणस्थितो दृष्टः पुमान् द्वारिस्थितैरिव॥ विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो नरः। अर्थापत्तिरियं तस्मादनुमानान्न भिद्यते॥"–तत्त्वस० पृ० ४७०। प्रमेयक० पृ० २०३। सन्मति० टी० पृ० ५८६। स्या० र० पृ० ३०८। "चैत्रस्य गृहाभावो धर्मी बहिर्भावेन तद्वानिति साध्यो धर्मः जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्।"–न्यायम० पृ० ४३। "तदप्यनुमानमेव, यदा खलु सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदा वाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, सोऽयं स्वशरीर एव व्याप्तिग्रहः सुकरः। तथा च सतो गेहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानम्।"–न्यायवा० ता० पृ० ४३८। सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४। प्रश० कन्द० पृ० २२३। न्यायकुसु० ३।१९। प्रश० किरणा० पृ० ३२४। वैशे० उप० ९।२।५। (५) पृ० ५०९ पं० ८। (६) तुलना–"किं प्रमेयमभिमतमत्र भवता किं सत्तामात्रमुत बहिर्देशविशेषितं सत्त्वम्।"–न्यायमं० पृ० ४३। स्या० र० पृ० ३०९। (७) गृह एव। (८) 'वृत्तस्य'–न्यायमं०। "मृतस्य जीवतो वा दूरे प्राङ्गणेऽपि वा। तिष्ठतश्चैत्रस्य गृहाभावपरिच्छेदे विशेषाभावात्।"–स्या० र० पृ० ३०९।

1–स्य प्रस–श्र०। 2–क्यात्तत्प्रति–ब०। 3–प्रतिपत्तिरिति आ०। 4 नतप्रमा–आ०। 5–णान्तरं प्रमे–ब०। 6–परिच्छेदनवि–श्र०।

जीवनविशि[1]ष्टस्त्वसौ[1] गृह्यमाणो लिङ्गतामेव प्रतिपद्यते व्यभिचाराभावात्। न च वि[2]शेषणग्रहणमेव प्रमेयग्रहणम्; यतो जीवनमन्यद् अन्यच्च बहिर्भावाख्यं प्रमेयमिति।

अथ मतम्–जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिरिति; तदप्यविचारितरमणीयम्; य[2]तो जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेर्बहिर्भावप्रतीतिर्भवति, न तु तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः। न हि द[3]हनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिर्दृष्टा। अथ धूमादन्यो दहनः तेना[4]त्र तत्प्रतीतिभेदो युक्तः; तदेतदन्यत्रापि समानम्–गृहाभाव-जीवनाभ्यां तद्बहिर्भावस्यापि अन्यत्वात्, तत्कथमत्रापि तत्प्र[3]तीत्योरभेदः स्यात्? यथा च पर्वत-वह्न्योः सिद्धत्वात् म[4]त्त्वर्थमात्रं तत्र अपूर्वमनुमेयमेवमिष्टम्, एवमिहापि ब[5]हिर्देशमात्रम् अपूर्वमनुमेयमस्तु। यदि तु तदधिकं प्रमेयमिह नेष्यते, तदा गृहाभावजीवनयोः स्वप्रमाणाभ्यामवधारणाद् आनर्थक्यमेव अर्थापत्तेः। तस्मात् प्रमेया[7]न्तरसद्भावात् तस्य चाऽननुप्रवेशान्न कश्चिद्दोषः। अ[8]र्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः, तत्रापि अर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात्। त[9]स्य तस्मात् प्र[5]तीतिरिति यत्र व्यवहारः तत्रावश्यं तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशदोषोऽनुषज्यते, स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या त[10]त्सि[6]द्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यात्।

ननु चाभावो निश्चितो लिङ्गं भविष्यति, सदसत्त्वग्राहिणोश्च प्रमाणयोः विरोधे कथं तन्निश्चयः? अतो यावदागमस्य बहिर्भावविषयता न प्रतीयते तावन्न गृह ए[11]वाऽभावनिश्चय इति, तस्य[12] निश्चये प्रमेयानुप्रवेशदोषानुषङ्गः, अर्थापत्तिस्तु प्रमाणद्वयविरोधे सत्येव

(१) गृहाभाव –आ० टि०। (२) तुलना–"जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीते बहिर्भाव प्रतीत न तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीति। न हि दहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिः, किन्तु धूमादन्य एव दहन, इहापि गृहाभावजीवनाभ्यामन्य एव बहिर्भाव, पर्वतहुतवह्योस्सिद्धत्वान्मत्त्वर्थमात्र तत्रापूर्वमनुमेयम्, एवमिहापि बहिर्देशयोगमात्रमपूर्वमनुमेयम्।"–न्यायमं० पृ० ४३। स्या० र० पृ० ३०९। (३) जीवतो गृहाभावबहिर्भावयो –आ० टि०। (४) 'पर्वतो वह्निमान्' इति रूपम्। (५) भावस्य जीवनेनैव सिद्धत्वात्–आ० टि०। (६) गृहाभावग्राहकं हि अभावप्रमाणम्, जीवनग्राहकञ्च आगमप्रमाणमिति। (७) बहि सद्भाव। (८) तुलना–"अर्थापत्तावपि च तुल्य एवाय दोष, तत्राप्यर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात्। दृष्ट श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पनेत्येव ग्रन्थोपनिबन्धात्। तस्य तस्मात्प्रतीतिरिति तत्र व्यवहारस्तत्रावाच्य(?) तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशो दोष एव। स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्धया तत्सिद्धे प्रमाणान्तरवैफल्यादिति।"–न्यायमं० पृ० ४४। स्या० र० पृ० ३०९। (९) तस्य साध्यस्य तस्मात् साधनात् प्रतीतिरिति व्यवहारश्च अनुमान इवार्थापत्तावप्यस्ति–आ० टि०। (१०) यथा स्वभावहेतौ शिंशपाबुद्ध्यैव वृक्षबुद्धौ जाताया प्रमाणान्तरेण न कार्यम्, तथात्रापि गृहाभावेनैव लिङ्गेन बहिर्भावस्यावगतत्वान्नार्थापत्त्या कार्यम्–आ० टि०। (११) अपि तु सर्वत्रैवाभाव –आ० टि०। (१२) य एव जीवनतो गृहाभावनिश्चय स एव बहिर्भावनिश्चय इति, अतो गृहाभावाख्यो हेतु प्रमेय बहिर्भावाख्यमनुप्रविष्ट इति भाव –आ० टि०।

1–शिष्टश्चासौ ब०। 2 विशेषग्रह–श्र०। 3 दहनादिकारण–श्र०। 4 तेन तत्प्र–श्र०। 5 प्रतिपत्तिरिति श्र०। 6–सिद्धिः आ०, ब०।

प्रवर्त्तते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम्; सदसत्त्व[1]ज्ञानयोः असमानविषयतया विरोधाऽसिद्धेः। आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते न गृहे बहिर्वा, प्रत्यक्षेण[2] तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति। समानविषयत्वे तु तयोरन्[1]न्यथासिद्धाऽध्यक्षबाध्यत्वेन आगमज[3]ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव नाऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम्।

अथ मतम्[4]–अनुमाने गमकविशेषणम् अन्यथानुपपन्नत्वं 'वह्निं विना धूमो नोपपद्यते' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते। गम्यो हि बहिर्भावः, स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् बहिरस्तीत्येवं गम्यगमकयोरनुपपद्यमान[2]त्वे विपर्ययात् प्रमाणान्तरमनुमानादर्थापत्तिरिति, तदप्यसङ्गतम्[5], 'साध्याविनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम्। तच्चार्थापत्तौ[3] अस्त्येव। न हि तदुत्थापकार्थस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः; ततः[6] तत्सिद्ध्यभाव[7]प्रसङ्गात्। स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकविशेषणं वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थापत्त्यनुमानयोः भेदः, अन्यथा 'सूर्यस्य गमनशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्षधर्मत्व[4]सहिताया अर्थापत्तेः 'वह्नेर्दाह-

(१) तुलना–"तथाहि–सत्त्वमात्र वा विरुध्यते चैत्रस्य गेहाभावेन गेहसत्त्व वैकत्रास्य। न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोध गेहेऽसत्तया समानविषयत्वाभावात् गृहाभावावच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्व विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यते न तु सत्त्वमात्रम् तत्र तस्यौदासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम्। एतेन विरुद्धयो प्रमाणयोरविरोधापादन विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषय परास्त, अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोरविरोधात्।"–**न्यायवा० ता० पृ० ४३९। सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४।** "अनियम्यस्य नायुक्ति नानियन्तोपपादक। न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ सम॥"–**न्यायकुसु० ३।१९।** (२) नियतदेशविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्–**आ० टि०।** (३) अबलमागमजं ज्ञानमनियतदेशविषयत्वात्–**आ० टि०।** (४) प्रभाकरस्य। "यदि यद्येन विना नोपपद्यते तदेवावगमक स्यात्, इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते। किं चात्र नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात् अन्यत्राभावो नोपपद्यते। तत किम् ? नात्राभावस्य गम्यता। कस्य तर्हि ? भावस्य। न चासौ गृहाभावदर्शनेनोपपद्यते। बाढ नोपपद्यते। न हि गृहाभावदर्शनेन विना बहि भाव उपपद्यते।"–**शाबरभा० बृह० १।१।५।** "विना कल्पनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम्। नयता दृष्टमर्थं या साऽर्थापत्तिस्तु कल्पना॥ अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना। नयताऽनुपपन्नत्व कल्प्यमाना बहिर्यथा॥ गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना। मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम्॥ देशेन हि विना भावो न कदाचन दृश्यते। विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहमार्च्छति॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्त्तते। सन्देहापादाकादर्थादर्थापत्तिरसौ स्मृता॥ गमकस्यानुमाने तु विपक्षासत्त्वलक्षणम्। गम्यतेऽनुपपन्नत्व विना गम्येन वस्तुना॥ तत्सामग्रीविभेदेन भिन्ने एते परस्परम्। अर्थापत्त्यनुमानाख्ये प्रमाणे इति निश्चितम्॥"–**प्रक० पं० पृ० १२८।** तुलना–**न्यायम० पृ० ४४।** (५) तुलना–"एतदपि ग्रन्थवैषम्योपपादनमात्रम् न तु नूतनविशेषतोत्प्रेक्षणम्; गम्ये तावदगृहीते सति तद्गतमनुपपद्यमानत्व कथमवधार्येत, गृहीते तु गम्ये किं तद्गतानुपपद्यमानत्वग्रहणेन साध्यस्य सिद्धत्वात्।"–**न्यायम० पृ० ४४।** (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्थात्। (७) साध्य।

1 **तयोरन्यथा**–ब०। 2–**मानविपर्ययात्** श्र०। 3 **तत्त्वार्थापत्तौ** ब०। 4 **पक्षधर्मसहि**–आ०।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्तेः' इति तद्रहितार्थापत्तिः[1] प्रमाणान्तरं स्यात्, तथा च प्रमाणसंख्याव्याघातः[2]। नियमवतोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तयो[3]रभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेश्चा[4]प्यविशेषात् कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात् ?

असिद्धश्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम्; गृहे चैत्राभावे एव वहिस्तत्सद्भावगमके तस्य[5] विशेषणत्वसम्भवात्। नहि तस्य[6] तद्विशेषणत्वे[7] कश्चिद्दोषः सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत। न च सर्व[1]स्यामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति, प्रत्यक्षादिप्रभवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादेः अविनाभावविशेषणत्वसंभवात्। न खलु तत्र गम्यायाः शक्तेः स्फोटं विनाऽनुपपत्तिः सम्भवति; तम[8]न्तरेणापि अस्याः[9] सद्भावाभ्युपगमात्।

यच्चान्यदुक्तम्[10]–'पक्षधर्मतानिश्चयसमये साध्यस्य नियतदेशतया अत्रा[11]ऽप्रतीतेः अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्, गृहाभावाख्यधर्म्यवच्छेदेन वहिर्भावस्य प्रतीतेः[2], धर्मी[3] एव हि देशशब्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्रास्त्येवेति न ततस्तद्वैलक्षण्यम्।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्[12], तदपि[4] न; यतः 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः' इत्युक्तम्[13]। अतश्च 'देशान्तराणामानन्त्यान्न तत्र नास्तित्वेन सम्बन्धग्रहः[5]' इत्याद्ययुक्तम्, अनियतसाध्यसाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्वभावत्वात्तस्य[14]। कथम[15]न्यथा धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात् ? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ[6][16] युक्तः, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात्। न च सत्तामात्रेणासौ तद्धेतुः, अन्वयवद् व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाङ्गतोपपत्तेः।

किञ्च, असर्व[17]गतद्रव्यस्य चैत्रादेः नियतदेशवृत्तेः[18] [7]तदन्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षतः,

(१) शक्तिर्वह्नौ स्फोटश्च करतलादौ इति न स्फोटस्य पक्षधर्मता–आ० टि०। (२) पक्षधर्मत्वसहिततद्रहितयोरर्थापत्त्योश्चेदभेद, तदाऽनुमानार्थापत्त्योरपि तथास्तु–आ० टि०। षडेव प्रमाणानीति प्रमाणसङ्ख्याव्याघात सप्तमस्य प्रसिद्धेः। (३) पक्षधर्मत्वसहित-तद्रहितार्थापत्त्योः। (४) अर्थापत्तावपि। (५) गमकस्य विशेषणमविनाभाव –आ० टि०। (६) अविनाभावस्य। (७) गमकविशेषणत्वे। (८) स्फोटादिकं विनापि। (९) शक्ते। (१०) पृ०५११ पं० ६। (११) अर्थापत्तौ। (१२) पृ० ५१० पं० १५। (१३) तर्कनिरूपणप्रसङ्गे, पृ० ४२६। (१४) ऊहस्य। (१५) तुलना–"अनग्निव्यतिरेकनिश्चये च धूमस्य भवता का गति। या तत्र वार्त्ता सैवेहापि नो भविष्यति। न च भूयोदर्शनावगम्यमानान्वयमात्रैकशरणतया 'यस्य वस्त्वन्तराभावो गम्यस्तस्यैव दुष्यति। मम त्वदृष्टिमात्रेण गमका सहचारिण॥' (मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४०) इति कथयितुमुचितम्, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाभावादिति पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकोऽपि नागृहीतोऽनुमानाङ्गम्।"–न्यायमं० पृ० ४५। (१६) धूमो हेतु। (१७) तुलना–"असर्वगतस्य द्रव्यस्य नियतदेशवृत्तेरक्लेशेन तदितरदेशनास्तित्वावधारणम्।"–न्यायमं० पृ० ४५। न्यायवा० ता० पृ० ४३८। सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४३। "दृष्टमेतत्–अव्यापकं द्रव्यमेकत्रास्ति तदन्यत्र नास्तीति यथा प्राचीप्रतीच्योरेकत्रोपलभ्यमान सविताऽन्यत्र न भवतीतीदं दर्शनबलेनैवमवधार्यते।"–प्रश० कन्द० पृ० २२३। (१८) परिमितदेशवृत्तित्वादिति हेतो।

1 पूर्वस्यामर्थाप–ब०। 2 प्रतीतिः आ०। 3 धर्मे वहिर्देश–ब०। 4 तदप्ययुक्तम् यतः श्र०, ब०। 5 सम्बन्धग्रहणमित्या–ब०। 6–सौ अनि–श्र०। 7 तदन्यदेशे प्रतिनियते च अनु–ब०।

[1]प्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुषङ्गः ? तच्चानुमानम्[1]-देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत् । न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतद्वित्यभिधातव्यम्[2]; [3]तत्पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थान्तर[2]त्वाऽसिद्धेः सिद्धः [4]परेषां प्रमाणसङ्ख्याव्याघातः ।

ननु [5]भवतामप्येवं प्रमाणसंख्यानियमविरोधस्तुल्यः 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाणप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविशेषात्' इत्यारेकापनोदार्थमाह-**'सर्वस्य'** इत्यादि । **सर्वस्य** अनन्तरोक्तस्य उपमानादि[3]प्रमाणप्रपञ्चस्य **परोक्षेऽन्तर्भावात्** नाऽस्माकं कश्चिद्दोषः । कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत् ? [6]तल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षणलक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुखादिसंवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिसंवेदनस्य सुखादिसंवेदनस्य च विषय[7]भेदात् सामग्रीभेदाच्च [8][4]अन्योन्यं वैलक्षण्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवैशद्यस्वभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

न्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदैः परिगणितत्वा[9]त् कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भावः, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्; [10]उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधकत्वात् । दर्शनस्मरणकारणकं हि [5]सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञानं दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादि-

(१) तुलना-"देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति।"-न्यायम० पृ० ३८ । (२) "ननु देशान्तर शून्य चैत्रेणैव प्रतीयते । तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत् । विरुद्धाव्यभिचारित्व तद्वदेव हि गम्यते । समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्त भवति-न तावद्देशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्सयुक्तदेशव्यतिरिक्तदेशत्वादिति हेतु सभवति, सन्दिग्धत्वात्, देशान्तराण्यपि तत्सयुक्तानि न वेत्येतावदेव विचार्यते। कथ तेषा तत्संयुक्तदेशाद् व्यतिरेकसिद्धि । यदि परमेवमुच्यते-यमेवाधुना चैत्रोऽधिष्ठितोऽपवरकदेश तद्व्यतिरिक्तत्वादिति, एव विधश्चाप्रयोजको हेतु, इतरथा हि शक्यते-चैत्रयुक्त देशान्तर तत्समीपव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवदिति ।"-मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६१-६२ । (३) "प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वाद्धेत्वाभास एव ।"-न्यायम० पृ० ४५ । (४) मीमासकानाम् । (५) जैनानामपि । (६) उपमानादय परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात् । तुलना-"यदेकलक्षणलक्षित तद्व्यक्तिभेदेऽप्येकमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षित चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितञ्च शब्दादीति ।"-प्रमेयक० पृ० १९२ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । स्या० र० प० २८३ । (७) रूपादिसुखादिलक्षण । (८) चक्षुरादि-मानसादिरूप । (९) लघीयस्त्रयस्य 'ज्ञानमाद्य स्मृति' (का० १०) इति कारिकायाम्, परीक्षामु० ३।२ । प्रमाणनय० ३।२ । प्रमाणमी० १।२।२। इत्यादिषु च । (१०) तुलना-प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० र० पृ० २८३ ।

1 अतिनियते आ० । 2-न्तरतासिद्धेः श्र० । 3 प्रमाणपञ्चकस्य ब० । 4 अन्योन्यवैल-आ०, ब० । 5 सकलपनं श्र० ।

सङ्कलनस्वभावञ्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद्[1] दर्शनस्मरणकारणकं[1] सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्[2], तत्कारणकं[2] सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्चोपमानमिति ।

'तद्' इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह–यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावः **तत्** तस्मात् **समञ्जसम्** उपपन्नम् **'प्रत्यक्षं परोक्षञ्च इति एवं द्वे एव प्रमाणे'** इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'अन्यथा'** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण **तेषां** प्रमाणानां **सङ्ख्याया अनवस्थानादिति** ।।छ।।

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्वाल्य निःशेषतः,
सम्यग्युक्तिमहांशुभिः[3] पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,
भास्वानेष[4] जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः ।।छ।।

इति श्री[5]प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः[6] ।।छ।।



प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमखिलं व्याख्याय साभासताम्,
तस्य[3] ख्यापयितुं कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रमः ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धबुद्धेः स्फुटम्,
कः सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलः स्याद्वादभानोः परः ।। १ ।।

अथ प्रमाणाभासत्वेन[7] प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह–

प्रत्यक्षाभं[4] कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ।। २२ ।।

(१) उपमान प्रत्यभिज्ञानात्मकमेव दर्शनस्मरणकारणकत्वे सति सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावत्वात् । (२) स एवायं जिनदत्त इत्येकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (३) मानस्य (४) "स्याद् भवेत् । किम् ? प्रत्यक्षाभं प्रत्यक्षप्रमाणाभासमित्यर्थः । अक्षमिन्द्रियानिन्द्रियं प्रति नियतं प्रत्यक्षं ज्ञानमात्रम् तदिवाभातीति व्युत्पत्तेः । किं विशिष्टम् ? तैमिरादिकं तिमिरादागतं तैमिरं तदादिर्यस्य आशुभ्रमणादेः तथोक्तम् । तत् किं स्यात् ? प्रमाणं भवति । कथम् ? कथञ्चित् भावप्रमेयापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा, न सर्वथा प्रमाणाभासमेव, बहिरर्थाकारविषय एव ज्ञानस्य विसंवादात् स्वरूपापेक्षया तस्याविसंवादात् । अत्राविनाभावं दर्शयति यदित्यादि । यज्ज्ञानं यथैव यावद्विषयावबोधनप्रकारेण अविसंवादि, विसंवादो गृहीतार्थव्यभिचारः तद्रहितमविसंवादि, तज्ज्ञानं तथा तावद्विषयावबोधन-

1–कारण संकलन–आ०, श्र० । 2 तत्कारणं सादृ–ब० । 3–महामुनि पु–ब० । 4–नैष जयत्परोक्षमहि–ब० । 5 श्रीमत्प्रभा–ब० । 6 परिच्छेद समाप्त ।। ब० । 7–त्वेन सिद्धविज्ञा–ब० ।

विवृतिः–तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्सङ्ख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्। नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षणात्। कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः ? कृतस्य करणायोगात्, तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः। तदस्य विसंवादोऽपि अवस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसंवादकत्वात्।

प्रकारेण प्रमाण मतमिष्ट परीक्षकैरिति। तथाहि–सर्वं सशयादिकं प्रमाणाभास स्वरूपापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा प्रमाण भवति तत्राविसवादित्वात्, यद्यत्राविसवादि तत्तत्र प्रमाण यथा रसे रसज्ञानम्, अविसवादि च सशयादिक स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा, ततस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति। विसवाद एव खल्वप्रामाण्यनिबन्धनम् अविसवादश्च प्रामाण्यनिबन्धनमिति न्यायस्य सकलवादिसम्मतत्वात् सर्वथा प्रमाणाभासस्य न्यायशून्यत्वात्। 'बहि प्रमेयापेक्षाया प्रमाण तन्निभञ्च ते' (आप्तमी० श्लो० ८३) इति वचनात्। न हि ज्ञान स्वरूपे विसवादि तस्याहम्प्रत्ययसिद्धत्वात्। प्रसिद्धे च विषये प्रवर्तमान कथमप्रमाण स्यादिति।"–लघी० ता० पृ० ४२। अस्या कारिकाया यद्दिग्नागादिना तैमिरादिक प्रत्यक्षाभासमुक्तम्, तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यक्षाभासता दर्शयति। दिग्नागादे प्रत्यक्षाभसस्वरूपप्रदर्शका ग्रन्थास्त्वित्थम्–"भ्रान्तिसवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम्। स्मरणञ्चाभिलापश्चेत्यक्षाभास सतैमिरम्॥ अथ मरीचिकादिषु जलादिकल्पनात् भ्रमज्ञान प्रत्यक्षाभासम्। सवृतिसत्सु हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम्। अनुमान तत्फलञ्च पूर्वानुभवकल्पनान्न प्रत्यक्षम्।"–प्रमाणसमु०, वृ० १।८। "त्रिविध कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम्। अविकल्पकमेकञ्च प्रत्यक्षाभ चतुर्विधम्॥ त्रिविध कल्पनाज्ञान प्रत्यक्षाभम्–मरीचिकाया जलाध्यवसायि भ्रान्तिज्ञानम्। सवृतौ विसवादिव्यवसायसावृतज्ञानम्, पूर्वदृष्टैकत्वकल्पनाप्रवृत्त लिङ्गानुमेयादिज्ञानम्। अविकल्पकञ्चैक प्रत्यक्षाभासम्, कीदृशम् ? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपघात तस्माद्भवो यस्य तत्तथा। एवञ्च चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासम्। नन्वविकल्पक प्रत्यक्षम्, ततस्त्रयमपीद सविकल्पकत्वादेक. प्रत्यक्षाभास। तत्किम् ? भ्रान्तिज्ञान मृगतृष्णिकाया जलावसायि। सवृतिमतो द्रव्यादेर्ज्ञानम्। अनुमान लिङ्गज्ञानम्, आनुमानिक लिङ्गिज्ञानम्। स्मार्तम् स्मृति। आभिलापिकञ्चेति विकल्पप्रभेद आचार्यदिग्नागेनोक्त।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८८। तुलना–"पीतशखादिषु विज्ञान तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्, सस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञान प्रमाणमनुमानम्, ततोऽनुमान सस्थाने सशय परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च।"–प्रमाणवार्तिकाल० प्रथमपरि०। (५) तुलना–"यथा यत्र विशद तथा तत्र प्रत्यक्षम्। यथा यत्राविसवाद तथा तत्र प्रमाणता॥ (पृ० ६५ B) तथा च सर्व स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाण न सर्वथा।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ८६ A। "यथा यत्राविसवादस्तथा तत्र प्रमाणता।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ B.। "यथा यत्राविसवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्।"–अष्टसह० पृ० १६३। "यद्यथैवाविसवादि प्रमाण तत्तथा मतम्। विसवाद्यप्रमाणञ्च तदध्यक्षपरोक्षयो॥"–सन्मति० टी० पृ० ५९५।

(१) तुलना–"येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेद तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायश सङ्कीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि सख्यादिविसवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७। "अनुपप्लुतदृष्टीना चन्द्रादिपरिवेदनम्। तत्सख्यादिषु सवादि न प्रत्यासन्नतादिषु॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। उद्धृतेय समग्रा विवृति.–सन्मति० टी० पृ० ५९५।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि य[1]देकान्तेन वादिनां लोकानां वा प्रसिद्धं **तत्कथञ्चित् स्याद्** भवेत् **प्रमाणम्** नैकान्तेन तदाभासम् इत्यभिप्रायः। किं तद् ? इत्यत्राह–**तैमिरादिकमिति।** तिमिरादागतं तैमिरम् आदिर्यस्य आ[१]शुभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतद् ? इत्याह–**'यद्यथा'** इत्यादि। यतो य[2]द्विज्ञानं येनैव प्रकारेण **अविसंवादि त[3]द्** विज्ञानं तेनैव प्रकारेण **प्रमाणम**भिप्रेतम्। तथा च "*कल्पनापोढमभ्रान्तम्*[२]" [न्यायबि० १।४] इत्यत्र, "*इन्द्रि*[३]*यार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि*" [न्यायसू० १।४] इत्यत्र, "*स*[४]*त्सम्प्रयोगे*" [जैमिनिसू० १।१।४] इत्यादौ[५] च यदभ्रान्तो[६]दिग्रहणं भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं त[७]द् यदि सर्वथा अप्रत्यक्षत्वात् तेना[८]पसार्यते तदा प्रमाणविरोधः। अथ कथञ्चित्; तदा ए[4]कान्तहानिरित्युक्तं भवति।

कारिकार्थ.–

कारिकां व्याचष्टे **'तिमिर'** इत्यादिना। **तिमिरादीनां** कार्यभूतं यद् **उपप्लवज्ञानं** द्विचन्द्रादिविषयं तत् **चन्द्रादौ** आदिशब्देन धावल्यवर्तुलत्वादिपरिग्रहः तत्र **प्रमाणम्**। कुत एतत् ? **अविसंवादकं** यतः तत्रांशे। अत्र दृष्टान्तमाह–**यथा** इत्यादि। **यथा तत्** तिमिराद्युपप्लवज्ञानं **संख्यादौ** द्वित्वस्थिरत्वादौ **विसंवादकत्वादप्रमाणम्**। यदि नाम तत्तथाविधं किमेतावता प्रमाणेतररूपं भविष्यति इत्याशङ्क्य आह–**'प्रमाण'** इत्यादि। **प्रमाणञ्च इतरच्च** अप्रमाणं तयोः **व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्**[९] संवादविसंवादलक्षणत्वात्। ननु कथं तदेव प्रमाणमितरच्च युक्तं विरोधादिति चेत् ? अत्राह–**'नहि'** इत्यादि। **हिर्य**स्मात् **न**[5] ज्ञानं भवत्कल्पितं निर्विकल्प[6]कवेदनं **यदपि** इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थतः अर्थाकारताया ज्ञानेऽसंभवात्, तदसंभवश्च प्रपञ्चतः प्रागेव[१०] तत्प्रतिषेधात् सिद्धः[7]। अभ्यु-

विवृतिव्याख्यानम्–

(१) "तिमिरमक्ष्णोर्विप्लव, इन्द्रियगतमिद विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणमलातादे, मन्दं हि भ्रम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते, तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्, एतच्च विषयगत विभ्रमकारणम्। सक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्, वातादिषु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते, एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम्। सर्वैरेव च विभ्रमकारणै इन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्त्तव्यम्। अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात्। आदिग्रहणेन काचकामलादय इन्द्रियस्था गृह्यन्ते। आशुनयनानयनादयो विषयस्था। आशुनयनानयने हि कार्यमाणेऽलातादावग्निवर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति। हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्था गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते।"–न्यायबि० टी० पृ १६–१७। (२) 'प्रत्यक्षम्' इति शेष। (३) "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्।"–न्यायसू० १।१।४। (४) "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात्।"–जैमिनिसू० १।१।४। (५) आदिपदेन अव्यभिचारिसत्सम्प्रयोगजयो परिग्रहः। (६) भ्रान्तम्–आ० टि०। (७) अभ्रान्तादिग्रहणेन। (८) अप्रत्यक्षत्वात्तेनापसार्यते इति सम्बन्ध। (९) सवादविसवादलक्षणत्वात्–आ० टि०। (१०) पृ० १६७।

1 यदेकान्तवादिनां श्र०। 2 यदि ज्ञानं आ०। 3–तज्ज्ञानं आ०। 4 एकांशत हानि श्र०। 5 न तज्जाज्ञानं ब०। 6–कसंवेदनम् श्र०। 7 सिद्ध अतोऽभ्युप–ब०, श्र०।

पगम्याप्युच्यते–यथोक्तं[1] ज्ञानं **यदपि वस्त्वनुकरोति** यदाकारं भवति **तत्र वस्तुनि प्रमाणमेव, 'नहि'** इत्यभिसम्बन्धः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः। कुत एतद्? इत्याह[2]–**'समारोप'** इत्यादि। क्षणिके[1]ऽक्षणिकज्ञानं **समारोपः** तस्य **व्यवच्छेदो** निरासः तस्य **आकाङ्क्षणात्**। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**'कथम्'** इत्यादि। **कथमन्यथा** तदाकाङ्क्षणाभावप्रकारेण **दृष्टे** दर्शनविषयीकृते क्षणभङ्गादौ **प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्य **वृत्तिः**[2]? न कथमपि इत्यर्थः। नहि समारोपव्यच्छेदात् अन्यत्तस्य[3] फलम्। अथ न समारोपनिषेधार्था तत्रास्य प्रवृत्तिः। किं तर्हि? ग्रहणार्था, इत्यत्राह–**'कृत'** इत्यादि। **कृतस्य** अनुभवेन[3] अनुभूतस्य क्षणभङ्गादेः अनुमानेन **करणस्य** ग्रहणस्य **अयोगात्**, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेप्यस्मिन् अनुमानान्तरेण ग्रहणप्रसङ्गात्।

अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह–**'तद्'** इत्यादि। **तदेकान्तः** कृतैकान्तः[4] *"एकस्यार्थस्वभावस्य[5]"* [प्रमाणवा० ३।४२] इत्यादिवचनात्। यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य **हानेः** हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः? तद्धानिः कुतः? इत्यत्राह–**'कथञ्चिद्'** इत्यादि। **कथञ्चित्** नीलादिरूपेण न[5] क्षणभङ्गादिरूपेण यत् **करणं** वस्तुनो ग्रहणं तस्या**ऽनिष्टेः**, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात्। उपसंहारव्याजेन दूषणान्तरमाह–**'तद्'** इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **अस्य** अर्थाकारदर्शनस्य **विसंवादोऽपि** विप्रलम्भोपि[6] न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव। कुत एतत्? इत्यत्राह–**अवस्तुनिर्भासात्**। **अवस्तुनो** भवन्मते बहिरन्तर्वाऽसत एव स्थूलाकारस्य **निर्भासाद्** अनुकरणाद् दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः। व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौगतस्य इष्टतत्त्वसिद्धिः। अथ निरन्वयविनश्वरादिवस्तुस्वरूपाननु[6]करणेऽपि नीलादिसच्चेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तत्प्रामाण्यम्, इत्याह–**'चन्द्रादि'** इत्यादि। **चन्द्रादि** च तद् **वस्तु** च तस्य **निर्भासानाम्** उपप्लवज्ञानसम्बन्धिप्रतिभासानां प्रामाण्यं स्यात् **'प्रमाणम्'** इत्येतदनुवर्त्तमानं लब्धभावप्रत्ययमिह सम्बद्ध्यते। कुत एतद्? इत्यत्राह–**अविसंवादकत्वात्**। न खलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावल्यवर्त्तुलत्वादौ विसंवदति इति। एवं तावत् यत् परेण प्रत्यक्षाभं तैमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं[7] तदपि कथञ्चित् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम्।

---

(१) क्षणिकादेरग्रहणादप्रमाण निर्विकल्पकम्, यदि हि क्षणभगादि निर्विकल्पकप्रत्यक्षेणैव गृहीत स्यात्तदा तत्साधनार्थमनुमान किमर्थं प्रयुज्यत इति हृदयम्–आ० टि०। (२) अनुमानस्य। (३) निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण। (४) यद्धि वस्तु तत्सर्वात्मना कृत गृहीत निर्विकल्पेन इत्येकान्त कृतैकान्त। (५) "एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सत स्वयम्। कोऽन्यो भागो न दृष्ट स्यात् य प्रमाणै परीक्ष्यते॥" –प्रमाणवा०। उद्धृतश्चायम्–न्यायम० पृ० ९३। अभि० आलोक० पृ० १५२। सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A.। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४०५। प्रमेयक० पृ०२३६। सन्मति० टी० पृ० ५०७। न्यायवि० वि०पृ० ४९६ B। स्या० र० पृ० ५३४। शास्त्रवा० यशो० पृ० १५८ B। (६) अग्रहणेऽपि–आ० टि।

---

1 तथोक्त श्र०। 2 इत्यत्राह श्र०, ब०। 3 करणस्यायोगात् ब०। 4 क्षणैकान्त ब०। 5 न च क्षण–श्र०। 6 'विप्रलम्भोऽपि' नास्ति ब०। 7 तैमिरादीन्द्रि–श्र०, ब०।

साम्प्रतं कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञानं तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह–

स्वसंवेद्यं[2] विकल्पानां विशदार्थावभासनम्[4] ।

संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृतिः–सर्वतः संहृत्य[3] चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम्, प्रतिसंहार[1]व्युत्थितचित्तस्य तथैवास्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्यक्षाभम् । न च विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरार्थप्रत्यक्षाणाम् एकार्थविषयतोपपत्तेः ।

कारिकार्थः– **स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केषाम् ? इत्याह–**विकल्पानाम्** । किं तद् ? इत्याह–**विशदार्थावभासनम्** । कुत एतत् ? इत्याह–**'संहृत'** इत्यादि । **संहृता अशेषाश्चिन्ता** यस्यामवस्थायां तस्यामपि **सविकल्पकस्यैव** ज्ञानस्य **अवभासनात्** । ततो यदुक्तं परेण–"न[5] *विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता ।*" [प्रमाणवा० २।२८३] इत्यादि, "*प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति[6] ।*" [प्रमाणवा० २।१२३] इत्यादि च[3], तन्निरस्तम्; प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

---

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० ५२१ टि० ४। (२) "भवति। किम् ? स्वसंवेद्यम् स्वेन तत्त्वज्ञानात्मना संवेद्यं ग्राह्यम् स्वसवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । वेद्यवेदकाकारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्यथा अवस्तुत्वापत्तेः । किं विशिष्टम् ? विशदार्थावभासनम् अर्थस्य परमार्थसतोऽवभासनमवबोधनमर्थावभासनम् विशद स्पष्ट तच्च तदर्थावभासन च तत्तथोक्तम् । केषाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽय गौरय शुक्लोऽयं गायकोऽयमित्यादिनिश्चयज्ञानानाम् । कुत ? सविकल्पावभासनात्, विकल्पो जात्याद्याकारावबोध सह विकल्पेनेति सविकल्पक तस्यावभासनादनुभवात् । कदा ? सहृताशेषचिन्तायाम्, सहृता नष्टा अशेषा स्मृत्यादयश्चिन्ता विकल्पा यस्यामवस्थाया सा तथोक्ता तस्याम् । चक्षुरादिबुद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्य अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यर्थ ।"–लघी० ता० पृ० ४३ । (३) धर्मकीर्तिनोक्त यत्–शान्तचेतस्कतया चक्षुषा यद्रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम् । तस्मिंश्च रूपस्वलक्षण क्षणिक-परमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि–"सहृत्य सर्वतश्चिन्ता स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मति ॥"–(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्–यत्तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञान स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते । तुलना–"सहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वञ्च स्पष्ट व्यवस्यति ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६ । (४) तुलना–"न हि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्, नानावयवरूपाद्यात्मनो घटादेः बहि. सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ३६ B. । (५) "न विकल्पानुवद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता । न विकल्पेनानुवद्धस्य सस्तुतस्य ज्ञानस्य स्फुटार्थविभासिताऽस्ति ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धृतोऽयम्–तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिवि० टी० पृ० २८ B., ९५ A. । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२० । सन्मति० टी० पृ० ५०२ । न्यायवि० वि० पृ० ७७ A । 'न विकल्पानुवन्धस्य'–शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B. । 'निर्विकल्पानुवद्धस्य स्पष्टार्थ प्रतिभासते'–न्यायवि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) "प्रत्यक्षं कल्पनापोढ प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।

---

1 प्रतिसंहारं व्यु–ई० वि० । 2 अविकल्पानु–श्र० । 3 'च' नास्ति ब० ।

इदमपर व्याख्यानम्–**स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनग्राह्यं यद्रूपम्। केषाम् ? **विकल्पानाम्** अनुमानादिमानसज्ञानानाम्। तत्किम् ? **विशदार्थावभासनम्** निर्विकल्पकमभ्रान्तम् इत्यर्थः। कदा ? **संहृताशेषचिन्तायाम्।** केन रूपेण ? 'स्वसंवेद्येन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। कि कृत्वा ? **सविकल्पावभासनात्** तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः। ततस्ते विकल्पाः कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**सर्वतः**' इत्यादि। **सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाच्च **संहृत्य** त्यक्त्वा। काम् ? **चिन्ताम्** परामर्शबुद्धिम्। **स्थितोऽपि** प्रतिपत्ता। केन रूपेण ? इत्याह–'**स्तिमितेन**' इत्यादि। **स्तिमितः** स्थिरीभूतः अपरिस्पन्दः **अन्तरात्मा** मन. तेन[1]। स किं करोतीत्याह–'**चक्षुषा**' इत्यादि। चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणं श्रोत्रादेः, तेन **रूपं पश्यति,** रूपग्रहणमपि रसादीनामुपलक्षणम्। कथम्भूतम् ? **संस्थानात्मकं** वर्त्तुलत्वादिधर्मस्वभावम्। पुनरपि कथम्भूतम् ? **स्थूलात्मकं** स्थूलस्वभावमेकम्। पुनरपि किंविशिष्टम् ? **सूक्ष्मानेकस्वभावम्,** सूक्ष्मोऽनेकः स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम्। ननु सस्थानादिक गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनेकान्ते द्रव्यगुणयोरभेदार्पणया रूपस्यापि द्रव्यधर्माऽविरोधात्। ननु चक्षुषा रूप दृश्यमानम् अन्योन्यविलक्षणानेकांशपरमाणुस्वभावस्वलक्षणरूपमेव[2] दृश्यते नतु स्थूलादिस्वरूपम्, इत्यत्राह–'**न पुनः**' इत्यादि। **पुनरिति** भावनायाम्, **न स्वलक्षणं** पश्यति, कथम्भूतम् ? **असाधारणम्,**[3] असाधारणः सजातीयविजातीयव्यावृत्तः[4] **एकोऽसहायः अन्तो** धर्मो यस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतत् ? इत्याह–'**प्रतिसंहार**' इत्यादि। सहारः अशेपविकल्पाभाव., **प्रतिसंहारः** पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः, तमाश्रित्य **व्युत्थितं** प्रतिबुद्धं **चित्तं** यस्य स तथोक्त· तस्य, **तथैव** असाधारणैकान्तप्रकारेण **अस्मरणात्** स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद् दर्शनम् स्थूलादिस्वभावस्यैव[5] तु स्मरणात् सदा दर्शनमिति[6]।

'**तस्मात्**' इत्यादिना उपसहारमाह–यस्मान्निर्विकल्पकं ज्ञानं परस्य प्रत्यक्षत्वेनाऽभिप्रेतं न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिभाति **तस्माद् अविशदमेव अविकल्पकं**[7] **प्रत्यक्षाभम्।** ननु विशदेतरज्ञानानां विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वान्न 'स्थूलादि-

प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा विकल्पो नामसश्रय.॥ यत्तत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्ध तत्कल्पनाया अपोढ द्रष्टव्य कल्पनार्थरहितमित्यर्थ। तच्चैतदीदृश प्रत्यक्षेणैव स्वसवेदनेनैव सिद्धयति। कल्पनारहितस्यार्थस्य रूपस्य सवेदनस्यापरोक्षत्वात्। यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशेत विकल्पस्यापरोक्षत्वात्। तथाहि –प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा प्राणिना विकल्पो नामसश्रय शब्दससर्गवान्। स यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत्।" –प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३। उद्धृतोऽयम्–अनेकान्तजय० पृ० २०७। न्यायवा० ता० पृ० १५४। सिद्धिवि० टी० पृ० १७ A., ३१ A। प्रमेयक० पृ० ३२। सन्मति० टी पृ० ५०३। न्यायवि० वि० पृ० ४५ A, ८३ B, ४९५ A। स्या० र० पृ० ८२। शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B

1 तेन किं श्र०। 2–स्वभावलक्षणरूपमेव श्र०। 3 'असाधारणम्' नास्ति आ०, ब०। 4–व्यावृत्त य एको–ब०। 5–वस्यैवानुस्म–ब०। 6–मिति यस्मा–ब०। 7 अविकल्प प्र–श्र०।

स्वभावं रूपं पश्यति' इत्यादि युक्तम्, [1]ययोर्विभिन्नप्रतिभासत्वं तयोर्विभिन्नविषयत्वं यथा रूपरसज्ञानयोः, विभिन्नप्रतिभासत्वञ्च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति। तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वं सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्याशङ्क्याह–'नच' इत्यादि। **नच [1]नैवं विशदेतरविकल्पयोः** अवग्रहादिस्मरणाद्योः **विषयभेदैकान्तः**, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्पः प्रवर्त्तते, कल्पिते अविशदविकल्पः' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदवि[2]कल्पस्य विषयः। यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्; तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह–'[3]प्रत्यासन्न' इत्यादि। **प्रत्यासन्नश्च इतरश्च** अप्रत्यासन्नः अर्थो येषां तानि च तानि **प्रत्यक्षाणि** तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसंभवेऽपि **एकार्थविषयतोपपत्तेः**। नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादिप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः। नापि विषयाभेदः; पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात्।

यदप्युच्यते–'[4]प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धेः, यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधाः सत्यः कल्पना इति। न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तासामसिद्धम्; '[3]नहि इमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः [5]सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः' इति; तद्दूषयन्नाह–

[4]प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत्॥ २४॥

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषये विभिन्नप्रतिभासत्वात्। (२) [अ]सिद्ध इत्यत्रापि योज्यम्–आ० टि०। (३) "यदाह–न चेमा कल्पना अप्रतिसविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति। नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकारसमारोपसशय शक्यते कल्पयितुम्..."–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५०।** (४) "न लक्ष्येरन् विविच्येरन्। का ? कल्पना विकल्पा। केषु ? प्रत्यक्षेषु स्वसवेदनादिषु। किं विशिष्टा अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि। पुन कथम्भूता ? प्रतिसविदितोत्पत्तिव्यया, उत्पत्ति स्वरूपलाभ व्ययोऽभावप्रत्यय, प्रतिसविदितौ प्रतिप्राणि समुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययौ यासा तास्तथोक्ता। न खुल सत्त्वं विना उत्पादव्ययवत्त्वमनुभूयते, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। ननु सता विकल्पाना प्रत्यक्षबुद्धावनुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्; प्रतिपत्तुरशक्तिरप्रणिधानञ्चेति ब्रूम। अत्र निदर्शनमाह–तदित्यादि। तेषा विकल्पानां स्वलक्षण स्वरूप तस्य भेद सजातीयविजातीयव्यावृत्ति स इव तद्वत्। अयमर्थ –यथा प्रतीतोत्पादव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्ति कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धे तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यन्त इति। तर्हि कथमलक्षिताना तासा तत्रास्तित्वसिद्धिरिति चेत् ? न, पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धे। सहृतसकलविकल्पावस्था हि अश्व विकल्पयतो गोदर्शनावस्था, तत्रापि गोदर्शन निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्ते।"–**लघी० ता० पृ० ४४।** तुलना–"न हि सवित्ते वहुवहुविधप्रभृत्याकृतय स्वयमसविदिता एवोदयन्ते अत्ययन्ते वा यत सत्योऽप्यनुपलक्षिता स्यु कल्पनावत्।"–**सिद्धिवि०, टी० पृ० ९८ A।**

1 **नैवं** व०। 2–**विकल्पकस्य** आ०। 3 **'प्रत्यासन्नेत्यादि'** नास्ति आ०, श्र०। 4 **प्रत्यक्षेण सन्ति** श्र०, व०। 5 **सतोऽप्यनु**–आ०।

विवृतिः–सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः। प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत्। कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेरन्?

कारिकार्थ – **प्रति** प्राणि **संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ** यासां ताः तथोक्ताः, ताः तथाविधाः **सत्योऽपि** विद्यमाना अपि न केवलमसत्यः, **प्रत्यक्षेषु,** बहुवचनं चतुर्विधस्यापि[2] प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम्। **कल्पना न लक्ष्येरन्।** न च सतः प्रतिसंविदिताविर्भावविनाशवतोऽनुपलक्षणं विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थनार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह–**'तत्स्वलक्षणभेदवत्'** इति। तासां कल्पनानां स्वलक्षणं स्वस्वरूपं तस्य भेदः सजातीयाद्विजातीयाच्च[1] व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति। एतदुक्तं[2] भवति–यथा प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो[3] न लक्ष्यते, अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्त इति।

विवृतिव्याख्यानम्– तद्भेदानुपलक्षणे परकीयां युक्तिं सदूषणां 'सदृश' इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं 'प्रतिसंहारैकान्त' इत्यादिना दर्शयति–**सदृशस्य** समानस्य **अपरस्यापरस्य उत्पत्तिः** तया[4] **विप्रलम्भः** अलातचक्रवत्[4] चक्षुषो भ्रमः **तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः** त प्रकृतं सजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम्[5] अलातचक्रवन्न पश्यतीत्येवंशीलस्य सौगतस्य **अनवधारणं** यद्[4] भेदानुपलक्षणम्, **तदसमीक्षिताभिधानम्**, कुत एतत्? इत्यत्राह–'सर्वथा'[5] इत्यादि। **सर्वथा** भेदाभेदोभयानुभयप्रकारेण **तासां** कल्पनानां **सादृश्यस्य**[6] **अनिष्टेः** ततः तद्भेदोपलक्षणमेव[7] स्यात् इत्यभिप्रायः। नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेदः सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना इति। ततः **प्रतिसंहारैकान्तः** प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहैकान्तः **'संभवति न वा'** इति **चिन्त्यमेतत्** पर्यालोच्यमेतत्[8] 'न सभवति' इत्यर्थः। तत्स्वलक्षणभेदवत् तासां[6] तत्रानुपलक्षितानां संभवात्। ननु यद्यपि तासां तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाप[7]संसर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते। अतः[9] अस्या[8]ऽनुपलक्षणात् अभावसिद्धेः[10] सिद्धः प्रतिसंहारैकान्तः, इत्यत्राह–**'कथञ्च'**[11] इत्यादि। **कथञ्च** न कथञ्चिदपि

(१) "स्वहेतोरेव तथोत्पत्ते क्षणस्थितिधर्मता तत्स्वभाव पश्यन्नपि मन्दबुद्धि सत्तोपलम्भेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा न व्यवस्यति।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।३४। "ता पुनरनित्यता पश्यन्नपि मन्दबुद्धि नाध्यवस्यति सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशङ्काविप्रलब्ध सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा।"–प्रमाणवार्तिकालं० लि० पृ० २३७। (२) इन्द्रियमन स्वसंवेदनयोगिलक्षणस्य। (३) क्षणभङ्गित्वम्, स्वरूपभेदश्च। (४) उवाड(?)–आ० टि०। (५) भेदम्। (६) कल्पनानाम्। (७) कल्पनाया लक्षणमिदम्, तथाहि–"अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना"-न्यायवि० पृ० १४। (८) अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासस्य।

1 सजातीयाच्च व्या–आ०। 2 तदुक्त व०। 3 तथा आ०। 4 तद् श्र०। 5 'सर्वथेत्यादि' नास्ति श्र०। 6 सादृश्यानिष्टेः व०। 7 ततस्तदभेदोप–आ०। 8 'पर्यालोच्यमेतत्' नास्ति आ०। 9 तत. व०। 10–सिद्धेः प्रति–श्र०। 11 कथञ्चेदित्यादि व०।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेपाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, **सर्वथा** स्वरूपवद् बहिरपि **अविकल्पाः**, **पुनरिति** वितर्के **विकल्पेरन्** बहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्तप्रसङ्गादिति मन्यते। अथवा तद्बुद्धयः **सर्वथाऽविकल्पाः** सत्यः **कं[1]थश्च न पुनः** पश्चाद् **वि[2]कल्पेरन्** विकल्पान् कुर्युः। न हि अवि[१]कल्पादनुभवाद् अर्थादिव विकल्पः संभवतीत्युक्त सविकल्पसिद्धिप्रघ[२]ट्टके। ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह–

अ[३]क्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबो[3]धिकैः।
व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः–प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यस्था। तथैव श्रुतज्ञान-तदाभासव्यवस्था।

कारिकार्थ – **अक्षाणां** चक्षुरादीनां कार्यभूता **धी**र्बुद्धि. अवग्रहाद्यात्मिका मतिः सा च **स्मृतिश्च संज्ञा** च ताभिः, **चिन्तया** तर्केण, **आ[4]भिनिबोधिकैः** अनुमानैः व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम् तैः समस्तैर्व्यस्तैश्च **व्यवहाराविसंवादः**, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, **अन्यथा** एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण **तदाभासः** प्रमाणाभासः। नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामाण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादिव्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**प्रत्यक्ष**' इत्यादि। विवृतिव्याख्यानम्– **प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः** कारणाद् **अर्थेषु** घटादिषु **तेषां** प्रत्यक्षादीनां **प्रामाण्यम्**, **अन्यथा** एकान्तवादिकल्पितप्रकारेण **तदाभासव्यवस्था** प्रामाण्याभासव्यवस्था। एतदेव शाब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह–'**त[5]थैव**' इत्यादि। स्मरणादिना अन्[४]यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शाब्दं श्रु[५]त श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, **तथैव** व्यवहार[6]संवाद-विसंवादप्रकारेणैव **श्रुतज्ञानं तदाभासश्च** तयोर्व्यवस्था।

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह–

प्र[६]माणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥ २६ ॥

(१) यथाहि अभिलाप-अभिलप्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थात् न शब्दसंसर्गी विकल्पो जायते तथैव निर्विकल्पानुभवादपि शब्दशून्यात् न शब्दात्मको विकल्प समुत्पद्येत। (२)पृ० ५१। (३)"प्रमाणमित्यनुवर्तते। तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीना प्रथमान्तत्वम्'अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणाम' इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते–अक्षधीस्मृतिसञ्ज्ञाभि चिन्तयाऽऽभिनिबोधकैश्च व्यवहारे हानोपादानरूपे अविसंवादादव्यभिचार सकलव्यवहारिणा प्रतीतिसिद्ध ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थ।" –लघी० ता० प० ४५। (४)परोक्षस्य–आ० टि०। (५)परोक्षम्–आ० टि०। (६)"व्यवहाराविसवाद

1 कथञ्च पुन आ०। 2 विकल्पेनैव विक–श्र०। 3–निबोधकैः व०। 4 अभिनिबोधिकैः व०, श्र०। 5 यथैव आ०। 6–सवादप्रकारे–श्र०।

विवृतिः–श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीपदेशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारेकमविसंवादश्च[1] ?

श्रुतं धर्मि, **प्रमाणमिति** साध्यो धर्मः **'अविसंवादसिद्धेः'** इत्येतदनुवर्त्तमान

कारिकार्थ – साधनं तेन 'अविसंवादकं श्रुतं प्रमाणं न सर्वम्' इत्युक्तं भवति । तदित्थम्भूतं[2] श्रुतं क्व प्रमाणमित्याह–**अर्थेषु[२]**, न पुनः अभिप्रायमात्रे । किंविशिष्टेषु तेषु ? इत्याह–**द्वीपान्तरादिषु सिद्धं** शास्त्रान्तरे[3] लोके वा प्रसिद्धम् । ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तत्तत्र प्रमाणमित्याह–**'अनाश्वासम्'** इत्यादि । अनाश्वासम् आश्वासाभावं **न कुर्वीरन् क्वचिद्** 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशत[३]मास्ते' [4]इत्यादौ **[5]तस्य** श्रुतस्य **व्यभिचारतो** व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेपि [४]अत एव तद्भावापत्तेरित्यभिप्रायः[५] ।

श्रुतज्ञानमनुमानादतिरिक्तं प्रमाणमनभ्युगच्छतोर्वैशेषिकबौद्धयोः पूर्वपक्षः – ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेका[6]ऽसिद्धितः तत्प्रामाण्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धेः **'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** इत्याद्ययुक्तम्, तथाहि–शब्दो[६]ऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वाच्च, यद् यत् तथाविधं तत्तदनुमानान्न व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद् अनुमानान्तरम्, तथाविधश्चायं शब्द इति । न चास्य तदभिन्न-

---

इत्यनुवर्तते । आप्तवचनादिनिबन्धनं मतिपूर्वमर्थज्ञानं श्रुतं तच्च प्रमाणं सिद्धमेव । केन सिद्धमिति चेत् ? व्यवहाराविसंवादादित्युच्यते प्रत्यक्षादिवत् । केषु ? अर्थेषु प्रमेयेषु । कीदृक्षु ? द्वीपान्तरादिषु, प्रकृतो जम्बूद्वीपः तस्मादन्ये धातकीखण्डादयो द्वीपान्तराणि तान्यादिर्येषां कालस्वभावव्यवहितानां ते तथोक्ता तेषु देशकालाकारविप्रकृष्टेष्वित्यर्थः । न हि श्रुतादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानो रसायनादिक्रियाया विसंवाद्यते ग्रहणादौ वा मलयादिप्राप्तौ वा । ततोऽनाश्वासमविश्वासं न कुर्वीरन् परीक्षकाः । कुतः ? क्वचित्तद्व्यभिचारतः । क्वचिन्नदीतीरे मोदकादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसंवादः तस्मात् । नहि क्वचिद्विसंवादादप्रामाण्ये ज्ञानस्य सर्वत्राप्रामाण्यं शङ्कनीयं प्रत्यक्षादिष्वपि तथात्वप्रसङ्गात् सकलव्यवहारविलोपापत्तेः ।"–लघी० ता० पृ० ४६ ।

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादौ, नैयायिक-मीमांसकादिग्रन्थे वा । (२) श्रुतमर्थे । (३) तुलना–"एतत्साङ्ख्यपशोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीहते । अदृष्टपूर्वमस्तीति तृणाग्रे करिणां शतम् ।"–प्रमाणवा० १।१६७ । प्रश० व्यो० पृ० ५८१ । "अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च"–परीक्षामु० ६।५३ । (४) क्वचिद् द्विचन्द्रादिज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एकचन्द्रविज्ञानेऽपि अविश्वासप्रसङ्गात् । (५) अनाश्वासापत्तेः । (६) "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेव शब्दादिभ्योऽपीति । श्रुतिस्मृतिलक्षणोप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः ।"–प्रश० भा० पृ० ५७६ । "अन्तर्भावव्यवहारे च समानविधित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतूपन्यासः "–प्रश० व्यो० पृ० ५७७ । "प्रसिद्धः समयोऽविना-

---

1 'च' नास्ति ई० वि०, ज० वि० । 2–म्भूतं क्व आ० । 3 शास्त्रे लोके श्र० । 4 इत्याधारस्य श्रुतस्य श्र० । 5 तस्य व्यभि–ब० । 6–काप्रसि–श्र०, ब० ।

विषयत्वमसिद्धम्; शब्दानुमानयोरविशेषतः सामान्यगोचरचारित्वात्। सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वाच्च; न हि शब्दः असम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बद्धञ्च तं प्रतिपादयन्नसौ तल्लिङ्गतां नातिवर्त्तेत। नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्, धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्। अन्वयव्यतिरेकवत्त्वाच्च, यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचकः यत्र तु न दृश्यते न तस्य वाचकः। पक्षधर्मत्वोपेतत्वाच्च; तथाहि-विवक्षितः शब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवत्, यथा अयं धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। यथा च प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वा वह्निः प्रतीयते तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थोऽपि। दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयोरप्यनयोरविशिष्टम्।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्ये व्यभिचारात्। न हि 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानां बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात्। तस्याञ्च एतस्य लिङ्गतैवेति ॥छ॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्धयनुस्मरणाभ्या लिङ्गदर्शन यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवम्भूताया प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्या यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमान तथा शब्दादिभ्योऽपीति। तावद्धि शब्दो नार्थ प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्येव नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्गं स्यात्"-प्रश० कन्द० पृ० २१४। "अत्र हेतुमाह-समानविधित्वात्। समानप्रवृत्तिकारणत्वात् विजातीयलक्षणानाक्रान्तत्वादिति यावत्। अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमेव, साक्षात्प्रतिबन्धकत्वे प्रत्यक्षान्तर्भाव, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भाव ··"-प्रश० किर० पृ० ३०९।

(१) तुलना-"परोक्षविषयत्व हि तुल्य तावद् द्वयोरपि। सामान्यविषयत्व च सम्बन्धापेक्षणाद् द्वयोः॥"-न्यायमं० पृ० १५२। (२) "यद्यप्येते पदार्था मिथः ससर्गवन्तो वाक्यत्वादिति व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चानैकान्तिकम्, पदै. स्मारितार्थससर्गवन्ति तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्याभाव, तथापि आकाङ्क्षादिमद्भि पदै स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात्।"-प्रश० किर० पृ० ३०९। वैशे० उप० पृ० ३३१। "पदानि स्मारितार्थविज्ञप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति संसृष्टार्थपरत्वात् गामभ्याजेति परत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानादेव साध्यसिद्धे।"-न्यायली० पृ० ५५। (३) तुलना-"अन्वयव्यतिरेकौ च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत्। यो यत्र दृश्यते सब्द स तस्यार्थस्य वाचक॥"-न्यायम० पृ० १५२। (४) लिङ्गशब्दयो.। (५) "वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैषाऽनुमीयते। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या तद्धेतु सा हि निश्चिता॥१५१५॥ विवक्षायाञ्च गम्याया विस्पष्टैव त्रिरूपता। पुसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यत ॥१५२१॥ पादपार्थविवक्षावान् पुरुषोऽय प्रतीयते। वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वावस्थास्वह यथा॥१५२२॥"-तत्त्वसं० पृ० ४४१-४३। "प्रथम गोशब्दादुच्चरिताद्वक्तु ककुदादिमदर्थविवक्षा गम्यते स्वसन्ताने गोशब्दोच्चारणस्य तदर्थविवक्षापूर्वकत्वोपलम्भात्, तदर्थविवक्षया चार्थानुमानम्। अयञ्चात्र प्रयोग-पुरुषो धर्मी ककुदादिमदर्थविवक्षावान् गोशब्दोच्चारणकर्तृत्वात् अहमिवेति।"-प्रश० कन्द० पृ० २१५। (६) विवक्षायाम्। "विवक्षाकाशाधिगमे लिङ्गत्वात्। यथाहि आकाशाधिगमे सर्व शब्दोऽनुमानम्, विवक्षाकार्यस्तु विवक्षाधिगमेऽपि इति।"-प्रश० व्यो० पृ० ५७८।

1-हेतुत्वान्नहि ब०। 2 तत्र लिङ्गतां आ०, श्र०। 3-व्यतिरेकत्वाच्च आ०, ब०। 4 यत्र तत्र श्र०।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]–'शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते' इत्यादि, तदसमीचीनम्, अभिन्न[2]विषयत्वस्य अनयोरसिद्धेः । अर्थमात्रं हि शब्दस्य विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी इति । किञ्च, अनयो[3]र्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं सामान्यं नाम–सकलव्यक्त्यनुस्यूतं नित्यैकत्वादिधर्मोपेतम्, अन्यव्यावृत्तिरूपं वा ? पक्षद्वयमप्येतदनुपपन्नम्, उभयरूप[2]स्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्[4], अन्यापोहमात्रविषयत्वस्य अनयोः[5] प्रतिषेत्स्यमानत्वाच्च । नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे चानयोः मीमांसकमतानुप्रवेशः सौगतस्य स्यात्, स[6] चानुपपन्नः, त[7]द्विषयत्वस्याप्यग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अथ त[8]द्वन्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेतः, नन्वेवं प्रत्यक्षस्यापि अनुमानत्वप्रसङ्गः त[9]था तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात् ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं श्रुतज्ञानस्य अनुमानादिभ्योऽतिरेकेण प्रामाण्यसमर्थनम्–

एतेन सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्वं शब्दस्य प्रत्याख्यातम्; प्रत्यक्षस्यापि सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुषङ्गात् । तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत् तत्प्रतिपत्तिहेतुः नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ त[10]त्र सम्बद्धस्या[11]स्य प्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषेऽपि सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेदः; कथमेवं शब्दस्यापि अ[12]तो भेदो न स्यात् त[13]दविशेषात् ? तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वात्, श[14]ब्दे तदसंभवात् । पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयरूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्दे न संभवति । तथाहि–न तावत् श[15]ब्दस्य

(१) पृ० ५३० पं० १३ । तुलना–"विषयोऽन्यादृशस्तावद् दृश्यते लिङ्गशब्दयोः । सामान्यविषयत्वञ्च पदस्य स्थापयिष्यति । धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् । न तावदनुमानं हि यावत्तद्विषयं न तत् ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५–५६ । "अर्थमात्रं हि शब्दस्य गोचरोऽनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मीति ।"–स्या० र० पृ० ६२० । "विषयस्तावद्विसदृश एव पदलिङ्गयोः । तद्वन्मात्रं पदस्यार्थ इति स्थापयिष्यते । अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निरग्निमान् पर्वत इति प्रतिपत्तेः ।"–न्यायम० पृ० १५३ । (३) अनुमानशब्दयोः । तुलना–"अपि चानयोर्गोचराभेदः सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवेत् ?"–स्या० र० पृ० ६२० । (४) पृ० २८५, पृ० २८९ । (५) शब्दानुमानयोः । (६) मीमांसकमतानुप्रवेशः (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि । (८) सामान्यवदर्थविषयतया । (९) सामान्यवदर्थविषयत्वेन विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषये । (११) प्रत्यक्षस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभेदस्य समानत्वात् । (१४) तुलना–"तस्मादननुमानत्वं शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत् । त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ । स्या० र० पृ० ६२० । (१५) तुलना–"अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते । प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते । पक्षे धूमविशेषे च सामान्यं हेतुरिष्यते । शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते । व्यक्तिरेव विशेष्यातो हेतुश्चैका प्रसज्यते ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६४ । "ननूक्त

1 शब्दानुमा–ब० । 2–रूपस्यापि सामान्यपरी–ब० ।

पक्षधर्मत्वं संभवति; धर्मिण एवात्र कस्यचिदसंभवात्। अत्र हि धर्मी शब्दः, अर्थो वा स्यात्? न तावत् शब्दः; तस्यैव धर्मित्वे तस्यैव च हेतुत्वे हेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गात्। अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्; न; शब्दत्वस्य सामान्यस्वभावस्य [1]भवन्मते परमार्थसतोऽसंभवात्। [2]कल्पितस्य तु सत्त्वेऽपि न गमकत्वम् "[3]अर्थो ह्यर्थं गमयति" [ ] [1]इति च [4]भवद्भिरेव अभ्युपगमात्।

एतेन 'शब्दोऽर्थवान्' इत्याद्यनुमानं प्रत्याख्यातम्। अस्तु वा शब्दत्वं हेतुः, [5]तथापि अतः शब्दस्य धर्मिणः किम् अर्थविशिष्टत्वं साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वम्, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; [6]अ[2]चलानलयोरिव [3]शब्दार्थयोः धर्मिधर्मभावाऽसंभवात्, आश्रितो हि धर्मो भवति, [4]न चार्थः शब्दाश्रितो विभिन्नदेशत्वात्। यद् यतो विभिन्नदेशं न तत्तत्राश्रितं यथा सह्ये विन्ध्यः, शब्दाद् विभिन्नदेशश्चार्थ इति। [7]यत्र च आश्रयाश्रयिभावो नास्ति न तत्र धर्मधर्मिभावः यथा चित्रकूटकश्मीरयोः, आश्रयाश्रयिभावाभावश्च शब्दार्थयोरिति। न चार्थविशिष्टं शब्दं कश्चिदवालिशो मन्यते, शब्दात् पृथगेवार्थस्य आबालं सुप्रसिद्धत्वात्।

अथ अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वमस्य साध्यते; तदप्यसत्; [8]तदर्थतया शब्दप्रयोगाऽसंभवात्। न हि तच्छक्तिसिद्धये शब्दः प्रयुज्यते श्रूयते वा, किन्तु अर्थसिद्धये।

अथ अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्; [9]सिद्धाऽसिद्धविकल्पानुपपत्तेः। असिद्धया हि अर्थप्रतीत्या तद्वत्त्वं शब्दस्यायुक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। सिद्धायां त्व[10]स्यां किमन्यदनुमीयताम्? स्वसंविदितस्वभावायामस्यां विसंवादाभावात् इत्यस्यानुमानस्य वैफल्यम्। न च धूमाद्यनुमानेऽप्ययं दो[5]षस्तुल्य इत्यभिधातव्यम्; तत्र [11]कार्यकारणभावा-

यथानुमाने धर्मविशिष्टो धर्मी साध्य एवमिहार्थविशिष्ट. शब्द साध्यो भवतु; मैवम्; शब्दस्य हेतुत्वात्। न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति।"—न्यायमं पृ० १५३। स्या० र० पृ० ६२०।

(१) सौगतमते। (२) अन्यापोहरूपस्य। (३) तुलना—"अर्थो ह्यर्थं गमयतीति भवद्भिरेव स्वीकरणात्।"—स्या० र० पृ० ६२०। (४) सौगतैरेव। (५) तुलना—"शब्दस्य धर्मिण किमर्थविशिष्टत्व वा साध्यते, प्रत्यायनशक्तिविशिष्टत्व वा, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्व वा?"—न्यायम० पृ० १५३। स्या० र० पृ० ६२०। (६) तुलना—"शैलज्वलनयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावाभावात्।"—न्यायमं० पृ० १५३। "पर्वतपावकयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावासम्भवात्।"—स्या० र० पृ० ६२१। (७) शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावो नास्ति आश्रयाश्रयिभावाभावात्। (८) अर्थप्रत्यायनशक्तिप्रतीत्यर्थम्। तुलना—"न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा। अर्थगत्यर्थमेवामु शृण्वन्ति च वदन्ति च।"—न्यायमं० पृ० १५४। स्या० र० पृ० ६२१। (९) तुलना—"सिद्ध्यसिद्धिविकल्पानुपपत्ते। असिद्धयाऽपि तद्वत्त्व शब्दस्यार्थधिया कथम्। सिद्धाया तत्प्रतीतौ वा किमन्यदनुमीयते।"—न्यायमं० पृ० १५४। "नन्वर्थप्रतीति शब्दोत्थाऽन्योत्था वा भवेत्।"—स्या० र० पृ० ६२१। (१०) अर्थप्रतीतौ। (११) तुलना—"न हि तत्र अग्निर्धूमेन जन्यते अपि तु गम्यते। इय त्वर्थप्रतीतिर्जन्यते शब्देनेत्यस्यामेव सिद्धासिद्धत्वविकल्पावसर।"—न्यायमं० पृ० १५४।

1 इति भव—श्र०, ब०। 2 अचलानिल—आ०। 3 शब्दार्थयोर्धर्मभा—ब०। 4 नैवार्थः ब०। 5 दोष इत्य—आ०।

भावात्। न खलु धूमेन अग्निर्जन्यते किन्तु गम्यते, शब्देन तु अर्थप्रतीतिर्जन्यते अतः अस्यामेव सिद्धासिद्ध[1]विकल्पावतारः । तन्न शब्दस्य धर्मित्वं घटते ।

नाप्यर्थस्य, तेन[1] सह शब्दस्य भवद्भिः सम्बन्धानभ्युपगमात् । न हि शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धः सौगतै[2]रभ्युपगम्यते । *"न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा[3]"* [ ] इत्यादिवचनविरोधानुषङ्गात् । न च अर्थेनाऽसम्बद्धोपि शब्दः तस्य धर्मः अतिप्रसङ्गात् । अथ अर्थप्रतीतिहेतु[2]त्वात् तद्धर्मो[4]ऽसौ, न, इतरेतराश्रया[5]नुषङ्गात्–पक्षधर्मत्वसिद्धौ हि शब्दस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च पक्षधर्मत्वसिद्धिरिति । तत्प्रतीतिहेतुत्वेन चास्य[6] तद्धर्मत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धेः तत्[7]प्रभवापि प्रतीतिः आनुमानिक्येव स्यात् । तन्न पक्षधर्मत्वं शब्दे संभवति ।

नाप्य[8]न्वयव्यतिरेकौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। नहि यत्र देशे

(१) अर्थेन स्वलक्षणात्मकेन । (२) बौद्धैः । (३) "उक्तञ्च–न ह्यर्थे शब्दा तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्नित्यादि ।"–न्यायप्र० वृ० पृ० ३५ । "यथाहि वह्नौ धूमो जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्ध उत्तरभावेन भवति एव नार्थे जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्धा शब्दा उत्तरभावेन सन्ति । एतेन तदुत्पत्तिसम्बन्ध समर्थ (शब्दार्थ) योर्नास्ति इत्याचष्टे । स एवार्थ आत्मा येषा शब्दाना ते तदात्मानः, अनेन तादात्म्यसम्बन्धोऽपि नास्तीत्याह तस्मिन्निति । अर्थे प्रतिभासमाने प्रत्यक्षेण परिच्छिद्यमाने प्रतिभासेरन् प्रदीप्येरन् शब्दा इति । अयमभिप्राय –द्विविधो हि सम्बन्ध सौगताना तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्च । तत्र तादात्म्यलक्षणो वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिव तदुत्पत्तिलक्षणस्त्वग्निधूमयोरिव । शब्दार्थयोर्द्विविधोऽपि सम्बन्धोऽपि न घटते। तथाहि–न तावत्तादात्म्यलक्षण । तादात्म्ये हि शब्दार्थयो शब्दो वा स्यादर्थो वा न द्वयम् । तथा शब्दार्थयोस्तादात्म्ये क्षुरिकामोदकादिशब्दोच्चारणे मुखपाटनपूरणादिप्रसङ्ग , न च दृश्यते । तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न घटते । यत केयं तदुत्पत्तिर्नाम ? किं शब्दादर्थोत्पत्तिरर्थाद्वा शब्दोत्पत्ति ? यदि शब्दादर्थोत्पत्ति स्यात्तदा विश्वमदरिद्रं स्यात् हिरण्यादिशब्दोच्चारणादेव तदुत्पत्ते । नाप्यर्थाच्छब्दोत्पत्ति , ताल्वादिकारणकलापात्तदुत्पत्तिदर्शनात् ।"–न्यायप्र० वृ० प० पृ० ७६। "उक्तञ्च धर्मकीर्तिना–न ह्यर्थे शब्दा सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासेरन्।"–अनेकान्तजय० पृ० ११९। उद्धृतमिदम्–अष्टसह० पृ० ११८। सिद्धिवि० टी० पृ० ७५ B । स्या० र० पृ० ६२१ । षड्द० बृह० पृ० १६ । "न ह्यर्थे शब्दा सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहार स्यादित्युक्तम् ।"–न्यायवा० ता० पृ० १३३ । (४) अर्थधर्मोऽसौ शब्द । (५) तुलना–"गमकत्वाच्च धर्मत्व धर्मत्वाद् गमको यदि। स्यादन्योन्याश्रयत्व हि तस्मान्नैषापि कल्पना ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ७७। "प्रतीतिजनकत्वेन तद्धर्मतायामुच्यमानाया पूर्ववदितरेतराश्रत्वम् । पक्षधर्मादिबलेन प्रतीति , प्रतीतौ च सत्या पक्षधर्मादिरूपलाभ इति ।"–न्यायम० पृ० १५४ । स्या० र० पृ० ६२१ । (६) शब्दस्य । (७) चक्षुरादिजन्या । (८) तुलना–"अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते ॥ व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्व प्रतीयते। यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्निरस्तित्वेनान्वय स्फुट । न त्वेव यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चय । न तावत्तत्र देशेऽसौ तत्काले वाऽवगम्यते ।"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५-८६ । "अन्वयव्यतिरेकावपि तस्य दुरुपपादौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात् । नहि यत्र देशे शब्द तत्रार्थ । यथोक्तं श्रोत्रियै –मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति ।"–न्यायमं० पृ० १५५। स्या० र० पृ० ६१२ ।

1 सिद्धविक–आ० । 2–त्वाद्धर्मोऽसौ आ० ।

शब्दः तत्रार्थः "मुखे हि शब्द उपलभ्यते भूमावर्थः" [शाबरभा० १।१।५] इति भवद्भिरेवा[1]भ्युपगमात् । नापि व्यवहारिणां तदन्वयाध्यवसायोऽस्ति ; न खलु यत्र[1] यत्र पिण्डखर्जूरादिशब्दं शृण्वन्ति तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थास्तित्वं व्यवहारिणः प्रतिपद्यन्ते । यत्र हि धूमः तत्रावश्यं वह्निरस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति[2] धूमस्य, नत्वेवं देशकृतः शब्दस्य अर्थेनाऽन्वयोऽस्ति । नापि कालकृतः, न हि यत्र काले शब्दः तत्र तदर्थोऽवश्यं संभवति, रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्त्तमानाः तदर्थस्तु भूतो भविष्यंश्चेति कुतोऽर्थानां शब्दान्वेतृत्वम् ? अन्वयाभावे[3] च व्यतिरेकस्याप्यभावः तत्पूर्वकत्वात्तस्य[2] ।

यदप्युक्तम्[3]–'यो हि शब्दो[4] यत्रार्थे दृष्टः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम् ; एवंविधाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वाचकत्वस्य अस्माभिरभीष्टत्वात्[4] । न चैवंविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण अस्यानुमानत्वं[5] वाच्यम्, प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गात् तन्मात्रस्य तत्राप्य[6]विशेषात् । यत्र हि घटसद्भावोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्षं भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति ।

यदपि–'सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्' इत्युक्तम्[7], तदप्यनुपपन्नम्, अननुमानेऽपि[8] संशयोपमानादौ अस्य[9] सद्भावेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वञ्च उपमानादेः प्रागेव[10] प्रसाधितम् ।

यच्चान्यदुक्तम्[11]–'शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्' इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम् ; तत्र[12] तत्प्रामाण्यस्य **'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्'** [लघी० का० ६४] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिषेत्स्यमानत्वात् ।

ततः शब्दो[13] नानुमानं तद्विभिन्नविषयत्वात् तद्विभिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वाच्च प्रत्यक्षवत् । इतोऽप्यननुमानमसौ पुरुषैर्[14]यथेष्टं नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पुनरनुमानं न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्दः, तस्मान्नानुमानमिति । न च साधनाऽव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्तः इत्यभिधातव्यम् ; तथा तैर्नियुज्यमानस्यास्य[15] साध्यप्रतीत्यजनकत्वात् । न हि कृतकत्वं नित्यत्वसाध्येच्छया धूमत्वादिकं वा जलादिसाध्येच्छया नियुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतुः, अन्यथा न कश्चिद् विरुद्धो हेतुः स्यात् । तथा,

(१) बौद्धादिभि । (२) व्यतिरेकस्य । (३) पृ० ५३१ पं० ५ । (४) जैनै । (५) शब्दस्य । (६) प्रत्यक्षेऽपि । तुलना–"अन्वयव्यतिरेकोपपत्ति प्रत्यक्षेऽपि, यथा यत्र घटस्तत्र घटज्ञानम्, यत्र नास्ति तत्र तदभाव इति ।"–न्यायवा० पृ० २६१ । (७) पृ० ५३१ पं० ४ । (८) तुलना–"यत्तावत्स्मृत्यपेक्षत्वादनुमान शब्द इति, तन्न, अनेकान्तात् । अनु (अननु) मानेऽपि स्मृत्यपेक्षित्वमस्ति, यथा सशये यथा तर्के यथोपमान इति ।"–न्यायवा० पृ० २६० । (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वस्य । (१०) पृ० ४९५ । (११) पृ० ५३२ पं० १० । (१२) विवक्षायाम् । (१३) तुलना–"एवविधविपयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदनुमानादन्यः शब्द इति सिद्धम् ।"–न्यायम० पृ० १५५ । (१४) तुलना–"सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य । जातिविशेषे चानियमात् । ऋष्यार्यम्लेच्छाना यथाकाम शब्दप्रयोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्तते ·"–न्यायभा० २।१।५५-५६ । "यथेष्टविनियोगेन प्रतीतिर्यापि शब्दत । न धूमादेरिति···"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १९ । (१५) कृतकत्वादेर्हेतो ।

1 यत्र पिण्ड–ब० । 2–ति नापिदे–ब० । 3–भावे व्यति–ब० । 4 शब्दो दृष्टार्थे शब्द इत्यादि श्र० ।

शब्दो नानुमानम् [1]आप्तोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्, यत् पुनरनुमानं न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, [1]तथा तज्जनकश्च शब्द इति । कृतकत्वादिसाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्तं [2]नाप्तोक्तत्वमनाप्तोक्तत्वं वा शब्दस्य तु आप्तोक्तत्वमेवेति ।

'शब्द विकल्पवासनामात्रजन्यत्वादर्थाऽसस्पर्शी, अत एव च न तत्प्रामाण्यम्' इति बौद्धस्य पूर्वपक्ष –

सत्यम्, अननुमानस्वभाव एवायं शब्द अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनुमानेऽन्तर्भावप्रयासः फलवान् । न चास्यैतदस्ति, वस्तुनि सम्बन्धाऽसंभवात् । सम्बन्धो हि शब्दार्थयोर्भवन् तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वभावो वा भवेत् ? न तावत् तादात्म्यलक्षणः, विभिन्नदेशतया तयो. प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्दः प्रतीयते भूमावर्थ इति । [3]तत्तादात्म्ये च क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणप्रसङ्ग । नापि तदुत्पत्तिस्वभावः, 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम् अर्थाभावेऽप्युत्पत्ति[4]प्रतीतेः, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च । अतोऽर्थाऽसस्पर्शिन. शब्दा न बाह्यार्थे प्रतीतिं जनयितुमल तत्कथं प्रामाण्यभाजो भवेयुः ? ते हि वि[4]कल्पमात्राधीनजन्मान. स्वमहिम्ना तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथ[3]शतमास्ते' इति।

(१) तुलना–"आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थे सम्प्रत्यय । २।१।५२ । स्वर्ग अप्सरस उत्तरा कुरव सप्त द्वीपा समुद्रो लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्यय । किंतर्हि ? आप्तैरयमुक्त शब्द इत्यत सम्प्रत्यय, विपर्ययेण सम्प्रत्ययाभावात् नत्वेवमनुमानमिति ।"–न्यायभा०, न्यायवा०, २।१।५२। (२) "नान्तरीयकताभावाच्छब्दाना वस्तुभिस्सह । नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचका ॥ अधुना नैव बाह्येऽर्थेऽस्य प्रामाण्यमित्याह–अपि चेत्यादि । वस्तुभि स्वलक्षणै सह शब्दनान्तरीयकताया अविनाभावस्याभावात् तेभ्य शब्देभ्यो नार्थसिद्धिर्न बाह्यवस्तुनिश्चय, यस्मात्ते वक्त्रभिप्रायसूचका ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२१२ । "वचसा प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु । प्रतिपादयता तानि येनैषा स्यात्प्रमाणता ॥ भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्य न तदुद्भव । व्यभिचारान्न चान्यस्य युज्यते व्यभिचारिता ॥ न हि वाच्यै वस्तुभि सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबन्धो वचसामस्ति येन तानि वस्तूनि प्रतिपादयतामेषा वचसा प्रामाण्य स्यात् । तत्र तावन्न तादात्म्यलक्षणप्रतिबन्धोऽस्ति भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो हेतुभ्य । तत्र भिन्नाक्षग्रहण भिन्नेन्द्रियेण ग्रहणम् । तथाहि–श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते अर्थस्तु चक्षुरादिना । आदिशब्देन कालदेशप्रतिभासकारणभेदो गृह्यते' "–तत्त्वस० पृ० ४४० । न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ७६ । तुलना–" मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति ।"–शाबरभा० १।१।५ । (३) तुलना–"पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभाव ।" –न्यायसू० २।१।५३ । "स्याच्चेदर्थेन सम्बन्ध क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम् ।" –शाबरभा० १।१।५ । शास्त्रवा० श्लो० ६४५ । अनेकान्तजय० पृ० ४२ A । न्यायकु० पृ० १४४ टि० ३ । (४) "विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचरा । जायन्ते बुद्धयस्तत्र केवल नार्थगोचरा । अनादि समानजातीयो यो विकल्पस्तेन आहिता या वासनाशक्तिस्तत उद्भूता उत्पन्ना यथागम समारोपिता य आकाशाद्याकारा तद्गोचरा त त्प्रतिभासिन्य एव केवल गता तत्र बाह्यत्वेन कल्पितेषु आकाशादिषु जायन्ते । न तु ता बुद्धयोऽर्थगोचरा नाकाशादिस्वलक्षणविषया ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२८८।

1 तथा तज्जनकश्च श्र० । 2 नाप्तोक्तत्व वा श्र० । 3–यूथमास्ते ब० ।

[1]पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानाम्; इत्यप्ययुक्तम्; दोषवतोऽपि [2]मूकादेः पुरुषस्य अनुच्चारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसंभवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि [2]तानुत्पादयन्त्येव । अतः शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । [3]नन्वाप्ता [3]नेदृंशि वाक्यानि प्रयुञ्जन्ते, प्रयुञ्जाना वा नाप्ताः स्युः, इत्यप्यसत्; एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः । यदि हि वक्तृदोषाभावे [4]अमून्यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां [4]वक्तृदोषजत्वं शाब्दज्ञानस्य स्यात् । आप्तैस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विद्दोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चितः-सत्स्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः । न [5]चाप्तत्वम् ईदृग्वाक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते; तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात् । तथाहि–[5]आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति । अतः शब्दस्यैवैष महिमा न वक्तृदोषाणाम् ।

किञ्च, [6]बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानं जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसंस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मानः सिद्धाः । तदुक्तम्–

"[7]विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥" [ ] इति ।

---

(१) तुलना–"इहापि पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानामिति चेत्, मैवम्, दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविप्लवोत्पादनपाटवाभावात् । असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विप्लवमावहन्त्येवेति शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् ।" –न्यायमं० पृ० १५७ । स्या० र० पृ० ७०० । (२) बाह्यार्थशून्यान् मिथ्याप्रत्ययान् । (३) तुलना–"न चाप्ता नेदृशानि वाक्यानि प्रयुञ्जते प्रयुञ्जाना वा नाप्ता स्युरिति चेत्; एतदप्यसुन्दरम्, एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धि, व्यतिरेकासिद्धेः "–स्या० र० पृ० ७०१ । (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादीनि । (५) तुलना–"उक्तञ्चैतदुम्वेकेन–यदाप्तोऽपि कस्मैश्चिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषय वाक्य प्रयोक्तव्य यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति तत्रार्थव्यभिचार स्फुट इति ।"–चित्सु० पृ० २६५ । (६) तुलना–"अपि च न चक्षुरादि वाधकज्ञानोदये सति न विरमति, विपरीतवेदनजन्मन शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदर्शनात् । शब्दस्तु शतकृत्वोऽपि वाध्यमानो यथैवोच्चरित करशाखादिशिखरे करेणुशतमास्त इति तदैव तथाभूत भूयोऽपि विकल्पमयथार्थमुत्पादयत्येवेति विकल्पाधीनजन्मत्वाच्छब्दानामेवेद रूप यदर्थासंस्पर्शित्व नामेति ।"–न्यायमं० पृ० १५८ । (७) 'तेषामन्योन्यसम्वन्धे'–न्यायमं० पृ० १५८ । 'तेषामत्यन्तसम्वन्धो'–नयचक्रवृ० लि० पृ० १६७ A । 'तेषामन्योन्यसम्वन्धात्'–सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B । 'कार्यकारणता तेषा नार्थं शब्दा स्पृशन्त्यपि'–न्यायावता० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० म० पृ० १७५ । प्रकृतपाठ –स्या० र० प० ७०१। पूर्वार्द्धम्–अनेकान्तजय० पृ० ३७ । अनेकान्तवाद० पृ० ४७ । सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४०२ A ।

---

1 इत्ययु–आ० । 2 प्रतारकादेः आ०, श्र० । 3 नेदृशवा–श्र० । 4 चक्षुदोष–व० । 5 चासत्वम् श्र० ।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शब्दस्य परमार्थसदर्थवाचकत्वस्य प्रथक् प्रामाण्यस्य च समर्थनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[१]–'वस्तुनि सम्बन्धासंभवात्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्, तत्र[२] शब्दस्य तद[३]भावाऽसंभवात्। तथाहि–शब्दः अर्थेन सम्बद्ध एव तं प्रकाशयति प्रतिनियततत्प्र[४]त्ययहेतुत्वात् चक्षुर्वत्। शब्दप्रत्ययो वा सम्बद्धाभ्यां शब्दार्थाभ्यां जन्यते प्रतिनियतप्रत्ययत्वात् दण्डीत्यादिप्रत्ययवत्। ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धस्याऽपास्तत्वात् कथं सम्बद्धत्वम्? इत्यप्यनुपपन्नम्; त[५]दभावेऽप्य[६]नयोः योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवात्। तदभावे सो[७]ऽपि कथम्? इत्यप्यवाच्यम्; चक्षूरूपयोस्तद[८]भावेऽपि तद्दर्शनात्। न खलु च[2]क्षुषो घटादिरूपेण सह तादात्म्यं तदुत्पत्तिः संयोगो वा सौगतैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्, अ[९]प्राप्यकारित्वक्षतिप्रस[3]ङ्गाच्च। नाप्य[१०]स्य तद[११]भावे रूपप्रकाशनयोग्यतास्वभावसम्बन्धस्याप्यसंभवः; श्रोत्रादिवत् त[१२]स्यापि तद[१३]प्रकाशकत्वप्रसङ्गात्।

ननु योग्यतातः शब्दस्य अर्थवाचकत्वे अर्थस्यापि शब्दवाचकत्वं किन्न स्यात्? इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रतिनियतशक्तित्वाद् भावानाम्। योग्य[१४]ता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत्। नच ज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणभावात् त[१५]त्प्रतिनियमो न योग्यतात इत्यभिधातव्यम्; त[१६]त्कार्यकारणभावस्य **'अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः'** [लघी० का० ५४] इत्यत्र विस्तरतो निराकरिष्यमाणत्वात्। कथञ्चैव चक्षूरूपयोः घटप्रदीपयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकभावप्रतिनियमः स्यात्? योग्यतातोऽन्यस्य कार्यकारणभावादिप्रतिबन्धस्य[4] त[१७]त्र त[१८]त्प्रतिनियमहेतोरसंभवात्।

ननु योग्यतावशात् शब्दो य[5]द्यर्थं प्रतिपादयति तदा भूभवनवर्द्धितोत्थितस्यापि

(१) पृ० ५३६ पं० ६। (२) वस्तुनि। (३) सम्बन्धाभाव। (४) अर्थ। (५) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावे–आ० टि०। तुलना–"सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य।"–न्यायसू० २।१।५५। "स च वाच्यवाचकावलम्बनः सङ्केतज्ञानमेव।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८५। "तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्तते।"–न्यायवि० का० ४३२। "अन्ये त्वभिदधत्येवं वाच्यवाचकलक्षणः। अस्ति शब्दार्थयोर्योगस्तत्प्रतीत्यादितस्ततः॥"–शास्त्रवा० श्लो० ६५२। "सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः।"–परीक्षामु० ३।१००। "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इति।"–प्रमाणनय० ४।११। (६) शब्दार्थयोः। (७) योग्यतालक्षणोऽपि। (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि। तुलना–"नयनरूपयोः क्वचित्तदभावेऽपि तदुपलम्भात्।"–स्या० र० पृ० ७०२। (९) चक्षूरूपयोः संयोगाभ्युपगमे। (१०) चक्षुषः–आ० टि०। (११) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावे–आ० टि०। (१२) चक्षुषः–आ० टि०। (१३) रूपस्य–आ० टि०। (१४) तुलना–"सहजा स्वाभाविकी योग्यता शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत्।"–प्रमेयक० पृ० ४२८। स्या० र० पृ० ७०२। (१५) ज्ञाप्यज्ञापकप्रतिनियमः। (१६) ज्ञानार्थयोः कार्यकारणभावस्य। (१७) चक्षूरूपयोः घटप्रदीपयोश्च। तुलना–"इतरथा ज्ञानमेव प्रकाशकं ज्ञेयमेव च प्रकाश्यं नपुनर्ज्ञानमिति नियमस्याघटनात्।"–स्या० र० पृ० ७०२। (१८) प्रकाश्यप्रकाशकप्रतिनियमः।

1 इत्यन्–आ०। 2 चक्षुषा ब०, श्र०। 3–ङ्गात् ना–ब०। 4–स्य तत्प्रति–ब०। 5 यथार्थं ब०।

[1]प्रतिपादयेत् विशेषाभावात्; इत्यप्यपेशलम्; सङ्केतसचिवयोग्यतावशात्[1]तस्य [2]तत्प्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, भूभवनवर्द्धितोत्थितं प्रति चास्य तथाविधत्वाभावान्न तत्प्रतिपादकत्वप्रसङ्गः। [3]सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इदं वाचकम्' इत्येवंवि[2]धो वाच्यवाचकयोर्विनियोगः, स [4]यस्यास्ति तस्यैव शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसाधनमप्यस्[5]यै अग्न्यादिसाध्यं गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगमकत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्यास्ति। [6]येनैव [3]साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीतः तं प्रत्येव साधनं साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनैव शब्दार्थयोः सङ्केतो गृहीतः तं प्रत्येव शब्दोऽर्थस्य वाचकः इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात्।

ननु सङ्केतः पुरुषेच्छाकृतः, नच तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्, [7]अतोऽर्थोपि वाचकः शब्दस्तु वाच्यः किन्न स्यात् तदिच्छाया निरङ्कुशत्वात्? इत्यप्यसुन्दरम्, [8]तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिबन्धनत्वाद् धूमाग्निवत्। यथैव हि धूमाग्न्योर्नैसर्गिक एवाविनाभावः सम्बन्धः, [9]तद्व्युत्पत्तये तु भूयोदर्श[10]नादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा शब्दार्थयोः स्वभाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्व्यु[4]त्पत्तये तु सङ्केतः समाश्रीयते। सांसिद्धिकार्थशक्तिव्यति[5]क्रमे च चक्षूरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशकशक्तेर्व्यतिक्रमः स्यात्। तथा च चक्षुः[6]प्रदीपादीनां प्रकाश्यत्वं घटादीनां तु प्रकाशकत्वं स्यात्। प्रतीतिविरोधोऽन्य[11]त्रापि न काकैर्भक्षितः।

ननु [12]शब्दस्य स्वाभाविकी शक्तिः किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा? यद्येकार्थप्रत्यायने, [7]तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादनग्निप्रतीतिवत्।

---

(१) शब्दस्य। (२) अर्थवाचकत्वस्वीकारात्। (३) तुलना–"क पुनरय समय? अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोग, तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दार्थसप्रत्ययो भवति।" –न्यायभा० २।१।५५। "अभिधानाभिधेयनियमनियोग' समय उच्यते।"–न्यायमं० पृ० २४१। "अस्यार्थस्याय वाचक इत्यर्थकथन समय"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०। "इद पदममुमर्थं बोधयतु इति अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा।"–तत्त्वचि० शब्दपरि०। स्या० र० पृ० ७०२। (४) पुरुषस्य। (५) भूभवनसर्वद्धितोत्थितस्य। (६) पुरुषेण। (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति। (८) तुलना–"स हि पुरुषकृत सङ्केत न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते, तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्। अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति। न चैवमस्ति, न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो धूमान्न तत्प्रत्येति जल वा तत इच्छन्नपि प्रतिपद्यते। तत्र यथा धूमाग्न्यो नैसर्गिक एवाविनाभावो नाम सम्बन्ध ज्ञप्तये तु भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एव शब्दार्थयो सासिद्धिक एव शक्त्यात्मा सम्बन्ध तद्व्युत्पत्तये तु वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाश्रयणम्।"–न्यायमं० पृ० २४१। "सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिबन्धनत्वात्। यथैव हि धूमपावकयो स्वाभाविक एवाविनाभावः··"–स्या० र० पृ० ७०३। (९) अविनाभावग्रहणाय। (१०) आदिपदेन तर्को ग्राह्य। (११) शब्दार्थयोरपि वाच्यवाचकचोदने। (१२) तुलना–"गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गति। अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसभवः॥" –प्रमाणवा० ३।२२८।

---

1 प्रतिपादयतु ब०। 2–विधावाच्यवाच–आ०। 3 साध्यसाधनं साध्यस्य ब०। 4–त्पत्तये स–आ०, ब०। 5–क्रमे चक्षू–श्र०। 6–प्रदीपानां आ०। 7 तथा ब०।

अथ अनेकार्थप्रत्यायने, तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्,, सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु प्रत्यायनशक्तिसंभवात्। कथमन्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सन्देह. स्यात्–'कमर्थं प्रतिपादयितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः' इति। नचैवं सकृत्सर्वार्थप्रतिपत्तिप्रसक्तेः प्रतिनियतेऽर्थे ततः प्रवृत्तिर्न स्यादित्यभिधातव्यम्; प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः। एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते, यथा मालवकादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे, गुर्जरादौ तु योन्यामिति। दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, विशिष्टाञ्जनादिवशात् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च विवक्षितरूपाभावेऽपीति। तयो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्वं तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमविरुद्धम्।

अथ मतम्–चक्षुरादिवत् शब्दस्य अर्थे योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवे तद्वदेव अतः सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीतिः स्यात्, तदप्यसङ्गतम्; तस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुलना–"सर्वाकारपरिच्छेद्यशक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा। सर्वाकारार्थविज्ञानसमर्थे नियम कृत ॥"–मी० श्लो० पृ० २०२। "सर्वशब्दाना सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहार। अत एव चानधिगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहो भवति कमर्थं प्रत्याययितुमनेन शब्द प्रयुक्तः स्यादिति।"–न्यायम० पृ० २४२। "समयापेक्षण चेह तत्क्षयोपशम विना। तत्कर्तृत्वेन सफल योगिना तु न विद्यते ॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दाना चित्रशक्तित। वाच्यस्य च तथाऽन्यत्र नागोऽस्य समयेऽपि हि ॥"–शास्त्रवा० श्लो० ६६३-६४। "तथा च सर्वे शब्दा प्राय सर्वार्थवाचकशक्तिमन्त सर्वे चार्था सर्वशब्दवाच्यशक्तियुक्ता इति विचित्रक्षयोपशमादिसहकारियोगत तथा तथा प्रवर्तन्ते इति न काचिद्बाधा"–अनेकान्तजय० पृ० ३६ A। "सर्वस्य शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धे। पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात्।"–अष्टसह० पृ० १४३। "शब्दस्यानेकार्थप्रतिपादने नैसर्गिकशक्तिसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्ते।"–स्या० र० पृ० ७०३। (२) शब्दात्। (३) शब्दानाम्। (४) तुलना–"तथाहि–यवशब्द आर्यैर्दीर्घशूके पदार्थे प्रयुज्यते, ते हि यवशब्दात् दीर्घशूक पदार्थं प्रतिपद्यन्ते म्लेच्छास्तु प्रियङ्गु प्रतिपद्यन्ते। एव त्रिवृत्शब्दमृषय स्तोत्रीयानवके प्रयुञ्जते, आर्यास्तु लताविशेषे।"–न्यायवा० ता० पृ० ४२०। "एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियत सङ्केतोऽनुभूयते, यथा गुर्जरादौ चोरशब्दस्य तस्करे द्राविडादौ पुनरोदन इति। दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुष प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरसामर्थ्याच्च सन्निहिते रूपे विशिष्टाञ्जनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिदूषणबलाच्च विवक्षितरूपाभावेऽपीति।"–स्या० र० पृ० ७०३। (५) "एव कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेया।"–स्या० मं० पृ० १७८। (६) पीतरूपाभावेऽपि शखे पीतज्ञानजनकत्वम्। (७) चक्षुर्वदेव। (८) शब्दात्। (९) शब्दस्य। तुलना–"वाच्यवाचकलक्षणो हि शब्दार्थयो प्रतिबन्ध., तथाहि वाच्यस्वभावा अर्था वाचकस्वभावाश्च शब्दा इति तज्ज्ञप्तिवाद। यदैवं

1 कथमर्थं श्र०। 2 मालवादौ ब०, श्र०। 3–शनयोग्य–श्र०। 4 अर्थस्य प्रती–श्र०।

प्रतीत्यङ्गतोपपत्तेः । यज्ज्ञापकं तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीनां तु कारकत्वात् युक्तं स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षाणां तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते । तद्रूपता[1] च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादेः, अतः[1] स[2] एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धं स्वार्थं गमयति । शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादेः तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्[3]–'अतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतः[4] किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासंस्पर्शित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ? तत्राद्यपक्षे प्रत्यक्षबाधा[5], आप्तप्रणीतात् 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थ[2]प्रत्ययप्रतीतेः ततः[6] प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य; तर्हि तस्यैव अर्थाऽसंस्पर्शित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्य[7] अर्थासंस्पर्शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्यापि[8] तत्स्यात्[9] ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः; आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्रस्याऽसंभवात् । नन्वाप्तप्रणीताद्[3] अङ्गुल्यादिवाक्याद्[10] विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः शब्दस्यैष महिमा[11] न वक्तृदोषाणाम्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; आप्तैरेवंविधवाक्याऽप्रयोगात्[12]।

यत्तु–'आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति' इत्याद्युक्तम्[13]; तत्र[14] निषेधपरत्वेनास्य[15] यथार्थ-

कथन्न सङ्केतमन्तरेणैव ततस्तदवगति ? उच्यते–तथाविधक्षयोपशमाभावात् । न हि रूपप्रकाशनस्वभावोऽपि दीपोऽसति चक्षुषि तत्प्रकाशयति, चक्षु कल्पश्च क्षयोपशम, स च सङ्केततपश्चरणभावनादिजन्यस्तथोपलब्धे ।"–अनेकान्तजय० पृ० ३६ A. । "शब्दस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादेरेतद्रूपयत्सम्बन्धग्रहणापेक्ष स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तर्गतत्वान्न व्युत्पत्त्यपेक्षा भवन्ति । शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्यार्थप्रतिपादने ।"–न्यायमं० पृ० २४१ । (१०) सङ्केतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकरूपता । (२) शब्दादि । (३) पृ० ५३६ पं० १२ । (४) तुलना–"यत किमाप्तनिगदितशब्दस्यार्थासस्पर्शित्व "–स्या० र० पृ० ७०३ । (५) तुलना–"भवेदेतदेवं यदि न कदाचिदपि यथार्थं शब्द प्रत्ययमुपजनयेत् । अर्थसस्पर्शित्वमेवास्य स्वभाव इत्यवगम्यते । भवति तु गुणवत्पुरुषभाषितान्नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थो यथार्थप्रत्यय तत प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः ।"–न्यायमं० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्ले शखे पीताकारावभासिन । (८) शुक्ले शखे शुक्लत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासस्पर्शित्वमतश्च मिथ्यात्व स्यादिति भाव. । (१०) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत् तिरस्कृतबाह्यार्थप्रत्ययोत्पादकत्वम् । (१२) तुलना–"गुणवतामेवविधवाक्योच्चारणचापलाभावात् ।"–न्यायमं० पृ० १५८ । "आप्तैरेवविधवाक्यस्याप्रयुक्ते "–स्या० र० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ प० ११ । (१४) तुलना–"यत्तु आप्तोऽपि कचिदनुशास्ति मा भवानभूतार्थं वाक्यं वादी अङ्गुलिकोटौ करिघटाशतमास्ते' इति, तत्र इतिकरणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थत्वमेव । अर्थपरत्वे तु निषेधैकवाक्यतैव न स्यादिति । तस्मादाप्तवाक्यानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासस्पर्शिन शब्दाः पुरुषदोषानुषङ्गकृत एवाय विप्लव ।–न्यायम० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यप्रयोगनिषेधकस्य आप्तोपदेशस्य ।

1 अतस्तदेव श्र०, ब० । 2–र्थप्रतीतेः प्रवृत्तस्य आ० । 3–प्रयुक्ताद् ब०, श्र० ।

तैव, वाक्यैकदेशस्यापि उदाहरणविवक्षायाम् इतिकरणावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थतैव । अर्थपरत्वे तु निषेधेनैकवाक्यतैव न स्यात् । तस्माद् आप्तप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः, किन्तु पुरुषदोषवशात्।

नन्वाप्तैरेवंविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेकः 'किं शब्दाभावादयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, वक्तृदोषाभावाद्वा'; इत्यप्यविचरितरमणीयम्; अनुच्चारितशब्दस्यापि दोषवतः पुरुषस्य हस्तसंज्ञादिना प्रतारकत्वप्रतीतेः । न च हस्तसंज्ञादिना शब्दानुमानं ततो वितथप्रत्यय इत्यभिधातव्यम्; तथाप्रतीत्यभावात् । नद्यादिवाक्याद्वुत्पन्ने च क्वचिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफलः पुरुषः पुरुषमेवाधिक्षिपति 'दुरात्मनाऽनेन विप्रलब्धोऽस्मि' इति, न शब्दम् । ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापारः, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति तद्विपर्यये शब्दस्यैव व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्; इत्यप्ययुक्तम् यतो गुणवद्वक्तृप्रणीतात् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येवं शब्दस्यैव व्यापारः स्यात् तद्वक्तुः तदुच्चारणमात्रे चरितार्थत्वात् । अतः कथमेकान्ततः शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वमेव स्वरूपं स्यात्?

किञ्च, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्भिः सह तद्भावभावित्वमवगम्यते तावतां तत्र व्यापारः, सा चात्र शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तयोगिता विना न दृष्टेति शब्दवत्तदाशयस्यापि तत्र व्यापारः ।

[10]किञ्च, चक्षुरादिवदर्थप्रकाशकत्वमात्रं शब्दस्य स्वरूपं न पुनः यथार्थप्रकाशक-

---

(१) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति वाक्यस्य एकदेश 'अङ्गुल्यग्रे' इत्यादिरूप । (२) तुलना–"अनुच्चरितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भक । हस्तसंज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ॥" –न्यायम० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (३) तुलना–"इत्यमप्रतीते । उत्पन्ने च क्वचिन्नद्यादिवाक्याद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन्ननासादितफल प्रवृत्तबाधकप्रत्यय पुरुषमेवाधिक्षिपति 'धिग् हा तेन दुरात्मना विप्रलब्धोऽस्मि' इति न शब्दम्, प्राप्तफलश्च पुंसामेव श्लाघते साधु साधुना तेनोपदिष्टमित्यत पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तदभावकृत एव आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु विभ्रमानुत्पाद इति न सन्दिग्धो व्यतिरेक । पुरुषदोषकृत एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपनिबन्धन ।"–न्यायम० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (४) अर्थप्रतीतिविपर्यये । (५) तुलना–"हन्त तर्हि वक्तरि गुणवति सति सरितस्तीरे फलानि सन्तीति सम्यक्प्रत्ययेऽपि शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्रे चरितार्थत्वान्नैकान्तत शब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वमेव स्वभाव ।"–न्यायम० पृ० १५९ । (६) कार्यकारणभाव । (७) विपर्ययज्ञानोत्पत्ति । (८) अनाप्ताभिप्रायस्य । (९) विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ व्यापार । तुलना–स्या० र० पृ० ४०७ । (१०) तुलना–"युक्तञ्चैतदेव यत् दीपवत् प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूप न यथार्थत्वमयथार्थत्व वा, विपरीतेऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्ते । अयं तु विशेष –प्रदीपे व्युत्पत्तिनिरपेक्षमेव प्रकाशकत्व शब्दे तु व्युत्पत्त्यपेक्षमिति । प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीने यथार्थेतरत्वे । अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचसि बाधितेऽपि पुन पुनरुच्चर्यमाणे भवति विभ्रम प्रकाशकत्वतद्रूपानपायात्, न त्वेष शब्दस्य दोष । पदार्थाना तु ससर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पत । वक्तुरेव प्रमादोऽय न शब्दोऽत्रापराध्यति ।"–न्यायम० पृ० १५९ । स्या० र० पृ० ७०४ ।

1–मेव रूप श्र० । 2 किञ्चक्षुरा–ब० । 3 शब्दस्वरूप श्र० । 4 यथार्थप्रकाश–आ० ।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्वं वा, तस्य[1] गुणदोषनिबन्धनत्वात्। सति हि नैर्मल्यादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथावत्, एवं शब्दोऽपि वक्तृगुणदोषापेक्षः सत्येतररूपं वस्तु प्रकाशयति। अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचसि[2] बाध्यमानेऽपि पुनः पुनरुच्चार्यमाणे भवति भ्रान्तिः प्रकाशकत्वस्य तत्स्वरूपस्य[3] बाधकशतोपनिपातेऽप्यनपायात्।

यच्चान्यदुक्तम्[4]–'नेन्द्रियवदुदास्ते' इति, तदप्युक्तिमात्रम्; बाधकप्रत्ययप्रवृत्तावपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिथ्याज्ञानजनकत्वप्रतीतेः। न च तत्प्रवृत्तौ[5] तत्[6] तद्विषयं[7] विज्ञानं नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम्; प्रतीतिविरोधात्।

यदप्युक्तम्[8]–'विकल्पयोनयः शब्दाः' इत्यादि, तत् सविकल्पकसिद्धौ[9] कृतोत्तरत्वादुपेक्षते। ततः प्रमाणं शब्दः अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिवत्, स्वपरपक्षसाधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्, तथा सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात् योगिज्ञानवत्। न खलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽखिलार्थानां[10] शब्दादन्यतो विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः संभवति तदुपायान्तराऽसंभवात्। लिङ्गं तदुपायान्तरं[11] संभवतीति चेत्; न; तत्प्रतिबद्धलिङ्गस्य[12] कस्यचिदप्यप्रतिपत्तेः। ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव तत्र[13] प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

'शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धसंभवान्नास्ति पुरुषकृतः सङ्केतः' इति मीमांसकस्य पूर्वपक्षः-

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्धः, स तु अनित्यः, नित्यो वा स्यात्? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; अनित्यस्य सम्बन्धस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। समयो हि क्रियमाणः प्रतिपुरुषम्[14], प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते प्रकारान्तरासंभवात्। उक्तञ्च–

"समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।
क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित्[15] ॥"

[मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १३]

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुषं सम्बन्धः क्रियमाणः किमेकः क्रियते, अनेको वा?

---

(१)यथार्थायथार्थप्रकाशकत्वस्य। (२) अङ्गुल्यग्रे हस्तिशतमास्ते इतिवचने। (३) शब्दस्वरूपस्य। (४) पृ० ५३७ पं० १४। (५) बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ। (६) इन्द्रियम्–आ० टि०। (७) चन्द्रविषयम्–आ० टि०। (८) पृ० ५३७ पं० १६। (९) पृ० ४७। (१०) मेरुपर्वतरामरावणादिपरमाण्वादीनाम्। (११) विप्रकृष्टार्थप्रतिपत्तिसाधनम्। (१२) देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थ–आ० टि०। (१३) विप्रकृष्टार्थे। (१४) एतावताऽत्र भङ्ग्या क्रम उक्तः–आ० टि०। (१५) व्याख्या–"इयमस्य संज्ञेति समयः, स प्रत्यर्थं प्रतिपुरुषं वा क्रियेत, प्रतिपुरुषमेव प्रत्युच्चारणं प्रतिप्रयोगं वा। अथवा जगदादौ जगतः सृष्टिकाले केनचित् ईश्वरादिना धात्रा सकृत् एकयैव हेलया क्रियतेति त्रयो विकल्पाः।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ६२२। उद्धृतोयम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०। तत्त्वसं० पृ० ६२२। जैनतर्कवा० पृ० ३१।

[१]यद्येकः, कथं कृत[1]कः[२] ? पूर्वमप्यस्य[३] सद्भावतोऽकृतकत्वप्रसिद्धेः । नहि सतो वस्तुनः पुरुषाज्जन्म युक्तम्, अभिव्यक्तेरेवा[४]तस्तस्योपपत्तेः । अथानेकः; कथमेकार्थसङ्गतिः ? यथा गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थः केस[2]रादिमानश्वशब्दस्येति ।

किञ्च, [५]प्रतिपुरुषं सम्बन्धकरणे किमेकस्तत्कर्त्ता, बह्वो वा ? यद्येकः; तदासौ देशान्तरव्यवस्थितानां कथं समयं विदध्यात् ? तत्र तत्र गत्वाऽसौ करोति चेत्, तर्हि पुरुषायुषेणापि [६]तत्करणानुपपत्तिः ते[७]षामनन्तत्वात् । अथैकः सन्निहितेषु बहुषु समयं क[3]रोति, ते च कृतसमया अन्येषां [८]तं करिष्यन्ति, तेऽप्यन्येषाम्, इत्येवं सर्वत्र व्यवहारः उपपत्स्यते, तन्न, ते[९]षां प्रयोजनाभावतः सर्वत्र गमनानुपपत्तेः, अतो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यवहारो न प्राप्नोति। अथ बहवः समयस्य कर्त्तारः, तर्हि सकलदेशकालेषु एकरूपता समयस्य न प्राप्नोति, त[१०]स्यां निमित्ताभावात् । न च[११] ते सर्वे सभूय पर्यालोच्य वा एकमेव समयं कुर्वन्ती त्यभिधातव्यम्; परस्परानपेक्षाणां स्वातन्त्र्येण समयं [१२]कुर्वतां त[१३]था तत्करणानुपपत्तेः ।

प्रतिशब्दमपि उच्चार्य समयः क्रियेत, अनुच्चार्य वा ? न तावदनुच्चा[4]र्य; [१४]अस्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च निराश्रयः सम्बन्धो युक्तः अतिप्रसङ्गात् । नापि उच्चार्य, पुरुषायुषेणापि त[१५]था सम्बन्धस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, [१६]प्रतिशब्दमुच्चार्य अभिनवः सम्बन्धो विधीयते, प्राक्तन एव वा ? अभिनवस्य विधाने कथ[१७]मस्य अर्थप्रत्यायनसामर्थ्यावगतिः ? त[१८]दनवगतौ च सम्बन्धकरणानुपपत्तिः । प्राक्त[१९]नस्य तु पूर्वमपि सत्त्वात् क[5]रणानुपपत्तिः । एकस्य हि वस्तुनो ज्ञप्तिरेव अ[२०]सकृदावर्त्तते न तूत्पत्तिः ।

नापि प्रत्यर्थं सम्बन्धः कर्त्तुं शक्यः; अर्थानामानन्त्याद् विदूर[२१]त्वाच्च । सर्गादा-

(१) "प्रत्येक वाऽपि सम्बन्धो भिद्येतैकोऽथवा भवेत् । एकत्वे कृतको न स्यात् भिन्नश्चेद्भेदधीर्भवेत् ॥ एकत्वे तावत्कृततैव न स्यात्, न हि एकस्य बहुभि क्रिया संभवतीन्याह एकत्व इति ।" –मी० श्लो० न्याय० र० सम्बन्धा० श्लो० १४ । "एकत्वपक्षे जातिवद्देशकालभेदानुयायित्वात्कृतको न स्यात्, नित्य एव स्यादिति यावत् ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ६२२। (२) गगनैकपरमाण्वादीनामेकत्वस्य नित्यत्वाविनाभूतत्वात्, एकत्व ह्येकरूपत्वम्, तच्च क्रियमाणत्वे विनश्यति–आ० टि० । (३) सम्बन्धस्य । (४) पुरुषव्यापारात् । (५) "यथाऽस्मिन्देशे सास्नादिमति गोशब्द एव सर्वेषु दुर्गमेष्वपि । बहव सम्बन्धार कथ सगस्यन्ते ? एको न शक्नुयात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ता ।"–शाबरभा० १।१।५ । (६) सङ्केतकरणानुपपत्ति । (७) देशान्तराणाम् । (८) समयम् । (९) अन्यपुरुषाणाम् । (१०) सङ्केतस्य एकरूपतायाम् । "बहुभि कृतसम्बन्धे न चैको गमको भवेत् ।"–मी०श्लो० पृ० ६४४ । ११) "समुच्चयेऽपि नैतेषा व्यवहारेऽवगम्यते ।"–मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १७ । (१२) पुरुषाणाम् । (१३) मिलित्वा सङ्केतकरणे प्रयोजनाभावात् । (१४) सङ्केतस्य । (१५) प्रतिशब्दमुच्चार्य उच्चार्य । (१६) तुलना–"प्रत्युच्चारण प्राक्तन एव क्रियते, नूतनो वा ? नवस्य तावत्क्रियमाणस्य कथमर्थप्रत्यायनसामर्थ्यमवगम्यते तदवगतौ वा किं तत्करणेन ? पूर्वकृतस्य तदकृतत्वादेव पुन. करणमनुपपन्नम् । एकस्य वस्तुनो ज्ञप्तिरसकृदावर्तते नोत्पत्ति ।"–न्यायम० पृ० २४२ । "प्रत्युच्चारणनिर्वृत्तिर्न युक्ता व्यवहारत ।"–तत्त्वसं० का० २२७४ । (१७) नूतनसङ्केतस्य । (१८) अभिनवसङ्केतस्य अर्थप्रत्यायनशक्तिपरिज्ञानाभावे । (१९) सङ्केतस्य । (२०) पुन पुनः । (२१) विप्रकृष्टदेशवर्तित्वात् ।

1 कृतः श्र० । 2 केशरा–आ० । 3 करोतीति ते च आ० । 4 –च्चार्य निरा–श्र० । 5 कारणानुप–आ० ।

वंपि सकृत्सम्बन्धकरणमयुक्तम्, तत्राखिलवाच्यवाचकानां सं[1]कृत्संभवाभावात्। शब्दार्थ-व्यवहार[2]विकलस्य कालस्य चाऽसंभवात्[1]। अतो नित्य[2] एव शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः।

तत्प्रतीतिश्च प्रमाणत्रय[3]सम्पाद्या, तथाहि–यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपादयति 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केतः शब्दार्थौ प्रत्यक्ष[4]तः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्वि[3]षय[5]क्षेपणादिचेष्टोपलम्भादनु[6]मानतो गवादिविषयां प्र[4]तिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानु[7]पपत्त्या च शब्दस्यैव त[8]त्र वाचिकां शक्तिं परिकल्पयतीति। उक्तञ्च–

"शब्दवृ[9]द्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया॥
अन्य[10]थानुपपत्त्या तु[5] वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम्।" [मी०श्लो०सम्बन्धा०१४०-४१] इति।

---

(१) "न हि सम्बन्धव्यतिरिक्त कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन्न कश्चिदपि शब्द केनचिदर्थेन सम्बद्ध आसीत्।"–शावरभा० १।१।५। "सर्गादौ हि क्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते।"–मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ४२। शास्त्रदी० पृ० ४१८। तत्त्वस० पृ० ६२७। न्यायमं० पृ० २४२। (२) "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"–जैमिनिसू० १।१।५। "औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्त शब्दार्थयोर्भाव सम्बन्ध।"–शावरभा० १।१।५। "अपौरुषेय शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध"–शावरभा० १।१।५। पृ० ४१। "अपौरुषेये सम्बन्धे शब्द प्रामाण्यमृच्छति।"–प्रक० पं० पृ० १६१। "नित्या शब्दार्थसम्बन्धा"–वाक्यप० १।२३। (३) प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूप प्रमाणत्रयम्। (४) शब्द श्रावणप्रत्यक्षेण अर्थञ्च चाक्षुषाध्यक्षेण प्रतिपद्यते। (५) गवादिविषय। (६) देवदत्तस्य श्रोतु देवदत्त गामभ्याजेति वाक्यात् गोक्षेपणविषयिणी प्रतीतिर्जाता तद्वाक्यश्रवणानन्तरमेव गोक्षेपणचेष्टाऽन्यथानुपपत्ते। (७) देवदत्त गामभ्याजेति वाक्ये गवादिविषयकक्षेपणार्थवाचिका शक्तिरस्ति ततस्तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्ते। (८) गोविषयकक्षेपणार्थे। (९) 'शब्दवृद्धाभिधेयाश्च'–मी० श्लो०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८। न्यायमं पृ० २४५। 'प्रत्यक्षेणैव'–स्या० र० पृ० ६७७। (१०) "अन्यथानुपपत्त्या च वुद्ध्येच्छक्तिं द्वयाश्रिताम्। अर्थापत्त्याऽववुद्ध्यन्ते सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम्॥"–मी० श्लो पृ० ६८०। प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८। 'वेत्ति शक्तिं द्वयात्मिकाम्'–न्यायम० पृ० २४५। व्याख्या–"शब्दवृद्धाभिधेयानि··सम्बन्धप्रतिपत्तेरय न्याय कुमारिलेन वर्णित–यस्मात् प्रथमं तावत् प्रत्यक्षेण शब्द वृद्ध च शब्दस्याख्यातारम् अभिधेयञ्च वाच्य वस्तु पश्यति, तत. पश्चादनुमानेन चेष्टालक्षणेन लिङ्गेन श्रोतु प्रतिपन्नत्व पश्यति अवधारयतीत्यर्थं। करण कारकं कृत्वा चेष्टाया अनुमानत्वमुक्तम्। ततश्च पश्चादर्थापत्त्या द्वयाश्रिता शब्दार्थाश्रितां शक्तिं वेत्ति। अर्थापत्त्या तु साक्षादववुद्ध्यन्त इत्यतोऽर्थापत्त्यावबुद्ध्यन्त इत्युक्तम्।"–तत्त्वसं० प० पृ० ७०९। "वृद्धाना स्वार्थे सव्यवहरमाणानामुपशृण्वन्तो वाला. प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते।"–शावरभा० १।१।५। पृ० ५६। "किञ्चान्त्युपायो वालानाम्, नावश्य सम्बन्धकथनवाक्येनैव वृद्धेभ्यो वाला सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते किन्तु यदा वृद्धा प्रसिद्धसम्बन्धा स्वकार्यार्थेन व्यवहरन्ति तदा तेषामुपशृण्वन्तो वालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। यदा हि केनचित् 'गामानय' इत्युक्त कश्चित् सास्नादिमन्तमानयति तदा समीपस्थो वालोऽवगच्छति–यस्मादय-

---

1 सकृत्संभवाभावाभावात् आ०, सकृत्संभवात् व०। 2–विकल्पस्य च का–आ०। 3 तद्विषयपक्षेणा–श्र०। 4 प्रतिपत्त्युत्पद्यते व०। 5 नु आ०, व०।

तन्निरसनपुरस्सरम् पुरुषकृताऽनित्यसङ्केतवशादेव शब्दानाम् अर्थप्रतिपादकत्वसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[१]–'अनित्यो नित्यो वा' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्; तत्[२]सम्बन्धस्य नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपत्तितो नित्यत्वानुपपत्तेः । यद्[३] यद्रूपतया विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत् तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगदद्वैतरूपतया, नित्यरूपतया विचार्यमाणो नोपपद्यते च शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति । न चास्य तद्रूप[४]तया विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वमसिद्धम्, तथाहि–तत्सम्बन्धस्य नित्यत्वं स्वभावतः[1], सम्बन्धि[५]नित्यत्वाद्वा स्यात्? यदि स्वभावतः[६]; तर्हि सर्वदा सर्वस्य अर्थमसौ प्रकाशयतु[2] स्वरूपतस्तस्य[७] प्रकाशकत्वात् । नहि प्रदीपः[3] स्वरूपतो रूपप्रकाशकः सन् कञ्चित्प्रति तत्[८] प्रकाशयति कञ्चिन्नेति नियमो दृष्टः । अथ सङ्केतव्यक्तो[९]ऽसौ तत्[१०]प्रकाशकः[4] तेनायमदोषः; कथमेवमस्य[११] नित्यैकरूपता, व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गात्? नित्यैक-

---

मेतस्माद्वाक्यादयमर्थ प्रत्यायित इत्येव सम्मुग्धरूपेणावगत प्रत्यायकत्व पश्चाद्बहुषु प्रयोगेषु अन्वयव्यतिरेकाभ्या वाक्यभागाना पदानां पदभागानाञ्च प्रकृतिप्रत्ययाना वाक्यार्थभागेषु पदार्थेषु विविच्यते तस्मान्न पौरुषेय सम्बन्ध .''–शास्त्रदी० पृ० ४६३ । 'तु बुद्धे शक्ति'–**स्या० र० पृ० ६७७ ।**

(१) पृ० ५४२ प० १६ । (२) शब्दार्थसम्बन्धस्य । तुलना–"शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य तस्य प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात् ।"–**न्यायम० पृ० २४३ ।** (३) न शब्दार्थसम्बन्धो नित्य नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वात् । (४) नित्यरूपतया । (५) सम्बन्धिनो शब्दार्थयो नित्यत्वाद्वा । तुलना–"असौ नित्यः सन् स्वभावतोऽर्थं प्रकाशयेत्, सङ्केताभिव्यक्तेर्वा"–**स्या० र० पृ० ७०१ ।** (६) तुलना–" सम्बन्धापौरुषेयत्वे स्यात्प्रतीतिरसंविद । सम्बन्धापौरुषेयत्वेपीष्यमाणे स्यादर्थाना प्रतीतिरसंविदोऽविद्यमानसङ्केतप्रतीते पुस । न चेच्छब्दार्थयोः साङ्केतिको वाच्यवाचकता सम्बन्धः किन्तु स्वाभाविक, तदाऽगृहीतसङ्केतोऽपि श्रुताच्छब्दादर्थं प्रतिपद्येतेति ।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७ ।** "यद्यर्थप्रतिपादने शब्दस्य स्वभावेन शक्ति स्यात्; एवन्तर्हि सन्देहलक्षणमस्याप्रामाण्य स्यात् इष्टेऽनिष्टे चार्थे प्रकाशनशक्तिसंभवात् । यदि चास्य स्वभावत एव सा शक्ति किं सङ्केतेन ?" –**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२९ ।** "अर्थद्योतनशक्तेश्च सर्वदैव व्यवस्थिते । तद्धेतुरर्थबोधोऽपि सर्वेषा सर्वदा भवेत् ॥"–**तत्त्वसं० पृ० ७१० ।** "सासिद्धिके हि तथात्वे भ्रमित्वादिप्रयुक्तादन्यतो वा यत. कुतश्चिदभिनवादपि दीपादिव शब्दादर्थप्रतिपत्ति स्यात् ।"–**न्यायम० पृ० २४३ ।** (७) शब्दार्थसम्बन्धस्य । (८) रूपम् । (९) सम्बन्धः । (१०) शब्दार्थप्रकाशक । तुलना–"सङ्केतात्तदभिव्यक्तावसदर्थान्यकल्पना । न वै सम्बन्धो विद्यमानोऽप्यनभिव्यक्तोऽर्थप्रतीतिहेतु । सङ्केत खल्वेनमभिव्यक्तिमे (ति) तर्हि सिद्धोपस्थायी किमकारण पोष्यते ?"–**प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२९ ।** "यथा दीपस्यार्थप्रकाशने शक्तस्येन्द्रियापेक्षा तथा शब्दस्येन्द्रियापेक्षा तथा शब्दस्यापि सङ्केतापेक्षेति चेत्, न, प्रदीपेन्द्रिययो प्रत्येकमभावेऽप्यर्थप्रकाशकत्वाभावात् तत्रान्योन्यापेक्षत्व युक्तं नैव शब्दशक्तिसङ्केतयो, सङ्केतमात्रेणैवार्थप्रतीतेरुत्पत्ते तस्मान्न स्वभावत शब्दोऽर्थप्रतिपादनसमर्थं इत्युत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यम् ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२९ । प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७ ।** "तस्मिन् सङ्केतसापेक्षा शक्तिश्चेत्परिकल्प्यते । ननूपकार्यपेक्ष्येत नोपकार्या च साऽचला ॥"–**तत्त्वसं० पृ० ७१० ।** "अथ सङ्केताभिव्यक्ते, कथमस्य नित्यैकरूपत्वमुपपन्न व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसक्ते ।"–**स्या० र० पृ० ७०९ ।** (११) शब्दार्थसम्बन्धस्य ।

---

1 **स्वभावात्** व० । **सभवस्वभावतः** श्र० । 2 **प्रकाशयेत्** श्र० । 3–**पस्तत्स्वरूपतोत्तत्प्रकाशकः** व० । 4 **प्रकाशक क**–व० ।

रूपं हि वस्तु यदि व्यक्तं तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य[1]।

किञ्च[2], सङ्केतः पुरुषाश्रयः, स[3] च अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केतं कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्य[4]ाऽप्रामाण्यं स्यात्।

किञ्च, नित्य[5]सम्बन्धवशात् शब्दः एकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात्? एकार्थनियतश्चेत्; किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, [1]ततश्चास्य[6]ाज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्। चौरशब्दो[7] वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढः कथं दाक्षिण्यैः [2]ओदने प्रयुक्तः तमभिदध्यात्। अथैकदेशेनासौ तन्नियतः[8]; स किमेकदेशः अभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याऽप्रामाण्यं स्यात्। अथाऽभिमतैकार्थनियतः; किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा? प्रथमपक्षे अस्या[10]पौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः। पुरुषो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यैकरूपस्य सम्बन्धस्य। (२) तुलना–"अर्थज्ञापनहेतुर्हि सङ्केत पुरुषाश्रय। गिरामपौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसभव ॥ कि ह्यस्यापौरुषेयतया? यतो हि समयादर्थप्रतिपत्ति, स पौरुषेयः वितथोऽपि स्यात्, शील साधन स्वर्गवचनम्, अन्यथा समयेन विपर्यासयेत् तेनायथार्थमपि प्रकाशनसंभवात्।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२८।** "सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यादर्थप्रतीतेरभावात्। अर्थज्ञापनहेतुरिह सङ्केत स्वीकर्त्तव्य, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रय। अत सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिरामपौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भवः। सङ्केतवशेन वाचोऽर्थं ब्रुवते। स च दोषाश्रयेण पुरुषेण क्रियत इति तासा न विसवादशङ्कानिरास पौरुषेयवाक्यवदिति व्यर्थमपौरुषेयत्वकल्पनम्।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२६।** "अर्थद्योतनहेतोश्च सङ्केतस्य नराश्रयात्। शक्तावितरजन्यायामपि मिथ्यात्वसभव ॥"–**तत्त्वसं० पृ० ७१०। प्रमेयक० पृ० ४३०।** (३) पुरुष। (४) वेदस्य। (५) तुलना–"किञ्च वाचा किमेकेनार्थेन सह वाच्यवाचकसम्वध, अथानेकै? गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तिरे गति। अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसभव ॥ गिरामेकस्मिन्नर्थे वाचकतया नियमे सति सकेतवशादन्यत्रार्थे न स्याद् गति, दृश्यते च विवक्षातोऽनेकार्थाभिधानम्। अनेकैरर्थैर्वाचकत्वाभिसम्वन्धे विरुद्धस्यार्थस्य व्यक्ते प्रतीते. सभव स्यात्। अग्निष्टोम स्वर्गस्य साधनमिति विपर्ययोप्यवसीयेत। ततश्चाप्रवृत्तिरेव स्यात् स्वर्गार्थिन।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२८।** "सा शक्तिरेकार्थनियता वा भवेन्नानार्थनियता वा।"–**तत्त्वसं प० पृ० ७१०। प्रमेयक० पृ० ४३०।** "यदि पुन शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो येन सङ्केतस्तत्रापेक्ष्यते? इति चेदुच्यते–तत्सर्वविषय नियतविषयं वा? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोप। तत आह–**न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि।** द्वितीयविकल्पे दोषमाह –**सम्बन्धनियमेऽन्यत्र सङ्केतेऽपि न वर्तताम् ॥**"–**न्यायवि० का० ४३१।** (६) वेदस्य। (७) "चोरशब्दो (यथा) लोके भक्ष्यार्थं प्रतिपादयेत्। केषाञ्चिच्चोरमेवाहु तन्त्रेप्येव पदास्तथा ॥"–**ज्ञानसि० पृ० ७५।** "यथा चौरशब्दस्तस्करवचन ओदने दाक्षिणात्यै प्रयुज्यते।"–**न्यायमं० पृ० २४२। प्रश० कन्द० पृ० २१५।** (८) एकदेशार्थनियत। तुलना–"य एवार्थो वस्तुस्थित्या स्वर्गसाधन किन्तत्रैव समयकारेणग्निहोत्रादिशब्दोऽभिव्यक्त किम्वाऽन्यस्मिन्नेव स्वर्गसाधनविरुद्धे बुद्धिमान्द्यादिति सन्देह एव।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०।** (१०) वेदस्य। तुलना–"स इति शब्द सर्वस्मिन् वाचकत्वेनानियत नियम क्वचिदर्थे पुरुषात् पुरुषसङ्केतात् प्रतिपद्यते। स च पुरुषो विरुद्धेप्यर्थे सङ्केत कुर्यात्। तथा च न केवल विरुद्धव्यक्तिसंभव। यापीयमपौरुषेयता वेदस्येष्टा तस्या व्यर्था स्यात् परिकल्पना।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०।** "अथानेका-

1 ततश्चाज्ञानल–आ०। 2 उदने आ०।

त्वात्[1] प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्येत किमपौरुषेयत्वेन ? स्वभावादभिमतैकार्थनियमे[2] तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्तिः[3] । अनेकार्थनियतत्वे[4] तु वेदस्य सकलार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात् ?

"तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[5] इति श्रुतौ ।
खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा[6] ॥" [प्रमाणवा० ३।३१८]

तन्न स्वरूपतः सम्बन्धो नित्यः ।

नापि[7] सम्बन्धिनित्यत्वात्, यतः कोऽत्र नित्यः[1] सम्बन्धी–शब्दः, अर्थः, द्वयं वा ? न तावच्छब्दः, तस्याग्रे[8]ऽनित्यत्वप्रसाधनात् । नाप्यर्थः, घटादेस्तदर्थस्य[9] अनित्यतया प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः । अथ सामान्यं तदर्थः[10], तच्च नित्यम्, अतस्तदाश्रितः[11] सम्बन्धोऽपि नित्य इत्युच्यते, तदसत्; सामान्यस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः, तद्वानेव[12] शब्दार्थः इत्यग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्, परपरिकल्पितसामान्यस्य[13] निषिद्धत्वाच्च[14][2] । उभयपक्षोऽपि उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गादयुक्तः ।

र्थाभिधाय्यपि शब्दः पुरुषेण सङ्केतादभिमतार्थाभिधायित्वेन नियम्यते तदा–अपौरुषेयतायाञ्च व्यर्था स्यात्परिकल्पना । वाच्यश्च हेतुर्भिन्नाना सम्बन्धस्य व्यवस्थिते ॥"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२९ ।

(१) तुलना–"असंस्कार्यतया पुम्भिः सर्वथा स्यान्निरर्थता । संस्कारोपगमे मुख्यं गजस्नानमिदं भवेत् ॥"–प्रमाणवा० ३।२३० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (२) तुलना–"प्रकृत्यैव स्वभावेनैव वैदिका शब्दा नियता अभिमतेऽर्थे ततो न पुरुषसंस्कारकृतो दोष इति चेत्, एवं सत्यर्थप्रकाशने नोपदेशमपेक्षेरन्, अपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योऽर्थप्रतीतेरभावात । यदि च ते स्वभावत एव प्रतिनियताः स्युः तदा यत्र क्वचिदर्थे एकदा समिताः पुनः कथञ्चित् ततोऽन्यथा सङ्केतेनार्थान्तरं न प्रकाशयेयुः, प्रकाशयन्ति च ततो न प्रकृत्यैकार्थनियता इति । स्वभावतश्चैकार्थनियमे योऽयं वैदिकेषु वाक्येषु व्याख्यातॄणां व्याख्याविकल्पश्च अपरापरव्याख्याभेदश्च न स्यात् एकार्थप्रतिनियमात्, भवति च, तस्मात् पौरुषेयवाक्यवन्नैकार्थनियता वैदिका शब्दा इति ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाट्टवेदान्तिप्राभाकाराणां वेदार्थविषये व्याख्याभेदो न स्यादिति भावः । (४) तुलना–"सर्वत्र योग्यस्यैकार्थद्योतने नियमः कुतः ।"–प्रमाणवा० ३।३२६ । "नानार्थद्योतने शक्तिर्भवत्येकस्य हि ध्वनेः । नाग्निहोत्रादयस्त्वर्था सर्वे सर्वोपयोगिनः । तदिष्टविपरीतार्थद्योतनस्यापि सभवात् । नित्यशब्दार्थसम्बन्धकल्पना वो निरर्थिका ॥"–तत्त्वसं० पृ० ७११ । (५) "अग्निहोत्रं जुहुयात्"–मैत्र्यु० ६।३६ । (६) व्याख्या "तेनेति अपरिज्ञातार्थत्वेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ वेदवाक्ये खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थः किन्त्वन्योऽभिमतोऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ? नैव किञ्चित्प्रमाणम् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३२० । "अग्निं हन्तीति अग्निहः श्वा तस्योत्र मांसं जुहुयात् खादेत् । अथवा अगति गच्छतीत्यग्निः श्वा हूयतेऽद्यते यत्तत् होत्रं मांसम् अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमांसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विजः ।" –प्रमेयरत्नमा० टि० पृ० १३४ । उद्धृतोऽयम्–शास्त्रवा० श्लो० ६०५ । न्यायमं० पृ० ४०५ । नन्दिमलय० पृ० १९ । (७) तुलना–"सम्बन्धिनामनित्यत्वान्न सम्बन्धेऽस्ति नित्यता ।"–प्रमाणवा० ३।२३१ । (८) शब्दस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अर्थस्य । (१०) शब्दार्थः–आ० टि० । (११) सामान्याश्रितः । (१२) सामान्यवानेव । (१३) मीमांसकनैयायिकादि । (१४) पृ० २८५ ।

---

1 नित्यसम्बन्धी आ० । 2–त्वात् उभ–ब० ।

अस्तु वा कुतश्चिन्नित्यः सम्बन्धः; तथा[1]प्यसौ किमैन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात्? न[2]तावदैन्द्रियः, नित्यस्वभावस्य[3] क्वचिदपीन्द्रियेऽप्रतिभासमानत्वात्। अथा[4]तीन्द्रियः, कथमर्थप्रतिपत्त्यङ्गम् अज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात्? "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम[5]" [ ] इत्यभिधानात्। सन्निधिमात्रेण ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। नाप्यनुमानगम्यः; सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वे त[6]त्पूर्वकत्वेनात्रा[7]ऽनुमानस्याऽप्रवृत्तेः। न ह्यगृहीतप्र[8]तिबन्धं किञ्चिल्लिङ्गमनुमानमाविर्भावयत्यतिप्रसङ्गात्। अथास्या[9]प्रत्यक्षत्वेऽपि अनुमानात् प्रतिबन्धग्रहो भविष्यति, ननु किमत एवाऽनुमानात्, त[10]दन्तराद्वा तद्ग्र[11]हः स्यात्? यद्यत एव, अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि अनुमाने तद्ग्रहसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चानुमानसिद्धिरिति। अनुमानान्तरात्त[12]त्सिद्धौ अनवस्था, त[13]त्रापि तद्ग्रहस्य अनुमानान्तरात् प्रसिद्धेः। न चा[14]त्र किञ्चिल्लिङ्गमस्ति।

नित्यसम्बन्धस्य हि लि[15]ङ्गम्–अर्थज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा? न तावदर्थज्ञानम्; सम्बन्धासिद्धौ त[16]त्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात्। नाप्य[17]र्थः; तस्य[18] तेन[19] सम्बन्धासिद्धेः, नहि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्यं संभवति घटाद्यर्थवत् सम्बन्धस्यानित्यत्वप्रसङ्गात्। नापि तदुत्पत्तिः संयोगादिर्वा, अनभ्युपगमात्। नापि शब्दो लिङ्गम्, अर्थपक्षोपक्षिप्तदोषानु-

(१) तुलना–"किञ्चासौ सम्बन्ध ऐन्द्रिय अतीन्द्रिय अनुमानगम्यो वा स्यात्।"–**प्रमेयक० पृ० ४३०।** (२) तुलना–"न च नित्य· सम्बन्ध शब्दार्थयो प्रमाणेनावसीयते, प्रत्यक्षेण तस्याननुभवात्, तदभावे नानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात्।"–**सन्मति० टी० पृ० ४३६।** (३) शब्दार्थसम्बन्धस्य। (४) तुलना–"नातीन्द्रिय सम्बन्ध, ततोऽतीन्द्रियात् सम्बन्धात् अर्थस्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। किं कारणम्? अप्रसिद्धस्य स्वेन रूपेण अनिश्चितस्य अज्ञापकत्वात्। न हि येन सह यस्य सम्बन्धो न गृह्यते तद्द्वारेण तस्य प्रतीतिर्युक्ता। अथाज्ञात एव सम्बन्धोऽर्थं ज्ञापयतीन्द्रियवदित्याह–सन्निधिमात्रेणेत्यादि। सम्बन्धस्य सन्निधिमात्रेण सत्तामात्रेणार्थज्ञापनेऽभ्युपगम्यमाने शब्दार्थसम्बन्ध प्रत्यव्युत्पन्नानामपि अर्थस्याय वाचक इति प्रतिपत्ति स्यात्।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० १।२३८। तत्त्वसं० पृ० ७१२। प्रमेयक० पृ० ४३०।** (५) उद्धृतमिदम्–**प्रमेयक० पृ० १२४, २०६।** (६) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन। (७) शब्दार्थसम्बन्धे। (८) प्रतिबन्धोऽविनाभावसम्बन्ध। (९) शब्दार्थसम्बन्धस्य। (१०) अनुमानान्तरात्। (११) अविनाभावग्रह.। (१२) अविनाभावग्रहणे। (१३) अनुमानान्तरेऽपि। (१४) शब्दार्थसम्बन्धाधिगमे। तुलना–"नानुमानात् प्रतिपत्ति सम्बन्धस्य। कुत? लिङ्गाभावात्। नहि सम्बन्धसाधन किञ्चिल्लिगमस्ति। अर्थप्रतीतिरपि न लिङ्ग दृष्टान्तासिद्धे। न हि क्वचिद् दृष्टान्ते सम्बन्धकार्या अर्थप्रतीति प्रतिपन्ना। किङ्कारणम्? तत्रापि दृष्टान्तत्वेनोपनीते सम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वेन कारणेन साधनापेक्षणात्। न चास्ति साधनं तत्रापि दृष्टान्तासिद्धे।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८।** (१५) "तस्य हि लिङ्ग ज्ञानमर्थ शब्दो वा?"–**प्रमेयक० पृ० ४३०।** (१६) प्रतिपन्ने हि सम्बन्धे तस्य कार्यमर्थज्ञान निश्चीयते, स चाद्यापि न सिद्ध–**आ० टि०।** (१७) तुलना–"शब्दार्थौ लिङ्गमिति चेदाह–नहीत्यादि। न हि तत्र सम्बन्धविशेषे शब्दरूपमर्थो वा लिङ्गम्। किङ्कारणम्? तयो शब्दार्थयो सर्वत्र योग्यत्वात्। सर्वस्य शब्दस्य सर्वस्मिन्नर्थे वाचकत्वेन योग्यत्वात् सर्वस्य चार्थस्य सर्वस्मिन् शब्दे वाच्यत्वेन योग्यत्वात्। अर्थविशेषप्रतीतेश्च कारण सम्बन्धविशेषः, तस्य च अर्थविशेषप्रतीतिसमाश्रयस्य सम्बन्धस्य अनियताभ्या शब्दार्थाभ्यामप्रत्यायनात्।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८।** (१८) सम्बन्धस्य। (१९) अर्थेन।

षङ्गात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरुषम्' इत्यादि दूषणमुक्तम्[1], तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अनादित्वात् शाब्दव्यवहारस्य । नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशलक्षणो महाप्रलयः असतश्चात्मलाभलक्षणा सृष्टिः [2]अस्माकं [3]भवतां वा प्रसिद्धा येन अपूर्वसृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन '*समय· प्रतिमर्त्यं वा*' इत्याद्युक्तं शोभेत । नित्यत्वेऽपि च तत्सम्बन्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्र[4]ापीदं दूषणं तुल्यम् । कथञ्चैवंवा[5]दिनोऽग्निधूमयोरपि सम्बन्धः सिद्ध्येत् तत्राप्युक्तविकल्पानां समानत्वात् । अथाग्निधूमत्वसामान्ययोर्नित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्स[6]म्बन्धनित्यत्वसम्भवात् नोक्तविकल्पानां तत्रावकाशः; तदप्यपेशलम्; केवल[7]सामान्ययोः सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके[8] प्रतिषिद्धत्वात् । नित्यत्वञ्च सामान्यस्य प्रागेव[9] प्रतिषिद्धम् । अतो यथा सादृश्यप्रधानतया सादृश्योपलक्षितानां [10]साध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनन्तानामपि व्याप्तिज्ञानेन क्रोडीकरण तथा वाच्यवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि । अतः "*सम्बन्धस्त्रिप्रमाणकः*" [मी० श्लो० पृ० ६८०] य[11]त्त्व[12]योच्यते, तत्र '*शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति*' इति युक्तम् । '*श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया*' इत्यप्युपपन्नम्, '*अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम्*' इत्येतत्त्वनुपपन्नम्, नित्यश[13]क्तौ सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात् । वह्निधूमा[14]दिशक्तिवत् शब्दार्थाश्रितायाः शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुरर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

एतेनेदमपि निरस्तम्–

"*नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः तत्राम्नाता महर्षिभिः ।*
सूत्राणां सा[15]नुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः[16] ॥" [वाक्यप० १।२३] इति;

---

(१) पृ० ५४३ पं० १३। (२) जैनानाम् । (३) मीमासकानाम्–आ० टि० । "तस्माद्यद्वदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना । समस्तक्षयजन्मभ्या न सिद्धयत्यप्रमाणिका ।"–मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११३ । (४) अभिव्यक्तावपि । (५) शब्दार्थयो नित्यसम्बन्धवादिनः । (६) अग्निधूमसम्बन्ध । (७) नाग्नित्वधूमत्वयोरविनाभावो गृह्यते किन्तु अग्नित्वविशिष्टाग्निना सह धूमत्वविशिष्टधूमस्याविनाभाव गृह्यते इति भाव । (८) पृ० ४२३ । (९) पृ० २८५ । (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्येऽपि सादृश्याद् व्याप्तिज्ञानेन क्रोडीकृति एव वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तेन क्रोडीकरणम्, अस्ति ह्यत्रापि सादृश्यम्, घटशब्दवाच्योऽय पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वात् पूर्वोपलब्धघटान्तरवत् । –आ० टि० । (११) तुलना–"अतएव च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक इति यत्त्वयोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते । शब्दवृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यतीति सत्य श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयेत्येतदपि सत्यम् । अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रितामित्येतत्तु न सत्यम्, अन्यथाप्युपपत्तेरित्युक्तत्वात् ।"–न्यायम० पृ० २४५ । (१२) मीमासकेन कुमारिलभट्टेन । (१३) ज्ञाप्यज्ञापकशक्ति–आ० टि० । (१४) यथाहि वह्निधूमयो ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिरनित्याऽपि अनुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शब्दार्थयो वाच्यवाचकशक्तिरपि । (१५) सवृत्तिकाणा (ना) म्–आ० टि० । "अनुतन्त्र वार्त्तिकम्"–वाक्यप० पु० टी० । (१६) "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे । सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ।"–पा० महाभा० पृ० ५५ । "नित्य.

---

1 भवतो वा श्र० । 2–वादिनो धूमाग्न्योरपि श्र० । 3–विद्ध यथा श्र० ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनात्, शब्दस्य तदर्थस्य चाग्रे[1] अनित्यतया समर्थयिष्यमाणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावप्रतिपादनाच्च[1]। कथञ्चैवंवादिनः[2] कार्ये[3]ऽर्थे चोदनायाः प्रामाण्यं स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात् ? ततः सिद्धं कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम्। अतः सूक्तम्–**'संवादकं श्रुतं प्रमाणम्'** इति ॥ छ ॥

'शब्दस्यान्यापोहमात्राभिधायकत्वम्' इति बौद्धस्य पूर्वपक्ष–

ननु श्रुतस्याविसंवादित्वमसिद्धम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात्। य एव हि शब्दाः सत्यर्थे दृष्टाः ते तदभावे[5]ऽपि दृश्यन्ते, अतः शब्दानां विधिद्वारेणाऽर्थाभिधायकत्वानुपपत्तेः अन्यापोह[6]मात्राभिधायकत्वमेवोपपन्नम्। उक्तञ्च–"*अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते*[7]"

शब्द नित्योऽर्थ नित्य सम्बन्ध इत्येषा शास्त्रव्यवस्था। तत्राम्नाता महर्षिभि सूत्रादीना प्रणेतृभि.। व्याकरण एव ये सूत्रादीना प्रणेतारस्ते व्यपदिश्यन्ते। तत्र सूत्राणामारम्भादेव शब्दाना नित्यत्वमभिमतम्। न ह्यनित्यत्वे शब्दादीना शास्त्रारम्भे किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति। व्यवहारमात्र ह्येतदनर्थक न महान्त. शिष्टा समनुगन्तुमर्हन्तीति तस्माद् व्यवस्थितसाधुत्वेपु शब्देपु स्मृतिशास्त्र प्रवृत्तमिति।"–**वाक्यप० हरि० १।२३। उद्धृतोऽयम्–सिद्धिवि० टी० पृ० ५०५। प्रमेयक० पृ० ४२९।**

(१) पृ० ३७२। (२) नित्यससम्बन्धवादिन –आ०टि०। (३) आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्‥"–**जैमिनिसू० १।२।१।** "चोदनेति क्रियाया प्रवर्तकं वचनमाहु।"–**शावरभा० १।१।२।** (४) अग्निष्टोमादियज्ञरूपकर्मण। (५) "अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता। वाच कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता।"–**प्रमाणवा०३।२०७।** (६) "विकल्पप्रतिविम्बेपु तन्निष्ठेषु निवध्यते। ततोऽन्यापोहनिष्ठत्वादुक्ताऽन्यापोहकृच्छ्रुतिः॥ विकल्पाना प्रतिविम्बेष्वाकारेपु तन्निष्ठेषु तद्व्यावृत्तिवस्तुत्वेन व्यवस्थाविषयतया तद्व्यवहारव्यवस्थितिषु सङ्केतकाले निवद्धयते ततो विकल्पप्रतिविम्बाना बाह्यव्यावृत्तात्मत्वेन व्यवहारविषयत्वात् अन्यापोहनिष्ठत्वात् कारणात् उक्ता श्रुतिरन्यापोहकृत्। अन्यव्यावृत्ताकारविकल्पजननात् अन्यव्यावृत्तेपु प्रवर्तनाच्च शब्दोऽन्यापोहकृदुक्त। ननु शाब्दे ज्ञाने ग्राह्यं बाह्यतयैव प्रतीयते न ज्ञानाकारतया इत्याह–व्यतिरेकीव यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिविम्वकम्। शब्दात्तदपि नार्थात्मा भ्रान्ति सा वासनोद्भवा॥ यथा तैमिरिकदृष्टेपु केशेषु बाह्यभ्रम एव विकल्पाकारेऽपि बाह्यव्यवहारोऽविद्यावशादित्यर्थ.।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० २।१६४-६५।** "तत्र यत्तदारोपित विकल्पधिया अर्थेष्वभिन्नं रूप तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलायातत्वात् स्वयञ्च अन्यव्यावृत्ततया प्रख्यानाद् भ्रान्तैश्चान्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाध्यवसितत्वात् अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वाच्चान्यापोढ इत्युच्यते। तेनापोहः शब्दार्थ इति प्रसिद्धम्।"–**तत्त्वसं० पं० पृ० २७४।** "अपोहो बाह्यतया आरोपित आकारोऽपोह्यतेऽनेनेति कृत्वा‥ यद्वा अपोह्यतेऽस्मिन्नित्यपोह स्वलक्षणम्' तस्मान्न विकल्पाना स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योपि तु स्वाकारेण सहैकीकृत एव बाह्यो विषय, स चासत्योऽपोह्यतेऽन्यदनेनेति अपोह उच्यते।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४८।** "ननु कोऽयमोपोहो नाम ? यथाव्यवसायं बाह्य एव घटादिरर्थोऽपोह इत्यभिधीयते अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा। यथाप्रतिभास बुद्ध्याकारोऽपोहः अपोह्यते पृथक्क्रियतेऽस्मिन् बुद्ध्याकारे विजातीयमिति कृत्वा। यथातत्त्व निवृत्तिमात्र प्रसह्यरूपोऽपोह अपोहनमपोह. इति कृत्वा।"–**तर्कभा० मो० प० २६।** (७) उद्धृतोऽयम्–**अष्टसह० पृ० १४०। स्याम० पृ० १८०।** तुलना–"कथ स एव व्यवच्छेद शब्दलिङ्गाभ्या विधिना प्रतिपाद्यते न वस्तुरूपमिति गम्यते ?"–

1 **वाग्रे** ब०।

[क्षणभङ्गाध्याय (?)] इति । प्रयोगः—यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषयः यथा अक्षजे संवेदने परिस्फुटप्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये बहिरर्थतत्त्वरहितं स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च तत्प्रभवप्रत्यये बहिरर्थाऽसंस्पर्शिस्वरूपमात्रावभासित्वमसिद्धम्; शब्दलिङ्गयोर्बहिरर्थविषयत्वायोगतस्तत्सिद्धेः । तथाहि—शब्दस्य बहिरर्थो विषयो भवन् स्वलक्षणस्वभावो भवेत्, सामान्यस्वरूपो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; तत्र सङ्केताभावतः शब्दानां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सङ्केतो हि सङ्केतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे विधीयते, न च स्वलक्षणस्य तथाविधं स्वरूपं संभवति देशकालाकारसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । यः सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दः सङ्केत्यते यथा उत्पन्नमात्रप्रध्वंसिनि क्वचिदर्थे, नान्वेति च विवक्षितदेशादिभ्यः शावलेयादिर्देशान्तरादाविति ।

किञ्च, 'अस्येदमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः प्रतिभासः । न च तत्राप्रतिभासनयोः

प्रमाणवा० स्ववृ० १।४४ । "अन्यापोहविषया आचार्येण प्रोक्ता 'अपोह शब्दलिङ्गाभ्या प्रतिपाद्यते' इति ब्रुवता ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१३३ ।

(१) शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्ययो बहिरर्थरहित स्वरूपमात्रमेव विषय तत्र स्वरूपमात्रस्यैव प्रतिभातत्वात् । "उच्यते विषयोऽमीषा धीध्वनीना न कश्चन । अन्तर्मात्रानिविष्टं तु बीजमेषा निबन्धनम् । तथाहि—अस्माभिरिष्यत एवैषामन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तम्, न तु विषयभूत भ्रान्तत्वेन पूर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । अन्तर्मात्रानिविष्टमिति विज्ञानसन्निविष्ट वासनेति यावत् । एतदेवागमेन सम्पदयन्नाह यस्य यस्येत्यादि—यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स सविद्यते नैव वस्तूना सा हि धर्मता ॥"—तत्त्वस०, प० पृ० २७५ । (२) "यत स्वलक्षण जातिस्तद्योगो जातिमास्तथा । बुद्ध्याकारो न शब्दार्थे घटामञ्चति तत्त्वत ।"—तत्त्वस० पृ० २७६ । (३) "शब्दा सङ्केतित प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृत । तदा स्वलक्षण नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न ॥"—प्रमाणवा० ३।९१ । "तदा व्यवहारकाले तत्स्वलक्षण नास्ति यत्र सङ्केत कृत । एकस्यापि स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे तेनैव रूपेणानुगमो नास्ति, अक्षणिकत्वे वा सङ्केतज्ञानाभावादेव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत देशकालभिन्नेषु स्वलक्षणेषु, तेन कारणेन तत्र स्वलक्षणेषु सकतो न क्रियते ।"—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० । "तत्र स्वलक्षण तावन्न शब्दै प्रतिपाद्यते । सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिवियोगत ॥ एतदुक्त भवति—समयो हि व्यवहारार्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यस्यैव सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव समयो व्यवहर्तृणा युक्तो नान्यत्र । न च स्वलक्षणस्य सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न तत्र समय इति । व्यक्त्यात्मानोनुयन्त्येते न परस्पररूपत । देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदत ॥ तस्मात्सङ्केतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते । नचागृहीतसङ्केतो बोद्धधेतान्य इव ध्वने ॥"—तत्त्वस०, प० पृ० २०७ । (४) एकपरमाण्वाकारतया एकक्षणस्थायितया निरंशतया च न देशकालाकारान्तरव्याप्ति स्वलक्षणस्येति भाव । "तस्य देशकालभेदेष्वनास्कन्दनात्, तस्येति सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारावस्थानादिषु देशकालभेदेषु अनास्कन्दनात् अननुगमात् । न हि एकत्र दृष्टो भेदोऽन्यत्र सभवति ।"—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।९४ । (५) स्वलक्षणे नास्ति सङ्केत सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वात् । (६) यो हि विवक्षितदेशे सोऽन्य यश्च देशान्तर याति सोऽन्य क्षणिकत्वात्—आ० टि० । (७) श्रोत्रचक्षुषी ।

1–रहितस्वरूप–आ० । 2 तत्राद्य पक्षो–ब० । 3–विधस्वरूपं ब० ।

[1]स्तयोस्तेन[2] सम्बन्धकरणं युक्तमतिप्रसङ्गात् । [3]यौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने न प्रतिभासेते न तयोस्तेन ज्ञानेन सम्बन्धकरणं यथा गोशब्दतदर्थयोः सम्बन्धज्ञानेऽप्रतिभासमानयोः अश्वशब्दतदर्थयोः न तेन[4] ज्ञानेन सम्बन्धकरणम्, न प्रतिभासेते च [1]स्वेन्द्रियज्ञा[5]नप्रतिभासिनौ शब्दार्थस्वभावौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने इति । न चा[6]र्थेनाऽकृतसम्बन्धः शब्दस्तं प्रत्याययितुमीशः अतिप्रसङ्गादेव । [7]यो येन सहाऽकृतसम्बन्धो न स तमर्थ प्रत्याययति यथा अश्वेन सहाकृतसम्बन्धो गोशब्दः, अकृतसम्बन्धश्च स्वलक्षणेन सर्वः शब्द इति । स्वलक्षणविषयत्वे च शाब्दप्रत्ययस्य इन्द्रियप्रभवप्रत्ययवत् स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम्, प्रतीतिविरोधात् । तदु[2]क्तम्–

"अ[8]न्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः ।
शब्दात्प्रत्येति भि[9]न्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्ष[3]ते[10] ॥" [ ]
"अ[11]न्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाह दग्धोऽभिमन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥" [वाक्यप० २।४२५] इति ।

---

(१) शब्दार्थस्वलक्षणयो –आ० टि० । (२) ज्ञानेन–आ० टि०। (३) शब्दार्थौ–आ० टि० । सम्बन्धग्राहिज्ञानेन न शब्दार्थस्वलक्षणयो सम्बन्धग्रहणम् सम्बन्धग्राहिज्ञानेऽप्रतिभासमानत्वात् । (४) गोशब्दार्थसम्बन्धग्राहिणा । (५) चक्षुर्ज्ञानेऽर्थस्वलक्षण श्रोत्रज्ञाने शब्द प्रतिभाति–आ० टि० । (६) "एतदुक्तं भवति–यद्यगृहीतसङ्केतमर्थ शब्द प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यश्व प्रतिपादयेत्, सङ्केतकरणानर्थक्यञ्च स्यात्, तस्मादतिप्रसङ्गापत्ति वाधकम् ।"–तत्त्वस० पं० पृ० २७७ । (७) शब्द न स्वलक्षण प्रतिपादयति तस्मिन्नकृतसङ्केतत्वात् । "प्रयोग –ये यत्र भावत कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमय , न भवन्ति च भावत. कृतसमया. सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धे कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात् ।"–तत्त्वसं० प० पृ० २७६। (८) व्याख्या–"अन्यदेव रूपादिस्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम्, तस्मादन्य शब्दस्य गोचरो विपय इति गृह्यताम् । शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षः प्रध्वस्तनयन , न तु प्रत्यक्ष यथा भवति तथेक्षते । समानविपयत्वे वाऽनन्धस्येवान्धस्यापि शब्दादपरोक्षैव प्रतिपत्तिः स्यात् । तथात्वे इन्द्रियाग्निसम्बन्धादिवद् दाहशब्दादपि दाहार्थप्रतिपत्तिः स्यादित्याह–अन्यथैव ..."–प्रश० व्यो० पृ० ५८४ । "अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य स्वलक्षणम्, अन्यच्छब्दस्य गोचर सामान्यलक्षणम्, कुत ? शब्दान्प्रत्येति भिन्नाक्ष अन्धोऽपि घटादि, न तु प्रत्यक्षमीक्षते चक्षुष्मानिव । एतदेव भावयति–अन्यथा स्पष्टानुभवेन दाहसम्बन्धात् इन्द्रियार्थयोगेन दाह स्वगत दग्धोऽभिमन्यते, एव पुमान्न जानाति, अन्यथा स्वस्पष्टाननुभवत दाहशब्देन तेन दाहार्थ सप्रतीयते श्रोता ।"–शास्त्रवा० टी० श्लो० ६६६–६७ । (९) स्फाटितनेत्र –आ० टि० । (१०) उद्धृतोऽयम्–'अन्य शब्दस्य'–प्रश० व्यो० पृ० ३८४ । न्यायमं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६६ । अनेकान्तजय० पृ० ४५ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । सन्मति० टी० पृ० २६० । धर्मसं० वृ० पृ० १४९ । स्या० र० पृ० ७१० । (११) व्याख्या–"दाहाद्यर्थ. प्रतीयते–यदि शब्देन यथावद्दाह्योऽर्थ. प्रत्याय्येत तदा शब्दसन्निधापितोऽसौ तामार्थक्रिया कथन्न कुर्यात्. यतश्चाग्निसम्बन्धाद्दग्धो दाहमन्यथाऽनुभवति दाहशब्देन च दाहमन्यथाऽवगच्छतीति शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद्वास्तव समन्वय इति बोद्धव्यम् ।"–वाक्यप० पु० टी० । उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५८४ । न्यायमं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६७ । अनेकान्तजय० पृ० ४५ । नयचक्रवृ० लि० पृ० ४४ B. । 'सप्रकाश्यते'–तत्त्वसं०

---

1 स्वेन्द्रियविज्ञान–श्र० । 2 उक्तञ्च व० । 3–क्षते ॥ इति । व० ।

नचैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शाब्दप्रत्यये प्रतिभासेत, एकस्य द्वित्वविरोधात्। प्रयोगः-यत्कृते प्रत्यये यन्न प्रतिभासते न तत्तस्य विषयः यथा रूपप्रभवप्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति। वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः। उक्तञ्च-

"परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥" [प्रमाणवा० ३।२०६] इति।

तन्न स्वलक्षणस्वभावः शब्दस्य विषयो घटते।

नापि सामान्यरूपः; वास्तवस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात्, तदसंभवश्च अश्वविषाणवदनर्थक्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्धः। न खलु नित्यैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्याभ्या-

प० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० ४४७। सन्मति० टी० पृ० १७७, २६०। स्या० र० पृ० ७१०। तुलना-"(उष्णादिप्रतिपत्तिर्या) नामादिध्वनिभाविनी। विस्पष्टा (भासते नैषा) तदर्थेन्द्रियबुद्धिवत्॥ यथा ह्युष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धि स्फुटप्रतिभासा वेद्यते न तथोष्णादिशब्दभाविनी। न ह्युपहतनयनरसनघ्राणादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्रूपरसाद्यनुभाविनो भवन्ति यथाऽनुपहतनयनादय इन्द्रियधियाऽनुभवन्त।"-तत्त्वसं०, प० पृ० २८०।

(१) "न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम्। येनास्पष्ट वस्तुगतमेव रूप शब्दैरभिधीयते इति स्यात्, एकस्य द्वित्वविरोधात्।"-तत्त्वसं० प० पृ० २८१। "न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुन स्त यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेत अन्येन विकल्पे। तथा सति वस्तुन एव भेदप्राप्ते।"-अपोहसि० पृ० ७। (२) स्वलक्षण न शब्दप्रत्ययविषय शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमानत्वात्। "न स तस्य च शब्दस्य युक्तो योगो न तत्कृते। प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे यथा रस॥ प्रयोग-यो हि तत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थ यथा रूपजनिते प्रत्यये रस, न प्रतिभासते च शब्दे प्रत्यये स्वलक्षणमिति व्यापकानुपलब्धि"-तत्त्वस० प० पृ० २८०। (३) व्याख्या-"परमार्थं स्वलक्षणम् तस्मिन् एकस्थान (एकस्तान) प्रवृत्तिर्येषा तद्भावस्तत्त्व तस्मिन् सति शब्दानामनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात् दर्शनान्तरभिन्नेष्वर्थेषु सिद्धान्तभेदभिन्नेषु।"-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२०९। "परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु प्रतिदर्शन भिन्नाभ्युपगमेन नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणीमयत्वादिकल्पितभेदेषु अनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि परस्परविरुद्धा बहवो धर्मा एकत्र सन्ति।"-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६। (४) 'दर्शनान्तरभेदिषु'-प्रमाणवा०। शास्त्रवा० श्लो० ६४७। अनेकान्तजय० पृ० ३५ A। प्रकृतपाठ-अष्टसह० पृ० १६८। सिद्धिवि० टी० पृ० २६८ A। 'तस्मात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु'-स्या० र० पृ० ७१०। (५) "अपि प्रवर्तेत पुमान् विज्ञायार्थक्रियाक्षमान्। तत्साधनायेत्यर्थेषु सयोज्यन्तेऽभिधायका॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जाति।-न खलु लोकोऽसकेतयन् शब्दानप्रयुञ्जानो वा दु खित' स्यात्। व्यसनापन्न अथ किमिति चेत्, सर्व एवाधेय आरम्भ फलार्थ। निष्फलारम्भस्य उपेक्षणीयत्वात्। तदय क्वचिच्छब्द नियुञ्जान. किञ्चित्फलमेवेहितु युक्तः। तच्चेत् सर्वम् इष्टानिष्टाप्तित्यागलक्षणम्। तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधन कृत्वा तत्र प्रवृत्ति निवृत्ति वा कुर्या कारयेय वेति नियोग आद्रियेत शब्दान् वा नियुञ्जीत अन्यथोपेक्षणीयत्वात्। तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या। नहि जातिर्वाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता। न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः।"-प्रमाणवा० स्ववृ० १।९५। (६) सामान्यस्य।

1 रूपप्रत्यये श्र०। 2 सामान्यस्वरूप श्र०, ब०।

मर्थक्रियाकारित्वं संभवतीत्युक्तं सामान्यनिषेधावसरे[1]। तन्नार्थगोचराः शब्दाः किन्तु अन्यापोहगोचराः ।

स चार्धपञ्चमाकारः; तथाहि–न जातिव्यक्त्योस्तद्गोचरत्वं पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञानतदाकारयोः; तयोरपि स्वेन[4] रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्य[5] च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्तेः, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य बहीरूपतया-ऽध्यस्तोऽर्धपञ्चमाकारः अन्यापोहः । बाह्यत्वं हि तस्य अर्धाकारः ।

अपोहश्च निषेधः । स[7] च द्विविधः–पर्युदासः, प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविधः-बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थेष्वध्य-वसितः । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्र[8] बुद्ध्यात्मनो

---

(१) पृ० २८५ । (२) जातिव्यक्तिज्ञानतदाकारा एते सत्या, अर्धपञ्चमाकार अर्धत्व तु दृश्यस्य सत्यत्वात् विकल्पस्यासत्यत्वात्–आ० टि० । (३) शब्दविषयत्वम् । (४) ज्ञानरूपेण । (५) ज्ञानस्वलक्षणस्य । (६) "व्याख्यातार एव विवेचयन्ति न हि व्यवहर्त्तार । ते तु स्वालम्बनमेव अर्थक्रि-यायोग्य मन्यमाना दृश्यविकल्प्यार्थावेकीकृत्य प्रवर्तन्ते । ते हि यथावस्थित वस्तु व्यवस्थापयन्तः एवं विवेचयन्ति । अन्यो विकल्पबुद्धिप्रतिभास अन्यत्स्वलक्षणमिति, न व्यवहर्त्तार एव विवेचयन्ति । ते तु व्यवहर्त्तार. स्वालम्बनमेवेति विकल्पप्रतिभासमेवार्थक्रियायोग्य बाह्यस्वलक्षणरूप मन्यमाना । एतदेव स्पष्टयति–दृश्योऽर्थ. स्वलक्षणम् विकल्प्योऽर्थ सामान्यप्रतिभास तावेकीकृत्य स्वलक्षणमेवेद विकल्पबु-द्धया विषयीक्रियते शब्देन चोद्यते इत्येवमधिमुच्यार्थक्रियाकारिण्यर्थे प्रवर्तन्ते, तदभिप्रायवशाद् व्यवहर्तॄ-णामभिप्रायवशादेवमुच्यते विवेकिषु भावेषु विकल्पबुद्धिर्भवतीति । दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य प्रवृत्तेरिति वदता न स्वाकारे बाह्यारोप इत्युक्त भवति अन्यथा स्वाकार एव प्रवृत्तिप्रसगात् मरीचिकाया जलारो-पादिव । नापि बाह्ये स्वाकारारोप ; आरोप्यमाणफलार्थित्वेनैव प्रवृत्तिप्रसगात् जलार्थिन इव जल-भ्रान्तौ । ' अर्थानुभवे सति तत्सस्कारप्रबोधेन तदाकार उत्पद्यमानो विकल्प स्वाकारं बाह्याभिन्नम-ध्यवस्यति न त्वभिन्न करोति । तेन विकल्पविषयस्य दृश्यात्मतयाध्यवसायाद् दृश्यविकल्प्ययोरेकीक-रणमुच्यते ।"–प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।७२ । (७) "तथाहि द्विविधोऽपोह पर्युदासनिषेधत । द्विविध पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्माऽर्थात्मभेदत ॥ तत्र बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभास, अर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेना-ध्यवसित । अर्थात्मा अर्थस्वभाव विजातीव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्यर्थ ।"–तत्त्वस०, पं० पृ० ३१६ । तुलना–"त्रिविधो हि वोपोह –एकस्तावद् व्यावृत्त स्वलक्षणमेव अन्योऽपोह्यतेऽस्मिन्निति कृत्वा, यदधि-कृत्याह–स्वभावपरभावाभ्या यस्माद् व्यावृत्तिभागिन. इति ' ' व्यवच्छेदमात्रं द्वितीय अन्यापोहनम-न्यापोह इति कृत्वा, ' विकल्पबुद्धिप्रतिभासस्तु तृतीय अपोह्यतेऽनेनेति कृत्वा, अयञ्च शब्दस्य निबन्ध-नतयाऽभ्युपगम्यते ।"–अनेकान्तजय० पृ० ३७A. । (८) "तत्र बुद्ध्यात्मन स्वरूप दर्शयन्नाह–एके-त्यादि । एकप्रत्यवमर्शस्य य उक्ता हेतवः पुरा । अभयादिसमा अर्थाः प्रकृत्यैवान्यभेदिनः ॥ तानुपा-श्रित्य यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिविम्बकम् । कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेप्यर्था इत्येव निश्चितम् ॥ ' यथा हरीत-क्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यमेक ज्वरादिशमनलक्षण कार्य कुर्वन्ति तथा शावलेयादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे प्रकृत्या एकाकारप्रत्यवमर्शस्य हेतवो भविष्यन्तीत्यन्तरेणापि वस्तुभूत सामान्यमिति । अभयादिसमा इति–हरीतक्यादितुल्या. एकार्थकारितया साम्यम् । तानुपाश्रित्य इति–तानभयादिस-मानर्थानाश्रित्य हेतूकृत्य तदनुभवबलेन यदुत्पन्न विकल्पक ज्ञान तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थप्रतिविम्बक मर्था-

---

1 चार्थपञ्च–ब०, चार्थसच–श्र० । 2–भासानु–ब० । 3–ष्वव्यवस्थित श्र० । 4 अथात्मा ब० ।

विशेषलक्षणम्–स्वभावत. परस्परविलक्षणानर्थानेकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रतिबिम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्न तस्य 'अपोह' इति सज्ञा। वस्तुभागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमन्यमानो विकल्पाकारः स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकोऽपोहः 'अपोह्यते अनेन' इति, विकल्पान्तरवर्त्याकाराद् भेदेन स्वय प्रतिभासमानत्वात्। 'अपोह्यते अन्यस्मात्' इत्यन्यापोहः, अयं हि मुख्यतयैव अन्योपोहशब्दाभिधेयः। त्रिभिस्तु कारणैः औपचारिकः–कारणे कार्यधर्मारोपात्, कार्ये कारणधर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणेन सहैकत्वाध्यवसायाद्वा। कार्यं हि यथोक्तान्यापोहस्य अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः, अतस्तत्कारणतया कार्यधर्मोऽन्यव्यावृत्तिः तत्राध्यारोप्यते। कार्ये कारणधर्मो वा, कारण हि एकप्रत्यवमर्शात्मनोऽन्यापोहस्य अन्याससृष्टं स्वलक्षण तदनुभवेन तस्य जनितत्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्यावृत्ति· अतस्तस्याः कार्यभूते प्रत्यवमर्शे उपचारः। विजातीयव्यावृत्त यत्स्वलक्षणं तेन सह प्रत्यवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वेनाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहतेति प्ररूपितः पर्युदासरूपोऽपोहः।

प्रसज्यरूपस्तु 'गौरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्यवसित इति। प्ररूपितप्रकारस्य अन्यापोहस्यैव वाचक. शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः। वाच्यवाचकभावश्च

भासो भाति तादात्म्येन तत्रान्यापोह इत्येषा सज्ञा उक्तेति सम्बन्ध। कल्पक इति–विकल्पके सविकल्प इति यावत्। एतच्च ज्ञान इत्यनेन समानाधिकरणम्। अर्थात्मताभावेऽपि इति। बाह्यार्थात्मताया अभावेऽपि। निश्चितमिति अध्यवसितम्।"–तत्त्वस०, प० पृ० ३१७।

(१) अश्वादिविकल्पादन्यो गवादिविकल्प – आ० टि०। (२) "अथ कथ तस्यापोह इत्येष व्यपदेश इत्याह–प्रतिभासान्तरादित्यादि। प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुनः। प्राप्तिहेतुतयाऽश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपि॥ विजातीयपरावृत्त तत्फल यत्स्वलक्षणम्। तस्मिन्नध्यवसायाद्वा तादात्म्येनास्य विप्लुतै। तत्रान्यापोह इत्येषा सज्ञोक्ता सनिवन्धना। चतुर्भिर्निमित्तैरपोह इति तस्याख्या। विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यत ,अपोह्यत इत्यपोह, अन्यस्मादपोहोऽन्यापोह इति व्युत्पत्ते। उपचारात्तु त्रिभि। १–कारणे कार्यधर्मारोपाद्वा, यदाह अन्यव्यावृत्तवस्तुन. प्राप्तिहेतुतयेति। २–कार्ये वा कारणधर्मोपचारात्, तद्दर्शयति–अश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपीति। अश्लिष्टम् अन्यासम्बद्धम् अन्यतो व्यावृत्तमिति यावत्, तदेव वस्तु द्वारमुपाय, तदनुभवबलेन तथाविधविकल्पोत्पत्ते। ३–विजातीयापोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तै प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थं कारणम्। तद्दर्शयति–विजातीयेत्यादि। अस्येति। विकल्पबुद्ध्यारूढस्य अर्थप्रतिबिम्बस्य सनिबन्धनेति। सह निवन्धनेन प्रतिभासान्तराद् भेदादिनोक्तेन चतुर्विधेन वर्तत इति सनिबन्धना।"–तत्त्वस०, प० पृ० ३१७। (३) अन्यापोह कारणम् अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्ति कार्यम्–आ० टि०। (४) अपोहे कारणे–आ० टि०। (५) एतत्कार्यम्। (६) एतत्कारणम्–आ० टि०। (७) अन्यापोहस्य–आ० टि०। (८) अन्यापोहस्वरूपे–आ० टि०। (९) "प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौर्न भवत्ययम्। अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते॥"–तत्त्वस० पृ० ३१८। (१०) "तदेव त्रिविधमपोह प्रतिपाद्य प्रकृते शब्दार्थत्वे योजयन्नाह–तत्रायमित्यादि। तत्राय प्रथम शब्दैरपोह प्रतिपद्यते। बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धे शब्दात्समुद्भवात्॥ प्रथम इति यथोक्तार्थप्रतिबिम्बात्मा। तत्र कारणमाह–बाह्यार्थाध्य-

1–नाध्यवस्थितत्वाद्वा आ०।

कार्यकारणभावान्नान्यः; बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तेनान्यत्वं तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्' इत्यादि, तदसमीचीनम्; यतः प्रमाणतः कुतश्चित्तत्सिद्धौ तस्य तद्विषयत्वं युक्तम्, न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्धः, तथाहि–अपोहः प्रत्यक्षतः सिद्ध्येत्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षतः; स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनुमानतः; तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । नहि अश्वनिवृत्त्या अगोनिवृत्त्या चाविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

अपोहवादनिरसनपुरस्सरं शब्दस्य परार्थसामान्यविशेषात्मकार्थवाचकत्वसमर्थनम्–

वशाविन्वा इत्यादि । यदेव हि शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्तः । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधाध्यवसायोऽस्ति, न चापीन्द्रियज्ञानवत् स्वलक्षणप्रतिभासः । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलं शाब्दी बुद्धिरुपजायते । तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात्तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्तो नान्य इति भावः । एवं तावत्प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वान्मुख्यः शब्दार्थ इति दर्शितम् । शेषयोरप्यपोहयोः गौणं शब्दार्थत्वमुपवर्ण्यमानमविरुद्धमेवेति दर्शयन्नाह–साक्षादाकार एतस्मिन्नेवञ्च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥ न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभिः ॥ व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यतः ॥ तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थ इत्युपचर्यते । न तु साक्षादयं शाब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते ॥ एवञ्चेति । जन्यत्वेन । कस्मात्पुनः सामर्थ्येन प्रसज्यप्रतिषेधः प्रतीयत इति दर्शयन्नाह–न तदात्मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा यः परस्य अश्वादिप्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एवं प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतेर्गौणं शब्दार्थत्वं प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयन्नाह–सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्धः शब्दस्य वस्तुनि पारम्पर्येण कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः । प्रथमं यथावस्थितवस्त्वनुभवः ततो विवक्षा ततः ताल्वादिपरिस्पन्दः ततः शब्द इत्येवं परम्परया शब्दस्य वस्तुभिः बाह्यैरग्न्यादिभिः सम्बन्धः स्यात्तदा तस्मिन् सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्यप्रतिषेधः अन्यव्यावृत्तवस्त्वात्मा चापोहः शब्दार्थ इत्युपचर्यते । अयमिति स्वलक्षणात्मा, अपिशब्दात् प्रसज्यात्मा च ।"–तत्त्वसं०, पं० पृ० ३१८–१९ ।

(१) ननु सौगतैस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध इष्यते तत्कियमत्र वाच्यवाचकभावोऽभीष्टो इत्याह–आ० टि० । "यद्यपि शब्दस्यार्थेन न वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः प्रसिद्धः नासौ कार्यकारणभावादन्योऽवतिष्ठते, अपि तु कार्यकारणभावात्मक एवेति दर्शयति–तद्रूपप्रतिबिम्बस्येत्यादि । तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धियि शब्दाच्च जन्मनि । वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलात्मकः ॥ शब्द प्रतिबिम्बस्य जनकत्वात् वाचक उच्यते, तच्च प्रतिबिम्बं शब्देन जन्यमानत्वाद्वाच्यम् ।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ३१८–१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्–आ० टि० । (३) पृ० ५५१ पं० ९ । (४) अपोहस्य । (५) शब्दलिङ्गगोचरत्वम् । (६) तुलना– "इन्द्रियैर्नापरिच्छेदो प्रथमं यत्र गीयते । तत्रैव नानुमानेन अपि द्रष्टुं न प्रयुज्यताम् ॥९८॥ पूर्वोक्तेन प्रकारेण नानुमानस्य सिद्धता । सम्बन्धान्तरबोधोऽपरस्य तेन नैवोपपद्यते ॥९९॥ नागृहीतस्य गमकः शब्दापोहः प्रमाणतः । प्रमाणं न च सम्बन्धः न च स्यात् लिङ्गधारणा ॥१०६॥ यत्र स्यात् गमकः तस्य, लिङ्गाभावात् तदा कुतः । न च स्वार्थे वाच्यं क्षित प्रत्यक्षमनवा ॥१०७॥"–मी० श्लो० अपोह० ९८–९९, १०६–७ । प्रमेयक० पृ० ४३५ । सन्मति० टी० ३।१०११ (७) अपोहाविनाभावि ।

1 चाविनाभूतं ब० ।

प्रकारेण हि भवन्मते[1] अविनाभावो व्यवस्थितः। नचान्यव्यावृत्तोः केनचित्सह तादात्म्यतदुत्पत्ती घटेते। तथाहि–अकृतकत्वव्यावृत्ति. कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकं वा स्यात्? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्; अवस्तुरूपत्वात्, [2]यदवस्तुरूप न तत् स्वलक्षणात्मक यथा खरविषाणम्, अवस्तुरूपञ्च अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपतया कृतकत्वमिति। नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्[1]; [3]उभयो नीरूपतया तादात्म्यसम्वन्धाभावात्। [4]ययो नीरूपत्व न तयोस्तादात्म्यसम्बन्धः यथा खपुष्पवन्ध्यासुतयोः, नीरूपत्वञ्च अन्यव्यावृत्तिस्वभावयो. कृतकत्वानित्यत्वयोरिति। तन्नानयोस्तादात्म्यं घटते। नापि तदुत्पत्ति., नीरूपत्वादेव। तथाहि–यन्नीरूप तन्न कस्यचिज्जन्यं जनक वा यथा खरविषाणम्, नीरूपञ्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेत प्रकृत[5]मन्यापोहद्वयमिति।

[2]ननु चार्थाभावेऽपि अर्थाकारं यत् प्रतिबिम्बमुत्पन्नं तदेवान्यापोहः, स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, इत्यनर्थक तत्रानुमानम्; [3]इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानेऽर्थाकारधारित्वस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ[6] प्रतिषिद्धत्वात्।

अस्तु वा [7]तत्, तथापि–अत्र कस्य प्रतिविम्बनम्–स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा? न तावत्स्वलक्षणस्य, त[4]स्य व्यावृत्ताकारत्वात्। अनुगतैकरूपञ्च प्रतिविम्बम् अन्यापोहोऽभिप्रेतः, अतः स्वलक्षणेनापि [8]तथाविधेनैव भवित[9]व्यम्। तथाहि–[5]यस्य हि यदाकारं प्रतिविम्बं तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुखचन्द्रादि, अनुगतैकाकारञ्च स्वलक्षणस्य ज्ञाने प्रतिविम्बमिति। अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बनमिष्यते; तदप्यसत्, तस्या[10]ऽसतः प्रतिबिम्बनानुपपत्तेः। [11]यदसन्न तत् कचित् प्रतिविम्बति यथा खपुष्पम्, असच्च [12]भवन्मते सामान्यमिति। [13]तत्र [14]तत्प्रतिविम्बाभ्युपगमे वा प्रतिबिम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि[6]विक्तत[15]द्रूपद्वयोपलम्भप्रसङ्गः। [16]यत्र यत् प्रतिविम्बति[7] तद्द्वयं प्रतिविम्बोदयात्प्रागन्योन्यविविक्तमुपलभ्यते यथा मुखादर्शादि, प्रतिबिम्बति[8] च ज्ञाने सामान्याकार इति।

अथ वाहदोहाद्येकार्थक्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकारं सत् सामान्यम्, अतो नो[17]क्तदोषावकाश.; तदयुक्तम्; एकार्थक्रियामकुर्व[18]तस्तत्कारित्वाभावतः प्रतिविम्बो-

(१) सौगतसिद्धान्ते। (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूप कृतकत्व न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तुरूपत्वात्। (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्व-नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोश्च। (४) अन्यव्यावृत्तिरूपयो. कृतकत्वानित्यत्वयो तादात्म्य न भवति नीरूपत्वात्। (५) कृतकत्वमनित्यत्वञ्च–आ० टि०। (६) पृ० १६७। (७) प्रतिविम्बम्। (८) अनुगतैकरूपेण। (९) स्वलक्षणमनुगतैकाकारम् अनुगतैकाकाररूपेण प्रतिविम्बितत्वात्। (१०) सामान्यस्य अन्यापोहात्मकत्वेन अर्थक्रियाकारित्वाभावेन चासत। (११) न समान्य ज्ञाने प्रतिविम्वति असत्त्वात्। (१२) वौद्धमते। (१३) ज्ञाने। (१४) सामान्य। (१५) प्रतिविम्वाधारस्य ज्ञानस्य प्रतिविम्व्यस्य च सामान्यस्य विविक्त स्वरूपद्वय प्रतिभासेत इति भाव। (१६) ज्ञान सामान्यञ्च विभिन्नतया उपलभ्येताम् तत्र प्रतिविम्व्यमानत्वात्। (१७) प्रतिविम्वाभावलक्षणो दोष। (१८) सामान्यस्य।

1–क तयो श्र०। 2 ननु चार्थाकारं आ०। 3 इत्यसमी–श्र०। 4 'तस्य' नास्ति आ०। 5–तस्य यस्य यस्य हि आ०, श्र०। 6–विविक्तस्तद्रूप–ब०। 7–बिम्बते श्र०। 8–बिम्बते च श्र०।

दयाभावानुषङ्गात् । अर्थक्रियायाश्च कादाचित्कत्वात् तदुदयोऽपि कदाचिदेव स्यात् ।

किञ्च, एकार्थक्रियाकारित्वं स्वलक्षणे यद्येकमभ्युपगम्यते तदा बाह्यावभासितयोपलभ्यमानप्रतिभासबलात् तदेव प्रतिभास्यमस्तु किं प्रतिबिम्बाग्रहग्रहेण ?

किञ्च, यदि स्वप्रतिबिम्बमात्राध्यवसायित्वं शाब्दविकल्पस्य स्यात् तर्हि अतः[१] कुतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? स्वप्रतिभासेऽनर्थे अर्थाध्यवसायाच्चेत्, ननु कोऽयमर्थाध्य[२]वसायो नाम–बाह्यस्यार्थस्य ग्रहणम्, [1]करणम्, योजनम्, समारोपो वा ? प्रथमपक्षे पर[३]मतसिद्धिः; शाक्यैः शाब्दप्रत्ययानां बहिरर्थग्रहणानभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; नहि बाह्यार्थकरणे ज्ञानानां सामर्थ्यम्, स्वसामग्रीतस्तेषां[४]माविर्भावात्, अन्यथा [५]अप्रतिहता सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात् ।

अथ स्वा[2]कारं विकल्पो बाह्येनार्थेन योजयति; तदसत्; तथाप्रतीतेर[3]संभवात् । नह्येवं कस्यचित् प्रतीतिः 'योऽयमाकारो मदीयः स बाह्यार्थविशिष्टः' इति, बाह्यार्थेन सह स्वा[६]कारस्य सम्बन्धाभावतो वि[७]शेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः । न च प[८]रम्परया तदुत्पत्तिसम्बन्धोऽस्यास्तीत्यभिधातव्यम्; व्या[९]वृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिबिम्बनहेतुत्वप्रतिषेधात् ।

अथ बाह्यमर्थं विकल्प. स्वाकारे समारोपयति; तदप्यसाम्प्रतम्; समारोपो हि उभयग्रहणे सति स्यात्, असति वा ? न तावदसति; उभयग्रहणपुरस्सरत्वात्तस्य[१०] । य[११]ः [4]समारोपः स उभयग्रहणपुरस्सर. यथा गोर्वाहीके समारोपः, समारोपश्च विकल्पाकारे बाह्यार्थस्येति । न चेदं निदर्शनं साध्यविकलम्; येनैव हि गौरनुभूतः वाहीकश्च, स

(१) "तथापि विकल्पाद्बाह्याभिमुखप्रवृत्तिस्तदर्थिना न स्यात् ।"–न्यायवा० पृ० ४८५ । "इत्थमपि ततो वस्तुनि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।"–अनेकान्तजय० पृ० ३५ B । "अन्यापोहे प्रतीते च कथमर्थे प्रवर्तनम् । शब्दात्सिद्धयेज्जनस्यास्य सर्वथाऽतिप्रसङ्गत ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०१. । प्रमेयक० पृ० ४३१ । रत्नाकराव० ४।११ । (२) तुलना–"न, तदेकीकरणासिद्धे, दृश्यविकल्प्ययोरत्यन्तभिन्नत्वात्, साधर्म्यायोगात्, एकस्योभयानुभवितुरभावात् तदा द्वयदर्शनादर्शनविकल्पानुपपत्ते ।"–अनेकान्तजय० पृ० ३५ B. । "स्वाकारमबाह्य बाह्यमध्यवस्यन् विकल्प स्वाकारबाह्यविषय इति चेत्, यथाह–स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तिरिति । अथ कोऽयमध्यवसाय–किं ग्रहणमाहोस्वित् करणम् उत योजना अथ समारोपः ? तत्र स्वप्रतिभासमनर्थमर्थ कथ गृह्णीयात् कुर्याद्वा विकल्प । न हि पीत नील शक्य ग्रहीतु वा शिल्पिशतेनापि । नप्यगृहीतेन स्वलक्षणेन स्वाकारं योजयितुमर्हति विकल्प । न च स्वलक्षण विकल्पगोचर इति चोपपादितम् ।"–न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (३) जैनमत । (४) अर्थानाम्–आ० टि० । (५) ज्ञानमात्रेणैव यद्यर्थस्य समुत्पत्ति स्यात्तदा असङ्ख्यरूप्यकपरिज्ञानादेव असख्यरूप्यकोत्पत्तौ विश्वमदरिद्र स्यात् । (६) विकल्पाकारस्य–आ० टि० । (७) स्वाकार-बाह्यार्थयो । (८) स्वलक्षणरूपो बाह्योर्थः ततो निर्विकल्पकमिति (ततो निर्विकल्पक तस्माच्च सविकल्पकमिति) पारम्पर्येण विकल्पार्थयोस्तदुत्पत्तिसम्बन्ध–आ० टि० । (९) न हि व्यावृत्ताकारादनुवृत्ताकारं जायते–आ० टि० । (१०) एकस्य अन्यत्र समारोपस्य । (११) विकल्पाकारे बाह्यार्थसमारोपः उभयग्रहणपूर्वक. समारोपत्वात् ।

1 धारणम् ब० । 2 स्वाकारविक–श्र० । 3–रभावात् ब०, श्र० । 4 'समारोप.' नास्ति श्र० ।

तद्धर्मान् वहुभारोद्वहनादीन् वाहीके निश्चित्य गोत्वमारोपयति 'गौर्वाहीकः' इति। अथोभयग्रहणे सति आरोप· स्यात्; ननु उभयोर्ग्रहण विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा स्यात्? न तावन्निर्विकल्पेन, अस्य स्वलक्षणगोचरतया अन्यापोहस्वरूपविकल्पाकारे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि विकल्पेन; अस्य बाह्यार्थपरामर्शपराङ्मुखत्वात्, अतः कथमसौ स्वाकारे बाह्य तत्रै वा स्वाकारमारोपयेत्?

अस्तु वाऽस्योभयग्रहणम्; तथापि-पूर्वं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चादर्थमारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासञ्चानुभवति अर्थञ्च समारोपयति, किं वा यावदेवोक्तं भवति-स्वाकारमनुभवतीति तावदेवोक्त भवति अर्थमध्यवस्यतीति? न तावत्स्वरूपानुभवः पूर्वं पश्चादर्थसमारोपः, क्षणद्वयावस्थानविकलत्वाज्ज्ञानानाम्, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः। अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थञ्च समारोपयति, तर्हि ग्राह्यग्राहकाकारात्मके विकल्पस्वरूपे संवेद्यमाने स्वानुभवसमानकाल एवार्थः समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् बहिरेवाऽवतिष्ठते तत्कथमात्मानमनर्थम् अर्थमारोपयेदसौ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोपः, तदप्यसुन्दरम्; अनुभवितव्यविकल्पयितव्ययोर्भेदात्। शब्दसंसृष्टं हि स्वरूपं विकल्पयितव्यम्, अशब्दसंसृष्ट तु स्वसंवेदनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम्?

एतेन 'दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्तः' इत्यादि प्रत्युक्तम्, तदेकी-

---

(१) "जर्तिका नाम वाहीकास्तेषा वृत्त सुनिन्दितम्।"-महाभार० कर्णपर्व अ० २००। 'जाट' इति भाषायाम्। "यथा गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीक·।"-महाभा० प्र० १।१। १५। (२) तुलना-"क खलु विकल्पमेव दृश्यमित्यध्यवस्यति। विकल्प एवेति चेत्, न, तत्र सामान्यावभासात् अन्यथा विकल्पत्वायोगात्। अन्य इति चेत्, न, आत्मवादापत्तेः तत्तथाध्यवसायनिमित्ताभावाच्च।"-अनेकान्तजय० पृ० ३५ B। "नैकत्वाध्यवसायोऽपि दृश्य स्पृशति जातुचित्। विकल्पस्यान्यथा सिद्धयेत् दृश्यस्पर्शित्वमञ्जसा।"-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०९। "तदेकत्व हि दर्शनमध्यवस्यति तत्पृष्ठजो व्यवसायो ज्ञानान्तर वा।"-प्रमाणप० पृ० ५३। प्रमेयक० पृ० ३१। सन्मति० टी० पृ० ५००। स्या० र० पृ०८२। (३) निर्विकल्पस्य। (४) अवस्तुविषयत्वात्-आ० टि०। (५) विकल्प। (६) वाह्येऽर्थे। (७) तुलना-"न च स्वाकारमनर्थमर्थ आरोपयति। न तावदगृहीत स्वाकार. शक्य आरोपयितुमिति तद्ग्रहमेषितव्यम्। तत्किं गृहीत्वा आरोपयति, अथ यदैव गृह्णाति तदैवारोपयति। न तावत्पूर्व पक्ष, न हि विकल्पज्ञान क्षणिक क्रमवन्तौ ग्रहणसमारोपौ कर्तुमर्हति। उत्तरस्मिंस्तु पक्षे विकल्पस्वसवेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकारादहङ्कारास्पदाद् अनहङ्कारास्पद समारोप्यमाणो विकल्पो नास्वगोचरो न शक्योऽभिन्न प्रतिपत्तुम्। नापि वाह्यस्वलक्षणैकत्वेन शक्य प्रतिपत्तु विकल्पज्ञानेन स्वलक्षणस्य वाह्यस्याप्रतिभासनात्।"-न्यायवा० ता० पृ० ४८५। (८) स्वाकारानुभवनमेव अर्थाध्यवसाय इति भाव। (९) यदि यदैव विकल्पाकार स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तदैवार्थे समारोपयति, तदा विकल्पस्य स्वानुभवव्यापृतत्वादर्थोऽवकाशमलभमान तत्स्वरूपाद् वहिरेवास्ते विकल्पे न सङ्क्रामति, तत्कथमात्मनि अनर्थभूते अर्थं विकल्पाकार आरोपयतीति तात्पर्यम्।-आ० टि०। (१०) आत्मनि अनर्थे इत्यर्थ। (११) पृ० ५५५ पं० ५।

1-परामर्शप्राङ्मुखत्वात् श्र०। 2 पूर्वं प्रतिभासमानार्थमनु-श्र०। 3-भासं वानुभ-व०। 4-भंगभंगताप्रसंग. व०।

करणञ्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञानान्तरेण वा ? न तावत्तेनैव स्वाकारं दृश्यञ्च पृथक् प्रतिपद्यैक्यं प्रतीयते, तथा[1] प्रतीत्यभावात्[1], क्षणिकत्वाच्च[2]। नापि ज्ञानान्तरेण; तद्धि एकम्, अनेकं वा ? यद्यनेकम्; कथमैक्यं प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनेन हि ज्ञानस्वरूपं प्रतीयते दर्शनेन तु दृश्यम्। एक तु यदि द्वयं प्रत्येति, कथमैक्यम् ? अथैक्यं प्रत्येति; कथं द्वयं विरोधात् ?

किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केवलो[2] वा ? प्रथमपक्षे भावयोः प्रतीतिः किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव; अस्य अपोहादन्यत्र प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे[3] वा किं भावौ प्रतीत्य अतोऽपोहः प्रतीयते, अपोहं वा प्रतीत्य भावाविति ? तत्राद्यविकल्पे नान्यापोहः शब्दार्थः, मुख्यतो[3] भावयोरेव तदर्थत्वात्[4], प्रतीत्युत्तरकालं सामर्थ्यादेव[5] वा अन्यव्यावृत्तेः[4] प्रतीतेः। नीलञ्च प्रतीत्य अनीलव्यावृत्तिप्रतीत्यभ्युपगमे स्खलन्ती[6] तत्प्रतीतिः[7] स्यात्। अतो नीलस्य अनीलव्यावृत्त्यात्मकस्यैव प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या। द्वितीयविकल्पे तु प्रतीतिविरोधः, न खलु केवलोऽपोहः प्रथमं शब्दात् प्रतीयते पश्चाद् भावाविति कस्यचित्[8]स्वप्नेऽपि प्रतीतिरस्तीति[5]। एतेन प्रमाणान्तरादपि तत्प्रतीतिः[9][6] प्रत्याख्याता, ततोऽपि भावयोः प्रतीतौ उक्तदोषानुषङ्गा[7]विशेषात्। अस्तु वा कुतश्चिदस्य[10] प्रतीतिः, तथापि–भावाभ्यां भिन्नस्यापोहस्य प्रतीतौ कथमस्य[11] भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभावयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् ?

'केवलोऽपोहः प्रतीयते' इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिव्यूढः, यदि च केवलोऽपोहः शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रतीयेत, तर्हि सर्वशब्दानां[12] पर्यायता स्याद् अपोहमात्रस्याऽविशिष्टस्याशेषशब्दैः प्रतिपादनात्। एवञ्च[8] विशेषण[13]विशेष्यभेदः अतीतादिकालभेदः [14]स्त्रीपुंनपुंसक-

(१) तुलना–"नैतद् दृश्यविकल्प्यार्थैकीकरणेन भेदत । एकप्रमात्रभावाच्च तयोस्तत्त्वाप्रसिद्धितः।"–शास्त्रवा० ११।१०। "अतीते तदात्मकतया अभावसमारोपानुपपत्ते ।"–प्रश० कन्द० पृ० ३२०। (२) तुलना–"यश्चायमन्यापोह अगौर्न भवतीति गोशब्दस्यार्थं स किं भावोऽथ अभाव इति ?"–न्यायवा० पृ० ३२९। इति प्रसज्य–आ० टि०। (३) शब्दस्य अपोहादतिरिक्ते भावे प्रवृत्तौ। (४) शब्दार्थत्वात्–आ० टि०। (५) भावस्य प्रतिनियतमसाधारण स्वरूपं हि अन्यव्यावृत्त्यात्मक भवत्येव। (६) सापेक्षत्वात्–आ० टि०। (७) अनीलव्यावृत्तिप्रतीतिः। (८) व्यवहारिण पुरुषस्य। (९) भावयो प्रतीतिः। (१०) अपोहस्य। (११) अपोहस्य। (१२) तुलना–"भिन्नसामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये। सर्वे भवेयुः पर्याया यद्यपोहस्य वाच्यता ॥"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४२। न्यायम० पृ०३०४। "अपि च ये विभिन्नसामान्यशब्दा गवादयो ये च विशेपशब्दा शाबलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्ति अर्थभेदाभावात् वृक्षपादपादिशब्दवत् ।"–प्रमेयक० पृ०४३३। प्रमेयर०३।१०१। (१३) तुलना–"अपोहमात्रवाच्यत्व यदि चाभ्युपगम्यते। नीलोत्पलादिशब्देषु शबलार्थाभिधायिषु ॥ विशेषणविशेष्यत्वसामानाधिकरण्ययो । न सिद्धिर्न ह्यनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलच्युति ॥"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११५–१६। प्रमेयक० पृ० ४३६। (१४) तुलना–"लिङ्गसंख्यादिसम्बन्धो न वाऽपोहस्य विद्यते। व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात्तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ ॥"–मी०श्लो०अपोह०श्लो० १३५।

1 प्रमित्यभा–ब०। 2 'क्षणिकत्वाच्च' नास्ति ब०। 3 मुख्यतया भा–श्र०। 4 अन्यव्यावृत्तिप्रती–आ०। 5 प्रतीतिरिति ब०, प्रतीतिरस्ति श्र०। 6–तिः किं प्रत्या–ब०। 7–नुषङ्गाविरोधात् ब०। 8 एवं विशे–ब०, श्र०।

लिङ्गभेदः एकद्विबहुवचनादिभेदश्च दुर्लभः। लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात्, यदेव हि लिङ्गशब्दवाच्यमपोहमात्रं तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि।

अथापोहस्य[1] भेदाभ्युपगमान्नायं दोषः; तदयुक्तम्, तस्य[2] भेदाऽसिद्धेः। तस्य हि भेदः अपोह्यभेदाद्, वासनाभेदात्, विभि[1]न्नसामग्रीप्रभवत्वात्, विभिन्नकार्यकारित्वात्, आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात्? न [3]तावदपोह्यभेदात्; सर्व-प्रमेयादिशब्दानामपोह्यभेदाभावतः पर्यायताप्रसङ्गात्। न हि असर्वं सर्वराशेर्व्यतिरिक्तम्, अप्रमेयं वा किञ्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिकं सिद्ध्येत्। कथ वा सत्त्व[4]-कृतकत्वादिहेतोः सिद्धिः? न हि असदकृतकं वा जगति किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वादिसाधन सिद्ध्येत्। अपोह्यभेदादपोह[2]भेदे चान्योन्याश्रयः[5]–सिद्धे ह्यपोह्यभेदे अपोहभेदसिद्धि., तत्सिद्धौ चापोह्यभेदसिद्धिरिति। तन्नापोह्यभेदादपोहस्य भेदः। नापि [6]वासनाभेदात्, [3]तद्भेदस्या[7]प्यनुपपत्तेः। अनुभवभेदनिबन्धनो हि वासनाभेद', अपोहस्य चैक[8]रूपत्वे अनुभवभेदो दुर्घट.। नापि विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वा[4]दपोहभेदः, [9]अस्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषतः [5]प्रादुर्भावस्यैवाऽनुपपत्तेः। [10]यत् कल्पितरूप तन्न कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, कल्पितरूपश्च भवन्मते[11] अपोह इति। [12]ततस्तदुत्पत्तौ वा कल्पितरूपत्वव्याघातः। [13]यत् कुतश्चिदुत्पद्यते तन्न कल्पितरूपं यथा स्वलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति।

---

(१) तुलना–"ननु भेदादपोहाना प्रसङ्गोऽय न युज्यते। सामान्यापोहक्लृप्त्या चेद्वस्तुमात्रे सम तव॥ भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात्सामान्यानि परस्परम्। असङ्कीर्णस्वभावानि न चैकत्व वितन्वते। ससृष्टैकत्वनानात्वविकल्परहितात्मनाम्। अवस्तुत्वादपोहाना तव स्याद् भिन्नता कथम्॥"–**मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४३–४५।** (२) अपोहस्य। (३) तुलना–"अन्यापोहश्च शब्दार्थ इत्ययुक्तम्, अव्यापकत्वात्। यत्र द्वैराश्य भवति तत्रेतरप्रतिषेधादितर प्रतीयते यथा गौरिति पदे गौ प्रतीयमान अगौ प्रतिषिध्यमान। न पुन सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्सर्वपदेन निवर्त्येत।" **–न्यायवा० पृ० ३२९।** "ननु चापोह्यभेदेन भेदोऽपोहस्य सेत्स्यति। न विशेष स्वतस्तस्य परतश्चौपचारिक॥ ४७॥ प्रमेयज्ञेयशब्दादेरपोह्य कुत एव तु।"–**मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७, १४४। प्रमेयक० पृ० ४३४। प्रमेयर० ३।१०१।** (४) तुलना–"यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुन स्यादपोह्यता। सच्छब्दस्य त्वभावाख्यान्नाऽपोह्य भिन्नमिष्यते॥"–**मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८।** (५) तुलना–"अपोह्यभेदक्लृप्तिश्च नाभावाऽभेदतो भवेत्। तद्भदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसश्रयम्॥ गोसामान्यस्य भिन्नत्वादगौरित्येष भिद्यते। अगौरित्यस्य च भेदेन गोसामान्य च भिद्यते॥"–**मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५–६६। न्यायमं० पृ० ३०४।** (६) तुलना–"नचापि वासनाभेदाद् भेद सद्रूपतापि वा। अपोहाना प्रकल्प्येत न ह्यवस्तुनि वासना॥ स्मृतिं मुक्त्वा नचास्त्यस्या शक्तियोग क्रियान्तरे। तस्मान्नान्यादृशे साऽर्थे करोत्यन्यादृशी मतिम्॥ भवद्भि शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न लभ्यते।"–**मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००–२। प्रमेयक० पृ० ४३९।** (७) वासनाभेदस्य। (८) अभावरूपतया तुच्छैकस्वभावत्वे। (९) अपोहस्य। (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति कल्पितरूपत्वात्। (११) सौगतमते। (१२) कारणसामग्रीत अपोहोत्पत्तौ। (१३) अपोहो न कल्पित कारणादुत्पद्यमानत्वात्।

---

1 **'विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्'** नास्ति श्र०। 2–**भेदे वान्यो**–ब०, श्र०। 3 **तद्भेदस्याप्यनुभव**–आ०। 4–**त्वादपोहभेदस्य कल्पि**–ब०। 5 **प्रादुर्भावानुप**–श्र०।

एतेन विभिन्नकार्यकारित्वात्तद्भेदः[1] प्रत्याख्यातः; अपरमार्थसतो विभिन्नकार्यकारित्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्। तत्कारित्वे[2] वाऽपरमार्थसत्त्वाऽसंभवात् स्वलक्षणवत्। कुतश्च कार्यकारणयोर्भेदः सिद्धो यतः तद्भेदादपोहस्य[3] भेदः सिद्ध्येत्–अपोहभेदात्, स्वरूपतो वा? अपोहभेदाच्चेद्; अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च तत्प्रभवतया[4] तत्कारितया[2][5] च अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धिरिति। स्वरूपतस्तद्भेदसिद्धौ[6] च[1] अपोहकल्पनाऽनर्थक्यम्।

अथाश्रयभेदादपोहभेदः; तन्न; अवस्तुरूपस्यास्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः। यदवस्तुरूपं[8] न तत् क्वचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तुरूपश्चापोह इति। आश्रितत्वे वा किमसौ[9] प्रतिव्यक्ति भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात्? यदि भिन्नः; तदा द्रव्यगुणकर्मणां[10] मध्ये अन्यतमरूपतैवास्या[11]भ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्त्यन्यस्य आश्रितत्वानुपपत्तेः। अथाभिन्नः; तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभयथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्तिः।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेदः; तन्न; अपरमार्थसत्त्वेऽस्य[12] स्वरूपभेदानुपपत्तेः। यदपरमार्थसन्न[13] तस्य स्वरूपभेदः यथा खपुष्पखरविषाणादेः, अपरमार्थसंश्चापोह इति। स्वरूपभेदे वाऽस्य[14] स्वलक्षणवत् परमार्थसत्त्वप्रसङ्गः।

किञ्च, पर्युदासरूपः[15], प्रसज्यरूपो वाऽपोहः स्वरूपतो भिन्नः शब्दैरभिधीयेत[5]? यदि पर्युदासरूपः; तदास्य भावान्तररूपता[16]भ्युपगन्तव्या। भावान्तरञ्च 'विशेषः, सामान्यम्, तदुपलक्षितो वा विशेषः, तत्समुदायो वा स्यात्' इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थः स्यात् नाऽपोहः। अथ प्रसज्यरूपः; तदा[17] निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तच्चायुक्तं

(१) अपोहभेद। (२) अर्थक्रियाकारित्वे। (३) कार्यभेदात्। (४) भिन्नकारणप्रभवतया। (५) भिन्नकार्यकारितया। (६) कार्यकारणयो भेदसिद्धौ। (७) तुलना–"तेनैवाधारभेदेनाप्यस्य भेदो न युज्यते। न हि सम्बन्धिभेदेन भेदो वस्तुन्यपीष्यते। किमुतावस्त्वसंसृष्टमन्यतश्चानिर्वर्तितम्। अनवाप्तविशेषाश यत्किमप्यनिरूपितम्।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४८–४९। (८) अपोहो न क्वचिदाश्रितः अवस्तुरूपत्वात्। (९) अपोह। (१०) अपोहरूपस्य सामान्यस्य आश्रयभूतानि द्रव्यगुणकर्माण्येव भवितुमर्हन्ति, सामान्यस्य द्रव्यादित्रयवृत्तित्वात्। (११) अपोहस्य। (१२) अपोहस्य। (१३) नापोहस्य स्वरूपभेद अपरमार्थसत्त्वात्। (१४) अपोहस्य। तुलना–"यद्वा भिद्यमानत्वाद्वस्त्वसाधारणाशवत्। अवस्तुत्वे त्वनानात्वात्"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४६। न्यायमं० पृ० ३०४। (१५) "किञ्चापोहाख्य सामान्य वाच्यत्वेनाभिधीयमान पर्युदासलक्षणञ्चाभिधीयेत, प्रसज्यलक्षण वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४३२। प्रमेयर० ३।१०१। (१६) यथा घट. पटात् स्वरूपतो भिन्न सन् भावान्तर –आ० टि०। तुलना–"अगोनिवृत्ति सामान्य वाच्यं यै परिकल्पितम्। गोत्व वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम्॥"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० १। प्रमेयक० पृ० ४३२। (१७) तुलना–"नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षेऽनुवर्णित। निषेधमात्र नैवेह प्रतिभासेऽवगम्यते॥ किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दत। विधिरूपावसायेन मति शाब्दी प्रवर्तते॥" (पूर्वपक्षे) –तत्त्वसं० का० ९१०–११। प्रमेयक० पृ० ४३२।

1 चापर–व०। 2 तत्कार्यतया व०। 3 वा श्र०। 4 चास्य व०। 5–भिधीयते व०, श्र०।

तथाप्रतीत्यभावात् । परप्रतिपादनार्थो हि शब्दप्रयोगः, परश्च नीलार्थी न अनीलनिषेधमात्रं जिज्ञासते[1], अजिज्ञासितञ्च प्रतिपादयतः प्रतिपादकस्याऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः ।

निषेधमात्राभिधायित्वे च नीलोत्पलशब्दयो. सामानाधिकरण्यन्न[1] प्राप्नोति, नीलशब्दो ह्यनीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थः, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे । न चैतौ व्यवच्छेदौ एकस्मिन् धर्मिणि सम्बद्धौ, भावाभावयो[2]स्तादात्म्यादिसम्बन्धासभवात् । नपि तौ शब्दौ[3] एकधर्मिविषयौ[2]; घटपटशब्दयोरिवाऽनयोः एकधर्मि[4]विपयत्वानभ्युपगमात् ।

किञ्च, नञेव पर्युदासवृत्तिः प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नायं नञ्, अतः कथमगोपर्युदासेन गोशब्दवृत्तिः[3] ? गौरयमिति विधिरूपेणैवास्य[4] प्रवर्त्तमानत्वात् । ततः सामान्यविशेषवानर्थः शब्दस्य विषयोऽभ्युपगन्तव्यः अल प्रतीत्यपलापेन । तस्य[5] च सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धेः नेत्थम्भूते[6] स्वलक्षणे सङ्केतकरणवैफल्यम्[5] । भवत्क[7]ल्पितस्य तु स्वलक्षणस्य सुगतमतपरीक्षायां प्रपञ्चत. प्रतिक्षिप्तत्वात्[8] तत्र[9] तत्करणं[10] विफलमेव । अतो यः 'सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी' इत्यादि[11] सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम् ।

सम्बन्धश्च वाच्यवाचकयोः ऊहाख्यप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बन्धप्रतीते-स्तद[12]धीनत्वात् । अतः 'अस्येदमभिधानमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययो· शब्दार्थयोर्न प्रतिभासः' इत्याद्य[13]प्ययुक्तमुक्तम्, सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयोः प्रतिनियतेन्द्रियविषयतोपपत्तेः, अत. कथ तयोः तत्कारिणि[14] ज्ञाने प्रतिभासाभावः ?

ननु चातीतानागतार्थशब्दानां 'नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति' इत्यादिशब्दानाञ्च अर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिप्रतीतेः कथमर्थे प्रतिबन्धसिद्धिस्तेषाम्[15][6] ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,

(१) "भिन्ननिमित्तयो शब्दयोरेकस्मिन्नधिकरणे वृत्ति सामानाधिकरण्यम्"–प्रमाणवा०स्ववृ० टी० १।६४ । तुलना–"यस्य चान्यापोह. शब्दार्थस्तेनानीलानुत्पलव्युदासौ कथ समानाधिकरणाविति वक्तव्यम् । यस्य पुनर्विधीयमान शब्दार्थस्तस्य जातिगुणविशिष्ट नीलोत्पलशब्दाभ्या द्रव्यमभिधीयते, जातिगुणौ द्रव्ये वर्तेते न पुनरनीलानुत्पलव्युदासौ, तस्मात् समानाधिकरणार्थो नास्तीति ।"–न्यायवा० पृ० ३३१ । न्यायम० पृ० ३०५ । "सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वादपोहयोः । अर्थतश्चैतदिष्येत कीदृश्याधेयता तयो ॥ न चासाधारण वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते । अगम्यमानमेकार्थ्यं शब्दयो क्वोपयुज्यते ॥"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११८–१९ । अनेकान्तजय० पृ० ४० । प्रमेयक० पृ० ४३६ । (२) धर्मी भावात्मक, अभावात्मकौ च अनीलानुत्पलव्यवच्छेदौ । (३) नीलमुत्पलमिति शब्दौ । (४) सामानाधिकरण्य हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तायो शब्दयो एकत्रार्थे वृत्ति –आ०टि० । (५) सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य । (६) सामान्यविशेषात्मके । (७) सौगतकल्पितस्य । (८) पृ० ३७९ । (९) क्षणिकस्वलक्षणे । (१०) सङ्केतकरणम् । (११) पृ० ५५२ प० ९ । (१२) ऊहाख्यप्रमाणायत्तत्वात् । (१३) पृ० ५५३ प० ४ । (१४) सङ्केतकारिणि । (१५) शब्दानाम् ।

1 जिज्ञासति व० । 2–विषयो घट–आ० । 3–शब्दप्रवृत्तिः व०, श्र० । 4–वास्य वर्त्त–आ० । 5 सकेतवैफ–श्र० । 6 प्रतिबन्धस्तेषा–श्र० ।

यतो न [1]वयं सर्वशब्दानामर्थ[2]नान्तरीयकत्वं प्रतिपन्नाः। किंतर्हि ? सुनिश्चिताप्तप्रणेतृकाणामेव । न च के[3]षाञ्चिच्छब्दानामर्थव्यभिचारित्वदर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्वं युक्तम्; मरीचिकादौ जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभासिनो[4]प्यस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । मरीचिकादौ जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्य बाधकसद्भावान्नेतरस्य इत्यन्यत्रापि समानम् । तन्न प्रत्यक्षशब्दयोः परमार्थविषयत्वे कश्चिद्विशेषः ।

अतो निराकृतमेतत्–'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यादि । नहि प्रतिभासभेदो विषयभेदं प्रसाधयति, [5]अभिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषा[6]त्तद्भेदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्नार्थोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत् । यथैव हि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभिन्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्वं तथा शाब्द-प्रत्यक्षप्रत्यययोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते । अतः अन्धस्य चक्षुष्मतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्तेः अयुक्तमुक्त[7]म्–'शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो नतु प्रत्यक्षमीक्षते ।' इति ।

यच्चान्यदुक्त[8]म्–'वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्यः' इत्यादि, तदप्यचारु; यतः सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिबिम्बे [9]अस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्य[10]त्वं स्यात् शब्दस्य च तज्जनकत्वाद् वाचकत्वम्, न च त[11]दस्ति, प्रागेवास्य प्रपञ्चतः प्रतिषेधात् । यदि च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्; तदा श्रोत्र[1]ज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि [12]शब्दः

(१) जैना । तुलना–"न हि वयं सर्वशब्दाना प्रामाण्यं प्रतिपद्येमहि किं तर्हि सुनिश्चिताप्तप्रणेतृकाणामेव । तन्न प्रामाण्य प्रति प्रत्यक्षशब्दयोर्विशेषमुपलभामहे ।"–न्यायावता० टी० पृ० ६ । (२) अर्थाविनाभावित्वम् । (३) अनाप्तप्रणेतृकाणाम् । (४) जलज्ञानस्य । (५) तुलना–"न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदात् विषयस्वभावाभेदाभाव, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थ पादपादौ उपनिबद्धदर्शनयो प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्या विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेद पादपस्य तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोः भेदेऽपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेद स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १२४ । "करणभेदेन प्रतिपत्त्योर्भेदात् । अन्धस्य हि शब्दाद्रूपविषय विज्ञानमुत्पद्यते न तु चाक्षुषमिति । यस्य चापरोक्ष चाक्षुष विज्ञानमस्ति असावनन्ध ।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८६ । "स्पष्टास्पष्टाकारतयाऽर्थप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदान्न विरुद्ध्यते दूरासन्नार्थोपनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत् ।"–प्रमेयक० पृ० ४४६ । सन्मति० टी० पृ० २५९ । स्या० र० पृ० ७१५ । (६) प्रतिभासभेदस्य । (७) पृ० ५५३ पं० १० । (८) पृ० ५५६ पं० १५ । (९) बुद्धिगतप्रतिबिम्बस्य । (१०) इयता कार्य वाच्यं कारण वाचकमिति सिद्धम्–आ० टि० । (११) बुद्धौ प्रतिबिम्बम् । (१२) शब्द निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य कारणम्, 'नाकारण विषय.' इत्यभ्युपगमात् । तुलना–"यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभाव स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमान शब्द स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्द कारणम् एव परम्परया स्वलक्षणमपि अतस्तदपि वाचकं स्यात् "–रत्नाकराव० ४।११ ।

1–ज्ञानप्रतिभा–श्र०, ब० ।

स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणम् अतस्तस्या[1]प्यसौ वाचकः[2] स्यात्। यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् एव पा[3]रम्पर्येण स्वलक्षणमपि, अ[4]तस्तदपि वाचकं स्यात्। अ[5]तः प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थाविलोपः स्यात्। ततो य[6]द्यत्र यथा निर्बाधबोधे प्रतिभासते तत्तत्र तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा अन्तःसुखमाह्लादनाकारतया, प्रतिभासते च अबाधे शा[7]ब्दे प्रत्यये सा[8]मान्यविशेषात्मकतया बहिर्घटादिकं वस्त्विति ॥ छ ॥

शब्दस्य सामान्यमात्रवाचकत्वमिति मीमासकस्य पूर्वपक्ष –

ननु सामान्यविशेषात्मकतया शब्दप्रत्यये बहिर्घटादिवस्तुनः प्रतिभासमानत्वमसिद्धम्, शब्दानां सामान्यमात्रगोचरचारितया तत्प्र[9]भवप्रत्ययस्य तन्मात्रवि[10]षयताया एवोपपत्तेः। सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां गोचरः, तस्य[11] क्वचित् प्रतिपन्नस्य एकरूपतया सर्वत्र[12] सङ्केतविषय-

(१) स्वप्रतिभासस्य–आ० टि०। (२) कारण यतो भवन्मतेन वाचकम्। (३) शब्दस्वलक्षणाच्छब्दग्राहिनिर्विकल्पक तस्माच्च सविकल्पकम्, अथवा स्वलक्षणान्निर्विकल्पक तस्माच्च सविकल्पकमिति। (४) स्वलक्षणमपि कारणत्वाद्वाचक स्यात्। (५) स्वलक्षणस्यावाचकत्वे प्रसक्ते। (६) शाब्दे बोधे सामान्यविशेषात्मकतयैव अर्थं प्रतिभाति तत्र तथैव निर्बाधबोधप्रतीतिविषयत्वात्। (७) तुलना–"अनेकमेकञ्च पदस्य वाच्यम्"–बृहत्स्व० श्लो० ४४। "अनेकमेकात्मकमेव वाच्य द्वयात्मक वाचकमप्यवश्यम्।"–अन्ययो० श्लो० १४। (८) "आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्"–जैमिनिसू० १।३।३३।–"तु शब्द पक्षान्तर व्यावर्त्तयति। आकृति शब्दार्थ"–शाबरभा० १।३।३३। आकृतिशब्देन जातिरेवाभिप्रेता मीमासकैः, तथाहि–"जातिमेवाकृतिं प्राहु व्यक्तिराक्रियते यया। सामान्य तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥३॥ तन्निमित्तञ्च यत्किञ्चित्सामान्य शब्दगोचरम् ॥४॥ सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा सोऽभिधीयताम् ॥१८॥ यद्येकमेव वस्त्वनेकाकार तर्हि तादृगेव शब्दोऽभिदधत् सामान्यमात्राभिधायी न स्यादत आह–न चेति। न च तत्तादृश कश्चिच्छब्द शक्नोति भाषितुम् ॥ ६३ ॥ सामान्याशानपोद्धृत्य पद सर्वं प्रवर्तते।"–मी० श्लो० आकृति० श्लो० ३-४, १८, ६३। "पूर्वं सामान्यविज्ञानात् चित्रबुद्धेरनुद्भवात्। गामानयेति वाक्याच्च यथारुचि परिग्रहात् ॥ गोशब्दोच्चारणे हि पूर्वमेवागृहीतासु व्यक्तिषु सामान्य प्रतीयते, तदाकारज्ञानोत्पत्ते पश्चाद् व्यक्तय प्रतीयन्ते, अतश्चाकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावाद् व्यक्तिप्रत्यये च पूर्वप्रतीतसामान्यनिमित्तत्वात् आकृति शब्दार्थ इति विज्ञायते। यदि च व्यक्तयोऽभिधेया भवेयुस्ततस्तासा चित्रखण्डमुण्डादिविशेषस्वरूपग्रहणाद्विचित्रा शब्दोच्चारणे बुद्धिः स्यात्। एकाकारा तु उत्पद्यते। तेनाप्याकृतिः शब्दार्थ इति निश्चीयते। गामानयेति चोदिते अर्थप्रकरणाभावे या काञ्चित् सामान्ययुक्ता व्यक्तिमानयति न सर्वां न विशिष्टाम्। यदि च व्यक्तेरभिधेयत्व ततः सर्वासा युगपदभिहितत्वादशेषानयन स्यात्। या वाऽभिधेया सैवैका आनीयेत, यतस्त्वविशेषण जातिमात्रयुक्ता आनीयते तेनापि सामान्यस्य पदार्थत्व विज्ञायते।"–तन्त्रवा० १।३।३३। "आनन्त्यव्यभिचाराभ्या शक्त्यनेकत्वदोषत। सन्देहाच्चरमज्ञानाच्चित्रबुद्धेरभावत ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतित। आकृतेः प्रथमज्ञानात्तस्या एवाभिधेयता ॥ व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता। लिङ्गसख्यादिसम्बन्ध सामानाधिकरण्यधी ॥ सर्वं समञ्जस ह्येतद्वस्त्वनेकान्तवादिन।" –शास्त्रदी० १।३।३५। "सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते तस्या सर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥"–वाक्यप० ३।३३। (९) शब्दप्रभव–आ० टि०। (१०) सामान्यस्य–आ० टि०। (११) व्यक्तिविशेषे। (१२) यावदनन्तास्वपि व्यक्तिषु।

1 शब्दप्रत्यये श्र०, ब०। 2–विषयतया ब०। 3 तस्य प्रति–आ०। 4–यतोपपद्यते ब०।

तोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाणां[1] तेषामानन्त्यतः[2] कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषय[3]तानुपपत्तेः। अथ यावतामुपलम्भः तावत्स्वेव सङ्केतक्रियोपगम्यते; तर्हि विशेषान्तरेषु सङ्केताऽसंभवात् शाब्दव्यवहारानुपपत्तिः। न चाऽयोगिनः प्रतिपत्तुः प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भः सकृत् क्रमेण वा संभवति, अयोगित्व[4]विरोधानुषङ्गात्। योगिनस्तु विवादापन्नत्वात्[5] तदुपलम्भो[6] दूरोत्सारित एव। न चानुपलब्धेषु तेषु[7] 'इदमस्य वाचकम्, इदञ्च वाच्यम्' इत्यभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणः सङ्केतः सभवति, तदसंभवे[8] च शब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः सिद्धः शाब्दव्यवहारोच्छेदः। ततस्तद्व्य[9]वहारमिच्छता सामान्यमात्रे सङ्केतोऽभ्युपगन्तव्यः अतस्तदेव[10] शब्दार्थः सिद्धः।

किञ्च, जातिमद्विशेषशब्दार्थवादिनां किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधत्ते, अनभिधाय वा? न तावदभिधाय; जातिलक्षण[4]विशेषणविशेषप्रतिपत्तावेव उपक्षीणशक्तिकत्वेनास्य विशेष्याप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्। उक्तञ्च[11]–

"विशेष्यं नाभिधा[12] गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।" [ ] इति।

नाप्यनभिधाय, विशेषमात्रप्रतिपादकत्वेन जातिमद्वाचकत्वाभावानुषङ्गात्। न च सामान्यमात्रस्य अभिधानैरभिधाने विशेषाणामनभिधानात् प्रयोजनार्थिनः शब्दात्प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति, प्रतिपन्नस्यापि ततः[13] तन्मात्रस्य[14] प्रयोजनाप्रसाधकत्वादित्यभिधातव्यम्, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या[15] विशेषाणामपि प्रतिपत्तिसंभवात्। प्रथमतो हि शब्दात्सा-

(१) शब्दविषया इति सम्बन्ध । (२) "न ह्यनन्तासु व्यक्तिषु सञ्जित्व शक्यतेऽवगन्तुम् ।"–शास्त्रदी० १।३।३५ । (३) सङ्केत–आ० टि० । (४) अशेषव्यक्त्युपलम्भे हि सर्वज्ञत्वमेव स्यादिति भाव । (५) मीमासको हि सर्वज्ञं न मनुते–आ० टि० । (६) तस्य व्यक्तीनामुपलम्भ । (७) विशेषेषु–आ० टि० । (८) अभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणसङ्केताभावे–आ० टि० । (९) शाब्दव्यवहार–आ० टि० । (१०) सामान्यमेव–आ० टि० । (११) उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० १९१ । काव्यप्र० पृ० ४४ । मुक्ताव० दिन० पृ० ३७३ । काव्यानु० प० २५ । "अभिधा पदशक्तिः, विशेष्य न गच्छेत् न प्राप्नोति । कुत इत्याशङ्कायामाह–क्षीणेति । क्षीणशक्तिर्विशेषण इत्यनन्तरं सदिति पूरणीयम् । तथा च यतो विशेषण प्राप्य पदशक्ति क्षीणशक्ति क्षीणसामर्थ्या भवत्यतो विशेष्य नाभिधा गच्छेत् न प्राप्नुयादिति पर्यवसितार्थ ।"–रामरु० पृ० ३७३ । (१२) "स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।"–काव्यप्र० पृ० ३९ । (१३) शब्दात्–आ० टि० । (१४) सामान्यमात्रस्य–आ० टि० । (१५) सामान्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या । "न ह्यनभिधाय गोत्वमुपलक्षण गोव्यक्तावेव प्रयोगव्यवस्था लभ्यते । तच्चेदभिहितं सिद्धमाकृतिशब्दार्थत्वमिति ।"–तन्त्रवा० १।३।३३। "न ह्यनभिधाय जातिं तज्जातीयत्वेन रूपेण व्यक्तिरभिधातु शक्यते । ततश्च विशिष्टाभिधानमेव वाचोयुक्त्यन्तरेणापन्नं न शुद्धाभिधानम् । विशिष्टाभिधाने च पूर्वतर विशेषणमभिधातव्यम् । तदभिधाने च तत एव अत्यन्ताविनाभूतव्यक्तिप्रतिपत्तिसिद्धे न तत्र अभिधानशक्तिकल्पनावसरः ।"–शास्त्रदी० १।३।३५ ।

1 सह क्रमेण व० । 2–च्यमभिधा–श्र० । 3 शब्दार्थः प्रसिद्ध श्र० । 4–लक्षणप्रतिप–व० । –लक्षणविशेषणप्र–श्र० । 5–रभिधानं वि–व० ।

मान्यमात्र प्रतीयते, पश्चात्तदन्यथानुपपत्त्या पिण्डविशेषो लक्षणया[1] प्रतीयते निराधारस्य सामान्यस्य अश्वविषाणवदसंभवात्। उक्तञ्च[2]-

"[2]अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।" [तन्त्रवा० १।४।२३] इति।

[3]तल्लक्षितगोपिण्डादिविशेषप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या तु वाहदोहादिप्रयोजनविशेषप्रतीति लक्षित[4]लक्षणेति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[5]-सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां गोचर इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; सङ्केतानुसारेण शब्दस्य वाचकत्वोपपत्तेः। सङ्केतश्चास्य तद्वत्येव[6] प्रतिपन्नो[3] न पुनः सामान्यमात्रे[7], प्रवृत्त्याद्यगोचरतया वाह[8]दोहाद्यर्थक्रियाकारित्वविकलतया च केवलेऽस्मिन् शब्दव्यवहारासंभवतः सङ्केतप्रतिपत्तेर्निष्फलत्वात्। 'एवंविधाद्धि शब्दादेवंविधोऽर्थः त्वया प्रतिपत्तव्यः, एवञ्जातीय के चार्थे शब्दोऽप्येवञ्जातीयकः प्रयोक्तव्यः' इति सदृशपरिणामापन्नयोरेव वाच्यवाचकयोः सङ्केतयित्रा सङ्केतं प्रतिपाद्यो ग्राहितः।

तन्निरसनपुरस्सर शब्दस्य वस्तुभूतसामान्यविशेषात्मकार्थवाचकत्वसमर्थनम्-

यदपि 'विशेषाणामभिधेयत्वे आनन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया' इत्याद्युक्तम्[9], तदप्यसाम्प्रतम्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सदृशपरिणामापन्नानां वाच्यवाचकव्यक्तीनामानन्त्येऽपि ऊहज्ञानेन कार्त्स्न्यतः प्रतिपत्तुं शक्यत्वात्। एतच्च शब्दार्थयो-

(१) "आह च-तेन तल्लक्षितव्यक्तेः क्रियासम्बन्धचोदना। जातिव्यक्त्योरभेदो वा वाक्यार्थेषु विवक्षितः।"-शास्त्रदी० १।३।३५। "लक्षणाया स्वरूपम्-"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥"-काव्यप्र० पृ० ४०। सा० द० १।९। "वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः। तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते॥"-प्रक० वाक्यार्थ० पृ० १३। (२) "अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते"-तन्त्रवा० १।४।२३। उद्धृतोऽयम्-'अभिधेयाविना'-काव्यप्र० पृ० ५०। 'प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते'-तौता० पृ० २०४। पदार्थदी० पृ० ३१। (३) सामान्यलक्षित। (४) "यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते तत्र लक्षितलक्षणा।"-मुक्ता० पृ० ३८९। (५) पृ० ५६६ प० ७। (६) सामान्यवति विशेषे-आ० टि०। (७) "जातिमात्रे हि सङ्केताद् व्यक्तेर्भान सुदुष्करम्।"-शब्दश० का० १९। (८) तुलना-"तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या। नहि जातिर्वाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता। न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः। न जातिर्वाहदोहादिकं कर्तुं समर्था। ततश्च वाहदोहार्थिनो जातिचोदना निष्फलेति न तदर्थ शब्दप्रयोगः। यापि स्वप्रतिपत्तिलक्षणाऽर्थक्रिया जातेरुपवर्ण्यते, न तदर्थम्पुरुषः प्रवर्तते शब्दप्रयोगादेव तस्या सिद्धत्वात्। जातिमात्रप्रतिपत्त्यर्थं शब्दप्रयोगो भविष्यतीति चेदत आह-नवेत्यादि। तादृशमिति वाहदोहादिप्रकरणं निष्फलस्य शब्दप्रयोगस्योपेक्षणीयत्वादित्युक्तत्वात्। जातौ च वाच्यायां सत्यां गामानयेत्यत्र वाक्ये न वाक्यार्थप्रतीतिः स्यात् गोत्वस्य क्रियात्वेऽन्वयाभावात्।"-प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।९५। "न खलु सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं तत्प्रतिपत्ते अर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात्। न हि गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते।"-अष्टश०, अष्टसह० पृ० १३९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०२। (९) पृ० ५६७ प० १।

1 लक्षणाया श्र०। 2 तदुक्तम् ब०, श्र०। 3 प्रतिपन्ने न ब०।

र्नित्यसम्बन्धनिषेधे[१] अपोहप्रतिषेधे च[२] प्रपञ्चितमित्यु[1]परम्यते । तथा च 'न चायोगिनः प्रतिपत्तुः प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भः सकृत् क्रमेण वा संभवति' इत्यादि[३] प्रत्युक्तम्; अयोगिनोपि अशेषविशेषाणामुक्त[४]विधिनोपलम्भसंभवप्रतिपादनात् ।

यदप्युक्तम्[५]–'किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधत्ते' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्; जातितद्वतोर्युगपदेव[६] एकत्र ज्ञाने प्रतिभाससम्भवात् । नचैकज्ञानविषयत्वे विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमो न स्याद्, विपर्ययो वा स्यात्-विशेषणस्यापि विशेष्यरूपतानुषङ्गादित्यभिधातव्यम्, दण्डपुरुषयोर्युगपदेकत्रापि ज्ञाने प्रतिभासमानयोः विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियम[७]प्रतीतेः । तत्प्रतिभासा[८]विशेषेऽपि हि येन विशिष्टं यत् प्रतीयते तद्विशेषणम् इतरद् विशेष्यम् । न खलु दण्डादेः पुरुषे विशिष्ट[९]प्रतीतिजननादन्यद् विशेषणत्वं सभवति । यथा च चाक्षुषे ज्ञाने दण्डपुरुषयोः विशेषणविशेष्यभावापन्नयोर्युगपत्प्रतिभासमानत्वात् तत्प्रतिनियमाविरोधः तथा दण्डीतिशब्देऽपि । नह्यत्र[१०] दण्डमात्रं पुरुषमात्रं वा प्रतिभासते, विशेषणविशेष्यभावापन्नस्य युगपदुभयस्य[2] प्रतिपादनात् । अतो दण्डिशब्दात् दण्डविशिष्टः पुरुषो यथा प्रतिभासते तथा गोशब्दात् गोत्वविशिष्टः पिण्डः इति प्रतिपत्तव्यम् । अथ[११] गोशब्दश्रवणात् शाबलेयादिविशेषाऽप्रतीतेर्न विशेषः शब्दार्थः; तन्न; तद्विशेषा[१२]प्रतीतावपि सामान्ययुक्तः ककुदादिमान् विशेषो गोशब्दात् प्रतीयत एव शा[3]बलेयादिविशेषास्तु तद्युक्ताः[१३] शाबलेयादिशब्देभ्यः प्रतीयन्ते । नचैतावता सामान्यमेव शब्दार्थो युक्तः, प्रधानोपसर्जन[१४]भावेन उभयोः प्रतिभासनात् । 'गामानय' इत्यादि-

(१) पृ० ५५० पं० ११ । (२) पृ० ५६४ प० । १४ (३) पृ० ५६७ पं० ३ । (४) उक्तविधिना उक्तप्रमाणेन (ऊहाख्येन) –आ० टि० । (५) पृ० ५६७ प० ९ । (६) तुलना–"प्रत्यक्षे तावद् द्वयोरपि विशेषणविशेष्ययोरिन्द्रियविषयत्व सामान्ये हि सयुक्तसमवायादिन्द्रिय प्रवर्तमान विशेषणवद्विशेष्यमपि विषयीकरोति । न हि सामान्य प्रत्यक्ष विशेषोऽनुमेय इति व्यवहारः । एव गुणत्वग्राहिणीन्द्रिये गुणिनोऽनुमेयत्व स्यात्, नचैवमस्ति । तस्माद् विशेषपर्यन्त प्रत्यक्ष तथा पदमपि तत्तुल्यविषय न तु सामान्यमात्रनिष्ठमिति युक्तम् · यथा विध्यन्तपर्यन्तो वाक्यव्यापार इष्यते । तथैव व्यक्तिपर्यन्त पदव्यापार इष्यताम् ।"–न्यायमं० पृ० ३२४–२५ । (७) दण्ड एव विशेषण पुरुष एव च विशेष्यमिति । (८) एकत्र ज्ञाने प्रतिभासमानेऽपि । (९) दण्डयुक्तोऽयमिति । (१०) शाब्दे ज्ञाने । (११) तुलना–"अथ गोशब्दश्रवणाच्छाबलेयादिविशेषाप्रतिपत्तेर्न विशेष शब्दार्थ , सत्यम्, किं तर्हि ? सामान्ययुक्तोऽर्थ प्रतीयते न शाबलेयादिविशेष , स च शाबलेयादिशब्देभ्य एव प्रतीयत इति, न चैतावता सामान्यमेव शब्दार्थ , प्रधानोपसर्जनभावेनोभयोः प्रतिभासनात् । तथा गामानयेत्यादिप्रयोगेषु सामान्यवतोऽर्थस्य आनयनादिकृत्या सम्बन्धात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० १९२ । (१२) शाबलेयादिरूपस्य विशेषस्य अप्रतिभासनेऽपि । (१३) गोत्वविशिष्टा । (१४) तुलना–"व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ । तुशब्दो विशेषणार्थ किं विशिष्यते । प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति । यदा हि भेदविवक्षा विशेषावगतिश्च तदा व्यक्तिः प्रधानम् अङ्ग तु जात्याकृती, यदा तु भेदोऽविवक्षित सामान्यगतिश्च तदा जाति प्रधानम् अङ्ग तु व्यक्त्याकृती । तदेतद् बहुल प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षितव्य ।"–न्यायभा० २।२ ६७ । न्यायवा० पृ० ३२९ । न्यायम० पृ० ३२५ ।

1–मित्युच्यते ब० । 2 युगपत्तदुभयस्य ब०, श्र० । 3 अशाबले–श्र० ।

प्रयोगेषु[1] सामान्यवतोऽर्थस्य आनयनादिक्रियाभिसम्बन्धप्रतीतेश्च तद्वानेव[2] शब्दार्थः ।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'*विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्*'[1] इत्यादि, तदप्यपेशलम्, 'विशेषणं प्राक् प्रतिपाद्य पुनर्विशेष्यं शब्दः प्रतिपादयति' इति विरम्य[4] व्यापारानभ्युपगमात्, युगपदेवास्य[5] विशेषणविशेष्यप्रतिपादनव्यापारप्रदर्शनात् । क्षीणशक्तित्वञ्चास्या[6]ऽनुपपन्नम्, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात्, विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणं हि कार्यमुपलभ्यमानं तत्रा[7]स्य[8] शक्तिमनुमापयति । भिन्नज्ञानालम्बनयोश्च विशेषणविशेष्यत्वे इदं चोद्यं स्यात्, न त्वेकज्ञानालम्बनयोः । भवतो[9]ऽपि चैतच्चोद्यं समानम्–उपलब्धस्य हि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वं स्यात्, अतः स्वात्मप्रतिपत्तावेवास्य[10] क्षीणशक्तित्वात् सामान्यलक्षणाऽर्थप्रतिपादकमपि न स्यादिति लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् ।

अथ सामान्यप्रतिपत्तेर्दृष्टत्वान्न तत्रा[11]स्य शक्तेः प्रक्षयः, तर्हि विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तेरप्यतो[12] दृष्टत्वात् कथं तत्राप्यस्य[13] तत्प्र[14]क्षयः स्यात् ।

यदप्यभिहितम्[15]–'तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतो[16] यदि शब्दात्[2]सामान्यमेव प्रतीयते तर्हि व्यक्तेः किमायातं येन तां[17] लक्षयति ? अथ

(१) तुलना–"अन्येषु तु प्रयोगेषु गां देहीत्येवमादिषु । तद्वतोऽर्थक्रियायोगात्तस्यैवाहुः पदार्थताम् ॥"–न्यायम० पृ० ३२३ । (२) सामान्यविशेषवान्–आ० टि० । (३) पृ० ५६७ पं० १२ । (४) तुलना–"प्रथमं जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तरं विशेषमवबोधन्ति, किं वाऽन्तर्भावितविशेषामेव जातिम् ? नाद्यः, पदवुद्ध्योः विरम्य व्यापाराभावात् ।"–चित्सु० पृ० २६३ । "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति वादिभिरेव ।"–सा० द० परि० ५ । (५) शब्दस्य । (६) शब्दस्य । तुलना–"ननूक्तं क्षीणशक्तिर्विशेषणेति विशेष्यं नाभिदध्यात् इति, तावच्छक्ते कार्यविषयत्वात् । कार्यञ्च विशेषणप्रतिपत्तिवत् विशेष्यप्रतिपत्तिलक्षणमुपलभ्यमानं शक्तेर्व्यवस्थापकम् । अथ कार्यस्यैवाभावं ब्रूयात्, स चैवं ब्रुवाणः स्वसंवेदनमपि बाधते, विशेष्यप्रतिपत्तेः संवेदनात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० १९२ । (७) विशेषणविशेष्योभयप्रतिपत्तौ । (८) शब्दस्य । (९) मीमांसकस्यापि । तुलना–"समानञ्चैतद् उपलभ्यमानस्य शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, स्वात्मप्रतिपत्तौ च क्षीणत्वात् सामान्यप्रतिपादकत्वं न स्यात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० १९२ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यप्रतिपत्तौ शब्दस्य । (१२) शब्दात् । (१३) शब्दस्य । (१४) शक्तिप्रक्षयः । (१५) पृ० ५६७ पं० १६ । (१६) तुलना–"व्यक्तेरशक्यचोदनत्वात् लक्षितलक्षणया जातिरुच्यते इति चेत्, अशब्दचोदिते सम्बन्धे सत्यपि कथं प्रवर्तेत ? न हि कश्चित् दण्डं छिन्धीत्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति । लक्षितलक्षणेत्यादि परः । सत्यं न सामान्यमर्थक्रियाकारि किन्तु व्यक्तिरेव, केवलं व्यक्तेरशक्यचोदनत्वात् कारणात् सामान्ये नियुक्तः शब्दः सामान्यं लक्षयति । तेन सामान्येन शब्दलक्षितेन सम्बन्धाद् व्यक्तिरपि लक्ष्यत इति, न हि गोशब्दादुच्चरिताद् गोत्वं प्रतीयते अपि तु गौरेवावसीयते । न नामैवं तथाप्युच्यते । अशब्दचोदितेत्यादि । यदि नाम जातितद्वतोस्सम्बन्धः तथापि अशब्दचोदिते व्यक्तिविशेषे कथं प्रवर्तते ? नैव । दण्डदण्डिनोस्सत्यपि सम्बन्धे न हि कश्चित्प्रेक्षापूर्वकारी दण्डं छिन्धि इत्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति अशब्दचोदितत्वात् । तथा जातौ चोदितायां व्यक्तौ प्रवृत्तिर्न युक्तेत्यर्थः ।"–प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।९५ । "लक्षितलक्षणया वृत्तिरतादात्म्ये न भवेत् सम्बन्धान्तरासिद्धेः कार्मुकादिवत् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १३९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०२ । "किञ्च यदि नाम शब्दाज्जातिं प्रतिपन्ना व्यक्तेः किमायातं येनासौ तां गमयति ।"–प्रमेयक० पृ० ४१२ । (१७) सामान्यं तां व्यक्तिम् ।

1 गच्छेदिति तदप्य–आ० । 2 शब्दसामा–ब० ।

व्यक्त्या सह तस्य[1] सम्बन्धसद्भावात् ततस्[2]तत्प्रतीयमानं तां लक्षयति; कः पुनस्तस्या[3]-स्तेन सम्बन्धो नाम–संयोगः, समवायः, तदुत्पत्तिः, तादात्म्यं वा ? न तावत्संयोगः, [4]अद्रव्यत्वात् । नापि समवायः, [5]अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तदुत्पत्तिरपि अत[6] एवानुपपन्ना । तादात्म्याभ्युपगमे तु सामान्य[1]विशेषयोः ता[2]दात्म्यापन्नयोः एकस्मादेव गवादिशब्दात् विशेषणविशेष्यरूपतया प्रतीयमानयोः कथमेकस्यैव शब्दार्थत्वं वक्तुं युक्तम्, अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् ?

किञ्च, [7]अनयोस्तल्लक्षणः सम्बन्धः शब्दप्रयोगकाल एव प्रतिपन्नः, पूर्वं वा ? न तावत्तत्काल एव; व्यक्तेः शब्दोच्चारणकालेऽप्रतीतेः, प्रतीतौ वा किं लक्षणया ? तत्काले[8] [9]तत्प्रतीतिश्च किं प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, शब्दादेव वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षतः; देशकालस्वभावविप्रकृष्टायाः व्यक्तेः इन्द्रियसम्बन्धाभावतस्तत्[10]प्रभवप्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यत्वात् । नाप्यनुमानतः; तत्प्रतिबद्धलिङ्गाऽदर्शनात् । शब्दादेव तत्[11]प्रतीतौ तु सिद्धं व्यक्तेरपि शब्दार्थत्वम्[12] । अथ पूर्वं जातिव्यक्त्योस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः प्रतिपन्नः, यदि नाम तदा[13] तयोरसौ दृष्टो नैता[3]वता सर्वत्र सर्वदा तयोस्तेन[14] भाव्यम्, अन्यथा पटस्य शुक्लरूपेण क्व[4]चित् कदाचित्तादात्म्यदर्शनात् सर्वत्र स[5]र्वदा तथा[15]भावः स्यात् ।

अथ जातेरिदमेव स्वरूपं यद् व्यक्तिनिष्ठता; ननु किं सर्वसर्वगतायास्तस्यास्तद्रूपं स्यात्, व्यक्तिसर्वगताया वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; व्यक्त्यन्तराले त[6]द्भाव[16]प्रसङ्गात् तत्र[17] तद्रूप[18]स्या[7]संभवात्[8] । व्यक्तिसर्वगतायास्तु तस्याः[19] तद्रूपोपगमे[20] व्यक्तिवज्जातेरप्यनेकत्वप्रसिद्धेः उभयोरविशेषतः शब्दार्थत्वं स्यात्, न वा कस्यचित् । अस्तु वा अविचारितस्वरूपायास्तस्या[21]स्तन्निष्ठ[22]स्वभावता; तथाप्यसौ[23] 'सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठा' इति प्रत्यक्षतः प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्; किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः;

(१) सामान्यस्य । (२) शब्दात् । (३) व्यक्ते । (४) द्रव्ययोरेव संयोगात्, सयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । (५) न हि मीमासका समवायं स्वीकुर्वन्ति । (६) अपसिद्धान्तप्रसङ्गादेव, नहि शब्दार्थयो. परस्परमुत्पाद्योत्पादकभाव । (७) सामान्यव्यक्त्यो । तुलना–"सम्बन्धस्तयोस्तदा प्रतीयते पूर्वं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४१२ । (८) शब्दोच्चारणसमये । (९) तादात्म्यलक्षणसम्बन्धप्रतीति । (१०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न । (११) सामान्यव्यक्त्योस्तादात्म्यस्य प्रतीतौ । (१२) न हि व्यक्त्यनधिगतावपि तन्निष्ठ सम्बन्धो ग्रहीतुं शक्य इति । (१३) पूर्वम् । (१४) सम्बन्धेन । (१५) शुक्लतादात्म्यम् । (१६) जाते यद् व्यक्तिनिष्ठताख्य स्वरूपमुक्तं तस्य अभावप्रसगात् । (१७) व्यक्त्यन्तराले । (१८) व्यक्तिनिष्ठताख्यस्य स्वरूपस्य असभाव्यमानत्वात् । व्यक्त्यभावे हि न व्यक्तिनिष्ठताख्य स्वरूपं सिद्धचति, अतश्च स्वरूपाभावात् स्वरूपवत्त सामान्यस्याप्यभाव । (१९) जाते । (२०) व्यक्तिनिष्ठताख्यस्वरूपस्वीकारे । (२१) जाते । (२२) व्यक्तिनिष्ठ । (२३) जाति –आ० टि० । तुलना–"किञ्च, सर्वदा जातिर्व्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयते अनुमानेन वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४१२ ।

1–विषयोस्ता–आ० । 2 तादात्म्यापन्नविशेषयोः श्र० । 3–तावता सर्वदा श्र० । 4 क्वचित्कतादा–आ० । 5 सर्वदा भाव ब० । 6 तद्भावप्र–आ०, श्र० । 7–स्य सभवात् श्र० । 8–संभवन् आ० ।

निखिलव्यक्तीनां युगपदप्रतिपत्तौ जातेस्तन्निष्ठतया युगपत्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। द्वितीयपक्षे तु निरवधे[1]र्व्यक्तिपरम्पराया युगसहस्रेणापि क्रमेण प्रतिपत्त्यभावतः त[2]स्यास्तन्निष्ठतावसायसंभवोऽतीव दुर्घट । तन्न प्रत्यक्षतः तस्यास्तन्निष्ठताधिगमो युक्तः। नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षपूर्वकत्वेनास्य [3]भवताऽभ्युपगमतस्तद[4]भावे तस्या[5]पि त[6]त्राऽप्रवृत्तेः, तस्या[7]स्तन्निष्ठतयाऽविनाभाविलिङ्गासम्भवा[8]च्च। ततः शब्दस्य सामान्यवाचकत्वे व्यक्तिवाचकत्वानुपपत्तिरेव।

किञ्च, सामान्ये सङ्केतितः शब्दः तदभिधत्ते, असङ्केतितो वा ? न तावदसङ्केतितः; अतिप्रसङ्गात्। अथ सङ्केतितः, किं प्रतिपन्ने सामान्ये तत्सङ्केत· स्यात्, अप्रतिपन्ने वा ? यद्यप्रतिपन्ने, अतिप्रसङ्गः। अथ प्रतिपन्ने, कुतस्तत्प्रतिपत्ति ? न तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्; नित्यादिस्वभावसामान्यग्राहकत्वेन [9]अनयोः सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्। शब्दैकप्रामाणसमधिगम्यत्वे तु अनवस्थेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः। तथाहि–यदि य एव शब्दः सामान्ये सङ्केत्यते तत एव तत्प्रतिपत्तिः, तदा इतरेतराश्रयः–प्रतिपन्ने हि सामान्ये तत्रास्य[10] सङ्केतसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत. सामान्यप्रतिपत्तिरिति। शब्दान्तरा[1]त्तु [11]तत्सिद्धौ अनवस्था, तस्यापि हि शब्दान्तरस्य प्रतिपन्ने सामान्ये सङ्केतो भविष्यति, तत्प्रतिपत्तिश्च अन्यस्माच्छब्दान्तरादिति। यदि च शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते, तदा शाब्दमप्रमाणमेव स्याद् गृहीतग्राहित्वात्, शब्दार्थयोः सम्बन्धग्राहिणैव हि प्र[12]माणेन सा[13]मान्यं गृहीतमिति।

किञ्च, शब्दान्निर्विशिष्ट सामान्यं प्रतीयमान पुरुषं प्रवर्त्तयति, विशिष्टं वा ? न तावन्निर्विशिष्टम्, अतिप्रसङ्गात्। अथ विशिष्टम, किङ्कृतम[14]स्य वैशिष्ट्यम्–विशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतम्, तत्रै[15]व तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अस्येदमिति प्रतीतिकृत वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, त[16]स्य स्वकीयसकलव्यक्तिभिः सह तादात्म्यसद्भावतो विशिष्टव्यक्तावेव तादात्म्यानुपपत्तेः। अथ स्वकीयाखिलविशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतमेव अस्य वैशिष्ट्यमुच्यते, नन्वेव सर्वत्र तद्व्यक्तौ पुरुषस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् प्रतिनियतद्व्यक्तौ प्रवृत्त्यभाव· स्यात्। न च गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ क्वापि व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते, त[17]स्याः सर्वथाऽप्रति[18]पन्नत्वात्। [19]यस्मिन् प्रतीयमाने यत् सर्वथा न प्रतीयते न तत्प्रतीतितस्तत्र प्रवृत्तिः यथा जलप्रतीतितोऽनले, गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ न प्रतीयन्ते च खण्डादयो व्यक्तिविशेषा इति।

(१) अनन्ताया। (२) जाते। (३) मीमासकादिना। (४) प्रत्यक्षाभावे। (५) अनुमानस्यापि। (६) जातेर्व्यक्तिनिष्ठत्वबोधने। (७) जाते। (८) प्रत्यक्षानुमानयो। (९) पृ० २८५। (१०) शब्दस्य। (११) सामान्यसिद्धौ। (१२) भूयोदर्शनादिना। (१३) यदेव हि शब्दार्थसम्बन्धग्रहणकाले सामान्यं गृहीत तदेव शब्दोच्चारणकालेऽपि–आ० टि०। (१४) सामान्यस्य। (१५) विशिष्टव्यक्तावेव। (१६) सामान्यस्य। (१७) व्यक्ते–आ० टि०। (१८) गोत्वसामान्यमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्–आ० टि०। (१९) शब्दाद् गोत्वप्रतीतावपि न शावलेयादिषु प्रवृत्ति तत्प्रतीतावपि तेषा सर्वथाऽप्रतिपन्नत्वात्।

1–वात् तत ब०। 2–रात्तसिद्धौ आ०।

अथ गोशब्दाद् गोत्वं प्रतीयमानं गोव्यक्तिसम्बद्धमेव प्रतीयते; कथमेवं सामान्यमेव शब्दार्थः स्यात् ? विशेषणविशेष्यभावापन्नयोः सामान्यविशेषयोः तत[१]: प्रतीतेः । ननु गोशब्दात्साक्षाद् गोत्वमेव [1]प्रतीयते, व्यक्तिस्तु तदन्यथानुपपत्त्यैव प्रतीयते इति, तदप्यसुन्दरम्; एवं जातेरेव शब्दार्थत्वमायातं व्यक्तेस्तु प्र[२]माणान्तरगम्यता, तथा च शब्दस्य लक्ष[३]णया विशेषप्रतिपादकत्वं दुर्घटम् । अथ शब्दस्यैव अयमान्तरो व्यापारः यत् सामान्यं प्रतिपाद्य तत्प्र[४]तिपत्तिस[2]हकारी व्यक्तिमपि गमयति लक्षणयेति; त[3]दसाम्प्रतम्; यतो यत्रैव सम्ब[५]न्धस्मरणसहकारी शब्दः प्रवर्त्तते स एव तस्यार्थो न पुनस्तदर्थाविनाभावित्वेन यद्यत्प्रमाणा[६]न्तरतः प्रतीयते तत्तत्सर्वं शब्दोदरे प्र[4]क्षेप्तव्यम्, अन्यथा प्रत्यक्षसिद्धधूमान्यथानुपपत्त्या सिद्धो वह्निः प्रत्यक्षसिद्ध एव स्यात् । तन्न विशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतमस्य[७] वैशिष्ट्यं घटते ।

नापि त[5]त्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात् । तथाहि–सामान्यस्य विशिष्टत्वसिद्धौ सत्यां विशिष्टविशेषेष्वेव प्रवृत्तिहे[6]तुत्वसिद्धिः, त[7]स्याञ्च सत्यां सामान्यस्य विशिष्टत्वसिद्धिरिति ।

तृतीयप[८]क्षे तु चक्रकमासज्यते–सिद्धे हि सामान्यस्य वैशिष्ट्ये विशिष्टविशेषेषु प्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तस्यां सत्याम् 'अस्येदम्' इति प्रतीतिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तस्य वैशिष्ट्यसिद्धिरिति । ततः प्रमाणतो वस्तुव्यवस्थामिच्छता यद् यथा यतः प्रतिभासते तत् तस्य सदृशेतररूपतया विषयोऽभ्युपगन्तव्यम् यथा चक्षुरादिप्रत्ययस्य नीलादिरूपतया प्रतिभासमानं रूपादि, गवादिशब्दात् प्रतिभासते च गवादिकं वस्तु, तस्मात्तदेव तच्छब्दानां विषयः, न पुन. सामान्यमात्रमिति ॥छ॥

एतेन विधिरेव वाक्यार्थः इति विधिवादिम[8]तमप्यपास्तम् । ते हि ब्रुवते–विधिरेव वाक्यार्थः अप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वभावत्वात्तस्य[९] । त[१०]दुक्तम्–"[9]विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्त्तनम्[११] ।" [ ] इति । तल्लक्षणे च विधौ वादिनां विप्रतिपत्तिः; तथाहि–वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्त्तकत्वाद्

विधिवादे विविधपूर्वपक्षाः –

(१) शब्दात् । (२) अर्थापत्ति–आ० टि० । (३) शब्देन हि सामान्यं गृहीत विशेषस्त्वर्थापत्त्या, किं लक्षणया ?–आ० टि० । (४) सामान्यप्रतिपत्ति । (५) सङ्केतस्मरण । (६) अर्थापत्तेरनुमानाद्वा । (७) सामान्यस्य । (८) 'अस्येदमिति प्रतीतिकृतं वा' इति तृतीये विकल्पे । (९) विधे । (१०) "अनुष्ठेये हि विषये विधि पुसा प्रवर्त्तक ।"–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० २७४ । "तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि ।"–अर्थसं० पृ० २९ । "प्रवर्तकचिकीर्षाया हेतुधीविषयो विधि ।" –शब्दश० का० १०१ । "यो हि विध्यर्थेन लिङा लोटा कृत्यैर्वाऽपूर्वोपदेश. क्रियते स विधि ।"–युक्तिदी० पृ० २० । (११) "ननु चाहु. विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् । अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं विधि ॥"–न्यायमं० पृ० ३४० ।

1 प्रतीयत एव व्य–श्र० । 2–सहकारि व्य–ब०, श्र० । 3 तदप्यसा–श्र०, ब० । 4 प्रतिक्षेप्तव्यम् ब०, श्र० । 5 तत्रैव प्रवृ–ब०, श्र० । 6–हेतुत्वसिद्धिरिति तृतीय–ब० । 7 तस्याञ्च सत्यां तत्रैव तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिरिति आ० । 8–मतमपास्तम् ब० । 9 विधिर्लक्ष–ब० ।

विधिरित्येके। तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिरित्यन्ये[1]। नियोगरित्यपरे[2]। प्रैषादयः इत्येके। तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रम्[3] इत्यन्ये। प्रवर्त्तकत्वात् फलमेव इत्यपरे। फलाभिलाष एव इत्येके। कर्मैव इत्यन्ये। आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धावगम इत्यपरे। श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मः इत्येके। उपदेशः इत्यन्ये। कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिरेव इत्यपरे। प्रतिभैव इत्येके। भक्तिरेव इत्यन्ये। इच्छैव इत्यपरे। प्रयत्न एव इत्येके इति।

तत्र शब्दविधिवादिनो ब्रुवते–अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवर्त्तकत्वमवधार्यते[4], तौ च अनन्यथासिद्धौ शब्दस्यैव प्रवर्त्तकत्वमवगमयतः, अतः स एव विधिः। अर्थस्य विधित्वे "क्रियायाः[5] प्रवर्त्तक वचनम्" [शाबरभा० १।१।२] इति विरुध्यते। प्रवर्त्तकार्थ-प्रतिपादनद्वारेण वचनस्य प्रवर्त्तकत्वे च औपचारिक प्रवर्त्तकत्वमस्य स्यात्, मुख्यञ्च वस्तु-वृत्त्या तत्रै तद्व्यवस्थितम् इत्यर्थनिरपेक्षमेवास्य[6] तत्प्रतिपत्तव्यम्। व्यापारातिशयप्रवर्त्त-कत्वपक्षेऽपि[6] न शब्दस्य मुख्यप्रवर्त्तकत्वक्षतिः, व्यापारातिशयसमाश्रयणेनैव सर्वस्य साध्यवस्तुसम्पादकत्वात्[7]। न खलु काष्ठादीनां ज्वालाद्यवान्तरव्यपारावलम्बनेऽपि पाके मुख्यं कारकत्वाभिधानं विरुध्यते। प्रवर्त्तकत्वञ्च यद्यपि सामान्येन शब्दस्योच्यते तथापि लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययान्तस्यैव[8] तद् युक्तं शब्दान्तराणां प्रवृत्तिहेतुत्वाऽदृष्टेः।

अत्रान्ये[11] शब्दस्य विधित्वमसहमानाः 'प्रमाणत्वात्, अनियमात्प्रवृत्तेः, सविदा-श्रयणात्'[12] इत्यादियुक्तिविरोधं दर्शयन्ति। तथाहि–प्रमाणत्वं[13] तावत् प्रवर्त्तकाऽर्थाऽवबोध-

(१) भाट्टा। (२) प्राभाकरा। (३) परित्यक्तपुरुषादिविशेष–आ० टि०। (४) शब्दस्य। (५) शब्दे। (६) प्रवर्त्तकत्वम्। (७) शब्दस्य। (८) प्रवर्त्तकत्वम्। (९) पचमी –आ० टि०। पञ्चमो लकार इत्यर्थ। (१०) लोट् सप्तमी–आ० टि०। सप्तमो लकार इत्यर्थ। (११) मण्डनमिश्रादय। (१२) "प्रमाणत्वादनियमात्प्रवृत्ते सविदाश्रयात्। समभिव्याहृते शब्दो न विधि कार्यकल्पनात्।।"–विधिवि० पृ० ५। "तत्र शब्द स्वरूपेण वायुवच्चेत्प्रवर्त्तक। प्रमाणत्व विहन्येत नियमाच्च प्रवर्तयेत्।।"–न्यायसु० पृ० २६। (१३) "प्रमाण हि शब्द प्रतिज्ञायते, बोधकञ्च प्रमाणम्, तत्र प्रवृत्तिहेतु कञ्चनार्थातिशयमवगमयन् शब्दश्चोदनात्वेन प्रमाणतामश्नुते, स्वयमेव तु प्रवृत्त कारकस्ता प्रमाणतामपजह्यात्। न हि कारको हेतु प्रमाणमपि तु ज्ञापक।–प्रमाण हि शब्द प्रतिज्ञायते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति। बोधकञ्च प्रमाणम् अबाधितानधिगतासन्दिग्धा-र्थप्रमाजनकम्। ''स्वयमेव तु प्रवृत्तेरप्रमाया कारक ता प्रमाणतामप्रजह्यात्। नन्वप्रमाया अपि प्रवृत्ते कारक कस्मान्न प्रमाणमत आह–नहि कारको हेतु प्रमाणम्। माभूद् बीजादीनामङ्कुरादिका-रकाणा प्रामाण्यम्। किं तर्हि प्रमाणमित्याह–अपि तु ज्ञापक, इन्द्रियादौ तथा भावात्।"–विधिवि०,टी० पृ० ५।"अत एव शब्दोपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तक. वाय्वादितुल्यत्वप्रसङ्गात्। यदि पवन इव पिशाच इव कुनृप इव शब्द प्रवर्त्तको भवेत् अनवगतशब्दार्थसम्बन्धोऽपि श्रवणपरवश प्रवर्त्तेत, न चैवमस्ति। तस्मादर्थप्रतीतिमुपजनयत शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वम्। न च नाम लिङादिरेव शब्द प्रवर्तकाभिधानद्वारेण प्रवर्तको भवितुमर्हति। शब्दस्य च ज्ञापकत्वाच्चक्षुरादिकारकवैलक्षण्ये सत्यपि प्रतीतिजन्मनि कारण-त्वमपरिहार्यम्। कारण च कारकम्, कारकञ्च न निर्व्यापार स्वकार्यनिर्वृतिक्षममिति व्यापारस्त-स्यावश्यम्भावी · ·"–न्यायम० पृ० ३४२।

1 प्रेषणादय श्र०। 2 इत्यपरे ब०। 3 इत्येके तत्र श्र०, ब०। 4–वधारयति तौ श्र०। 5 क्रियायो. प्र–ब०। 6–पक्षोपि ब०। 7 साध्वस्तु–आ०। 8 लिङ्लोट् तव्य–आ०, ब०।

त्वं विना स्वतः प्रवृत्तिकारकत्वे अस्य दुर्घटं वाय्वादिवत्, कारकहेतोः प्रमाणत्वानुपपत्तेः, बोधकस्यैव तत्संभवात्। अथोच्यते–वाय्वादिजनितभूतप्रवृत्तिविलक्षणैवेयम् इच्छादिसमानरूपा चिद्रूपात्मप्रवृत्तिः विषयावबोधापेक्षिणी [1]लिङादिभिः क्रियते; तन्न; प्रवृत्तिकारकत्वांशे [2]परकारकाणामिव प्रामाण्यानुपपत्तेः। बोधकत्वमात्रेणापि प्रामाण्ये वर्त्तमानापदेशकालप्रवर्त्तक[3]लडादियुक्तेष्वपि वाक्येषु तत्प्रसङ्गात् "तेन प्रवर्त्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते।" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ३।] इत्यस्य विरोधः। तस्मात् साध्यस्वभावयागादिव्यापारलक्षणविषयावबोधकत्वेनैव लिङा[4]द्यन्तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः न शब्दस्य स्वरूपेणैव विधित्वम्।

तथा, अनियमात्प्रवृत्तेः; शब्दस्य हि विषयावबोधनिरपेक्षस्य स्वरूपेणैव विधित्वे चेतनात्मकस्यापि पुरुषस्य अभिप्रायतिरस्कारेण मन्त्रादिजन्य[5]विक्षोभस्येव विवशस्य बलात्कारेण शब्दात्प्रवृत्तिरुद्भवन्ती न वाय्वादिजनितप्रवृत्तिवैलक्षण्यमश्नुवीत। तथा चास्यां [6]हठादेव [7]भवन्त्यां पुरुषस्वातन्त्र्याश्रितविहिताऽकरणापराधनि[8]बन्धनप्रायश्चित्तप्रतिपादन[9]स्य निर्विषयत्वप्रसक्तेः अयुक्तमुक्तम्–

"[10]अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन्।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥" [मनुस्मृ० ११।४४] इति।

(१) प्रवृत्तिकारकांशेऽप्रामाण्यम्, बोधकारकांशे प्रामाण्यमिति–आ० टि०। (२) किन्तु विशिष्टबोधकत्वेनैव प्रामाण्यम्–आ० टि०। "विषयावबोधनान्न दोष इति चेन्न, तन्मात्रस्यान्यत्रापि तुल्यत्वात्; चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानर्थक्यात्। निराकरोति, नेति। कुत ? तन्मात्रस्य अन्यत्रापि वर्तमानापदेशेऽपि चैत्र पचतीत्यादौ तुल्यत्वात्। न हि तत्र भावना नावगम्यते। अस्तु तुल्यता, का नो हानिरित्यत आह–चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानर्थक्यात्। प्रवर्त्तकत्व चोदनात्व प्रवृत्तिहेतु कञ्चनार्थातिशयमवगमयन् अनेन रूपेण प्रामाण्यमश्नुते न भावनामात्रवचनत्वेन तस्य अन्यत्रापि तुल्यत्वात्। तस्माद्येन रूपेण प्रामाण्य न तेन चोदना, येन चोदना न तेन प्रामाण्य तस्य प्रवृत्तिं प्रति कारकत्वात्।"–विधिवि०, टी० पृ० ६। (३) वर्तमान–आ० टि०। (४) चैत्र पचतीत्यादिषु। (५) प्रामाण्यप्राप्तेः। (६) अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादे। (७) "शब्दस्वातन्त्र्ये च नियोगतोऽवश्यं प्रवृत्तिः स्यात्, तथा च अकुर्वन् विहितं कर्मेति निर्विषयं स्यात्। न हि तदानीं बलवदनिलसलिलौघनुद्यमानस्येवेच्छापि तन्त्रं प्रवृत्तिं प्रति पुरुषस्य।"–विधिवि० पृ० ६। (८) शब्दवशादनिच्छापूर्विकाया प्रवृत्तौ। (९) पुरुषस्वातन्त्र्ये सत्येव विहितस्य सन्ध्यादे अकरणात् प्रायश्चित्त भवेत्, यदा तु पुरुषस्य प्रवृत्तौ स्वतन्त्र्यमेव नास्ति तदा कथं तदकरणेन प्रायश्चित्तभाक्त्वम्। (१०) व्याख्या– "प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु" 'नित्यं यद्विहितं सन्ध्योपासनादि नैमित्तिकञ्च शवस्पर्शादौ स्नानादि तदकुर्वन्, तथा प्रतिषिद्धं हिंसाद्यनुतिष्ठन् अविहितनिषिद्धेष्वत्यन्तासक्तिं कुर्वन्नरो मनुष्यजातिमात्र प्रायश्चित्तमर्हति।"–मनुस्मृ० मन्वर्थ० ११।४४।

1 लिङादि–आ०, ब०। 2 परकारणा–आ०, श्र०। 3–कलिङादि–ब०। 4 लिङाद्यन्त–आ०, ब०। 5–विक्षोभस्यैव ब०, श्र०,। 6 हठादिव श्र०। 7 भवत्यां ब०, श्र०। 8–बन्धनं प्रा–ब०। 9–नस्यानि–श्र०।

तथा, [1]संविदाश्रयणान्न शब्दः प्रवृत्तेः कारकः। नहि वीजादीनां[1] संवेदनसापेक्षाणां स्वकार्यकर्तृत्व दृष्टम्, ज्ञापकस्यैव धूमादेस्तदपेक्षाप्रतीतेः।

किञ्च, [3]अश्रुतफलेषु विश्वजिदादिषु[2] वाक्येषु फलस्य स्वर्गादेः अधिकारिणश्च स्वर्गकामादेः अध्याहारः, अग्निष्टोमादिषु च स्वर्गकामादौ [4]अन्यपदार्थोपसर्जनीभूतस्वर्गादिपदार्थानां फलत्वाध्यवसाय एवमाद्यर्थाभिसम्बन्धो व्यर्थः, [5]वाय्वादिवत् फलादिसम्बन्धानपेक्षस्यैव शब्दस्य प्रवृत्तिहेतुत्वप्रसङ्गात्। तन्न शब्दो विधिः ॥छ॥

[6]शब्दव्यापारविधिवादिनस्तु ब्रुवते–लिडादि(लिङादि)शब्दश्रवणानन्तरं वृद्धव्यवहारे प्रवृत्त्याख्यकार्यदर्शनात् तत्कारणत्वेन कल्पितस्य शब्दव्यापारस्य [7]मन्त्रपवनादि[3]वैलक्षण्येन प्रवृत्तिहेतोः सम्भवान्[4] न पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः। तदुक्तम्–

"[8]अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।" [तन्त्रवा० २।१।१]

(१) "ज्ञापकश्च स्वरूपकर्मसम्बन्धविषयज्ञानमपेक्षते लिङादिस्वरूपञ्च प्रवृत्तेः कारकमित्यनुपयुक्तस्वरूपतत्कर्मसम्बन्धविषयसंविदोऽपि पुंसः प्रवृत्तिप्रसङ्गः।"–विधिवि० पृ० ७। (२) स्वसंवेदनापेक्षा। (३) विश्वजिदादियज्ञेषु स्वर्गादिफलं न श्रुतौ कण्ठोक्तमतः तत्र सामान्यरूपेण स्वर्गरूपस्य फलस्य अध्याहारः क्रियते। तथा चोक्तं जैमिनिन्यायमालायाम्–(४।३५) "नैवास्ति विश्वजिद्यागे फलमस्त्युत नाश्रुते। भाव्यापेक्षाद्विधेः कल्प्यं फलं पुंसः प्रवृत्तये।" द्रष्टव्यम्–शाबरभा०, शास्त्रदी० ४।३।१०–१७। "अपि चाश्रुतफलेषु फलाध्याहारः क्वचित्क्रतूपकारकल्पना, श्रुतानामपि स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसायः इति सर्व एव महिमा विधेः। स शब्दस्य तद्भावेऽनुपपन्नः"–अपि चाश्रुतफलेषु पिण्डपितृयज्ञादिषु स्वर्गादिफलाध्याहारः क्वचित् क्रतूपकारकल्पना समिदादौ, श्रुतानामपि पुरुषविशेषणतया स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसायः इति सर्व एष महिमा विधेः। स शब्दस्य तद्भावे विधिभावेऽनुपपन्नः।"–विधिवि०, टी०पृ० १४। (४) अत्र हि श्रुतिवाक्यविषयः अधिकारी चोक्तो न तु फलम्, तच्च स्वर्गकामाख्याधिकारिलक्षणे पदार्थे स्वर्गकामोऽस्येति समासे पूर्वपदतया उपसर्जनीभूतः स्वर्गः फलतयाऽध्यवसीयते–आ० टि०। (५) "प्रवर्तकस्येति चेन्न, तस्यापि पवनादिवर्तिन इवोपपत्तेः फलरूपं कारकं विना। तस्मान्न विधिः शब्दस्तद्व्यापारो वा। शङ्कते–प्रवर्तकस्येति चेत्, लिङादयः खलु पुंसां प्रवर्तकाः, न चैते निष्फले प्रवर्तयितुं पुरुषमीशते इति तदन्यथानुपपत्त्या फलकल्पनेत्यर्थः। निराकरोति, न। तस्यापि प्रवर्तकत्वस्य पवनादिवर्तिन इवोपपत्तेः। नहि यो यं प्रवर्तयति स सर्वं फलमपेक्षते, पवनादीनां प्रवर्तयतामपि तदनपेक्षत्वदर्शनादित्यर्थः।"–विधिवि०, टी० पृ० १४। (६) भट्टकुमारिलादयः। "भावनैव च वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया। अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता॥ एकयैव तु बुद्ध्यासौ गृह्यते चित्ररूपया।"–मी० श्लो० पृ० ९३९। "तत्रार्थात्मिकाया भावनाया लिङादिशब्दानां यः पुरुषं प्रति प्रयोजकव्यापारः सा द्वितीया शब्दधर्मोऽभिधात्मिका भावना विधिरित्युच्यते।"–तन्त्रवा० २।१।१। (७) यथा कश्चिन्मन्त्रेण अभिचारिकादिना पारवश्यं नीतोऽनिच्छयापि प्रवर्त्तते–आ० टि०। (८) व्याख्या–"कर्तृव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वा अभिधाशब्दस्य शब्दपरत्वमङ्गीकृत्य अभिधायाः शब्दस्य आत्मनो भावना व्यापारः प्रवर्तनासामान्यव्यक्तिभूतः लिङादयः प्रवर्तनासामान्यमभिदधाना निर्विशेषसामान्यायोगात् प्रैषादौ च लोकदृष्टस्य विशेषस्य पुरुषधर्मत्वेन अपौरुषेयवेदेऽसम्भवात् प्रवर्तनासामान्यस्य च प्रैषादिप्रवर्तकव्यापारवर्तित्वदर्शनात् लिङादेरेव च वेदे प्रवर्तक-

1 वीजानां आ०। 2–जिदादिषु फलस्य आ०, ब०। 3 मन्त्रपवचनादि–आ०, मन्त्रपठनादि–ब०। 4–वान्नपूर्वो–आ०।

अभिधायाः शब्दस्य लिङादेर्यासौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वकीयप्रयोजकव्यापारः तस्य अभिधायका लिङादयः। भाव्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना। शब्द-

---

न्यावधारणात् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थः।"–न्यायसु० प०५५९। जैमिनिन्या० पृ० ७५। तन्त्ररह० पृ० ४७। मानमेयो० पृ० २७२। वैयाकरणभू० द० पृ० १५६। मुक्ता० दिन० पृ० ५१५। "अभिधीयत इति अभिधा प्रवर्तना कर्त्तव्यता वा, सैव च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति। अथवा अभिधाया शब्दस्य भावना अभिधाभावना सैव प्रवर्तना परसमवेतापि शब्देन पुरुष प्रवर्तयता तत्सिद्धये अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वेनोच्यते तामाहुरिति। अथवा इष्टसाधनताभिधानमभिधा सैव विधानं विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते। सैव च भतिकर्तृत्वं प्रतिपद्यमानाया पुरुषप्रवृत्ते प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः।"–न्यायरत्नमा० पृ० ५३। मीमांसान्याय० पृ०१८१। उद्धृतीयम्–'शब्दात्मभावनामाहु'–अष्टसह० पृ० १९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। विधिवि० पृ० १५। न्यायम० पृ० ३४३। बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९०। 'अभिधा भावना'–न्यायकु० प्र० ५।१३। मीमांसार्थप्र० पृ० ८। मीमासान्याय० पृ० १८१। शास्त्रदी० २।१।१। न्यायरत्नमा० पृ० ४७। मीमांसावाल०पृ० ७५।

(१) "तेन भूतिषु कर्तृत्व प्रतिपन्नस्य वस्तुन। प्रयोजकक्रियामाहु भावना भावनाविद॥"–तन्त्रवा० २।१।१। "इह हि लिङादियुक्तेपु वाक्येषु द्वे भावने गम्येते। शब्दात्मिका च अर्थात्मिका च। तत्र लिङादीना प्रयोजककर्तृत्व पुरुष प्रयोज्य, तेन किमित्यपेक्षाया पुरुषप्रवर्तनमिति सम्बध्यते। अथ तु योग्यतयैव लिङादिविषया क्रियोच्यते प्रवर्तयेदिति तत किमित्यपेक्षिते पुरुषमित्येव सम्बध्यते। अथ केनेत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण विधिज्ञानेनेति सम्बध्यते। कथमिति प्राशस्त्यज्ञानानुगृहीतेनेति। कुत एतत्? बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोऽयमिति नावबुध्यन्ते तावन्न प्रवर्तन्ते, तत्र विधिविभक्तिरवमीदति ता प्राशस्त्यज्ञानमुत्तम्भाति। तच्च पुरुषार्थात्मके फलाशे सर्वस्य स्वयमेवानुष्ठान भवतीति प्रसिद्धत्वान्न वेदादुत्पद्यमानमपेक्ष्यते। साधनेतिकर्तव्यतयोस्तु अप्रवृत्तपुरुषनियोगाच्छास्त्रमेव प्राशस्त्यप्रतिपादनायाकाङ्क्ष्यते।"–तन्त्रवा० १।२।१। न्यायमु० पृ० ३२–। "भाव्यभावनसमर्थो हि व्यापारो भावना।"–भावनावि० पृ० ६। "भाव्योत्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भावनात्वप्रसिद्धे।"–न्यायसु० पृ० ३१। "भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष।"–अर्थस० पृ० ११। "भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेष।"–मीमासान्याय० पृ० २। "तत्र प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधा, फलानुकूलो व्यापारो भावनेति विवेक।"–मीमासार्थप्र० पृ० ८। "भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। भाव्य हि स्वर्गादिफल साध्यमानत्वात्' तन्निष्ठस्तदुत्पादकश्च पुरुषव्यापारो यस्स भावना ण्यन्तेन भवतिनोच्यते। प्रकृत्यर्थस्य भवतेः कर्ता य स्वर्गादि स एव ण्यन्तस्य कर्मता प्रतिपद्यते। कर्त्ता त्वस्य प्रयोजक. पुरुष, णेश्चार्थ णिज्वाच्य प्रयोजकव्यापार, पुरुषो हि भवन्त स्वर्गादिमर्थ स्वव्यापारेण भावयति सम्पादयति, स तत्सपादको व्यापारो भावनेत्युच्यते।"–न्यायम० पृ० ३३५। "भावनात्व नाम भवितु प्रयोजकव्यापारवत्त्वम्। तत्रार्थभावनाया भवितुर्जायमानस्य स्वर्गादे प्रयोजकव्यापारत्वात् लक्षणसगति शब्दभावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितु प्रयोजकव्यापारत्वाल्लक्षणसङ्गति."–मी० परि० पृ० २०। (२) "तस्मादस्ति पुरुषप्रवृत्तिकर्मिका विधिज्ञानकरणिका अर्थवादोत्पादितविषयप्राशस्त्यज्ञानेनिकर्त्तव्यतोपेता लिङादिव्यापार प्रेरणात्मिका शब्दभावना अभिधानलक्षणोऽपि च देवदत्तादेरिव व्यापार शब्दभावना।"–भावनावि० टी० पृ० ९४। "तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष शाब्दी भावना। सा च लिङ्श्रवणेऽय मा प्रवर्तयति, मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानिति नियमेन प्रतीते। यद्यस्माच्छब्दान्नियमत प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम् यथा

---

१ भावनि–ब०।

भावनायाश्च भाव्या पुरुषप्र[1]वृत्ति, प्रवृत्तिमा[2]न् वा पुरुषः। [1]प्राशस्त्याभिधानञ्च विना विधिशक्तिर्निमित्त[3]त्वमुपगतापि [2]प्रवर्त्तनायां न समर्था भवति। न हि 'इमां गां क्रीणीष्व' इति शतकृत्वोऽप्युक्तः कश्चित् [3]क्रेतुं प्रवर्त्तते यावत् '[4]घटोध्नी सम्पन्नक्षीरा' इत्यादि [5]प्राशस्त्य[3]ज्ञानं न प्रवर्त्तते। [6]अतः अर्थवादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानसचिवा शब्दभावना प्रवर्त्तनाङ्गम्। सा च [4]त्र्यंशपरिपूर्णा भवति–'किम्, केन, कथम्' इति। किं भावयेत्? स्वर्गम्। केन? [5]दर्शपौर्णमासाभ्याम्। [7]कथम् इति? इतिकर्त्तव्यतां दर्शयति [6]प्रयाजादिव्यापाररूपाम्। सेत्थं त्र्यंशपरिपूर्णा शब्दभावना [7]फलभावनायां पुरुष

गामानयेत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेष, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिडादिनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते।"–**अर्थस० पृ० ११–१३। मीमांसान्याय० पृ० ३, १७८। मीमांसार्थप्र० पृ० ८।**

(१) एतावता अर्थवादवाक्यानां माभूत्प्रामाण्यमिति–**आ० टि०।** (२) "प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्"–**विधिवि० पृ० २४३।** 'प्रवृत्तिहेतुभूत प्रवर्तयितुर्धर्मं प्रवर्तना।"–**मीमांसाबाल० पृ० ७५। मीमांसान्याय० पृ० १८०।** (३) तुलना–"लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु। तद्यथाय गौ क्रेतव्या देवदत्तीया। एषा हि बहुक्षीरा स्त्र्यपत्या अनष्टप्रजा चेति।"–**शाबरभा० १।२। २०।** (४) "सा च भावनाशत्रयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्तव्यताञ्च, किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। सङ्ख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽपि अयोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वय। साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञान करणत्वेनान्वेति, तस्य च करणत्व न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायाम् अर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेन अन्वेति।"–**अर्थस० पृ० १६–१८। मीमांसान्याय० पृ० ३।** "करणांशो विधिज्ञानं किमंशः पुंप्रवर्तनम्। इतिकर्तव्यता चात्र ह्यर्थवादप्रशंसनम्।"–**बृहदा० भा० वा० पृ० ५९०।** "प्रवृत्तिफलिकायाञ्च अभिधायामपि साध्यसाधनेतिकर्तव्यतारूपमंशत्रयमपेक्षितम्, अन्यथा तस्य स्वरूपतः फलतश्चाज्ञानादप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्र लिङादिविधिज्ञानं करणत्वेनान्वेति याग इव अर्थभावनायाम्। प्रवृत्तिरेव च साध्यत्वेन स्वर्ग इव अर्थभावनायाम्। अर्थवादादिजन्य प्राशस्त्यज्ञानमितिकर्तव्यतात्वेन प्रयाजाद्यङ्गजातमिव अर्थभावनायाम्। तदुक्तम्–लिङाभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः। सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते।"–**मीमांसार्थ० पृ० ९।** "प्ररोच्यतेऽनयेति प्ररोचना प्राशस्त्यज्ञानं तच्चाङ्गं फलोपकारिप्रयाजादिवत्"–**मीमांसाबाल० पृ० ८१। मीमांसापरि० पृ० १८।** "तत्र किं भावयेत् केन भावयेत्कथं भावयेदित्याकाङ्क्षायां स्वर्गं भावयेत् यागेन भावयेत् अग्न्यन्वाधानप्रयाजावघातादिभिरुपकारं सम्पाद्य भावयेदित्येवं भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतासमर्थनेन आकाङ्क्षापूरणात् प्रकरणाम्नातः सकलः शब्दसन्दर्भः भावनावाचिन आख्यातस्यैव प्रपञ्चः। भाव्याद्यंशत्रयवती सेयमर्थभावनेत्युच्यते। सा सर्वापि शब्दभावना या भाव्या विधायको लिङादिः करणम् अर्थवादसम्पादितः स्तुतिरितिकर्तव्यता। सेयं शब्दभावना लिङादिभिरेव गम्यते। अर्थभावना सर्वैराख्यातप्रत्ययैर्गम्यत इत्युक्तम्"–**जैमिनिन्या० पृ० ७६।** (५) अमावस्यायां क्रियमाणो यज्ञविशेषो दर्शः, पौर्णमास्याञ्च विधीयमानं यज्ञानुष्ठानं पौर्णमास इति। (६) यज्ञे कर्त्तव्यताविशेष–**आ० टि०।** "आरादुपकारकरूपाः प्रयाजादयः"–**न्यायरत्नमा० पृ० १२०।** (७) आर्थीभावनायाम्।

1–प्रवृत्तिमान्वा ब०। 2–मान् पुरु–श्र०। 3–त्वमुपाग–आ०। 4–घटेध्निस–ब०,–घटादिस–श्र०। 5 प्रशस्तज्ञान श्र०। 6 ततः श्र०। 7 कथमिति कथमिति यमुपपन्नकर्त्तव्यता श्र०।

प्रवर्त्तयति । यद्यपि चेच्छास्मृत्[1]यादयः पुरुषप्रवृत्तिहेतवः तथापि न तेषां[2] मुख्यः प्रवर्त्तनाव्यपदेशः, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्य[3]ः । 'शब्दभावना' इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा ग्रामादिदाने[1] राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो मुख्यः लाकुटिकादीनां[4] तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिकः एवमत्रापि । तदुक्तम्–

"साध्यत्वे[2] हेतु[3]र्व्यापारः कथ्यते शब्दभावना ।
शब्दधर्मतयाख्यातः कार्यसंसूचितस्थितिः[5] ॥" [ ]

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्नः; यथैव हि अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको[4] व्यापारः परिकल्प (कल्प्य) ते तथा प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या लिङादेः प्रवर्त्तनात्मकोऽपीति । तत्र 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र द्वे भावने प्रतीयेते शब्दात्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लकार[6]सामान्यस्यार्थः अर्थभावना[7] । उक्तञ्च–

"इयं[8] त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ।" [तन्त्रवा० २।१।१] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रार्थे[9] विद्यमानत्वात् सर्वार्था अर्थभावना, 'यजते,

(१) लाकुटिकप्राया –आ० टि० । द्वारपालसदृशा इत्यर्थं । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् । (३) प्रवर्तनाव्यपदेश । (४) लकुट-दण्डधारिणाम् द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपेण कार्येण तस्यास्तित्व सूच्यते–आ० टि० । (६) आख्यातविभक्ति –आ० टि० । (७) "प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना । सा चाख्यातत्वाशेनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात् । साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्त्तव्यताञ्च किं भावयेत्केन भावयेत्कथ भावयेदिति । तत्र साध्याकाङ्क्षाया स्वर्गादिफल साध्यत्वेनान्वेति, इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षाया प्रयाजाद्यङ्गजालमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।"–**अर्थसं० पृ० १९-२३** । "प्रवृत्तिश्चार्थभावनैव"–**मीमासार्थ०** पृ० ९ । "स्वर्गेच्छाजनितो यागविषयो य प्रयत्न स भावना । स एव चाख्याताशेनोच्यते । यजत इत्याख्यातश्रवणे यागे यतेत इति प्रतीतेर्जायमानत्वात्' 'अतश्च प्रयत्न एवार्थी भावना । यथाहु –(**न्यायसु० पृ० ५७९**) प्रयत्नव्यतिरिक्तार्थीभावना तु न शक्यते । वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरम्यते ॥"–**मीमांसान्या०** पृ० १८५-८७ । (८) आर्थीभावना । "अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"–**तन्त्रवा० २।१।१ । बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । शास्त्रदी० २।१।१। न्यायकु० प्र० ५।१३ । जैमिनिन्या० पृ० ७५ । मीमांसाबाल०** पृ० ७५ । 'सर्वाख्यातस्य गोचरा'–**मीमांसार्थ०** पृ० ८ । प्रकृत पाठ –**अष्टसह० पृ० १९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२** । "अर्थात्मा भावना त्वन्या सर्वत्राख्यातगोचर ।"–**तन्त्ररह०** पृ० ४७ । **मानमेयो०** पृ० २७२ । 'सा चाख्यातस्य'–**वैयाकरणभू० द० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन० पृ० ५१५** । व्याख्या–"विधेयाया भावनाया पुरुषार्थरूपभाव्यनिष्ठत्वसूचनाय इच्छायोनित्व सूचयितुम् इच्छार्थाद् अर्थयते णिजन्तादर्थयत इति कर्तृ विवक्षायामेरजित्यच्प्रत्ययोत्पादनेन अर्थिन पुरुषस्य अर्थशब्देन अभिधानाद् भावनायाश्च पुरुषधर्मत्वात् धर्मधर्मिणोश्चात्यन्त भेदाभावात् तादात्म्य विवक्षित्वा अर्थात्मा चासौ भावना चेति विग्रह कार्य । अन्यामिति अर्थभावनापेक्षित्व शब्दभावनाया सूचितम् ..."–**न्यायसु० पृ० ५६०** । (९) अतीतादौ–आ० टि० । "यदा हि सर्वाख्यातानुवर्तिनी करोतिधातुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता भवति, तदा तद्विशेषा सामान्याख्यातव्यतिरिक्तशब्दविशेषवाच्या विधिप्रतिषेधभूतभविष्यद्वर्तमानादय प्रतीयन्ते । तथा च सर्वत्र सामान्यत करो-

1–धाने श्र० । 2 साध्यत्वहेतुव्यापा–श्र० । 3–हेतुर्व्यापार आ० । 4 अभिधानात्मको ब०,श्र० ।

अयजत, अयष्ट' इत्यादि सर्वाख्यातेषु च विद्यते। न हि [1]तत्र पुरुषप्रेरणारूपा शब्दभावनाऽनुभूयते [2]सिद्धस्य आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात्। लिङादिविषये तु 'यजेत' इत्यादौ द्वयमनुभूयते–स्वार्थं लिप्समानो हि पुरुष. स्वव्यापारे यागविधानलक्षणे प्रवर्त्तते इति अर्थभावना, तमयं लिङ् प्रवर्त्तयतीति शब्दभावना चेति ॥छ॥

तदेतद्भावनावादिनो मतमयुक्तम्[3], यतः शब्दस्य भावना, शब्द एव वा भावना शब्दभावना स्यात्? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रेरकत्वम्, तच्च [4]प्रेषणाध्येषणरूपम्, तस्य [5]चेतनात्मकपुरुषधर्मत्वात् कथं शब्देऽनुपचरि[6]तस्य सभवः? [7]तद्धर्माध्यासितपुरुषप्रयुक्ताद् वाक्यादेव हि[1] शब्दे [8]तत्सभाव्यते न मुख्यत.।

किञ्च, [9]प्रेर्यप्रेरकयोर्न निष्फला प्रवृत्तिः। किञ्चिद्धि स्वात्मनि परत्र वा अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिसन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्ध.। न[2] चाचेतने शब्दे [10]तदभिसन्धान संभवति तत्कथं तस्य[11] प्रेरकत्वम्? [12]बलवत्प्रभञ्जनादेरिवास्य[13] अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शब्दविधिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषोप[14]निपातः स्यात्।

त्यर्थोऽवगम्यते। किं करोति? पचति। किमकार्षीदपाक्षीत्। किं करिष्यति पक्ष्यति। किं कुर्यात् पचेत्। किन्न कुर्यान्न पचेदिति।"–तन्त्रवा० २।१।१।

(१) आख्याते। (२) "सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति। सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते॥ तस्माल्लब्धात्मककर्तृव्यापारवचनानि करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि।"–तन्त्रवा० २।२।१। (३) "नैतत्सारम्, न प्रयोगानिरूप्यत्वात् वैयर्थ्यात् पूर्वदोषत। अप्रवृत्ते फलायोगाद् रूपोक्तेर्व्यापृति श्रुते॥"–विधिवि० पृ० १६। "असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी। बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभ॥"–न्यायकु० ५।१३। (४) "सज्ञापुरस्सरा व्यापारणा प्रेषणम्, निकृष्टविषयो नियोग इत्यर्थः। यत्पुनरभ्यर्हित व्यापारयति तदध्येषणम्, अभ्यर्हितविषय प्रबोधनमित्यर्थः।"–वाक्यप० प्र० तृ० का० पृ० २५७। "प्रवर्त्यपुरुषापेक्षया ज्यायसा वक्त्रा प्रतिपाद्यमान कार्यं प्रैष इति व्यपदिश्यते। समेन आमन्त्रणम्। हीनेनाध्येषणमिति।"–प्रक० प० पृ० १८०। (५) "न हि प्रेषणाभ्यनुज्ञालक्षणा शब्दस्य व्यापारो निरूप्यते तस्य पुरुषधर्मत्वात्। न हि प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षण शब्दस्य प्रयोगो व्यापारो निरूप्यते। ननु शब्दोच्चारणानन्तर तदवगमात्तेनोक्तमिति कथ प्रेषणादिलक्षण शब्दप्रयोगो न निरूप्यत इत्याह–तस्य पुरुषधर्मत्वात्। सत्य शब्दविज्ञानानन्तरमुपलभ्यते। न त्वसौ शब्दस्य, अभिप्रायभेदत्वात्। प्रेषणादे अचेतनत्वेन शब्देऽसम्भवात्।"–विधिवि०, टी० पृ० १६। (६) शब्दस्य अचेतनत्वात् पुरुषाभिप्रायरूपा प्रेषणादय उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मुख्या इति। (७) प्रेषणाध्येषणादिधर्मात्मकपुरुष। (८) प्रेषणाध्येषणरूपम्। (९) "न प्रवर्तेत पुरुष, प्रवर्तयतोऽपि शब्दस्याननुरोध्यत्वात्। न हि सर्वस्मिन् प्रवर्तयितरि प्रवृत्ति प्रेक्षावताम् अपि त्वनुविधेये। न चार्थानर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारण स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति। फलात्प्रवृत्तौ तद्वैयर्थ्यम्।"–विधिवि० पृ० १८। (१०) अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुसन्धानम्। (११) शब्दस्य। (१२) "स्यान्मत पवनादिरिव लङादि प्रेरयति पुरुषम्, तदसत्, अभिधानवैयर्थ्यात्, अप्रतीतव्यापारस्यापि वाय्वादेरिव स्वभावत प्रेरकत्वात्, पूर्वोक्तदोषापाताच्च। न हि प्रवृत्ति प्रति कारकत्वे शब्दस्य सदपि तद्व्यापाराभिधानमङ्गम्, अनभिहितव्यापारस्यापि तस्य कारकत्वात्, कारकस्यानपेक्षितज्ञानत्वात्।"–विधिवि० पृ० १८। (१३) शब्दस्य। (१४) प्रायश्चित्तवैयर्थ्यम्–आ० टि०।

1 हि शब्दे न तत्सं–आ०, हि तच्छब्दे सभाव्यते ब०। 2 न चाचेतनशब्दे आ०।

किञ्च, अस्याः[1][1] सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्ति., लिङादिशब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्तिः; तस्याः[2] [3]तन्निबन्धनत्वेन क्वचिदन्यत्राऽदृष्टत्वात्। यन्निबन्धना हि प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वाऽनु[2]मातुं युक्तम्, न पु[3]नः अप्रतिपन्नपूर्वः शब्दव्यापारविशेषः अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात्। ना[५]पि लिङादिश[4]ब्द एव तत्र प्रमाणम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात्। त[६]दग्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्धः। नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधः संभवति; अतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, श[5]ब्दः स्वव्या[७]पारं विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न तावदनपेक्षः, विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणायां क[6]रणत्वाभ्युपगमात्। अ[८]थ शब्दो विधिज्ञानं जनयित्वा त[7]त्करण[९]ानुगृहीतस्त[१०]त्प्रेर[8]णारूपं स्वव्यापारमारभते, तदिदमलौकिकम्; न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानम् उत्पादहेतुः लोके प्रतीतम्। य[११]दि च शब्दः स्वव्यापारं करोति अभिधत्ते च, तदा उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः; न[9] खलु शब्दः स्वव्यापारमुत्पाद्य पश्चात्तमभिदधातीति श्राद्धिकादन्यः प्रतिपद्यते। द्वितीयपक्षोऽप्यप्रातीतिकः, नहि 'सकृदुच्चरितः शब्दः स्वव्यापारस्य कर्त्ता वक्ता च भवति' इति प्रामाणिकः प्रतिपद्यते। सिद्धे हि वस्तुनि [१२]प्रतिबन्धावगमपूर्विका वचनस्य प्रवृत्तिः प्रतीयते।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तरं प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रवर्त्तितोऽहमिति प्रतिपत्तितः प्रतीतेः कथं त[१३]त्र त[१४]त्कर्तृ[10]त्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्; यतो द्विविधा प्रवृत्तिः प्रती-

(१) शब्दभावनायाः। (२) प्रवृत्तेः। "लिङादिशब्दानन्तरभाविनी प्रवृत्तिरेव प्रमाणमिति चेन्न, तन्निबन्धनत्वेन प्रवृत्तेरन्यत्रादृष्टत्वात्। त (य) न्निबन्धना हि प्रवृत्तिर्दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वा शक्यमनुमातुम्, न पुनरप्रतिपन्नपूर्वकरणभाव शब्दव्यापारविशेष।"–वाक्यार्थमा० पृ० २७। (३) शब्दभावना–आ० टि०। (४) शब्दभावनाख्य–आ० टि०। (५) "लिङादिशब्द एव प्रमाणमिति साहसम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात्। अनवधारिते हि सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधवैधुर्यात्।" –प्रक० पं० पृ० १७२। (६) सम्बन्धाग्रहणम्। (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम्। (८) "स्यान्मत शब्दो विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीत प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभत इति न करणत्वाभावः क्रियानिष्पत्तावेव करणत्वात्, तदिदमलौकिकम्, न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानमुत्पादहेतु प्रतीतम्।"–प्रक० पृ० प० १७३। (९) विधिज्ञानरूपकरण। (१०) पुरुषप्रेरणा। (११) तुलना–"यश्चासौ व्यापार क्रियते चाभिधीयते च, स किं पूर्वमभिधीयते तत क्रियते, पूर्व वा क्रियते पश्चादभिधीयते, युगपदेव वा अस्य करणाभिधाने इति। न तावत्पूर्वमभिधीयते, अनुत्पन्नस्य अभिधानानुपपत्ते, न ह्यजाते पुत्रे नामधेयकरणम्, अर्थासस्पर्शी च शब्द स्यात्। तत एव न युगपदुभयम्, अनुत्पन्नत्वानपायात् प्रयत्नगौरवप्रसङ्गाच्च। नापि कृत्वा अभिधानम्; विरम्य व्यापारासंवेदनात्।"–न्यायम० पृ० ३४५। (१२) वाच्यवाचकसम्बन्ध। (१३) शब्दे। (१४) प्रवृत्ति–आ० टि०।

1 अस्य सद्भा–ब०। 2–नुमान यु–ब०। 3 पुन प्रतिप–श्र०। 4–शब्दस्तत्र ब०, –शब्दास्तत्र श्र०। 5 शब्दो व्यापा–श्र०। 6 कारणत्वा–ब०। 7 तत्कारणानु–ब०। 8–रणरूप ब०। 9 न शब्दः ब०। 10–स्वाप्रतीतिरि–श्र०।

यते–एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिण᳡। तत्राद्यपक्षे हठाद् यागादिकर्मणि बौद्धादेरपि प्रवृत्ति. शब्देन क्रियतां पुरुषस्वातन्त्र्याभावात्। न खलु बलवज्जलप्रभञ्जन-प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्न दृष्टा 'अनिच्छन्नप्यह प्रभञ्जनादिना प्रेरितः प्रवर्त्ते' इति प्रतीतेः। द्वितीयपक्षे तु 'येनाहं शब्देन प्रवर्त्तितः स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा' इति यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति। नहि 'शब्देनाह प्रवर्त्तितः' इति 'अवश्यं प्रवर्त्ते' इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्वसिति तत्कारित्वविरोधानुषङ्गात्। अतोऽपौरुषेयात् काकवासितप्रख्यात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात्? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः। तत्प्रणेतुः कुतश्चिदाप्ततामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिणः सद्वैद्याद्युपदेशादिव निःशङ्क प्रवृत्तिसभवात्। तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न 'शब्दस्य भावना–प्रवर्त्तकत्व शब्दभावना' इति पक्षो घटते।

अथ शब्द एव भावना; तदप्यसाम्प्रतम्, शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे घटादिशब्देष्वपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात्। तथा च "*लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययप्रत्याय्यो विधिः।*" [ ] इति वचो विरुध्यते। तदेवं शब्दभावना-स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थितेः कथं तया अर्थभावना भाव्येत? यतो 'भाव्य-निष्ठो भावकव्यापारो भावना' इति सुव्यवस्थितं स्यात्। द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्याः खपुष्पसौरभव्यावर्णनान्न विशिष्यते। तन्न भावनारूपोऽपि विधिर्घटते॥ छ॥

अपरे पुन. नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः इत्याचक्षते। तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी। (२) अन्यथा–शब्दमात्रे समाश्वासे प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात्। (३) "अथ मतम्–अभिधैव भावना विधिर्लिङाद्यर्थ इति, अत्रोच्यते–प्रवृत्ते सर्वतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कार्यतो गते। अस्थानान्नियतेर्हेतोरभावाच्चाभिधैव न॥ विधिरित्यनुषज्यते। अभिधा चेद्विधि सर्वशब्दाना यथास्वमभिधेयेषु तद्भाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविशेषात्।"–विधिवि० पृ० २१। (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य। (५) "लिङ्लोट्तव्यपञ्चमलकाराणा विधिर्वाच्य।"–न्यायसु० पृ० ५६०। "लिङ्कृत्लोट्तव्यप्रत्ययमात्रगता शब्दभावना"–जैमिनिन्या० पृ० ७५। (६) शब्द-भावनया। (७) तुलना–"यत्तावदुक्त शब्दव्यापार शब्दभावनेति; तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनर्थान्तर-भूतोऽर्थान्तरभूतो वा?–अष्टसह० पृ० ३१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। "या तु शब्दभावनैव लिङाद्यर्थ इति कौमारिलकुसृति सा तु प्रतीतिविसवादादिप्रतिहता। न हि विधिवाक्यश्राविपुरुषो लिङादि-स्वव्यापारमभिधत्ते अतो मया प्रवर्तितव्यमिति मन्यते"–न्यायपरि० पृ० ३९८। तन्त्ररह० पृ० ४८। "तस्माल्लिङादिजन्यबोधविषयाऽभिधाया इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षायाः प्रवर्त्तकत्व निर्युक्तिकमेव।" –वैयाकरणभू० द० पृ० १५७। (८) प्रभाकरमतानुयायिन। (९) तुलना–"कोऽयं नियोगो नाम? निशब्दो निःशेषार्थ योगार्थो युक्ति निरवशेषो योग नियोग। निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्य-भावात्, अवश्यकर्तव्यता हि नियोग। नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रत प्रवर्तन्ते।" –प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १४। "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योग नियोग, तत्र मनागप्य-योगाशकाया सभवाभावात्।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१। अष्टसह० पृ० ५। "यदपि दर्शनम्–प्रमाणान्तरागोचर शब्दमात्रालम्बनो नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीय सुखादिवत् अपरामृष्टकालत्रयो

1 तत पौरु–ब०। 2–रूपापि श्र०, –रूपोविधि–ब०।

विप्रतिपत्तिः–केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोगः इत्यातिष्ठन्ते ।

"प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते ।
कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २९ ।]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोगः इति ब्रुवते ।

"प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।
नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रपद्यते ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ २९ ।]

प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः इति चापरे मन्यन्ते ।

"ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् ।
स्वसिद्धौ प्रेरकं तत्स्यादन्यथा तन्न सिद्ध्यति ॥" [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३० ।]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

"प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् ।
ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

लिङादीनामर्थो विधिरिति ।"–विधिवि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना–"केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थ शुद्धोऽन्यनिरपेक्ष. कार्यरूपो नियोग ।"–अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (२) "शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पद्यन्ते यथैव हि । आवापोद्वापभेदेन तथा कार्ये लिङादय ॥ लिङादियुक्तवाक्यश्रवणे तद्भावभाविन्या प्रवृत्त्या विशिष्टकार्यावगतिमनुमाय वाक्यस्य तावद्धेतुतामध्यवस्यति । तत्रापि कोऽर्थभाग केन शब्दांशेनाभिहित इति विवेचने लिङाद्यावापेन कार्यावगतिदर्शनात् तदुद्धारे चादर्शनात् त एव कार्यावगति कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीना कार्यवाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धि ' कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम् । प्रवृत्त्यव्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ (पृ० १७९) कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्व च युज्यते । वाक्यं तदेव हि प्राह नियोज्यविषयान्वितम् ॥"–प्रक० पं० पृ० १८८ । "अत कृत्स्नो वेद कार्यपरत एव प्रमाणम् । इदमेव कार्यं मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति, स्वात्मनि पुरुष नियुञ्जानो नियोग इति गीयते ।"–तन्त्ररह० पृ० ६६ । "लिङादेरवगम्यमान कार्यरूप प्रेरणात्मा च वाक्यार्थो नियोग ।"–न्यायमं० पृ० ३५५ । (३) नियोग–आ० टि० । तुलना–"प्रत्ययार्थो नियोगश्च यत शुद्ध प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्ध कार्यमसौ मत ॥ विशेषण तु यत्तस्य किञ्चिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त धात्वर्थ स्वर्गकामवत् ॥ प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता ॥" –अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २९ । (४) "परेषा शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्याशय ।"–अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । "तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्षे प्रेरणाया नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वर्गकाम इत्येवमाद्यो बोध । ततो नियोज्येन नियोजकाक्षेपात् यागविषयक स्वर्गकामीय नियोजकमित्यौपादानिकोऽपूर्वविषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम् ।"–अष्टसह० यशो० पृ० ४९ A । (५) 'स्व प्रबुद्ध्यते'–अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो० । (६) प्रयोक्तु–आ० टि० । (७) "आस्ता तावत्क्रिया लोके गमनागमनादिका । अन्त स्तनपानादिस्तृप्तिकार्यपि या क्रिया ॥ सा यावन्मम कार्येयमिति नैवावधार्यते । तावत् कदापि मे तत्र प्रवृत्तिरभवन्न हि ॥" –प्रक० पं० पृ० १७७ । (८) 'ज्ञान पूर्वं स्वसिद्ध्यै '–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (९) तुलना–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

---

1 सर्वं श्र० । 2–ति इति कार्य–श्र० ।

कार्यस्यैव उपचारत प्रवर्त्तकत्वं नियोग· इत्यपरे ।

“प्रेरणाविषयः कार्यं न[1] च तत्प्रेरक स्वतः ।
व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ॥” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोग. इत्यन्ये ।

“प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।
[2]कार्यं वा प्रेरणायोगः नियोग[3]स्तेन सम्मतः ॥” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

तत्समुदायो नियोगः इत्येके ।

“परस्पराविनाभूत द्वयमेतत् प्रतीयते ।
नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥” [प्रमाणवार्तिकाल पृ० ३०]

तदुभयस्वभाव[2]विनिर्मुक्तः परमात्मस्वभावो नियोग इति केचित् ।

“सिद्धमेकं यतो ब्रह्म[4] गत[5]माम्नायतः सदा ।
सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरक कुत एव तत् ॥” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

[6]यन्त्रारूढो नियोग इत्यपरे ।

“कामी यत्रैव य. कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः ।
विषयारूढमात्मान मन्यमानः प्रवर्त्तते ॥” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

भोग्यरूपो नियोगः [3]इत्यपरे ।

“ममेदं भोग्यमित्येव भोग्यरूप प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञान भोक्तर्यैव व्यवस्थितम् ॥
स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्य तदेव विज्ञेय तदेव[7] स्वं[4] [5]निरुच्यते ॥
साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्व व्यपदिश्यते ॥
सिद्धरूप हि यद् भोग्यं न नियोग· स तावता । साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता[6] ॥”
[प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।]

पुरुष एव नियोग इति चापरे ।

“ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुष. सदा ।
पुसः कार्यविशिष्टत्वं [8]नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥”[प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।] इति ।

---

(१) प्रवर्तकत्वम्–आ० टि० । (२) ‘कार्यप्रेरणयो योग ’–तत्त्वार्थश्लो० । (३) विनियोज्यत्वम्–आ० टि० । (४) ज्ञानम्–आ० टि० । (५) ज्ञातम्–आ० टि० । (६) “यन्त्रारूढो दृष्टान्ततया यत्र स यन्त्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्यर्थ । यजेत् स्वर्गकाम इत्यतो यागारूढत्वाभिमानवान् स्वर्गकाम इति बोध ।”–अष्टसह० यशो० पृ० ४९ B । (७) स्वस्वामिभावो ज्ञापित –आ० टि० । ‘स्व निरूप्यते’–प्रमाणवार्तिकाल० । (८) ‘नियोग स्यादबाधित ’–तत्त्वार्थश्लो० । “कार्यस्य सिद्धौ जाताया तद्युक्त पुरुष सदा । भवेत्साधित इत्येव पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥”–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ ।

---

1 न तावत्प्रे–ब०, नचैतत्प्रे–श्र० । 2–विनिर्मुक्तपरमा–आ० । 3 इत्यन्ये श्र०, ब० । 4 तदेव स्व आ० । 5 निरुध्यते आ० ब० । 6–ता इति पुरुष श्र० । 7 नियोग्यस्य श्र० ।

तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य कार्यस्य नियोगरूपतोपगम्यते, तत्सापेक्षस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः[1], [१]तन्निरपेक्षस्य कार्यमात्रस्य अप्रवृत्तिहेतुतया नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्सापेक्षस्य तु नियोगत्वे कथं कार्यस्यैव नियोगरूपता ? त्रि[२]तयस्यापि प्रवृत्तिहेतुतया त[३]द्रूपताप्रसङ्गात् । 'प्रेरणा नियोगः' इत्यप्यनेनापास्तम्, नि[४]योज्यादिनिरपेक्षा[2]याः प्रेरणायाः प्रलापमात्रतया नियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः; इत्यप्ययुक्तम्, नियो[५]ज्याभावे नियोगस्यैवानुपपत्तेः । कार्यसहिता प्रेरणा नियोगः इत्यप्यनेन[६] निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोगः; इत्यप्यसारम्, नि[७]योज्यादिनिरपेक्षस्यास्य प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात् । कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धोऽपि[८] सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरभूतः सन्, अनर्थान्तरभूतो वा नियोगरूपतां प्रतिपद्यते ? न तावदर्थान्तरभूतः; तथा[९]भूतस्य सम्बन्धस्यैवाऽसंभवतो नियोगरूपतानुपपत्तेः । सम्बन्ध्यात्मनोऽपि सम्बन्धस्य प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षस्य नियोगरूपतानुपपत्तिरेव । समुदायनियोगवादोऽप्यनेनैव प्रतिव्यूढः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो ब्रह्माद्वैतमवलम्बते, तच्च प्रागेवं[१०] कृतोत्तरम् । यत्पुनः 'स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते' इति यन्त्रारूढनियोगाभिधानम्; तदप्यचारु[११]; अपौरुषेयवाक्ये नियोक्तृत्वस्य निराकृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च ।

(१) नियोज्य प्रेरणाञ्चानपेक्षमाणस्य–आ० टि० । तुलना–"प्रेरणारहितं कार्यं नियोज्येन निर्वर्जितम् । नियोगो नैव कस्यापि नियोग इति कीर्त्यते ॥ वृत्तिर्नियोगशब्दस्य शुद्धे कार्ये यदा मता । संज्ञामात्रान्नियोगत्व भवत्केन निवार्यते ॥ युक्तस्तु पुरुषः कार्ये यत्र नैव प्रतीयते ॥ नियोगः स कथन्नाम सिद्धातीतादिबोधवत् ॥ नियोजकस्य धर्मोऽय नियोगो लोकसम्मत । तदेव कार्यमिति चेत्; सिद्धत्वान्नास्य साध्यता ॥ साध्यत्वेन नियोगोऽयमिति चेद्व्यपदिश्यते । विषये तस्य तत्त्वेनोपचारात् प्रकीर्त्तनम् । असिद्धस्य च तस्यास्तु कथ प्रेरकरूपता ॥ साध्यत्वेनावबोधोऽस्य प्रेरकत्व यदीष्यते । अप्रसिद्धस्य साध्यत्वं वोध सिद्धात्मकस्य च ॥ परस्परविरुद्धत्वमेकस्य कथमिष्यते । साध्यरूपतया तस्य प्रतीति प्रेरिका यदि । नियोगत्व प्रतीते स्यान्न नियोगस्य तत्त्वत ॥"–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३२-३३ । "प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासभवात् । तस्मिन्नियोगकरणे स्वकम्वलस्य कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्र स्यात् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० ९ । (२) नियोज्यप्रेरणाकार्यरूपस्य–आ० टि० । (३) नियोगरूपता–आ० टि० । (४) "नियोज्यफलरहितायाः प्रेरणाया प्रलापमात्रत्वात् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० १० । (५) "नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् ।"–अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (६) अत्रापि नियोज्याभावात्–आ० टि० । (७) "नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित् क्वचित् परमार्थतस्तस्य तथानुपलम्भात् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । अष्टसह० पृ० १० । (८) "ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगत्वाघटनात् । सम्बन्ध्यात्मन सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्; प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयो सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्ते ।"–अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (९) सम्बन्धिभ्या भिन्नस्य । (१०) पृ० १५० । (११) तुलना–"यन्त्रारूढतया भोग्यभोक्त्रो सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मा रूढश्च न नरस्तदा ॥ प्रतीतिकाले

1–न्नः निरपे–ब० । 2 नियोज्यनिर–आ० ।

भोग्यरूपस्तु नियोगः फलस्वभावविधिनिरासेनैव निरस्तः। पुरुषस्वभावत्वे तु नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गः तस्य शाश्वतिकत्वात्।

किञ्च, किमयं नियुङ्क्ते इति नियोगः, किं वा नियुक्तिः, नियुज्यतेऽनेन इति वा? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः, नियुक्तिक्रियायां कर्त्तृत्वस्य प्रेक्षावद्धर्मतया कार्यादिस्वभावे नियोगे संभवाभावात्। नहि 'अमुष्मै प्रयोजनाय अमुमहं नियोक्ष्ये' इति यस्य नास्ति परामर्शः तस्य नियोक्तृतोपपन्ना, स्वाम्यादौ तत्परामर्शवत्येव अस्याः प्रतीतेः। सलिलसमीरणन्यायेन नियोक्तृत्वे च प्रागुक्तदोषानुषङ्गः। नहि नियोक्तृमात्रसद्भावतः कश्चित् प्रवर्त्तते, यावत् तदनुविधेयतामात्मनो न प्रतिपद्येत। 'नियुक्तिर्नियोगः नियुज्यतेऽनेनेति वा' इत्यप्यनुपपन्नम्, भावकरणयोः कर्तृकर्मापेक्षत्वात्, तयोश्चासंभवे भावकरणयोरप्यसंभवात्। न ह्यत्र कश्चिन्नियोक्ता विद्यते। शब्दस्य च नियोक्तृत्वं प्रागेव प्रतिषिद्धम्।

किञ्च, अयं नियोगः शब्दव्यापाररूपः, पुरुषव्यापाररूपः, उभयरूपः, अनुभयरूपो वा? प्रथमपक्षे शब्दभावनापक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गः, शब्दव्यापारस्य शब्दभावनारूपत्वात्। द्वितीयपक्षे तु अर्थभावनापक्षोक्तदूषणप्रसङ्गः पुरुषव्यापारस्य अर्थभावनास्वभावत्वात्। उभयपक्षेऽपि उभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः।

अनुभयपक्षेऽप्यसौ विषयस्वभावः, फलस्वभावः, निःस्वभावो वा स्यात्? यदि विषयस्वभावः; तदाऽसौ यागादिर्विषयः "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" [ ] इत्यादिनियोक्तृवाक्यकाले अस्ति, न वा? यदि नास्ति, तदा तत्स्वभावो नियोगोऽपि नास्तीति कथमसौ खपुष्पवद् वाक्यार्थः स्यात्? बुद्ध्यारूढस्य भाविनस्तस्य वाक्यार्थत्वे

सर्वस्य साध्यत्वेनास्वरूपता। तदेव तस्य रूपञ्चेत साध्यत्वस्य हानितः॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३४। "तदपि न परमात्मवादप्रतिकूलम्, पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनात्तस्य च अविद्योदयनिबन्धनत्वात्।"–अष्टसह० पृ० १०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६।

(१) नियोक्तृताया। (२) यथाहि समीरणः अभिप्रायशून्योऽपि सलिलं समीरयति तथैव अभिप्रायरहितस्यापि नियोक्तृता स्यादित्युक्ते प्राह। (३) प्रायश्चित्तवैयर्थ्यादि–आ० टि०। (४) तुलना–"अपि च नियोक्तृव्यापारो नियोगो न नियोक्तुर्विनाऽवकल्पते। न चास्य संभवः, अपौरुषेयत्वाभ्युपगमात्।"–विधिवि० पृ० ६०। (५) तुलना–"सर्वत्र च वाक्यार्थे अष्टप्रकारो भेदः–प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः। उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुनः॥ शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः पुरुषस्य वा। द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा।"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। अष्टसह० पृ० १०। (६) तुलना–"नियुज्यमानविषयनियोक्तॄणां यदीष्यते। धर्मो नियोगः सर्वत्र न शब्दार्थोऽवतिष्ठते॥ नियोज्यधर्मभावे हि तस्यानुष्ठेयता कुतः। सिद्धोऽपि यद्यनुष्ठेयो नानुष्ठाविरतिर्भवेत्॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १६। "सोऽपि विषयस्वभावो वा स्यात्, फलस्वभावो वा, निःस्वभावो वा?"–अष्टसह० पृ० ८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। (७) तुलना–"विषयधर्मतायामपि विषयस्यापरिनिष्पत्तेः स्वरूपाभावात् कथं शब्दादसौ प्रत्येतुं शक्यः?"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७। अष्टसह० पृ० ८। (८) विषयस्वभावः। (९) भविष्यतो यागादेर्विषयस्य।

1 नियोक्तृतानुपपन्ना श्र०। 2–पद्येत् आ०। 3–तिचेत्य–श्र०, –ति इत्य–आ०। 4–दूषणगण प्र–ब०। 5 उभयदोषानुषंगः ब०, श्र०।

सौगतमता[1]नुसरणप्रसङ्गः। अथ त[1]त्काले सोऽस्ति; एवमपि न नियोगो वाक्यार्थः, तस्य[2] यागादिनिष्पादनार्थत्वात्। न चानयो[3]स्तादात्म्ये स्वात्मैव स्वात्मनो निष्पादको युक्तो विरोधात्, निष्पन्नस्य यागादेः पुरुषादिवन्निष्पादनविरोधाच्च। अथ[2] त[4]स्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपमस्ति तन्निष्पादनार्थो नियोगः; तर्हि तत्स्वभावो नियोगोप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः? कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमतानुप्रवेशः। फलस्वभावो नियोगः, इत्यप्ययुक्तम्; न[5]हि स्वर्गादिफलं नियोगो घटते फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यानुपपत्तेः। फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलकल्पने अनवस्थाप्रसङ्गः। फलस्य च वाक्यकालेऽसन्निहितत्वात् तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः? बुद्ध्यारूढस्य वाक्यार्थत्वे पर[6]मतप्रवेशप्रसङ्गः। 'निःस्वभावो नियोगः' इ[3]त्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, निःस्वभावस्यास्य अन्यापोहत्वानतिक्रमात्।

किञ्च[7], अयं नियोगः प्रवर्त्तकस्वभावः, अप्रवर्त्तकस्वभावो वा? प्रथमपक्षे[8] प्रभाकरवत् ता[4]थागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात् तस्य[9] सर्वथा प्रवर्त्तकस्व[5]भावत्वात्। तेषां[10] विपर्यासादप्रवर्तकः इति चेत्, न; 'भ[11]वतामपि विपर्यासात् प्रवर्तकः' इ[6]त्यपि वक्तुं सुशकत्वात्। अथाप्रवर्त्तकस्वभावोऽसौ; तर्हि सिद्धस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावः, स च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति। न च अग्निष्टोमादिवाक्ये विषयादिपदार्थवाचकपदव्यतिरेकेण विषयफलयोः मध्यवर्त्तिनः तटस्थस्य वा नियोगस्य वाचकं किञ्चित्पदमस्ति, यतः सोपि विषयादिवत् पदार्थतां प्रतिपद्येत। न चाप[12]दार्थो वाक्यार्थो भवितुमर्हति; अन्यो-

(१) वाक्यप्रयोगकाले। तुलना–"अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ, तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थ, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात्, निष्पन्नस्य च यागादे पुनर्निष्पादनायोगात्।"–अष्टसह० पृ० ८। (२) नियोगस्य। (३) विषयनियोगयोः–आ० टि०। (४) यागादे। (५) तुलना–"द्वितीयपक्षेऽपि नासौ नियोग, फलस्य भाव (भावि) त्वेन नियोगत्वाघटनात्, तदा असन्निधानाच्च। तस्य वाक्यार्थत्वे निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुत प्रभाकरमतसिद्धि?"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। अष्टसह० पृ० ८। (६) सुगतमत। (७) "स हि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा?"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४। अष्टसह० पृ० ८। (८) तुलना–"नियुक्तेन निवृत्तिश्चेत् (?) सर्वस्यात प्रसज्यते। तत्स्वभावतया काशमनाकाश न कस्यचित्॥ स्वभावोऽपि विपर्यासादन्यथा यदि गम्यते। विपर्यासाविपर्यासव्यवस्था क. करिष्यति॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १५। (९) नियोगस्य। (१०) सौगतादीनाम्। तुलना–"तेषा विपर्यासादप्रवर्तक इति चेत्, परेषामपि विपर्यासात् प्रवर्तकोऽस्तु। शक्य हि वक्तुम्–प्राभाकरा विपर्यस्तत्वात् शब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते नेतरे, तेषामविपर्यस्तत्वादिति। सौगतादयो विपर्यस्ता तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् न पुन प्राभाकराः इत्यपि पक्षपातमात्रम्; तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात्।"–अष्टसह० पृ० ९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६४। (११) प्राभाकराणामपि। (१२) तुलना–"पदार्थ एव वाक्यार्थो न च सोऽन्यगोचरः। तत्र पदार्थस्यैव पदार्थान्तरोपकल्पितविशेषस्य वाक्यार्थत्वादपदार्थत्वे तदनुपपत्ति.।"–विधिवि० पृ० ४९।

1–तानुसारेण प्र–आ०, ब०। 2 अथ कि–श्र०। 3 इत्यप्येतेन ब०, श्र०। 4 तथागता–श्र०। 5–स्वभावात् आ०। 6 इति वक्तु आ०, श्र०।

न्यसापेक्षपदान्तरनिरपेक्षपदार्थसमुदायलक्षणत्वाद् वाक्यार्थस्य । तन्न नियोगोऽपि वाक्यार्थो घटते ॥ छ ॥

येऽपि प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणः[1] प्रयोक्तृधर्मः प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रसिद्धो विधिः इत्यामनन्ति[2], तेऽप्यतत्त्वज्ञाः; पुरुषसम्बन्धशून्येषु[3] वेदवाक्येषु पुरुषधर्मतया प्रसिद्धानां प्रेषणादीनाम् अत्यन्तासंभवतो विधित्वकल्पनानुपपत्तेः । तत्र[4] तेषां[5] कल्पने वा पौरुषेयत्वानुषङ्गाद् अपौरुषेयत्वकल्पनानुपपत्तिरिति एकं सन्धित्सोरन्यत्प्रच्यवते । असत्कारपूर्विका[6] हि व्यापारणा प्रेषणा उच्यते, सत्कारपूर्विका तु अध्येषणा, परेष्टस्य अप्रतिकूलवृत्तिरभ्यनुज्ञेति सर्वे एते प्रेषणादयः पुरुषगताशयविशेषस्वभावत्वाद् अपौरुषेयेषु वेदवाक्येषु न मनागपि सङ्गच्छन्ते इति ॥ छ ॥

अन्ये[7] तु प्रैषादीनां प्रत्येकं व्यभिचारात् अनेकशक्तिकल्पनादोषाच्च सर्वत्राऽव्यभिचारिणः प्रवर्त्तनामात्रस्यैकस्य विधित्वमिति प्रतिपन्नाः, तेऽप्यसमीक्षिततत्त्वाः, निर्विशे-

(१) "तत्र विधि प्रेरणम् भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम् । निमन्त्रण नियोगकरणम्, आवश्यके प्रेरणेत्यर्थ । आमन्त्रण कामचारानुज्ञा । अधीष्ट सत्कारपूर्वको व्यापार ।"–वैयाकरणभू० पृ० १४२ । (२) नैयायिकाअपि । "विधिर्विधायक । यद् वाक्य विधायक चोदक स विधि, विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा । यथा अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि ।"–न्यायभा० २।१।६३ । "यद्वाक्य विवत्ते इदं कुर्यादिति स नियोग । अनुज्ञातु यत्कर्त्तारमनुजानाति तदनुज्ञावाक्यम् ।"–न्यायवा० पृ० २६९ । "विधिर्वक्तुरभिप्राय प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः । अभिधेयोऽनुमेया तु कर्त्तुरिष्टाभ्युपायता ॥ प्रवृत्त्यादौ इत्यादिपदान्निवृत्ति, विषयसप्तमीयम्, तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिविषय आप्ताभिप्रायो लिङर्थ इत्यर्थ । प्रवर्त्तकमिष्टसाधनताज्ञानमेव लिङर्थस्त्वाप्ताभिप्रायो लाघवादिति भाव ।"–न्यायकुसु०, प्रका० ५।१५ । (३) "अपौरुषेये प्रैषादिर्नृधर्मो नावकल्पते । लोके हि प्रतीत प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षणोऽभिप्रायातिशय प्रयोक्तृधर्मो लिङर्थ, तस्यापौरुषेयेषु वेदवाक्येष्वसभव । प्रतीते सभव इति चेत्, न, पौरुषेयत्वापत्ते ।"–विधिवि० पृ० २३ । "आज्ञादिस्तु न वेदार्थ पुंधर्मत्वेन युज्यते ।"–न्यायसु० पृ० ३७ । (४) वेदे । (५) पुरुषाभिप्रायरूपाणा प्रैषादीनाम् । (६) द्रष्टव्यम्–पृ० ५८० टि० ४ । (७) मीमासकवैयाकरणादयः । "एतच्चतुष्टयानुगतप्रवर्त्तनात्वेन वाच्यता लाघवात् । उक्तञ्च–अस्ति प्रवर्त्तनारूपमनुस्यूत चतुर्ष्वपि । तत्रैव लिङ् विधातव्य किं भेदस्य विवक्षया ॥ न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथापि वा । विध्यादीनामुपादान चतुर्णामादितः कृतमिति । प्रवर्त्तनात्वञ्च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम् । तच्चेष्टसाधनत्वस्यास्ति इति तदेव विध्यर्थ ।"–वैयाकरणभू० पृ० १४५ । "तत्र च प्रैषादीना विशेषाणा व्यभिचारित्वेन अवाच्यत्वात् सर्वानुयायिन प्रवर्त्तनासामान्यस्य वाच्यत्वेऽवगते "–न्यायसु० पृ० ३० । "तत्र चावापोद्वापाभ्या प्रवर्तनाया विधिशक्तिमवधारयति । प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारः प्रवर्तना स च व्यापार प्रैषादिरूपो विविध इति प्रत्येक व्यभिचारित्वाद्विधिशब्दवाच्यत्वानुपपत्ते प्रवर्तनासामान्यमेव विधिशब्दवाच्यमिति कल्पयति ।"–मीमासान्याय० पृ० १८० । (८) "न च प्रवर्तनामात्रमविशेषमकर्तृकम् यदपि मतम्–अनेकसामर्थ्यपरिकल्पनादोषाद् व्यभिचाराच्च प्रैषादीनामवाच्यत्वादव्यभिचारात्प्रवर्तनामात्र लोके लिङाद्यर्थ तस्य वेदेप्युपपत्तिरिति; इदमप्यचतुरस्रम्, निर्विशेषसामान्यायोगात्, अकर्तृकत्वे व्यापारानुपपत्तेश्च । न तावत् प्रैषादयो विशेषा सम्भविन. । नाप्यन्यो विशेष कश्चिदुपदर्श्यते । तदुपदर्शने वा सामान्यस्याभिधानमस्मिन्नवसरे व्यर्थम् । तदेतदपास्तसकलभेद प्रवर्तनासामान्य ब्राह्मण्यमिव समुज्झितकठादिभेद स्यात् । प्रवर्तना च प्रवर्तयितुर्व्यापार, स तमन्तरेण नातिविराजते, पुरुषस्याभावात् शब्दस्य च प्रवर्तकत्वनिषेधात् प्रवर्त्तयितुरभाव ।"–विधिवि० पृ० २५-२६ ।

1–लक्षणप्रयो–आ० । 2–प्रेषणादीना श्र० ।

षस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात्[1]। यथैव हि खण्डादिविशेषशून्यं गोत्वादि न संभवति, एवं परित्यक्तप्रैषादिविशेषं प्रवर्त्तनामात्रमपि। वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमे पुरुषगताशयविशेषस्वभावानां प्रैषादिविशेषाणामसंभवात् का प्रवर्त्तनामात्रस्य संभावनापि ?

यच्चोक्तम्[1]–'प्रैषादीनां व्यभिचारात्[2]' इत्यादि; तदयुक्तम्[2]; यथासंभवं यथास्वरूपञ्च प्रवर्त्तकत्वाभ्युपगमात्। यदा हि प्रेषणातः प्रवर्त्तते तदा तस्याः प्रवर्तकत्वम्, यदा तु अध्येषणातस्तदा तस्या इति। नहि 'कदाचिद्दीर्घाः शुक्लादिस्वरूपास्तन्तवः पटस्य जनकाः कदाचित्तु ह्रस्वा रक्तादिस्वभावा वा' इत्येतावता तन्तुव्यतिरिक्तस्यान्यस्यैव कस्यचित्पटोत्पत्तिं प्रति उपादानकारणत्वं युक्तं प्रतीतिविरोधात्॥ छ॥

अन्ये त्वाहुः[3]–फलं प्रवर्त्तकम्, तद्व्यापारः प्रवर्त्तना। सर्वोऽपि हि प्रेक्षापूर्वकारी फलोद्देशेन प्रवर्त्तते, अतः फलस्य प्रवर्त्तकत्वम्। प्रीत्यात्मकता तस्य प्रवृत्तौ व्यापारः स एव च प्रवर्त्तना विधिरिति; तदप्यसङ्गतम्, फलस्य[4] प्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः। नहि अवगतमपि फलम् अर्थितां विना प्रवृत्तिहेतुः। सर्वस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अर्थिता च न फलस्य व्यापारः, किन्तु प्रतिपत्तुरिच्छारूपतया[5] तद्धर्मत्वात्[6]। अथ[7] फलस्य प्रीत्यात्मकत्वमन्तरेण इच्छाया एवानुत्पत्तेः तदुत्पादनद्वारेण[8] फलधर्मस्य प्रीत्यात्मकत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वम्, नन्वेवमपि[9] प्रीत्यात्मकत्वस्य फले एवाऽवस्थानात् तत्रैव[10] आत्मनः प्रवृत्तिः स्यात् न कर्मणि। अतो[11]ऽर्थान्तरत्वात्तस्य[12]। नह्यन्यद्[13]भिलषितम् अन्यत्र[14]

(१) पृ० ५८८ पं० १०। (२) प्रेषणाया विधित्वे अध्येषणाया विधित्व न स्यात् अध्येषणाया विधित्वे च प्रेषणाया विधित्वाभाव इति परस्पर व्यभिचार। प्रेषणादिषु प्रत्येक शक्तिकल्पने गौरवमिति भाव। (३) जयन्तभट्टप्रभृतय। "फलस्यैवेष्यमाणस्य पश्यन् प्रेरकता मतः।' तस्मात्पुस प्रवृत्तौ प्रभवति न विधिर्नापि शब्दो लिडादि। व्यापारोप्येतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया॥ न श्रेय साधनत्व विधिविषयगत नापि रागादिरेव। तेनाख्यत्काम्यमान फलममलमति प्रेरक सूत्रकार॥ क्वचित्साक्षात्पदोपात्त कचित्प्रकरणागतम्। क्वचिदालोचनालभ्य फल सर्वत्र गम्यते॥' तस्मात्फलस्य साध्यत्वात् सर्वत्र तदवर्जनात्। क्रियादीनाञ्च तादर्थ्यात् तस्य वाक्यार्थतेष्यते॥'''प्राधान्ययोगादथवा फलस्य वाक्यार्थता तत्र सता हि यत्न। प्रयोजन सूत्रकृता तदेव प्रवर्तकत्वेन किलोपदिष्टम्॥"–**न्यायम० पृ० ३६२–६५।** (४) "यदि मन्येत फल प्रवर्त्तक तद्व्यापार प्रवर्त्तना, फलार्थिन पुरुषस्य तत्साधने प्रवृत्ते अन्यथाऽभावात्। न कश्चिद्व्यापारविशेष प्रवर्तना अपि तु प्रवृत्तिसमर्थं व्यापारमात्र च प्रयोजकव्यापार, भिक्षा वासयति कारीषोऽग्निरध्यापयतीति दर्शनात्, तदसत्, अर्थिता व्यापृति पुसो नियम किन्निबन्धन। फलसाधनता कर्मनिश्चेया साध्यता कदा॥"–**विधिवि० पृ० २६।** (५) आत्मन–**आ० टि०।** (६) पुरुषधर्मत्वात्। "फलार्थिता चेत् प्रवृत्तिहेतु, सेच्छा तद्योगो वा इच्छासमवायो वा 'कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधान त्वतल्भ्याम्' इति वचनात् पुरुषधर्म इति न फल व्यापृति।" –**विधिवि० पृ० २७।** (७) "अथ तदिच्छोपहारमुखेन फलस्य प्रवृत्तिहेतुर्धर्म प्रीत्यात्मता फलव्यापार प्रवर्त्तना, सापि तत्रैव न कर्मणि। फलव्यापाराच्च प्रवर्त्तमान सर्वत्र प्रवर्तेत नियमनिमित्ताभावात्।" –**विधिवि० पृ० २७।** (८) इच्छोत्पादनमुखेन। (९) सूरि'–**आ० टि०।** (१०) फले एव। (११) फलात्–**आ० टि०।** (१२) कर्मण–**आ० टि०** (१३) फलम्। (१४) कर्मणि यागादौ।

1 **सामान्यस्यासंभ–**श्र०। 2–**युक्तं यथास्व–**ब०।

प्रवृत्तिः अतिप्रसङ्गात्। अ[१]थाऽभिप्रेतफलसाधनत्वात् कर्मण्येव प्रवृत्तेर्नातिप्रसङ्गः, न खलु प्रेक्षापूर्वकारिणः उपायं परित्यज्य अनुपायेऽसाधने वा साध्ये प्रवर्त्तन्ते, कथमेवं फलस्य प्रवर्त्तकता त[२]त्साधनस्यैव तत्प्रसङ्गात्।

न[३]नु निय[४]तकर्म[1]साध्यतायाः फलसमवेतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् फलस्य प्रवर्त्तकत्वम्, नियते च उपायभूते कर्मणि प्रवृत्तिरविरुद्धा, ननु केयं तत्सा[५]ध्यता-फलस्य स्वरूपम्, श[2]क्तिभेदो वा ? यदि स्वरूपम्, तदा तस्य[६] सर्वत्राविशेषात् निय[७]तकर्मणीव[८]अर्थान्तरेऽपि प्रवृत्तिः स्यात्। न[3]हि तृप्तिः भुज्यपेक्षयैव तृप्तिर्भवति नाग्न्यपेक्षया इति, तृप्त्यर्थिना अग्नावपि प्रवर्त्तितव्यम्। श[९]क्तिभेदोऽपि फलस्य स्व[4]सत्त्वकाले, अभावकाले वा स्यात् ? त[१०]त्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, यतः प्रतिनियतादेव कर्मणः प्रतिनियतस्य फलस्योत्पत्त्यर्थं तच्छक्तिभेदः परिकल्प्यते। न चोत्पन्नस्य सम्बन्धिनी शक्तिः उत्पादनियमे समुपयुज्यते। न खलु उत्पन्नं शक्तिवशादुत्पद्यते विरो[११]धात्। द्वितीयविकल्पोऽप्यसुन्दरः, न[१२]हि फलमविद्यमानं खपुष्पप्रख्यं सा[5]ध्यताख्यशक्तिभेदाश्रयो भवितुमर्हति। त[१३]दा[6]श्रयत्वे वा तस्या[१४]ऽसत्त्वविरो[१५]धः, असतः सकलशक्तिविरहलक्षणत्वात्।

किञ्च, इदं फलं विद्यमानं स[7]त् पुरुषं प्रेरयति, अविद्यमानं वा ? यदि विद्य-

(१) "तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते न सर्वत्र, तत एव तर्हि तत्साधनत्व प्रवृत्तिहेतु कर्मणि न फलरूपम् तच्च कर्मसमवायीति कर्म प्रवर्तक स्यात्। चोदयति–तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते सर्वत्र सर्वेषा फलसाधनत्वाभावात्। परिहरति–तत एव तत्साधनत्वे सति प्रवृत्तिभावादेव। भवतु तर्हि तत्साधनत्व प्रवृत्तिहेतु कर्मणि, न फलरूपम्। भवतु को दोष ? इत्यत आह–ततश्च कर्मसमवायि न फलसमवायीति कर्मैव प्रवर्तक स्यात्।"–विधिवि०, टी० पृ० २७-२८। (२) फलसाधनभूतस्य यागस्यैव प्रवर्तकत्व स्यात्, यागस्य तत्साधनत्वे निश्चिते सत्येव प्रवृत्तिदर्शनात्। (३) "एव तर्हि तत्साध्यता प्रवृत्तिहेतु, सा च फलसमवायिनीति न दोष, तथाहि समभिलषितस्य तृप्त्यादे कर्मविशेषेण साध्यत्वात्तत्रैव प्रवृत्ति., का पुनरिय साध्यता ? यदि रूप फलस्य; सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्ग। एतदुक्त भवति–फलसमवायिन्यपि साध्यता साधनाधीननिरूपणतया साधनमपि गोचरयति न पुनरसाधनमपि तेनैव तस्माद्विशेषात् साधन एव प्रवर्त्तयति न तु सर्वत्रेति। तदेतद् दूषयति–का पुनरिय साध्यता ? यदि रूप फलस्य, ततस्तस्य साधनाधीननिरूपणत्वाभावान्न साधने प्रवर्त्तयेत् प्रवर्त्तयेद्वा सर्वत्रैव अन्यत्वाविशेषात्।"–विधिवि०, टी० पृ० २८। (४) ज्योतिष्टोमादियागजन्यता हि स्वर्गादिफलसमवायिनी अत वस्तुत यागसाध्यताया प्रवृत्तिहेतुत्वे फलस्यैव प्रवर्तकत्व फलितमिति भाव। (५) नियतकर्मसाध्यता। (६) फलभूतस्वर्गस्वरूपस्य। (७) ज्योतिष्टोमादिवत् (८) गोवधादौ–आ० टि०। (९) शक्तिविशेष। (१०) "कदा पुनरय शक्तिभेद साध्यताभिधान ? फलस्य भावसमये न तावत्, वैयर्थ्यादप्रवृत्तिहेतुत्वाच्च। न खलूत्पन्नस्योत्पाद यद्योगिनी शक्तिरर्थवती। नापि सिद्धे फले तत्साधने कश्चित्प्रवर्तते।"–विधिवि० पृ० २९। (११) उत्पन्नस्य उत्पत्तिविरोधात्, अनुत्पन्नस्यैव हि समुत्पादो दृश्यते। (१२) "अभावकालेप्यसत् कथ शक्तिमत् खपुष्पवत्"–विधिवि० पृ० २९। (१३) साध्यतारूपशक्तिविशेषाधारत्वे। (१४) फलस्य। (१५) शक्त्याधारत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भाव।

1–साध्यतया प्रवृत्ति–श्र०। 2 तच्छक्ति–श्र०। 3 नहि भु–श्र०। 4 स्वसत्ताकाले श्र०, ब०। 5 साध्यताशक्ति–श्र०, ब०। 6 तदाश्रयसत्त्वे वा ब०। 7 तत् श्र०।

मानम्, किमर्थं प्रेरयति ? फलार्थी हि पुरुषः प्रवर्त्तते, त[1]च्चेद् विद्यते; अलं प्रवृत्त्या। नहि लोके यस्य यदस्ति स तदर्थं पुनः प्रवर्त्तते इति प्रतीतम् प्र[2]वृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्। सतोऽपि फलस्य आत्मसम्बन्धितां कर्त्तुं प्रवर्त्तते, इत्यप्ययुक्तम्, यतः फलं सुखम्, दुखाभावश्च, तदुभयमप्युपजायमानम् आत्मसम्बद्धमेवोपजायते। अथ स्वर्गकामः पुरुषः स्वर्गादेः फलस्य विद्यमानस्यैव आत्मसम्बद्धतां कर्त्तुं प्रवर्त्तते, नन्वेवं पु[3]त्रकामादौ का वार्त्ता ? नहि पुत्रादिफलस्य तदा विद्यमानता संभवति प्रतीतिविरोधात्।

किञ्च, इदं फलं सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः, साध्यताविशिष्टं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धेपि फले पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात्। न च सिद्धस्य सिद्धये प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्युक्ता [4]तदनुपरमप्रसङ्गात्। अथ साध्यतावच्छिन्नं फलं प्रवृत्तिहेतुर्न केवलम्; तदप्यनुपपन्नम्; [1]अनर्थिनोऽप्यर्थ[5]ः प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। फलं हि साध्यतया विशिष्टं प्रतीयमानं यदि प्रतिपत्तारं प्रवर्त्तयति तदा [2]अनर्थिनमपि प्रवर्त्तयेत्त[6]द्विशेषात्। तन्न विद्यमा[4]नस्यास्य प्रेरकत्वं युक्तम्। नाप्यविद्यमानस्य, [7]अस्याऽस[8]तः कारकत्वानुपपत्तेः, 'असच्च प्रेरकञ्च'-इति वि[9]प्रतिषेधात्॥ छ॥

येऽपि 'फलाभिलाष एव [10]प्रेर्यगतः प्रेरकत्वाद् विधिः, अनर्थिनः प्रवृत्त्यप्रतीतेः, स हि शब्दमन्तरेणापि क्वचिदभिलषिते वस्तुनि अर्थिनं पुरुषं प्रवर्त्तयति इत्याचक्षते, तेऽप्यसमीक्षितवाचः, अभिलाषस्य अव्यापकतया प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः। तदव्यापकता च बालकप्रवृत्तौ तदसंभवात्सुप्रसिद्धा। तथाहि-कश्चिदाचार्यप्रेरितो बालकः कार्यं किमपि कुर्वन् केनचित् प्रयोजनं पृष्टः सन्नुत्तरमाह-'न वेद्मि करणे अस्य किमपि प्रयोजनम्, केवलमाचार्यप्रेरितः करोमि' इति। ततः फलाभिलाषमन्तरेणापि पुरुषप्रवृत्तिप्रतीतेः अव्यापकः सर्वप्रवर्त्तनानां फलाभिलाषः॥ छ॥

अन्ये तु 'कर्मैव अभिप्रेतार्थप्रसाधकत्वाद् विधिः' इति प्रतिपन्नाः, तन्मतमप्यसङ्गतम्, [11]कर्मणो विधिविषयतया विधिस्वभावत्वा[12]नुपपत्तेः। [5]विधेर्विषयो हि कर्म

(१) फल स्वर्गादि। (२) निष्पन्नेऽपि फले प्रवृत्तौ प्रवृत्त्यनुपरमः स्यात्। (३) पुत्रकामनया क्रियमाणे पुत्रेष्टियज्ञे न हि पुत्र स्वर्गादिवत् विद्यमानोऽस्ति। (४) प्रवर्त्यविरामप्रसङ्गात्। (५) अर्थितारहितम्-आ० टि०। (६) साध्यतावच्छिन्नात् फलात्। (७) अविद्यमानफलस्य। (८) असत्त्वात्। (९) प्रेरकत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भाव । (१०) पुरुषनिष्ठ। (११) "अस्तु तर्हि कर्म प्रवर्तकम्, अभिमतसाधनता तस्य प्रवर्तना, प्रवृत्तिहेतुरूपत्वात्; न, विषयत्वात्। तदेतद् दूषयति 'न' तस्य विषयत्वात्, प्रवृत्तिकर्तु प्रयोजक प्रवर्त्तक । सिद्धश्च स भवति। तदिह सिद्ध चेत् कर्म प्रवृत्ते प्राक् प्रवृत्ते भावनाया विषयो न भाव्यम्। न जातु गगनमस्या भाव्य भवितुमर्हति। विषयश्चेत् कर्म, असिद्धत्वात् कथ प्रवर्त्तकमित्यर्थ. ।"-विधिवि०, टी० पृ० ३५। (१२) न हि घटस्य ज्ञानविषयत्वे ज्ञानस्वभावता युक्ता-आ० टि०।

1 अर्थिनोऽ-आ०। 2 अर्थिनमपि आ०। 3-प्रेदविशे-श्र०, ब०। 4-मानस्य प्रेर-आ०। 5 विधिर्विष-श्र०, विधिविष-ब०।

लोके प्रसिद्धं न तत्[१]स्वभावम्, अतोऽन्येनात्र[२] प्रव[1]र्त्तकेन हि भवितव्यम्। नहि स्वस्यैव स्वात्मसिद्ध्यर्थं प्रवर्त्तकत्वं युक्तं विरोधात्।

किञ्च, उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्ध्यर्थं पुरुषं प्रवर्त्तयति, अनुत्पन्नं वा ? तत्र उत्पन्नस्य स्वरूपसिद्धेर्जातत्वात् पुरुषप्रेरणा व्यर्था। अनुत्पन्नस्य तु प्रेरकत्वानुपपत्तिः। सदेव हि किञ्चित् कस्यचित्प्रेरकं नासत् खरविषाणादिकम्, त[३]थाविधस्य कारकत्वायोगात्। असता च[४]ानेन स[2]ह अपौरुषेयवचसः सम्बन्धासंभवात् कथं तद् वेदवाक्यैः प्रतिपाद्येत यतः पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वात् तद् वाक्यार्थः स्यात्। अथ सामान्या[७]कारेण सत् कर्म विशेषा[८]कारसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयति, तन्न, येनांशेन तत् सन्न ते[५]नांशेन पुरुषसाध्यम्, येन चांशे[६]न साध्यं न तेन त[९]दभिधेयं सम्बन्धासंभवात्। नहि सम्बन्धा[१०]ऽभिधेयाभिधानानां नित्यत्वाभ्युपगमे अनित्ये कर्मविशेषे नित्यस्य सम्बन्धस्य संभावनापि संभवति। ल[११]क्षणया त[१२]त्प्रतिपत्तिः, इत्यप्ययुक्तम्, त[१३]स्यास्त[१४]द्वत् शब्दार्थनिरूपणाव[१५]सरे निरस्तत्वात् ॥ छ ॥

अथ [१६]आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः, 'त[3]वेदं कर्म' इत्युक्ते हि क्रियासम्बन्धमात्मन्यवगम्य प्रवर्त्तमानाः प्रतीयन्ते लौकिका इति, तदप्ययुक्तम्, न[१७]हि क्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिर्लोके प्रतीयते, अपि तु त[4]दनुरोधित[१८]या, अन्यथा सर्वस्यैव 'त[5]वेदं कर्म' इति कर्मसम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिः प्रसज्येत,

(१) विधिस्वभावम्। (२) कर्मणि यागादौ। (३) असत प्रवृत्तिक्रियाया कर्तृत्वरूपस्य प्रवर्त्तकत्वस्य असम्भवात्। (४) कर्मणा। (५) याग इति–आ० टि०। (६) कारीषादि–आ० टि०। (७) सामान्येन–आ० टि०। (८) विशेषरूपेण–आ० टि०। (९) वेदवाक्येनाभिधेयम्। (१०) सङ्केत-अर्थ-शब्दानाम्। (११) "ननु विधेर्लिडादिवाक्यताभ्युपगमात् तदुच्चारणात् प्रागसिद्धत्वे सति अगृहीतसम्बन्धत्वेन वाच्यत्वायोगाल्लिडाद्युच्चारणात् प्रागेव सिद्धे तत्परत्व न युक्तमित्याशक्य शब्दश्रवणानन्तरभाविप्रवृत्तिहेतुप्रेषणाध्येषणादिव्यापारानुवृत्तप्रवर्त्तनासामान्याभिधानेन तद्विशेषापेक्षायामपोरुषेये वेदे पुरुषधर्मस्य प्रेषणादेरसम्भवात् तद्व्यतिरिक्तविध्याख्यस्य विशेषस्य परिशेष्याल्लक्षणया गम्यमानस्य सम्बन्धग्रहणानपेक्षत्वेन प्राक् सिद्ध्यनपेक्षणादविरुद्धा शब्दव्यापरतेति "–न्यायसु० पृ० ५५९, तथा पृ० ३०। मीमांसान्याय० पृ० १८०। (१२) विधि। (१३) लक्षणाया। (१४) सम्बन्धवत्। (१५) पृ० ५७०। (१६) "यदपि समर्थनम्–अप्राप्तसम्बन्धया क्रियया आत्मन सम्बन्धस्य प्रतीत्या प्रवृत्ति यथाऽद्य तवेद कर्मेति लोके। अतश्च अज्ञातज्ञापनमप्रवृत्तप्रवर्त्तनमुभयविधप्राप्तिप्रतिषेधेन अप्राप्तक्रियाकर्तृसम्बन्धो विधिरिति विधिविदामुद्गारा।"–विधिवि० पृ० ४०। (१७) "नैतत्सारम्, यस्मात्–न प्रवृत्तिर्योगधियो लोकेऽभिप्रायवेदनात्। मृषा भवेत्तथा काम किं मुधैव प्रयस्यति ॥ प्रतिपद्यता नामायमात्मन क्रियायोग शब्दात्, त च तथाभावे तथेति निश्चिनोतु विपर्यये नैतदेवमिति। प्रवर्तते तु कस्मात् ? लोके त्वद्य तवेद कर्मेति वचनादधिगतवक्त्रभिप्रायो यो यदभिप्रायानुरोधी स प्रवर्तितुमर्हति अन्यथा सर्वस्य प्रवृत्ते।"–विधिवि० पृ० ४१–४२। (१८) वाक्यप्रयोक्तृपुरुषस्य अभिप्रायानुरोधात् प्रवृत्तिर्भवति अत अभिप्रायानुरोध एव विध्यर्थ स्यादिति भाव।

1–र्तकेन भवि–श्र०, ब०। 2 सह पौरु–श्र०। 3 तदेव कर्म श्र०। 4 तदविरोधितया ब०। 5 तदेवं कर्म श्र०।

अतस्तदनुरोधितापि प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः प्रसज्येत । सापि वा न प्राप्नोति, स्वामिवाक्यवद् वेदवाक्ये तस्याः[1] सत्त्वाऽसंभवात् । 'इदं कुरु' इति वाक्याद्धि स्वामिनोऽभिप्रायं विदित्वा तदिच्छानतिक्रमेण तदनुरोधितया प्रवर्त्तते । न चैतद् वेदवाक्ये संभवति वक्तुरसत्त्वात् ॥ छ ॥

[2]येऽपि स्वर्गादिफलसाधनत्वेन धात्वर्थं प्रतीत्य पुरुषार्थसाधनत्वादस्मिन्[3] प्रवर्त्तामहे इति श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मावगमः प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः' इत्याचक्षते, तेऽप्यशब्दार्थविदः; श्रेयःसाधनातायाः विधित्वेन लोकेऽप्रसिद्धेः, प्रैषादीनामेव तत्र[4] तत्त्वेन[5] प्रसिद्धेः । लिङादिशब्दवाच्यो हि विधिः । न च श्रेयःसाधनता तच्छब्दवाच्यतया लोके प्रसिद्धा, येनास्या[6] विधित्वं स्यात्, लोकानुसारेण च पदार्थव्यवस्था । "य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः[7]" [शाबरभा० १।३।३०] इत्यादिवचनात् ।

किञ्च, कस्येयं श्रेयःसाधनता-भावनायाः, धात्वर्थस्य वा ? न तावद् भावनायाः[8], तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण असिद्धस्वरूपत्वात् । नापि धात्वर्थस्य; यागादेः पशुवधप्रधानस्य श्रेयःसाधनत्वानुपपत्तेः । न खलु हिंसा श्रेयःसाधनम्; ब्राह्मणवधादेरपि तत्प्रसङ्गात्[9] । [1]विहितानुष्ठानत्वात्तत्साधनत्वे[10] 'सधनं ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादेरपि

(१) प्रयोक्तृपुरुषाभावात् अभिप्रायानुरोधितायाः अभावात् । (२) मण्डनमिश्रादय । मण्डनमिश्रा हि 'इद मच्छ्रेय साधनम्' इत्यवगमस्यैव प्रवृत्तिहेतुता स्वीकुर्वन्ति; तथा चोक्त तै –"पुंसा नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्य प्रवर्त्तक । प्रवत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥ प्रवत्तिसमर्थो हि कश्चिद् भावातिशयो व्यापाराभिधान प्रवर्तना । सा च क्रियाणामपेक्षितोपायतैव । न हि तथात्वमप्रतिपद्य तत्र प्रवर्तते कश्चित् । याप्याज्ञादिम्य प्रवृत्ति साऽपि कथचिदपेक्षितनिबन्धनत्वमुपाश्रित्यैव अन्यथाऽभावात् ।"–विधिवि० पृ० २४३ । "तथा चोक्तम्-तया धात्वर्थकार्यत्वे पद श्रुत्योपदर्शिते । भावनाया विधिश्रुत्या पुषार्थांशसाध्यतेति ॥ श्रेयःसाधनता ह्येषा नित्य वेदात् प्रतीयते (मी० श्लो० पृ० ४९ ।) इति च । तस्मादिष्टसाधनतैव विधि लिङाद्यभिधेयेति तद्युक्ताया भावनाया. फलमेव भाव्य धात्वर्थस्तु करणमिति (पृ० ४६) तेनाभिधाव्यापारप्रवर्तनाभिधानवत् प्रवर्तनारूपेण इष्टसाधनता शब्दोऽभिधत्ते न स्वरूपेणेति न प्रतीतिविरोध. । इदमेव भगवतो मण्डनमिश्रस्यापि 'पुंसा नेष्टाभ्युपायत्वत् क्रियास्वन्य प्रवर्तक । प्रवृत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् । एवङ्कारञ्च प्रवर्तनाप्रत्यय इत्यादि वदतोऽभिमतम् । तदेव शब्दकर्तृक प्रवर्तनारूपेष्टसाधनत्वाभिधानमेव शब्दभावनेति गीयते ।"–न्यायरत्नमा० पृ० ४७, ५३–५४ । "इष्टसाधनत्वमेव विधितत्त्वम्" तन्त्ररह० पृ० ४५ । "तथा च प्रवर्तनत्वानुरोधात् विधेरपि इष्टसाधनत्वादिकमेवार्थः"–मुक्ता० पृ० ५१६ । (३) ज्योतिष्टोमादियागे । (४) लोके । (५) विधित्वेन । (६) श्रेय साधनतापरनाम्न्या इष्टसाधनताया । (७) उद्धृतमिदम्–तौताति० पृ० १३४ । (८) तुलना–"किञ्च, भावनागत श्रेयःसाधनत्व प्रवर्त्तकमिष्यते तै, तच्च न पृथगभिधातु युक्तम् । भावनाया त्र्यशत्वेन तत्स्वरूपावगमसमये एतदशयो स्वर्गयागयो साध्यसाधनभावावगतिसिद्धे. ।"–न्यायमं० पृ० ३६१ । (९) श्रेय साधनत्वप्रसङ्गात् । (१०) यज्ञो हि वेदे विहितोऽत स· श्रेय साधनमित्युक्ते सत्याह । तुलना–"विधिपूर्वकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकाना विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्व मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गो भवतीति वचन प्रमाणमस्तु ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२ ।

1 विहितानुष्ठानस्य तत्सा–ब० ।

[1]विहितानुष्ठानत्वात् श्रेयःसाधनत्वानुषङ्गः । अप्रामाण्यञ्च ठकशास्त्रवद् वेदेऽप्यविशिष्टम् ।

अन्ये तु 'उपदेशो[2] विधिः' इत्यामनन्ति । उपदेशशब्देन[3] च[1] विषयो लिङादिः अभिधा चोच्यते । तत्र उपदिश्यते प्रत्याय्यते इत्युपदेशो विषयो यागादिः, उपदिश्यतेऽनेन इत्युपदेशो लिङादिः, उपदेशनमुपदेशः अभिधा उच्चारणमुच्यते[2], तदप्यसङ्गतम्, ठकोपदेशस्यापि विधित्वप्रसङ्गात् । भवत्परिकल्पितप्रक्रियायाः "*अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः*" [ ] इत्यादिवत् 'सधनं ब्राह्मणं हन्याद्भूतिकामः' इत्या[4]दावपि तुल्यत्वात् ।

किञ्च, परानुग्रहप्रवृत्तस्य आप्तस्य वचनम् उपदेशः प्रसिद्धः । न च वेदे तथा[5]विधः कश्चित् पुरुषोऽस्ति अपौरुषेयत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्कथमस्य[6] उपदेशतापि ? न खलु उपदेष्टृव्यतिरेकेण उपदेशः कदाचित्प्रतिपन्नः । गुरुवैद्याद्युपदेष्टृसद्भावे

(१) चौरशास्त्रविहितत्वात् । (२) "उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्"–**शाबरभा० १।१।५।** "ननु चोदनाया प्रामाण्य प्रतिज्ञात कथमुपदेशस्य साध्यते ? अत आह–"चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिन ।"–**मी० श्लो० सू० ५ श्लो० ११ ।** "उपदेशो नियोज्यार्थकर्मप्रस्थितचोदना । प्रथितो गुरुवैद्यादौ नित्येऽपि न न कल्प्यते ॥ यद्यप्याज्ञाऽभ्यर्थना वेदेऽनुपपन्ना, उपदेशस्तु युज्यते । सोऽपि तद्वदेव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो लोके प्रज्ञायते । तथाहि–आज्ञाऽभ्यर्थने हि नियोक्त्रर्थमनाहितनियोज्यफल कर्म गोचरयत । नियोज्यार्थं तूपदेशः । अनुज्ञा तु यद्यप्येव क्वचित् तथापि प्रवृत्तापुरुषविषयत्वान्नोपदेश । नियोज्यार्थकर्मगोचरमप्रवृत्तप्रवर्तनमुपदेशमाचक्षते धीराः । न हि गामभ्याज माणवकमध्यापय कुरु-यथाभिमतमित्युपदेशप्रतीति । नापि भैक्ष्य चेत् (चर) ज्वरित पथ्यमश्नीयादिति प्रतीति, भूयसा चैष पौरुषेयेषु कामार्थशास्त्रादिष्वाज्ञादिभिरनारूषितो लोके प्रज्ञायते, गोपालादिवच सु च मार्गाख्यान-परेषु अनेन पथा गच्छेति । प्रदर्शनार्थञ्चेदम्, अतोऽर्थशब्दाभिधोच्चारणादिज्ञानञ्च कर्मकर्तृकरणभाव-साधनेन उपदेशशब्देन उच्यते । प्रेषणादिवत् तैरपि हि यथाविवक्षितमर्थादयो निर्दिश्यन्ते ' सिद्धान्त-मुपक्रमते–उच्यते–उपदेशो नियो उपदेशस्तु युज्यते तस्य अपौरुषयेऽपि सभवात् । न ह्यसौ नियोजका-र्थकर्मेति वक्ष्यति, येन चेतनकर्तृक स्यात्, न चासौ न लौकिक. अप्रेरणात्मको वा येनाविधि स्यादित्याह-सोऽपि तद्वदेव आज्ञावदेव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो लोके प्रज्ञायते । एतदुक्त भवति–आज्ञाभ्यर्थनोपदेशा कर्मणि प्रवृत्तिजननेन तद्गोचरयन्तो भवन्ति प्रेरणात्मतया समाना । तेषामाज्ञाभ्यर्थनाभ्या गोचरी-क्रियमाण कर्म अनादृतनियोज्यप्रयोजनमाज्ञापयितुरभ्यर्थयमानस्य वा प्रयोजनायावकल्प्यते । उपदेश-गोचरस्तु कर्म अनादृतोपदेशकप्रयोजनमुपदेष्टव्यार्थमेवेत्ययम् आज्ञाऽभ्यर्थनाभ्यामुपदेशस्य भेद, प्रेरणा-त्मकत्व चेति नियोज्यार्थं कर्म यस्योपदेशस्य न तु नियोक्त्रर्थं स तथोक्त इत्यक्षरयोजना । अप्रस्थिनस्य अप्रवृत्तस्य पुस प्रस्थापना चोदना' ननूपदेशो विधि, स चार्थभेदाभिधायक, शब्द' इति क्वचित्क्वचिदु-च्चारणमाह शब्दस्योच्चारणमिति । क्वचिदर्थं विध्युद्देशेनैकवाक्यत्वादिति । क्वचिद्वचनम् चोदनेति क्रियाया प्रवर्तक वचनमिति । क्वचित् ज्ञान शास्त्र शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानमिति, वार्तिक-कारश्च अभिधा भावनामाहुरित्यभिधामिति । अत आह–प्रदर्शनार्थं चेद विशिष्ट शब्दो विधिरिति । अतोऽर्थशब्दाभिधोच्चारणादिज्ञान च कर्मकर्तृकरणभावसाधनेनोपदेशशब्देन यथायथमुच्यते"–**विधिवि०, टी० पृ० २३८–२४१ ।** (३) कर्मकरणभावसाधनेषु क्रमशः । (४) ठकशास्त्रीयवाक्येष्वपि (५) परानुग्रहप्रवृत्त. । (६) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि विधिवाक्यस्य ।

1 **च प्रविषयो** ब० । 2–**उच्चारमुच्यते** श्र० ।

सत्येव 'भैक्षं चर, ध्यानाध्ययने कुरु, ज्वरिते[1] औषधं पिबेत्, पथ्यमश्नीयात्' इत्याद्युपदेशस्य[2] प्रतीतेः। न च शब्द[१] एव उपदेष्टा इत्यभिधातव्यम्; अव्युत्पन्नस्याप्यतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। अथ शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसव्यपेक्ष एवासौ तत्त्वैवमुपदिशति[२]; ननु कुतस्तद्व्युत्पत्तिः ? विशिष्टपुरुषाच्चेत्, स एव उपदेष्टाऽस्तु किमनया परम्परया ? प्रतिषेत्स्यते च अपौरुषेयत्वमस्य[३] अग्रे इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ छ ॥

येपि विषयस्य यासौ कर्त्तव्यताप्रतीतिः सैव प्रवर्त्तकत्वाद्विधिः इति प्रतिजानते; नहि 'इदं मे कर्त्तव्यम्' इत्यप्रतिपद्यमानः कश्चित्प्रवर्त्तते इति; तेऽप्यसमीक्षितवचसः; यतः किं कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिः निर्विशिष्टा प्रवृत्तिहेतुः, श्रेयःसाधनताविशिष्टा वा ? तत्राद्य[3][४]पक्षोऽयुक्तः[4], सर्वस्य सर्वत्र कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण [५]प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तथा च ब्राह्मणादिवधकर्त्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण भवतस्तद्वधादावपि[६] प्रवृत्तिः स्यात्। अथ श्रेयःसाधनताविशिष्टा सा[७] प्रवृत्तिहेतुः; तर्हि श्रेयःसाधनतैव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः स्यान्न कर्त्तव्यता [८]तस्यास्ताम[९]न्तरेणाऽप्रवर्त्तकत्वात्। नचैतद[१०]प्युपपन्नम्, श्रेयःसाधनतायां[5] विधित्वस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात् ॥ छ ॥

[११]अपरेषां मतं प्रतिभैव प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः। नहि प्रतिभाव्यतिरेकेण लिङा-

(१) "ननूक्तमुपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्; यद्येवमव्युत्पन्नस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्ग.। उच्यते–विशिष्ट पुरुषार्थस्य शुद्धस्योपायमाह य । पुरुषार्थो यदा येन यो नरेणाभिकाङ्क्ष्यते ॥ पुरुषार्थस्योपायमनवगतमवगमयन्नुत्कर्षाद्विशिष्ट शब्द उक्त, अन्यथा सर्व एव शब्दः शब्दान्तराद् भिन्न इत्यविशेषणमेव स्यात्। अतो नाऽविदितार्थस्य प्रवृत्ति ।"–विधिवि० पृ० २४०। (२) पुरुषार्थोपायताम्। (३) वेदस्य। (४) तुलना–"ननु कर्त्तव्यमिति प्रतिपत्ते प्रवृत्ति । अत्र केचिदाम्नाय प्रति श्राद्धमानिन प्राहु–ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्तेः प्रवृत्ति । इदमाकूतम्–कार्यदर्शनोन्नेयप्रवृत्तय खल्वमी लिङादय । कार्यञ्च प्रवृत्तिलक्षण वृद्धानां लिङादिश्रवणसमनन्तरमुपलभ्यते। तञ्च बुद्धिपूर्वक स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिवत्। अनुमिता च बुद्धि अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिगोचरचारिणी प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिवत्। तस्याश्च विषय स्वयमेव चक्षुरुन्मील्य पिण्डिकरोग (डिण्डिकरागं) परित्यज्य पर्यालोचयन्तः शब्दव्यापारपुरुषाशयतत्समीहिततत्साधनताव्युदासेन कर्त्तव्यतामेव प्रतिपद्यामहे। तथाहि–स्तनपानादावपि न जातु समीहितोपाय इत्येव प्रवृत्ता स्म, किन्तु कर्त्तव्यमेतदिति लिङादिश्रवणानन्तरा प्रवृत्ति कर्त्तव्यताभिधानमेव लिङादीनामापादयति। तथा च विदितसङ्गतितया लिङादयो वेदेऽपि तामेवाभिदधते।"–**विधिवि० टी० पृ० २४४**। (५) तुलना–"नन्वपेक्षितोपायतामन्तरेण कर्त्तव्यमिति शतशोऽप्यभिधीयमान न प्रवृत्तये कल्प्यत इत्यत आह–कथ हि तथा प्रतिपद्यमानो न प्रवर्त्तेत ? शब्दस्तावत्कर्तव्यताया विदितसङ्गति तामवगमयति। तथा नैमित्तिकनिषेधाधिकारयोरसौ प्रतीयमाना न शक्या नेति वक्तुम्।"–**विधिवि० टी० पृ० २४५**। (६) ब्राह्मणवधादिनिषिद्धे कर्मणि। (७) कर्त्तव्यताप्रतिपत्ति । (८) कर्तव्यताप्रतीते । (९) श्रेय साधनताम्। (१०) श्रेयःसाधनताविशिष्टकर्तव्यताप्रतीतेर्विधित्वम्। (११) वैयाकरणानाम्। "अभ्यासात्प्रतिभाहेतु शब्द सर्वोऽपरै स्मृत । बालाना च तिरश्चा च यथार्थप्रतिपादने ॥११९॥ विच्छेदग्रहणेऽर्थाना प्रतिभाऽन्यैव जायते। वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥१४५॥ इदं तदिति साऽन्येषामनाख्येया कथञ्चन।

1–त ओषधं आ०। 2–पदेशप्रतीते आ०। 3–द्य प–श्र०, ब०। 4–क्त सर्वत्र आ०। 5–ताया विधि–ब्र०, श्र०।

दिव्यापारोऽपि बलवत्सलिलसमीरणन्यायेन पुरुषं प्रवर्त्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। नापि विषयप्रतिपत्तिमात्रम्, [१]अत एव। अतो या काचित् प्रवृत्तिः सा सर्वा प्रतिभासमानाकारनिर्णय[२]रूपप्रतिभापूर्विकैव। [३]नहि प्रतिभातेऽप्यर्थे यावत् सुखसाधनमिदमिति प्रतिभा नोत्पद्यते तावत् कश्चित् प्रवर्त्तते। अतः साधनविशेषे[४] पुरस्कृते[५] क्रियाविशेषपरिस्फुरणं प्रतिभा। उक्तञ्च–" *विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्नक्रियाप्रतीत्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा*[६] " [विधिवि० पृ० २४६] इति, तदप्यसारम्, यतः [2]सिद्धे प्रतिभास्वरूपे विधिरूपता स्यात्। न च भवत्प्रतिपादितं प्रतिभायाः स्वरूपं युक्तम्। इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवम् अर्थतथाभावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति [७]प्रसिद्धम्–'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्यादिवत्, न पुनः प्रतिभासमानाकारनिर्णयरूपतामात्रम्, निर्विकल्पका[८]ध्यक्षोत्तरकालभाविनः सविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि तद्रू[९]पतया प्रतिभात्वानुषङ्गात्, तथा च सविकल्पकप्रत्यक्षवार्त्तोच्छेदः स्यात्।

यदपि साधनविशेषे क्रियाविशेषपरिस्फुरणम्, तत्किं पूर्वाहितसंस्कारवशात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारानुसारतः, चोदनातः, श्वो मे भ्रातेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा स्यात्? तत्राऽन्त्यविकल्पोऽयुक्तः, अश्रुतचोदना[१०]वाक्यस्य यागादिसाधने क्रियाविशे-

प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ॥१४६॥ उपश्लेषमिवार्थाना सा करोत्यविचारिता। सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्त्तते ॥१४७॥ साक्षाच्छब्देन जनिता भावनानुगमेन वा। इतिकर्त्तव्यताया ता न कश्चिदतिवर्त्तते ॥१४८॥ प्रमाणत्वेन ता लोक सर्वः समनुपश्यति। समारम्भा प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥१४९॥"–**वाक्यप० २।११९, १४५-४९।**

(१) सर्वस्य श्रोतु प्रवृत्तिप्रसङ्गादेव। (२) प्रतिभासमानाकारो यो निर्णय तद्रूपा प्रतिभा **–आ० टि०।** (३) तुलना–"न हीदमित्थमनेन कर्त्तव्यमित्यनुपजातप्रतिभाभेद प्रवर्तते प्रत्यक्षाद्यवगतेऽप्यर्थे। तत्र हि प्रमाणकार्यसमाप्ति। प्रतिभानेत्रो हि लोक इतिकर्त्तव्यतासु समीहते।"**–विधिवि० पृ० २४७–४८।** (४) यागादौ**–आ० टि०।** (५) साधनविशेषमुद्दिश्य कर्त्तुमध्यवसिते**–आ० टि०।** (६) व्याख्या–"न हि ते प्रतिभाविद· ये सवेदनमनिश्चयात्मक प्रतिभामाचख्यु। सशयो हि स। वय तु साध्यसाधनेतिकर्तव्यतावच्छिन्नायाः क्रियायाः प्रतिपत्तावनुकूला तत्प्रतिपत्त्या कार्येऽनुष्ठानलक्षणे कर्त्तव्ये सहकारिणी कर्त्तव्यमिति प्रज्ञा प्रतिभामध्यगीष्महि।"**–विधिवि० टी० पृ० २४७।** "नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा"**–तत्त्वसं० प० पृ० २८६।** (७) तुलना–"आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिनिबद्धेषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु च आत्ममनसो सयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभ यथार्थनिवेदन ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते। तत्तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम्। कदाचिदेव लौकिकाना यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदय मे कथयतीति।"**–प्रश० भा० पृ० २५८।** "प्रमाण प्रतिभ श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति दृश्यते।"**–न्यायम० पृ० १०६।** "प्रतिभा ऊह तद्भव प्रातिभम्"**–योग० तत्त्ववै० ३।३३।** "प्रातिभ स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानम्।"**–योगवा० ३।३३।** "तत्र दृष्टकारण विनैव अकस्माद् व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणे सामर्थ्यं प्रतिभा।"**–योगसं० पृ०५५।** "इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थप्रतिभान सा प्रतिभा"**–प्रश० कन्द० पृ०२५८।** "प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभाऽस्य धी।"**–अलं० चि०पृ० २।** (८) आलोचनाज्ञान**–आ० टि०।** (९)निर्णयरूपतया। (१०)अग्निहोत्र जुहुयात् इत्यादि प्रवर्तक हि वाक्य चोदना।

1 **क्रियाविशेषो न पुरुषं प्रवर्त्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसंगात् परिस्फुरणं** ब०। 2 **सिद्धे प्र–**श्र०।

षस्य स्वप्नेऽप्यस्फुरणात्[1]। प्राक्तनविकल्पत्रये तु प्रतिभात्वं विरुद्ध्येत, अन्यथा संस्कारादिभ्यः[1] समुत्पन्नानां स्मृत्यादीनामपि[2] प्रतिभात्वानुषङ्गात् तदेवैकं[3] प्रमाणं स्यात् ।।छ।।

[2]केचिदं[4] भक्तिरेव[5] प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । न खलु श्रद्धापरपर्यायां भक्तिं विना परमात्मश्रवणानुमननध्यानादौ यागादौ वा प्रवृत्तिः संभवति । तदुक्तम्–

“अनवच्छिन्नपूर्णत्वस्पर्शो नो भक्तितो विना ।” [ ]

भक्त्यंशानुप्रवेशेनैव च शास्त्रस्यापि राजशासनाद्भेदः[6]। तद्धि[7] अन्तर्भक्तिशून्यं राजभयादीनामेव अन्तःपरिस्फुरणात् । उक्तञ्च–

“तथा[7] शून्यं भवेत् पुंसां शास्त्रं शासनमात्रकृत् ।
भक्त्यंशेन[3] च तद्भिन्नं[8] लोके राजानुशासनात् ॥” [ ] इति ।

तदप्यसम्यक्; यस्मादुत्पन्ना सती भक्तिः[4] प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात्, उत्पत्तिश्चास्याः शब्दात्, निग्रहानुग्रहसमर्थपुरुषविशेषाद्वा ? न तावच्छब्दादेव, “द्रष्टव्योरेयमात्मा[9]” [बृहदा० ४।५।६] इत्यादिशब्दश्राविणोऽशेषस्यापि प्रतिपत्तुः आत्मादौ भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गात् तद्दर्शनादौ[10] प्रवृत्तिः स्यात् । तच्छब्दश्रवणाविशेषेऽपि[5] अशेषस्य तदनुत्पत्तौ नासौ[11] तन्मात्रहेतुका[12]। यदविशेषेऽपि[13] यन्नोत्पद्यते न तत् तन्मात्रहेतुकम् यथा अविशिष्टेऽपि बीजे अनुत्पद्यमानोऽङ्कुरः, नोत्पद्यते च अविशिष्टेऽपि शब्दे तच्छब्दश्राविणोऽशेषस्य आत्मादौ भक्तिरिति । अथ निग्रहानुग्रहसमर्थात् पुरुषाविशेषादभिमतं[6] फलं वाञ्छतां सोत्पद्यते; युक्तमेतत्; तस्या[7][14] एव भक्तिशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेः[8]। अपौरुषेयत्वं तु वेदस्याऽयुक्तम्, तस्येत्थं[15] पौरुषेयत्वप्रसिद्धेः । अनवच्छिन्नपूर्णत्वधर्मोपेतस्य[16] चात्मनः ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके[17] प्रत्याख्यातत्वात्कथं कस्यचित्तत्र[18] तथाविधपुरुषादन्यतो[19][20] वा खरविषाणादिव[9] भक्तिः स्यात् ॥ छ ॥

---

(१) आदिपदेन प्रत्यक्षव्यापार-शब्दौ ग्राह्यौ । (२) यथा [क्रमं] स्मृत्यनुमानशब्दानाम् –आ० टि० । (३) प्रतिभाख्यम् । (४) "एव च सति लिङादे कोऽयमर्थ परिगृहीत इति चेत्, यज् देवपूजायामिति देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्तृ व्यापारसाध्यता व्युत्पत्तिसिद्धा लिङादयोऽभिदधतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।"–वेदार्थ० पृ० २२५ । (५) "भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृण्यवज्ज्ञानविशेष एव ।"–सर्वद० पृ० ३४४ । वेदार्थ० पृ० १५२ । (६) राज्यशासनम् । (७) श्रद्धया । (८) शास्त्रम् । (९) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ।"–बृहदा० २।४।५, ४।५।६ । (१०) आत्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनेषु । (११) भक्ति । (१२) शब्दश्रवणमात्रनिबन्धना । (१३) भक्ति. न शब्दश्रवणमात्रहेतुका शब्दश्रवणेऽपि अनुत्पद्यमानत्वात् । (१४) समर्थेश्वराराधनाया । (१५) यदि । वेद ईश्वराराधनरूपा भक्ति विदधीत तदा धर्मेऽपि ईश्वरस्यैव प्रामाण्य स्यात् तथा च वेदस्य अपौरुषेयत्वव्याघातः, ईश्वरस्य निग्रहानुग्रहकरणवत् वेदकर्तृत्वमपि स्यादिति भाव. । (१६) निरुपाधिपूर्णत्वविशिष्टस्य ब्रह्मणः । (१७) पृ० १५०– । (१८) ब्रह्मणि । (१९) ईश्वरात् । (२०) वेदवाक्यादेर्वा ।

1–प्यप्रस्फुरणात् ब० । 2 केचित्तु भ–ब० । 3 भक्ति सैव न त–ब० । 4 प्रवृत्तेर्निमि–श्र० । 5 ततच्छब्द–श्र० । 6–मतफलं श्र० । 7 तस्यै एव ब० । 8–त्वप्रतिसिद्धेः आ० । 9–णादिवद्भक्तिः श्र० ।

इच्छा[1]प्रयत्नप्रभृतयो[2]ऽपि विधिप्रकाराः प्रागुक्तप्रकारेणैव प्रत्याख्येयाः, विषय[3]-[4]फलादिनिरपेक्षाणां तेषाम्[5]अपि पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वाभावतो विधिरूपतानुपपत्तेः। [6]तत्सापेक्षाणां तु प्रवृत्तिहेतुत्वे कथं तेषां[7]मेव विधित्वं स्यात् विषयादीनामपि [8]तत्प्रसङ्गात् ? ततः परपरिकल्पितस्वरूपस्य विधेर्विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न तस्यापि शब्दार्थता घटते। अतः [9]तद्वानेव शब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः। इति सूक्तम्–**'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** इत्यादि।

विवृतिव्याख्यानम्–

'श्रुतज्ञानम्' इत्यादिना कारिकां व्याचष्टे–**श्रुतज्ञानं** शब्दज्ञानं **वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि** बहिरर्थेऽपि न केवलं तदभिप्राय एव **प्रमाणम्**। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**'कथम्'** इत्यादि। **कथम् ?** न कथञ्चिद् **अन्यथा** बहिरर्थे तत्प्रामाण्याभावप्रकारेण **प्रतिपत्तुमर्हति** सौगतोऽन्यो वा। किमित्याह–**द्वीपदेशनदीपर्वतादिकम्**। कथम्भूतम् ? **अदृष्टस्वभावकार्यम्**, अप्रत्यक्षाऽननुमेयस्वरूपमित्यर्थः। पुनरपि कथम्भूतम् ? **देशान्तरस्थम्**। केन प्रकारेण ? **दिग्विभागेन**। यथा दक्षिणदिग्विभागे सिंहलद्वीप उत्तरदिग्विभागे हिमवानिति। तमित्थम्भूतमर्थं दिग्विभागेन कथन्न प्रतिपत्तुमर्हति ? इत्याह–**निरारेकमविसंवादञ्च** यथा भवति तथेति।

ननु चार्थाभावेऽपि श्रुतेः प्रायः प्रवृत्तिदर्शनान्न क्वचिदप्यसौ[10] प्रमाणमित्याशङ्क्याह–

[11]प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम्।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥ २७ ॥

विवृतिः–नहीन्द्रियज्ञानम् अभ्रान्तम्[12]अव्यभिचारी[13]ति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणमतिप्रसङ्गात्। [14]तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? यथा कृत्तिकादेः शकटादिज्ञानं

(१) "अतः सिद्ध न तार्किकरीत्या इष्टसाधनत्वे लिङाद्यर्थत्वमपि तु पूर्वोक्तरीत्या प्रवर्त्तकेच्छाया एव।"–भाट्टरह० पृ० ८। (२) तुलना–"अपरे पुनर्लिङादिशब्दश्रवणे सति समुपजायमानमात्मस्पन्दविशेषमुद्योग नाम वाक्यार्थमाचक्षते; तत्स्वरूप तु न वय जानीम, कोऽयमात्मस्पन्दो नाम बुद्धिर्वा स्यात् प्रयत्नो वा इच्छाद्वेषयोरन्यतरो वा।"–न्यायम० पृ० ३६५। (३) विषय· अग्निष्टोमादियाग। (४) फल स्वर्गादि। (५) इच्छाप्रयत्नादीनामपि। (६) विषयफलादिसापेक्षाणाम्। (७) इच्छाप्रयत्नादीनामेव। (८) विधित्वप्रसङ्गात्, तच्च पूर्वं निराकृतमिति। (९) सामान्यविशेषात्माऽर्थ एव। (१०) श्रुति आगमज्ञानम्। (११) "चेद् यदि भवेत्। क ? अनाश्वास अविश्वास। क्व ? सर्वत्र अविसवादिश्रुतिप्रामाण्ये। केषाम् ? प्रतिबन्धमपश्यता शब्दार्थयो सहजयोग्यतालक्षण सम्बन्धमनीक्षमाणाना सौगतानाम्। कस्मात् ? विसवादात्। कस्या ? श्रुते आगमस्य। कथम् ? प्रायः क्वचित्कदाचिदित्यर्थ। तदा सोऽनाश्वास सम· समान·। कासाम् ? अक्षलिङ्गधियाम्, अक्षमिन्द्रिय लिङ्ग हेतु ताभ्या जनिता धियो ज्ञानानि तासामपि प्रसक्तमित्यर्थ क्वचित्कदाचिद्विसवाददर्शनात्।"–लघी० ता० पृ० ४७। (१२) इन्द्रियज्ञानस्य लक्षणे 'अभ्रान्तम्' इति विशेषण सौगतै प्रयुज्यते–"कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्।" [न्यायबि० १।४] इत्यभिधानात्। (१३) प्रत्यक्षलक्षणे 'अव्यभिचारि' इति विशेषणं नैयायिकापेक्षया ज्ञेयम्। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्षम्।" [न्यायसू० १।१।४] इत्युक्तत्वात्। (१४) अभ्रान्तादिविशेषणविशिष्टे।

1–तयो विधिप्रभृतयो वि–आ०। 2 तुतत्प्र–ब०, श्र०। 3–ज्ञानं वक्त्र–श्र०। 4 दिग्भा–श्र०।

स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैव अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। क्वचिद्व्यभिचारात् साकल्येनानाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसंभवात्? तथानिच्छतः श्रुतिकल्पनादुष्टादेः उच्चारणात्।

कारिकाव्याख्यानम्– **प्रायो** बाहुल्येन **श्रुतेः** शब्दस्य तज्ज्ञानस्य वा **विसंवादात् सर्वत्र** सत्यश्रुतावपि **चेद्** यदि **अनाश्वासः**। केषाम्? **अपश्यतां** सौगतानाम्। किम्? इत्याह–**प्रतिबन्धम्,** सम्बन्धं सन्तमपि योग्यतारूपमविनाभावम्, **[सः]** सर्वत्रानाश्वासः **अक्षलिङ्गधियां समः** तासामपि प्रायो विसंवाददर्शनादित्यभिप्रायः।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे **'नहि'** इत्यादिना। **नहि** नैव **इन्द्रियज्ञानं** विवृतिव्याख्यानम्– **प्रमाणम्।** केन विनेत्याह–**अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण,** तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणमिति। कुत एतदित्याह–**अतिप्रसङ्गात्,** द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। नहि निर्विशेषणस्य ज्ञानमात्रस्य प्रामाण्याभ्युपमे द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदः कर्त्तुं शक्यः। अथ तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणं तेनायमदोषः; अत्राह–**'तथा'** इत्यादि। **तथा** अभ्रान्ताऽव्यभिचारिप्रकारेण **विशेषणे** इन्द्रियज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे **श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः?** तस्यापि तद्विशेषणविशिष्टस्यैव प्रामाण्यमस्तु। ननु इन्द्रियज्ञानस्य अर्थकार्यत्वात् युक्तम् अभ्रान्तत्वमव्यभिचारित्वं वा न पुनः श्रुतज्ञानस्य विपर्ययात्; इत्यत्राह–**'यथा'** इत्यादि। **यथा** येन योग्यताप्रकारेण **कृत्तिकादेः** सकाशात् यत् **शकटादिज्ञानं तत् स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण,** स्वभावप्रतिबन्धशब्देन तादात्म्यप्रतिबन्धस्तदुत्पत्तिसम्बन्धश्च गृह्यते 'स्वो भावः कारणम्' इति व्युत्पत्तेः, तमन्तरेण **अविसंवादकं तथैव** तेनैव प्रकारेण **अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानज्ञानम्** अदृष्टः तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यस्मिन् अर्था-

(१) तुलना–"स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते। तत्रोत्तरमिदं वाच्य न दृष्टेऽनुपपन्नता।" –प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ६८। "न हि दृष्टेऽनुपपन्नता।"–धवला० टी० पृ० ३२०। (२) तुलना– "विवक्षाप्रभव वाक्य स्वार्थे न प्रतिबध्यते। यतः कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थिति। वक्त्रभिप्रायमात्र वाक्य सूचयन्तीत्यविशेषेणाक्षिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्व प्रतिपद्येत। न च वक्त्रभिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेरन्यत एव प्रसिद्धेः।"–सिद्धिवि० पृ० २६४। (३) अभ्रान्तादिविशेषणसहितत्वे। (४) इन्द्रियज्ञानादिकम्। (५) अभ्रान्तादिविशेषणयुक्तस्यैव। (६) अर्थमन्तरेणापि अतीतानागतादौ शब्दप्रयोगदर्शनात्। (७) तुलना–"स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्। तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात्।"–न्यायबि० पृ० ४०।

1–र्थाभि–ज० वि०। 2–धानमवि–ई० वि०। 3 श्रुतकल्प–ई० वि०। 4–स्य ज्ञानस्य श्र०। 5 प्रतिसंबंधं आ०। 6–श्वास तासामपि श्र०। 7–रीतिविशे–आ०। 8 इन्द्रियस्य श्र०। 9–शात् शक–आ०। 10–रिप्रतिबन्ध–व०। 11–वादकत्वं त–श्र०।

भिधानज्ञाने तत्तथोक्तम्, तदित्थम्भूतं[1] **ज्ञानमविसंवादकम्** । कुत एतदित्याह–**'नहि'** इत्यादि । हिर्यस्मात् **न दृष्टे** ग्रहोपरागादौ श्रुताविसंवादकत्वे **अनुपपन्नं नाम** । इन्द्रियज्ञानाविसंवादकत्वेऽपि अनुपपन्नत्वप्रसङ्गात् । बहिरर्थे अस्य[1] प्रायो व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रानाश्वासे च वक्त्रभिप्राये[2]ऽपि प्रामाण्यन्न स्यादिति दर्शयन्नाह–**'क्वचिद्'** इत्यादि । **क्वचित्** नियते विषये **व्यभिचारात् साकल्येनाऽनाश्वासे** श्रुतेरङ्गीक्रियमाणे **वक्त्रभिप्रायेऽपि** न केवलं बहिरर्थे **वाचः कथमनाश्वासः** साकल्येन **न स्यात्** ? अपि तु-स्यादेव । कुत एतदित्याह–**'तत्रापि'** इत्यादि । **तत्रापि** वक्त्रभिप्रायेऽपि व्यभिचारसंभवात् । एतदेव दर्शयन्नाह[3]–**'तथा'** इत्यादि । येन हि 'यां[4] भवतः प्रिया' इत्यादिप्रकारेण 'परं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवान्' इत्यादिप्रकारेण[5] च श्रुतिदुष्टं[3] कल्पनादुष्ट[4]श्चोक्तं **तथा** तेन प्रकारेण **अनिच्छतः** तथाभिप्रायरहितस्यापि **श्रुति[6]कल्पनादुष्टादेः** आदिशब्देन गोत्रस्खलनादि[7]परिग्रहः **उच्चारणात्** भाषणात् । किञ्च–

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये ।
सत्येतर[5]व्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥ २८ ॥

विवृतिः–नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वे[8]ऽर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्यभिचारैकान्तसंभवात् । वाचोऽभिप्रायविसंवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयोः आप्तेतरव्यवस्थां कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् "वक्तुरभिप्रेतं[6] तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण नार्थतत्त्वमपि" [ ] इति कथमविक्लवः ?

(१) श्रुतस्य । तुलना–"अपि चान्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनात् विवक्षायामपि क्वचिद्व्यभिचारात् सर्वत्रानाश्वासात् कथं विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्यु.।"–सन्मति० टी० पृ० २६६ । (२) अन्यविवक्षायामन्यशब्दोच्चारणमपि प्रतीयते यथा देवदत्तविवक्षाया यज्ञदत्तोच्चारण गोत्रस्खलनेऽनुभूयते । (३) श्रुतिदुष्ट श्रुतिकटु । "श्रुतिकटु परुषवर्णरूपम् दुष्टम् ।"–काव्यप्र० पृ०२६७ । 'या भवत प्रिया' इत्यत्र शृङ्गाररसवर्णनावसरे निषिद्धस्य रेफस्य प्रयोगादेव श्रुतिकटुत्व ज्ञेयम् । 'प्रिया' इत्यत्र रेफसयोग स्पष्ट एव । (४) कल्पनादुष्टञ्च विरुद्धकल्पनायुक्तत्वात् अनुचितकल्पनाशालित्वाद्वा बोध्यम् । 'पर प्रहृत्य' इत्यत्र हि यदा वीर्यवान् पुरुष पर प्रहृत्य प्रहारानन्तर विश्रान्त विशेषेण श्रान्त क्लान्तः तदा तस्य वीर्यवत्त्वेन वर्णनमनुचितमेव । यदि हि प्रहारानन्तर क्लान्त कथ वीर्यवान् ? क्लान्तत्ववीर्यवत्त्वयोर्विरोधात् । (५) "अयमर्थ –आप्तोक्तेर्बहिरर्थाविनिश्चये सुगतेतरवचनयो सत्येतरव्यवस्था का अर्थाविषयत्वाविशेषात् । हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये साधनेतरता कुत बहिरर्थशून्यत्वाविशेषादिति ।"–लघी० ता० पृ० ४८ । सत्येतरव्यवस्था हि बाह्यार्थप्राप्त्यप्राप्तिनिबन्धनैव, तथा चोक्तम्–आप्तमीमासायाम् (का० ८७) "बुद्धिशब्दप्रमाणत्व बाह्यार्थे सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैव युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ।" तुलना–"वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् । सत्यानृतव्यवस्था न तत्त्वमिथ्यात्वदर्शनात् ॥ मिथ्यादर्शनज्ञानात् मिथ्यार्थत्व गिरा मतम् ।"–सिद्धिवि० पृ० ५०२ । (६) तुलना–"नान्तरीयकताभावाच्छब्दाना वस्तुभि सह नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचका ॥ ३।२१२ ॥ वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्य तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व-

1–त तज्ज्ञान–ब०, श्र० । 2–प्राये प्रामा–आ०, श्र० । 3–न्नाह येन हि आ० । 4 स्वभावत ब० । 5–ण श्रु–ब० । 6 श्रुतविकल्पना–आ०, श्र० । 7–दिग्रहपरिग्रहः श्र० । 8 सर्वर्थान् ज० वि० ।

कारिकाव्याख्यानम्–

यो यस्याऽवञ्चकः स तस्य **आप्तः**[1] **तदुक्तेः** तद्वचनात् **हेतुवादाच्च** लिङ्गादिवचनाच्च **बहिरर्थाविनिश्चये** अङ्गीक्रियमाणे **सत्यं** सुगतवचनम् **इतरदसत्यं** कपिलादिवचनम् तयोः **व्यवस्था का** ? न काचित्, सर्वमसत्यमेव स्यात्। अतः सुगतवचनादपि न क्वचित्प्रवृत्तिः स्यात्। तथा **साधनेतरता कुतः** ? पक्षादिवचनानि साधनम्[2], इतरत् तद्दूषणवचनं[3] तयोर्भावस्तत्ता सापि कुतः ? नैव स्यात्। तथा च 'यत् सत्तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादेरसाधनाङ्गतया निग्रहस्थानता स्यादित्यभिप्रायः।

विवृतिव्याख्यानम्–

व्यतिरेकद्वारेण कारिकार्थमाह–**'नहि'** इत्यादिना। **न** खलु **पुरुषाभिसन्धयः** पुरुषाभिप्रायाः **सर्वे अर्थान् व्यभिचरन्ति**। कुत एतदित्याह–**'अन्यथा'** इत्यादि। **अन्यथा** तेषां तद्व्यभिचारप्रकारेण **वागर्थव्यभिचारैकान्तसम्भवात्**, वाचामर्थस्य बाह्यस्य अन्यस्य वा यो व्यभिचारैकान्तः तस्य संभवात्। **वाचोऽभिप्रायविसंवादे** सति **कुतः** न कुतश्चित् **तस्य** अभिप्रायस्य **अनुमानम्**। अथेदानीं परस्योन्मत्तचेष्टितं **'सुगत'** इत्यादिना दर्शयन्नाह–सुगतस्य हि आप्तत्वव्यवस्थां[4]

निबन्धनम् ।। १।४ ।। यद्यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्विनियम्यते। अनपेक्षितबाह्यार्थं तत्तथा वाचक मतम् ।।१।६७।।"–**प्रमाणवा०**। "साक्षाच्छब्दा न बाह्यार्थप्रतिबन्धविवेकत। गमयन्तीति च प्रोक्त विवक्षासूचकास्त्वमी ।।"–**तत्त्वसं० पृ० ७०२**। "यथोक्तम्–वक्तुरभिप्राय सूचयेयु शब्दाः।"–**तर्कभा० मो० पृ० ४**।

(१) "आप्त खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्तते इत्याप्तः।"–**न्यायभा० १।७**। "आप्ति साक्षादर्थप्राप्तिः यथार्थोपलम्भ तया वर्तत इत्याप्त साक्षात्कृतधर्मा यथार्थप्राप्त्या श्रुतार्थग्राही। आगमो ह्याप्तवचनमाप्त दोषक्षयाद्विदु। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्य न ब्रूयाद्धेत्वसभवात्। स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जित। पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेय स तादृश।"–**सांख्यका० माठर० पृ० १३**। "यो यत्राविसवादकः स तत्राप्त. परोऽनाप्त तत्त्वप्रतिपादनमविसवाद तदर्थज्ञानात्।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६**। (२) "तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्"–**न्यायप्र० पृ० १**। (३) "साधनदोषोद्भावनानि दूषणानि"–**न्यायप्र० पृ० ८**। (४) "तद्वत् प्रमाण भगवान् यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्याविसंवादनात्तस्यैव परैरज्ञातस्य प्रकाशनाच्च।"–**प्रमाणवा०, मनोरथ० १।९**। "तायित्वाच्च भगवत सुगतस्य प्रामाण्य तथाहि–"ताय स्वदृष्टमार्गोक्ति वैफल्याद्वक्ति नानृतम्। दयालुत्वात् परार्थञ्च सर्वारम्भाभियोगत। तस्मात्प्रमाणं तायो वा चतु सत्यप्रकाशनम् ।।–दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वयं दृष्टस्य मार्गस्योक्तिर्देशना ताय करणे कार्योपचारात्। तया हि सत्त्वान् तायते तद्योगात्तायित्वम्। स च वैफल्याद्वक्ति नानृतम्। आत्मसुखाद्यभिलाषादिना कश्चिदसत्य वदति अज्ञानाद्वा। प्रहीणात्मदर्शनस्य साक्षात्कृततत्त्वस्य तदुभय नास्ति। विशेषत सत्याभिधानहेतुरेव कृपास्तीत्याह–दयालुत्वाच्च परार्थञ्च सर्वस्य मार्गाभ्यासादेरारम्भेऽभियोगत परार्थमेवोद्दिश्य भगवानभिसम्बुद्ध कथन्तस्य मिथ्याभिधानेन सत्त्ववञ्चनाशङ्काऽपि। तस्मात्तायित्वात् प्रमाण भगवान्। यथादृष्टार्थप्रवक्तृत्व हि संवादित्वमेवेति प्रथमप्रमाणलक्षणयोगात् प्रामाण्यमनेनोक्तम्। द्वितीयलक्षणयोगमप्याह–तायो वा चतु सत्यप्रकाशनम्। परैरज्ञातस्य सत्यचतुष्टयस्य प्रकाशन वा तायः तद्योगात् तायी प्रमाण भगवानुक्त।"–**प्रमाणवा०, मनोरथ० १।१४७-४८**। "तत सुगतमेवाहु सर्वज्ञं मतिशालिनः। प्रधानपुरुषार्थज्ञ त चैवाहुर्भिषग्वरम् ।।"–**तत्त्वस० पृ० ८७८**।

कुतश्चिद् अनुपदेशाऽलिङ्गाविसंवादि[1]चतुरार्यसत्योपदेशात् कपिलादेस्तु अनाप्तत्वव्यवस्थां विसंवादिप्रधानादितत्त्वोपदेशात् **स्वयम्** आत्मना **उपजीवन्, साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा**[2], त्रिरूपहेतुवचनस्य हि स्वसाध्यसिद्ध्यङ्गव्यवस्था पक्षादिवचनस्य तु तदसिद्ध्यङ्गव्यवस्था[3] तां वा उपजीवन् "**वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण नार्थतत्त्वमपि**" [ ] इति एवं ब्रुवाणो धर्मकीर्त्यादिः **कथमविक्लवः** स्वस्थः ?

अत्राह सौगतः–वक्त्रभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यन्नास्ति, मा भूत्, किन्नष्टं प्रमाणद्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र[3] तस्य[4] प्रामाण्याभ्युपगमादित्याशङ्क्याह–

[5]पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।
कार्यं[4] दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किम् ? ॥२९॥

विवृतिः–श्रुतेर्बहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेदुक्तमत्र–'तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः' इति। अपि च वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् अग्निरत्र धूमादिति वा कथमाश्वासः ? क्वचिल्लताचूतादेरुपलब्धेः शिंशपायाः स्वयमवृक्षत्वेऽप्यविरोधात्, [6]काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अशनिजन्मनः तदर्थान्तरजन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः अग्निजन्मैव धूमः नार्थान्तरजन्मा इति कुतोऽयं नियमः ? यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्याश्वासः । कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः

(१) "चत्वार्यार्यसत्यानि, तद्यथा दुःख समुदयो निरोधो मार्गश्चेति ।"–धर्मस० पृ० ५ । "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःख समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषा यथाभिसमय क्रम ॥"–अभिधर्मको० ६।२ । (२) "अथवा साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थ इति साधन त्रिरूपहेतुवचनसमुदाय, तस्याङ्ग पक्षधर्मादिवचनं अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्ग प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि "–वादन्याय० पृ० ६१ । (३) वक्त्रभिप्राये । (४) शब्दस्य । (५) तुलना–"विचित्राभिसन्धितया व्यापारव्याहारादिसाकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टि ज्ञानवतोऽपि विसवादात् क्व पुनराश्वास लभेमहि ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७१ । "चेद्यदि, वागाप्तवचनम्, अर्थव्यभिचारिणी बाह्यार्थाविसवादिनी स्यात् । कस्मात् ? चित्राभिसन्धे चित्र सत्यासत्यादिरूपो नानाभिसन्धिरभिप्रायो विवक्षा तस्मात् । कस्य ? पुसो वक्तु 'सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते' इति वचनात् । तर्हि विजातीयादपि कारणात् कार्यं दृष्टमविरुद्ध स्यात् । ततस्तत् कारणभेदि कारण प्रतिनियत स्वात्मलाभनिबन्धन भिनत्ति विजातीयाद्विशिनष्टीत्येव शील किं शक्य स्यात् ? न स्यादेवेत्यर्थ । तस्य यत कुतश्चिदुत्पत्तेरविरोधात् । न खल्वनियतकारणजन्य कार्यं कारणभेद गमयत्यशक्ते ।"–लघी० ता० पृ० ४९ । (६) तुलना–"न चैव वादिन किञ्चिदनुमानं नाम, निरभिसन्धीनामपि बहुल कार्यस्वभावानियमोपलम्भात् । सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायशोऽनुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेऽपि सभवात् । यज्जातीयो यत मप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमताया धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभाव कथमिव निर्णीयेत वृक्ष शिशपात्वादिति लताचूतादेरपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावता किमिव नि शक चेत स्यात् "–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७२ । सन्मति० टी० पृ० २६६ ।

1 अनुपदेशात् लिंगावि–ब० । 2 च ब० । 3–वस्था वा श्र० । 4 कार्यंदृष्ट ई० वि० ।

क्वचिदविसंवादस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ।

पुंसो यः चित्रोऽभिसन्धिः *"सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते"* [ ] इत्यभिधानात्, तस्मात् **वाक् चेद्** यदि **अर्थव्यभिचारिणी**

कारिकाव्याख्यानम्—

कार्यं दृष्टं विजातीयाद् अभिमतकारणजातिपरिहारेण जात्यन्तरादपि । ततः किं जातमित्यत्राह—**'शक्यम्'** इत्यादि । **शक्यं** शक्तं **कारणभेदि** कारणविशेषं गमयितुं **किम् ?** नैव शक्तमित्यर्थः । कार्यग्रहणमुपलक्षणं स्वभावस्य, अतोऽनुमानस्याप्यभावः इत्यभिप्रायः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**'श्रुतेः'** इत्यादि । **श्रुतेः** शब्दस्य **बहुलं** प्राचुर्येण **बहिरर्थाविसंवादेऽपि** न केवलं तदभावे, **तदर्थेन**[1] बहिरर्थेन **प्रतिबन्धस्य** तादात्म्य-

विवृतिविवरणम्—

तदुत्पत्तिलक्षणस्य **असिद्धेः** कारणात् । कथंभूतायाः श्रुतेः इत्याह—**वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्याः** । [2] किमित्याह—**सर्वत्र तदर्थानाश्वासः** बहिरर्थानाश्वास **इति** एवं **चेत्** अत्राह—**'उक्तम्'** इत्यादि । अत्र पूर्वपक्षे उक्तमुत्तरम्[3] । किं तदित्याह—**तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेः** कारणात् **अविसंवादः** श्रुतेः **इति** एतत् । **'अपि च'** इत्यादिना परपक्षेपि तद्दूषणं योजयति । **अपि च** किञ्च **'अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः शिंशपात्वात्', 'अत्र पर्वते अग्निः धूमात्' इति वा** यदनुमानं तत्र **कथं** नैव **आश्वासः** ? कुत एतदित्याह—**'क्वचिद्'** इत्यादि । **क्वचिद्** देशविशेषे **लताचूतादेः**, आदिशब्देन लतावदर्यादिपरिग्रहः तस्या **उपलब्धेः** कार-

(१) तुलना—"चैतसेभ्य सम्यक्मिथ्याप्रवृत्तयस्ते चातीन्द्रियस्वप्रभवकायवाग्व्यवहारानुमेया स्यु व्यवहाराश्च प्रायशो वुद्धिपूर्वमन्यथापि कर्तु शक्यते पुरपेच्छावृत्तित्वात्तेषा च चित्राभिसन्धित्वात् । तदय लिङ्गसकरात् कथमनिश्चिन्वन् प्रतिपद्येत ? दुर्वोधत्वात् दु प्राप्यत्वादन्यगुणदोषनिश्चायकाना प्रमाणानाम् चैतसेभ्य इत्यादिना व्याचष्टे । चेतसि भवा चैतसा गुणदोषा । चैतसेभ्य गुणेभ्यः कृपावैराग्यबोधादिहेतुभ्य सम्यक्प्रवृत्तय· यथार्थप्रवृत्ताय , चैतसेभ्यो दोपेभ्य रागादिभ्यो मिथ्याप्रवृत्तायो विपरीतप्रवृत्तायो भवन्ति। ते चेति परेषा चैतसा गुणदोपा चेतोधर्मत्वेनातीन्द्रिया ततो न प्रत्यक्षगम्या । किन्तु स्वस्माद् गुणदोषरूपात् प्रभव उत्पादो यस्य कायवाक्कर्मण तेन कार्यलिङ्गेनानुमेया । तच्च नास्ति । यस्माद् व्यवहाराश्च कायवाक्कर्मलक्षणा प्रायशो वाहुल्येन वुद्धिपूर्वमिति कृत्वा प्रतिसख्याने अन्यथापि कर्त्तु शक्यन्ते । तथाहि सरागा अपि वीतरागवत् आत्मान दर्शयन्ति वीतरागाश्च सरागवत् । किं कारणम् ? पुरुपेच्छावृत्तित्वात् व्यवहाराणा तेपा चेति पुसा चित्राभिसन्धित्वात् चित्राभिप्रायत्वात् ततो यथेष्टं व्यवहारा प्रवतन्ते इति नास्ति गुणदोषप्रभवाणा व्यवहाराणा विवेकनिश्चय । तदिति तस्मादयमनुमाता पुमान् लिङ्गसकरात् लिङ्गव्यभिचारादनिश्चिन्वन् क्षीणदोष कथमागमस्य कर्तार प्रतिपद्येत नैवेनि निगमनीयम् ।"—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।२२२ । "यथा रक्तो ब्रवीति तथा विरक्तोऽपि । एव न वचनमात्रात्, नापि विशेपात् प्रतिपत्ति अभिप्रायस्य दुर्वोधत्वात् व्यवहारसकरेण सर्वेपा व्यभिचारात् । विरक्तो हि रक्तवच्चेष्टते रक्तोऽपि विरक्तवदित्यभिप्रायो दुर्वोध ·"—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।१४ । "क्षीणावरण समधिगतलक्षणोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिरन्यथा देशयेदिति विप्रलम्भशकी "—प्रमाणसं० पृ० ११६ । अष्टसह० पृ० ७१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९ । सूत्रकृताग टी० पृ० ३८४ । लघी० ता० पृ० ४९ । (२) पृ० ४३५ ।

1–भावे तेन वहि–आ०, व० । 2–न प्रति–श्र० । 3 क्वचित्किमि–श्र० ।

णात्। तथा च **शिंशपायाः स्वयम्** आत्मना **अवृक्षत्वेऽप्यविरोधात्** कथमाश्वासः ? **काष्ठजन्मनः** पावकस्य **मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य** तथाऽ**शनिजन्मनः** तस्मादशनिभावात् काष्ठाद्यर्थः **तदन्तरं तज्जन्मनश्च साकल्येन** अनवयवेन **अग्निस्वभावाविरोधे पुनः** अङ्गीक्रियमाणे **'अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा'** **इति कुतोऽयं नियमः यतो** नियमात् **कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्यादौ आश्वासः** स्यात्। अथ *"सुविवेचित कार्यं कारणान्न व्यभिचरति"* [ ] इत्युच्यते। अत्राह–**'कस्यचिद्'** इत्यादि। **कस्यचित्** स्वभावकार्यविशेषस्य या **अन्यथा** साध्याभावप्रकारेण **अनुपपत्तिः** तया **परोक्षार्थप्रतिपत्तौ** अङ्गीक्रियमाणायां **श्रुतस्य स्वयम्** आत्मना **अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः** "भादौ वोक्तपुस्क पुवत्" [जैनेन्द्रव्या० ५।१।५३] इत्यतो नपुंसकत्वाभावः। **क्वचिद्** द्वीपादौ यः तस्य **अविसंवादः** तस्य **अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति** ॥ छ ॥

प्रमाणं साभासं विषयफलसंख्यादित इहे,
प्रसन्नैर्गम्भीरैः कतिपयपदैर्येन गदितम्।
स जीयाद् दुस्तर्कैः प्रतिमिररविः न्यायजलधिः,
जगज्जन्तुस्वान्तप्रवरकुमुदेन्दुर्जिनपतिः ॥ छ ॥

इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्त्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः ॥ छ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः।



एवमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयः प्रमाणप्रवेशः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

ग्रन्थप्रमाणं ११३० ॥ छ ॥



(१) आदिपदेन तृण-अरणिनिर्मथनादयो ग्राह्या। (२) तुलना–"यत्नत परीक्षित कार्यं कारण नातिवर्तते इति चेत् स्तुतम् प्रस्तुतम्"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७२। प्रमेयरत्नमा० ३।१०१। लघी० ता० पृ० ४९। "अथ सुविवेचित कार्यं कारण न व्यभिचरतीति न्यायाद्।"–सन्मति० टी० पृ० २६६। (३) अदृष्टे तादात्म्यतदुत्पत्ती यस्य तत् अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ति तस्य अगृहीतस्वभावकार्यादिरूपस्य श्रुतज्ञानस्य इत्यर्थ। अत्र अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिशब्द श्रुतस्य विशेषणत्वात् नपुसकलिङ्गोऽपि भादौ इत्यादि सुत्रानुसारेण भादौ अजादौ सुपि उक्तपुस्कमिगन्त नप् (नपुसक) वा पुवद् भवति इति पुल्लिङ्गे प्रयुक्त, नपुसकलिङ्गे तु नुमागमे सति 'अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिन' इति प्रयोगः स्यात् इति भाव। (४) श्रुतस्य। (५) अस्मिन् ग्रन्थे। (६) पभाचन्द्रेण ग्रन्थकृता। (७) न्यायकुमुदचन्द्र तत्कर्त्ता प्रभाचन्द्रश्च अनेन विशेषणेन सूचित। (८) जिन पतिर्यस्य।

1 अध्यक्षत्वे–आ०। 2 भादौ वोक्त–ब०, भादौ चोक्त–श्र०। 3 चतुर्थपरि–आ०। 4–यप्रमा–श्र०। 5–श प्रथमः परिच्छेदः ब०।

द्वितीये नयप्रवेशे

पञ्चमः नयपरिच्छेदः ।



त्रैलोक्योदरवर्त्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयः,
दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिः[1] प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात् ।
स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितः,
भूयान्मे[2] नयनीतिदत्तमनसः तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥ छ ॥

अथ प्रमाणं परीक्ष्येदानीं नयपरीक्षार्थमुपक्रमते–

भेदाभेदात्मके[3] ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।
[2]ये [3]तेऽपेक्षा[4]नपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नय[5]दुर्नयाः ॥३०॥

विवृतिः–द्र[6]व्यपर्यायात्मकमुत्पाद[7]व्ययध्रौव्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तु तत्त्वम्, तत्रैव

(१) अकलङ्कदेवसरणि । (२) प्रभाचन्द्रस्य । (३) उद्धृतेयम्–"तथा चाहाकलङ्क–भेदाभेदा ' यतोऽपेक्षानपे "–**आव० नि० मलय० पृ० ३७० B. । गुरुतत्त्ववि० पृ० १६ B.** । "लक्ष्यन्ते निश्चीयन्ते । के ? नयदुर्नया । नयाश्च दुर्नयाश्च नयाभासाश्च नयदुर्नया । काभ्याम् ? अपेक्षानपेक्षाभ्याम्, अपेक्षा प्रतिपक्षधर्माकाङ्क्षा अनपेक्षा ततोऽन्या सर्वथैकान्त ताभ्याम् । किंविशिष्टा ? ते ये भेदाभेदाभिसन्धय भेदो विशेष· पर्यायः व्यतिरेकश्च, अभेद सामान्यमेकत्व सादृश्यञ्च, भेदाश्चाभेदश्च भेदाभेदौ तयो भेदाभेदयोरभिसन्धयोऽभिप्रायाः श्रुतज्ञानिनो विकल्पा इत्यर्थ । कस्मिन् ? ज्ञेये प्रमेये जीवादौ । किंविशिष्टे ? भेदाभेदात्मके, भेदाभेदावात्मानौ स्वभावौ यस्य तत्तथोक्तम् तस्मिन् ।"–**लघी० ता० पृ० ५०** । (४) "निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा ।" –**अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०** । (५) "तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ।"–**सन्मति० १।२१** । "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।"–**आप्तमी० १०८** । "नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा लोकतोऽपि सिद्धा "–**सिद्धिवि०, टी० पृ० ५३७ B** । "तथा चोक्तम्–अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाण तदशधी । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृति ॥"–**अष्टश० अष्टसह० पृ० २९०** । "धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयाना प्रकारान्तरासभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्ते तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०** । "सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणै ।"–**अन्ययोगव्य० श्लो० २८** । (६) तुलना–**पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ३।१३ । न्यायकु० पृ० ४०१ टि० ६** । (७) तुलना–"उप्पन्ने वा विगए वा धुवे वा"–**स्थानांग० स्था० १०।** "सद्दव्वं वा"–**व्या० प्र० श० ८।३०९, सत्पदद्वार** । "दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्ययधुवत्तसजुत्तं । गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू ॥"–**पञ्चा० गा० १०** । "अपरिचत्तसहावेनुप्पादव्वयधुवत्तसजुत्तं । गुणव च सपज्जाय ज त दव्व ति वुच्चति ॥"–**प्रवचन० २।३** । "सद्द्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्"–**तत्त्वार्थसू०**

1 प्राप्तोऽत्र आ०, श्र० । 2 एते मु० लघी० । 3 तेपक्षानपक्षा–श्र० ।

कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात्। नयो ज्ञातुरभिप्रायः। स द्रव्यार्थिकः पर्याया-

५। २९, ३०। "दव्व पज्जयविउय दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि। उप्पायट्ठिइभगा हृदि दविय-लक्खण एय ॥"–**सन्मति० गा० १। १२।** "नोत्पादस्थितिभङ्गानामभावे स्यान्मतित्रयम्।"–**मी० श्लो० पृ० ६१९।** "उत्पादस्थितिभङ्गाना स्वभावादनुबन्धिता। तद्धेतूनामसामर्थ्यादतस्तत्त्व त्रया-त्मकम् ॥"–**सिद्धिवि० पृ० १६७।**

(१) तुलना–"नया प्रापका कारका साधका निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम्। जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यजयन्तीति नया।"–**तत्त्वार्थाधि० भा० १। ३५।** "स्याद्वादपविभक्तार्थविशेप-व्यजको नय ॥"–**आप्तमी० का० १०६।** "वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नय।"–**सर्वार्थसि० १। ३३।** "ज्ञातॄणामभिसन्धय खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायत। नयो ज्ञातुर्मत मतः।"–**सिद्धिवि० टी० पृ० ५१७ A, ५१८ A।** "प्रमाणप्रकाशि-तार्थविशेषप्ररूपका नया।"–**राजवा० १।३३।** "एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव। नयण धम्मेण तओ होई नओ सत्तहा सो य ॥"–**विशेषा० गा० २६७६।** "णयदि त्ति णओ भणिओ बहूहि गुणपज्जए-हि ज दव्व। परिणामखेत्तकालन्तरेसु अविणट्ठसब्भाव ॥"–**धवला टी० पृ० ११।** "प्रमाणपरिगृही-तार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नय"–**धवला टी० पृ० ८३।** "सारसग्रहेप्युक्त पूज्यपादै–अनन्तपर्यायात्म-कस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय। प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्य-भाणि–प्रमाण यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेपप्ररूपणप्रवण प्रणिधिर्य स नय इति।"–**धवला टी० वेदनाख०।** "नयन्ते अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नया, वस्तुनोऽनेकात्मकस्य अन्यतमैका-त्मैकान्तपरिग्रहात्मका नया इति।"–**नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A।** "यथोक्तम्–द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यत-मैकात्मावधारणम् एकदेशनयनान्नया।"–**नयचक्रवृ० पृ० ६ B।** "नयन्तीति नया अनेकधर्मात्मक वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदमनित्यमेवेति वा निरूपयन्ति।"–**तत्त्वार्थहरि० १।६। तत्त्वार्थसिद्ध० १।६।** "स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नय स्मृत।"(पृ० ११८) नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स.।" –**तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६८। नयविव० श्लो० ४।** "अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय·।" –**प्रमेयक० पृ० ६७५।** "ज णाणीण वियप्य सुयभेय वत्थुयससगहण। त इह णय पउत्त णाणी पुण तेहि णाणेहि ॥"–**नयचक्र गा० २।** "श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नय। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति, प्राप्नोतीति वा नय।"–**आलापप०।** "तद्द्वारायात पुनरनेकधर्मनिष्ठा-र्थसमर्थनप्रवण. परामर्श शेषधर्मस्वीकारतिरस्कारपरिहारद्वारेण वर्त्तमानो नय।"–**न्यायावता० टी० पृ० ८२।** "वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाण (ण) व्यञ्जितात्मन। एकदेशस्य नेता य. स नयोऽनेकधा स्मृत ॥"–**तत्त्वार्थसार पृ० १०६।** "नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्याश तदितराशौदा-सीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय·।"–**प्रमाणनय० ७।१। स्या० म० पृ०३१०।** "प्रमाणपरि-च्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिण तदितराशाप्रतिक्षेपिण. अध्यवसायविशेपा नया।" –**जैनतर्कभा० पृ० २१।** "प्रकृतवस्त्वशग्राही तदिताराशाप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नय।" –**नयरहस्य पृ० ७९। नयप्रदीप पृ० ९७ B.।** मलयगिर्याचार्यमतेन सर्वेऽपि नया मिथ्या एव; तथाहि–"अनेकधर्मात्मक वस्त्ववधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धि नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेपो नय।· इह हि यो.नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्प-दलाञ्छित वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थत परिपूर्ण वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवा-दान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वक वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः वस्त्वेकदेश-परिग्राहकत्वात्।"–**आव० नि० मलय० पृ० ३६९ A।** (२) "तच्च सच्चतुर्विधम्–तद्यथा द्रव्यास्तिक मातृकापदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकम् पर्यायास्तिकमिति।"–**तत्त्वार्थाधि० भा० ५।३१।** "इत्थ द्रव्या-

र्थिकश्च, द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम्, तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः।

कारिकाव्याख्यानम्-

भेदो विशेषः, **अभेदः** सामान्यम्, तौ आत्मानौ यस्य तस्मिन् तदात्मके कथञ्चित्तत्स्वभावे वस्तुनि, न नैयायिकादिपरिकल्पिते, तस्य प्रागेवापास्तत्वात्। कथम्भूते तस्मिन्नित्याह-**ज्ञेये** प्रमाणपरिच्छेद्ये। एतच्च विशेषणमपि साधनं प्रत्येयम्। ततः 'सर्वं वस्तु भेदाभेदात्मकं ज्ञेयत्वात्' इति गम्यते, यथा 'शब्दनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति। नचायमनैकान्तिको हेतुर्विरुद्धो वा, सर्वथा भेदे अभेदे वा प्रमाणपरिच्छेद्यत्वस्य विषयपरिच्छेदे प्रतिक्षिप्तत्वात्। तत्र **भेदाभेदाभिसन्धयः** सामान्यविशेषविषयाः पुरुषाभिप्रायाः **ये ते लक्ष्यन्ते** निश्चीयन्ते **नयाः दुर्नयाश्च**। काभ्यामित्याह-**अपेक्षाऽनपेक्षाभ्याम्,** अपेक्षया नयाः इतरया दुर्नया इति।

ग्निक मातृकापदास्तिक च द्रव्यनयः। उत्पन्नास्तिक पर्यायास्तिक च पर्यायनय।"-तत्त्वार्थहरि० ५। ३१। तत्त्वार्थसिद्ध० ५।३१। "दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं।"-सन्मति० १।३। "नयो द्विविध द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।"-सर्वार्थसि० १।६। "द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक इति। अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकः।"-राजवा० १।३३। "तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थगोचरौ। मिथ्यात्व निरपेक्षत्वे सम्यक्त्व तद्विपर्यये॥"-सिद्धिवि० टी० पृ० ५२१ A। "दव्वट्ठियस्स दव्व वत्थु पज्जवनयस्स पज्जाओ।"-विशेषा० गा० ४३३१। "तेषा वा शेषशासनाराणा-द्रव्यार्थपर्यायार्थनयौ द्वौ समासतो मूलभेदौ तत्प्रभेदा सग्रहादयः।"-नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A। धवला टी० पृ० ८३। प्रमाणनय० ७।५।

(१) "पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक।"-सर्वार्थसि० १।६। "परि भेदमेति गच्छतीति पर्याय.। पर्याय एवार्थ. प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः।"-धवलाटी० पृ० ८४। (२) तुलना-"अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्व न विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्? तद्भावस्तत्त्वम् तद्यथा आमलकादीना फलाना रक्तादय. पीतादयश्च गुणा प्रादुर्भवन्ति आमलक बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचन गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।"-पात० महाभा० ५।१।११९। "दवियदि गच्छदि ताइ ताइं सब्भावपज्जयाइं ज। दविय त भण्णते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥"-पञ्चास्ति० गा० ९। "यथास्व पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि।"-सर्वार्थसि० ५।२। "अद्रवद् द्रवति द्रोष्यत्येकानेक स्वपर्ययम्।"-न्यायवि० का० ११४। "दविए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो। दव्व भव्व भावस्स भूअभाव च ज जोग्ग॥"-विशेषा० गा० २८। "द्रवति द्रोष्यति दुद्रवैति (अदुद्रवत्) द्रु द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम।"-नयचक्रवृ० पृ० ९९ B। "द्रोर्विकारो द्रव्यम्, द्रोरवयवो वा द्रव्यम्, द्रव्य च भव्य भवतीति भव्यम् द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रूयते वा, द्रवणात् गुणाना गुणसन्द्रावो द्रव्यम्।" -नयचक्रवृ० पृ० ४४१ B। "द्रोष्यत्यदुद्रवत्तास्तान् पर्यायमिति द्रव्यम्।"-धवलाटी० पृ० ८३। "द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् द्रूयते गम्यते वा तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम्।"-जयध० अ० पृ० २६। आलापप०। (३) "द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिक।"-सर्वार्थसि० १।६। "पज्जवणिस्सामण्ण वयण दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति। अवसेसो वयणविही पज्जवभयणा सपडिवक्खो।"-सन्मति० गा० १।७। धवलाटी० पृ० ८३। "द्रव्येणार्यं द्रव्यार्थं, द्रव्यमर्थो यस्येति वा, अथवा द्रव्यार्थिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽयं द्रव्यार्थ.।"-नयचक्रवृ० पृ० ४ B.। (४) द्वितीये विषयपरिच्छेदे।

---

1 अद्रवत् ज० वि०। 2-द्वो सर्व-श्र०। 3 ते निश्ची-ब०। 4-श्च आभ्यामि-ब०।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**द्रव्य**' इत्यादि। अत्र **वस्तुतत्त्वं धर्मि** द्रव्यत्वादिविशेषविशिष्टमिति साध्यम्। तत्त्वग्रहणं किमर्थमिति चेत्? आश्रयासिद्धिनिषेधार्थम्, तथाहि–न जीवादि भ्रान्तं नापि शून्यं कल्पितं वा किन्तु तत्त्वं परमार्थसत्। प्रसाधितञ्च जीवादिवस्तुनः परमार्थसत्त्वं प्रागेव इत्यलमतिप्रसङ्गेन। अस्त्वेवम्, तथापि एकान्तरूपं तद् भविष्यतीत्याह–'**द्रव्य**' इत्यादि। वक्ष्यमाणलक्षणा **द्रव्यपर्याया आत्मानो**[1] यस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतदित्याह–**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्।** उत्पादाद्यात्मकं यतः ततस्तथोविधं तत्। एवंविधमपि कुत इत्याह–'**सत्**' इति। **सद्** अर्थक्रियाकारि यतः। तत्कारित्वं कथं तस्येत्याह–'**प्रमेयम्**' इति। **प्रमेयं** यतो जीवादिवस्तु ततोऽर्थक्रियाकारि। नहि सांख्यपरिकल्पितस्य आत्मनः काञ्चिदर्थक्रियामकुर्वतः प्रमेयत्वं घटते इत्युक्तं प्रागेव। नन्वेकस्मिन् वस्तुतत्त्वे प्रतीयमाने प्रतिभासभेदासंभवात् कथं प्रतिपत्रभिप्रायाणां नयरूपतोपपद्यते इत्याशङ्क्याह–'**तत्रैव**' इत्यादि। **तत्रैव**[2] अनन्तरोक्तस्वरूपे चन्द्रादिवस्तुनि **कथञ्चित्** सत्त्वधावल्यादिप्रकारेण यत् **प्रमाणं** यच्च कथञ्चिद् द्वित्वादिप्रकारेण **तदाभासः तयोर्भेदात् भेदप्रतीतेः।** एतच्च प्रागेव समर्थितत्वात् दृष्टान्ततयोपात्तम्। तस्मादेकस्मिन्नपि वस्तुनि प्रतिपत्तिभेदसंभवात् युक्तो विकलादेशविशेषमाश्रित्य **ज्ञातुरभिप्रायो नयः।** तस्य भेदमाह–'**स**' इत्यादिना। **स** नयो **द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च।** तत्र प्रथमं व्याचष्टे–'**द्रव्य**' इति। '**द्रवति**[3] **द्रोष्यति अदुद्रवत्**' **इति वा द्रव्यम्, तदेवार्थः सोऽस्ति यस्य स द्रव्यार्थिकः।** कुतः स इत्थम्भूत इत्याह–**सोऽभेदाश्रयो**[4] यतः।

विवृतिविवरणम्–

ननु सकलभावानां देशकालाकारैरत्यन्तभेदान्न अभेदो नाम, अतः कथमसौ अभेदाश्रयः स्यात्? इत्यारेकापनोदार्थमाह–

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत्।
एकं यथा स्वनिर्भासिज्ञानम् जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

---

(१) विषयपरिच्छेदे। (२) परमार्थसत्। (३) पृ० १९१। (४) "अस्ति विद्यते प्रतीयते। तत्किम्? सत् सत्तासामान्यम्। किंविशिष्टम्? यदित्यादि, यस्मिन्नन्तर्लीना अन्तर्भूता। के? जीवाजीवप्रभेदा, जीवश्चेतनालक्षण अजीव पुनस्तद्विपर्यय पुद्गलादि प्रभेदाश्च त्रसस्थावराद्यवान्तरविशेषा, जीवाजीवौ च प्रभेदाश्च ते तथोक्ता। न खलु द्रव्य पर्यायो वा सत्त्वव्यतिरिक्तमस्तीति किञ्चिद्व्यवहर्त्तुं शक्य स्ववचनविरोधादतिप्रसङ्गाच्च। नन्वेकस्य कथमनेकजीवादिभेदव्यापकत्वमिति चेदत्राह एकमित्यादि। यथा एक ज्ञान चित्रपटादिविषय स्वनिर्भासि स्वे आत्मीया ज्ञानात्मानो निर्भासा नीलाद्याकारा विद्यन्ते अस्येति स्वनिर्भासि। यथा चैको जीव आत्मा स्वपर्ययै, स्वे चिद्रूपा पर्यया रागादय परिणामा तैराक्रान्त प्रतीतिपदारूढो न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनेकभेदाक्रान्त न विरुध्यते इत्यर्थ।"–लघी० ता० पृ० ५२।

---

1 आत्मा यस्य आ०, ब०। 2 तत्र श्र०। 3–ष्टे द्रवति आ०, ब०। 4–भेदाश्रितो यतः आ०।

विवृतिः—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्याजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः तथैव सत्त्वस्य भेदाः जीवाजीवादयः[1]। तदेवम्—

कारिकाव्याख्यानम्— **जीवश्च अजीवश्च** तयोः **प्रभेदा** अवान्तरविशेषा **यदन्तर्लीना** यस्य अन्तः प्रविष्टाः **तदस्ति** विद्यते। किं तदित्याह—'**सत्**' इति। सत्तासामान्यम्। केन प्रकारेण '**एकम्**' इत्यादि। स्वे आत्मीया न ज्ञानान्तरगता निर्भासा नीलाद्याकाराः ते यस्य सन्ति तद् **स्वनिर्भासिज्ञानम्**[2] **एकं** 'चित्रैकज्ञानम्' इत्यर्थः। **यथा** येन प्रतिभासादिप्रकारेण अस्ति[3] तथा प्रकृतमपि, सौगतापेक्षया इदमुक्तम्। इतरापेक्षया[4] तु '**जीवः स्वपर्ययैः**' इत्याह। जीवग्रहणमुपलक्षणम् सकलाजीवतत्त्वस्य, तेन[5] जीवादिः स्वपर्ययैर्युक्तो यथा एकोऽस्ति तथा सदेकमिति सिद्धम्।

विवृतिविवरणम्— कारिकां विवृण्वन्नाह—'**यथैव**' इत्यादि। **यथैव** येनैव अशक्यविवेचना[१]ऽभिन्नयोगक्षेम[२]प्रकारेण **ज्ञानस्य आत्मनः** स्वरूपस्य ये **निर्भासभेदा** ग्राह्यादिनीलाद्याकाराः ते **नैकत्वं बाधन्ते, जीवस्य** आत्मनः **अजीवस्य वा** घटादेः **कस्यचित्** सकलजनप्रसिद्धस्य न नैयायिकादिकल्पितस्य तस्य पूर्वं निरस्तत्वात्। **स्वगुणपर्याया** '**यथैव नैकत्वं बाधन्ते**' इति सम्बन्धः। **तथैव** तेनैव प्रकारेण **सत्त्वस्य** सत्तासामान्यस्य **भेदाः**। के इत्याह—**जीवाजीवादयः,** नैकत्वं बाधन्ते। तस्मिन् सति किंजातमित्याह—'**तदेवम्**' इति। तस्मिन् सत्त्वे एवम् उक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति—

शुद्धं[३] द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः[४] तदभेदतः।
भेदानां नासदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

(१) अशक्यविवेचन हि एकचित्रज्ञानस्य नीलाद्याकाराणा ज्ञानान्तरे नेतुमशक्यत्वम्। (२) "अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः। लब्धधर्मानुवृत्ति क्षेम।"—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२४। "योग अप्राप्तविषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः, क्षेम. तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षण परिपालनम्।"—हेतुबि० टी० पृ० ५५। (३) "अभिप्रैति विषयीकरोति। कः? सग्रह संग्रहनय। किम्? शुद्ध द्रव्य सत्सामान्यं तस्यान्योपाधिरहितत्वेन शुद्धिसभवात्, तद्विषयो हि नयः सग्रह। सजात्यविरोधेन पर्यायानाक्रान्तभेदानैकध्यमुपनीय समस्तग्रहण सग्रह इति निर्वचनात्। कुत? तदभेदत, तस्य सत्सामान्यलक्षणस्य शुद्धद्रव्यस्य अभेदात् सर्वेषु जीवाजीवेषु अव्यतिरेकात्। ननु प्रागभावादेः सत्त्वव्यतिरेकात् कथ तदभेद इत्याशङ्क्याह—भेदाना जीवादीना सद्विशेषाणां मध्ये एकोऽपि भेदो जीवस्तत्पर्यायोऽन्यो वाऽसदात्मा असत्स्वरूपो नास्ति न विद्यते। विरोधतः—यद्यसदात्मा, कथमस्ति? यद्यस्ति, कथमसदात्मेति? स्ववचनविरोधादस्य असिद्धेः। तत प्रागभावादिरन्यो वा कथञ्चित्सदात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः प्रतीतिवलात्।"—लघी० ता० पृ० ५२। (४) तुलना—"सगहिय पिंडिअत्थ सगहवयण समासओ विंति।"—अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आ० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २६९९। "अर्थाना सर्वैकदेशसंग्रहण संग्रहः। आह च यत्सगृहीतवचन सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे। तत्सग्रहनयनियत ज्ञान विद्यान्नयविधिज्ञ॥"—तत्त्वार्था-

1 जीवादयः ज० वि०। 2–ज्ञानमित्ययं. श्र०। 3 आस्ते व०, श्र०। 4–या जीवः आ०। 5 अनेन श्र०।

विवृतिः—[1]सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहः । सताञ्च स्वभावानां भावैकत्वाऽबाधनात् । नहि कश्चिद् असदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं सद्रूपं द्रव्यमनवबुद्ध्य भेदं गृह्णाति नाम ।

कारिकाव्याख्यानम्—

शुद्धं द्रव्यं सत्तालक्षणम् **अभिप्रैति** विषयीकरोति न सतोऽपि आत्मादिविशेषान् । कोऽसौ इत्याह—**संग्रहः** संग्रहनयः । कुत एतदित्याह—**तदभेदतः** [1]तस्य सत्त्वस्य सर्वविशेषेषु अविशेषतः । एतदपि कुतः इत्याह—**'भेदानाम्'** इत्यादि । **भेदानां** जीवादिविशेषाणां मध्ये **असदात्मा** असत्स्वभावः **एकोऽपि** न केवलम् अनेको **नास्ति भेदो** विशेषः, किन्तु सदात्मैव **'अस्ति'** इति सम्बन्धः । कुतो नास्तीत्याह—**विरोधतः ।** तथाहि—'यदि असन् [2]कथमस्ति, अस्ति चेत् कथमसन्' इति । एतेन अभावचतुष्टयं[2] चर्चितम्, तथाहि—यदि तत् अस्तीतिप्रत्ययवेद्यम् कथसदात्मकम् ? स्वरूपेण [3]तस्यापि सदात्मकत्वात् । अथाऽसदात्मकम्, न तर्हि [3]तत्प्रत्ययवेद्यमिति कथं [4]तदस्तित्वसिद्धिः ?

विवृतिविवरणम्—

कारिकां विवृण्वन्नाह—**'सर्वम्'** इत्यादि । **सर्वं** चेतनाचेतनस्वभावं वस्तु **एकम्** अभिन्नं **सदविशेषात्** सत्ताऽविशेषमाश्रित्य **इति** एवं **संग्रहः ।** सदविशेषेऽपि सत्त्वात् तद्वतां भेदप्रसिद्धेः सर्वमेकम् इत्याद्ययुक्तमित्याशङ्क्याह—**'सताञ्च'** इत्यादि । **सताञ्च** विद्यमानानां पुनः **स्वभावानां** भावधर्माणाम् **भावैकत्वाबाधनात्** सत्त्वैकत्वानिराकरणात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह—**'नहि'** इत्यादि । **हि** यस्मात् **न असदात्मा** असत्तास्वभावः **कश्चित्** द्रव्यादीनामन्यतमो **भेदः** विशेष. **अस्ति ।** कुत इत्याह—**विप्रतिषेधात्,** विरोधात् । इतश्च असदात्मा भेदो नास्तीति दर्शयन्नाह—**'नहि'** इत्यादि । **किञ्चित्** प्रत्यक्षमनुमानं वा **ज्ञानं सद्रूपं** सत्त्वस्वरूपम् **अनवबुद्ध्य** अगृहीत्वा **भेदं** विशेषं **द्रव्यं** [3]द्रव्यरूपम्, द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं गुणादेः, तत्किमित्याह—**'नहि गृह्णाति नाम'** इति । ततो निराकृतमेतत् "न द्रव्यादि स्वत. सत्

धि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । "स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् सग्रह. ।"—**सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ ।** "विधिव्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसाय समस्तस्य ग्रहणात् सग्रह' । द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भात् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यव्यवसायो वा सग्रह ।"—**धवलाटी० पृ० ८४ ।** "शुद्ध द्रव्यमभिप्रैति सन्मात्र सग्रह पर । स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह॥"—**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७०। नयविव०श्लो०६७। प्रमेयक० पृ० ६७७।** "शुद्ध द्रव्य समाश्रित्य सग्रहस्तदशुद्धित."—**सन्मति० टी० पृ० २७२, ३११ । नयचक्र गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।**

(१) तुलना—"यथा सर्वमेकं सदविशेषात् ।"—**तत्त्वार्थभा० १।३५ ।** "अहव महासामन्नं सगहिय पिडियत्थमियर ति । सव्वविसेसानन्न सामन्न सव्वहा भणिय ।"—**विशेषा० गा० २७०१ ।** "विश्वमेक सदविशेषात् इति यथा ।"—**प्रमाणनय० ७।१६ ।** (२) अभावचतुष्टयस्यापि । (३) अस्तीतिप्रत्ययग्राह्यम् । (४) अभावचतुष्टयसद्भावसिद्धि ।

1 तस्य सर्व—आ० । 2 कथमसास्ति चेत् आ०, श्र० । 3 द्रव्यस्वरूपम् ब०, श्र० ।

नाप्यसत् सत्तासम्बन्धात्सत्" [　　　] इति; सद्रूपरहितस्य हि द्रव्यादेः[1] तत्स्वभावशून्यस्य च सद्रूपस्य ग्रहणे सति एतत् स्यात्, न च तद्ग्रहणमस्ति, सर्वदा उभयोः[2] उभयात्मनो[3] वेदनादिति भावः। पूर्वेण[4] परपक्षे विरोधोद्भावनम्, अनेन[5] तु प्रतीतितो भेदस्य सदात्मकत्वसाधनमिति विभागः।

अत्राह सौगतः–'यदुक्तम्–**यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदाः नैकत्वं बाधन्ते**' इति, तदप्युक्तम्; निरंशैकज्ञानोपगमात्, सर्वोऽप्ययं विरुद्धधर्माध्यासी स्तम्भादिप्रतिभासो विभ्रमो मरीचिकाचक्रे जलवदिति कथं तन्निदर्शनेन[6] अभिमततत्त्वसिद्धिः स्यात्? पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह–निस्तरङ्गं पुरुषमात्रं तत्त्वम्, जीवाजीवप्रभेदः[1] पुनः उपप्लवः, ततो **'जीवस्य अजीवस्य वा'** इत्याद्यप्ययुक्तम्, इत्याशङ्क्याह–

प्रत्यक्षं[7] बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना।
द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात् सामान्यलक्षणात् ॥३३॥

विवृतिः–स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं स्वलक्षणं विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्।

प्रत्यक्षमुक्तलक्षणम्, कथम्भूतं तदित्याह–**भेदाज्ञानम्**, भेदस्य निरंशक्षणिकविभ्रमविविक्तविशेषस्य[2] अज्ञानम् अग्रहणम् येन यस्मिन् वा तत्तथोक्तम्। क्वेत्याह–**'बहिरन्तश्च'** इति, बहिर्घटादौ अन्तः ज्ञानपुरुषस्वरूपे[3]।

कारकाव्याख्यानम्–

नहि तत्[8]तत्र[9] निरंशक्षणिकादिरूपं परपरिकल्पितं विशेषं जातु प्रतिपद्यते विभ्रमाभावानुषङ्गात्[4]। यदि तत्[10]तत्र[11] भेदाज्ञानम्, केन तर्हि प्रकारेण प्रत्यक्षमित्याह–**'सदात्मना'** इति। सद्ग्रहणमुपलक्षणं तेन 'सच्चेतननीलाद्यात्मना' इति गृह्यते। तत्किं कुर्यादित्याह[5]–**'द्रव्यम्'** इत्यादि। **द्रव्यम**नन्तरोक्तं स्वलक्षणं वस्तु **शंसेत्** स्तुयात् न परपरिकल्पितं परमाण्वादि। एवमपि पुरुषादिद्रव्यं स्वलक्षणं शंसेदित्याह[6]–

(१) द्रव्यादिस्वभावरहितस्य। (२) सत्त्व-द्रव्ययोः। (३) सत्त्वस्य द्रव्यादिविशेषसापेक्षतया, द्रव्यस्य च सत्त्वविशेषणापेक्षतया। (४) 'नहि असदात्मा' इत्यादि विवृतिवाक्येन। (५) 'नहि किञ्चिज्ज्ञानम्' इत्याद्यशेन। (६) चित्रज्ञानदृष्टान्तेन। (७) "शंसेत् स्तुयात् कथयेदित्यर्थः। किम्? प्रत्यक्षं विशदमिन्द्रियानिन्द्रियज्ञानम्। किंविशिष्टम्? भेदाज्ञानम्, भेदान् परपरिकल्पितान् निरंशक्षणान्न जानाति न गृह्णातीति भेदाज्ञानम्। किं शंसेत्? द्रव्यं शुद्धमशुद्धं वा स्वलक्षणं वस्तुभूतं न कल्पितमित्यर्थः। क्व? वहिरचेतने घटादौ, अन्तश्चेतने। केन? सदात्मना सद्रूपेण, न खलु सद्रूपेण भेदः पदार्थेषु प्रत्यक्षतो ज्ञायते येन प्रत्यक्षं द्रव्यं न शंसेत्। कस्मात्? भेदात् भेदमाश्रित्य। किंविशिष्टात्? सामान्यलक्षणात्, सामान्यमन्वयो लक्षणं लिंगं यस्यासौ सामान्यलक्षणस्तस्मात्। न हि भेदनिरपेक्षमभेदं प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं साधयति तस्यानुपलब्धेः। ततः प्रत्यक्षमपि द्रव्यसिद्धिनिबन्धनमेवेति कुतः संग्रहनयो मिथ्या स्यात्?"–लघी० ता० पृ० ५३। (८) प्रत्यक्षम् (९) वहिरन्तः। (१०) प्रत्यक्षम्। (११) वहिरन्तश्च।

1–जीवभेदप्रभेद श्र०। 2–विभ्रमविशे–श्र०। 3 ज्ञाने पुरु– व०। 4–त् ॥ छ ॥ यदि श्र०। 5–ह द्रव्यमन–आ०, श्र०। 6–ह भेदात् विशे–आ०।

'भेदात्' इत्यादि। **भेदात्** विशेषात् **सामान्यलक्षणं** स्वरूपं यस्य, सामान्येन वा लक्ष्यते यः स तथोक्तः तस्मात् तमाश्रित्य इत्यर्थः। यथा च क्षणिकनिरंशपरमाण्वादिरूपं पुरुषाद्वैतरूपं वा तत्त्वं न व्यवतिष्ठते तथा प्रागेव प्रपञ्चतः[१] [1] प्रतिपादितम्। **'भेदान्[2] सामान्यलक्षणान्'** इति वा[3] पाठः। तत्र[२] तान्[३] प्रत्यक्ष शंसेत् इत्यर्थः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'स्वार्थ'** इत्यादि। **भ्रान्तं** विप्लुतं[4] **ज्ञानं सर्वं** निरवशेषं लौकिकं शास्त्रीयञ्च, यदि वा सौगतकल्पितं[5] पुरुषाद्यद्वैतवादिकल्पितञ्च। कथम्भूतं **प्रत्यक्षं** विशदमभ्रान्तम्। केन रूपेणेत्याह–

विवृतिविवरणम्–

सद्रूपेण सदादिस्वभावेन। कस्मिन् सत्यपीत्याह–**'स्वार्थ'** इत्यादि। **स्वश्च अर्थश्च** तयो**र्भेदो** विवेकः अर्थस्य परमाणुलक्षणस्य परस्परम्§ स्वज्ञानस्य[४] विप्लवाकारा[द्] भेदो नावबुध्यते सर्वं हि ज्ञानं नात्मानं विप्लुतं जानाति§ स्वस्य विप्लुताकारात् तस्य **अनवबोधेऽपि**। तत्किं कुर्यादित्याह–**द्रव्यं[6] स्वलक्षणं विधात्[7]**। ननु स्यादेतत् यदि तद्भेदानवबोधः[५] स्यात् यावता स्वार्थयोः सद्रूपेणेव भेदरूपेणाप्यवबोधोऽस्तीत्याशङ्क्याह–**'अन्यथा'** इत्यादि। उक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण **अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्** 'तत्[८] तत्[8]कुर्यात्' इति सम्बन्धः। तथाहि–यथा तत्[६] प्रत्यक्षं सद्रूपेण तथा यदि स्वार्थभेदरूपेणापि, तर्हि स्थूलाकारो[९] भ्रान्तिः कुतः? ग्राह्यादिचेतनेतरादिभ्रान्तिर्वा? नहि यथावद्रूपेण वस्तुनः प्रतिभासे सा[१०] युक्ता, कदाचिदपि तदनुपरति[११]प्रसङ्गात्। तथा[9] तद्भेदा[१२]नवबोधवत् सद्रूपेणापि यदि तद्[१३]प्रत्यक्षम्, तदा कस्यचिदपि[१४] प्रतिभासाभावात् कुतो भ्रान्तिः?

ननु[१५] प्रतिक्षण[10]विलक्षणज्ञानादिक्षण[11]व्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासम्भवात् कथं **'द्रव्यं शंसेत्'** इत्युक्तं शोभेत इत्याशङ्क्याह–

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः[१६] सहक्रमविवर्त्तिभिः।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः॥ ३४॥

---

(१) पृ० ३७५, १५०। (२) बहिरन्त। (३) भेदान्। (४) 'स्वज्ञानस्य' इत्यादि § एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठ ब०, श्र० प्रत्योः त्रुटितायां पू० प्रतौ च नास्ति। अर्थानुरोधात्तु 'स्वस्य विप्लुताकारात्' इत्यंशस्य टिप्पण्यात्मक एव भाति। (५) स्वार्थभेदानवबोधः। (६) प्रत्यक्षम्। (७) स्वलक्षणं द्रव्य शसेत्। (८) द्रव्यम्। (९) स्थूलाकारा प्रतीति कथ भ्रान्तिरूपा स्यात्? (१०) भ्रान्तिः। (११) यथावद्वस्तुप्रतिभास एव हि भ्रान्तिनिवृत्तिकारणम्। यदि च यथावद्वस्तुग्रहणेऽपि भ्रान्ति न निवर्तेत तदा न कदापि तस्याः निवृत्ति सभाव्येति भाव। (१२) स्वार्थभेदाज्ञानवत्। (१३) द्रव्यम्। (१४) कस्यचिदपि पुरुषस्य सामान्यतो विशेषतो वा प्रतिभासाभावात् न भ्रान्ति स्यात्, भ्रान्ते सामान्यप्रतिभासनिवन्धनत्वादिति भाव। (१५) सौगत। (१६) "अयमर्थ –यथा सद्भि ज्ञानगताकारै असद्भिरर्थाकारै नीलादिभि सहैक ज्ञान विभाति तव न विरुध्यते, तथा अर्थव्यञ्जनपर्यायै सहक्रमविवर्तिभि व्यञ्जनपर्यायै सहैक द्रव्यमपि विभाति न विरुध्यते इति। दृश्या स्थूला व्यञ्जनपर्याया अदृश्या सूक्ष्मा केवलागमगम्या अर्थपर्याया।"–लघी० ता० पृ० ५५।

---

1 परमार्थोहि रूप ब०। 2 भेदात् ब०। 3 च श्र०। 4 विप्लवं ज्ञा–आ०। 5–ल्पित कथं–श्र०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति ब०, श्र०। 6 द्रव्यस्वल–आ०। 7 विद्यादेतद्यदि आ०, श्र०। 8 तत्कु–ब०। 9 यथा आ०। 10–क्षणाना आ०। 11–दिलक्षण–श्र०।

विवृतिः–यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथा एकं द्रव्यं सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्चानादिनिधनमवगन्तव्यम् । बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्क्रमव्यवस्थायाम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् ।

सन्तश्च असन्तश्च ते च ते **स्वस्य अर्थनिर्भासाश्च** नीलस्थूलादिप्रतिभासास्तैः, कथम्भूतैः ? **स्वयम्** आत्मना **अभेदकैः**, यथा **एकं** ज्ञानं विशेषेण देशकालनरान्तराबाधितरूपेण **भाँति** भासते । कदा ? **सह** एकस्मिन् काले तथा **क्रमविवर्त्तिभिः** तैः **एकं विभाति ।** कथम्भूतैः इत्याह–**दृश्यादृश्यैः ।** वर्त्तमानकालापेक्षया दृश्यैः अतीतकालापेक्षया चाँऽदृश्यैः ।

कारिकाव्याख्यानम्–

यदि वा सद्भिः स्वनिर्भासैः[3] सदादिभिः असद्भिः अर्थनिर्भासैः एकं यथा, तथा क्रमविवार्तिभिः सुखादिभिः एकं विभातीति ग्राह्यम् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**'यथैकम्'** इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **एकं क्षणिकं ज्ञानम्,** उपलक्षणमेतत् तेन पुरुषस्यापि ग्रहणम् । **सद्भिः** विद्यमानैः **असद्भिर्वा**ऽविद्यमानैर्वा । कैः ? **प्रतिभासभेदैः** । कथम्भूतैः ? **स्वयमभेदकैः इष्टम्** अङ्गीकृतम्, **तथा एकं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम्** । कैः ? **भेदैः** विशेषैः । कथम्भूतैः ? **सहक्रमभाविभिः** सहभाविभिः गुणैः क्रमभाविभिः पर्यायैः । पुनरपि किंविशिष्टैः ? **दृश्यैरदृश्यैश्च** । अनेन एँकत्वे प्रमाणान्तरवृत्तिं दर्शयति । कथम्भूतं तद्द्रव्यमित्याह–**अनादिनिधनम्** । प्रसाधितञ्च अनादिनिधनत्वं प्रागेवास्य इत्यलं पुँनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । **ननु ज्ञानमपि** तैरेकं नेष्यते *"किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि"* [प्रमाणवा० २।२१०] इत्यभिधानात् । अत्राह–**'बहिरिव'** इत्यादि । यथा **बहिः** परस्परासंसृष्टनिरंशक्षणिकपरमाणुसञ्चयः तथा तद्ग्राहिणामन्येषां वा **ज्ञानपरमाणूनां सञ्चये** अङ्गीक्रियमाँणे, **'पुनः'** इति पक्षान्तरसूचकः ।

विवृतिव्याख्यानम्–

---

(१) योगाचारैः । (२) द्रष्टव्यम्–न्यायकुमु० पृ० १३० टि० ६ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४९ । व्याख्या–"ननु यदि सा चित्रता बुद्धौ एकस्या स्यात्, तया च चित्रमेक द्रव्यं व्यवस्थाप्येत तदा किं दूषण स्यात् ? आह–न स्यात्तस्या मतावपि । न केवल द्रव्यं तस्या मतावपि एकस्या न स्याच्चित्रता आकारनानात्वलक्षणत्वाद् भेदस्य, नानात्वेऽपि चित्रता कथमनेकपुरुपप्रतीतिवत् । कथन्तर्हि प्रतीतिरित्याह–यदीद स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् । यदीदम् अताद्रूप्येऽपि ताद्रूप्यप्रथनम् अर्थाना भासमानाना नीलादीना स्वयम् अपरप्रेरणया रोचते, तत्र तथाप्रतिभासे के वयमसहमाना अपि निषेद्धुम्, अवस्तु च प्रतिभासते चेति व्यक्तमालीक्यम् ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२१० । (३) सौगतैः । "तस्मान्नार्थेपु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मन. । एकत्र प्रतिषिद्धत्वात् बहुष्वपि न सम्भव ॥ तस्मान्नार्थेपु बाह्येपु न ज्ञाने तद्ग्राहके स्थूलाभाम स्थूल आकार सङ्गच्छते । तदात्मन स्थूलस्वरूपस्यैकत्रावयवे परमाणौ वा प्रतिषिद्धत्वात् । बहुष्वपि तेषु सभवो नास्ति मिलिता अपि हि त एव । ते च प्रत्येक स्थौल्यविकला

1 भाति प्रतिभासते ब०, श्र० । 2 वादृ–ब० । 3–सैः एकं–श्र० । 4 क्षणिक क्षणिक ज्ञानम् आ० । 5 एकत्वप्रमा–श्र० । 6 पुनस्तत्प्रतिपादन–श्र० ।

अन्योन्यं परस्परम् **अनात्मकत्वम्** अस्वरूपत्वं तस्मिन् सति, **सर्वथा** सर्वेण साक्षात्करणप्रकारेण स्वरूपमिश्रणप्रकारेण वा **असङ्क्रमेण** असङ्करेण या [1]**व्यवस्था** अवस्थितिः तस्यां सत्याम् **एकस्थूलनिर्भासविरोधात्** कारणात् एक द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम्। [2]एतदुक्तं भवति–स्थूलैकप्रतिभासविरुद्धा ज्ञानेतरपरमाणवः, तत्प्रतिभासोपगमे तद्विरोधः[1] नीले पीतविरोधवत्। तथाभ्युपगच्छतश्च[2] अध्यक्षविरोधः निरंशादिरूपतया [3]शतधा तत्त्वं विचारयतोऽपि स्थूलादिप्रतिभासानिवृत्तेः।

एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधौ अभिधाय साम्प्रतम् अर्थक्रियाकारित्वबलेन तौ[3] प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह–

[4]लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति।
कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम्॥ ३९॥

विवृतिः–सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित् क्षणिके अर्थक्रियां साधयेत् अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्त्तेत। न च[4] क्षणिकानामनिश्चयात्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् विप्रकृष्टाऽर्थान्तरवत्। 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत् तस्य कार्यम्'[5] इति [5]लक्षणं क्षणभङ्गे न संभवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात्।

कारिकाव्याख्यानम्– **लक्षणम् अर्थस्य** परमार्थसतो वस्तुनः **नार्थक्रिया** अर्थस्य कार्यस्य क्रिया [6]करणम्। क? **क्षणिकैकान्ते**। कुत इत्याह–**'सति'** इत्यादि। **सति** विद्यमाने **कारणे** हेतौ **कार्यभावः** कार्योत्पत्तिः **चेद्** यदि **न कार्यकारणलक्षणं** कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं यल्लक्षणम् कारणस्य[7] च [6]तज्जनकत्वं यल्लक्षणं तन्न। पूर्वार्द्धगतेन **'न'** इत्यनेन सम्बन्धः। क्षणिकैकान्तवादिना [8]कारणाभाव एव कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। इदमपरं व्याख्यानम्– स्वोत्पत्तिकालवत्

इति समुदिता अपि तथैव स्युः। तथा नीलाद्याकारेषु प्रत्येकं चित्रस्य स्थौल्यस्याभावात् समुदायेऽप्यभाव"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२११।

(१) स्थूलैकप्रतिभासविरोध। (२) स्थूलैकप्रतिभासस्य असत्त्व भ्रान्तत्व वा स्वीकुर्वत। (३) स्वमतविधिपरमतप्रतिषेधौ। (४) तुलना–"कार्यकारणता नास्ति वहिरन्त. सन्तति कुत। निरन्वयात् कुतस्तेषा सारूप्यमिनरार्थवत्॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् क्षणिकमक्रम जगन्नि सन्तानि स्यात्। तस्मिन्नसति भवत कुत पुन कारणान्तरोत्पत्तिनियम? सदेव कारण स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत्। स्वरसत एव कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम्? नैरन्तर्यमात्रात्प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविशेषे कुत प्रभवनियम.? द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते।" –सिद्धिवि० पृ० ३६३–६४। (५) "किं पुनरसौ कार्यकारणभाव अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धन? इत्याह–तद्भावे भाव तदभावेऽभावश्चेति?"–हेतुबि० टी० पृ० ६९। (६) कार्यजनकत्वम्।

---

1 व्यवस्थिति श्र०। 2 तदुक्तं श्र०, ब०। 3 शतधात्त्व आ०। 4 कारिकेयं मुद्रितलघीयस्त्रये नास्ति। 5 लक्षणभगे न ज० वि०। 6 कारणम् आ०। 7 स्य तज्ज–आ०। 8 कारणभाव आ०।

कार्योत्पत्तिकालेऽपि सति कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणयोः[1] यल्लक्षणं स्वरूपं ग्रहणं वा अत्र प्रमाणभावात् 'घटते' इत्यध्याहारः, किन्तु क्षणभङ्गाय दत्तो जलाञ्जलिः[1] स्यात्।

यैस्त्वाह[2]–'नार्थक्रिया अर्थलक्षणं विचारतस्तदयोगात्। सा हि सती, असती वा तल्लक्षणम्? न तावदसती, खरविषाणवत् तथाविधा[3]यास्तस्याः[4] तल्लक्षणत्वा[5]योगात्। अथ सती; किं स्वतः, परतो वा? यदि स्वतः; अर्थेन किमपराद्धं येनास्य[6] स्वतः सत्त्वं नेष्यते? अथ परतः, तदा अनवस्था[7]' इति।

त 'सह' इत्यादिना नित्यवादिना समानं व्यवस्थाप्य 'यस्मिन्' इत्यादिना

विवृतिविवरणम्– कारिकार्थं प्रकटयति–**सह** युगपत् **क्रमेण वा** परिपाट्या वा **अर्थक्रिया अक्षणिकस्य** नित्यस्य सम्बन्धिनी या तां **निराचिकीर्षुः** सौगतः **कथञ्चित्** यौगपद्यप्रकारेण क्रमप्रकारेण वा प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण वा **क्षणिकेऽर्थे[8] अर्थक्रियां[9] साधयेत्, अन्यथा** तदसाधनप्रकारेण **तल्लक्षणम्** अर्थक्रियालक्षणं **सत्त्वं ततः** क्षणिकात् नित्यादिव **व्यावर्तेत[3]**। साध्यत एव तत्र सा इति चेत्; अत्राह– **'नच'** इत्यादि। **नच** नैव **भावानां कार्यकारणभावः सिद्ध्येत्**। कथम्भूतानाम्? **क्षणिकानाम्**। पुनरपि कथम्भूतानाम्? **अनिश्चयात्मनाम्** न विद्यते निश्चयो निर्णयो यस्य स तथाविध आत्मा स्वभावो येषाम्। तद्भावः[10] कथम्भूतः इत्याह[4]–**'प्रत्यक्ष'** इत्यादि। **प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं** यस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वादेव च **अनिश्चयात्मनां**[11] तेषां तद्भावो[12] न युक्तः। अत्र परप्रसिद्धं निदर्शनमाह–**'विप्रकृष्ट'** इत्यादि। पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नादर्थाद् अन्यः त्रिकालानुयायी अर्थः **तदन्तरम्** तस्य[13] च ग्रहणोपायाभावाद् विप्रकृष्टत्वम्, **विप्रकृष्टश्च तद् अर्थान्तरञ्च** तस्येव **तद्वत्**। एतदुक्तं भवति–यथैकस्य कालत्रयानुयायिनः कुतश्चित्प्रतिपत्तुमशक्तेः न तत्र[14] प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्यति तथा प्रतिपरमाणुनियतेन ज्ञानेन क्षणिकभावानामप्रतिपत्तेः न तत्[15]साध[5]नस्तद्भावः[16] सिद्ध्येत्।

(१) कार्योत्पत्तिकालेऽपि कारणसद्भावे तस्य द्विक्षणावस्थायित्व स्यादिति भाव.। (२) यौग। तुलना–"अर्थक्रियाकारित्वेन सत्ताभ्युपगमे समानञ्चैतद् दूषणम्–किं सतामर्थक्रियाकारित्वमथासतामिति? सतामर्थक्रियाकारित्वे सत्ताभ्युपगमे तथा दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वम्। तथा हि अर्थक्रियाजनकत्वे सत्त्वम्, सतश्चार्थक्रियाजनकत्वमित्येकाप्रसिद्धावितराप्रसिद्धि। अथ अर्थक्रियामन्तरेण सतोऽर्थक्रियाजनकत्वम्, तत्राप्यय विकल्प इत्यनवस्था। असत एवार्थक्रियाजनकत्वे खरविषाणादिषु तथाभाव स्यात्। अर्थक्रियायाश्चार्थक्रियान्तरेण सत्त्वेऽनवस्था। अथ स्वरूपेणेति चेत्; पदार्थेषु तथाभावप्रसङ्ग।"–प्रश० व्यो० पृ० १२७। प्रश० कन्द० पृ० १२। (३) असद्भूताया। (४) अर्थक्रियाया। (५) अर्थलक्षणत्वविरोधात्। (६) अर्थस्य। (७) प्रकृतार्थक्रियाया सत्त्वव्यवस्थापिका अपराऽर्थक्रिया तस्या अप्यपरा इत्यनवस्था। (८) क्षणिकेऽर्थे। (९) अर्थक्रिया। (१०) कार्यकारणभाव। (११) क्षणिकार्थानाम्। (१२) कार्यकारणभाव। (१३) त्रिकालानुयायिनोऽर्थस्य। (१४) नित्यऽर्थे। (१५) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन। (१६) कार्यकारणभाव।

1–योर्लक्ष–ब०, श्र०। 2 अनवस्थितिरिति श्र०। 3 व्यावर्त्तते श्र०। 4 इत्यादि आ०। 5–धनसद्भाव श्र०।

साम्प्रतं तेषां[(1)] तत्साधनं[(2)] तद्भावमभ्युपगम्य[(3)] तत्र दूषणमाह–**'यस्मिन्'** इत्यादि । **यस्मिन्** वस्तुनि **सत्येव** विद्यमान एव **यद्भावो**[1] यस्य वस्तुनः भाव आत्मलाभः **तद्वस्तु तस्य** पूर्वस्य **कार्यम्** । **'यस्मिन् सत्येव'** इत्यनेन यन्निर्दिष्टम् तद्, **इतरत् कारणम्** इति[2] एवं **लक्षणं** कार्यकारणयोः **क्षणभङ्गे न संभवत्येव** । कुत एतत् ? इत्यत्राह– **'कार्य'** इत्यादि । अत्रायमभिप्राय.–कारणसत्ताकाल एव कार्यस्य भावे **'यस्मिन् सत्येव'** इति घटते, परन्तु **कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः** सन्तानोच्छेदः[3] स्यादिति । ननु स्यादयं दोषः यदि यदैव कारणमुत्पद्यते तदैव स्वकार्यं कुर्यात, यावता पूर्वमुत्पद्य पुनः कार्यकाले सत् कार्यमुत्पादयति; इत्यत्राह– **'अन्यथा'** इत्यादि । उक्तप्रकारादन्येन प्रकारेण[(4)] **क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात्** । क्षणभङ्गे कार्यकारणयोः **'लक्षणं न संभवत्येव'**[5] इति सम्बन्धः।

ननु **'यस्मिन्'** इति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे[6] कारणे सति उत्तरक्षणे[7] कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोषु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगतः इति । समसमयभावित्वे चानयो[(6)]. कार्यकारणभावविरोधात् सव्येतरगोविषाणवत् इत्यारेकापनोदार्थमाह–

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।
युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसंभवसाधनम् ॥ ३६ ॥

विवृतिः–नहि कार्योत्पत्तिः[8] **कारणस्याभावं प्रतीक्षते यतः तदर्थक्रिया अक्षणिके विरुद्ध्येत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुषङ्गात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं कारणशक्तेः**[9] **?**

(१) क्षणिकानाम् । (२) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनम् । (३) कार्यकारणभावम् । (४) तुलना–"क्षणस्थायि कारण स्वसत्ताया कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि सकलजगदेकक्षणवृत्तित्वप्रसङ्गात्"–**अष्टश०अष्टसह०पृ०९१**। "सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणकाल एव मर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् तत सन्तानाभावात्"–**अष्टश०अष्टसह०पृ०१८७**। (५) न हि गोदोहनकाल गमनकालश्चैक सभवति। (६) कारणकार्ययो । (७) चेद् यदि विरुद्धा विप्रतिषिद्धा स्यात्, का ? कार्योत्पत्ति, कार्यस्योत्तरपरिणामस्योत्पत्ति स्वरूपलाभ । कया ? स्वय कारणसत्तया, स्वय कारणं विवक्षितकार्यजनक द्रव्यस्वरूपमुपादान तस्य सत्तया भावेन। तर्हि युज्येत, युक्त स्यात् । किम् ? अर्थक्रियासभवसाधनम्, अर्थस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्ति तत्सभवसाधनम् नित्ये क्रमयौगपद्यविरहादित्यनुमानम् । क्व ? अर्थे । किंविशिष्टे ? क्षणिके निरन्वयक्षणनश्वरे। इदमतिपरिवचनम् । न च सा विरुद्धा कार्यकाले सत एव कारणत्वात्, अन्यथा कार्यस्य आकस्मिकत्वपसङ्गात् "–**लघी० ता० पृ० ५६** । तुलना–"कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया । यस्मिन् सत्येव यद्भाव तत्तस्य कार्यमितरत्कारणमिति क्षणिकत्वे न सभवत्येव सहोत्पत्तिप्रसङ्गात् कुत. सन्तानवृत्ति ।"–**सिद्धवि० पृ० १६०,३२६** ।

1 **सद्भावो** आ०। 2 **इत्येवलक्षण** आ०। 3 **सभावनोच्छेव** ब०। 4–**णलक्षण**– श्र०। 5–**त्येनेति** आ० । 6 **स्वतो सत्ता**–श्र०। 7–**क्षणकार्य**–आ०। 8 **कार्यस्योत्प**–ई० वि०। 9 **कारणसिद्धे** ई० वि० ।

कारिकाव्याख्यानम्–

कार्यस्य उत्पत्तिः आत्मलाभः **विरुद्धा चेत्** यदि **स्वयम्** आत्मना, कया ? **कारणसत्तया ।** एतदुक्तं भवति–यदि कारणसत्तया कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते तदा युक्तमेतत् पूर्वमेव तद्भावे[१] तद्भाव[२] इति । तथा चेदत्र दूषणमाह–**'युज्येत'** इत्यादि । **युज्येत** उपपद्येत **अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम् ।** क ? **अर्थे ।** कथम्भूते ? **क्षणिके** 'विनष्टे कारणे तद[३]संभवात्' इति मन्यते । यदि वा, तया[४] **तदुत्पत्तिर्विरुद्धा** यदि तदा **युज्येत अर्थे** क्षणिके **अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम्,** न च तया[1] सा विरुद्धेति प्रतिपादयिष्यते[2] ।

विवृतिव्याख्यानम्–

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह–**'नहि'** इत्यादि । हिर्यस्मात् **न कार्यस्य उत्पत्तिः कारणस्य अभावं प्रतीक्षते** यावत् कारणं निर्मूलन्न नश्यति तावत् स्वयं नोपपद्यते इति । **यतः** तदपेक्षणात् **तदर्थक्रिया** क्रमयौगपद्यार्थक्रिया **अक्षणिकत्वे[3] अपि विरुध्येत ।** **'यतः'** इति च आक्षेपे, नैव विरुध्यते । कुत एतदित्याह–**'निष्कारणस्य'** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–विनष्टे कारणे यदा कार्यं जायते तदा **तन्निष्कारणं** भवति, तस्य च **अन्यस्य[4]** देशादेः **अनपेक्षा** अपेक्षाऽभावः तया **देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुषङ्गात्** कारणात् 'नहि तदभावं सा प्रतीक्षते' इति सम्बन्धः । तथा तस्या[५]स्तद[६]पेक्षणे दूषणान्तरमाह–**'तदयम्'** इत्यादि । **तत्** तस्मात् तदपेक्षणात् **अयं** सौगतः कार्यस्य यो **भावः** आत्मलाभः यश्च कारणस्य **अभावः** तयोः यथासंख्येन **कार्यकारणतां लक्षयेत् ।** यद्धि[5] कार्यम्[७] आत्मलाभे अपेक्षते तत् कारणम्, अपेक्ष्यते च तेन[९] तल्लाभे[१०] तदभावः[११] [१२]इति मन्यते ।

इदमपरं व्याख्यानम्–यदा कारणान्न कार्यं किन्तु कारणात् तदभाव[१३], ततश्च कार्यं तत्राह–**'तत्'** इत्यादि । **तत्** तस्मान्न्यायात् **अयं भावाभावयोः** कारणतन्निवृत्त्योः **कार्यकारणतां** भावस्य कारणताम् अभावस्य कार्यतां **लक्षयेत् ।** कार्यशब्दस्य परप्रयोगप्रसङ्गेऽपि अल्पाच्तरत्वात्[१४][6] पूर्वनिपातः । अथ मतम्–न अभावः प्रख्योपाख्या[१५]विहीनत्वात् कस्यचित् कारणं कार्यञ्च, इत्यत्राह–**सर्वथा भावस्यैव वा** सत एव[7] वा

(१) कारणसद्भावे । (२) कार्यसद्भाव । (३) अर्थक्रियाऽभावात् । (४) कार्योत्पत्तिकाले उपादानकारणसत्तया । (५) कार्योत्पत्ते. । (६) कारणाभावापेक्षणे । (७) कर्म । (८) कर्तृ । (९) कार्येण । (१०) आत्मलाभे । (११) कारणाभावः । (१२) कार्येण आत्मलाभे अपेक्ष्यमाणत्वात् कारणाभाव एव कारणं स्यादिति भावः । (१३) कारणाभाव (१४) "अल्पाच्तरम्"–जैनेन्द्र० व्या० १।३।१००।–"द्वन्द्वे से (समासे) अल्पाच्तरमेक पूर्वं प्रयुज्यते।"–शब्दार्णव० १।३।११४। (१५) प्रख्यायते इति प्रख्या विकल्प, उपाख्यायते इति उपाख्या श्रुति ताभ्या विकल्पशब्दाभ्या रहितत्वात् ।

1–सत्ताया श्र० । 2–यिष्यति आ० । 3–कत्वे विरुद्धयते आ० । 4 अन्यदेशादे. ब०, श्र० । 5 यदि का–श्र० । 6 अल्पान्तरत्वात् आ०, अल्पस्वरत्वात् ब० । 7 एव वार्य–आ० ।

'कार्यकारणतां लक्षयेत्' इति सम्बन्धः। कारणवत् कार्यस्याप्यसत्त्वाऽसम्भवात् अतः सांख्यमतप्रसङ्गः सौगतस्य इत्यभिप्रायः। ननु मा भूत् क्षणिके प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः, कार्यव्यतिरेकसाधनस्तु इन्द्रियशक्तिवत्स्यात्, इत्यत्राह–**'स्वलक्षणस्य'** इत्यादि। **स्वलक्षणस्य** परपरिकल्पितपरमाणुलक्षणस्य **क्वचिद्** अन्तर्बहिर्वा **प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः,** प्रत्यक्षपूर्वकोऽनुपलम्भः प्रत्यक्षानुपलम्भः तस्य असिद्धेः कारणात् **कुतः कार्यस्य व्यतिरेकेणोपलक्षणं कारणशक्तेः ?** न कुतश्चित्। एतदुक्तं भवति–यदा तस्य तद्रूप कार्यं कुतश्चित् प्रत्यक्षं सत् पुन. इतरकारणसद्भावेऽपि नोपलभ्यते तदा युक्त तेनोपलक्षण तच्छक्तेः, न चैवमस्तीति।

ननु यदुक्तम्–**'बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चय'** इत्यादि, **'नहि कार्योत्पत्तिः'** इत्यादि च, तदयुक्तम्, यथाप्रतिभास चित्रैकज्ञानोपगमात्। *"चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः"* [प्रमाणवार्तिकालं० लि० पृ० ३९५।] इत्यादिवचनात्। तथा कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत एव कारणादेव उदयोपगमात् कथमन्यथा जाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकम् इत्याशङ्क्य आह–

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत्।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

(१) कार्यव्यतिरेकेण कारणव्यतिरेको ज्ञायते, क्षणिके च न कार्यव्यतिरेक अत क्षणिकेऽर्थे कार्यकारणभाव साधनीयः, यथा हि–रूपज्ञानोत्पत्त्यभावेन रूपज्ञानजननशक्त्यभाव व्याप्त, चक्षुषि अविकले सति न रूपज्ञानोत्पत्त्यभाव अतस्तत्र रूपज्ञानजननशक्ति व्यवस्थाप्यते। नहि चक्षुषि रूपज्ञानजननशक्तिव्यवस्थापने प्रत्यक्षानुपलम्भो प्रभवत, शक्तेरतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽगोचरत्वात्। तथैव क्षणिकेऽर्थे प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभावो मासेत्स्यत् कार्यव्यतिरेकेणानुमीयमानस्तु सिद्धयत्येव इत्यभिप्राय। (२) क्षणिकस्य। (३) कार्यव्यतिरेकेण। (४) अनुमानम्। (५) कार्योत्पादनशक्ते। (६) प्रज्ञाकरगुप्त। (७) पृ० ६१३, ६१६। (८) "चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्। शक्यविवेचन चित्रमनेकम्, अशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादय।"–**प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३९५।** उद्धृतमिदम्–**प्रमेयक० पृ०९५। न्यायकुमु० पृ० १३०। सन्मति० टी० पृ० २४१। न्यायवि० वि० पृ०१०१ A.।** 'प्रज्ञाकरगुप्तेनाप्युक्तम्–चित्रप्रतिभासा'–**सिद्धवि० टी० पृ०५५ A।** (९) यथाहि कार्यस्य देशेऽविद्यमानमपि कारण कार्योत्पादकम्, तथा कार्यकालेऽविद्यमानमपि कार्योत्पादकं भवतु। (१०) यदि कार्यकालेऽविद्यमानादपि कारणात् कार्योत्पत्ति न स्वीक्रियते तदा। (११) प्रज्ञाकरगुप्तो हि प्रमाणवार्तिकालङ्कारकार, स च भाविन भूतञ्चार्थं कारणमाचक्षते, तथाहि– "अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थ ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। न चानन्तर्यमेव निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात्। गाढसुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥ तस्मादन्वयतिरेकानुविधायित्व निबन्धनम्। कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते॥ मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।"–**प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७६।** (१२) "यथा येनाविरोध-

1–**घनवस्तु** श्र०। 2–**त्राह स्वलक्षणस्य पर**–आ०। 3–**रेकोणोप**–आ०। 4 **तदुक्तम्** आ०। 5 **प्रबोधोदयो भा**–ब०। 6 **तथैवं** आ०।

विवृतिः–यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिग्देशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्कर[1]-व्यतिकर[2]व्यतिरेकेण करोति तत्कर[1]णैकस्वभावत्वात्। नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेपि तत्कारणस्वभावभेदः, तथैकमक्षणिकं यद्यदा उत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणै[2]कस्वभावत्वात्। सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव इत्यविरुद्धम्। यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अवयवान् व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात्, तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेदकत्वांत्तेषां स्वभावानामिति। एवम्–

कारिकाव्याख्यानम्–**यथा** येन योग्यताप्रकारेण **एकं** निरंशं क्षणिकं वस्तु **भिन्नो देशो येषामर्थानाम्,** देशग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रज्ञाकरगुप्तापेक्षया भिन्नकालग्रहणम्, तान् **कुर्यात् सकृद्** एकदैव। तथाहि–प्रदीपक्षणः प्रमातरि स्व[3]ज्ञानं स्थाल्यां[4] तैलशोषं दशाननदाहञ्च[5] उपरि कज्जलम् इत्यादि भिन्नदेशं सकृदेवाऽनेकं कार्यं कुर्याद् एवमन्यदपि चिन्त्यम्। त[4]था यदैवं[6] जाग्रद्विज्ञानं स्वापानन्तरं व्यापारादिकार्यं कुर्यात् तदैव कालान्तरभाविस्वकालनियतं प्रबोधम्, यदैव च भाविराज्यादिकं स्वकालनियतं[5] दर्शनं[7] कुर्यात् तदैव चिरातीतकाल हस्तरेखादिकम्, **तथैकं** नित्यं **भिन्नकालार्थान्।** कुतः? **क्रमात्,** क्रममाश्रित्य। एकैकं कृत्वा पुनरन्यं कुर्यात् तत्कालेऽपि[8] तद्भावात्[9]। तथा चेदमयुक्तम्–*"नाऽक्रमात्[10] क्रमिणो भावाः"*

प्रकरेणैकं सौगताभिमतं क्षणिकस्वलक्षणं सकृदेकक्षणे भिन्नदेशार्थान् भिन्नो विप्रकृष्टो देशो येषां ते भिन्नदेशा ते च तेऽर्थाश्च कार्याणि तान्, स्वसन्तानवर्तिनमुपादानत्वेन सन्तानान्तरवर्तिनञ्च निमित्तत्वेन जनयेदित्यर्थः। यथा वा एकं ज्ञानं भिन्नदेशार्थान् विप्रकृष्टनीलाद्याकारान् व्याप्नोति न विरुध्यते तथा एकमभिन्नद्रव्यं क्रमात् कालभेदेन भिन्नकालार्थान् भिन्नः पूर्वापरभूतः कालो येषां ते च तेऽर्थाश्च कार्याणि तान् कुर्यात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमत इत्यर्थः। तानेव व्याप्नोति वा तादात्म्यमनुभवति वा, न विरुध्यते।"–लघी० ता० पृ० ५६। "तथैवोक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः–यथैकं भिन्नदेशा··।"–सत्यशासनप० पृ० १५ B।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः। (२) परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। (३) प्रदीपविषयकं ज्ञानम्। (४) तैलपात्रे। (५) दशा वर्तिका तस्या आननं मुखम् अग्रभागः तस्य दाहम्। (६) न हि स्वापानन्तरभाविव्यापारादीनां प्रबोधस्य च जाग्रद्विज्ञानं विभिन्नकालवर्ति सत् समुत्पादकं घटते तस्य एकक्षणमात्रवृत्तित्वादित्याशयेनाह–यदैवेति। (७) स्वविषयकं दर्शनं प्रत्यक्षम्। (८) अन्यपदार्थोत्पादकालेऽपि। (९) नित्यस्य सद्भावात्। (१०) "नाक्रमात्क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः। क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमं तस्यापि शंसति॥ नाऽक्रमात् क्रमिणः कार्यस्य भावः, क्रमरहितत्वात् कारणस्य तन्निष्पाद्यानि कार्याणि सकृज्जायेरन्। क्रमवतः सहकारिणोऽपेक्ष्य क्रमाज्जनिष्यतीति चेत्; नाप्यविशेषिणः स्थिरैकरूपस्य परैरनाधेयविशेषस्य परेषां सहकारिणामपेक्षाऽस्ति। तस्मात् क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमं तस्यापि कायस्य शंसति।"–प्रमाणवा० मनोरथ० १।४५। उद्धृतोऽयम्–"नाक्रमात् क्रमिणो भावा··धीश्चेयं क्रमं··"–सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A., १९७A.। 'धीर्नयात्··'–सन्मति० टी० पृ० ३३६। प्रकृतपाठः–प्रमेयक० पृ० ३२५।

1 कारण–ज०वि०। 2–त्वात् स्वभा–ई०वि०। 3 एव आ०। 4–यथा श्र०। 5नियतदर्शनं श्र०।

[प्रमाणवा० १।४५] इत्यादि । **यथा चैकं** ज्ञानं[1] क्षणिकं **भिन्नदेशार्थान्** नानादेश-नीलाद्याकारान् **व्याप्नोति** तदात्मकं भवति । **वाशब्दः** पक्षान्तरसूचकः, **सकृद्** एकदा तथा **एकमात्मतत्त्वं भिन्नकालार्थान्** सुखादीन् **व्याप्नोति चाक्रमात् ।**

विवृतिविवरणम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–'**यथा**' इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **स्वलक्षणम्,** कथम्भूतम् ? **क्षणिकम्, करोति कार्याणि ।** कथम्भूतानि ? **नानादिग्देशभावीनि,** दिग्ग्रहणमुपलक्षणं तेन नानाकालभावीन्यपि गृह्यन्ते । कथं करोति ? **स्थानं[2]सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण ।** कुत एतदित्याह–**तत्करणैकस्वभावत्वात् ।** तदेव समर्थयते **'नहि'** इत्यादिना । **हि**र्यस्मात् **न सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि कारणस्वभावभेदः, तथा एकमक्षणिक कारणं यद् यदा उत्पित्सु कार्यं तत् तदैव करोति ।** कुत एतदित्याह–**तत्करणैकस्वभावत्वात् ।** ननु क्रमभावीन्यनेककार्याणि कुर्वत् कथं तदेकम् तावद्वा[3] भेदप्रसङ्गात् ? इति चेदत्राह–**'सर्वदा'** इत्यादि । **सर्वदा** सर्वकालं **कार्य[4]कालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात्** कारणात् **तदात्मकं** तत्करणसामर्थ्यात्[5]मकम् **एकमेवेत्यविरुद्धम् ।** अस्यैव समर्थनार्थमाह–**'यथा'** इत्यादि । **यथा** सौगतस्य **विज्ञानं[1] स्वनिर्भासभेदान्** आत्मनीलाद्याकारविशेषान् नैयायिकस्य **गुणी गुणान्, अवयवी अवयवान् व्याप्नोति** कथञ्चित्तदात्मको भवति । कदा ? **सकृदपि,** न केवलमसकृत् । ननु ज्ञानतन्निर्भासयोः[2] गुणगुणिनोः अवयवावयविनोश्च अत्यन्तभेदान्न युक्तमेतदित्यत्राह–**तदात्मकत्वात्,** ज्ञाना[3]देः स्वनिर्भासभेद-गुण-अवयवात्मकत्वात् । अन्यथा घटपटवत् [4]तज्ज्ञानवच्च गुणगुण्यादिभावः चित्रज्ञानरूपता च न स्यादित्युक्तं विस्तरतः प्रागेव । **तथैव द्रव्यं** जीवादि **स्वपर्यायभेदान् व्याप्नोति ।** स्वग्रहणात्–

"[5]सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ? ॥" [प्रमाणवा० ३।१८१]

(१) प्रतिनियतदेशस्थमेव । (२) चित्रज्ञानम् । (३) आदिपदेन गुणी अवयवी च ग्राह्यौ । (४) घटपटज्ञानवत् । (५) व्याख्या–"सर्वस्योभयरूपत्वम्–उभयग्रहणमनेकत्वोपलक्षणार्थम् तस्मिन् सति, तद्विशेषस्य 'उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि, दधि दध्येव नोष्ट्र' इत्येव लक्षणस्य निराकृते, 'दधि खाद' इति चोदित पुरुष किमुष्ट्र खादितु नाभिधावति ? उष्ट्रोऽपि दध्यभिन्नात् द्रव्यत्वादव्यतिरेकात् स्याद्दधि, नापि स एवेति 'उष्ट्र उष्ट्र एव' इत्येकान्तवाद, येनान्योऽपि दध्यादिक (त) स्यादुष्ट्र । तथा दध्यपि स्यादुष्ट्र उष्ट्राभिन्नेन द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्येनाभिसम्बन्धात् । नापि तदेवेति दध्येव दधि, येनान्यदपि उष्ट्रादिक (त) स्याद्दधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्व व्याख्यातम् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।१८३ । मनोरथ० १।१८३ । उद्धृतोऽयम्–अनेकान्तजय० पृ० १८ । 'नोदितो ''–अनेका० प्र० पृ० ७ । अष्टसह० पृ० ९२ । सन्मति० टी० पृ० २४२ । न्यायवि० वि० पृ० ९२ A ।' निराकृत । प्रेरितो दधि ''–स्या० र० पृ० ८३७ ।

1 ज्ञानक्षणिक आ० । 2-सकरव्यतिरेकेण श्र० । 3 तावद्वा आ० । 4 कार्यकार–आ० । 5–त्मकमेवेत्य–आ०, ब० ।

इत्येतन्निरस्तम्[1]; दध्यादेः उष्ट्रादिस्वरूपभूतपर्यायत्वासंभवात् । कुतस्तत् तान् व्याप्नोतीति चेदत्राह–'**स्वयम्**' इत्यादि । **स्वयं** स्वरूपेण **अभेदकत्वात्तेषाम्**[2] । इतिशब्दः द्रव्यसिद्धिप्रघट्टकपरिसमाप्तौ । तदेवं सिद्धे परापरद्रव्ये परापरसंग्रहः प्रवर्त्तते । तत्र परसंग्रहं प्रदर्शयितुमाह–

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।
ब्रह्मवादस्तदाभासः[3] **स्वार्थ**[4]**भेदनिराकृतेः ॥३८॥**

विवृतिः–नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद् यदात्मकं तत् तदेव, यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात्[1] सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति संग्रहः । तत्प्राधान्यात्[5] न तु भेदप्रतिक्षेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया तत्प्रतिरूपकत्वं[6] ब्रह्मवादवत् ।

कारिकाव्याख्यानम्–

संग्रहः संग्रहनयः **सर्वेषां भेदानां** जीवादिविशेषाणाम् **ऐक्यमभिप्रैति** केन रूपेण ? इत्याह–**सदात्मना ।** ब्रह्मवादेऽपि सदात्मना तेषां संग्रहः संभवति इति सोऽपि संग्रहनयः स्यादित्याशङ्कापनोदार्थमाह–**ब्रह्मवादस्तदाभास** इति । कुत एतत् ? इत्याह–'**स्वार्थ**' इत्यादि । **स्वार्थः** सन्मात्रं तस्य **भेदो** जीवादिः तस्य **निराकृतेः** असौ तदाभासः संग्रहाभासः, तन्निराकृतौ सन्मात्रस्यापि निराकृतिसिद्धेः । न खलु निराश्रयं सामान्यं नाम अश्वविषाणादेरपि तत्त्व[7]प्रसङ्गात् ।

विवृतिविवरणम्–

व्यतिरेकद्वारेण कारिकां विवृण्वन्नाह–'**नहि**' इत्यादि । **हि**र्यस्मात् **न कश्चित्** चेतनः इतरो वा **भेदो** विशेषः **असदात्मा अस्ति,** कुत एतत् इत्याह–**विरोधात् ।** असदात्मनोऽस्तित्वविरोधश्च प्रागेव समर्थितः । ननु-

(१) तुलना–"सुगतोऽपि मृगो जात मृगोऽपि सुगत स्मृत । तथापि सुगतो वन्द्यो मृग खाद्यो यथेष्यते ।। तथा वस्तुवलादेव भेदाभेदव्यवस्थिते । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ।।" –न्यायवि० का० ३७३–७४ । अनेकान्तजय० पृ० २८१ । "न ह्यस्माभिर्दध्युष्ट्रयोरेक तिर्यक्सामान्य वस्तुत्वादिक व्यक्त्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते । यादृग्भूत तु प्रतिव्यक्ति भिन्न 'समाना' इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यन्यत्र प्रेरितोऽन्यत्र खादनाय धावेत् यद्युन्मत्तो न स्यात् ।"–सन्मति० टी० पृ० २४२ । (२) पर्यायाणाम् । (३) तुलना–"निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायण । तदाभास समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ।।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७० A । नयविव० श्लो० ६८ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । न्यायावता० टी० पृ० ८५ । प्रमाणनय० ७।१५, २१ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । (४) "स्वस्य ब्रह्मवादस्य अर्थो विषय सन्मात्र तस्य भेदा जीवादिविशेषा तेषा निराकृते प्रतिषेधात् । न खलु सर्वथा सत्त्वे भेदानामवकाशोऽस्ति । भेदरहितं च तत्कथं सामान्य नाम निराश्रयत्वात् अर्थक्रियाविरहाच्च ।"–लघी० ता० पृ० ५८ । (५) सत्त्वप्राधान्यात् । (६) सग्रहाभासत्वम् । (७) सामान्यत्वप्रसङ्गात् ।

1 तस्मात्तदात्मानो ई० वि० ।

भवत्वेवम्, तथापि भेदेभ्यो भिन्नं सत्त्वम् इत्यत्राह–**यद् यदे**त्यादि । **यद्** द्रव्यादि **यदात्मकं** यत् सत्त्वमात्मा यस्य तद् **यदात्मकम्**[1] **तद्** द्रव्यादि **तदेव**[2] भवति सद्रूपमेव भवति, **यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं** संशयेतरविपर्यासेतरविशेषात्मकं **ज्ञानं** संशयादिरूपमेव भवति । यत एवं[3] **तस्मात् सदात्मनो**[4] **भेदाः सन्मात्रमेव नान्यत्** भावाद्भिन्नं प्रागभावादि **इति** एवं **संग्रहः** । कुतः स इत्याह–**तत्प्राधान्यात्**, सन्मात्रप्राधान्यात् **नतु** न पुनः **भेदप्रतिक्षेपात्** । कुत एतदित्याह–**स्वपर्यायभेदानपेक्षया,** यतः तत्प्रतिरूपकत्वं संग्रहाभासत्वम् । किंवदित्याह–**ब्रह्मवादवत् इति** ।

अधुना नैगमतदाभासप्ररूपणार्थमाह–

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्[1] ।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ[5] नैगमाभास इष्यते[2] ॥३९॥

विवृतिः–स्वलक्षणभेदाभेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः । यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्प्ररूपणायां

(१) "इष्यते मन्यते स्याद्वादिभि । क ? नैगम, निगमो मुख्यगौणकल्पना, तत्र भवो नैगम इति । कुत ? अन्योन्येत्यादि । गुणभावः अप्रधानभूत एकश्च प्रधानभूत, अन्योन्य परस्पर गुणभूतैकौ तौ च तौ भेदाभेदौ च तयो प्ररूपणात् ग्रहणात् । तथाहि गुणगुणिनामवयवावयविना क्रियाकारकाणा जातितद्वताञ्च कथञ्चिद् भेद गुणीकृत्य अभेद प्ररूपयति, अभेद वा गुणीकृत्य भेद प्ररूपयति । नैगमनयस्यैवंविधत्वात्, प्रमाणे भेदाभेदयोरनेकान्तग्रहणात् । ननु गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेद एवेति चेदत्राह–अर्थेत्यादि । अर्थान्तरत्व गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेदः । तस्योक्तौ प्ररूपणाया नैगमाभास इष्यते तस्य प्रमाणबाधितत्वात् ।"–**लघी० ता० पृ० ५७।** तुलना–"णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती । सेसाणपि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छ ॥"–**अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७७५ । विशेषा० गा० २६८२ ।** "निगमेषु येऽभिहिता शब्दास्तेषामर्थ शब्दार्थपरिज्ञान च देशसमग्राही नैगम । 'आह च –नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्ष । देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेय ।"–**तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ ।** "अभिनिर्वृत्तार्थसकल्पमात्रग्राही नैगम ।"–**सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ ।** "यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तते इति नैक गमो नय सग्रहासग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति यावत् ।"–**धवलाटी० पृ० ८४ । जयध० अ० पृ० २७ ।** "तत्र सकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय । यद्वा नैक गमो योऽत्र स सता नैगमो मत । धर्मयोः धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणो । पर्यायनैगमादिभेदेन नवविधो नैगम ।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ०२६९। नयविव०३३,३७। प्रमेयक० पृ०६७६। सन्मति० टी० पृ० ३१० । नयचक्र गा० ३३ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ ।** "नैकैर्मानै. महासत्तासामान्यविशेषविशेषविज्ञानै मिमीते मिनोति वा नैकम । निगमेषु वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगम । अथवा नैके गमा पन्थानो यस्य स नैकगम ।"–**स्थानाङ्गसू० टी० पृ० ३७१।** "धर्मयो धर्मिणो धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षण स नैकगमो नैगम "–**प्रमाणनय० ७।७ । स्या० म पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २१ ।** (२) तुलना–"ज सामन्नविसेसे परोप्पर वत्थुओ य सो भिन्नो । मन्नइ अच्चन्तमओ मिच्छद्दिट्ठी कणादोव्व ॥"–**विशेषा० गा० २६९० ।** "तयोरत्यन्तभेदोक्तिरन्योन्य वाश्रयादपि । ज्ञेयो व्यजनपर्यायनैगमाभो विशेपत ॥"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७० । नयविव० ६३ । प्रमेयक० पृ०६७७। न्यायावता० पृ० ८२। प्रमाणनय० ७।११। जैनतर्कभा० पृ० २४ ।**

1–**कं द्रव्या**–आ० । 2 **तदेवमेव** श्र० । 3 **एव** आ० । 4 **सदात्मानो** आ०, ब० । 5–**न्तरतोक्तौ** ज० वि०,–**न्तरत्वोक्तो** आ० ।

च आत्मा। तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः। कथम्? गुणगुणिनाम् अवयवा[1]वयविनाम् क्रियाकारकाणां जातितद्वतां च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा। वृत्ति[१]विरोधात्। एकमनेकत्र वर्त्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् तद् एकमित्येवं न स्यात्। यदि पुनः एकदेशेन वर्तेत तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसंगात् क्व किं वर्तेत?

नैगमः नैगमनयः **इष्यते**। कुतः इत्याह–'**अन्योन्य**' इत्यादि। प्रमाणतो हि द्रव्यपर्यायाणां कथञ्चिद्भेदे अभेदे च व्यवस्थिते सति **अन्योन्यं** परस्परं **गुणभूत**[2] अप्रधानभूतः **भेदस्य अभेदः**, तस्य च **भेदः** एकः प्रधानभूतो **भेदस्य अभेदः** [३]तस्य च **भेदः** तयोः **प्ररूपणात्**। **अर्थान्तरत्वोक्तौ** भेदाभेदयोः एकान्तेन नानात्वोक्तौ सत्यां **नैगमाभास इष्यते**।

कारिकाव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**स्वलक्षण**' इत्यादि। **स्वलक्षणं** पर्यायात्मकं द्रव्यं तदात्मकाः पर्यायाश्च, तस्य यौ **भेदाभेदौ** तयोर्मध्ये **अन्यतरस्य** भेदस्य अभेदस्य वा **प्ररूपणायां**[3] क्रियमाणायाम् **इतरः** भेदप्ररूपणायाम् अभेदः [४]तत्प्ररूपणायां वा भेदः **गुणः**[५] **स्यात्** इति एवंविधो **नैगमो नयः**। अत्रार्थे सुस्पष्टप्रतीत्यर्थं '**यथा**' इत्याद्युदाहरणमाह–**यथा** येन अनादिनिधनचैतन्यप्रकारेण **जीवस्य** यत् **स्वरूपं** गुणपर्यायव्यापकत्वं तस्य **निरूपणायां** क्रियमाणायां **गुणा** अप्रधानभूताः, के? **सुखदुःखादयः**। ननु 'सुखादयः' इत्येवास्तु किं दुःखग्रहणेन? इति चेत्; न; अन्योन्यं जीवाच्च भेदप्रतिपत्त्यर्थत्वात् [६]तदुभयग्रहणस्य। **तत्प्ररूपणायाञ्च** सुखदुःखादिप्ररूपणायाञ्च **आत्मा** जीव[4]स्वभावो '**गुणः**' इति सम्बन्धः। नन्वेवं व्याख्यानं कस्मान्न भवति–जीवस्वरूपस्य जीवसत्ताया निरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तेषां सत्तैव गुण इति, तत्प्ररूपणायाञ्च सुखादिसत्ताप्ररूपणायाञ्च आत्मा [5]जीवो गुणः इति चेत्? संग्रहऋजुसूत्राभ्यामस्य[७] भेदाभावप्रसङ्गादिति[८] ब्रूमः।

विवृतिविवरणम्–

जीवसुखादीनामन्योन्यमत्यन्तभेदप्ररू[6]पणायां तु तदाभास इत्याह–'**तत्**' इत्यादि। तेषां[7] जीवसुखादीनां प्रक्रमाद् एकान्तेन अर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः। '**कथम्**'

(१) तुलना–"वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न ।"–युक्त्यनुशा० श्लो० ५५। "एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥"–आप्तमी० का० ६२। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २१४। "तस्य तेषु सर्वात्मनाऽन्यथा वा वृत्त्ययोगो बाधकं प्रमाणम् ।"–वादन्यायटी० पृ० ३०। "यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते। एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः ॥"–तत्त्वसं० पृ० २०३। "यदि सर्वेषु कायोऽयमेकदेशेन वर्त्तते। अंशा अंशेषु वर्त्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु। कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः ॥"–बोधिचर्याव० पृ० ४९५। (२) अभेदस्य। (३) अभेदस्य (४) अभेदनिरूपणे। (५) अप्रधानभूतः। (६) सुखदुःखोभय। (७) नैगमस्य। (८) सत्ताप्राधान्यपक्षे संग्रहेऽन्तर्भावप्रसङ्गः, सुखादिपर्यायप्राधान्ये तु ऋजुसूत्रेऽन्तर्भावप्रसङ्ग इति।

1–यन्यवयवर्त्ति–ई० वि०। 2–भूतो भेदस्य आ०। 3–णायामितर आ०। 4 जीवस्य स्वभावो ब०, श्र०। 5 जीवतो गुण श्र०। 6–रूपणात्तदा–श्र०, ब०। 7–षां जीवानां प्र–आ०।

इति प्रश्ने उत्तरमाह–**गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्वताश्च मिथः परस्परमर्थान्तरत्वे** अङ्गीक्रियमाणे, किम् इत्याह–'**सर्वथा**' इत्यादि। सर्वेण वक्ष्यमाणप्रकारेण **सर्वथा वृत्तेः** [1]गुणादीनां गुण्यादौ वर्त्तनस्य **विरोधात् 'नैगमाभासः'** इति सम्बन्धः। तद्विरोधं दर्शयितुमाह–'**एकम्**' इत्यादि। **एकम्** अवयव्यादिकम्। **अनेकत्र** देशकालाकारभिन्ने अवयवादौ वर्त्तमानं एकमेकं प्रति **प्रत्येकं सर्वात्मना** साकल्येन **यदि स्याद्** भवेत् वर्त्तमानं **तद**वयव्यादिकम् '**एकम्' इत्येवं न स्यात्**, अपि तु यावन्तोऽवयवादयः तावन्त एव अवयव्यादयः स्युः। नहि एकस्य निरंशस्य [1]क्रियातो भिन्नस्य परमाणुवद् युगपद् देशादिभिन्नेष्वाधारेषु वर्त्तनं युक्तम्। परस्य पक्षान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह–'[2]**यदि पुनः**' इत्यादि। **पुन**रिति पक्षान्तरसूचकः, एकमनेकत्र प्रत्येकं **यद्येकदेशेन वर्त्तेत** तर्हि तस्य अनेकदेशाः कल्पनीयाः तेषु [2] चास्य वृत्तिः कल्पनीया, अन्यथा [3]कथं ते[3] '**तस्य**[4]' इति व्यपदिश्यन्ते? तत्कल्पने च दूषणमाह–'**तद्**' इत्यादि। [4]ते च ते एकदेशाश्च तेष्वपि **तथैव** सर्वात्मनैकदेशप्रकारेणैव **प्रसङ्गात्** दोषादनवस्था स्यात् इत्यभिप्रायः। **तथाच क्व** अवयवादौ **किम्** अवयव्यादि **वर्त्तेत**? निराकृता च अवयवादौ अवयव्यादेर्वृत्तिः विषयपरिच्छेदे[5] प्रपञ्चत [5]इत्यलमतिविस्तरेण।

एवं गुणगुण्यादीनां भेदैकान्तं[6] निराकृत्य सत्तातद्वतां [6]तं निराकर्तुमाह–

[7]स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम्।
असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथातिप्रसङ्गतः॥ ४०॥

विवृतिः–यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येव सन्तु किं तत्र सत्तासमवायेन? स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात् असतां चाऽतिप्रसंगात्। तदेवम् अवा-

(१) अवयविनिष्ठा क्रिया एका निरंशापि सती भिन्नदेशेषु अवयवेषु वर्तेतापि, न तु क्रियातो भिन्नोऽन्य कश्चिन्निरंशोऽर्थ भिन्नदेशाधारेषु वर्तते इति भाव। (२) अनेकदेशेषु। (३) अनेकदेशा। (४) अवयविन।(५) पृ० २२४। (६) भेदैकान्तम्। (७) "यौगमते भावाना स्वत सदात्मना सत्तासमवाय, असदात्मना वेति विकल्पद्वय मनसिकृत्य प्रथमपक्षे दूषणमाह–स्वत स्वरूपेण अर्था पदार्था सन्तु। किंवत्? सत्तावत्, यथा सत्तान्तराद्विनाऽपि सत्ता परसामान्यं स्वत एवास्ति तथा द्रव्यादीन्यपि स्वत एव सन्तु विद्यन्ताम्। तथा च स्वत सदात्मना सत्तया किं साध्य न किमपीत्यर्थ। विनापि तया तेषा सत्त्वात्। द्वितीयविकल्प दूषयति–सर्वथाऽसदात्मसु द्रव्यादिषु परा सत्ता न स्यात् न वर्तेत अतिप्रसङ्गात् खरविषाणादावपि सर्वथाऽसति सत्तासमवायप्रसङ्गात्।"–लघी० ता० पृ० ५९। तुलना–"सत्ताजोगादसओ सओ व सत्त हवेज्ज दव्वस्स। असओ न खपुप्फस्स व सओ व किं सत्तया कज्ज॥" –विशेषा० गा० २६९४। "स्वरूपेणासत सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे। स स्यात्किन्न विशेषस्याभावात्तस्य ततोऽञ्जसा॥ स्वरूपेण सत सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा। सामान्यादौ भवेत्सत्त्वसमवायोऽविशेषत॥"–आप्तप० का० ६९-७०। उद्धृतेय कारिका–सूत्रकृताग शी० पृ० २२७ A

1 गुणादीना गुणादौ आ०, ब०। 2 'यदि पुनरित्यादि' इति पाठ आदर्शे लिखित्वापि निष्कासित। 3 कथ तस्य श्र०। 4 ते च ते तदेकदे–श्र०, ब०। 5 इत्यलमिति–ब०। 6 निराकुर्वन्नाह–श्र०।

न्तरजातिष्वपि योज्यम्। गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्कर्य्यम्, अन्यथा निष्क्रियस्य अर्थोत्पित्सुदेशमन्याम्रुवतः अनंशस्य अनेकत्र कादाचित्कवर्त्तनमयुक्तम्। गुणगुण्यादीनाम् अन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमित्यलं प्रसङ्गेन। 'गुणानां[1] वृत्तं चलं सत्त्वरजस्तमसां सुखदुःख (खा) ज्ञानादिकं चैतन्यं[2] पुरुषस्य स्वरूपमचलम्' इत्येतदपि तादृगेव, तदर्थान्तरताऽसिद्धेः। अतिप्रसङ्गश्चैवं तदभेदे विरोधाभावात्। गुणानां दृश्यादृश्यात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया।

स्वतः आत्मनैव **अर्था** द्रव्यादयः **सन्तु** विद्यमाना भवन्तु **सत्तावत्** सत्ता

कारिकाविवरणम्– पर सामान्यं सेव तद्वत्। सत्ताग्रहणमुपलक्षणं तेन अवान्तरसामान्य[3]-समवाय-विशेषवत् इति च द्रष्टव्यम्। कुत एतदित्याह–**सत्तया** इत्यादि। इदमत्र तात्पर्यम्–स्वतः सन्तोऽर्थाः सत्तासमवायात् तद्वन्तः, अन्यथाभूता वा स्युः ? प्रथमपक्षे सत् सत्त्वम् आत्मा [1]येषां तेषां **सदात्मनामर्थानां[4] किम्** ? न किञ्चित् **सत्तया** 'क्रियते' इत्यध्याहारः। नहि तेषां तया[5] स्वरूपसत्त्वं क्रियते; स्वत एवास्य[6] संभवात्, सतश्च करणायोगात्, अन्यथा अनवस्था[7] स्यात्। नापि[8] सदभिधानादि, स्वरूपसत्त्वादेव अस्यापि[9] संभवात्। अथ स्वतोऽसन्तः तत्समवायात्[10] तद्वन्तः अत्राह–**'असद्'** इत्यादि। **असन्** अविद्यमान **आत्मा** येषां तेषु **नैषा** परपरिकल्पिता सत्ता **स्यात्**। कुतः ? **अतिप्रसङ्गतः** खरविषाणादावपि अस्याः[11] प्रसङ्गात्। प्रतिव्यूढञ्च प्रपञ्चतः सत्तातः सत्त्वमर्थाना षट्पदार्थपरीक्षावसरे[12] इति कृतमतिविस्तरेण।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**'यथा'** इत्यादि। **यथा** येन अनवस्थादिदोषभय[13]-

विवृतिव्याख्यानम्– प्रकारेण **सन्ति** च तानि **अर्थान्तराणि** च सामान्यादीनि **स्वतः** आत्मनैव न सत्तासमवायात् **सन्ति** सत्तावन्ति **तथैव** तेनैव

(१) "चलञ्च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्–प्रदीपावयवानामिव बुद्ध्यवयवाना गुणाना वृत्त क्रिया चञ्चला प्रतिक्षणमन्याऽन्या च भवति, न तु निर्व्यापारा गुणास्तिष्ठन्ति "–योगभा०, योगवा० २।१५। "साख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुण चलञ्च गुणवृत्तमिति"–योगभा० ४।१५। "गुणवृत्त चल नित्यम्' "–योगका० ३।९। (२) "चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपम्"–योगभा० पृ० ३७। (३) अवान्तरसामान्य द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकम्। (४) सदात्मनाम्। (५) सत्तया। (६) स्वरूपसत्त्वस्य। (७) सतोऽपि करणे कारणव्यापारानुपरमरूपाऽनवस्था। (८) स्वत सतामपि पदार्थाना सत्तया सदिति शब्दप्रयोग सदिति ज्ञान वा क्रियेत, अत आह नापीत्यादि। (९) सदिति शब्दप्रयोगस्य सदिति प्रत्ययस्य वा। (१०)सत्तासमवायात्। (११) सत्ताया। (१२) पृ० २८५–। (१३) "सामान्यादीना त्रयाणा स्वात्मसत्त्व–सम्प्रति सामान्यादीना साधर्म्यमाह सामान्यादीनामिति। स्वात्मैव सत्त्वं स्वरूप यत्सामान्यादीना तदेव तेषा सत्त्व न सत्तायोग सत्त्वम्। एतेन सामान्यादीना त्रयाणा सामान्यरहितत्वं साधर्म्यमुक्तमित्यर्थ। कथमेतद् ? बाधकसद्भावात्। सामान्ये सत्ता नास्ति अनिष्ट-

1 येषां सदा–आ०, श्र०। 2 तदात्मना–श्र०। 3–नां न श्र०। 4–त्राहासदि असन् आ०। 5 अतिप्रसंगः श्र०। 6–व सत्ता–श्र०।

प्रकारेण **द्रव्यगुणकर्माण्येव** न खरविषाणादीनि **स्वतः सन्तु किं तत्र** तेषु द्रव्यादिषु **सत्तासमवायेन** ? कुत एतदित्याह[1]–'**स्वतः**' इत्यादि । **स्वतो** हि सतां द्रव्यादीनां सत्तासमवायात् सत्त्वं स्यात्, असतां वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, **स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात्** सत्तासमवायवैयर्थ्यात् । स्वतोऽ**सताञ्च अतिप्रसङ्गात्** खपुष्पादौ तत्समवायात्सत्त्वप्रसङ्गात् । एतदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह[2]–'**तदेवम्**' इत्यादि । **तद्** अनन्तरोक्त दूषणम् **एवम्** उक्तविधिना **योज्यम्** । क ? **अवान्तरजातिष्वपि** द्रव्य[3]त्वादिसामान्येष्वपि । तथाहि–यथा सद्द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म स्वतः तथा स्वतो द्रव्यं द्रव्यं गुणो गुणः कर्म कर्म खण्डादिर्गौः कर्कादिरश्वः, किं तत्र द्रव्यत्वादिसमवायेन ? स्वतो द्रव्यगुणकर्मणां तद्वैयर्थ्यात्, अद्रव्यगुणकर्मणाञ्चातिप्रसङ्गात् । नहि तथाऽपरिणतमन्यसम्बन्धात् तथा भवति आकाशकुशेशयस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । अत्र दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–'**गोत्वादेः**' इत्यादि । अत्र आदिशब्देन अश्वत्वादिपरिग्रहः, **सर्वगतत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम्** गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यम् खण्डादिवत् कर्कादावपि गोप्रत्ययः स्यात् । उपलक्षणमेतत् तेन अभिधानव्यवहारसाङ्कर्यं गृह्यते । तत्साङ्कर्ये च अवान्तरजातित्वं तस्य अतिदुरन्वयम् । निराकृता च विशेषतो नित्या सर्वगता जातिः सामान्यपरीक्षावसरे इत्यलमिह विस्तरेण । अथ असर्वगतत्वपक्षे जातेर्दूषणमुपदर्शयन्नाह–'**अन्यथा**' इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन असर्वगतत्वप्रकारेण **निष्क्रियस्य गोत्वादेः, अर्थः उत्पित्सुः** यस्मिन् **देशे तमव्याप्नुवतः** 'इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः' इति अर्थस्य विशेषणत्वमिति न उत्पित्सुशब्दस्य पूर्वनिपात. । **अनंशस्य** निरवयवस्य **अनेकत्र** स्वाधारे **कादाचित्कं वर्त्तनमयुक्तम्** । स्वमते दोषाभावं दर्शयितुमाह–**गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमिति** । एतच्च अनेकान्तसिद्धिप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् **इत्यलमतिप्रसङ्गेन** ।

प्रसङ्गात् । विशेषेष्वपि सामान्यसद्भावे संशयस्यापि सम्भवात् निर्णयार्थं विशेषानुसरणेऽप्यनवस्थैव । समवायेऽपि सत्ताभ्युपगमे तद्वृत्त्यर्थं समवायाभ्युपगमादनिष्टापत्तिरेव दूषणम् ।"–प्रश० भा०, कन्द० पृ० १९ । "मुख्ये हि अनवस्थादिबाधकोपपत्ते"–प्रश० व्यो० पृ० १४२ । व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति.। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रह ।।"–प्रश० किर० पृ० ३३ ।

(१) सत्तासमवायात् । (२) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसमवायवैयर्थ्यात् । (३) "न हि स्वतोऽतथाभूतस्तथात्वसमवायभाक् ।"–आप्तप० का० ७२ । (४) सत्तासमवायात्सत्त्वप्रसङ्गात् । (५) कर्कादावपि गौर्गौरिति शब्दप्रयोग गौरिति ज्ञान वा स्यात् । (६) गोत्वस्य । (७) दुर्ज्ञेयम्, यतो हि गोत्व गोवत् सर्वत्र अश्वादौ स्यात् तथा च तत् महासामान्यमेव स्यान्न त्ववान्तरसामान्यमिति भाव । (८) पृ० २५८– । (९) तुलना–"तत्र देशान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथन्नु ते । दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न गम्यते ।। न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वान्नाप्यवस्थिता । तत्र प्रागविभुत्वेन नचायान्त्यन्यतोऽक्रिया ।।" –तत्त्वसं का० ८०६–७ ।

1–ह स्वतो हि आ० । 2–त्रातिदि–आ०, श्र० । 3 द्रव्यादि–ब० । 4–णाञ्चातिप्र–श्र० । 5 गोत्वप्रत्ययः श्र० । 6–ण असर्व–ब०, श्र० । 7 नि क्रियस्य ब०, आ० । 8–ष्यस्यभावः श्र० । 9–चित्कवर्त्तन–ब० ।

अपरमपि नैगमाभासं दर्शयितुमाह–'**गुणानाम्**' इत्यादि । **गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वृत्तं** वर्त्तनं **चलम्** अविर्भावतिरोभाववत् । एतदेव '**सुख**' इत्यादिना व्याचष्टे[1]–सत्त्वस्य[१] हि सुखादिलक्षणं वृत्तम्, रजसो दुःखादिलक्षणम्, तमसोऽज्ञानादिकमिति । पुरुषस्य किं स्वरूपमित्याह–'**चैतन्यम्**' इत्यादि । **चैतन्यं** दर्शनं **पुरुषस्य स्वम्** आत्मीयमसाधारणं **रूपम्** । "*न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः*" [सांख्यका० ३] इत्यभिधानात् । कथम्भूतम् ? **अचलम्**, आविर्भावतिरोभावविकलम् । **इति**शब्दः परपक्षसमाप्त्यर्थः । अत्र दूषणमाह–'**एतदपि**' इत्यादि । **एतदपि** सांख्यमतमपि न केवलं वैशेषिकमतं **तादृगेव** नैगमाभास एव । कुत एतदित्याह–'**तद्**' इत्यादि[2] । **तयोः** सुखादिवृत्तपुरुषयोः **अर्थान्तरताम्** च (ताव) स्त्वन्तरत्वं तस्य **असिद्धेः** अनिश्चयात् । अत्रैव दोषान्तरमाह–**अतिप्रसङ्गश्चैवमिति** । सुखादिवृत्तपुरुषयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि प्रतीयमाने एवं परैः स्वमतदुराग्रहाभिनिवेशप्रकारेण भेदे अभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्गः स्यात् 'एकमेव न किञ्चित् स्यात्' इति भावः । च शब्दः पूर्वदोषसमुच्चये । ननु तद[4][३]भेदविरोधात् सिद्धैव तदर्थान्तरता इत्याह–'**तदभेद**' इत्यादि । **तयोः** पुरुषवृत्त[४]योर**भेदे** एकत्वे सति **विरोधाभावात्**[५] सहानवस्थानलक्षणस्य परस्परपरिहारस्थितिस्वरूपस्य प्रमाणबाधारूपस्य वा विरोधस्याभावात् इति भावः । अथ मतम् अचलपुरुषस्वरूपे चलवृत्तानुप्र[5]वेशे द्वयोश्चलत्वमचलत्वं वा रूपं स्यात् अतो विरोधः इत्यत्रा[6]ह–'**गुणानाम्**' इत्यादि । **गुणानां** सत्त्वरजस्तमोलक्षणानां **दृश्यादृश्यात्मकत्वे**[7] व्यक्तापेक्षया दृश्यात्मकत्वे प्रधानापेक्षया अदृश्यात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे **पुंसामेव तदात्मकत्वं** दृश्यादृश्यात्म[8]कत्वं **युक्तम्** उपपन्नम् । प्रसाधितञ्च[६] सुखादिविवर्त्तात्मकत्वमात्मनः प्रागेव प्रबन्धेन इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः किं जातम् ? इत्याह–'**कृतम्**' इत्यादि । **कृतं**

(१) "प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका, अत्राय समास प्रीतिश्चाप्रीतिश्च विषादश्च ते आत्मा स्वरूपं येषा गुणाना ते भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका । तेषा लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मक सत्त्वम् । आत्मशब्द स्वभावे वर्तते । कस्मात् ? सुखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाज्ञानादि च, तत्सत्त्व प्रत्येतव्यम् । अप्रीत्यात्मक रजः । कस्मात् ? दुःखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचिदप्रीतिमुपलभते तत्र द्वेषद्रोहमत्सरनिन्दास्तम्भोत्कण्ठानिकृतिवञ्चनाबन्धच्छेदनानि च, तद्रज प्रत्येतव्यम् । विषादात्मक तम । कस्मात् ? मोहलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित्क्वचिन्मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिक्यविषादस्वप्नादि च, तत्तम प्रत्येतव्यम् ।"–**सांख्यका० माठर०, जयमं०,का० १२। सांख्यसूत्रवि० पृ० १०६** । (२) कापिले । (३) सुखादि-पुरुषयो । (४) सुखादि । (५) "द्विविधो हि पदार्थाना विरोध, अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगति शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् ।" **–न्यायबि० पृ० ९७–९८** । (६) पृ० १९१ ।

1–**चष्ट सत्त्वस्य दर्शनं पुरुषस्य** आ० । 2–**दि वृत्तपुरुषयो पर**–आ० । 3–**तामवलस्त्वन्त**–ब० । 4 **तदभेदेविरो**–श्र०, ब० । 5–**प्रवेशाद्वयो**–आ० । 6–**त्राह दृश्याद्**–श्र० । 7–**कत्वव्यक्ता**–आ० । 8–**त्मकं युक्तं** आ० ।

पर्याप्तं गुणकल्पनया[1] प्रधानकल्पनया, तस्य तदात्मकत्वा[2]दित्यभिप्रायः। निरस्तञ्च प्रधानं प्रपञ्चतः प्रकृतिपरीक्षाप्रघट्टके[3] इत्युपरम्यते।

अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासितां तयोर्[4]दर्शयितुमाह–

प्रामाण्यं[5] व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः।
मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः॥ ४१॥

विवृतिः–शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं समस्तं व्यस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तत्प्रामाण्यञ्च व्यवहारेणैव। स च संग्रहे भेदाश्रयो मिथ्यैव। ततः सप्र (सःप्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत्? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम्; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात्, अन्यथा स्वप्नान्तरवत् तद्विसंवादान्न किञ्चित् प्रमाणम्। नैगमेऽपि 'चलं गुणप्रवृत्तं नित्यं चैतन्यम्' इति व्यवहारासिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। नहि

"गुणानां[6] परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव (येव) सुतुच्छकम्॥" [ ]

(१) पुरुषस्य। (२) सुखाद्यात्मकत्वात्। (३) पृ० ३५४। (४) सग्रहाभासनैगमाभासयो। (५) व्याख्या–"प्रमाण स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणनिबन्धन प्रत्यक्षमन्यद्वा सर्वैरभ्युपगन्तव्यमन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तच्च व्यवहारात्। विधिपूर्वकमवहरण विभजन भेदकल्पन व्यवहारस्तस्मात् तमाश्रित्येत्यर्थ। स च तत्त्वत परमार्थतो न स्यात्। क्व? तयो सग्रहाभासनैगमाभासयो। न खलु निरपेक्षे भावैकान्ते प्रमाणादिभेदव्यवहारोस्ति निराकृतत्वात् भेदैकान्ते वा प्रमाणफलव्यवहारोऽस्ति सम्बन्धाभावात्। औपचारिक प्रमाणफलव्यवहारस्तत्रास्तीति चेदत्राह–मिथ्येत्यादि। मिथ्यैकान्ते प्रमाणफलव्यवहारस्यावास्तवैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विशेष भेदोऽपि क? न कोपीत्यर्थ। कयो? स्वपक्षविपक्षयो, स्वपक्षो ब्रह्मवादो भेदवादो वा, विपक्ष क्षणिकवादोऽद्वैतवादो वा तयो सकरप्रसगादित्यर्थ। तत कथञ्चिद्व्यवहारोपि वास्तवोऽङ्गीऽकर्त्तव्य।"–**लघी० ता०** पृ० ६०। तुलना–"प्रामाण्य व्यवहारेण।" –**प्रमाणवा०** १।७। (६) "उक्तार्थे शास्त्र प्रमाणयति–तथा चेति। परम पारमार्थिक नित्यमिति यावत्। मायेव लौकिकमायावत् क्षणभङ्गुरम्, अत सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छमल्पसार स्थिराशाभावादिति। अत्र सुशब्देन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्व सूचित गुणा एव परिणामितया कूटस्थनित्यापेक्षया तुच्छा, गुणकार्यं तु दृश्यमान गुणापेक्षयापि तुच्छम्, अत सुतुच्छमिति।"–**योगवा० पृ०** ४१४। "परम रूप मूलरूपमव्यक्तावस्था न दृष्टिपथमृच्छति गच्छति, व्यक्त दृष्टिपथ प्राप्त यद् गुणरूप तद् मायेव सुतुच्छक मायया प्रदर्शित प्रपञ्च यथा तुच्छ तथेति॥"–**योगसू० भास्व० पृ०** ४१४। कारिकेय निम्नग्रन्थेषु समुद्धृताऽस्ति–'तथा च शास्त्रानुशासनम्–गुणाना'।'–**योगभा०** ४।१३। 'षष्ठितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि–गुणाना।'–**योगभा० तत्त्ववै०** ४।१३। **योग० भास्वती, पात० रह०** ४।१३। 'भगवान वार्षगण्य–गुणानां।'–**शा० भा० भामती पृ०** ३५२। **नयचक्रवृ० पृ०** ४३ A। **तत्त्वोपप्लव०** पृ० ८०। **साख्यतत्त्वा०** पृ० ६। 'गुणाना सुमहद्रूपम्'।' –**प्रमाणवार्तिकाल० परि०** ४, **पृ०** ३३। **सिद्धिवि० टी० पृ०** ७४ B। **अष्टसह० पृ०** १४४। '' दृष्टिपथ प्राप्त तन्मायावस्तु तुच्छकम्'–**जयम० पृ०** ६३।

1 **गुणपरिक–श्र०**। 2–**भासयता श्र०**। 3 **प्रमाण ब०**। 4–**व्य व्य–ई०वि०**। 5–**स्त व्य–ज० वि०**। 6 **बल ई०वि०**।

इति प्रमाणमस्ति [1]समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तेत । 'शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति लोकव्यवहारमतिवर्त्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात्? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत्; कथं स्वस्वभावरहितः[1] सोऽस्ति वर्त्तेत वा समवायान्तराभावात् तदनवस्थानुषङ्गात् ।

[2]**प्रामाण्यं व्यवहारात्** व्यवहारमाश्रित्य, **हि**: अवधारणार्थः । व्यवहारादेव[3] न ज्ञाना[4]द्यद्वैताद्याश्रित्येत्यर्थः । तत एव तदस्तु को दोषः इति

कारिकाव्याख्यानम्–

चेदत्राह–'**स**' इत्यादि । **स** व्यवहारो **न स्यात्** [5]**तत्त्वतः** परमार्थतः **तयोः** संग्रहनैगमाभासयोः । ननु [6]यदि तयोर्व्यवहारो वास्तवो नास्ति, मा भूत् [7]अवास्तवस्तु भविष्यति इत्यत्राह–'**मिथ्यैकान्त**' इत्यादि । अयमभिप्रायः–यत्र व्यवहारो मिथ्या तत्र तदाश्रितं [8]प्रमाणमप्येकान्तेन मिथ्या, तस्मिन् **मिथ्यैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **विशेषो** भेदः **कः** न कश्चित् । कयोः? **स्वपक्षविपक्षयोः** । ततः उभयोः सिद्धिरसिद्धिर्वा स्यादिति भावः । **वा**शब्द अपिशब्दार्थे ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–'**शुद्धम्**' इत्यादि । **शुद्धं** [9]**द्रव्यं** पर्यायरहितं ब्रह्मादि, **शुद्धं पर्यायं** द्रव्यरहितं क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपम् । **अशुद्धं** द्रव्यं सपर्ययम् । अशुद्धं पर्यायं सद्रव्यम् । अस्यानन्तरस्य विशेषणमाह–

विवृतिव्याख्यानम्–

'**व्यस्तम्**' इत्यादि । **व्यस्तम्** अन्योन्यनिरपेक्षम्, अनेन नैयायिकमतं दर्शितम् । **समस्तम्** अन्योन्यात्मकम्, अनेनापि सांख्यदर्शनं प्रकाशितम्, विकारविकारिणोः सांख्यैस्तादात्म्याभ्युपगमतः । '**व्यवस्थापयता**' इत्येतत् प्रत्येकमभिसम्बध्यते । **तत्साधनं** तयोः शुद्धाशुद्धव्यस्तसमस्तद्रव्यपर्याययोः साधनं **मृग्यम्** अन्वेष्यम् । तच्च नयत्किञ्चिद् भवितुमर्हति किन्तु **प्रमाणम्**, प्रत्यक्षादिवस्तुव्यवस्थायामन्यस्याऽनधिकारात् । **अन्यथा** प्रमाणान्वेषणाभावप्रकारेण तद्व्यवस्थापने **अतिप्रसङ्गात्** सर्वतः सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु संग्रहनैगमाभासप्ररूपणप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतं '**शुद्धं पर्यायम्**' इत्येतत् प्रस्तूयते इति च न वाच्यम्; दृष्टान्तार्थत्वात् । यथैव शुद्धं पर्यायं व्यवस्थापयता सौगतेन प्रमाणं मृग्यम् तथा अन्य[2]दपि [10]अन्येन[3] व्यवस्थापयता [4]तन्मृग्यमिति । यदिवा, उत्तरत्र ऋजुसूत्राभासे इदमवश्यं वक्तव्यम्, [11]तदिहैवोक्तम् । मृग्यत एव तर्हि

(१) तुलना–"पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दाश्चेमे स्वय कृता । शृङ्ग गवीति लोके स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् । प्रमाणवा० ३।१५० । "वृक्षे शाखा शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मति । शिलाख्यपरिशिष्टाङ्गैरन्तर्योपलम्भनात् ॥ तौ पुनस्तास्विति ज्ञान लोकातिक्रान्तमुच्यते ।"–तत्त्वस० पृ० २६७ । (२) शुद्धद्रव्यादि । (३) ब्रह्माद्वैतादिवादिना । (४) प्रमाणम् ।

1–न वर्त्तेत ई० वि० । 2 प्रमाणं ब०, श्र० । 3–देवज्ञाना–आ० । 4 ज्ञानाद्वैता–ब० । 5 तत श्र० । 6 यथा तयोः ब० । 7 अथासवस्तु आ०, अवास्तुसस्तु श्र० । 8 प्रमाणमिथ्यैका–आ० । 9 द्रव्यपर्याय–श्र० । 10 अनेन आ० । 11 तदिह चोक्तम् ब० ।

प्रमाणमिति चेदत्राह–‘**तद्**’ इत्यादि । तस्य तद्व्यवस्थापकस्य **प्रामाण्यश्च[1] व्यवहारेणैव** न परपरिकल्पितपरमार्थप्रकारेण तत्र तदसिद्धेः । **स च** व्यवहारः **संग्रहे मिथ्यैव** लेशतोऽपि सत्यो न भवति इति **एव**कारार्थः । कुत एतदित्याह–**भेदाश्रयो[1] यतः** । भवत्वेवम्, को दोषः ? इति चेदत्राह–‘**ततः**’ इत्यादि । तस्मात् मिथ्यारूपात् प्रमाणादिव्यवहारात् **संग्रहः प्रतिपक्षं** भेदैकान्तं **कथमतिशयीत** ? न कथञ्चित् । तत्रापि मिथ्याप्रमाणादिव्यवहारभावात् *“प्रामाण्य[2] व्यवहारेण”* [प्रमाणवा० १।७] इत्यादिवचनात् । ननु अभेदात्मकः सग्रहः भेदात्मकश्च प्रतिपक्षः, तत्कथं स तं नातिशेते ? इत्यत्राह–‘सत्य’ इत्यादि । **सत्यम्** अवितथम् **इतरद्[2]** वितथम् ते च ते **स्वरूपे** च ते यस्य स्त. तत् **तद्वत्** । क्रियाविशेषणमेतत्–सत्यरूपवद् यथा भवति तथा संग्रहोऽतिशयीत, इतरस्वरूपवत् यथा भवति तथा प्रतिपक्षमिति, प्रतिपक्षवत् संग्रहोऽपि मिथ्यैव स्यात् इत्यर्थः । ततः को दोषः इत्यत्राह–‘**मिथ्या**’ इत्यादि । **मिथ्यैकान्तस्य** संग्रहप्रतिपक्षयोः **यो[3]ऽविशेषः** तस्मिन्नपि न केवल विशेषे **तस्य[4]** संग्रहस्य **व्यवस्थापनमयुक्तम्** । उपसहारमाह–‘**तद्**’ इत्यादि । यत एव **तत्** तस्मात् **उभयोपलब्धेः** संग्रहेतरयोः[5] **उपलब्धेः अवितथात्मकत्वात्** सत्यस्वभावत्वात्[6] ‘**स कथं प्रतिपक्षमतिशयीत**’ इति सम्बन्धः । तस्यावितथात्मकत्वे दूषणमाह–‘**अन्यथा**’ इत्यादि । **अन्यथा** अवितथात्मकत्वाभावप्रकारेण **स्वप्नान्तरवत्** स्वप्नभेदवत् **तस्याः विसंवादान्न किञ्चित् प्रमाणम्** ।

एवं संग्रहाभासे प्रमाणाभावं प्रदर्श्य इदानीं नैगमाभासे त दर्शयन्नाह–‘**नैगमेऽपि**’ इत्यादि । न केवलं संग्रहे अपि तु **नैगमेऽपि** न किञ्चित् प्रमाणम् । एतदेवाह–‘**चलम्**’ इत्यादि । **चलम्** आविर्भावतिरोभाववत् । किं तदित्याह–‘**गुण**’ इत्यादि । **गुणानां** सत्त्वादीनां **वृत्तं** महदादिरूपेण परिणमनं **नित्यं[7] चैतन्यम्** इति एवं **स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्** । कुतः ? **व्यवहारासिद्धेः** । एतदेव दर्शयन्नाह–‘**नहि**’ इत्यादि । हि यस्मात् **न गुणानां** सत्त्वरजस्तमसां **परमं** प्रधानलक्षण **रूपं न दृष्टिपथमृच्छति, यत्तु** रूपं महदादि **दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव[8] सुतुच्छकम्** इति[9] एव **प्रमाणमस्ति** प्रत्यक्षादेरत्राऽनवतारादिति ।

सांख्यनैगमाभासे प्रमाणाभावं प्रदर्श्य अधुना नैयायिकतदाभासे[3] तं[4] दर्शयन्नाह–

(१) व्यवहारो हि भेदमाश्रित्य प्रवर्तते अत अभेदग्राहिसग्रहनयदृष्ट्या मिथ्यैव । (२) उद्धृतोऽयम्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७३ । सिद्धिवि० टी० पृ० १८ A, २३२ B, २९४ B ३०५ B., ३२४ ५२० B । प्रमेयक० पृ० २१७, ३८३ । सन्मति० टी० पृ० १११, ४९७ । न्यायवि० वि० पृ० ३८ B । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५८ B. । (३) नैगमाभासे । (४) प्रमाणाभावम् ।

1–माण्यं व्यव–आ० । 2–रद् तद्वित्थ–श्र० । 3 यो वि–ब०, आ० । 4 तस्य व्यव–आ० । 5 संग्रहेतरोपल–ब०, श्र० । 6 सत्त्वस्व–श्र० । 7 नित्यचैतन्यं श्र०, नित्यचेतना–ब० । 8 तन्मायैव ब० । 9 इत्यलं प्र–ब० ।

'समवायेन' इत्यादि । **समवायेन** सम्बन्धेन **स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तेते**[1] [ति] **'नहि प्रमाणमस्ति'** इति सम्बन्धः । ननु 'शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति प्रतीतिः तत्र प्रमाणमस्तीति चेदत्राह-**'शृङ्गे'** इत्यादि । **शृङ्गे गौः शाखायां वृक्ष इति** एवं यत् प्रमाणं तत् **लोकव्यवहारमतिवर्त्तेत** तत्र[1] तथाप्रतीतेरभावात् । कुत एतदित्याह-**विपर्ययात्**, 'गवि शृङ्गं वृक्षे शाखा' इति लोकव्यवहारे[2] प्रतीतिसद्भावात् । अत्रैव दूषणान्तरमाह-**'स्वयम्'** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **अज्ञस्वभावः** अचेतनः सन् **आत्मा ज्ञानसमवाये** सति **कथमिव ज्ञः स्यात्** चेतनो भवेत् ? **नहि तथा** ज्ञत्वप्रकारेण **अपरिणतस्य तत्त्वं** ज्ञत्वं युक्तम् । कुत एतत् ? **समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात्** । **'नवै'** इत्यादिना परमतमाशङ्कते-**नवै**[3] नैव **ज्ञानेन** समवायस्य **समवायोऽस्ति** तत्कथमस्य[2] ज्ञत्वप्रसङ्गः **इति चेत्**[4] तत्राह-**'कथम्'** इत्यादि । **कथं** केन प्रकारेण समवायोऽस्ति ? न केनचिद्, व्यवस्थापकप्रमाणानां समवायपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात्[3] । इतश्च नास्त्यसौ **स्वभ्वभावरहितो** यतः । तस्य[4] हि स्वभावोऽयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्[5], तच्च तत्रैव[5] विस्तरतो निषिद्धम् । कथं च समवायिष्ववर्त्तमानस्य अश्वविषाणस्येव अस्य[6] अयुतसिद्धसम्बन्धत्वं युक्तम् ? अथ वर्त्तत एवासौ[6] तत्र[7]; अत्राह-**'वर्त्तेत वा'** इत्यादि । अत्रास्य[8] ज्ञत्वलक्षणं दूषणमुक्तमिति मत्वा दूषणान्तरमाह[7]-**वर्त्तेत वा**[8] **कथं समवायान्तराभावात्** एकत्वात्तस्य[9] । विशेषणीभावाद् वर्त्तते इति चेदत्राह **'तद्'** इत्यादि । समवायस्य तदन्तरकल्पने या **अनवस्था** तस्य **अनुषङ्गात्** कथमसौ क्वापि वर्त्तेत ? अयमभिप्रायः- अनवस्थाभयात् समवायस्य समवायान्तरं परेण न कल्प्यते, सा च विशेषणीभावकल्पनेऽप्यविशिष्टा सम्बन्धान्तरकल्पनस्य अत्राप्यविशेषात् । नहि असम्बद्धो[9] विशेषणीभावः समवायस्य समवायिषु वृत्तिहेतुः इत्युक्तं[10] समवायनिषेधप्रघट्टके ।

इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह-

व्यवहाराविसंवादी[10] नयः[11] स्याद् दुर्नयो[12]ऽन्यथा ।
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं[11] शून्यमितीदृशः ॥४२॥

---

(१) लोकव्यवहारे । (२) समवायस्य । (३) पृ० २९७ । (४) "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूताना य सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतु स समवायः ।" (प्रश० भा पृ० १४) इत्यभिधानात् । (५) समवायपरीक्षायाम् (पृ० २९७) । (६) समवायस्य । (७) समवायिषु । (८) समवायस्य । (९) "तत्त्व भावेन"-वैशे० सू० ७ । २ । २८ । "तस्माद् भाववत्सर्वत्रैक समवाय"-प्रश० भा० पृ० ३२६ । (१०) पृ० ३०३ । (११) व्याख्या-"स्याद् भवेत् । क ? नय सग्रहादि. । किंविशिष्ट , बहिरर्थोऽस्तीतीदृश । इतिशब्दात् प्रमाणमस्ति साध्यसाधनभावोऽस्तीत्यादि । कथम्भूतः सन् ? व्यवहाराविसंवादी, हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहार तस्याविसवादोऽव्यभिचार सोऽस्यास्तीति तथोक्त ।

1 वर्त्तेत नहि ब०, वर्त्तेति नहि श्र० । 2-हारप्रतीति-ब०, श्र० । 3 न चैतावतैव ज्ञानेन ब० । 4 चेदत्राह श्र० । 5-न्धत्वं तत्रैव आ० । 6-वासौ युक्तं तत्र ब० । 7 दूषणमाह ब० । 8 वा समवायान्तरात् एकत्वाभावात् एकत्वात्तस्य श्र० । 9 असम्बन्धो आ० । 10-हारोऽविसं-मु० लघी० । 11-मात्रशून्य-मु० लघी० ।

विवृतिः–प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम्। स पुनः अर्था¹भिधानप्रत्ययात्मकः। कथम्? उ²त्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गु³णपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चै⁴तन्यस्वभावः इति। श्रुतेः प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वा¹परावि¹रोधश्च अविसंवादः। तदपेक्षोऽयं नयः, ततोऽन्यथा दुर्नयः। कथम्? बहिरपि स्व⁵लक्षणमर्थक्रियासमर्थं सद् अंगीकृत्य त²त्प्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वम् इति प्रत्यवस्थाप्य त⁶दपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रल³पन्न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिविरोधात्। तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुन⁷रलं शेषप्रलापेन।

हेतुफलभावादिव्यवस्था **व्यवहारः तदविसंवादी नयः स्यात्।**

कारिकाव्याख्यानम्– **अन्यथा** तद्विसंवादप्रकारेण **दुर्नयः** नयाभासः स्यात्। अत्रोदाहरणमाह–**'बहिः'** इत्यादि। **'बहिरर्थोऽस्ति'** इति नयस्य उदाहरणम्, शेषं दुर्नयस्य। बहिरर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रमाणमस्ति कार्यकारणभा-

व्यवहारस्य हि सुनयत्वे तदाश्रया हेतुफलभावादिसिद्धि स्यात् अन्यथा व्यवहारविसवादी दुर्नय स्यात्। कीदृश ? विज्ञप्तिमात्रम्, विज्ञप्तिर्विज्ञानमेव तत्त्व नान्यत्। शून्यम्, समस्तज्ञानज्ञेयोपप्लव एव तत्त्वमितीदृग । इतिशब्द प्रकारवाची, सन्मात्रमेव तत्त्व विभ्रम एव तत्त्वमित्यादिप्रकारान् सूचयति।" –लघी० ता० पृ० ६१। तुलना–"वच्चइ विणिच्छिअत्थ व्यवहारो सव्वदव्वेसु।"–अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २७०८। "लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार। "आह च–लोकोपचारनियत व्यवहार विस्तृत विद्यात्।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थ० हरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "सग्रहनयाक्षिप्तानामर्थाना विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार।"–सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। "व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थ।"–धवलाटी०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१। नयविव० ७४। प्रमेयक० पृ०६७७। सन्मति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३५। तत्त्वार्थसार पृ०१०७। प्रमाणनय० ७।२३। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २२। (१२) "कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्। प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१। नयविव० ७६। प्रमेयक० पृ०६७८। न्यायावता० टी० पृ० ८६। प्रमाणनय० ७।२५, २६। जैनतर्कभा० पृ० २४।

(१) तुलना–"त्रय पदार्था अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्"–राजवा० पृ० १७। (२) द्रष्टव्यम्–पृ० ६०५ टि० ७। (३) तुलना–"गुणाणमासओ दव्व एकदव्वस्सिया गुणा। लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिया भवे॥"–उत्तरा० २८।६। "दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त। गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू॥"–पञ्चास्ति० गा० १०। "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्"–तत्त्वार्थसू० ५।३८। "त परियाणहु दव्वु तुहुँ ज गुणपज्जयजुत्तु। सहभुव जाणहि ताँह गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु॥"–परमात्मप्र० गा० ५७। न्यायवि० श्लो० १११। (४) तुलना–"उवओगलक्खणे जीवे।"–भगवतीसू० २।१०। उत्तरा० २८।१०। "उपयोगो लक्षणम्"–तत्त्वार्थसू० २।८। (५) "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्।' –प्रमाणवा० २।३। (६) "विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनम्। यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्॥"–विंशतिकाविज्ञप्ति० श्लो० १। (७) तुलना–"अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमा प्रजा इति।"–शा० भा० २।२।३२।

1 पूर्वापरविरोधश्च विसंवादः ई० वि०। 2 तदतिसू–ज० वि०। 3–रल प्र–ई० वि०।

वादिरस्ति इत्यादि[1]: सर्वो नयः संगृहीतः । **'विज्ञप्तिमात्रं** तत्त्वम्, **शून्यं** तत्त्वम्' **इतीदृशो** दुर्नयः स्यात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'प्रत्यक्षस्यापि'** इत्यादि । न केवलमनुमानादेः अपि तु

विवृतिव्याख्यानम्– **प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् ।** अतः *''[1]प्रमाणम-विसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण, अज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्येतत्तु परमार्थेन प्रमाणम्''* [ ] इत्ययुक्तम्, व्यवहारव्यतिरिक्तस्य परमार्थ-स्याऽसंभवात् । कुत एतदित्याह–**'स[2]'** इत्यादि । योऽसौ प्रामाण्येन अपेक्ष्यते **स पुनः** व्यव[3]हारः **अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः,** तद्व्यतिरिक्तस्तु अन्यो न कश्चि-त्संभवति यः परमार्थः स्यादित्यभिप्रायः । अर्थाभिधानयोरर्थत्वेऽपि अत्र अर्थ-शब्देन विवक्षातः तद्वि[4]षयो गृह्यते त[3]दन्यतमापाये व्यवहारानुपपत्तेः । स्वप्ने[5]ना[4]ऽवि-शेषचोदनायां कु[6]तो नानाविज्ञानसन्तानव्यवस्था विभ्रमव्यव[7]स्था अन्या वा स्यात् इत्युक्तं बाह्यार्थसिद्धिप्रस्तावे[5] । **'कथम्'** इति परप्रश्नः । **कथं** केन प्रकारेण अर्था-त्मनो व्यवहारस्य स्वरूपं स्थितमिति ? उत्तरमाह–**'उत्पाद'** इत्यादि । उत्पादवि-**गमध्रौव्याणि लक्षणं** स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तदित्याह–**'सद्'** विद्यमानं घटादि प्रमेयम् । प्रसाधितञ्च उत्पादविनाशात्मकत्वमर्थानां सांख्यं प्रति प्रकृतिपरीक्षा-यां[6] । कथं बौद्धं प्रति ध्रौव्यं सिद्धमित्याह–**'गुण'** इत्यादि । स[8]हभु[7]वो **गुणाः** सुखज्ञानवीर्यादयः, क्रमभुवः **पर्यायाः** सुखदुःखादयः, **तद्वद्द्रव्यम् ।** इदञ्च [9]प्रसङ्ग-साधनं सौगतं प्रत्येवं व्याख्येयम्–सहभाविनानाधर्मात्मकं चित्तमन्यद्वा चेदङ्गीक्रियते, क्रमभाव्यनेकधर्मात्मकमप्यङ्गीकर्त्तव्यम् । नो चेत्, युगपदपि तत्तथा नाङ्गीकर्त्तव्यम-विशेषात् । नैयायिकं प्रति पुनरेवम्–इच्छादिगुणसमवायित्वं चेत् क[10]स्यचिदि[9]ष्यतेऽप-

(१) तुलना–''ततो यदुक्त प्रमाणमविसवादिज्ञानमित्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेणाज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासार्थस्य आत्मवेदनस्य एवमभि-धानात् ।''–सिद्धिवि० टी० पृ० ९ B । ''साव्यवहारिकस्येद प्रमाणस्य लक्षणं प्रमाणमविसंवादिज्ञा-नमिति ।''–तत्त्वसं० पं० पृ० ७७४ । (२) प्रमाणविपय, अभिधानप्रत्ययविषयो वा । (३) अर्थाभिधानप्रत्ययेषु एकस्याप्यभावे । (४) योगाचारा माध्यमिकाश्च अर्थं स्वप्नवत् मिथ्यारूप वासना-कल्पित मन्यन्ते तथा चोक्तम्–''फेनपिण्डोपम रूप वेदना बुद्बुदोपमा । मरीचिसदृशी सज्ञा मस्कारा कदलीनिभा । मायोपमञ्च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ।''–मा० वृ० पृ० ४१ । ''मायास्वप्नेन्द्रजा-लसदृशा द्रष्टव्या ''–नैरात्म्यप० पृ० १८ । न्यायकुमु० पृ० १३२ टि० ४ । तान् प्रत्याह–स्वप्नेनावि-शेषेत्यादि । (५) पृ० ११९ । ६) पृ० ३५४ । (७) तुलना–''अन्वयिनो गुणा , व्यतिरेकिण पर्याया ''–सर्वार्थसि० ५।३८ । गुणपर्ययवद्द्रव्य ते सहक्रमवृत्तय ।''–न्यायवि० श्लो० १११, टि० पृ० १६१ । ''सहभुवो हि गुणा ''–धवलाटी० पृ० १७४ । (८) चित्त नानाधर्मात्मकम् । (९) आत्मन ।

1–दि सर्वो आ०, श्र० । 2 स हि इ–श्र० । 3–हारार्थाभि–आ० । 4 तद्विशेषयोःगृ-श्र० । 5 स्वप्नेऽविशेषचोद–श्र०, स्वप्नेनाविशेषनोद–आ० । 6 कुतो ज्ञानाविज्ञा–आ० । 7–वस्थामव्यवस्था अन्या श्र० । 8 सहमुखो गु–व० । 9 प्रसाधनं श्र० । 10–ष्यते परा–व० ।

रापरपर्यायात्मकत्वमेष्टव्यम् । नो चेत्, तत्सामवायित्वन्न[1] स्यात् । ततो यत एव गुणपर्यायवद्द्रव्यं[2] तत[१] एव उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सदिति । कस्तत्प्रतिपद्यते[4] ? इति चेदत्राह–'**जीव**' इति । **जीव** आत्मा उत्पादादिरूपं सत्[5] घटादिप्रमेयं '**प्रतिपद्यते**'[6] इत्यध्याहारः । तस्य अनादिनिधनस्वभावतया तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यसंभवात् । प्रसाधिश्चात्मा तत्त्वान्तरम् अनादिनिधनस्वभावश्च[7] चार्वाकमतपरीक्षायां सन्ताननिषेधावसरे[२] च । ननु[8] यदि सत्तामात्रेण[9] असौ[३] तत्प्रतिपद्यते[४] तदाऽतिप्रसङ्गः[५] । अथ प्रत्यक्षादिना, तदा[६][ऽ]शक्तिरिति चेदत्राह–'[10]**चैतन्यस्वभाव**' इति[11]। **चैतन्यस्वभावः** स्वपरग्रहणस्वरूपः **इति** हेतोः प्रत्यक्षादिपर्यायपरिणतः सन्[12][७] तत्प्रतिपद्यते[८] । तथा च उत्पादाद्यात्मकार्थलक्षणोऽर्थात्मको व्यवहारः सिद्धः, तत्प्रतिपत्तिलक्षणः प्रत्ययात्मकः, तत्प्ररूपकशब्दलक्षणः शब्दात्मक इति ।

अथ शब्दात्मके व्यवहारे को विसंवादः ? इत्याह–'**श्रुतेः**' इत्यादि । **श्रुतेः** अभिधानस्य **प्रमाणान्तरेण** प्रत्यक्षादिना**ऽबाधनम् अविसंवादः** । कथमत्यन्तपरोक्षेऽर्थे तदविसंवादः[९] प्रमाणान्तराबाधनस्य अन्यस्य[१०] वा ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यत्राह–'**पूर्व**' इत्यादि । **पूर्वं** यद्वाक्यं[13] यच्च **अपरं** तयोरविरोधश्च **अविसंवादः**, न केवलं प्रमाणान्तराबाधनमेव, अस्ति चायं स्याद्वादलाञ्छितागमस्य । अतो *"न हिंस्यात् सर्व (सर्वा) भूतानि"* [ ] *"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा"*[११] [मनुस्मृ० ५।३९] इत्यागमस्य

"गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे सम्भवेन्न पुनर्भवे ॥" [ ]

"दुष्टमन्तर्गतं[14] चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्धयति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि[१२] ॥" [जाबाल० ४।५४ ।]

इत्याद्यागमस्य च नाविसंवादः पूर्वापरविरोध[१३]सद्भावात् इत्युक्तं भवति ।

एवं व्यवहारं प्रदर्श्य तदाश्रयं नयं प्रदर्शयन्नाह[15]–'**तदपेक्ष**' इत्यादि । **तस्मिन्**

(१) पृ० ३४३ । (२) पृ० ९ । (३) आत्मा । (४) उत्पादादिस्वरूपं प्रमेयम् । (५) सुषुप्ताद्यवस्थास्वपि प्रमेयबोधप्रसङ्गः । (६) यदि प्रत्यक्षादिद्वारेण जानाति तदा स्वयमात्मनः प्रमेयबोधेऽशक्तिः प्राप्ता अत आह चैतन्यस्वभाव इति । त्रुटिताया पू० प्रतावपि 'तदाऽशक्ति' इत्येव पाठः । (७) आत्मा । (८) प्रमेयम् । (९) श्रुतेरविसंवादः । (१०) अर्थक्रियास्थितिरूपस्य वाऽविसंवादस्य । (११) 'यज्ञस्य (श्च) भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।' इत्युत्तरार्धम् । उद्धृतोऽयम्–यश० उ० पृ० ९१, ३५७ । (१२) उद्धृताविमौ–प्रमाणवार्तिकाल० परि० ४ पृ० १४० । 'चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न'–जाबाल० । (१३) 'न हिंस्यात्' इत्यहिंसाविधानं यज्ञे पशुवधेन विरुध्यते गङ्गाद्वारादितीर्थस्नानविधानञ्च 'तीर्थस्नानान्न शुद्धयति' इति तीर्थस्नानस्य निरर्थकत्वप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

1–वायित्वं स्यात् श्र०,–वायित्वं तत्स्यात् ब० । 2–पर्ययव–ब० । 3 अत एव श्र०, ब० । 4 कस्तत्र प्र–आ० । 5 स घटा–आ० । 6–पद्यन्ते आ० । 7–भावश्चार्वा–आ० । 8 ननु च यदि श्र० । 9 सन्तानमात्रेण श्र० । 10 'चैतन्य स्वभाव इति' नास्ति आ० । 11–ति चैतन्यस्य स्वभाव इति चैतन्यस्वभावः स्वपर –श्र० । 12 सस्तत्प्र–आ०, श्र० । 13 यद्वाच्यं आ० । 14 वित्त श्र० । 15 प्रदर्शयितुमाह ब०, श्र० ।

व्यवहारे **अपेक्षा** यस्यासौ[1] **तदपेक्षोऽयं** लोकसिद्धो व्यवहाराख्यो **नयः**। **ततोऽन्यथा** तदपेक्षाभावप्रकारेण **दुर्नयः**। ननु[1] तद[2]पेक्ष[2] एव दुर्नयः अप्रमाणमूलस्य व्यवहारस्यावलम्बनात्, न ततोऽन्यो[3] निरंशक्षणिकपरमार्थाश्रयणात्। एतदेवाह–**'कथम्'** इति। न कथञ्चित् **'ततोऽन्यथा दुर्नयः'** इति सम्बन्धः। अत्रोत्तरमाह–**'बहिरपि'** इत्यादि। न केवलमन्तः किन्तु **बहिरपि स्वलक्षणं** क्षणिकनिरंशपरमाणुलक्षणम् अर्थक्रियासमर्थं[3] यतः ततः **सद्**[4] विद्यमानम् **अङ्गीकृत्य** पुनः **तस्य** स्वलक्षणस्य **प्रतिक्षेपेण** निरासेन **'विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वं** नात्मादिकम्' इति एवं **प्रत्यवस्थाप्य** पुनरवस्थाप्य **तदपि** विज्ञप्तिमात्रमपि **सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं** पर्यालोच्यमानं नित्यादिवन्न **परीक्षां**[5] **क्षमते इति** एवं **स्वभावनैरात्म्यं** निःस्वभावत्वम्, कथम्भूतम्? **असाध्यसाधनं** साध्यसाधनविकलम् **आकुलं** यथा भवति तथा **प्रलपन्** सौगतो न **क्वचिद्** अन्तर्बहिः सकलशून्यतायां वा **व्यवतिष्ठेत** यतः **'तदपेक्ष एव दुर्नयः'** इत्युक्तं शोभेत। ननु किमुच्यते **स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनम्**[6] यावत्त[7]त्र साधनं विचार एव इति चेदत्राह–**'स्वपर'** इत्यादि। **स्वः** सौगतः **परो** नैयायिकादिः तयोः **विसंवादः** तत्त्वाप्रतिपत्तिः **व्यसनं** संसारसरित्पातार्त्तिः[8] ते[४] अधिकृत्य कृतेन **पुनः** पश्चाद् **अलं** पर्याप्तं **शेषप्रलापेन** असम्बद्धाभिधानेन। कुत एतदित्यत्राह **प्रत्यक्षादिविरोधात्**, प्रत्यक्षमादिर्यस्य अनुमान-लोकप्रसिद्ध्यादेः तत्तथोक्तं तेन तस्य[9] वा विरोधात्। अथ प्रत्यक्षादेरनभ्युपगमान्न दोषोऽयमत्राह–**'तद'** इत्यादि। **तेषां** प्रत्यक्षादीनां मध्ये **अन्यतमस्य अभिमतत्वाद्** अङ्गीकृतत्वात् सौगतैः, कुतोऽन्यथा[५] तेषां[६] स्वपराभिमतसाधनदूषणमित्यभिप्रायः?

एवं व्यवहारनयं साभासं प्रतिपाद्य[10] इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह–

ऋजुसूत्रस्य[७] पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः।
चेतनाणुसमुहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥ ४३ ॥

---

(१)सौगत। (२) प्रमाणाप्रसिद्धकल्पितलोकव्यवहारापेक्षी। (३)अस्मदभिमत प्रमाणसिद्धक्षणिकार्थापेक्षी। (४) विसवादव्यसने। (५)प्रत्यक्षाद्यस्वीकारे। (६)सौगतानाम्। (४) व्याख्या–"ऋजु वर्तमानपर्यायलक्षण प्रगुण सूत्रयति निरूपयतीति ऋजुसूत्रस्य प्रधान विषय स्याद् भवेत्। क ? पर्यायः वर्तमानविवर्त। अतीतस्य विनष्टत्वेन भविष्यतश्चासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात् व्यवहाराविसवादी नय इति वचनात्। ननु चित्रज्ञानमेकमनेकाकार व्यवहारोपयोगि स्यादिति चेदत्राह–चित्रेत्यादि, चित्रा सवित् ज्ञानं तस्या चेतनाणुसमूहत्वात्, चेतना ज्ञानं तस्याणव अशा अविभागप्रतिच्छेदास्तेषा समूह समुदाय तत्त्वात्, न चित्रसविद् ऋजुसूत्रनयस्य विषय। न खलु समुदाय नीलपीतादिनानारूप प्रतिनियतव्यवहारोपयोगीति। नन्वेव तत्र भेद किमिति नोपलक्ष्यत इति चेदत्राह–भेदानुपलक्षणादिति। सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादित्यध्याहार। ततो भेदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमदर्शन सदृशापराप-

---

1 यस्य तदपे–श्र०। 2 तदपेक्षणं च दु–ब०, तदुपेक्ष एव दु–आ०। 3–मर्थयतः श्र०। 4 स वि–आ०। 5–क्षायां क्षम–ब०। 6–मसिद्धसाधनं ब०। 7 यावतातत्र ब०, श्र०। 8–तार्त्ति ते आ०। 9 तस्य चाविरो–ब०, तस्य विरो–आ०। 10 प्रतिपाद्येदानीं ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभि–आ०, ब०।

विवृतिः–यथा बहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव संवित्परमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमम्, यत् सक्रमं साधयेत् भेदस्य अभेदविरोधात् । क्वचिन्नानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो नयः । निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिज्ञातुमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतराभावे अर्थस्यानुपलब्धेः ।

कारिकार्थ –

ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभिप्रायवतो वा **पर्याय[१]ः** प्रभेदः **प्रधानम्**, प्रधानशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । ननु तस्यापि चित्रैका संविदस्ति तत्कथं पर्यायः प्रधानमि[1]त्याह–**चित्र[२]संविदः चेतनाणुसमूहत्वात्** 'नैका चित्रा संविदस्ति' इति भावः । अथ मतम्–पर्यायत्वेऽस्यो[३]स्त[3]थैवोपलक्षणं स्यादतः प्रतिसमयं भेदानुमानमनर्थकमित्यत्राह–**'स्यात्'** इत्यादि । **स्याद्** भवेद् **भेदस्य** नानात्वस्य **अनुपलक्षणम्** अनिश्चयनं सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् मायागो[3]लकवदिति ।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'यथा'** इत्यादि । **यथा** येन दूरस्थितविरलकेश[4]निदर्शनप्रदर्शनप्रकारेण **बहिः परमाणवः** जडपरमाणवः **सन्निविष्टाः** रचनाविशेषेण व्यवस्थिताः [5]**स्थवीयांसमेव** न सूक्ष्मम्, **एकमेव** नानेकम् **आकारम्**

रोत्पत्त्या विप्रलब्धबुद्धिः स्यादिति व्याख्यायते । अयमर्थः–यथाऽयोगोलकादौ पर्यायभेदो विद्यमानोऽपि विप्रलब्धबुद्धिना न निश्चीयते तथा चित्रसंविद्यपि तदंशभेदो वसन्नपि नोपलक्ष्यत इति । अथवा स्यात् कथञ्चिद् द्रव्याविनाभाविपर्याय ऋजुसूत्रस्य प्रधानम्, सर्वथा द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुत्वात् । निरन्वयश्च क्षणिकैकान्त ऋजुसूत्राभास इति व्याख्येयम् ।"–लघी० ता० पृ० ६२। तुलना–"पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो ।"–अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५७ । विशेषा० गा० २७१८ । "सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र ।–आह च–साम्प्रतविषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । "ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः ।"–सर्वार्थसि० १।३३ । धवला टी० पृ० ८६ । "सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः ।"–राजवा० १।३३ । ऋजु प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः । सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति ।"–नयचक्रवृ० पृ० ३५४ B । "ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तुसत्सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयवि० ७७ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । सन्मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रगा० ८ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८ । स्या०म० पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः ।"–धवलाटी० पृ० ८४ । (२) चित्रसंविदः । (३) भेदरूपेणैव । (४) तुलना–"समानज्वालासभूतेर्यथा दीपेन विभ्रमः । नैरन्तर्यस्थितानेकसूक्ष्मवित्तौ तथैकधीः ॥ यथा हि दीपादौ नैरन्तर्येण सदृशापरापरज्वालापदार्थसंभवात् सत्यपि भेदे एकत्वविभ्रमो भवति तथा नैरन्तर्येणानेकसूक्ष्मतरपदार्थसंवेदनतोऽयमेकत्वविभ्रमः ।"–तत्त्वसं०, प० पृ० १९७ । यत्पुनरत्रोक्तं प्रज्ञाकरगुप्तेन–अतथाविधयोस्तथाविधविषयसिद्धिः दूरस्थितविरलकेशेषु अतदात्मसु तथाविधायास्तस्या दर्शनात् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १०० B ।

1–मित्यत्राह ब०, श्र० । 2 संवेदन. श्र० । 3–गोलव–आ०,–गोलक्षणव–श्र० । 4–निदर्शनप्रकारे दर्शनपरमाणव आ० । 5 स्वकीयांशमेव ब०, श्र० ।

अभूतम् असन्तं **दर्शयन्ति, तथैव** तेनैव प्रकारेण **संवित्परमाणवोऽपि,** बहिःपरमाणुवत् संवित्परमाणूनामपि स्वरूपेणाप्रतिभासनादिति भावः। उपसंहारमाह--**'तद्'** इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **नैकम्** अभिन्नं **तत्त्वम् अनेकरूपम्**। पुनरपि कथम्भूतम् ? **अक्रमम्** अक्षणिकम् 'युक्तम्' इत्यध्याहारः। **यत्** तथाविधं तत्त्वं **सक्रमं साधयेत्** जैनः। कुत एतदित्याह--**'भेदस्य'** इत्यादि। **भेदस्य** अनेकत्वस्य **अभेदविरोधात्** [1]एकत्वविरोधात्। **क्वचिद्** अन्तर्बहिर्वा **[2]नानात्वमेव** अनेकत्वमेव, **अन्यथा** भेदस्य अभेदविरोधाभावप्रकारेण **न स्यात्**। एवं ऋजुसूत्रस्य सामान्येन स्वरूपं प्रदर्श्य अधुना तद्भेदं प्रदर्शयन्नाह--**'सापेक्ष'** इत्यादि। स्वविषयादन्यत्र या **अपेक्षा** तया **सह** वर्त्तमानः ऋजुसूत्रनयः, **निरपेक्षो दुर्नयः**। कुत एतदित्यत्राह--**'प्रतिभासभेद'** इत्यादि। **प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं** वस्तुस्वरूपनानात्वं **व्यवस्थापयन्[3]** नयो वादी वा **तदभेदाद्** तस्य प्रतिभासस्य अभेदात् **अभेदं** भावैकत्वं **प्रतिपत्तुमर्हत्येव**। ननु तत्प्र[1]तिभासयोः सत्येतरत्वकृतो विशेषोऽस्ति ततो न भेदप्रतिभासादिव अभेदप्रतिभासादपि तत्त्वसिद्धिरित्यत्राह--**'विशेषाभावात्'** इति। द्वयोरपि प्रतिभासयोः सत्येतरलक्षणविशेषस्य भेदस्य अभावात्, 'उभयोरपि सत्यत्वात्' इत्यर्थः। तदन्यतरप्रतिभासप्रतीत्यपह्नवे दूषणमाह--**'तद्'** इत्यादि। **तयोः** भेदाभेदप्रतिभासयोर्मध्ये **अन्यतरस्य** अपाये अङ्गीक्रियमाणे[4] **अर्थस्य** वस्तुनो[5]ऽन्यतरप्रतिभासविकलस्य **अनुपलब्धेः** उपलम्भाभावात् सर्वदा उभयात्मकस्य वोपलब्धेः तं प्रतिपत्तुमर्हत्येव।

अधुना शब्दसमभिरूढेत्थम्भूतान्नयान् कथयन्नाह--

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छ[2]ब्दोऽर्थभेदकृत्।
अभि[3]रूढस्तु पर्यायैः इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

(१) भेदाभेदप्रतिभासयो। (२) "शब्दो नाम नय स्यात्। किं विशिष्ट ? अर्थभेदकृत् अर्थस्य प्रमेयस्य भेद नानात्व करोत्यभिप्रैतीत्यर्थभेदकृत्। कस्माद्? भेदाद् विशेषात्। केषाम्? कालकारकलिङ्गानाम्, उपलक्षणमेतत्; तेन सख्यासाधनोपग्रहादपीत्यर्थ। ' तु पुन अभिरूढो नाम नय पर्यायैः पर्यायशब्दै। अर्थभेदकृत् यथा इन्दनादिन्द्र शकनात् शक्र पूर्दारणात् पुरन्दर इति। न हि इन्दनादिधर्मभेदाभावे इन्द्रादिशब्द प्रयोक्तु शक्य अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अभि स्वार्थाभिमुख्येन रूढ प्रसिद्धोऽभिरूढ इति निरुक्ते। पुनरित्थम्भूतो नाम नय क्रियाश्रय विवक्षितक्रियाप्रधान सन्नर्थभेदकृत् यथा यदैवेन्दति तदैवेन्द्र नाभिषेचको न पूजक इति, अन्यथापि तद्भावे क्रियाशब्दप्रयोगनियमो न स्यात्।" --लघी० ता० पृ० ६३। तुलना--"शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेद समुद्दिशन्। अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूत क्रियाश्रय ॥"--**प्रमाणसं० पृ० १२६**। (३) तुलना--"इच्छइ विसेसियतर पच्चुप्पण्ण णओ सद्दो।"--**अनुयोगद्वार० ४ द्वा०। आव० वि० गा० ७५७। विशेषा० गा० २७१८।** "यथार्थाभिधान शब्द। आहच--विद्याद्यथार्थशब्द विशेषितपद तु शब्दनयम्।"--**तत्त्वार्थाधि० भा० १। ३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १। ३५।** "लिङ्गसख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपर शब्द।"--

1 **'एकत्वविरोधात्'** नास्ति आ०। 2 **नानात्वमेव अन्यथा** श्र०। 3--**यन् यो वादी वा** व०। 4--**णे अन्यतरस्य अर्थस्य** श्र०। 5--**नोनन्तरप्रतिभासविकलपस्य** आ०। 6--**रूढ स्वप**--मु० लघी०।

विवृतिः–कालभेदात्तावद् अभूत भवति भविष्यति इति। कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि। लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति। तथा पर्यायभेदात् इन्द्र शक्रः पुरन्दर इति। तथैतौ शब्दसम[1]भिरूढौ। क्रियाश्रयः एवम्[2]भूतः। कुर्वत एव कारकत्वम्। यदा न करोति तदा [1]कर्तृत्वस्यायोगात्। तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढं विज्ञानस्य अनागतविषयत्वानिर्णयेन।

सर्वार्थसि० १।३३। "शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्द ।"–राजवा० १।३३। "शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवण शब्दनय, लिङ्गसख्या'कारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात्।"–धवलाटी० पृ०८६। "कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद य प्रतिपादयेत्। सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृत ।"–तत्त्वार्थश्लो०पृ०२७२। नयविव० ८४। प्रमेयक० पृ०६७८। सन्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। "कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेद प्रतिपद्यमान. शब्द । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादि ।"–प्रमाणनय० ७।३२,३३। स्या० मं० पृ० ३१३। जैनतर्कभा० पृ० २२।

(१) तुलना–"वथूओ सकमण होइ अवत्थूनए समभिरूढे।"–अनुयोगद्वार०४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। "सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रम समभिरूढ ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "ज ज सण्ण भासइ तं त चिय समभिरोहए जम्हा। सण्णतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढोत्ति॥"–विशेषा० गा० २७२७। "नानार्थसमभिरोहणात् समभिरुढ । अथवा यो यत्राभिरूढ स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढ ।"–राजवा० १।३३। धवलाटी० पृ० ८९। "समभिरूढ एव मत्त्वैकीभावेन आभिमुख्ये एक एव रूपादिरर्थ एवेति या ज्ञानाना (?) समभिरूढ ।" नयचक्रवृ० पृ० ४८३। B "पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नय समभिरूढ स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चय ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३। नयविव० ९२। प्रमेयक० पृ०६८०। सन्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्रगा०४१। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० मं० पृ० ३१४। जैनतर्कभा० पृ० २२। (२) तुलना–"वजण अत्यतदुभय एवभूओ विसेसेइ।"–अनुयोगद्वा० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत.।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "येनात्मनो भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूत । अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूत परिणत तेनैवाध्यवसाययति।"–सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। "वजणमत्थेणत्थ च वजणेणोभय विसेसेइ। जह घटसद्द चेट्ठावया तहा तं पि तेणेव।"–विशेषा० गा० २७४३। "एव भेदे भवनादेवम्भूत । न पदाना समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिना भिन्नार्थवर्तिनाञ्चैकत्वविरोधात्। न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसख्याकालादिभिर्भिन्नाना पदाना भिन्नपदापेक्षायोगात् ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम्। तत पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनय ।"–धवलाटी० पृ० ९०। "एव भवनादेवम्भूत अस्मिन्नये न पदाना समासोऽस्ति स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात्। न पदानामेककालवृत्ति समास क्रमोत्पन्नाना क्षणक्षयिणा तदनुपपत्तेः। नैकार्थे वृत्ति समास भिन्नपदानामेकार्थे वृत्त्यनुपपत्ते । न वर्णसमासोप्यस्ति तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसङ्गात्। तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थ एकार्थ इत्येवंभूताभिप्रायवान् एवम्भूतनय ।"–जयध० पृ० २९। "तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात्। एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुख ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४। नयविव० ९४। प्रमेयक० पृ०६८०। सन्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जैनतर्कभा० पृ० २३।

---

1 कर्तृत्वायोगात्–न्यायकु०।

कारिकार्थ.–

कालादीनां भेदात् शब्दः शब्दनयः **अर्थस्य** जीवादेः **भेदं** करोति प्रतिपादयति इति **तद्भेदकृत्। अभिरूढनयः** पुनः **पर्यायैः** पर्यायशब्दैः अर्थभेदकृत्। **इत्थम्भूतः** क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत् इति ।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकां विवृण्वन्नाह **'काल'** इत्यादि । **तावच्छब्दः** क्रमवाची[1], **कालभेदात्** कालविशेषाद् अर्थभेदस्तावदुदाह्रियते–**अभूत्** अतीतकालसम्बन्ध्यनु-[2]भवादिपर्यायात्मना जीवादिः[3], **भवति** वर्त्तमानकालसम्बन्धिस्मरणादिपर्यायरूपेण जायते । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र द्रष्टव्यः–यस्माद् भवति तस्माद् अभूत, परिणाम्युपादानकारणमन्तरेण 'भवति' इत्यस्यायोगात् । **भविष्यति** अनागतपर्यायस्वभावेन उत्पत्स्यते, अत्रापि यस्माद् भवति तस्माद् भविष्यति अन्यथाभवतो[4]ऽभावः कार्याभावादिति मन्यते । **इतिशब्दः** कालभेदाद् भावभेदपक्षसमाप्त्यर्थः । कारकभेदादर्थमुदाहर्तुमाह–**'कारक'** इत्यादि । **कारकाणां** कर्त्रादीनां **भेदात्** **'शब्दोऽर्थभेदकृत्'** इति सम्बन्धः । अत्रोदाहरणम् **'करोति'** इत्यादि । यदा हि देवदत्तः स्वतन्त्रो विवक्षितो घटादिकार्ये तदा **'करोति घटं देवदत्तः'** इति भवति । यदा तु स एव अन्योपकार्यत्वेन विवक्ष्यते तदा' **क्रियते** देवदत्त'ः **इति**[5] । आदिशब्दात् 'देवदत्ते निधेहि, देवदत्तादपरः' इत्यादि षट्कारकीपरिग्रहः । तथा **लिङ्गभेदात् शब्दोऽर्थभेदकृत् यथा 'देवदत्तो देवदत्ता'** इति ।

यथा शब्दः कालादिभेदाद् अर्थभेदकृत् **तथा** अभिरूढः पर्यायभेदात् **'इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः' इति । तथा** प्रागुक्तप्रकारेणैवं[6] **एतौ** अनन्तरोक्तौ **शब्दसमभिरूढौ** कथितौ ।

इत्थम्भूतः कीदृशः ? इत्याह **क्रियाश्रयः**[7] **एवम्भूत इति ।** ननु च इत्थम्भूतस्वरूपप्ररूपणे[8] प्रस्तुते एवम्भूताभिधाने किं केन सङ्गतम् ? इत्यसत्, यस्मात् इत्थम्भूतस्यैव इदम् 'एवम्भूतः' इति नामान्तरम् । कस्मादसौ क्रियाश्रय इत्याह **कुर्वत एव कारकत्वं** यतः इति । एतदपि कुत इत्याह **'यदा'** इत्यादि । **यदा** यस्मिन् काले **न करोति** कार्यम् इन्दनादि शचीपतिः **तदा कर्त्तृत्वायोगात्** न इन्द्रादिव्यपदेशः स्यात् । अत्राह सौगतः–त्रयोऽप्येते नयाः शब्दतोऽर्थं प्रतिपद्यन्ते अतः कालादिभेदादर्थभेदं प्रतिपद्यमानं तत् **शब्दज्ञानम् कथं पुनर्विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु** स्वलक्षणं **प्रत्येति** ? तमाचार्यः पृच्छति, **कथञ्च न 'प्रत्येति'** इति सम्बन्धः । स[1] उत्तरमाह[9] **तदप्रतिबन्धात्** तेन वस्तुनाऽप्रतिबन्धात्, तदात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात्[2] शब्दज्ञानस्य[10] इति सम्बन्धः । तदभावेऽपि[11] तत्[3] तत्प्रत्येति इति चेदत्राह–**'नहि'** इत्यादि । **नहि** नैव **बुद्धेः** शब्दज-

(१) सौगत । (२) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावेऽपि । (३) शब्दज्ञानम् ।

1 क्रमभावी का–ब० । 2–सम्बन्धानुभ–आ० । 3–दि भव–आ० । 4–वतो भावः ब०, श्र० । 5 इति यथा च आदिशब्दात् आ०, ब० । 6–णैवानन्तरो–श्र० । 7–श्रय इत्येवम्भू–आ० । 8–पणप्रस्तु–श्र० । 9–माह तेन वस्तुना आ० । 10 तच्छब्द–श्र० । 11–पि तत्प्र–आ० ।

नितायाः यद्कारणं[1] स्वलक्षणरूपं वस्तु तत्तस्याः विषयः [2] '*नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्, नाकारणं विषयः*." [ ] इत्यभिधानात्। **इति** शब्दः पूर्वपक्षपरिसमाप्तौ। अत्र दूषणमाह- **'एतद्'** इत्यादि। एतत् परेणोक्तं **प्रतिव्यूढम्** निरस्तम्। केन इत्याह–**विज्ञानस्य[2] अनागतविषयत्वनिर्णयेन,** प्रतिपादितश्चास्य अनागतविषयत्वनिर्णयः **'भविष्यत् प्रतिपद्येत'** [लघी० का० १४] इत्यादिना।

ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुः नान्यम् अतिप्रसङ्गात्। सङ्केतश्च न अविषयीकृतानां शब्दार्थानां युक्तः, तन्निर्विषयताप्राप्तेः। तद्विषयीकरणञ्च नाध्यक्षेण, शब्दा[3]ध्यक्षस्य अभिधेये तदध्यक्षस्य[4] वाऽभिधाने[3] अप्रवृत्तेः। नापि स्मृत्या, तस्याः निर्विषयत्वात् इत्याशङ्क्याह–

[5]अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः।
[6]प्रतिभासभिदैकार्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत्॥ ४५॥

विवृतिः–क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षम् तत्कारणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात्। प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाशयोश्च अभावाऽविशेषात्, तदुत्पत्तिसारूप्ययोः असंभवात् व्यभिचाराच्च किं कस्य ज्ञानमित्युक्तम्। यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथंचिद्वेत्ति; स्मृतिः कथं न संविद्यात्? साक्षादतदुत्पत्तेरताद्रूप्याच्च इति वैयात्यम्; व्यवहितोत्पत्तावपि तद्रूपानुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत्। प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् नैकार्थत्वमनैकान्तिकम्; दूरासन्नैकार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात्।

---

(१) बुद्धेः। (२) उद्धृतमिदम्–आप्तप० पृ० ४२। सिद्धिवि० टी० पृ० ३०६ A। सन्मति० टी० पृ० ५१०। स्या० र० पृ० १०८८। षड्द० बृह० पृ० ३७। प्रमाणमी० पृ० ३४। शास्त्रवा० यशो० पृ० १५१ A। 'नाकारणं विषयः'–अनेकान्तजय० पृ० २०७। धर्मसं० पृ० १७६ B.। बोधिचर्या० पृ० ३९८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९। प्रमेयक० पृ० ३५५, ५०२। स्या० र० पृ० ७६९। न्यायवि० वि० पृ० १९ B.। स्या० म० पृ०२०६। (३) श्रावणप्रत्यक्षस्य। (४) अभिधेयार्थग्राहिचाक्षुषादिप्रत्यक्षस्य। (५) "अक्षैर्जनिता बुद्धिर्ज्ञानमतीतार्थं स्वकारणभूतं शब्दवाच्यञ्च, चेद्यदि, वेत्ति जानाति। सौगते मते हि विषयस्य ज्ञानकारणत्वात्, कारणञ्च कार्यक्षणात् पूर्वक्षणवर्तीत्युच्यते। तदा कुतः कारणात् स्मृतिरपि अतीतार्थं न वेत्ति अपि तु वेत्त्येवेत्यर्थः। नन्वेवं स्मृतेः कथं प्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वादित्याशङ्क्याह–प्रतीत्यादि। एकोऽभिन्नोऽतीतत्वाविशेषात् साधारणोऽर्थो विषयः शब्दार्थलक्षणस्तस्मिन्नपि स्मृतिः प्रमाणमिति शेषः। कुतः? प्रतिभासभिदा प्रतिभासस्य अतीताकारपरामर्शस्य भिद् भेदस्तया। प्रत्यक्षेण हि इदमिति यदनुभूयते तदेव कालान्तरे पुनस्तदित्यतीताकारतया स्मृत्या विषयीक्रियत इति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह–दूरेत्यादि। दूरश्चासावासन्नश्च दूरासन्नस्तस्मिन्नर्थे पादपादौ अक्षबुद्धिवत्। यथा प्रत्यक्षज्ञानानां स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् प्रामाण्यं तथा स्मृतेरपीत्यर्थः।"–लघी० ता० पृ० ६५। (६) तुलना–वागक्षसंविदामेकार्थगोचरत्वेऽपि युज्यते। प्रतिभासभिदा दूरासन्नैकार्थोपलम्भवत्"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ४७० A.।

---

1 कारणमित्यभि–श्र०। 2–नस्यागत–श्र०। 3 चाभि–ब०, श्र०।

दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षम्; प्रमाणान्तरं स्यात्। नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ [1]विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात्। तदयं शब्दार्थौ स्मृत्या सङ्कलय्य[2] सङ्केते पुनः शब्दं[3]प्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात्। तदर्थाभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसंभवात्।

कारिकाव्याख्यानम्—

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता **बुद्धिः अतीतार्थं वेत्ति** विषयीकरोति **चेद्** यदि **न कुतः** कारणात् **स्मृतिः** अतीतार्थं वेत्ति? किन्तु वेत्ति एव। अथैवं सति अक्षबुद्धिस्मृत्योरभिन्नः प्रतिभासः स्यात् अभिन्नविषयत्वात् [4]नीलाक्षबुद्धिद्वयवद् इत्युच्यते; तत्राह—**'प्रतिभास'** इत्यादि। अक्षबुद्धिस्मृत्यो[5]: **एकार्थे** एकार्थत्वे सत्यपि भावप्रधानोऽयं निर्देशः। स्मृतिः **प्रतिभासभिदा** अस्पष्टप्रतिभासात् [(१)]इतरप्रतिभासविशेष (षे) णार्थं **'वेत्ति'** इति सम्बन्धः। अत्र दृष्टान्तमाह—**'दूरासन्न'** इत्यादि। सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नाक्षबुद्धीनां विषयाभेदेऽपि[(२)] स्पष्टेतररूपः[(३)] प्रतिभासभेदः पादप[6]स्यैकस्यैव तथा[(३)]प्रतिभासनात्।

विवृतिव्याख्यानम्—

कारिकां व्याख्यातुमाह—**'क्षणिक'** इत्यादि। **क्षणिकौ** च तौ **अक्षज्ञानज्ञेयौ** च तयोर्यथाक्रमं **कार्यकारणत्वनियमे** अभ्युपगम्यमाने **निर्विषयं** निरालम्बनं **प्रत्यक्षं** स्यात्। कुत एतदित्याह—**'तद्'** इत्यादि। **तस्य** प्रत्यक्षस्य **कारणं** यद्वस्तु तस्य। कथम्भूतस्य? **अतीतस्य, तदनात्मकत्वात्। स** प्रत्यक्षविषयो[7]ऽ**नात्मा** स्व (त्माऽस्व) भावो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावात्। प्रत्यक्षकाले हि सर्वात्मना अर्थे[(४)] विनष्टस्य स्वरूपाभावतो न [(५)]तद्विषयत्वं घटते। स्वकाले सत्त्वात् [(६)]तद्विषयत्वम्; कुतः स्मृतेर्निर्विषयत्वम्? [(७)]तदर्थस्यापि स्वकाले सत्त्वाविशेषात्। [8]एतत्तु अक्षज्ञानं प्रति [9]अतीतस्य कारणत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम्। इदानीं तदनभ्युपगम्य तद्दर्शयन्नाह—**'प्रागभाव'** इत्यादि। तस्माद् विषयाभिमताद् उत्पत्तिसारूप्ये **तदुत्पत्तिसारूप्ये,** *"का भीर्ति: (भीभिः)"* [(८)] [**जैनेन्द्रव्या० १।३।३२**] इत्यत्र 'का' इति योग[(९)]विभागात् [(१०)]संविधिः। अथवा, तदिति निपातः 'तस्माद्' इत्यस्यार्थे वर्त्तते। **तयोरसंभवात्**

(१) प्रत्यक्षबुद्धितो भिन्नरूपेण। (२) पादपलक्षणविषयस्य एकत्वेऽपि। (३) स्पष्टाऽस्पष्टरूपेण। (४) अर्थस्य। (५) प्रत्यक्षविषयत्वम्। (६) प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्व। (७) स्मृतिविषयभूतस्य अतीतार्थस्यापि। (८) त्रुटिताया पू० प्रतौ 'भीभि' इति पाठ प्रतिभाति। "का भीभि ॥१।३।३२॥ कान्तस्य (पञ्चम्यन्तस्य) सुबन्तस्य भीवाचिभि सुबन्तै सह षस (तत्पुरुषसमास) भवति। वृकेभ्यो भी वृकभी, वृकभयम्, वृकभीत। केति विभागेन परेभ्यस्त्रायन्ते परत्रा इत्यपि।"—**जैनेन्द्रप्र०**। (९) योगविभागे सति 'का भीभि' इति सूत्रस्य अयमर्थं स्यात्—यथा कान्तस्य भयवाचिभिः शब्दै समासो भवति, तथा कान्तस्य अन्यैरपि शब्दैः समास स्यात्। (१०) तत्पुरुषसमास। 'स' इति समासस्य सञ्ज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे।

1 **विसंवाद्यते सदप्र**—ज० वि०। 2 **संकलपय्य** ई० वि०। 3—**प्रवृत्तौ** ई० वि०। 4 **नीलाख्यबु**—आ०। 5—**स्योरेकार्थत्वे** श्र०। 6—**पस्यैव** श्र०। 7—**यो नात्मा** श्र०, ब०। 8 **एतच्चाक्ष**—श्र०। 9 **प्रतीतस्य** श्र०।

कारणात्, **किं** प्रत्यक्षमन्यद्वा **कस्य** प्रत्यक्षाभिमतस्य अन्यस्य वा विषयस्य **ज्ञानं** 'ग्राहकम्' इत्यध्याहारः, 'सम्बन्धि वा' । कुत एतदित्यत्राह–'**प्राग्**' इत्यादि । उत्पत्तेः पूर्वमभावः **प्रागभावः**, लब्धात्मलाभस्य स्वरूपप्रच्युतिः **प्रध्वंसाभावः**, तयोरभावाविशेषात् अभावत्वाऽभेदात् । अयमभिप्रायः–यदा सति कारणे कार्यं न भवति असति च भवति तदा तद् आत्मनः कारणाभिमतस्याऽभावं कारणं सूचयति । तथा चाऽनादिभूततत्प्रागभावकालेऽपि तदभावस्याविशेषात् कार्योत्पत्तिः स्यात् । अथ कारणप्रध्वंसाभाव एव कार्योत्पादको न तत्प्रागभावः, अत्राह–'**समनन्तर**' इत्यादि । कार्योत्पत्तेः प्रागनन्तरं जातः कारणप्रध्वंसः **समनन्तरः, इतरः** अनाद्यतीतकाले चिरजातः तयोः विनाशयोरविशेषात् । अयमभिप्रायः–यदि अभावत्वाविशेषेऽपि प्रध्वंसाभाव एव कार्योत्पादको न प्रागभावः तर्हि अनाद्यनन्तातीतानागताः प्रध्वंसाभावाः कार्योत्पादकाः स्युः तथा च कार्यस्य अनाद्यनन्तताप्रसक्तिः । अथ कारणप्रध्वंस एव कार्योत्पादको नेतरः; न प्रध्वंसस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे अस्य परिहारस्याऽनुपपत्तेः । न च प्रागनन्तर एव प्रध्वंसः तज्जनको नान्य इत्यभिधातव्यम्, देशकालयोरनभ्युपगमे अस्यापि परिहारस्य दुर्घटत्वात् । आनन्तर्यं हि देशकालकृता प्रत्यासत्तिरिति । इतश्च किं कस्य ज्ञानमिति दर्शयन्नाह–'**व्यभिचाराच्च कारणात् किं कस्य ज्ञानमिति** ?' एतच्च ज्ञानस्य निराकारत्वसिद्धौ[13] प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते ।

ननु नैव प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा अतीतोऽन्यो वा भावतो विषयोऽस्ति भिन्नो यस्तूच्यते स व्यवहारेण इत्याशङ्क्याह–'**यदि पुनः**' इत्यादि । **यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद्** व्यवहारेण अन्येन वा प्रकारेण **वेत्ति** विषयीकरोति तदा **स्मृतिः कथं न संविद्यात्** '**अतीतमर्थम्**' इति सम्बन्धः । परः प्राह–'**साक्षात्**' इत्यादि । **साक्षात्** अव्यवधानेन **अतदुत्पत्तेः** अतीतार्थादुत्पत्तेरभावात् स्मृतेः **अताद्रूप्यत्वाच्च** अतीतार्थेन सारूप्यासंभवाच्च नासौ[16] '[10]तं[17] संविद्यात्' इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरम् '**इति**' आदि । इति एवं **वैयात्यं** वियातस्य दुर्विदग्धस्य भावो **वैयात्यं** परस्य । कुत

(१) इत्यध्याहार इति योज्यम् । (२) कार्यम् । (३) स्वस्य । (४) कारणरूपेण । (५) कारणप्रागभावकाले, कारणासन्निधानावस्थायामित्यर्थ । (६) कारणाभावस्य । (७) कारणप्रागभाव । (८) अव्यवहितपूर्वक्षणे जात । (९) अभावरूपेण भेदाभावात् । (१०) अनाद्यनन्तातीतानागतप्रध्वस । (११) कार्योत्पादक । (१२) बौद्धमते हि कारणकार्याभिमतक्षणयो एकदेशाभावात् एककालाभावाच्च न देशकालकृतमानन्तर्यं सभवति । तन्मते हि कारणाभिमतस्य अन्यो देश कालश्च कार्याभिमतस्य चान्य, देशकालयोरपि क्षणिकत्वात् । न च तौ आकाश कालो वा वस्तुभूत स्वीक्रियते, छिद्रस्य आकाशत्वात्, पूर्वापरादिबुद्धेरेव च कालव्यपदेशार्हत्वात् । (१३) पृ० १६९ । (१४) परमार्थत । (१५) बौद्ध । (१६) स्मृति । (१७) अतीतार्थम् । (१८) बौद्धस्य ।

1–प्रत्यक्षस्याभि–श्र० । 2 ससम्बन्धि श्र० । 3–भावलब्धा–आ० । 4 अभावत्वाविशेषात् आ० । 5 तथावानादिभूत–आ० । 6 चिराज्जात श्र० । 7 अनाद्यनन्तानामसा–आ० । 8 –सक्ते । 9 भवतो आ० । 10 तत्सवि–ब० ।

एतदित्याह–**'व्यवहित'** इत्यादि । **व्यवहितो**ऽन्तरितो योऽर्थोऽनुभवेन तस्मात् परस्परयोत्पत्तिः स्मृतेः तस्यामपि तस्य व्यवहितस्य **यद्रूपं तस्य अनुकृतेर्दर्शनात्**। अत्र दृष्टान्तमाह–**'दृष्टार्थ'** इत्यादि। जाग्रद्दशायां यो **दृष्टोऽर्थः स दृष्टः, तस्य स्वप्नः तत्रैव तद्वदिति ।**

स्यान्मतम्–प्रत्यक्षस्मरणे नैकार्थे भिन्नप्रतिभासत्वात् रूपादिज्ञानवदित्यत्राह–**'प्रत्यक्ष'** इत्यादि । प्रत्यक्षशब्दस्य अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । **प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात्** हेतोः **एकार्थत्वन्न** इति यत् पर[१]स्याभिमतं **तदनैकान्तिकम्**–अनैकान्तिकहेतुविषयत्वादुपचारेण अनैकान्तिकम् । एतदेव **'दूरासन्न'** इत्यादिना समर्थयते–**दूरासन्ने** च ते **एकार्थप्रत्यक्षे** च तयोः । कथम्भूतयोः ? **भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात्** दूरासन्नैकार्थविषयत्वात् । ननु **दूराणामक्षाणाम् अर्थज्ञानमप्रत्यक्षं** प्रत्यक्षन्न भवति । कुतः ? **भ्रान्तेः** अस्पष्टस्य दर्शने स्पष्टस्य प्राप्तेः[1] इति परः[२] । अत्रोत्तरमाह **'प्रमाण'** इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् **अन्यत् प्रमाणं** त[३]ज्ज्ञानं **स्यात्** अस्पष्टत्वाऽलिङ्गजत्वाभ्यां प्रमाण[४]द्वयानन्तर्भूतत्वात् । ननु विसंवादात्तत् प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तदन्त[५]रम् ? इति चेदत्राह **'नहि'** इत्यादि । **नहि** नैव **तेन** दूराक्षार्थज्ञानेन **अर्थं** वृक्षादि **परिच्छिद्य प्रवृत्तौ** क्रियमाणायां **विसंवादैकान्तः,** अस्पष्टाकारतया विसंवादेऽपि वृक्षाद्याकारतया तद[६]भावात् **तदप्रमाणं** तद्दूरार्थज्ञानम् एकान्तेनाप्रमाणं **यतः** स्यात् ।

प्रकृतार्थोपसंहारमाह–**'तद्'** इत्यादि । यस्माद् उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षवत् स्मृतेर्वस्तुविषयत्वं सिद्धम् **तत्** तस्माद् **अयं** सौगतो व्यवहारी वा[2] **शब्दार्थौ** पूर्वदर्शनेन विषयीकृतौ **स्मृत्या** करणभूतया **सङ्कलय्य** प्रत्यभिज्ञाय **सङ्केते** 'एवंविधोऽर्थः एवंविधशब्दवाच्यः' इति समये सति **पुनः** पश्चाद् व्यवहारकाले **शब्दप्रतिपत्तौ** सत्याम् **अर्थं**[3] **सम्प्रत्येति** विषयीकरोति । **'स्मृत्या सङ्कलय्य'** इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । ननु स्मृत्यादेरवस्तुविषयत्वाद् अवस्तुनि सङ्केतः तत्प्रतिपत्तिश्च; इत्यत्राह–**'स्मृति'** इत्यादि । **आदि**शब्देन तर्कादिपरिग्रहः, तस्यापि न केवलं प्रत्यक्षस्य **परमार्थविषयत्वात्** । ननु परमार्थविषयत्वे शब्दानां न कचित् तद[७]भावे त[८]ज्ज्ञानं स्यादि[4]त्यत्राह–**'तद्'** इत्यादि । तस्य शब्दस्य अर्थः **तदर्थः** तस्य **अभावेऽपि** न केवलं भाव एव **शब्दार्थज्ञानं** शब्दस्य कार्यभूतमर्थज्ञानं 'जगत्प्रपञ्चस्य प्रकृतिः कारणम्, ईश्वरः कारणं, ब्रह्म कारणम्' इत्यादि । अत्र दृष्टान्तमाह–**'प्रत्यक्षवत्'** इति । यथा प्रत्यक्षं द्विचन्द्राद्यर्थाभावेऽपि भवति तथा [5]तद[९]पीति । कुत एतदिति चेदत्राह–**'वस्तुन्यपि'** इत्यादि । अपि शब्दाद् अवस्तुन्यपि **सङ्केतसम्भवात् ।**

(१) बौद्धस्य । (२) बौद्धः । (३) दूराक्षार्थज्ञानम् । (४) प्रत्यक्षानुमानलक्षण । (५) प्रमाणान्तरम् । (६) विसंवादाभावात् । (७) अर्थाभावे, अतीतानागतादिकालवर्तिन्यर्थे । (८) शब्दज्ञानम् । (९) शब्दज्ञानमपि ।

1 प्राप्तिरिति श्र० । 2 च ब० । 3 अर्थं प्रत्येति श्र० । 4–वित्याह ब० । 5 तदपि कुत श्र० ।

ननु यदि अर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं[१] स्यात् तर्हि सर्वमेव शाब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात्। प्रयोगः–विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात्[२] प्रकृत[2]तज्ज्ञानवत्[३] इत्याशङ्क्याह–

अक्ष[४]शब्दा[3]र्थविज्ञानमविसंवादतः समम्।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत्॥ ४६॥

विवृतिः–तदुत्पत्तिसारूप्यदिलक्षण[4]व्यभिचारे[५]पि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं तत्त[5]स्येति सम्बन्धात्। वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत्। विवक्षाव्यतिरेकेण वाग् अर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानवत् सम्बन्धनियमाभावात्। वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः।

कारिकार्थ –

अक्षाणि च शब्दाश्च तेषाम् **अर्थज्ञानं समम्।** केन इत्याह **अविसंवादतः,** अविसंवादेन यथा अक्षज्ञानमविसवादकं तथा शब्दार्थज्ञानमपि। अयमभिप्रायः–यथा अक्षज्ञानस्य कस्यचिद्विसंवादिनो दर्शनेऽपि न 'सर्वमक्षज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् द्विचन्द्रादिज्ञानवत्' इत्यभिधातुं शक्यम्, तथा शब्दार्थज्ञानमपि। तर्हि प्रत्यक्षात् कोऽस्य विशेषः? इति चेदत्राह–**अस्पष्टमविशदं शब्दविज्ञानम्,** अक्षज्ञानं तु स्पष्टम् इत्यनयोर्विशेषः। तर्हि तत्प्रमाणं किमिवेति चेदत्राह–**प्रमाणं** शब्दज्ञानम् **अनुमानवत्।** अत्रापि **'अविसंवादतः'** इति सम्बन्धनीयम्।

ननु चाक्षज्ञानस्य अर्थोत्पत्तिसारूप्यसंभवात् युक्तमविसंवादकत्वं न शब्दज्ञानस्य तद्विपर्ययात् अतः **'अक्ष'** इत्याद्ययुक्तम्, इत्यारेकादूषणपुरः[6]सरं कारिकां विवृण्वन्नाह–**'तदुत्पत्ति'** इत्यादि।

विवृतिव्याख्यानम्–

तस्माद् अर्थाद् उत्पत्तिश्च सारूप्यश्च आदिर्यस्य तदध्यवसायस्य स तथोक्तः, स एव **लक्षणं** प्रामाण्यस्य अविसंवाद§स्य वा तस्य **व्यभिचारेऽपि** तदुत्पत्तेः[६] चक्षुरादिना, सारूप्यस्य

(१) शब्दज्ञानम्। (२) शब्दज्ञानत्वात्। (३) खरविषाणादिशब्दजज्ञानवत्। (४) "सम समान प्रमाण भवति। किम्? अक्षशब्दार्थविज्ञानम्, अक्षमिन्द्रिय शब्दो वर्णपदवाक्यात्मको ध्वनि ताभ्या जनितमर्थस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुनो विशिष्ट सशयादिविकल ज्ञानमवबोधनम्। कुत? अविसवादत अर्थक्रियायामव्यभिचारात्। यथाऽक्षजनितमर्थज्ञानमविसवादात् प्रमाण तथा शब्दजनितमपि। नन्वक्षज्ञान प्रमाण स्पष्टत्वात् न शाब्दमस्पष्टत्वादित्याशक्याह–अस्पष्टमिति। अस्पष्टमविशदमपि शब्दजनित ज्ञान प्रमाणमभ्युपगन्तव्यमविसवादादेव। न हि स्पाष्टचमस्पाष्टच वा प्रामाण्येतरनिबन्धन तयो सवादेतरनिबन्धनत्वात्। किंवत्? अनुमानवत्"–**लघी० ता० पृ० ६६।** (५) तुलना–"तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि सवेद्यलक्षणम्। सवेद्य स्यात्समानार्थं विज्ञान समनन्तरम्॥"–**प्रमाणवा० ३।३२३। अष्टसह० पृ० २४०। प्रमाणनय० ४।४७।** (६) चक्षुरादिभ्य घटज्ञानमुत्पद्यते न च तत् चक्षुरादिग्राहकं भवति।

1–**ज्ञान न प्र**–आ०। 2 **प्रकृतनज्ज्ञानवत्** ब०। 3 **अक्षात् शब्दा**–ई०, वि०। 4–**णं व्य**–ई०, वि०,। 5 **तत्त्वार्थेति** ज०, वि०। 6–**पुरस्सरा का**–ब०,–**पुरस्सर का**–आ०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०।

समानार्थसमनन्तरज्ञानेन,[1] तदध्यवसायस्य[2] मरीचिकाचक्रे जलदर्शनेन तत्र जलाध्यवसायहेतुना, तत्त्रितयस्य[3] शुक्ले शङ्खे पीतज्ञानप्रभवोत्तरपीतज्ञानेन, न केवलमव्यभिचारे। किं जातमित्याह–'**यदर्थ**' इत्यादि। उत्तरत्र तच्छब्दद्वयप्रयोगाद् अत्रापि द्वितीयो यच्छब्दो द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थो जातः–यज्ज्ञानं **यदर्थपरिच्छेदलक्षणं** यदर्थग्रहणस्वरूपं **तत् ज्ञानं तस्य** अर्थस्य। एतदुक्तं भवति–तत्र[1] यया प्रत्यासत्त्या सत्त्वाविशेषेऽपि[2] ↑ किञ्चित् कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्य, कारणत्वाविशेषेऽपि च कस्यचित् किञ्चिदाकारमात्मसात्करोति, तदविशेषेऽपि[4] च ↑ किञ्चिद्व्यवस्यति तया तदुत्पत्त्यादिरहितमपि तत्परिच्छेदवत् इति। एवं तद्व्यभिचारेऽपि ज्ञानार्थयोः **सम्बन्धात् वागर्थज्ञानस्यापि** न केवलमन्यस्य **स्वयम्** आत्मना **अविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत्** प्रत्यक्षवत्। ननु भवतु तत्प्रमाणं किन्तु विवक्षायामेव, इत्यत्राह–'**विवक्षा**' इत्यादि। **विवक्षाव्यतिरेकेण** यद्ग्राह्यं **वस्तुतत्त्वम्** अर्थस्वरूपं तत् **प्रत्याययति** गमयति। किं तदित्याह–**वागर्थज्ञानम्**, वचः कार्यभूतमर्थज्ञानम्। किमिव ? इत्याह–**अनुमानवत्**। यथा अनुमानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं गमयति तथा वागर्थज्ञानमपि। कुत एतत् ? इत्याह[3]–**सम्बन्धनियमाभावात्**। विवक्षायामेव न बहिरर्थे तस्य सम्बन्धः इति यो नियमः तस्याऽसंभवात्। अथवा, तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्धः नापरः इति यः **सम्बन्धनियमः तस्याऽभावात्**[4]। कुत एतदित्यत्राह–'**वाच्य**' इत्यादि। न केवलमन्यस्य अपि तु **वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य**[5][6] **बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः**[6]। अयमभिप्रायः–अन्योऽपि[7] सम्बन्धस्तत्प्रतीतिं कुर्वन् उपलभ्यमान एव 'अस्ति' इत्युच्यते नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्, तथा प्रकृतस्याप्युपलभ्यमानत्वे[8] अस्तित्वमस्तु[7] इति। समर्थितञ्चास्यास्तित्वं '**प्रमाणं श्रुतमर्थेषु**' [लघी० का० २६] इत्यत्र प्रपञ्चतः इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन।

ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात्, सतामप्यभेदात्[9]। अन्यतः कालभेदात्तद्भेदे अनवस्था स्यात्। अर्थभेदात्तद्भेदे अन्योन्याश्रयः। ततोऽयुक्तमुक्तम्–'**कालकारक**' इत्यादि; इत्याशङ्क्याह–

(१) समानार्थे एकस्मिन्नर्थे तिलादौ यत्प्रथम ज्ञान जात तस्माज्जात यदनन्तर द्वितीय तिलज्ञान तस्य प्रथमतिलज्ञानेन सह सारूप्यमस्ति, न च द्वितीयज्ञान प्रथम गृह्णाति, ज्ञान ज्ञानस्य न नियामकमिति तत्सिद्धान्तात्। (२) अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरध्यवसाय। मरीचिचक्रे जायमान जलदर्शनमनुकूल जलमिदमित्याकारक विकल्पमुत्पादयति न च तत्प्रमाणम्। (३) तदुत्पत्तिसारूप्यतदध्यवसायत्रयम्। शुक्ले शखे जायमानपीतज्ञानात् उत्पन्नस्य अनन्तरपीतज्ञानस्य शखज्ञानादुत्पन्नस्य तदाकारानुकारिणः तदनुकूलशखोऽयमित्याकारकविकल्पोत्पादकस्य पूर्वज्ञाने प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न चैतदस्ति ज्ञान ज्ञानस्य न नियामकमिति नियमभङ्गप्रसङ्गात्। (४) अकारानुकारणाऽविशेषेऽपि। (५) तदुत्पत्त्यादि.। (६) वाच्यवाचकसम्बन्धस्य। (७) वाच्यवाचकभावस्य। (८) भेदाभावात्। (९) सिद्धे हि अर्थेष्वतीतादिभेदे तस्मात् कालस्य अतीतादित्वम्, तस्माच्चार्थानामतीतादिदितेति।

1 यत्र आ०। 2 सत्ताविशे–श्र०। ↑ एतदन्तर्गत. पाठो नास्ति आ०। 3 इत्यात्राह ब०, श्र०। 4 तस्यासंभवात् ब०, श्र०। 5–स्याप्रति–आ०। 6–हेतुत्वोप–ब०, श्र०। 7–मस्तीति श्र०।

[1]कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनि[1]ष्ठितम् ॥४७॥

विवृतिः–नह्येकान्ते [2]वर्त्तनालक्षणं कालस्य संभवति, भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदो यतः स्यात्, तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं [3]शक्तिः तदुभयं [2]वेति [4]कारकलक्षणं शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धासिद्धेः अनवस्थानुषङ्गात् । तद्व्यतिरेकैकान्ते 'शक्तिःशक्तिमत्' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तन्नैकान्ते षट्कारकी व्यवतिष्ठते । कुतः पुनः [5]'स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान् इति पुमान् [4]तदुभयात्यये नपुंसकम्' इति शब्दार्थप्रत्ययानामन्यतमस्यापि लिङ्गव्यवस्था ? तथा एकस्यार्थस्य 'इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरंदारयतीति पुरन्दरः' इति पर्यायभेदाद् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न संभवत्येव व्यतिरेके[5]तरैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोः तत्रासंभवो विज्ञेयः । तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाभ्यां तदर्थाभिधानात् । नाभावैकान्तः, कुतः तदभिधानलिङ्गाद्यसंभवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्त्तेत ?

कारिकाविवरणम्–

काल आदिर्यस्य कारकादेः स तथोक्तः तस्य **लक्षणं** स्वरूपं प्रमाणं वा **अन्यत्र** तत्त्वार्थभाष्यादौ **परीक्षितं** विचारितम् **ईक्ष्यम्** [6]अन्वेष्यम् **न्यक्षेण** आत्मना, 'निश्चितः पूर्वं प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽक्षो

(१) "ईक्ष्यमवलोकनीयम् । किम् ? कालादिदक्षणम्, काल आदिर्येषा कारकलिङ्गसख्यासाधनोपग्रहादीना ते कालादय तेषा लक्षणमसाधारणं स्वरूपम् । किं विशिष्टम् ? परीक्षित विचारित स्वामिसमन्तभद्राद्यै सूरिभि । कथम् ? न्यक्षेण विस्तरेण । क्व ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ । किंविशिष्टम् ? द्रव्येत्यादि । द्रव्य पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्ध्वतासामान्यम्, पर्याया एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परिणामा, सामान्य सदृशपरिणामलक्षण तिर्यक् सामान्यम्, विशेषोऽर्थान्तरगतो व्यतिरेक, द्रव्य च पर्यायाश्च सामान्यञ्च विशेषश्च द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषा ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तथोक्त । स चासावर्थश्च तस्मिन्निष्ठित नियत तदात्मकमिति यावत् । एवंविधस्यैव अर्थक्रियासभवात् निरपेक्षैकान्ते तद्विरोधात् ।"–लघी० ता० पृ० ६७ । (२) "वत्तनालक्खणो कालो "–उत्तरा० २८।१० । "कालस्य वट्टणा से "–प्रवचनसा० २।४२ । "ववगदपणवण्णरसो ववगददोगधअट्ठफासो य । अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ।"–पञ्चा० गा० २४ । द्रव्यस० गा० २१ । "वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ।"–तत्त्वार्थसू० ५।२२। (३) शक्तिकारकवादिन भर्तृहरिप्रभृतय ; तथाहि–"स्वाश्रये समवेताना तद्वदेवाश्रयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधन विदु ॥ क्रियानिवृत्तौ द्रव्यस्य शक्ति साधन साध्यतेऽनेन क्रियेति भाष्यकारप्रभृतयो विदु ।"–वाक्यप० तृ० का० पृ० १७३ । (४) तुलना–"न च द्रव्यमात्र कारक न च क्रियामात्रम्, कारकशब्दो हि क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्ते प्रवर्तते ।"–न्यायवा० पृ० ६ । "धात्वर्थांशे प्रकारो य सुबर्थ सोऽत्र कारकम्"–शब्दश० का० ६७ । (५) "सस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्तत । अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्त्यायत्यस्या गर्भ इति । कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति । सस्त्यानविवक्षाया स्त्री, प्रसवविवक्षाया पुमान्, उभयविवक्षाया नपुसकमिति ।"–पात० महा० ४।१।३ ।

1–निश्चितम् ज० वि० । 2 चेति ई० वि० । 3 शक्तिशक्ति–ई० वि० । 4 तदुभयाभावे नपु–ई० वि० । 5–कान्तरयो. ज० वि० । 6 अन्वेक्ष्यम् आ० ।

न्यैक्षः' इति व्युत्पत्तेः। **न्यक्षेण** विस्तरेण इति वा। कथम्भूतं तत् तेनेक्ष्यम् इत्याह–'**द्रव्य**' इत्यादि। **द्रव्यम्** ऊर्ध्वतासामान्यं तस्य सहक्रमभुवो विवर्त्ताः **पर्यायाः**, सदृशपरिणामः **सामान्यम्**, विसदृशपरिणामो **विशेषः** ते एव **आत्मा** यस्यार्थस्य तत्र **निष्ठितम्** तदात्मकमिति यावत्। ततो निराकृतमेतत्–"*कालादेः स्वयमभेदात् कथं तद्भेदात् कश्चिदर्थभदेकृत्*" [ ] इति। सहकार्युपादानसन्तानवद् अन्योन्यं कालादीनाम् अन्यथाभावविवर्त्ताविरोधात्। यदि चा (वा), अन्यार्थपरिणतिः कालापेक्षा कालपरिणतिस्तु स्वरूपापेक्षा, यथा घटादिप्रकाशः प्रदीपनिबन्धनः प्रदीपप्रकाशस्तु स्वनिबन्धन इति, अतः अनवस्थाऽन्योन्याश्रयासंभवः। अथवा, तदर्थेन लिङ्गभूतेन निष्ठा स्वरूपव्यवस्थितिर्ज्ञाता[2] अस्येति तन्निष्ठितं तल्लक्षणम् तत्प्रमाणकम् इत्यर्थः। तथाहि–अयं तदर्थः अस्मात् पूर्वं पश्चात् अनेन सह वा भवतीति[3] प्रतीतिः तदर्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका, पूर्वापरादिप्रतीतित्वात्, अयं तदर्थोऽस्मात्पूर्वदेशः अयमपरो देश इत्यादिप्रतीतिवत्। यश्चासौ तत्कारणं[1] स काल इनि। एवं कारकादावपि योज्यम्। तथाहि–'करोति क्रियते' इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नशक्तिकार्थ[4]निबन्धना, विलक्षणप्रतीतित्वात्, जलानलप्रतीतिवत्। तथा, 'देवदत्तो देवदत्ता' इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नस्वरूपार्थनिबन्धना, विशिष्टप्रतीतित्वात्, घटपटप्रतीतिवत्।

कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे–'**नह्येकान्त**' इत्यादिना[5]। **हि**र्यस्मात् **न** क्षणिकाद्येकान्ते **वर्त्तना**[2] स्वयं त्रिकालगोचरैः पर्यायैः वर्त्तमानान् भावान् प्रति प्रयोजकत्वं **लक्षणं कालस्य संभवति यतो** लक्षणात् **भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदः** कालादेः **स्यात्**। '**यतः**' इति आक्षेपे वा, **यतः** तत्प्रभेदः **स्यात्**, नैव स्यात्। कुत एतदित्याह–'**तदर्थ**' इत्यादि। या भूताद्यर्थस्य **क्रिया** निष्पत्तिः **तस्या अनुपपत्तेः** '**एकान्ते**' इति सम्बन्धः। यथा च एकान्ते कालस्य अतीताद्यर्थक्रियानुपपत्तिः तथा कालपरीक्षावसरे[3] विशेषतश्चिन्तितम्।

विवृतिव्याख्यानम्–

एवं कालस्य एकान्ते लक्षणं[6] वर्त्तमानान् भावान् प्रति प्रयोजकत्व निराकृत्य कारकस्य तन्निराकुर्वन्नाह–'**नच**' इत्यादि। **नच** नापि **कारकलक्षणम्**। किंतदित्याह–'**द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वा**[7]' इत्येतत्, '**एकान्ते तदर्थक्रियानुपपत्तेः**' इत्येतदत्रापि

(१) पूर्वापरादिप्रतीतिकारणम्। (२) "सर्वभावाना वर्तना कालाश्रया वृत्तिः। वर्तना उत्पत्ति स्थितिरथ गति प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थ।"–तत्त्वार्थभा० ५।२२। "वृतेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति। वर्त्यते वर्तनमात्र वा वर्तनेति।। धर्मादीना द्रव्याणा स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानाना बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकार।"–सर्वार्थसि० ५।२२। "प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना।"–राजवा० ५।२२। (३) पृ० २२५।

1–न्य इति आ०। 2–तिर्जाता आ०, ब०। 3 भवतीति विभिन्नस्वरूपार्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका 4–कार्यनि–आ०। 5 इत्यादि न हि आ०। 6 लक्षणं निराकृत्य ब०, श्र०। 7 च श्र०।

सम्बन्धनीयम् । दूषणान्तरमाह–'**शक्ति**' इत्यादि । **शक्तिशक्तिमतोः व्यतिरेकैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **सम्बन्धासिद्धिः**[1] सह्यविन्ध्यवत् । अथ तदेकान्तेऽपि राजपुरुषवद् उपकार्योपकारकभावात् सम्बन्धसिद्धिरिष्यते[2], अत्राह–**अनवस्थानुषङ्गात्** इति । अत्रायमभिप्रायः–यथा राजपुरुषयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावः तथा चेत् शक्तितद्वतो-स्तद्भावः[1] तदा तत्र प्रत्येकम् अपरा शक्तिः कल्पनीया तत्राप्येवं चोद्यमित्यनवस्था । एतेन अनयोः[2] समवायः विशेषणीभावः अन्यो वा भिन्नः सम्बन्धः चिन्तितः । तयोरभेदैकान्त दूषयन्नाह–'**तदव्यतिरेकैकान्ते**' इत्यादि । **तयोः** शक्तिशक्तिमतोः **अव्यतिरेकैकान्ते** अभेदैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे '**शक्तिः शक्तिमत्**' इति एव या परस्य **वाचोयुक्तिः** वचनोपपत्तिः सा **रिक्ता** निरर्थिका । तस्मिन् सति शक्तिरेव स्यात्, न च सा[3] परस्य[4] निराधारा युक्ता द्रव्यादिकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात् । शक्तिमदेव वा स्यात्, तदपि[5] शक्त्यभावेऽनुपपन्नम् । न च द्रव्यादिकमेव शक्तिरित्यभिधातव्यम्, शक्तिपरीक्षायां[6] तस्याः[7] ततो[8] व्यतिरिक्तायाः प्रसाधितत्वात् ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–'**तद्**' इत्यादि । यतो भेदाभेदैकान्ते शक्तिशक्तिमद्भावो नोपपद्यते '**तत्**' तस्मात् **नैकान्ते षट्कारकी**[9] कर्त्रादीनां षण्णां कारकाणां समाहारो व्यवतिष्ठेत, कारकाभावे तत्समाहाराभावात् इत्यभिप्रायः । तथा अन्यच्च यत्प्राप्तं §तदाह–'**कुतः**' इत्यादिना । **कुतः** ? न कुतश्चित् । **पुनः** इति दूषणान्तरसूचनार्थः । **लिङ्गव्यवस्था** लिङ्गानां स्त्रीत्वादीनां स्थितिः । कस्य सा न ? इत्यत्राह–**अन्यतमस्यापि** । केषामन्यतमस्य ? इत्याह–**शब्दार्थप्रत्ययानाम्** । वैयाकरणैर्यथासंभव तेषामेव त्रयाणां लिङ्गव्यवस्थोपगमात् । ननु यदि कारकव्यवस्था नास्ति किमायात लिङ्गाव्यवस्थाया येन सापि न स्यात् ? इत्याह–'**स्त्यायति**[10]' इत्यादि । **स्त्यायति** सङ्घातीभवति **अस्यां गर्भ इति स्त्री** । **प्रसूते** जनयति **स्वान्** आत्मीयान् **पर्यायान् इति पुमान्** । **तदुभयात्यये** स्त्यानप्रसवनोभयाभावे **नपुंसकमिति** । एव या **व्यवस्था**, सा **कुतः** ? लिङ्गव्यवस्थायाः कारकनिबन्धनत्वेन तदभावेऽभावादिति मन्यते । अत्रैव एकान्ते

(१) उपकार्योपकारकभाव । (२) शक्तिततद्वतो । (३) शक्ति । (४) मीमासकादे । (५) शक्तिमदपि । (६) पृ० १६० । (७) शक्ते । (८) द्रव्यादे । (९) "नित्या षट्शक्तयोऽन्येषा भेदाभेदसमन्विता । क्रियासंसिद्धयेऽर्थेषु जातिवत्समवस्थिता ॥"–**वाक्यप० साधनसमु० श्लो० ३५** । (१०) तुलना–"सस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ इति परिभाषित भाष्ये लिङ्गमुक्त तथा चाह–सस्त्याने स्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री, सूतेस्सप्प्रसवे पुमानिति । स्त्यान सहनन प्रसव उपचयो रूपादीना सत्त्वादिगुणानाम् । स्त्यायति सहननमापद्यतेऽस्या गर्भ इत्यधिकरण स्त्री । सूतेर्धातोर्भावे प्रसव उपचये डुम्सुन् प्रत्यये परतस्सकारस्य पकारादेशे कृते पुमानिति । यदाह–सविति सकारस्य पकारादेश इत्यर्थ । अनेन च प्रकारेण विषये सूत्यर्थे वृत्ति सूचयति । उभयधर्मसाम्यरूपा स्थितिर्नपुसकमर्थादुक्त भवति ।"–**वाक्यप० लिङ्गसमु० पृ० ४३६** ।

1–सिद्धेः आ० । 2–सिद्धिरिति इष्य–ब० । §एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 3 **कारणानां** श्र० ।

दूषणान्तरमाह–'**तथा**' इत्यादिना । **तथा** तेन कारकाभावप्रकारेण **एकस्य** अभिन्नस्य **अर्थस्य** सुरपतिलक्षणस्य '**इन्दनाद् इन्द्रः**' '**शकनात् शक्रः**' '**पुरन्दारयति इति पुरन्दरः**' इत्येवं **पर्यायभेदात्** इन्दनादिपरिणामभेदात् । अथवा, इन्द्रादिशब्दपर्यायभेदात् सकाशात् [1]तद्भेदञ्चाश्रित्य यासौ परेणाभ्युपग[2]ता । का ? इत्याह–**भिन्नार्थता** नानार्थता । केषाम् ? इत्याह–**तद्वाचिनाम्** एकार्थवाचिनां **शब्दानाम्** इन्द्राद्यभिधानानाम् । सा किम् ? इत्याह–**न** [3]**संभवत्येव**, मनागपि तत्संभवो नास्ति इत्येवकारार्थः । कुत एतदि[4]-त्यत्राह–'**व्यतिरेक**' इत्यादि । यः सुरपतिलक्षण एकार्थः यश्च शकनादिः तयोः पर[5]स्परं **व्यतिरेकैकान्तः** भेदैकान्तः यश्च **इतरैकान्तः** अभेदैकान्तः तयोः **तत्रैकान्ते विरोधात्** । व्यतिरेकैकान्ते हि सम्बन्धासिद्धेरनवस्थानुषङ्गाच्च वि[6]रोधः सिद्धः । इत[9]रैकान्ते च इन्दनादेः एकत्वसि[7]द्धेः स सिद्ध इति । ननु न द्रव्यं नापि शक्तिस्तदुभयं वा कारकलक्षणम्, किन्तु [8]क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्; इति चेदत्राह–'**तत एव**' इत्यादि । '**तत एव**' अनन्तरोक्तविरोधादेव **क्रियाकारकयोः** क्रिया अधिश्रयणादिलक्षणा, कारकं कर्त्रादि, तयोः **तत्र** मिथ्यैकान्ते **असंभवो विज्ञेयः** ।

उपसंहारमाह–'**तद्**' इत्यादि । यस्माद् एका[10]न्ते कालकारकलक्षणं नोपपद्यते **तत्** तस्माद् **अनेकान्तसिद्धिः** तत्रैव अस्योपपत्तेः । काभ्यां तत्सिद्धिः ? इत्याह–**विधिप्रतिषेधाभ्याम्**, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षसदसत्त्वाभ्याम् । समर्थितञ्चैतद् अनेकान्तसिद्ध्यवसरे[4] इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ननु एकान्तव्यतिरि[11]क्तस्य शब्दार्थस्यासंभवात् सर्वत्र लिङ्गाद्यसंभवो भवतः स्यादिति चेदत्राह–'**तद्**' इत्यादि । **त[12]स्य** अनेकान्तरूपस्य **अर्थस्य अभिधानात्** प्रतिपादनात् । अ[13]त्रापि '[14]**विधिप्रतिषेधाभ्याम्**' इति सम्बन्धनीयम् । **कुतः** ? न कुतश्चित् **तदभिधानलिङ्गाद्यसंभवोपाल[15]म्भः**, तस्य अनेकान्तार्थस्य **अभिधानं** प्रतिपादकं वचनं तस्य **लिङ्गादिः**, आदिशब्दात् वचनादिपरिग्रहः **तस्याऽसंभवः**, स एव **उपालम्भः कुतः** न कुतश्चित् **स्याद्वादम्** अनेकान्तवादम् **अनुवर्त्तेन** यायात् । ननु सर्वथा भावानामभावात् तदर्थाभिधानमसिद्धम् इत्यत्राह–**नाभावैकान्तः** शून्यतैकान्तः । यथा चासौ नास्ति तथा विषयपरिच्छेदे[5] व्यासतश्चिन्तितम् ।

यतश्च अनेका[16]न्ते तदुपालम्भाभावः अ[17]तः–

(१) अभेदैकान्ते । (२) विरोध । (३) "क्रियाविष्ट द्रव्य कारकमिति प्रसिद्धे ।"–युक्त्यनु० टी० पृ० २८ । (४) पृ० ३६६ । (५) पृ० ११९ ।

1 तद्भेदं वाश्रित्य श्र०, ब० । 2–गता केषाम् आ०,–गता केत्याह भिन्नार्थता केषाम् ब० । 3 संभव मनाग–आ० । 4–दित्याह श्र० । 5–स्पर व्यति–श्र० । 6 विरोधसिद्धः आ०, विरोधसिद्धि श्र० । 7–द्धेः सि–श्र० । 8 क्रियाविशिष्टं श्र० । 9–श्रवणा–ब० । 10 एकान्ते कारक–आ० । 11–रिक्तशब्दा–आ० । 12 तस्याकान्त–आ० । 13 तत्रापि आ० । 14 विधिनिषेधा–आ० । 15–लम्भस्यानेका–श्र० । 16–कान्ते न तद्–आ० । 17 'अतः' नास्ति श्र० ।

[1]एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।
षट्कारकी प्रकल्पेत तथा कालादिभेदतः ॥ ४८ ॥

विवृतिः–प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्कारकीसंभवेऽपि [2]येथैकं स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः तदपेक्षो नयः, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थ-[3]ज्ञानं प्रमाणम् ।

एकस्य वस्तुनः, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः ततोऽनेकस्यापि **[4]प्रकल्पेत** । का ? इत्याह–**षट्कारकी** । कुत इत्याह–**अनेकसामग्रीसन्निपातात्** **अनेका** नाना या **सामग्री** अनेककार्योत्पादककारणसमग्रता तस्याः **सन्निपातात्** । कथं [5]प्रकल्पेत इत्याह–**प्रतिक्षणं**, क्षणं क्षणं प्रति **[6]प्रतिक्षणं** यथा भवति तथा [7]प्रकल्पेत । तथाहि–यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य करणाद् देवदत्तः

(१) "प्रकल्पेत घटेत । का ? षट्कारकी, षण्णां कारकाणां समाहारः षट्कारकी । कस्य ? एकस्यापि जीवादिवस्तुनः अपिशब्दस्याध्याहारात् । कथम् ? प्रतिक्षणम्, क्षणः समयः क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणम् । कस्मात् ? अनेकसामग्रीसन्निपातात्, अनेका बहिरङ्गाऽन्तरङ्गा सामग्री कारणकलापः तस्याः सन्निपातः सन्निधिस्तस्मात् । तथाहि–यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य कर्ता देवदत्तः तदैव ... सन्निधानात् ... कर्म, प्रयोजनापेक्षया देवदत्तेन कार्यतीति करणम्, दीय-मानद्रव्यापेक्षया देवदत्ताय ददातीति सम्प्रदानम्, अपायापेक्षया देवदत्तादपैतीति अपादानम्, तत्रस्थद्र-व्यापेक्षया देवदत्ते ... विरोधाभावात् प्रतीतेः । न हि प्रतीयमाने विरोधो नाम । तथा कालादिभेदतः कालदेशाकाराणां भेदः ... तेनापि षट्कारकी प्रकल्पेत । तथाहि अकरोद्देवदत्तः करोति करिष्यतीति प्रतीतिसद्भावात् । ... षट्कारकीप्रकल्पनवत् कालादिभेदोऽपि प्रकल्पेत । कुतः ? भेदेन ... । सर्वथाऽभिन्ने ... कालादिभेदानुपपत्तेः ।"–लघी० ता० पृ० ६८ । (२) तुलना–"... नया परस्परापेक्षा सम्यक् अन्योन्यमन-पेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपत्तव्यम् ।"–प्रमेयक० पृ० ६८० । "अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदा-भासः ।"–प्रमेयर० ६।७४ । "एवं शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दार्थनिराकरणं कुर्वन्तो दुर्नयाः ।"–न्यायावता० टी० पृ० ९० । "तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्या-दिरिति ।"–प्रमाणनय० ७।३४,३५ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । "पर्यायनानात्वमन्तरेणापि इन्द्रादिभेद-कथनं तदाभासः ।"–प्रमेयर० ६।७४ । "पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः । यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्द-वदित्यादिरिति ।"–प्रमाणनय० ७।३८,३९ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । "क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु ... ।"–प्रमेयर० ६।७४ । "क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षि-पन् तदाभासः । यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रि-याशून्यत्वात् पटवदित्यादिरिति ।"–प्रमाणनय० ७।४२,४३ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

1 प्रकल्प्येत भ०, स० । 2 यथैकस्य–ज० वि० । 3–र्थं ज्ञान ज० वि० । 4 प्रकल्प्येत भ०, स० । 5 प्रकल्प्येत स०, भ० । 6 प्रतिक्षणं क्षणं प्रति आ०, ब० । 7 'प्रतिक्षणं' नास्ति आ० । 8 प्रकल्प्येत भ० ब० ।

कर्त्ता तदैव प्रत्यक्षदेशादिसामग्रीसन्निधानात् स एव कर्म, अन्यकर्मापेक्षया करणम्, तस्मै दीयमानद्रव्याद्यपेक्षया[1] सम्प्रदानम्, तस्माद् आकृष्यमाणभावापेक्षया अपादानम्, तत्र स्थाप्यमानार्थापेक्षया अधिकरणमिति। **तथा** तेन प्रकारेण **कालादिभेदतः** काल आदिर्यस्य देशादेः स तथोक्तः [2]तद्भेदतः **'एकस्य षट्कारकी [3]प्रकल्पेत'** इति सम्बन्धः। तद्यथा आसीद् देवदत्तः कर्त्रादिस्वभावो भवति भविष्यति वा। एवमन्यत्रापि योज्यम्।

कारिकार्थं[(१)] दर्शयन् अत्र सुनयदुर्नयभेदं दर्शयति–**'प्रतिक्षणम्'** इत्यादिना।

विवृतिव्याख्यानम्– क्षणं [4]क्षणं प्रति **प्रतिक्षणम्**, अर्थमर्थं प्रति **प्रत्यर्थञ्च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्कारकीसंभवेऽपि तत्प्रतिक्षेपः** [5]तस्याः षट्कारक्याः **प्रतिक्षेपो** निरासः **दुर्नयः**। कथं तत्संभवः? इत्यत्राह–**यथैकं स्वलक्षणम्, यथा एकं स्वलक्षणं** व्यवस्थितं [6]तथा[(२)] [(३)]यथा भवति तथा [(४)]तत्संभवेऽपि इति। नन्वेकस्य स्वलक्षणस्य [7]अनेकस्य स्वभावस्य कार्यस्य च संभवे तद्वदन्यत्रापि [(५)]तत्संभवः स्यात्, नचासावस्ति, [(६)]तत्संभवे [(७)]तस्यावश्यं भेदात् इत्यत्राह–**'स्वभाव'** इत्यादि। **स्वभावभेदानां कार्यभेदानाञ्च तदभेदकत्वात्** स्वलक्षणाभेदकत्वात्। न खलु सजातीयेतरकार्यभेदे [8]तत्कारणस्वभावभेदे वा स्वलक्षणस्य भेदोऽस्ति। एवं कालादिभेदे षट्कारकीसंभवेऽपि तन्निरासो दुर्नयः इति दर्शयन्नाह–**'[9]तथा'** इत्यादि। यथा सामग्रीभेदे एकस्य षट्कारकीसम्भवेऽपि [(८)]तन्निरासो दुर्नयः, **तथा कालादिभेदेऽपि 'षट्कारकीसंभवेऽपि'** इति सम्बन्धः। अत्रापि **'स्वभाव'** इत्यादि अपेक्ष्यम्। कस्तर्हि नयः? इत्यत्राह–**'तदपेक्षो नयः'** इति। **तस्यां** षट्कारक्याम् **अपेक्षा** यस्य असौ **नयः**। कुतः स नयः? इत्यत्राह–**'स्वार्थ'** इत्यादि। **स्वः** विषयीक्रियमाणो **योऽर्थः** तस्य **प्राधान्येऽपि तद्गुणत्वाद्** अविवक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात्। यदि एवंविधो नयो भवति, प्रमाणं तर्हि कीदृशम्? इत्याह–**'तद्'** इत्यादि। [10]**तद्** अगुणीभूतं **विवक्षिताविवक्षितधर्मोभयम् आत्मा** यस्य [11]**अर्थस्य** तस्य **ज्ञानं प्रमाणम्**। अनेन *"प्रमाणनयैरधिगमः"* [तत्त्वार्थसू० १।६] इत्येतत् सङ्गृहीतम्।

[12]ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः, विकल्पश्च निर्विषय एव [(९)]तत्त्वात् प्रधानादिविकल्पवत्, तत्कथं तेन[(१०)] कस्यचिदधिगमः स्यात्? इत्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह–

(१) शब्दादिषु। (२) एकम्। (३) येन प्रकारेण। (४) कालादिभेदसभवेप्येकमेवेत्यर्थ। (५) अनेकस्वभावकार्यसम्भव। (६) अनेकस्वभावकार्यसभवे। (७) अर्थस्य। (८) षट्कारकीप्रतिक्षेपः। (९) विकल्पत्वात्। (१०) नयेन।

1–व्यापेक्षया श्र०। 2 तदभेदतः आ०। 3 प्रकल्प्येत ब०, श्र०। 4 क्षणं प्रतिक्षणम् ब०। 5 तस्याः निरा–श्र०। 6 यथा तथा भवति श्र०। 7 अनेक स्वभा–आ०, ब०। 8 तत्करण–आ०। 9 तदित्यादि श्र०। 10 तद्गुणी–श्र०। 11 अर्थस्य ज्ञानं श्र०। 12 ननु न नय. श्र०।

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।
प्रामाण्ये चा[1]नुमायाः स्मरणमधिगतार्था[2]विसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयौ[3]घैः ॥४९॥

कारिकाव्याख्यानम्–

व्याप्तिम् अविनाभावं **हेतोः** लिङ्गस्य **साध्येन** लिङ्गिना सह **स्फुटयति** प्रकाशयति **न**, काऽसौ ? **दृष्टिः** दर्शनम् **एकत्र** एकस्मिन् देशे, उपलक्षणमेतत् तेन 'एकदा च[4] या दृष्टिः' इति गृह्यते । सकलदृष्टिरेव स्फुटयति, तत्र[२] च अनुमानमनर्थकमित्यभिप्रायः । केन विना इत्याह–**विना चिन्तया,** तया सहिता तु स्फुटयति । अतः सा[३] प्रमाणान्तरं स्यादिति भावः । कथं तया[४] वि[5]ना सा[५] तां[६] न स्फुटयति इत्याह–**साकल्येन** सामस्त्येन । देशतस्तु यदि स्फुटयति तदा स्फुटयतु, किन्तु त[७]थाऽनुमानानुदयः । कस्तर्हि साकल्येन तां[८] स्फुटयति ? इत्याह–**'एषः'** इत्यादि । **एषः** प्रतिप्राणिस्वसंवेदन-प्रत्यक्षप्रसिद्धः **तर्कः** मानसोऽस्पष्टविकल्पः । कथम्भूतः ? इत्याह–**अनधिगतविषयः** अनधिगतः प्रमाणान्तरेणाऽपरिच्छिन्नः विषयो यस्य स तथोक्तः । स किम् ? इत्याह–**संज्ञानमेव, च** शब्दः एवकारार्थः, अत एव **प्रमाणम्** । यथा चासौ[९] साकल्येन व्याप्तिप्रकाशकः अनधिगतविषयः सज्ज्ञानञ्च

(१) "न स्फुटयति न प्रकाशयति । का ? एकत्र दृष्टि एकस्मिन् महानसादौ साध्यसाधनयो दृष्टिर्दर्शनं प्रत्यक्षमित्यर्थ । काम् ? व्याप्तिमविनाभावम् । कस्य ? हेतो साधनस्य धूमादे । केन सह ? साध्येन अग्न्यादिना सह । केन ? साकल्येन सकलाना देशकालान्तरितसाध्यसाधनव्यक्तीना भाव साकल्य तेन । कथम् ? चिन्तया विना ऊहप्रमाणाभाव इत्यर्थ । न हि दृष्टान्तधर्मिणि साध्य-साधनसम्बन्धदर्शनं साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थमनुमानानर्थक्यप्रसङ्गात् तद्द्रष्टुरभिज्ञत्वापत्तेश्च । तर्हि किं प्रमाण ता स्फुटयतीति चेदुच्यते ? एष तर्क य साकल्येन साध्यसाधनयो व्याप्ति स्फुटयति ज्ञान स एव च सकलानुमानिकप्रसिद्धस्तर्क इत्युच्यते । ननु गृहीतग्राहित्वादस्याप्रामाण्यमित्याशक्याह–अनधिगतविषय । किंविशिष्ट ? सज्ज्ञान सम्यक्ज्ञानमर्थे प्रमाण भवतीति । तथा स्मरण स्मृतिश्च प्रमाणम् । किं विशिष्टम् ? अधिगतार्थाविसवादि, अधिगत प्रत्यक्षेणानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्र अविसवादि विसवादरहितमिति । एतच्च सज्ज्ञानमिति । कस्मिन् सति ? प्रामाण्ये प्रमाणत्वे सति । कस्या ? अनुमाया अनुमानस्य । क्व ? तत्कृतार्थैकदेशे, तेन तर्केण कृतो निश्चित अर्थोऽविनाभावस्तस्यैकदेश साध्य तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतितर्कप्रामाण्याविनाभावित्वादित्यर्थ । अथवा सञ्ज्ञानञ्च प्रत्यभिज्ञा-नञ्च प्रमाणमविसवादाविशेषात् । न केवलमेतत् परोक्षमेव विकल्पात्मक प्रमाणमपि तु सर्वं प्रत्यक्षमपि विकल्पात्मक प्रमाण तस्यैव व्यवहारोपयोगित्वात्, निर्विकल्पकस्य क्वचिदप्यनुपयोगात् । अत कारणा-त्तर्कादिवत् विकल्पात्मकैरेव नयौघै समधिगति सम्यगधिगमो जीवादितत्त्वनिर्णयो भवति । किं भूतै ? सप्तधाख्यै, सप्तधा नैगमादिसप्तप्रकारा आख्या येषा तैरिति ।"–लघी० ता० पृ० ७० । (२) सकलदृष्टौ सर्वज्ञतायाम् । (३) दृष्टि । (४) चिन्तया । (५) दृष्टि । (६) व्याप्तिम् । (७) एकदेशेन व्याप्तिग्रहणे सति । (८) व्याप्तिम् । (९) तर्क ।

1 **वानुमा**–ज० वि० । 2–**र्थादिस**–मु० लघी० । 3–**यो यै** आ० । 4 **च दृष्टि.** आ० । 5 **विना तासा न** आ० ।

भवति तथा व्याप्तिज्ञानपरीक्षायां[1] प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः सिद्धम्– नयस्य निर्विषयत्वे साध्ये 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्केण अनैकान्तिकत्वम् । तथा स्मरणेन च[2], इत्याह–**'स्मरणम्'** इत्यादि । **स्मरणं सर्वं संज्ञानं 'प्रमाणम्'** इति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह–**अधिगतार्थाविसंवादि,** स्वयं स्मरणेन अधिगतो योऽर्थः तदविसंवादि, यदि वा, प्रमाणान्तरेण **अधिगतार्थाविसंवादि ।** कस्मिन् सति ? इत्याह–**प्रामाण्ये** सति । कस्याः ? **अनुमायाः ।** क ? इत्याह– **'तत्कृत'** इत्यादि । **तेन** तर्केण **कृतो** निश्चितोऽर्थः अविनाभावलक्षणः तस्य आधार-भूते एकदेशेऽपि साध्यस्वरूपे, **च** शब्दो भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दार्थः । ततः किं जातम् ? इत्याह–**'समधिगतिः'** इत्यादि । **अतः** अस्मात् नयानां निर्विषयत्वप्रसाधकहेतोः तर्कस्मृत्यनुमानज्ञानैः व्यभिचारित्वलक्षणात् न्यायात् **समधिगतिः** जीवाद्यर्थानां[4] **सप्तधाख्यैः नयौघैः ।**

तैश्च[3] तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जातं तद्दर्शयति–

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम–
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥ ५० ॥

(१) पृ० ४२३ । (२) अनैकान्तिकत्वम् । (३) नयैः । (४) जीवाद्यर्थानाम् । (५) "न स्यात् सकलवित् त्रिकालगोचराशेषद्रव्यपर्यायवेदी न भवेत् । कः ? एकान्तवादी सुगतादिः । किं कुर्वन् ? अलक्षयन् अजानन् । किम् ? तत्त्वम् किं विशिष्टम् ? अनेकान्तभाक् अनेकान्तं द्रव्यपर्यायात्मतां भजत्यात्मसात्करोति इत्यनेकान्तभाक् । पुनः कथम्भूतम् ? शक्यपरीक्षणं शक्यपरीक्षणं संशयादिव्यवच्छेदेन विवेचनं यस्य तथोक्तं लौकिकगोचरमपीत्यर्थः । कथम् ? प्रत्यक्षम्, किं कृत्वा ? अभ्यस्य भावयित्वा । किम् ? स्वमतम् सर्वथैकान्तदर्शनं निरन्वयविनाशादिभावनावहितचेतसोऽनेकान्ततत्त्वमधिगन्तुमनलमिति कथं सर्ववेदित्वं तेषामित्यर्थः । ततः कारणात्, भो अकलंक ज्ञानावरणादिकलङ्करहित, नमस्करवाणि । कस्मै ? तुभ्यम् । कथम्भूताय ? सर्वज्ञाय । पुनः किं विशिष्टाय ? निरस्तमनेकान्ततत्त्वभावनाबलाद्विश्लेषितं बाधकं दोषावरणद्वयं यस्याः सा निरस्तबाधका तादृशी धीर्यस्य तथोक्तस्तस्मै । भूयः किम्भूताय ? स्याद्वादिने । न केवलमहमेव ते नमस्कारोमि किन्तु प्रेक्षावान् परीक्षकः सर्वोपि त्वामेव शरणं याति प्रतिपद्यते, नित्यप्रवृत्तमानविवक्षया एवं वचनात् । किन्नामानम् ? वीरं पश्चिमतीर्थंकरं वर्धमानम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम् बहुविधविषमगहनभ्रमणकारणं दुष्कृतं जयतीति जिनस्तम् "–लघी० ता० पृ० ७२ । (६) पालीभाषाया तु जिनातेर्धातो 'जिनातीति जिनः' इति सिद्धयति । (७) एतच्छ्लोकानन्तरं परिच्छेदसमाप्तिं विधाय ज० वि० प्रतौ निम्नश्लोकः समुल्लिखितः, परञ्च स. तात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण न्यायकुमुदकृता चाऽव्याख्यातत्वात् अर्थप्रकरणदृष्ट्याऽसङ्गतत्वाच्च प्रक्षिप्त एव भाति–"मोहेनैव (नाह नैव) परोऽपि कर्मभिरिह प्रेत्याभिवन्ध पुनः । भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः । कस्माच्चित्रतपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते । किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिता ॥" (अयं श्लोकः यशस्तिलकचम्पूत्तरभागेऽपि पृ० २५७) प्रश्नुतिरूपेण निष्टङ्कितः ।

1–मिप्रस–आ० । 2 भिन्नक्रमः श्र० । 3–तिरिति इत्यादि श्र० । 4–कलङ्कमेति शरणं ज० वि० ।

ततः तस्याः समधिगतेः सकाशात् **एकान्तवादी** सुगतादिः **सकलवित्** सर्वज्ञो **नेति** 'ज्ञायते' इत्यध्याहारः। किं कुर्वन्? **अलक्षयन्,**
कारिकार्थ –
अनिश्चिन्वन्। किम् इत्याह–**तत्त्वं** जीवादि। कथम्भूतम्? इत्याह– **अनेकान्तभाक्** अनेकान्तात्मकम्। पुनरपि कथम्भूतम्? इत्याह–**शक्यपरीक्षणम्,** अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। **शक्यं परीक्षणं** संशयादिव्यव[1]च्छेदेन स्वरूपविवेचनं यस्य तत् तथोक्तम्। तदपि पृथग्जनलक्ष्यमपि इत्यर्थः। पुनरपि कथम्भूतम्? **प्रत्यक्षम्,** प्रत्यक्षग्राह्यमपि, अत्रापि अपिशब्दो द्रष्टव्यः। किं कृत्वाऽलक्षयन्? इत्याह– **अभ्यस्य,** किम् इत्याह– **स्वमतम्,** एकान्तम्, अथवा सुष्ठु अमतमज्ञानं क्षणिकनिरंशतत्त्वम्। अनेन जीवादितत्त्वालक्षणे कारणमुक्तम्। ननु तल्लक्षणे किं प्रयोजनम्? इति चेदत्राह–**प्रेक्षावान्** इत्यादि। अत्रापि **'ततः'** इत्येतदपे[2]क्ष्यम्, [3]ततोऽयमर्थः सिद्ध.–**त[4]तः** तज्ज्ञानात् **प्रेक्षावान्** परीक्ष[5]को लोकः **अकलङ्कः** निर्दोषः अतत्त्वाभ्यासरहितः। **त्वामेव याति शरणम्।** किंविशिष्टं त्वा[6]म्? **वीरम्,** वीरनामानम् अन्ति[7]म तीर्थकरदेवम्। यदि वा, विशिष्टाम् अन्यजनासाधारणाम् ईम् अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्षणां श्रिय रातीति **वीरः** तीर्थकरसमु[8]दयः तम्। पुनरपि कथम्भूतम्? **जिनम्,** संसारसमुद्रावर्त्तपरिभ्रामककर्मचक्रोन्मूलकम्। न केवलं त्वामुक्तविशेषणं शरणमेव यात्ययं प्रेक्षावान् जनः, किन्तु नमस्करोति च। केन विशेषणेन? इत्याह–**सर्वज्ञाय** सकलविदे। कथम्भूताय? इत्याह–**निरस्तबाधकधिये,** निरस्ता बाधकानाम् एकान्तवादिनां धीर्येन। यदि वा, **निरस्तं बाधकं** यस्याः सा तथाविधा **धी**र्यस्य. **निरस्ता** वा **बाधिका धी**र्यस्य तस्मै। पुनरपि कथम्भूताय? **स्याद्वादि[9]ने ते** तुभ्यं **नमः स्तात्** नमस्कारोऽस्तु इति। 'अकलङ्काय वीराय जिनाय' इति विभक्तिपरिणामेन [10]उत्तरं पदत्रय योज्यमिति।

स्याद्वादोग्ररवेरशेषविषयप्रद्योतिनो देशतः,
तद्रूपप्रतिरूपणाय गदिताः सप्तैव ते सन्नयाः।
किं भास्वान्निखिलप्रकाशनपटुर्बालाग्रमप्युच्चकैः,
शक्तो द्योतयितुं विनोन्नतकरैर्निर्मूल्य बाढं तमः? ॥ छ ॥

[11]इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः[12]॥ छ ॥



एवं प्र[13]कान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः।



1–च्छेदे स्व–आ०। 2–पेक्षम् आ०। 3 ततोप्यर्थः आ०। 4 तत ज्ञानात् आ०। 5–कोऽकल–श्र०। 6 त्वा वीरनामानं आ०। 7–मतीर्थं–श्र०, ब०। 8–मुदायः श्र०। 9–दिनें तुभ्य आ०। 10 उत्तरपदत्रय आ०। 11 इति श्रीमत्प्रभाचन्द्रदेववि–ब०। 12–दः समाप्तः ब०। 13 एकान्त–ब०।

तृतीये प्रवचनप्रवेशे

षष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः ।



सत्यस्वच्छजलः सुरत्ननिचयः सज्ज्ञानवीचीचयः,
युक्तथावर्त्तहतस्वरूपकुमतप्रौढोग्रनक्रक्रमः[1] ।
स्फारागाधगभीरमूर्तिरसमध्वानो जनानन्दनः,
स्याद्वादोदधिरेष वाञ्छितफलं दद्यात् समासेवितः[2] ॥ १ ॥

अथ प्रमाणनयस्वरूपं निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं पृथक् निरूपयितुमुपक्रमते, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्यमङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—

प्रणिपत्य महावीरं[3] स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ७१ ॥

प्रणिपत्य नत्वा । कम् ? **वीरम्** अन्तिमतीर्थकरं तीर्थकरसमुदायं वा[4] । कारिकार्थ – किंविशिष्टम् ? **स्याद्वादेक्षणसप्तकं**[1] । स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्गमयो वादः **स्याद्वादः ईक्षणसप्तकं** यस्य स तथोक्त. तम् । ननु स्याद्वादस्य ईक्षणव्यपदेशः मुख्यतः, उपचारतो वा स्यात् ? न तावत् प्रथमः पक्षः; चक्षुष्येव मुख्यतः तद्व्यपदेशप्रसिद्धेः[2] । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, यतो रूपादिप्रतिपत्ते. हेतुभूतं चक्षुः ईक्षणं लोके प्रसिद्धम् । न च भगवतः तत्प्रतिपत्तौ[3] स्याद्वादो हेतुभूत', तत्कथमस्य[4] उपचारतोऽपि ईक्षणव्यपदेशः ? अथ[5] अपरमनेनासौ[6] बोधयतीति तत्प्रतिपत्तेर्हेतुभूतत्वात् तद्व्यपदेशः[7]; तर्हि परस्यैव तदीक्षणसप्तकं[8] न भगवतः, अन्यदीयात्ततो अन्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात्; तदसमीचीनम्; अन्यथा व्याख्यानात् । **स्याद्वाद** एव **ईक्षणसप्तकं** यस्माद् भव्यानां स तथोक्तस्तम् । यदि वा, ईक्षणसप्तकमिव **ईक्षण-**

---

(१) स्यादस्तीत्यादिसप्तभगमयो वाद स्याद्वाद ईक्षणाना सप्तकम् ईक्षणसप्तकम् स्याद्वाद एवेक्षणसप्तक यस्माद्विनेयाना भवत्यसौ तथोक्तस्तम् । न खलु निरुपकार प्रेक्षावता प्रणामार्होऽनिप्रसङ्गात् ।"–लघी० ता० पृ० ७४ । (२) ईक्षणव्यपदेश । (३) रूपादिप्रतीतौ । (४) स्याद्वादस्य । (५) स्याद्वादेन । (६) भगवान् । (७) ईक्षणव्यपदेश । (८) स्याद्वाद ।

1–वक्रक्रमः श्र० । 2 तदा सेवित. व०, श्र० । 3 क वीरं आ० । 4 अन्तिमतीर्थंकरसमुदय वा आ० । 5–अथ रमनेना–आ०, अथ परमतेना–व० ।

सप्तकं स्याद्वादः तत् सप्तक यस्यासौ स तथोक्तः तमिति । किं पुनः [१]तत्सप्तकेन[1] स्याद्वादस्य साधर्म्यं येनैवमुच्यते इति चेत्; उपदेशाद्यनपेक्षाऽर्थज्ञानजनकत्वम् । यथैव हि ईक्षणात् परोपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकनिरपेक्ष रूपादिज्ञान जायते तथा स्याद्वादाद् भगवत. केवलज्ञानमिति । तमित्थम्भूतम् इष्टदेवताविशेष **प्रणिपत्य** वक्ष्यमाणलक्षण-लक्षितान् **प्रमाणनयनिक्षेपान् अभिधास्ये**। कथम् ? **यथागमम्**, आगमानतिक्रमेण । अनेन[3] तत्र [२]आत्मनः स्वातन्त्र्यं परिहृतम् ।

तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षण प्रतिपादयन्नाह–

ज्ञानं[३] प्रमाणमात्मादेः उपायो न्यास इष्यते[4] ।
नयो[४] ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥ ५२ ॥

विवृतिः–ज्ञानं[५] प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । विषमोऽयमुपन्यासः असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम्; अर्थस्य तदकारणत्वात् तस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात् । [६]न हि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।

ज्ञानमेव प्रमाणमेव इत्याद्यवधारण सर्वत्र द्रष्टव्यम् । कस्य तत् ।

कारिकार्थ – इत्याह–**आत्मादेः** । आदिशब्देन पुद्गलादिपरिग्रह· । ननु ज्ञानार्थयोः तादात्म्यादिसम्बन्धासभवात् कथं [७]तत्[८]तस्य इत्युच्यते[5] इति चेत्, न, तदभावेऽपि विषयविषयिभावलक्षणसम्बन्धसभवात् । [९]तदभावे [१०]सोऽपि

(१) ईक्षणसप्तकेन । (२)ग्रन्थकर्तु । (३) "इष्यते अभ्युपगम्यते सकलविप्रतिपत्तीना प्रागेव निरस्तत्वात् । किम् ? प्रमाणम् । किंविशिष्टम् ? ज्ञान जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञानमित्युच्यते, द्रव्यपर्याययो भेदाभेदविवक्षाया कर्त्रादिसाधनोपपत्ते । कस्य ? आत्मादे आत्मा स्वरूपमादिर्यस्य वाह्यार्थस्य स आत्मादि तस्य स्वार्थस्य ग्राहकमित्यर्थ । अथवा आत्मा चिद्द्रव्यमादिशब्देन आवरणाना क्षयोपशम क्षयश्चान्तरङ्ग वहिरङ्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रिय गृह्यते, तस्मादुपजायमानमित्यध्याहार । तथा इष्यते । क ? नय· । किं रूप. ? अभिप्राय विवक्षा । कस्य ? ज्ञातु श्रुतज्ञानिन । तथा इष्यते । क ? न्यासो निक्षेप । किंविशिष्ट ? उपाय अधिगमहेतु· नामादिरूप । अर्थस्य स्वत सिद्धत्वात् किमेतै प्रमाणादिभिरित्याशक्याह–युक्तीत्यादि । युक्तित प्रमाणनयनिक्षेपैरेवार्थस्य जीवादे परिग्रह· प्रमितिर्न स्वत इति ।"–लघी० ता० पृ० ७५ । तुलना–"ज्ञान प्रमाणमित्याहुर्नयो ज्ञातुर्मत मत ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१८ A । प्रमाणस० पृ० १२७ । उद्धृतोयम्–'ज्ञान प्रमाणमित्याहु '–धवलाटी० पृ० १७ । (४) तुलना–"ज्ञातॄणामभिसन्धय खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायत, तत्र द्रव्यमनन्तपर्ययपद भेदात्मका पर्यया ।"–सिद्धिवि०, टी० ५१७ A । (५) तुलना–"ज्ञान प्रमाण नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि "–प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३ । लघी० टि० पृ० १३२ । "ज्ञानमेवेत्यवधारणात् सन्निकर्षादेरसंविदितात्मनो व्युदास ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१८ A । (६) तुलना–"नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।"–परीक्षामु० २।६ । प्रमाणमी० १।१।२५ । (७) ज्ञानम् । (८) अर्थस्य । (९) तादात्म्यादिसम्बन्धाभावे । (१०) विषयविषयिभावोऽपि ।

1–क्तमिति व० । 2–केन स्यासा–आ० । 3 अनेन आत्म–श्र० । 4 उच्यते ज० वि० । 5–च्येतेति व० ।

कथम् ? इत्यपि वार्त्तम्; तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि प्रदीपार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभाववत् ज्ञानार्थयोः विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात्। ननु च आत्मादेरभावान्न किञ्चित्तस्य ज्ञानम् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्य[1] विषयपरिच्छेदे[2] प्रबन्धेन प्रसाधितत्वात्। यदि वा, **आत्मा** स्वरूपम्, **आदि**शब्देन अर्थपरिग्रहः, तेन स्वार्थयोः इत्ययमर्थः सिद्धो भवति। प्रसाधितञ्च स्वपरव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्य प्रपञ्चतः स्वसंवेदनसिद्धौ[3] इत्यलं पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन। अथ को निक्षेपः ? इत्याह–**'उपाय'** इत्यादि। **उपायः** कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादि **न्यासो** निक्षेपः **इष्यते**। **नयो ज्ञातुरभिप्रायः**, प्रमाणविषयीकृतेऽर्थे एकांशविषयो **ज्ञातुः** प्रमातुर**भिप्रायः**। किं फलमेतेषां स्वरूपव्यावर्णने ? इत्याह–**युक्तितः**[4] प्रमाणादिलक्षणायाः **अर्थस्य परिग्रहः** स्वीकारः। उपलक्षणमेतत् तेन अनर्थपरिहारोऽपि गृह्यते।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'ज्ञानं प्रमाणम्'** इत्यादि। **प्रमाणं**[5] धर्मि **ज्ञान**मिति साध्यम्,

विवृतिव्याख्यानम्–

'प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः' इति हेतुरत्र द्रष्टव्यः। ननु सन्निकर्षादिना[1] अयं हेतुर्व्यभिचारी, तस्याऽज्ञानरूपस्यापि अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसायात्मकज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वसंभवात् इत्यत्राह–**'कारणस्यापि'** इत्यादि। **कारणस्यापि** यथोक्तज्ञान[2]जनकस्यापि सन्निकर्षादेर**चेतनस्य** सतः **प्रामाण्यमनुपपन्नम्**। अत्र दृष्टान्तमाह–**असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत्**। सन्निकर्षः सन्निकृष्टं तच्च इन्द्रियञ्च अर्थश्च सन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः, विवक्षितेभ्यस्तेभ्यः अन्ये **असन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः** तेषामिव **तद्वत्**। यद्वा, **असन्निकृष्टौ** च तौ **इन्द्रियार्थौ** च तयोरिव **तद्वत्**। यद्वा, प्रयोगः–विवादगोचरापन्नं सन्निकर्षादि अप्रमाणम् अचेतनत्वात्[6] अविवक्षितसन्निकर्षादिवत्। यथा च अचेतनस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यन्नोपपद्यते तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे[7] प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्।

अत्राह परः–**'विषमः'** इत्यादि। **विषमः** दार्ष्टान्तिकेन समानो न भवति **उपन्यासो** दृष्टान्तरूपः। तदेव वैषम्यं दर्शयति–**'असन्निकृष्टस्य'** इत्यादिना। **असन्निकृष्टस्य** इन्द्रियार्थलक्षणस्य वस्तुनः **तदकारणत्वात्** विवक्षितज्ञानाहेतुत्वात्। एतदुक्तं भवति–यदि नैयायिकादिः चेतनत्वेन क्वचित् प्रामाण्यमभ्युपगच्छति तर्हि दृष्टान्ते चैतन्याभावे यथा प्रामाण्याभावः तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि स्यात्, यावता ज्ञानकारणत्वेन तदभ्युपगतम्। तत्कारणत्वञ्च दृष्टान्ते यद्यपि नास्ति तथापि दार्ष्टान्तिके अस्ति इति

(१) आत्मादे। (२) पृ० ३४३। (३) पृ० १७६। (४) तुलना–"एत्थ किमट्ठ णयपरूवणमिदि ? प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तञ्चायुक्तवद् भाति तस्यायुक्तञ्च युक्तवत्॥"–धवलाटी० पृ० १६। (५) तुलना–"सम्यग्ज्ञान प्रमाण प्रमाणत्वान्यथानुपपत्ते।"–प्रमाणप० पृ० ५१। प्रमेयक० पृ० ७। स्या० र० पृ० ४१। प्रमेयर० १।१। प्रमाणमी० पृ० २। (६) तुलना–"न ह्यचेतनोऽर्थः स्वप्रमितौ करण घटादिवत्।"–प्रमाणप० पृ० ५१। (७) पृ० २९। (८) प्रामाण्य स्वीकृत न चेतनत्वेन नाप्यचेतनत्वेनेति भाव।

1–दीनामयं ब०। 2–ज्ञानकस्यापि आ०।

सिद्धमस्य[1] प्रामाण्यमिति। अत्र दूषणमाह–'**नैतत्सारम्**' इत्यादि। **एतत्** ज्ञानकारणत्वेन प्रमाणत्व **न सारम्**। कुत एतदित्याह–'**अर्थस्य**' इत्यादि। **अर्थस्य** ज्ञानविषयस्य घटादेः **तदकारणत्वात्** स्वग्राहिज्ञानाजनकत्वात्। एतदपि कुतः इत्याह–'**तस्य**' इत्यादि। **तस्य** घटादिज्ञानस्य **इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्**। अर्थनिमित्तत्व कुतो नेति चेदत्राह–**अर्थस्य विषयत्वात्** परिच्छेद्यत्वात्। ननु 'विषयश्च स्यात् कारणञ्च' इति कोऽनयोर्विरोधः? इत्यत्राह–'**नहि**' इत्यादि। **हि**र्यस्मात् **न तस्य** ज्ञानस्य **परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतां** ज्ञानहेतुताम् **आत्मसात्कुर्यात्**। अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–**प्रदीपस्येव घटादिरिति**। अत्रायमभिप्रायः–यथा प्रदीपप्रकाश्यो घटादिः न[2] प्रदीपकारणतामात्मसात्करोति तथापि प्रदीपेन प्रकाश्यते तथा ज्ञानप्रकाश्योऽप्यसौ तत्कारणतामनात्मसात्कुर्वन्नपि तत्प्रकाश्य इति। अनेन परपरिकल्पितः "*नाकारणं विषयः*" [ ] इति नियमो निरस्तः, प्रदीपं प्रत्यकारणस्यापि घटादेः तत्प्रकाशनविषयतोपलब्धेः।

किञ्च, 'नाकारण विषयः' इत्यभ्युपगच्छता किं कारणमेव[3] विषय इत्यभिप्रेतम्, कारणं विषय एव इति वा? प्रथमपक्षे विज्ञानस्वरूपसंवेदनानुपपत्तिः। नहि स्वरूप स्वस्यैव कारणम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। द्वितीयपक्षे तु चक्षुरादेरपि विषयत्वप्रसक्तिः कारणत्वाविशेषात्। किञ्च, अर्थस्य ज्ञान प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियम परिकल्प्येत[4], असिद्धे वा? न तावदसिद्धे, अतिप्रसङ्गात्। अथ सिद्धे, कुतस्तत्सिद्धिः–तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा? न तावत् तत एव, यतः–

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत्॥५३॥

(१) सन्निकर्षस्य। (२) घटाद्यर्थ। (३) ज्ञान प्रति हेतुताम्। (४) ज्ञानेन प्रकाश्यो भवतु। (५) सौगत। (६) "कारणीभावो हि विषयीभाव उच्यतेऽस्माभिर्न सम्बन्ध। तथाहि–रूपादिर्विषयश्चक्षुषो विज्ञानोत्पत्तौ सहकारिता प्रतिपद्यमानो विषयीभवतीत्युच्यते। द्विविधश्च सहकारार्थ परस्परोपकारको वा यथा 'एकार्थक्रिया वा ययोन्मिषितमात्रेण रूप गृह्णत। उभयथापि विज्ञानस्य कारणविशेष एव विषय उच्यते।"–तत्त्वसं पं० पृ० ६८३। (७) तुलना–"तथाहि–किं कारण विषय एव, उत कारणमेव विषय? प्रथमपक्षे रूपादिसंविदा चक्षुराद्यपि विषयो भवेत् द्वितीयपक्षेपि भविष्यति रोहिण्युदय कृत्तिकोदयादतीतक्षपायामिव इत्यस्यानुमानस्य भावी रोहिण्युदयोऽकारणत्वाद्विषयो न स्यात्"–सन्मति० टी० पृ० ५१०। (८) विज्ञानस्वरूपसंवेदन हि तदा स्याद् यदा विज्ञानस्य स्वरूप स्वसंवेदन प्रति कारण स्यात्। न चैतदस्ति। (९) "विद्यात् जानीयात्। किम्? ज्ञानम्। कथम्? अयमर्थ इति। पुनर्न विद्यात्, काम्? उत्पत्तिम् अहमस्मादुत्पन्नमिति स्वजन्म। कस्मात्? अर्थत घटादे सकाशात्। इदञ्च प्रमेय प्रतीतिसिद्धमेव, अन्यथा यद्यर्थात् स्वोत्पत्तिं ज्ञान विद्यात् तदा वादिप्रतिवादिनोर्विवादो ज्ञानमर्थादुत्पन्न न वेति विप्रतिपत्ति', किंवत्? कुलालादिघटादिवत्, यथा कुलालादेः सकाशाद् घटादेर्जन्मनि प्रतीतिसिद्धे कस्यापि न विवादोऽस्ति तथाऽर्थात् ज्ञानजन्मन्यपि विवादो मा भूत्, अस्ति चाय विवाद स्याद्वादिनां ज्ञानजन्मनीति।"–लघी० ता० पृ० ७६।

1–स्याप्रामा–श्र०। 2 न दीप–आ०, श्र०। 3 कारणहेतव विषय श्र०। 4 परिकल्पेत आ०, ब०।

विवृतिः-अर्थं परिच्छिन्दद्विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव । नहि ततः स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छित्तिः अनुत्पन्नत्वात् । उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ।

कारिकार्थ – घटाद्यर्थग्राहकं हि **ज्ञानं** 'देशकालाकारविशिष्टो घटाद्यर्थोऽयम्' इत्यनेनोल्लेखेन अर्थमेव **विद्यात्, न उत्पत्तिम्** आत्मलाभ**मर्थतो** विद्यात्[1] । अथ तत्[१] ततः[२] तां[३] वेत्ति इत्युच्यते, अत्राह–**'अन्यथा'** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन तत्परिज्ञानप्रकारेण **न विवादः स्यात्** । यस्य यस्मादुत्पत्तिः प्रत्यक्षतः प्रतीयते न तस्य तदुत्पत्तौ कस्यचिद् विवादः यथा कुलालाद् घटस्य, विवादश्च ज्ञानस्य अर्थादुत्पत्तौ, तस्मात्[2] सा[४] तस्य[५] प्रत्यक्षतो न प्रतीयते इति ।

अथ[६] प्रमाणान्तरात्तस्य अर्थकार्यता प्रतीयते–ननु तत्किं प्रत्यक्षरूपम्, अनुमानरूपं वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षरूपम्, तत्किं ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषयं वा स्यात् ? तत्राद्यविकल्पद्वये तयोः[७] कार्यकारणभावप्रतीतिरनुपपन्ना, एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वात्, ययोः एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वं न तयोः कार्यकारणभावप्रतीतिः यथा रूपरसयोः धूम[3]पावकयोर्वा, एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वञ्च अर्थज्ञानयोरिति । अथ उभयविषयप्रत्यक्षात् तत्प्रतीतिः; तन्न, तथाविध[८]प्रत्यक्षस्य अस्मादृशाम[4]सम्भवा[5]त् ।

किञ्च, तदुभयविषयं प्रत्यक्षं ताभ्या[९]मुत्पन्नं सत् तयोः कार्यकारणभावं प्रत्येति, अनुत्पन्नं वा ? न तावदनुत्पन्नम्, आद्यज्ञानस्यापि अर्थादनुत्पन्नस्य अर्थग्राहकत्वप्रसङ्गा[6]त् । अथ उत्पन्नम्; तर्हि तस्यापि त[१०]दुत्पत्तिः अपरस्मात् त[११]त उत्पन्नाज्ज्ञानात् प्रत्येतव्या तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्था । आद्यात् द्वितीयस्य, द्वितीयाच्चाद्यस्य त[१२]त्प्रतीतौ अन्योन्याश्रयः । तन्न प्रत्यक्षरूपात्प्रमाणान्तरात् ज्ञानस्य अर्थकार्यतासिद्धिः । नापि अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वलक्षणानुमानरूपात्; तस्य अनन्तरकारिकायां निराकरिष्यमाणत्वात् ।

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–**'अर्थम्'** इत्यादि । **अर्थं** घटादिकं **परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः** स्वस्य **कारणान्तरमपरं** परपरिकल्पितादर्थलक्षणकारणाद् अपरमेव चक्षुरादिलक्षणं कारणान्तरं **सूचयति** । कुत एतदित्याह–

(१) ज्ञानम् । (२) अर्थात् । (३) उत्पत्तिम् । (४) उत्पत्तिः । (५) ज्ञानस्य । (६) तुलना–"किञ्चार्थकार्यतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः प्रतीयते प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं तत एव प्रत्यक्षान्तराद्वा ? · अथ प्रमाणान्तरात्तस्यार्थकार्यता प्रतीयते, तत्किं ज्ञानविषयमर्थविषयमुभयविषयं वा स्यात् ?"–प्रमेयक० पृ० २३२ । (७) ज्ञानार्थयोः । (८) ज्ञानार्थोभयग्राहि । (९) उभयाभ्यां ज्ञानार्थाभ्याम् । (१०) ताभ्यामर्थज्ञानाभ्यामुत्पत्तिः । (११) उभयात् । (१२) तदुत्पत्तिप्रतीतौ ।

1 विन्द्यात् अथ श्र० । 2–स्मात्तस्य श्र० । 3–पाचकयोर्वा आ० । 4–मभावात् श्र० । 5–वात्तदुभय–ब० । 6–ज्ञातस्यापि श्र० ।

'**नहि**' इत्यादि । **न**[1] **हि यस्मात् ततोऽर्थात् स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य**[2] स्वरूपलाभमर्थयमानस्य **तत्परिच्छित्तिः** अर्थपरिच्छित्तिः । कुत इत्याह–**अनुत्पन्नत्वात्** । यदनुत्पन्नं[१] सद् यदा यत[3] आत्मलाभं लभते न तत्तदा[२] तस्य परिच्छेदकम् यथा अलब्धात्मलाभावस्थायां पितुः पुत्रः, अनुत्पन्नं सदर्थादात्मलाभं[4] लभते च उत्पत्तिक्षणे[5] ज्ञानमिति । अथ उत्पन्नस्य सतो ज्ञानस्य अर्थग्रहणे व्यापारो भविष्यति इत्युच्यते; अत्राह–'**उत्पन्नस्यापि**' 'इत्यादि । न केवलमनुत्पन्नस्य अपि तु **उत्पन्नस्यापि** ज्ञानस्य[6] **कारणे** स्वजनके[7] **न व्यापारः** तद्ग्रहणलक्षणः । अत्र दृष्टान्तमाह–**करणादिवत्** । **करणं** चक्षुरादि **आदि**र्यस्य अदृष्टादेः तत्रेव **तद्वदिति** । प्रयोगः–अर्थो न ज्ञानकारणम्, तेन परिच्छिद्यमानत्वात्, यत्तु तत्कारणं न तत्तेन परिच्छिद्यते यथा चक्षुरादि, परिच्छिद्यते च ज्ञानेनार्थः, अतस्तत्कारणन्न भवतीति । न च आलोकेन अनेकान्तः; तत्र ज्ञानकारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । तर्हि पुत्रेण अनेकान्तः, पितुरुत्पन्नस्याप्यस्य[३] तत्परिच्छेदकत्वात्[४], इत्यप्यसत्, पुत्रशरीरस्यैव तत[५] उत्पत्तेः, न च[8] तत्[६] तत्परिच्छेदकं[७] किन्तु ज्ञानम्, तच्च[८] ततो[९] नोत्पद्यते चक्षुरादित एवास्योत्पत्तेः[१०] । कथमेवं पूर्वप्रयोगे[११] तस्य[१२] दृष्टान्ततोपपद्यते ? इत्यप्यचोद्यम्; शरीरतः[१३] तद्विशिष्टज्ञानतो वाऽ[१४]लब्धात्मलाभस्य परिच्छेदकत्वाभावमात्रापेक्षया तस्य[१५] तदुपपत्तेः[१६] संभवात् ।

ननु च अर्थकार्यतया ज्ञानं स्वयमेव आत्मानं प्रतिपद्यते, अतः[9] तद्बाधितकर्म[१७]निर्देशानन्तर[10] प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः '[11]परिच्छिद्यमानत्वात्' इति हेतुः, इत्यत्राह–'**यदि**' इत्यादि । **यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोः**, आत्मनः[१८] कार्यभावम् अर्थस्य कारणभावं **विज्ञानं** कर्तृ **परिच्छिन्द्यात्**, तदा न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति । क ? इत्याह–**कर्तृकरणकर्मसु** । अर्थः[१९] **कर्त्ता**, चक्षुरादि **करणम्**, ज्ञानं **कर्म**[२०], तेषु इति । यत्र कारणकार्यभावो निर्बाधायां संविदि प्रतिभासते न तत्र कर्त्रादित्रये कश्चिद् विप्रतिपद्यते यथा कुलालघटयोः, विप्रतिपद्यते च अर्थज्ञानयोः कर्त्रादौ जैनादिरिति ।

'ननु सर्वत्र अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावः, तौ चात्रापि विद्येते–अर्थे

(१) ज्ञानं नार्थस्य परिच्छेदकम् अनुत्पन्नं सदर्थाल्लब्धात्मलाभत्वात् । (२) उत्पत्तिक्षणे । (३) पुत्रस्य । (४) पितृपरिच्छेदकत्वात् । (५) पितुः । (६) पुत्रशरीरम् । (७) पितृपरिच्छेदकम् । (८) ज्ञानम् । (९) पितुः । (१०) ज्ञानस्य । (११) यदनुत्पन्नं सदित्यादिप्रयोगे । (१२) पुत्रस्य । (१३) शरीररूपेण । (१४) शरीरविशिष्टज्ञानरूपेण वाऽनुत्पन्नस्य । (१५) पुत्रस्य । (१६) दृष्टान्ततोपपत्तेः, यथा हि शरीररूपेण विशिष्टज्ञानात्मकतया वाऽनिष्पन्नः पुत्रः न पितृपरिच्छेदकः तथैव ज्ञानमनुत्पन्नं सन्नार्थस्य परिच्छेदकम् । (१७) स्वसंवेदनप्रत्यक्षबाधितसाध्यप्रयोगानन्तरम् । (१८) स्वस्य–ज्ञानस्य । (१९) ज्ञानस्योत्पादकत्वादर्थः कर्त्ता । (२०) अर्थाज्जायमानत्वाज्ज्ञानं कर्म ।

1 न हि यस्मात् आ०, ब० । 2–स्वरूपला–ब० । 3 यत्त ब० । 4 सदर्थात्मलाभ आ०, श्र० । 5–त्तिलक्षणे श्र० । 6 परिज्ञानस्य ब० । 7–केवलनव्यापा–श्र० । 8 च तत्परि–श्र०, ब० । 9 अतस्तदाधि–आ० । 10–नन्तरप्रयु–आ०, ब० । 11 परिच्छेद्य–ब० ।

सत्येव ज्ञानस्योत्पत्तेः तदभावे चाऽनुत्पत्तेः। प्रयोगः–[1]यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम् यथा अग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुरोति च ज्ञानमर्थस्य' इत्याशङ्क्याह–

अन्वयव्यतिरेकाभ्याम[3]र्थश्चेत् कारणं विदः।
संशयादि[1]विदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥

विवृतिः–बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेकावनुकुर्वती व्यभिचरेन्नाम ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात्। तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादिहेतुत्वे [2]कमर्थमर्थः पुष्णाति इति मृग्यम्। सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात्। ततः सुभाषितम्[5]–'इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः' इति।

कारिकार्थ – अर्थसद्भावे भावोऽ**न्वयः** तदभावेऽभावो **व्यतिरेकः** ताभ्याम**र्थश्चेद्** यदि **कारणं विदो** ज्ञानस्य। अत्र दूषणमाह–**'संशय'** इत्यादि। **संशयः आदिर्यस्याः** सा चासौ **वि[8]त्** च तस्य **उत्पाद** आत्मलाभः **कौतस्कुत इत्येवमीक्ष्यतां** पर्यालोच्यताम्।

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां व्याख्यातुमाह–**'बुद्धेः'** इत्यादि। **बुद्धेरेव व्यभिचारः** अन्यदेशादिविशि[4]ष्टस्यार्थस्य अन्यदेशादिना ग्रहणलक्षणो **नार्थस्य, 'व्यभिचारः'** इति सम्बन्धः। स हि यथार्थामयथार्थां वा अन्वयव्यतिरेकावनु-

(१) ज्ञानमर्थकार्यम् अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। (२) "चेद्यदि कारण कथ्यते। क ? अर्थो विषय । कस्याः ? विदो ज्ञानस्य। काभ्याम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्, सति भवनमन्वय असत्यभवनं व्यतिरेकः ताभ्याम्। तथाहि–ज्ञानमर्थकारणकं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति। तदा कौतस्कुत स्यात्, कुतस्कुत आगतः कौतस्कुत । क ? सशयादिविदुत्पाद सशयविपर्यासज्ञानोत्पत्ति। इत्येवमीक्ष्यता तद्वादिभि स्वमनसि पर्यालोच्यताम् अर्थाभावेऽपि संशयाद्युत्पत्ते । न हि स्थाणुपुरुषात्मक केशोण्डुकस्वभावो वार्थस्तज्ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियते, ततो भागासिद्धमर्थान्वव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्येति।" **–लघी० ता० पृ० ७६।** (३) अत्रायं पूर्वपक्ष–"अर्थस्य च ज्ञानजनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते। यदा हि देवदत्तार्थी कश्चिद् व्रजति तद्गृहम्। तत्रासन्निहित चैन गत्वापि न स पश्यति ॥ क्षणान्तरे स आयान्त देवदत्त निरीक्षते। तत्र तत्सदसत्त्वेन तथात्वं वेत्ति तद्धिय ॥ अनागते देवदत्ते न देवदत्तज्ञानमुदपादि तस्मिन्नागते तदुत्पन्नमिति तद्भावभावित्वात्तज्जन्यत्व तदवसीयते।" **–न्यायम० पृ० ५४४।** (४) "तिमिरमक्ष्णोर्विप्लव , इन्द्रियगतमिद विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणमलातादे , मन्द हि भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगत विभ्रमकारणम्। नावा गमन नौयानम्। गच्छन्त्या नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम्। एतच्च बाह्याश्रयस्थित विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते। एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम्।" **–न्यायवि० टी० पृ० १६।** (५) उद्धृतमिदम्–"इन्द्रियनसी विज्ञानकारणमिति वचनात्।" **–न्यायवि० वि० पृ० ३२ A.।** "तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारण नार्थोऽपीत्यकलकैरपि ।" **–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३३०।**

1–दिचिदुत्पा–आ०। 2 **किमर्थमर्थ** ज० वि०। 3 **चित्** आ०। 4–शिष्टस्यान्यदे–ब०।

कार्यन् बुद्धिं जनयत्येव। *"सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्"* [ ] इत्यभ्युपगमात्। केशोण्डुकादिज्ञानस्यापि अक्षिपक्ष्मादिनिबन्धनत्वादिति। पूर्वार्द्धं व्याख्यातम्। उत्तर-मुत्तरार्द्धं व्याचक्षाणः प्राह-**'कथम्'** इत्यादि। **कथं** केन प्रकारेण **अव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेकावनुकुर्वती** बुद्धिः अर्थं **व्यभिचरेन्नाम**? नैव व्यभिचरेत्। यथैव हि व्यवस्थितोऽर्थ. तथैव गृह्णीयात्, तत आत्मलाभलक्षणत्वादव्यभिचारस्य। व्यभिचरति च। अतो यथा अन्यदेशादिसम्बद्धस्य धर्मस्यासत एव ग्रहणं तथा धर्मिणोऽप्यसत एव ग्रहणसम्भवान्न विपरीतख्यात्यै(त्ये)कान्त. श्रेयान्, असत्ख्यातेरपि प्रसङ्गात् इत्यभिप्रायः। एतदेव दर्शयन्नाह-**'ततः'** इत्यादि। **ततः** तस्माद् बुद्धेर्व्यभिचारात् **संशयादिज्ञानमहेतुकम्,** अर्थलक्षणकारणशून्य स्यात् धर्मवत् धर्मिणोऽपि असत एव प्रतिभाससंभवात्। दृश्यते हि तावद् अक्षिपक्ष्माद्यपायेऽपि तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिज्ञानम्।

ननु केशोण्डुकादिज्ञानं भ्रान्तत्वाद् अर्थापायेऽपि उत्पद्यते, नान्यद् विपर्ययात्। नचान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारः अतिप्रसङ्गात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, परनिरपेक्षतया हि स्वपरप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य स्वरूपं न पुनः सत्यत्वमसत्यत्व वा। तत्र च यथा सत्याभिमत ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि। एतावांस्तु विशेषः-किञ्चित् सत्परं प्रकाशयति संवादसंभवात्, किञ्चित्तु असद् विसंवादात्। न चैतावता जात्यन्तरत्वेन अनयोरन्यत्व व्यभिचाराभावो वा, अन्यथा 'प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत्' इत्यादेरपि अप्रयत्नानन्तरीयकैः विद्युद्वनकुसुमा-

(१) "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्योत्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्ट केशोण्डूकाख्य कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुटति, अथवा करसमृदितलोचनरश्मिषु येय केशपिण्डावस्था स केशोण्डूक।"-शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९। "केशोण्डुका नाम पक्षिण ये केशमूलान्युत्पाटयन्ति"-शिक्षासमु० पृ० ७०। "तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभास विनाप्यर्थसत्त्वादिति।"-मध्यान्तवि० पृ० १५। "केशोण्डुक यथा मिथ्या गृह्यन्ते तैमिरैर्जनै।"-लङ्कावतार० पृ० २७४। (२) तुलना-"कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न केशोण्डुकज्ञानेऽर्थ कारणत्वेन व्याप्रियते-तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारो नयनपक्ष्मादेर्वा कामलादेर्वा गत्यन्तराभावात्? न तावदाद्यविकल्प, न खलु तज्ज्ञान केशोण्डुकलक्षणेऽर्थे सत्येव भवति भ्रमाभाव-प्रसङ्गात्। नयनपक्ष्मादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात् गगनतलावलम्बितया पुर स्थतया केशोण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात्। न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्येतु शक्यम्। अथ नयनकेशा एव तत्र तथाऽसन्तोऽपि प्रतिभासन्ते तर्हि तद्रहितस्य कामलिनोऽपि तत्प्रतिभासाभाव।"-प्रमेयक० पृ० २३३। (३) "स्वपरग्रहणलक्षण हि ज्ञानम्, तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञान स्वपरग्राहक तथा केशोण्डुकादि-ज्ञानमपि। एतावांस्तु विशेष किञ्चित्सत्पर गृह्णाति सवादसद्भावात्, किञ्चिदसद्विसवादात्।"-प्रमेयक० पृ० २३५। (४) सत्यज्ञानम्। (५) असत्यज्ञानम्। (६) सत्परत्व-असत्परत्वग्रहणमात्रेण। (७) सत्याऽसत्यज्ञानयो.।

1-यत् ब०। 2 'ज्ञानम्' नास्ति श्र०। 3 इत्युप-ब०। 4-पक्षादि-श्र०। 5-सम्बन्धस्य श्र०। 6 दृश्यते हि लोचनपक्ष्माद्यपायेऽपि ब०। 7 नचान्यस्यस्य व्यभिचारोऽस्ति-ब०। 8 स्वरूपपरप्रका-श्र०। 9 विसवादसंभवात् श्र०।

दिभिर्व्यभिचारो न स्यात्, ताल्वादिदण्डादिजनितात् शब्दघटादेः तद्विपरीतस्य विद्युदादेरन्यत्वात्। न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्। तथाप्यत्र व्यभिचारे प्रकृतेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात्।

'तिमिर' इत्यादिना परमतमाशङ्कते–**तिमिरादीनां** द्वन्द्वः, पुनः **आदिशब्देन** बहुव्रीहिः। आदिशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेन एकत्र[१] आदिशब्देन कामलादिसकलेन्द्रियदोषपरिग्रहः, अन्यत्र[२] दृढप्रहारादिस्वीकारः, इतरत्र[३] अश्वयानाद्युपादानम्, अपरत्र[४] कोद्रवाद्युपयोगग्रहणम्। **तद्धेतुत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **कमर्थं** किं प्रयोजनम् **अर्थः पुष्णाति इति** एवं **मृग्यं** न कञ्चिदित्यर्थः[1]। कुत एतदित्यत्राह–**'सत्यज्ञानेऽपि'** इत्यादि। न केवलमसत्यज्ञाने अपि तु **सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य,** कथम्भूतस्य? **इन्द्रियमनोगतस्य**। इन्द्रियगतस्य तिमिराद्यभावस्य, मनोगतस्य सङ्क्षोभाद्यभावस्य[५][2], इन्द्रियमनोगतस्य आशुभ्रमणाद्यभावस्य **कारणत्वात्** इन्द्रियादिकमेव च तद्विविक्तं[६] तदभाव इति मन्यते, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य। यथा च अन्यत[७] एवोत्पन्नं संशयादिज्ञानम् असतोऽकारणस्य अर्थस्य[३] ग्राहकं तथा सतः सत्यज्ञानमिति सूरेरभिप्रायः[८][९]। उपसंहारमाह–**'तत'** इत्यादि। यस्मादुक्तप्रकारेण अर्थस्य विज्ञानं प्रति कारणत्वं नोपपद्यते **ततः सुभाषितम्–इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो** घटादिर्विषयः परिच्छेद्य **इति**।

ननु च इन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव उत्पत्तेः तस्यैव[१०] तत्र[११] साधकतमत्वोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः[१२]।
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥ ५५ ॥

विवृतिः–सन्निकर्षादयः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसीयन्ते न च तैर्बुद्धिः प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद्[4] बुद्धेरन्वेषणम्? आत्ममनइन्द्रियार्थानां[5]

(१) तिमिरे। (२) आशुभ्रमणे। (३) नौयाने। (४) सक्षोभे। (५) तिमिरादिरहितम्। (६) तिमिराद्यभाव। (७) इन्द्रियादिदोषात्। (८) तुलना–"अनेन (केशोण्डुकज्ञानेन) व्यभिचारात् संशयज्ञानेन च। न हि तदर्थे सत्येव भवति अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्, तद्विषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्षणार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावासंभवाच्च।"–प्रमेयक० पृ० २३४। (९) अकलङ्कदेवस्य। (१०) सन्निकर्षस्यैव। (११) बुद्धौ। (१२) "अध्यवसायिनी निश्चायिका। का? बुद्धिर्ज्ञानमेव। कस्य? सन्निधेरपि सन्निकर्षस्यापि न केवलमर्थस्येत्यपिशब्दार्थं। केषाम्? इन्द्रियार्थानाम्, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि अर्थाश्च रूपादय तेषाम्। न केवल सन्निधेरपि तु अन्वयव्यतिरेकयोश्च सन्निकर्षस्य भावाभावयोश्च। तथा कार्यकारणयोश्च। कार्यं सन्निकर्षः कारणमिन्द्रियादिः तयोश्च बुद्धिरेवाध्यवसायिनी। तत. सैव प्रमाणं न सन्निकर्षादि तस्य प्रमेयत्वात्।"–लघी० ता० पृ० ७७।

1 न किञ्चिदि–आ०, श्र०। 2 सङ्क्षेपाद्यभा–श्र०। 3 अर्थग्राह–श्र०। 4–क्या बुद्धे–ज० वि०। 5 आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणाम् ई० वि०।

कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो [1]दुरवबोधः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न त[2]त्कारणतायाः । [1]आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

कारिकार्थ –

कार्यकारणयोश्चापि इत्यपिशब्दः **सन्निधेः** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थो जायते–न केवलमर्थस्य किन्तु सन्निधेरपि सन्निकर्षस्यापि बुद्धिर[3]ध्यवसायिनी। केषां तस्य[2] इत्याह–**इन्द्रियार्थानाम्**। तथा **अन्वयव्यतिरेकयोः सन्निधे**र्भावाभावयो. बुद्धिः [4]अध्यवसायिनी । न केवलमनयोः अपितु **कार्यकारणयोश्च,** [5]**कार्यं** सन्निकर्षः **कारणम्** इन्द्रियादि । यदि वा, **कार्यं** ज्ञानम्, **कारणं** सन्निकर्ष. तयोश्च **बुद्धिरध्यवसायिनी।** एतदुक्तं भवति–सन्निकर्षादिसद्भावेऽपि यावद् बुद्धिर्नोत्पद्यते ता[6]वत्त[3]स्य त[4]दन्वयव्यतिरेकयोः त[5]त्कार्यकारणभावस्य अन्यस्य वा न व्यवस्था, बुद्धिकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात्। उत्पन्नायां तु तस्या[6]म् अन्यापेक्षामन्तरेणैव तत्त्वव्यवस्थेति, अतः सै[7]व साधकतमत्वात् प्रमाणं न सन्निकर्षादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'सन्निकर्ष'** इत्यादि । **सन्निकर्ष आदि**र्येषाम् अन्वयव्यतिरेकादीनां ते तथोक्ताः, **कारणान्तरात्** इन्द्रियमनोलक्षणाद् **उत्पन्न-**

विवृतिव्याख्यानम्–

या बुद्ध्या अध्यवसीयन्ते । न च नैव तैः सन्निकर्षादिभि**र्बुद्धिः** अध्यवसीयते । कुत एतदित्याह–**'प्राग्'** इत्यादि । **प्राक्** बुद्ध्युत्पादात् पूर्वम् **अनध्यवसायात्** सन्निकर्षादीनां बुद्धिविषयव्यवसायरहितत्वात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**'अन्यथा'** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन प्रागध्यवसायप्रकारेण [8]**कैमर्थक्याद् बुद्धेः अन्वेषणम् ।** बुद्धेरिव [7]अन्यस्यापि सन्निकर्षादिभ्यः एव सिद्धेः । न चैवम्, अतो बुद्धेरेव सर्वत्र साधकतमत्वात्प्रामाण्यमित्यभिप्रायः । यत्पुनरे[9]तत्–"*आत्मा मनसा युज्यते,*

(१) तुलना–"आलोकेनापि जन्यत्वे नालम्बनतया भिद (विद) । किन्त्विन्द्रियबलाधानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१८। "नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।"–परीक्षामु० २।६,७ । "नार्थालोकौ कारणमव्यतिरेकात् ।"–प्रमाणमी० १।१।२५ । (२) सन्निकर्षस्य । (३) सन्निकर्षस्य । (४) सन्निकर्षबुद्ध्योरन्वयव्यतिरेकयो । (५) इन्द्रियसन्निकर्षयो सन्निकर्षज्ञानयोर्वा कार्यकारणभावस्य । (६) बुद्धौ । (७) बुद्धि । (८) यदि बुद्ध्युत्पादमन्तरेणापि सन्निकर्षादि अर्थपरिच्छेदक स्यात्तदा । (९) "तच्चेद प्रत्यक्ष चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षात्प्रवर्तते । तत्र बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते आत्मा मनसा सयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति । सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनो द्वयोरात्ममनसोरेव सयोगाज्ज्ञानमुपजायते तृतीयस्य ग्राह्यस्य ग्राहकस्य तत्राभावात् ।"–न्यायम पृ० ७४। उद्धृतमिदम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १४० ।

1 दुरवबोध प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमना कारणमकारण वा कथं ब्रूयु । कथ तस्य विज्ञानोत्पत्तावगीकरणमिति वित्यासाधिज्ञानोत्पत्तेरर्थमवबुद्ध्यमानाः कारणमकारण वा कथ ब्रूयु ? उत्पन्न ज० वि० । 2 तत्कारणतया ई० वि० । 3–रव्यवसा–श्र० । 4 अव्यव–श्र० । 5 कार्य आ०, श्र० । 6 तावन्न तस्य श्र० । 7 अन्यपि आ० ।

मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन'' [न्यायमं० पृ०७४] इति तत्राह—**'आत्मन' (त्ममन)** इत्यादि । **आत्मनो** मनसा **मनस** इन्द्रियैः **इन्द्रियाणामर्थेन**। कथम्भूतानाम् ? **अतीन्द्रियाणाम्** इन्द्रियातिक्रान्तानां यः **सन्निकर्षः** स **दुरवबोधः** ज्ञातुमशक्यः । अतः **कथं** केन प्रकारेण [1]**तस्य** सन्निकर्षस्य **विज्ञानोत्पत्तौ अङ्गीकरणम् ? इति** एवं **चिन्त्यम्** । [2]यत्कुत-श्चिज्ज्ञातुन्न शक्यते न तत् ज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वेन प्रेक्षावता अङ्गीकर्त्तव्यम् यथा खर-विषाणम्, कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुन्न शक्यते च सन्निकर्षादिरिति । यथा चासौ कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुमशक्यः तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे[2] प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् । [3]भवत्कल्पितश्च आत्मा मन इन्द्रियमर्थश्च निरंशादिरूपो यथा नोपपद्यते तथा विषय-परिच्छेदे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अतः कस्य केन सन्निकर्षः स्यात् ?

एवम् **'संशयादिवि[3]दुत्पादः'** इत्यादिना अर्थव्यतिरेके ज्ञानव्यतिरेकाभावं प्रतिपाद्य साम्प्रतम् अर्थान्वयग्रहणाभावं दर्शयितुमाह—**'प्राग्'** इत्यादि । **प्राक्** पूर्वं **विज्ञानो-त्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमाना** नैयायिकादयः **कारणमकारणमेव** वार्थं **विज्ञानोत्पत्तेः कथम्** न कथञ्चिद् **ब्रूयुः** । एतदुक्तं भवति—यथा अग्निदर्शनानन्तरं धूमदर्शनं तथा यदि अर्थदर्श-नानन्तरं ज्ञानदर्शनं स्यात् तदा स्यादर्थकार्यं [4]तत्, न चैवमस्ति । ननु तदुत्पत्तेः पूर्वं ग्राहका-भावान्न तत्र[5] कारणाकारणविभागप्रतिपत्तिः [6]तदुत्पत्तौ तु भविष्यति, इत्यत्राह—**'उत्पन्नम्'** इत्यादि । **उत्पन्नं** लब्धात्मलाभं **हि** स्फुटं **विज्ञानम् अर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारण-तायाः** । अधुना आलोकस्य ज्ञानकारणतां निराकुर्वन्नाह—**'आलोकोऽपि'** इत्यादि । न केव-लम् अर्थादिः, किन्तु **आलोकोऽपि न कारणम् 'विज्ञानोत्पत्तेः'** इति सम्बन्धः । कुत एत-दित्याह—**परिच्छेद्यत्वात्** । [4]प्राक् प्रसाधितं दृष्टान्तमाह—**'अर्थवत्'** इति । **अर्थ** इव **अर्थवत्** ।

[7]ननु यद्यालोकः तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तद[8]भावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—

[9]तमो निरोधि [5]वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

(१) सन्निकर्षादि न ज्ञानोत्पत्तिकारणं कुतश्चिदपि प्रमाणाज्ज्ञातुमशक्यत्वात् । (२) पृ० २० । (३) नैयायिककल्पित । (४) ज्ञानम् । (५) अर्थे । (६) ग्राहकभूतज्ञानस्योत्पत्तौ । (७) आलोकका रणतावादी बौद्ध, तथा च तद्ग्रन्थ —''यथा इन्द्रियालोकमनस्काराः आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपज्ञानमेक जनयन्ति''—प्रमाणवा० स्ववृ० १।७५ । (८) आलोकाभावेऽपि । (९) ''वीक्षन्ते विशेषेण नीलादिरूपतया पश्यन्ति । के ? ईक्षका चक्षुष्मन्तो जना । किम् ? तमोऽन्धकार पुद्गलपर्यायम् । किंविशिष्टम् ? निरोधि प्रमेयान्तरतिरोधायकम् । पुनर्न वीक्षन्ते । किम् ? पर घटादिकम् । कथम्भूतम् ? वृतम् आच्छादितम् । केन ? तमसा । तत कथमालोको ज्ञानकारण तदभावेऽपि तदुत्पत्तेरिति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—इव यथा कुड्यादिकमीक्षन्ते ईक्षका कुड्यादितिरोहित पुनर्घटादिक नेक्षन्ते तथा तमो वीक्षन्ते तदावृत तु पर नेक्षन्ते इति ।''—लघी० ता० पृ० ७७ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिवि० टी० पृ० १८७ B । 'तमोनिरोधे··घटादिक··।''—सन्मति० टी० पृ० ५४४ ।

1 एतस्य ब० । 2 य कुत—ब० । 3—चिदुत्पा—श्र०, ब० । 4 प्राक्साधि—आ० । 5 वीक्ष्यन्ते आ० ।

विवृतिः–नहि तमः चक्षु[1]र्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात् । अर्वाग्भागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि [2]ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्तमोवत् । प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

कारिकार्थ –

तमः अन्धकारं **वीक्षन्ते** [3]विशेषेण अबाध्यमानतया प्रस्फुटरूपतया वा **ईक्षन्ते** पश्यन्ति जनाः । कथम्भूतं तत् ? इत्याह–**निरोधि** प्रच्छादकम् । तथा च आलोकाभावेऽप्युपजायमानं [१]तज्ज्ञानं कथं तत्[२]कार्यं स्यात् ? [३]यदभावेऽपि यदुपजायते [4]न तत् तत्कार्यम् यथा चक्षुषोऽभावेऽप्युपजायमानं रसज्ञानं न तत्कार्यम्, आलोकाभावेऽप्युपजायते च अन्धकाररूपादिज्ञानमिति । अथ मतम्–आलोकस्य तज्ज्ञानाहेतुत्वे तमसि स्थितानां घटादीनां ग्रहणं स्यात्, तदयुक्तम्, तस्[४]य तन्निरोधित्वात् । एतदेवाह–'**तमसा**' इत्यादि । **तमसा** अन्धकारेण **आवृतं** प्रच्छादितं **परं** घटादिकं **न** ईक्ष[5]न्ते । अत्र दृष्टान्तमाह–'**कुड्यादिकम्**' इत्यादि । **इव** शब्दः यथाऽर्थे । यथा कुड्यादिकं नेक्षन्ते **ईक्षकाः** । कथम्भूतम् ? **कुड्यादितिरोहितं** परेण कुड्यादिना व्यवहितं तथा प्रकृतमिति ।

ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नास्ति तमोऽर्थान्तरमिति शालिकनाथस्य, तेजोऽभावरूप एव तम इति यौगस्य च पूर्वपक्ष –

[५]ननु [६]ज्ञानानुत्पत्ति[6]व्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽसंभवात् कस्य [७]तन्निरोधित्वं स्यात् ? नहि असत् कस्यचिन्निरोधकन्नाम अश्वविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात् ? न च [८]तदनुत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्यास्य[९] असंभवोऽसिद्धः, सालोकेऽपि गर्भगृहादिप्रदेशे बहिर्देशादागतस्य प्रतिपत्तुः असत्यप्यन्धकारे ज्ञानानुत्पत्तौ तमःप्रतीत्युपलब्धेः । द्रव्यान्तरत्वे त्वस्[१०]य चक्षुषः [११]तत्प्रकाशने आलोकानपेक्षा न स्यात् । आलोकमेव हि

(१) तमोज्ञानम् । (२) आलोककार्यम् । (३) तमोज्ञान नालोककार्यम् आलोकाभावेप्युपजायमानत्वात् । (४) तमस । (५) शालिकनाथ । (६) "य पुनर्निशि नीलिमेवावलोक्यते नासौ नभसः । कस्य तर्हि ? न कस्यचित् । कथ पुनर्गुणो न कस्यचित् ? सत्यम्, गुण एवायमप्रसिद्ध । ननु प्रतीतिबलेन सिद्ध एव । सिद्धयेद्यदि प्रसिद्धिरेव सिद्धयेत्, सा तु कारणाभावान्न सिद्धा । ननु चक्षुरेव कारणम्, न, आलोकोपकारानपेक्षस्य चक्षुषोऽप्रकाशकत्वात्, तेन अप्रतीतावेवाय प्रतीतिभ्रमो मन्दानाम् । अत एव दिवानुपलम्भ, अन्यथा सौरीभि भाभिरनुगृहीत चक्षुः स्फुटतर व्योम्नि नीलिमान प्रकाशयेत् । तमसो निष्पत्त्यनवक्लृप्ते', रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्य स्यात्, तच्चानेकद्रव्यारब्ध सच्चाक्षुष भवेत । न च द्रव्याणि सन्ति, सन्ति चेद्दिवाप्यारभेरन् । अन्धानामिव नीलिमाभिमानो नभस एवेत्युक्तम् ।"–प्रक० प० पृ० १४३ । "तमो नाम द्रव्यान्तर न भवति, अन्धानामिव केवल नीलिमाभिमान ।"–तन्त्ररह० पृ० २१ । (७) घटादितिरोधायकत्वम् । (८) ज्ञानानुत्पत्ति । (९) तमस । (१०) तमस । (११) तम प्रकाशने ।

1–ज्ञाने प्रति–ज० वि० । 2 ज्ञानविरो–ई० वि० । 3 विशेषाबाध्य–श्र० । 4 न तत्का–ब० । 5–न्ते कुड्यादि–श्र० । 6–त्तिपरेण ब० ।

चक्षुः आलोकनिरपेक्षं प्रकाशयति[1] न द्रव्यान्तरम्। ननु तमसो[(१)] [ऽ]द्रव्यान्तरत्वे छायायाश्छत्रादेरर्थान्तरभूतायाः प्रतीतिर्न स्यात्। अस्ति चास्याः[(२)] तथा[(३)]भूतायाः प्रतीतिः ततो बीजादङ्कुरवत्, ततो[(४)]ऽसौ[(५)] द्रव्यान्तरं सिद्धा। तथाभूता चासौ[(६)] सिद्ध्यन्ती तमसो द्रव्यान्तरत्वं साधयतीति, तदसमीचीनम्; आलोकाभावरूपतया[(७)] अस्या द्रव्यान्तरत्वासंभवेऽपि विभ्रमवशात् तत्र[(८)] तत्प्रतीतेरुपपत्तेः[(९)]। तथाहि[2]–येन येन प्रदेशान्तरेण छत्राद्यावारकद्रव्यप्रतिबद्धं तेजो न संयुज्यते तत्र तत्र छाया प्रतीयते, प्रतिबन्धकस्य आतपत्रादेरपाये तु स्वरूपेण आलोकः प्रतीयते, इत्यालोकाभाव एव छाया[(१०)]। द्रव्यान्तरत्वे तु तस्यास्तदपायेऽपि[(११)] आलोकेन सहावस्थितायाः प्रतीतिः स्यात्। न हि जातु किञ्चिद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण सहानवस्थायि प्रतीतम्।

एतेन 'छाया द्रव्यान्तरं देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन क्रियावत्त्वात्' इत्येतत् प्रत्याख्यातम्; तथाहि–यत्र[(१२)] यत्र आतपत्राद्यावारकद्रव्येण तेजसः सन्निकर्षः प्रतिषिध्यते[3]

(१) त्रुटिताया पू० प्रतौ 'तमसोऽद्रव्या–' अयमेव पाठो भाति। (२) छायाया:। (३) छत्राद् भिन्नाया। (४) छत्रात्। (५) छाया। (६) छाया। (७) "यच्चेदमुच्यते छायैव तम सा चलत्वाचलत्वमहत्त्वामहत्त्वदूरत्वासन्नत्वादिगुणयोगिनी वस्तुभूतेति; तदिदमप्यसारम्; अनवक्लृप्तेरेव। यच्चलाचलत्वादिकमुपन्यस्त तदपि स्थूलदर्शितया। तथाहि–आलोकेऽपवारिते छायाप्यपेयते। ततोऽपवारितालोकभूभागादिभावव्यतिरेकिणी न रूपावन्तरवच्छाया दृश्यते। तेन मन्यामहे व्यपवारितालोकभूभागादिकमेव छायेति।"–प्रक० प० पृ०१४४। "अपवारितालोक केवल भूभागादिकमेव छाया।"–तन्त्ररह० पृ० २१। "आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरैकदेशिनः।"–सर्वद० पृ० २२९। (८) छायायाम्। (९) छत्रादर्थान्तरत्वप्रतीते। (१०) "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तम।"–वैशे० सू० ५।२।१९। "उद्भूतरूपवद्यावत्तेज ससर्गाभावस्तम।"–वैशे० उप० ५।२।२०। (११) छत्राद्यपायेऽपि। (१२) "तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च।"–वैशे० सू० ५।२।२०। "द्रव्य छाया गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्ट" साध्य तावदेतत्–किं पुरुषवच्छायापि गच्छति, आहोस्वित् आवारकदव्ये ससर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽय तेजसो गृह्यते इति? सर्पता खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेवावच्छिन्नो गृह्यते इति।"–न्यायभा० १।२।८। "आवारके द्रव्ये प्रसर्पति तेजसोऽसन्निधिविशिष्ट द्रव्यं यदुपलभ्यते तत्तु छायेत्युच्यते।"–न्यायवा० १।२।८। "भासामभावरूपत्वाच्छायाया।"–प्रश० व्यो० पृ० ४६। "न तावच्छाया सामान्यविशेषसमवायान्तर्भूता; अनित्यत्वात्तस्या। नापि कर्म, सयोगविभागासमवायिकारणत्वाभावात्। न गुणो द्रव्यासमवायात्। न मनोदिक्कालगुण, तद्गुणानामप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यात्मगुण, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्। नापि नभोनभस्वतोः, तद्गुणानामचाक्षुषत्वात्। नापि तेजसः, तद्विरोधित्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपलब्धेश्च। अत एव न पृथिवीपाथसोरपि। अपि च तद्गुणश्चाक्षुषो नालोकमन्तरेण शक्यग्रह, छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिंस्तु सति न गृह्यत इति दुर्घटम्। नापि द्रव्यम्, तद्धि पृथिव्यादीनामन्यतममेव भवेदन्यद्वा दशमम्। न तावदन्यतमम्, तद्गुणानामनुपलब्धे। नाप्यन्यद्रूपवदिति युज्यते। तस्याद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्ते, अस्पर्शवत्त्वादनारम्भकत्वेनानेकद्रव्यत्वाभावात्। तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम्।"–न्यायवा० ता० पृ० ३४५। प्रश० किर० पृ० १९। श्रीधरस्तु आरोपितरूपविशेषात्मकं तम स्वीकरोति। "तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्त तेजोऽभावे सति सर्वत. समारोपितस्तम इति प्रतीयते। दिवा चोर्ध्व नयनगोलकस्य नीलिमावभास इति

1 ति तद्द्रव्या–श्र०। 2 हि येन प्रदे–ब०। 3 प्रतिषेध्यते आ०।

तत्र तत्र अन्याऽन्या छायोपलभ्यते, न पुनः पूर्वदेशोपलब्धा अन्यत्र देशे, इति आवारकद्रव्यगतं कर्म तत्रा[1]ध्यारोप्य प्रतिपत्ता 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते, यथा अश्वाद्यारूढः स्वगतं कर्म वृक्षेऽध्यारोप्य 'वृक्षः आगच्छति' इति[2]। देशान्तरप्राप्तिश्चास्याः[3] देशान्तरेण संयोगः, समवायो वा ? यदि[4] संयोगः, अन्योन्याश्रयः–तद्द्रव्यत्वसिद्धौ हि संयोगसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्द्रव्यत्वसिद्धिरिति। अथ[5] समवायः, तदप्यनुपपन्नम्, एकत्र समवेतस्य द्रव्यस्य अन्यत्र समवायाऽसंभवादिति।

तमश्छाययोः पुद्गलद्रव्यत्वसिद्धिः–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[6]–'ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नापरं तमः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, प्रतीति[7]विरोधात्। सुप्रसिद्धा हि आलोकतमसोः[1] स्वस्वरूपेण अन्योन्यविलक्षणयोः प्रतिप्राणि प्रत्यक्षतो विलक्षणा प्रतीतिः। न च विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण प्रतीतेर्वैलक्षण्यं युक्तम्, पुरुषा[2]द्यद्वैतसिद्धिप्रसङ्गतो भेदवादोच्छेदप्रसक्तेः। तमनिच्छता प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकं प्रतिपत्तव्यम्। प्रयोगः–तत्[8]प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपूर्वकं तत्त्वात् घटपटादिप्रतीतिवैलक्षण्यवत्। [9]भावाभावरूपविषयवैलक्षण्यपूर्वकत्वेन आलोकतमःप्रतीतेरिष्टत्वात् सिद्धसाध्यता, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, तमसो रूपादि[10]मत्त्वेन आलोकवद् अभावरूपत्वानुपपत्तेः। तद्रूपत्वे[11] वा रूपादिमत्त्वविरोधात्। [12]योऽभावो नासौ रूपादिमान् यथा घटाद्यभावः, आलोकाभावरूपतयेष्टश्च तम इति। न चास्य रूपादिमत्त्वमसिद्धम्, आलोकवत् तत्रापि[13] तत्सद्भावप्रतीतेः। यथैव हि आलोके भासुरं[3] रूपम्

वक्ष्याम । यदा तु नियतदेशाधिकरणो भासामभावस्तदा तद्देशसमारोपिते नीलिम्नि छायेत्यवगम । अत एव दीर्घा ह्रस्वा महती अल्पीयसी छायेत्यभिमान तद्देशव्यापिन नीलिम्न प्रतीते ।"–प्रश० कन्द० पृ० ९। "तथाहि–यत्र यत्र वारकद्रव्येण तेजस. सन्निधिर्निषिध्यते तत्र तत्र छायेति व्यवहार । वारकद्रव्यगतान्च क्रियाम् आतपाभावे समारोप्य प्रतिपद्यते छाया गच्छतीति, अन्यथा वारकद्रव्यगत क्रियापेक्षित्वं न स्यात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ४७। "यत्तु तेज प्रतिरोधि द्रव्य तद्यथा यथा सञ्चरति तथा तथाऽऽलोक. प्रतिमुच्यते प्रतिरुध्यते चेति चलतीव छाया प्रतिभाति, अन्यथा शरीरेऽपि चलति किमिति छायाऽपि चलेत् हेत्वभावात् ।"–प्रक० प० पृ० १४४।

(१) तेजोऽभावे। (२) प्रतिपद्यते इति शेष । (३) छायाया । (४) "यच्चेद देशान्तरप्राप्तिमत्त्व तत्कि देशान्तरेण सयोग , तस्यापि साध्यत्वात् । तथाहि–द्रव्यत्वसिद्धौ सयोग सिद्धचति, सयोगात् द्रव्यत्वमिति इतरेतराश्रयत्व स्यात् ।"–प्रश० व्यो०पृ० ४७। (५) "अथ देशान्तरप्राप्ति. समवाय , सोऽप्यसिद्ध । न ह्येकत्र समेवत अन्यत्र समवैति। छाया त्वेकत्र सम्बद्धोपलब्धा पुनर्देशान्तरेप्युपलभ्यते। न च क्रियावत्त्व देशान्तरसमवायात् सिद्धचति तस्याप्ययुतसिद्धेष्वेव भावादिति ।"–प्रश० व्यो० पृ० ४७। (६) पृ० ६६६ प०१६। (७) तुलना–"अत एव नालोकज्ञानाभाव ; अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात् ।"–सर्वद० पृ० २३०। "न चाप्रतीतावेव प्रतीतिभ्रम., तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः ।"–चित्सु० पृ० २९। (८) आलोकतमसो प्रतिभासभेद । (९) नैयायिकवैशेषिकादय । (१०) कृष्णरूपशीतस्पर्शचलनादिक्रियाशालित्वेन । (११) अभावरूपत्वे वा। (१२) तमो न रूपादिमत् अभावरूपत्वात्। (१३) तमस्यपि।

1–सो स्वरू–आ०। 2 पुरुषाद्वैत–ब०। 3 भासुररूपं श्र०।

उष्णस्पर्शश्च लोके प्रसिद्धः तथा छायादितमसि कृष्णं रूपं शीतस्पर्श इति । ततो द्रव्यं तमः गुणवत्त्वात्, यद् यद् गुणवत् तत्तद् द्रव्यम् यथा आलोकादि, गुणवच्च तम इति । न केवलं छायादेर्लोक[1] एव गुणवत्त्वं प्रसिद्धम्, अपि तु वैद्यकशास्त्रेऽपि । तदुक्तम्–

"[2]आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः ॥" [राजनि०]

(१) जैना हि तमः पुद्गलद्रव्यात्मक स्वीकुर्वन्ति, तथाहि–"गोयमा दिया सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे, रात्तिं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे ।"–भगवतीसू० ५ । ९ । २२४ । "सद्दघयारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा । वण्णरसगधफासा पुग्गलाण तु लक्खणम् ॥"–उत्तरा० २८।१२ । नवतत्त्व० गा० ९ । "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।"–तत्त्वार्थसू०५।२४। "सद्दो बन्धो सुहुमो थूलो सठाण भेद तम छाया । उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।"–द्रव्यसं० गा० १६। वैयाकरणास्तम अणुरूप स्वीकुर्वन्ति–"अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदससर्गवृत्तय । छायातपतम-शब्दभावेन परिणामिन ।"–वाक्यप० १।१११ । अन्यान्यपि तमसो द्रव्यरूपतामुररीकुर्वन्ति मतान्तराणि–"तमोदर्शन तु भूच्छायादर्शनम् । कतमत्पुनर्द्रव्यादीना तम ? ननु द्रव्यमेव कालिमगुणशालित्वात् स्पन्दवत्त्वाच्च । तथाहि–कालिमैवास्य रूपमुपलभ्यते अप्तेजसोरिव श्वेतिमा । एवं संख्याप्येकत्वादिका, परिमाण तच्चतुर्विध पृथिव्याद्यणूनामिव तमोऽणूनामप्यनुमानात्, पृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वसस्काराश्च । पञ्चविधमपि कर्म अध्यक्षमीक्षते । यथाहात्र भवान्वार्तिककार –ननु नाभावमात्रस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम् । छायाया कार्ष्ण्यमित्येव पुराणे भूगुणश्रुतेः ॥ भूगुणस्य कार्ष्ण्यस्य छायाया द्रव्यान्तरश्रुतेरित्यर्थ । दूरासन्नप्रदीपादिदेहचेष्टानुसारिणी । आसन्नदूरदीपादिमहदल्पचलाऽचला । देहानुवर्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत् ॥ इति । न च पृथिव्यादीमनान्यतमम् ' ' तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धमसति बाधके द्रव्यान्तरमेकादश तमो नवगुण चेति सिद्धम् । नादृष्टौ दर्शन छाया नचाऽभावोऽस्मृतौ गते. । रूपादुपायसद्भावान् द्रव्य द्रव्यान्तरानुगम् ।"–विधिवि० टी० पृ० ७६–७९ । "किमिद तमो नाम ? द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तम इति काश्यपीयाः, तथा तु नीलबुद्धिर्निर्निमित्ता स्यात् अभावस्य नीलिमाभावात् । न चासतो नीलिम्न किञ्चिद् ग्राहक स्मारक वाऽस्ति । आलोकादर्शनमात्रेण तु तद्भ्रमो भवस्तच्छून्यभागेऽपि स्यात्, अतो द्रव्यान्तरमिद वायुवन्नीलिमगुणम्, वायुस्वरूप स्पर्शवान् इदञ्चाऽस्पर्शं रूपवदित्येतावान्विशेष । अथवा, य एते पार्थिवास्त्रसरेणवो वातायनविवरेषु दृश्यमाना सर्वतो भ्रमन्ति तेषा ये नीलगुणका तद्गतमिद नीलरूप गृह्यमाण गुणान्तराणा द्रव्यान्तराणाञ्च तदन्तरालस्य च अग्रहणाद् व्याप्ताखिलब्रह्माण्डवच्चकारित । नीलरूपग्रहणे चालोकापेक्षा नास्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते ।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ७४० । "तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे । द्रव्यान्तर तम कस्मादकस्मादपलप्यते ॥"–चित्सु० पृ० २८ । "अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत्तम । तच्च नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रकाश्य कृष्णरूपम् । कलायकोमलच्छाय दर्शनीय भृश दृशाम् । तम. कृष्ण विजानीयादागमप्रतिपादितम् ॥ गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासत । प्रतियोग्यस्मृतेश्चैव भावरूप ध्रुव तम ।"–मानमेयो०पृ०१५९। (२)"आतप कटुको रूक्षः स्वेदमूर्च्छातृषावह । दाहवैवर्ण्यजननो नेत्ररोगप्रकोपन ॥ छाया दाहश्रमस्वेदहरा मधुरशीतला । ज्योत्स्ना कषायमधुरा दाहासृक्पित्तनाशिनी । तमो भयावह तिक्त दृष्टितेजोविरोधनम् ।"–राजव० ५।२२ । "आतप ' त्रिदोषशमनी ज्योत्स्ना सर्वव्याधिकर तम "–राजनिघ० । उद्धृतोऽयम्–"आतप कटुको रूक्ष छाया मधुरशीतला ।" –प्रश०व्यो० पृ० ४६ । स्या० र० पृ० ८५५ । "छाया मधुरशीतला"–सन्मति० टी० पृ० ६७२ ।

1 छायादौ लोक आ० ।

अथ मतम्–औपचारिकस्[1]तत्र माधुर्यादिगुणो मुख्ये बाधकसद्भावात्। तथाहि–रसनेन्द्रियव्यापाराद् यथा क्षीरादिषु माधुर्यप्रतिपत्तिः न तथा छायायाम्। तस्मात् 'मधुरादिद्रव्यनिषेवणाद् यौ गुणदोषौ दृष्टौ छायानिषेवणादपि तावेव' इति वैद्यकशास्त्रतात्पर्यम्, अतोऽसिद्धं गुणवत्त्वं छायादेः[2], इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्, तत्रा[3]स्य अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासतया औपचारिकत्वानुपपत्तेः। य[4]द्यत्र अबाधबोधाधिरूढतया प्रतिभासते न तत्तत्रौपचारिकम् यथा तेजसि भासुरत्वादि, अबाधबोधाधिरूढतया प्रतिभासते च छायाद्यन्धकारे शीतलत्वादिगुणसद्भाव इति। तथा[5]विधस्याप्यस्य[6] अत्रौ[7]पचारिकत्वे ज्योत्स्ना[8]ऽऽतपयोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्मा भूत्, कटुकत्वादिगुणानां तत्राप्यौपचारिकत्वप्रसङ्गात्, प्रागुक्तवैद्यकग्रन्थप्रक्रियायाः तत्रापि कल्पयितुं सुशकत्वात्। ततः प्रतीतिं प्रमाणयता ज्योत्स्नादिवत् छायाद्यन्धकारेऽपि अनुपचरितगुणसद्भावसिद्धिरभ्युपगन्तव्या, इति सिद्धमस्य गुणवत्त्वाद्[1] द्र[9]व्यत्वम्।

यदप्युक्तम्–'असत्यपि अन्धकारे गर्भगृहादौ ज्ञानानुत्पत्तौ तमः प्रतीयते' इत्यादि, तत्रापि सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिस्तत्प्रतीतिहेतुः[10], तदन्तर्वर्त्तिपदार्थेषु वा ? प्रथमपक्षे [11]स्ववचनविरोधः 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्। न खलु सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिं वदतः तमःप्रतीतिरविरुद्धा, त[12]त्प्रतीतौ वा सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिरिति[13]। द्वितीयपक्षे तु प्रचुरतरालोकोपहतदृष्टिः प्रतिपत्ता तत्रस्थान[14]र्थान् यथावत्प्रतिपत्तुमसमर्थः जलरूपतया मरीचिकाचक्रमिव आलोकमेव तमोरूपतया प्रतिपद्यते। न च मिथ्यातमःप्रतिभासेन अमिथ्यातमःप्रतिभासस्य साम्यमापादयितुं युक्तम्, सत्यजलादिप्रतिभासस्यापि असत्यजलादिप्रतिभासेन साम्यापादनप्रसङ्गतो वस्तुव्यवस्थाभावप्रसङ्गात्।

---

(१) "यच्चेदमागमात् माधुर्यं शैत्य वा छायाया, तदप्युपचारात्। ये हि मधुरद्रव्यस्य शीतद्रव्यस्य वा गुणा ते छायाससेवनाद् भवन्तीति तत्कार्यकर्तृत्वेन तथोक्त।"–प्रश० व्यो० पृ० ४७। (२) छायादौ। (३) छायादौ माधुर्यादे। तुलना–"छायापि शिशिरत्वादाप्यायकत्वाज्जलवातादिवत्।"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६३। "मुख्यार्थबाधायामुपचारप्रवृत्ते, न चेयमत्रास्ति।"–स्या० पृ० ८५६। (४) छायादौ माधुर्यादि नौपचारिकम् अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्। (५) अबाधितप्रतिभासविषयत्वेऽपि। (६) माधुर्यादे। (७) छायादौ। (८) तुलना–"तत्तेजस्यपि समानम्।"–सन्मति० टी० पृ० ६७२। स्या० र० पृ० ८५६। (९) तुलना–"न च तमस. पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वाऽन्यथानुपपत्ते प्रदीपालोकवत्। रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्।"–स्या० मं० का० ५। "तम स्पर्शवत् रूपवत्त्वात् पृथिवीवत्। न च रूपवत्त्वमसिद्धम्, अन्धकार कृष्णोऽयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात्।"–रत्नाकराव० पृ० ६९। (१०) तम प्रतीतिकारणम्। (११) तुलना–"किं पुनरन्धकारावस्थाया ज्ञान नास्ति ? तथा चेत्, कथमन्धकारप्रतीति तदन्तरेणापि प्रतीतौ अन्यत्रापि ज्ञानकल्पनानर्थक्यम्। प्रतीयते ज्ञानं नास्तीति च स्ववचनविरोध प्रतीतेरेव ज्ञानत्वात्।"–प्रमेयक० पृ० २३८। (१२) तम प्रतीतौ। (१३) अविरुद्धा इति शेष। (१४) अन्धकान्तर्वर्तिपटाद्यर्थान्।

---

1 गुणत्वाद् ब०।

किञ्च, ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽनभ्युपगमे विशद[१]ज्ञानोत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्य आलोकस्यापि अभ्युपगमो मा भूत्। असत्यपि हि आलोके बहलान्धकारनिशीथिनीसमये नक्तञ्चराणाम् अञ्जना[1]भिसंस्कृतचक्षुषा[२] प्रस्फुटज्ञानोत्पत्तौ सप्रकाशं [2]सकलं वस्तु प्रकाशते। लोकप्रतीतिबाधा उभयत्र तुल्या। यथैव हि 'मध्याह्ने अतितीव्रालोके बहिर्गन्तुमसमर्थाः' इति लौकिकी प्रतीतिः तथा 'बहलान्धकारायां रात्रौ बहिर्गन्तुं त्रस्ताः' इत्यपि। ततो निर्बाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वेन आलोकद्रव्यस्य वास्तवत्वाभ्युपगमे तमोद्रव्यस्यापि तदभ्युपगन्तव्यं विशेषाभावात्।

तथा, [३]द्रव्यं छायाद्यन्धकारः घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत्। [४]गतिमत्त्वाच्चासौ बाणादिवत् द्रव्यम्। न च गतिमत्त्वमसिद्धम्; 'वेगेन छाया गच्छति' 'शनैश्छाया गच्छति' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रतीतितः तस्या[५]ः त[६]त्प्रसिद्धेः। [७]अनुमानाच्च; तथाहि–गतिमती छाया देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् बाणादिवत्।

यदप्यभिहितम्[८]–'देशान्तरप्राप्तिः देशान्तरेण संयोगः समवायो वा' इत्यादि; तत्र[९] देशान्तरेण अस्याः प्राप्तिः सम्बन्धोऽभिप्रेतः, [१०]स च संयोग एव पर्यवस्यति। न चैवमन्योन्याश्रयत्वम्; [११]अतश्छायाया द्रव्यत्वाऽप्रसाधनात्। देशान्तरप्राप्तितो हि तस्या गतिमत्त्वं प्रसाध्यते, तस्मा[१२]च्च [3]द्रव्यत्वमिति। [१३]न चैवं चक्रकप्रसक्तिरित्यभिधातव्यम्; तत्प्राप्तेः प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धस्वरूपत्वात्। यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या त[१४]त्प्राप्तिः [4]प्रसाध्येत ततश्च गतिमत्त्वं तदा स्याच्चक्रकम्। कथमन्यथा 'गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्' इत्यादावपि इतरेतराश्रयादिदोषानुषङ्गो न स्यात्?

---

(१) "यद्येवमालोकस्याप्यभाव स्यात् विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य अस्याप्यप्रतीते। तद्व्यवहारस्तु लोके विशदज्ञानोत्पत्तिमात्रः।"–प्रमेयक० पृ० २३८। (२) पुरुषाणान्। (३) तुलना–"तमस्तावत्पुद्गलपरिणाम दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत्।"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ०३६३। "तमो भावरूप घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत्। नचास्य घटाद्यावारकत्वमसिद्धम्, विषयाभिमुखप्रवर्तमाननयनव्यापारनिरोधित्वात्तद्वदेवेत्यतस्तत्सिद्धेः।"–स्या० र० पृ०८५१। (४) "छाया द्रव्यं क्रियावत्त्वात् कुम्भवत्।"–स्या० र० पृ०८५३। (५) छायायाः। (६) गतिमत्त्व। (७) "अनुमानावसेयमपि, तथाहि–गतिमती छाया देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वान्मैत्रवदिति।"–स्या० र० पृ० ८५३। (८) पृ० ६६८ प० ३। (९) "यतोऽत्र छायाया देशान्तरेण प्राप्ति सयोगोऽभिधीयते। यत्र वास्येतरेतराश्रयोद्भावन तदनुसन्धानशून्यतावशात्। न हि देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद् द्रव्यत्व प्रसाधयितुमुद्यता स्म, किन्तु गतिमत्त्व तस्मात्तु द्रव्यत्वमिति।"–स्या० र० पृ० ८५४। (१०) सम्बन्ध। (११) देशान्तरप्राप्तिरूपसयोगात्। (१२) गतिमत्त्वाच्च। (१३) "नन्वेवमपि महत्तरे चक्रकसकटे यूय पतिता। तथाहि–देशान्तरसयोगात् क्रियावत्त्वम्, क्रियावत्त्वात् द्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वात् देशान्तरसयोगवत्त्वमिति; उत्स्वप्नायितमेतत्, देशान्तरप्राप्ते प्रत्यक्ष एव छायाया प्रसिद्धस्वरूपत्वात्। यदि हि द्रव्यत्वसिद्धया देशान्तरप्राप्ति प्रसाध्येत तदा स्यात्तद्दूषणम्। प्रत्यक्षेणेति सिद्धेन देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन सिद्धात् क्रियावत्त्वात्सिद्ध छायाया द्रव्यत्वम्।"–स्या० र० पृ० ८५५। (१४) देशान्तरप्राप्ति।

1–नादिसंस्कृ–ब०। 2 सफलवस्तु श्र०। 3 द्रव्यमिति ब०। 4 प्रसाध्यते आ०।

यच्चान्यदुक्तम्[1]–'आवारकद्रव्यगतं कर्म छायायामध्यारोप्य 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते' इत्यादि, तदप्यपेशलम्, छायाया[1] असत्त्वे [2]तत्र आवारकद्रव्यगताया गतेरारोपानुपपत्तेः। सत्येव हि वृक्षादौ अश्वाद्यारूढ. पुरुषैः स्वगत कर्म तत्र[3] अध्यारोपयति नासति इति, अतः तद[4]ध्यारोपान्यथानुपपत्तेः छायाया वास्तव सत्त्व सिद्धम्। प्रयोगः–छाया[5] परमार्थसती अध्यारोप्यमाणगतित्वात्, यद् अध्यारोप्यमाणगति तत् परमार्थसत् यथा वृक्षादि, अध्यारोप्यमाणगतिश्च छाया इति। तन्न ज्ञानानुत्पत्तिमात्र तमः।

नतु सिद्धस्यापि द्रव्यान्तरभूतस्य त[6]मसः चक्षुर्ज्ञा[2]नप्रतिबन्धकत्वादयुक्तमुक्तम्–

विवृतिव्याख्यानम्—

'तमो निरोधि वीक्षन्ते' इत्यादि, तदसाम्प्रतम्, यतः [7]तत् किं स्वात्मनि [8]तत्प्रतिबन्धकम्, अन्यत्र वा? तत्राद्यपक्षे–**'नहि'** इत्यादिना दूषणमाह–**नहि** नैव **तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं** 'स्वात्मनि' इत्यध्याहारः। कुत [9]एतदित्याह। **तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात्**, अस्ति च तज्ज्ञानम्, अतो न तत् [10]तत्प्रतिषेधकम्। प्रयोगः–[10]यद् यज्ज्ञानस्य विषयो न तत् स्वात्मनि तज्ज्ञानस्य प्रतिषधकम् यथा काण्डपटादि, चक्षुर्ज्ञानस्य विषयश्च तम इति। अथ **अन्यत्र** घटादौ न स्वात्मनि, [11]तत् **तद्विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्**; तर्हि [4]**आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात्**। चक्षुर्विज्ञानस्य **अभावः** अनुत्पत्तिः उत्पन्नस्य वा प्रध्वंसः, तस्य **हेतुः** कारणं **स्याद्** भवेत्। तथा[12] च '*तैजस चक्षू रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद् आलोकवत्*'' इत्य[13]त्र प्रयोगे सा[14]धनविकलो दृष्टान्तः। अथ आलोकः [5]तमोविज्ञानाभावहेतुः [15]स्वरूप-घ[6]टादिविषयज्ञानहेतुश्चेष्यते, तर्हि तमोऽपि घटादिविषयज्ञानाऽहेतुः [16]स्वविषयविज्ञानहेतुश्चेष्यतामविशेषात्। अथ आलोके सत्येव के[17]षाञ्चिद् रूपज्ञानोत्पत्तेः तदभावे चानुत्पत्तेः [18]असौ [19]तद्धेतुः, तर्हि तमसोऽप्यभावे केषाञ्चि[7][20]त्तज्ज्ञानानुत्पत्तेः [21]तस्मिन् सत्येव

(१) पृ० ६६८ प० २। (२) छायायाम्। (३) वृक्षादौ। (४) आवारकद्रव्यगतगत्यारोपान्यथानुपपत्तेः। (५) "भावरूपा छाया अध्यारोप्यमाणगतित्वात् वृक्षवत्।"–स्या० र० पृ० ८५४। (६) "तमो दृष्टिप्रतिबन्धिकारणं प्रकाशविरोधि।"–सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४। (७) तम। (८) ज्ञानप्रतिबन्धकम्। (९) स्वात्मनि ज्ञानप्रतिषेधकम्। (१०) तमो न स्वचाक्षुषज्ञानप्रतिरोधकम् चाक्षुषज्ञानविषयत्वात्। (११) तम.। (१२) तुलना–"प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधायकतमोऽपनेतृत्वे 'तैजस चक्षू रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति साधनविकलत्वात् दृष्टान्तस्य निरस्तं द्रष्टव्यम्।"–सन्मति० टी० पृ० ५४४। (१३) न्यायकु० पृ० ७६ टि० ७। (१४) आलोको हि न तमसो रूपस्य प्रकाशक अत स 'रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति साधनशून्य। (१५) स्वस्य आलोकस्य रूपम् भासुराख्यम्। (१६) तमोविषयक। (१७) अस्मदादीनाम्। (१८) आलोक। (१९) रूपज्ञानहेतु। (२०) तमोज्ञान। (२१) तमसि।

1 असत्यत्वे ब०। 2–ष कर्म आ०, ब०। 3–ज्ञानाप्रति–श्र०। 4 आलोकेऽपि श्र०। 5 तमोज्ञाना–आ०। 6 घटादिज्ञानाहेतु आ०, ब०। 7 केषाञ्चिज्ज्ञा–आ०, ब०।

उत्पत्तेः [१]तदपि [२]तद्धेतुः स्यात्। त[1]था च 'रूपादीनां मध्ये रूपादीनां प्रकाशकत्वात्' इत्ययं हेतुः तमसाऽनैकान्तिकः, तस्याऽतैजसत्वेऽपि [३]रूपप्रकाशकत्वात्।

पुनरपि तम[2]सः त[४]ज्ज्ञानप्रतिषेधकत्वे दूषणमाह–**'अर्वाग्भागदर्शिनः'** इत्यादि। **अर्वाग्भागं** पश्यतीत्येवं शीलस्य **तद्दर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि** अर्वा[3]ग्भागस्यापि न केवलं तमस ए[4]वं **ज्ञानं[5]निरोधित्वं स्यात्**, प्रक्रमात् 'चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्' इति मन्यते। अत्र दृष्टान्तमाह–**तमोवत्। तमस इव** तद्वदिति। तथा च त[५]द्वद् अर्वाग्भागस्याप्यदर्शनप्रसङ्गाद् असर्वदर्शिनोऽन्धतैव स्यात्। [६]यच्चक्षुर्ज्ञाननिरोधि न तत् [6]तज्ज्ञानग्राह्यम् यथा तमः, चक्षुर्ज्ञाननिरोधी च अर्वाग्भाग इति।

ननु मा भूत् तम आवरणं तिमिरादि तु भविष्यति इत्यत्राह–**'प्रत्यर्थम्'** इत्यादि। अर्थमर्थं प्रति **प्रत्यर्थम्, आवरणस्य** ज्ञानावरणीयकर्मणो यो **विच्छेद** अभावः **तदपेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात्** अर्थग्राहकत्वात् कारणात् **नावरणं** ज्ञानस्य प्रच्छादकम्। किम्? इत्याह–**तिमिरादि। आदिशब्देन** कामलादिपरिग्रहः। ज्ञानावरणीयं कर्मैव हि नियमेन [७]तत्प्रच्छादकम्, [८]तस्मिन् सति ज्ञानस्य अर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्, न तिमिरादि तस्मिन् सत्यपि सत्यस्वप्ने रूपदर्शनसद्भावात्। इतश्च न तदावरणमित्याह–**परिच्छेद्यत्वात्**। अत्र निदर्शनमाह–**'अर्थवत्'** इति। प्रयोगः– [९]यत्परिच्छेद्यं न तद् आवरणम् यथा अर्थः, परिच्छेद्यञ्च तिमिरादि इति। ननु तिमिरादीनामनावरणत्वे *"यद्विज्ञानं स्वविषये विपर्यस्तं तत्सावरणम् यथा चक्षुर्विज्ञानं द्विचन्द्रादिगोचरम्, तथाविधञ्च मिथ्यादृशां ज्ञानम्"* [ ] इत्याचार्यीयं वचः स्वाभ्युपगमविरुद्धं स्यादिति चेत्, न, अन्यथाभिप्रायात्। तमस्तिमिरादि वा [१०]अदृष्टकारणनिरपेक्षमावरणं न भवति, तत्सापेक्षं तु भवत्येव इत्ययमाचार्यस्याभिप्रायः।

ननु च आत्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र [8]सर्वदा [9]सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गान्न किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

[११]मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः॥ ५७॥

---

(१) तमोऽपि। (२) रूपज्ञानहेतुः। (३) स्वगतकृष्णरूप। (४) चक्षुर्ज्ञान। (५) परभागवत्, तमोवद्वा। (६) अर्वाग्भागो न चक्षुरिन्द्रियग्राह्यः चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वात्। (७) ज्ञानप्रच्छादकम्। (८) ज्ञानावरणकर्मोदये सत्येव। (९) तिमिरादि नावरणं परिच्छेद्यत्वात्। (१०) ज्ञानावरणकर्मोदय अदृष्टपदेन ग्राह्य। (११) "यथा स्यात्। का? मलविद्धमणिव्यक्ति मलैं कालिमरेखादिभि विद्ध स चासौ मणिश्च पद्मरागादि तस्य व्यक्ति तेज प्रादुर्भाव.। कथम्? अनेकप्रकारत अनेके बहवः प्रकारा विशदाविशददूरादूरप्रकाश्यप्रकाशनविशेषाः तानाश्रित्य। तथा स्यात्। का?

1 तथा रूपा–श्र०। 2–सः स्वज्ञान–ब०। 3 अवाग्भाग–श्र०। 4 एव विज्ञान–ब०। 5–नविरो–आ०। 6 तद्दर्शनग्राह्यं ब०। 7 चक्षुर्ज्ञानं ब०, श्र०। 8 सर्वदा सर्वार्थ–श्र०। 9 सर्वथाग्रहणस्व–ब०।

विवृतिः–यथा[1]स्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । "[6]नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः" [ ] इति बालिशगीतम्; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात् । काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः । मुमूर्षूणां यथासंभवम् अर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्य इति स्थितम् ।

कारिकार्थ –

मलैर्विद्धः सम्बद्धो यो **मणिः** तस्य **व्यक्तिः** आविर्भावो **यथा** येन वि[2]श्रसोपयोगप्रकारेण **अनेकप्रकारतः** विशदेतरप्रकारम् एकदेशसाकल्यप्रकारं निकटदूरदेशवर्तिस्वप्रकाश्यप्रकाशनप्रकारम् । अन्यं वा विषयापहारादिलक्षणमाश्रित्य, **तथा** तेन प्रकारेण **कर्मभिः** ज्ञानावरणीयादिभिः **वि[3]द्धस्य** प्रच्छादितस्य **आत्मनो** जीवस्य **विज्ञप्तिः** अर्थप्रकाशकत्वलक्षणा **अनेकप्रकारतः** इन्द्रि[4]याऽनिन्द्रियाऽतीन्द्रियप्रकारम् सकलविकलसन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थप्रकाशनप्रकारम् स्वपररूपोद्योतनप्रकारम् प्रत्यक्षेतरत्वप्रकारं वा आश्रित्य भवति । [2]ननु पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः, कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तो वा न कश्चिदात्माऽस्ति तत्कस्य अनेकप्रकारतो विज्ञप्तिः स्यादिति सौगत-चार्वाकौ, तौ च प्रतिपादितविस्मरणशीलौ, सन्ताननिषेधावस[3]रे हि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः अनादिनिधनः प्रतिपादितः प्रमाता, चार्वाकमतपरीक्षाया[4]ञ्च कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तः इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'यथास्वम्'** इत्यादि । यस्य ज्ञानस्य य[5]द् आवारकं

विवृतिव्याख्यानम्–

स्वम् आत्मीयं कर्म तस्यानतिक्रमेण **यथास्वम्** । **कर्मक्षयोपशमा**वपेक्षेते इत्येवं शीले **तदपेक्षिणी करणमनसी** इन्द्रियानिन्द्रिये **निमित्तं विज्ञानस्य,** न बहिरर्थाद[6]यः, एतच्चानन्तरमेव प्रपञ्चितम् । दृष्टे च करणमनसी स्वावरणरजोनीहारादिक्षयोपशमापेक्षिणी पादपादिविज्ञानस्य निमित्तम् ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्ति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैराविद्ध सम्बद्धः स चासावात्मा च तस्य विज्ञप्तिरर्थोपलब्धि । कथम् ? अनेकप्रकारत अनेके नानारूपा• प्रत्यक्षेतरदूरासन्नार्थप्रतिभासनविशेषा क्षयोपशमविशेषाश्च तानाश्रित्येत्यर्थं । तदावरणविशेषनिरासे तु सकलार्थविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यते एव ज्ञानस्वभावत्वात्तस्येति ।"–लघी० ता० पृ० ७८ । उद्धृतोऽयम्–सिद्धिवि० टी० १९३ A । आव० नि० मलय० पृ० १७ । नन्दि० मलय० पृ० ६६ । इष्टोप० टी० पृ० ३० । कर्मप्र० टी० पृ० ८ । तुलना–"मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकविधेक्ष्यते । कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न किम् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१ ।

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० ६४० टि० २ । (२) सौगतचार्वाकौ । (३) पृ० ९ । (४) पृ० ३४३ ।

1–स्वकर्म–ज० वि० । 2 विषमोपयोग–ब०, विश्लेषोपयोग–श्र० । 3 विरुद्धस्य आ० । 4–न्द्रियायप्रका–श्र० । 5 ययावारकं आ० । 6–यः तच्चा–आ० ।

दृष्टेन च अदृष्टसिद्धिः[1]। **'नाननुकृत'** इत्यादिना पर(1)मतमाशङ्कते–कार्येण **अननुकृता-न्वयव्यतिरेकौ** यस्य तत् तथाविधं **न कारणम्** अपि तु अनुकृतान्वयव्यतिरेकमेव कारणम्। यच्च **अकारणं** तन्न **विषयो**[2] ज्ञानस्य, **इति** शब्दः परमतपरिसमाप्तौ। अत्र दूषणमाह–**'बालिशगीतम्'** इत्यादि। **बालिशस्य** अविवेकिनो **गीतं** भाषितम्। कुत एतदित्याह–**तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्**, नालोकात् इत्यभिप्रायः। तथा **तदविच्छेदात्** तस्य आवरणस्य विच्छेदाभावात् हेतोः **आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात्**। इतश्च नालोकात् तद्दर्शनम् इत्याह–**'काच'** इत्यादि। **काचः** चक्षुषो व्याधिविशेषः **आदि**र्यस्य तिमिरादेः स तथोक्तः तेन **उपहतानि इन्द्रियाणि** येषां तेषां शुक्ले **शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः 'सत्यपि[3] आलोके बालिशगीतम्'** इति सम्बन्धः। तथा **मुमूर्षूणां**[4] प्राणिनां **यथासंभवं** संभवानतिक्रमेण **अर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात्** कारणात् **न अर्थादयः** आदिशब्देन आलोकादिपरिग्रहः, **कारणं विज्ञानस्य इति स्थितम्**। पूर्वं(2) नैयायिकमपेक्ष्योक्तम्, इदं सौगतमिति प्रविभागः[5]।

अत्रैव दूषणान्तरमाह–

न(3) तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

---

(१) सौगतमतम्। (२) पृ० ६६३। (३) इहज्ञाने। प्रामाण्य प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य। हेतुता निमित्तभाव न भजन्ति। किन्त इत्याह–तज्जन्म तस्मादर्थाज्जन्म उत्पत्ति, तस्य करणग्रामेण व्यभिचारात्। न च ताद्रूप्य तस्यार्थस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्तद्रूप तस्य भावस्ताद्रूप्यम्, तस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन व्यभिचारात्। नापि तद्व्यवसिति तत्रार्थे व्यवसितिर्व्यवसायो निश्चय, तस्य द्विचन्द्रादिव्यवसायेन व्यभिचारात्। कथम्? प्रत्येकम् एकमेक प्रतिनियतमेकैकमित्यर्थ। सह मिलित्वा वा तानि प्रामाण्यहेतुता न भजन्ति। तत्त्रितयस्यापि शुक्ले शखे पीताकारज्ञानजनकेन समनन्तरप्रत्ययेन व्यभिचारात्।"–लघी०ता०पृ०७९। तज्जन्मादित्रयस्य प्रामाण्यहेतुतानिरूपका बौद्धग्रन्था –"विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते।"–**प्रमाणसमु० १।१०**। "तस्माच्चक्षुश्च रूपञ्च प्रतीत्योदेति नेत्रधी। ३।१९०। भिन्नकालं कथ ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यता विदु। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्॥ कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत्। तत्तेनाप्यत्र तद्रूप गृहीतमिति चोच्यते॥ (३।२४७।४८।) अर्थेन घटयत्येना न हि मुक्त्वार्थरूपताम्। तस्मात्प्रमेयाधिगते साधन मेयरूपता॥"–**प्रमाणवा० ३।३०५**। "तदाकरं हि सवेदनमर्थं व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्वेति।"–**प्रमाणवार्त्तिकालं० पृ० २**। "किमर्थं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम्? क्रियाकर्मव्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निबन्धनम्''सारूप्यतोऽन्यथा न भवति नीलस्य कर्मण सवित्ति पीतस्य वेति क्रियाकर्मप्रतिनियमार्थमिष्यते।"–**प्रमाणवार्त्तिकालं० पृ० ११९**। अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरेव अध्यवसाय, तथाहि–"अविकल्पमपि प्रत्यक्षं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्। नि शेषव्यवहाराङ्ग तद्द्वारेण भवत्यत।"–**तत्त्वसं० का० १३०६**।

1–**सिद्धेः** श्र०। 2–**यो विज्ञानस्य** श्र०, ब०। 3 **सत्यालोके** श्र०। 4 **मुमूक्षूणां** ब०। 5 **प्रतिभाग.** आ०।

विवृतिः–नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य[1] निवृत्तेः अतीततमवत्। न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाभावात् भविष्यत्तमवत्। नार्थसारूप्यभृत् विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्त्तिधर्माभावात्। नहि[2] ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्। ततः तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रति उपकारकं स्यात् लक्षणत्वेन ?

कारिकार्थ – तस्माद् अर्थात् जन्म **तज्जन्म न** ज्ञानस्य **प्रामाण्यं प्रति हेतुतां भजन्ती(ती)ह[3]** लोके, **न ताद्रूप्यं** तस्य अर्थस्य रूपमिव रूपं यस्य तस्य भाव. **ताद्रूप्यं न** तत्प्रति तां 'भजति' इति सम्बन्धः। **न तद्व्यवसितिः तस्य** अर्थस्य व्यवसितिः निर्णीतिः न तत्प्रति तां भजतीति, **सह** युगपत् **प्रत्येकं वा** एकमेकं वा एकमेकं प्रति प्रत्येकम्, **'वा'** इति समुच्चये। तत्र न तावत् प्रत्येकम्[6];

(१) तुलना–"कार्यकालमप्राप्नुवत कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत् ।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८९।** (२) तुलना–"यथैवाक्षविषयेऽभिधानं नास्ति तथाऽक्षज्ञाने विषयोऽपि नैवास्ति ततस्तत्र प्रतिभासमानेऽपि न प्रतिभासेत ।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८।** (३) ऋ० पू० प्रतौ 'भजतीह' इत्येव पाठ.। 'तज्जन्म' इति कर्त्रनुरोधात् भजतीति पाठ एव समुचित । (४) प्रामाण्य प्रति । (५) हेतुताम् । (६) तज्जन्मादय प्रत्येक प्रामाण्य प्रति हेतुता न भजन्ति । तुलना–"तदर्थवेदन केन ? ताद्रूप्यात्, व्यभिचारि तत् ।' तदर्थसारूप्य व्यभिचारि, द्विचन्द्रकेशोण्डुकज्ञानाद्याकारस्य अर्थमन्तरेणापि भावात्। यच्चार्थसारूप्यमनुभवनिबन्धनमुक्त तदप्यसम्भवि इति दर्शयन्नाह–सरूपयन्ति तत्केन स्थूलाभासञ्च तेऽणव ॥३२१॥ तन्नार्थरूपता तस्य सत्यार्थाव्यभिचारिणी । तत्सवेदनभावस्य न समर्था प्रसाधने ॥३२२॥ तस्मात्तुल्यज्ञानस्य नार्थरूपताऽस्ति । सत्या वाऽर्थरूपताया व्यभिचारिणी सा द्विचन्द्रज्ञानादिषु । ततश्च तत्सवेदनभावस्य अर्थसवेदनत्वस्य प्रसाधनेषु साऽर्थरूपता न समर्था । न केवलादर्थसारूप्यादर्थसवेदनत्व येन व्यभिचार स्यात्। किं तर्हि ? सारूप्यतदुत्पत्तिभ्या ते च द्विचन्द्रज्ञानादीना न स्त' चन्द्रद्वयस्याभावात् तदुत्पत्तेरयोगात् । एतदेवाह–तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि सवेद्यलक्षणम् । सवेद्यं स्यात् समानार्थं विज्ञान समनन्तरम् ॥३२३॥ तेन ग्राह्येण सारूप्य तस्मादुत्पत्ति. स्वसवेद्यस्य लक्षण यदि सम्मतम्, तदापि समनन्तर ज्ञानमुत्तरज्ञानेन समानार्थं समानग्राह्य सवेद्य स्यात् तत्सरूपतदुत्पत्त्यो सभवात् ।" –**प्रमाणवा०, मनोरथ० २।३२०–२३।** "किञ्च यदाकार यतश्च संवेदनमुत्पद्यते यदि तदालम्बन तर्हि धारावाहिकविज्ञानाना पूर्वंपूर्वमालम्बनमुत्तरोत्तरस्य स्यात् उत्पादकत्वात् सरूपत्वाच्च "–**बृहतीप० पृ० ७९।** "तत्पुन तज्जन्मसारूप्यादिलक्षण समानार्थनानैकसन्तानेषु सभवात् व्यभिचरति तदध्यवसायहेतुत्वञ्च ।"–**सिद्धिवि०, टी० पृ० ५६६।** "न केवल विषयवलाद् दृष्टेरुत्पत्तिरपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च। विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषय प्रतिभासते न पुन करणम् तदाकारानुकरणादिति चेत्तर्हि तदर्थवत्करणमनुकर्त्तुमर्हति न चार्थं विशेषाभावात्, दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेऽपि तदध्यवसायानियमाद् वहिरर्थविषयत्वमित्यसारम्; वर्णादाविव उपादानेऽप्यध्यवसायप्रसङ्गात् ।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८। प्रमेयक० पृ० १०८। सन्मति० टी० पृ० ५१०। प्रमेयर० २।९।** "अपि च व्यस्ते

1–**कारिणो** ई० वि०। 2–**मूर्त्तमूर्त्तप्र**–ज० वि०। 3 **'अर्थस्य'** नास्ति आ०। 4 **भजन्तीति** श्र०। 5 **भजन्तीति** श्र०। 6 **'एकमेकं वा'** नास्ति व०, श्र०।

तज्जन्मनः करणग्रामेण व्यभिचारात्, ताद्रूप्यस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तद्ध्यवसितेः द्विचन्द्राध्यवसायेन। नापि सह[1], शुक्ले शङ्खे पीतभ्रान्तिकारणेन पीतज्ञानेन अनेकान्तात्।

एते[2]त्त्रितयमसंभवदोषेण दूषयन् कारिकां व्याचष्टे **'नार्थः'** इत्यादिना। सौगतस्य **नार्थः कारणं विज्ञानस्य**। कुतः इत्याह–**'कार्यकालम्'** इत्यादि।

विवृतिव्याख्यानम्–

कार्यस्य स्वज्ञानस्य **कालमप्राप्य निवृत्तेः** विनाशात्। अत्र दृष्टान्तमाह–**'अतीततमवत्'** इति। प्रयोगः–अनन्तरातीतोऽर्थः न ज्ञानकारणम्, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्वात्, यस्य तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्वं नासौ तत्कारणम् यथा अतीततमोऽर्थः, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानश्च अनन्तरातीतोऽर्थः इति। एतेन भाविनोऽप्यर्थस्य तत्कारणत्वं प्रत्याख्यातम्। यथा च अर्थो न तज्ज्ञानकारणं तथा **न तज्ज्ञानं तत्कार्यम्।** कुत एतदित्याह–**'तद्'** इत्यादि। **तस्य** परपरिकल्पितस्य अर्थस्य **अभावे एव**[1] **भावात्** उत्पत्तेः तज्ज्ञानस्य **तद्भावे च अभावाद्** अनुत्पत्तेः, अ[3]न्यथा स[2]न्तानोच्छेदः स्यात्। अत्र दृष्टान्तमाह–**'भविष्यत्तमवत्'** इति। निषिद्धा च अर्थकार्यता ज्ञानस्य प्रपञ्चतः प्राग् इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन।

सारूप्यनिषेधार्थमाह–**'नार्थः'** इत्यादि। **विज्ञानं न अर्थसारूप्यभृत्।** कुतः? **अमूर्त्तत्वात्।** ननु अमूर्त्तञ्च स्यात् तद्रूपञ्च, को विरोधः? इति चेदत्राह–**'मूर्त्ता एव'** इत्यादि। **मूर्त्ता एव हि** यस्मात् **दर्पणादयो मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः।** अमूर्त्तमपि किञ्चित् दृष्टम् इति चेदत्राह–**'नाऽमूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृद्** दृष्टमिति। प्रयोगः–ज्ञानं नार्थप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तत्वात्, यत् पुनरर्थप्रतिबिम्बभृत् तन्नामूर्त्तम् यथा दर्पणादि, अमूर्त्तञ्च ज्ञानमिति। कुतोऽस्य अमूर्त्तत्वं सिद्धमिति चेत्? **मूर्ति**[3]**धर्माभावात्।** त[4]द्धर्मो हि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वे सति अचेतनत्वम्, नच ज्ञाने तदस्ति। निराकृतञ्चास्य व्यासतः सारूप्यं तन्निराका[4]रत्वसिद्धिप्रघट्टके[5] इति कृतं प्रयासेन।

समस्ते वैते ग्रहणकारण स्याताम्? यदि व्यस्ते; तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहक प्राप्नोति तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षण पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्, तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समन्तरपूर्वज्ञानग्राहकत्व प्रसज्येत।"–**प्रमाणमी० पृ० २०। प्रमाणनय० ४।४७। रत्नाकरा० ४।४७।**

(१) तज्जन्मादय सह मिलित्वाऽपि प्रामाण्यं प्रति हेतुता न भजन्ति। (२) तज्जन्मादित्रयम्। (३) यदि कारणभूतस्य अर्थस्य काले एव कार्यभूत ज्ञान समुत्पद्येत तदा कार्यकारणयो समकालत्वापत्त्या कारणभूतस्यार्थस्यापि स्वकारणकालता तस्यापि स्वकारणकालतेत्येव सकलोत्तरक्षणानामाद्यक्षणवृत्तिता द्वितीये च क्षणे नाश इति सकलसन्तानोच्छेदप्रसङ्गः इति भाव। तुलना–"सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् तत सन्तानाभावात्।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७।** (४) मूर्तिधर्मो हि। (५) पृ० १६७।

---

1 **एव तदुत्पत्तेः** श्र०। 2 **सज्ज्ञानोच्छे**–ब०। 3 **मूर्त्तधर्मा**–ब०। 4–**कारसिद्धि**–आ०।

तदध्यवसितिं निराकुर्वन्नाह–'**नहि**' इत्यादि । हि[1] यस्मात् **न ज्ञाने** अधिकरणभूते **अर्थो** घटादिः **अस्ति,** किन्तु बहिः सोऽस्ति, **तदात्मको वा** ज्ञानस्वभावो वा '**अर्थः**' इति सम्बन्धः, सारूप्यनिषेधात्, अन्यत्र[3] तत्प्रतिभासनात् इति मन्यते । **येन** तत्र[2] सत्त्वेन तदात्मकत्वेन[3] वा **तस्मिन्** विज्ञाने **प्रतिभासमाने प्रतिभासेत,** '**अर्थः**' इति घटना । क इव स[4] तत्र[5] नास्ति तदात्मको[6] वा न इति चेदत्राह–**शब्दवत्, शब्द** इव तद्वदिति । ततः किं जातम् ? इत्याह–'**तत्**' इत्यादि[1] । यतो ज्ञानस्वरूपे प्रतिभासमानेऽपि तदाधेय-तदात्मकतया शब्दार्थयोः प्रतिभासो नास्ति **ततः तस्यार्थस्य अध्यवसायो**[2] **न स्यात्** । अध्यवसायो[7][8] हि अभिलापवती[4] प्रतीतिः, न चासौ[9] तयोरननुभवे[10] घटते अतिप्रसङ्गात् । विस्तरतश्च अविकल्पकात् तदध्यवसायप्रतिषेधः सविकल्पकसिद्धौ[11] प्ररूपित इत्युपरम्यते । अतः[5] सिद्धं फलं '**कथम्**' इत्यादिना दर्शयन्नाह–**एतत् परेणोक्तमविद्यमानं त्रितयं** तदुत्पत्तिसारूप्याध्यवसायलक्षणं **ज्ञानप्रामाण्यं प्रति कथमुपकारकम् ?** न कथञ्चित् । केन रूपेण उपकारकं नैतत् स्यात् ? इत्याह–**लक्षणत्वेन** । असंभव[6]विलक्षणमेतत् इत्यभिप्रायः ।

ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासंभवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह–

[12]स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं[7] परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

विवृतिः–अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः नाऽलब्धात्मनोः[8] कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

कारिकार्थ – **स्वेन** आत्मीयेन **हेतुना जनितोऽप्यर्थः**[9] घटाद्यर्थः **परिच्छेद्यः स्वतः** स्वरूपेण तत्[13]स्वभावतयैवार्थस्य[14] स्वहेतोरुत्पत्तेः । नहि ज्ञानेन अर्थस्त[10]त्स्वभावो जन्यते, अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्–सिद्धे हि ज्ञाने तथाविधार्थ-

(१) बहिर्देशे भूतलादौ अर्थस्य प्रतिभासनात् । (२) ज्ञाने । (३) ज्ञानात्मकत्वेन वा हेतुना । (४) अर्थ । (५) ज्ञाने । (६) ज्ञानात्मक । (७) विकल्प । (८) तुलना–पृ० ४६ टि० २ । (९) शाब्दी प्रतीति । (१०) शब्दार्थयो । (११) पृ० ४८ । (१२) "यथा स्यात् । क ? घटादि । किं विशिष्ट स्यात् ? परिच्छेद्यो ज्ञेय । कथम् ? स्वत स्वभावादेव न ज्ञानादुत्पत्त्यादे । किम्भूतोऽपि स्वहेतुजनितोऽपि स्वस्य हेतुर्मृदादिसामग्री तेन जनितोऽपि निष्पादितोऽपि । तथा ज्ञान परिच्छेदात्मकमर्थग्रहणात्मक स्यात् । कुत ? स्वभावादेव नार्थादुत्पत्त्यादे । किंविशिष्टमपि ? स्वहेतूत्थमपि, स्वस्य हेतुरन्तरङ्ग आवरणक्षयोपशमलक्षण बहिरङ्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रियरूप तस्मादुत्था उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्त तादृशमपीत्यर्थ ।"–लघी० ता० पृ० ८० । उद्धृतेय कारिका निम्नग्रन्थेषु–सिद्धि० टी० पृ० १० B. । न्यायवि० वि० पृ० ३३ A । (१३) परिच्छेद्यस्वभावेन । (१४) अर्थस्य ।

1–दिनादर्शयतो ज्ञान–श्र० । 2–यो हि न आ० । 3 योपि अभिलाषवतीति न आ० । 4–लाप प्रतीति ब० । 5 अत्रसि–श्र० । 6 असभवति लक्ष–श्र० । 7–हेतुत्वं ज० वि० । 8–ध्यातमाकर्त्त- ई० वि० । 9 जनितोपि घटा–ब० । 10 अर्थस्वभावो आ०, अर्थ स्वतः स्वभावो ब० ।

सिद्धिः, तत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरिति । **यथा** येन योग्यताप्रकारेण **तथा ज्ञानं** [1]**स्वहेतूत्थं** करणमनोलक्षणस्वकारणप्रभवं **परिच्छेदात्मकम्** अर्थग्रहणस्वभावं **स्वतो** न अर्थोत्पत्त्यादेः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–'**अर्थज्ञानयोः**' इत्यादि । **स्वकारणात्** न परस्परतः **आत्मलाभमासादयतोरेव** यथासङ्ख्येन **परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः**,

विवृतिव्याख्यानम्–

न अलब्धात्मनोः सर्वथा नित्ययोः क्षणिकयोर्वा । अत्र दृष्टान्तमाह–'**कर्त्तृकर्मस्वभाववत्**' इति । यथा स्वकारणाद् आत्मलाभमासादयतोरेव अनयोः[1] कर्त्तृकर्मस्वभावः नैकान्तेन सतोः नाप्यसतोः, तथा प्रकृतोऽपि[2] इति[2]। उपसंहारार्थमाह–'**ततः**' इत्यादि । यत. स्वकारणादुत्पन्नयोः तयोः[3] तथाभावः[4] सिद्धः **ततः तस्मात्** अर्थाद् **उत्पत्तिमन्तरेणापि** अर्थज्ञानयोः **ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्यात्** । कुतः ? **स्वभावतः** स्वयोग्यतायाः । **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण **व्यवस्थाभावप्रसङ्गात्** ।

ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तद्भावे[5] तत्फलं वक्तव्यम्, तच्च 'अधिगतिमात्रम्' इत्येके[6], 'स्वरूपस्यैव अधिगतिः' इत्यन्ये[7], 'अर्थस्यैव' इत्यपरे[8] इत्याशङ्क्याह–

व्यवसायात्मकं[9] ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं[3] प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६० ॥

विवृतिः–अनिर्णीति[4]फलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अविसंवादकत्वञ्च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात्तद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणमिति व्यवस्थितम् । स्वतो[5]ऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात् । तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा

(१) ज्ञानार्थयो । 'ज्ञान घट जानाति' इत्यत्र ज्ञानस्य कर्तृता घटस्य च कर्मत्वमिति । (२) ग्राह्यग्राहकभावोऽपि । (३) ज्ञानार्थयो. । (४) कर्तृकर्मभाव । (५) ग्राह्यग्राहकभावे । (६) बौद्धाचार्याः । "उभयत्र तदेव ज्ञान फलमधिगमरूपत्वात् ।"–**न्यायप्र० पृ० ७** । "तदेव च प्रत्यक्ष ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।"–**न्यायबि० पृ० २५ । तत्त्वस० का० १३४३** । (७) "स्वसंवित्ति फलञ्चास्य··।"–**प्रमाणस० १।१०**। "फलं स्ववित् ।"–**प्रमाणवा० ३।३६६** । (८) नैयायिकादय । "प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् ।"–**प्रश० भा० पृ० १८७**। (९) "मतमिष्ट ज्ञातञ्च । किम् ? ज्ञानम् । किं स्वरूपम् व्यवसायात्मक विशेषस्य जात्याद्याकारस्य अवसायो निश्चिय स एवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् । अनेन प्रत्यक्ष कल्पनापोढमित्येतन्निरस्तम् । पुन किंविशिष्टम् ? आत्मार्थग्राहकम्, आत्मस्वरूपमर्थो बाह्यो घटादिस्तौ गृह्णाति निर्णयतीत्यात्मार्थग्राहकम् अनेन ज्ञानमर्थग्राहकमेव न स्वरूपग्राहकम् स्वग्राहकमेव नार्थग्राहकमित्येकान्तद्वय निराकृतम् । तेन कारणेन अश्नुते भजति किम् ? ग्रहणं ज्ञान कर्तृ । किं रूपम् ? निर्णय स्वार्थव्यवसायस्तद्रूपमित्यर्थ । किं कर्मतापन्नम् ? प्रामाण्यम् प्रमाणभावम् । किंविशिष्टम् ? मुख्यमनुपचरितम् ज्ञानकारणत्वादुपचारेणैव इन्द्रियलिङ्गादे प्रमाणत्वात् ।"–**लघी०ता०पृ०८१**।

1 **स्वरूप हेतूत्थं** श्र० । 2 **'इति'** नास्ति श्र० । 3 **मुख्यप्रामा–**ज० वि० । 4–**फलस्याधिग–**ई० वि० । 5 **स्वतोप्यवसा–**ई० वि० ।

विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहार-नियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं ब्रुवाणः स्वस्थः ?

कारिकार्थ – **व्यवसायः** स्वार्थनिश्चय **आत्मा** स्वभावो यस्य तत् तदात्मकम् व्यवसायफलात्मकमित्यर्थः । अनेन 'निर्विकल्पक[1] विभिन्नाऽधिगतिमात्रफ[2]लप्रसाधकं प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम । तथाविधफलात्मकञ्च प्रमाण किम् ? इत्याह–**ज्ञानम्** । अनेनापि 'चक्षुरादिकमज्ञान प्रमाणम्' इति प्रतिव्यूढम्, तस्य[1] तदात्मकत्व[2]विरोधात् । प्रसाधितञ्च प्रपञ्चत. प्रमाणात स्वपरव्यवसायात्मकं फलं कथञ्चिदभिन्नम् **'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्याद्दुत्तरोत्तरम्'** [लघी० का० ७] इ[3]त्यत्र । पुनरपि कथम्भूत तत् ? इत्याह–**आत्मार्थग्राहकम्**, स्वपररूपवेदकम् । **मतम्** स्वसंवेदनाध्यक्षेण ज्ञातम् । समर्थितञ्च व्यासतो ज्ञानस्य आत्मग्राहकत्वं स्वसंवेदनसिद्धौ[4], अर्थग्राहकत्वञ्च बाह्यार्थसिद्धौ[5] इत्यलमतिविस्तरेण । ततः किं सिद्धम् ? इत्याह–**'ग्रहणम्'** इत्यादि । येन कारणेन **व्यवसायात्मकं ज्ञानम् आत्मार्थग्राहकं** तेन का[4]रणेन **ग्रहणं** स्वार्थाधिगति. **निर्णयो मुख्यमनुपचरितं प्रामाण्यमश्नुते,** न निर्विकल्पक चक्षुरादि वा ।

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातुमाह–**'अनिर्णीतिफलस्य'** इत्यादि । **अनिर्णीतिफलस्य** निश्चयफलरहितस्य अविकल्पकस्य इत्यर्थः । **नाधिगमोऽस्ति** नानुभवोस्ति, कुत एतदित्याह–**विचार्यमाणायोगात्,** यस्य विचार्यमाणस्यायोगो न तस्यानुभवो यथा अद्वैतशून्यादितत्त्वस्य, विचार्यमाणस्यायोगश्च निर्विकल्पकदर्शनस्य इति । यथा चास्य विचार्यमाणस्याऽयोगः तथा सविकल्पकसि[6]द्धौ प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् । अथ अविकल्पकस्य अविसंवादकत्वात् प्रामाण्यं प्रार्थ्यते, अत्राह–**'अविसंवाद'** इत्यादि । **अविसंवादकत्वं** गृहीतार्थतथाभावः **तदायत्तं** निर्णयायत्तम् । कुत एतदित्याह–**'तद्'** इत्यादि । **तस्य** निर्णयस्य **अभावे** क्षणक्ष[5]यादिदर्शने मरीचिकादिदर्शने वा संशयकारिणि **अभावाद** अविसंवादकत्वस्य, **तद्भावे** च नि[6]र्णयसद्भावे च **भावाद्** अविसंवादकत्वस्य इति । **व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणम्** इति एव व्यवस्थितमित्युपसंहारः ।

माभून्निर्विकल्पकं स्वयमव्यवसायात्मकत्वात् त[7]त्फलं त[8]ज्जनकत्वात्तु स्यात् इति

(१) चक्षुरादे । (२) व्यवसायफलात्मकत्व । (३) पृ० २०९ । (४) पृ० १७६–। (५) पृ० ११९–। (६) पृ० ४७ । (७) प्रमाणफलम् । (८) व्यवसायात्मकविकल्पोत्पादकत्वात् । पूर्वपक्ष – "तस्मादध्यवसाय कुर्वदेव प्रत्यक्ष प्रमाण भवति, अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापित भवति विज्ञानम् ।"–न्यायबि० टी० पृ० २७ । तत्त्वस० का० १३०६ । तुलना–"अदोषोऽय प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधान सौगतस्य, तत्राभिलापाभावात् ।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ ।

1–निर्णय ब० । 2–फलसाध–ब०, श्र० । 3–कत्वावि–ब० । 4–णेन यद्ग्रहण ब० । 5–क्षयादिदर्शने वा संशय–ब० । 6 'निर्णयसद्भावे च' नास्ति ब० ।

चेदत्राह–**'स्वतः'** इत्यादि । **स्वतोऽव्यवसायस्य** स्वयं निर्विकल्पकस्य **विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्** । [1]एतच्च सविकल्पकसिद्धौ[1] सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । तदङ्गत्वे वा दूषणमाह–**'तत्'** इत्यादि । **तस्य** विकल्पस्य **उत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे स्वतोऽव्यवसायस्य अभिलापससंर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या**[2] । अभिलप्यतेऽनेन अभिलप्यत इति वा **अभिलापः** शब्दजात्यादी[2] तयोः **संसर्गो** वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः तस्मै **योग्यः** तस्य भावस्तत्ता **न प्रतिषेध्या** । यथैवं[3] हि विकल्पस्य[3] अर्थाकारलेशदर्शनाद्[4] दर्शनस्य[5] तदाकारताऽनुमीयते[6][7] तथा[5] तस्य[8] अभिलापसंसर्गयोग्यतादर्शनात् दर्शनस्यापि सोऽनुमीयतामविशेषात्[9] । दर्शनेऽसंभविनी तस्य[10] तद्योग्यता[11] भवति नाथाकार[12] इति किंकृतोऽयं विभाग[13]: ? तन्निषेधे **'अन्यथा'** इत्यादिना दूषणमाह । **अन्यथा** तद्योग्यतानिषेधप्रकारेण **विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्**[6], सा **'न निषेध्या'** इति सम्बन्ध. । ननु विकल्पवासनात एव विकल्पोत्पत्तिः, दर्शनं तु केवलं तत्प्रबोधकम्[14] ततोऽयमदोषः; इत्यत्राह–**'सति'** इत्यादि । **सति** विद्यमाने **मुख्ये** स्वपरव्यवस्थायाम् अन्यनिरपेक्षे **निर्णयात्मके ज्ञाने** । पुनरपि कथम्भूते इत्याह–**'सकल'** इत्यादि । अर्थानुभवसंस्कारतत्प्रबोधस्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानप्रवृत्तिलक्षणः **सकलो व्यवहारः तन्नियामके ब्रुवाणः** सौगतः **कथं स्वस्थः** ? किं ब्रुवाण इत्याह–**ज्ञानम्** । कथम्भूतम् ? **अकिञ्चित्करं** निर्विकल्पकं **असंवेद्य** 'न संवेद्यते' इत्यसंवेद्यम्, न विद्यते वा संवेद्यं ग्राह्यं यस्य, अत एव **अनुपायमनुपेयमिति**[7] ।

(१) पृ० ४७ । (२) बौद्धा हि प्रत्यक्ष निर्विकल्पकात्मकमुररीकुर्वन्ति अतस्तै शब्दससर्गयोग्यता प्रत्यक्षस्य निषिध्यते । तथा चोक्तम्–"अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना, तया रहितम् ।"–न्यायबि० पृ० १३ । (३) नीलमिदमित्याकारकविकल्पस्य । (४) नीलाकारतादर्शनात् । (५) निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । (६) नीलाकारता । (७) निर्विकल्पक नीलाकारं तत उत्पन्ने विकल्पे नीलाकारत्वाऽन्यथानुपपत्ते । (८) विकल्पस्य । (९) अभिलापससर्गयोग्यता । निर्विकल्पके अभिलापससर्गयोग्यताऽस्ति तत उत्पन्ने विकल्पे अभिलापससर्गयोग्यताऽन्यथानुपपत्ते । (१०) विकल्पस्य । (११) अभिलापससर्गयोग्यता । (१२) यदि दर्शनेऽसभविनी अभिलापससर्गयोग्यता विकल्पे घटेत तर्हि दर्शनेऽसभवन्नपि नीलाकार विकल्पे स्यात् तथा च नीलविकल्पस्य साक्षान्नीलस्वलक्षणविषयताप्राप्ते 'विकल्पोऽवस्तुनिर्भास' इति सिद्धान्तविरोध इति भाव. । (१३) तुलना–"यथैव हि वर्णादावभिलापाभाव. तथा प्रत्यक्षेऽपि तस्य अभिलापकल्पनातोऽपोढत्वात् अनभिलापात्मकार्थसामर्थ्येनोत्पत्ते । प्रत्यक्षस्य तदभावेऽप्यध्यवसायकल्पनाया प्रत्यक्ष किन्नाध्यवस्येत् स्वलक्षण स्वयमभिलापशून्यमपि । प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुना रूपादिरिति कथ सुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽध्यवसायस्योत्पत्ति प्रदीपादे कज्जलादिवत् विजातीयादपि कारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्, तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मन प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत एव तद्वदिति । जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थात् कथ जात्यादिकल्पनात्मक प्रत्यक्ष स्यादिति चेत्; प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्प कथ जात्यादिकल्पनात्मक स्यादिति सम. पर्यनुयोग ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८ । (१४) विकल्पवासना ।

1 तच्च श्र० । 2–त्यादि तयो श्र० । 3–व विक–श्र० । 4–नादर्शनस्य श्र० । 5 तथा सत्यभि–श्र० । 6 विकलोत्प–श्र० । 7 अनुमेयमिति ब० ।

एवं सामान्येन व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य, अधुना तद्भेदं दर्शयन्नाह–

तत्[1]प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।
अन्तर्भावान्न[1] युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

विवृतिः–इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिता[2]हितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशि[3]कं प्रत्यक्षम् अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् । [4]अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटतरमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् । त[5]दस्ति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं परोक्षं सकलप्रमाणप्रमेययत्तास्वरूपाभिधायि बाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्तमिति नेहोच्यते ।

कारिकार्थ – यद्व्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणं प्रतिपादितं **तत्** [2]**द्विधैव,** नैकविध नापि त्र्यादिविधम् इत्येवकारार्थः । कथ तद् द्विधैव ? इत्याह–**प्रत्यक्षं परोक्षञ्च ।** इतिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य., इति एवम्, न प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । ननु अनुमानोपमानादेः ततोऽर्थान्तरत्वात् कथं '**द्विधैव**' इति नियमः स्यात् ? इत्याह–'**अत्र**' इत्यादि । **अत्र** प्रत्यक्षपरोक्षयो. **अन्यासां** समी[3]चीन**संविदाम् अन्तर्भावात् द्विधैव** इति । अन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे चिन्तितः । अतश्च **न युज्यन्ते नियमाः परैः** सौगतादिभिः **कल्पिताः ।**

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां विवृण्वन्नाह–'**इन्द्रिय**' इत्यादि । **इन्द्रियाणां** चक्षुरादीनां कार्यभूतम् **अर्थस्य** घटादे. ग्राहक न मरीचिकातोयादेः, [4]**ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।**

(१) यत्सम्यग्ज्ञानात्मक प्रमाण तत् द्विधैव द्विप्रकारमेव । तावेव प्रकारावह–प्रत्यक्ष परोक्ष चेति । नन्वनुमानादिप्रमाणभेदमस्त्यापि सभाव्यत इत्याह–अत्रेत्यादि । न युज्यन्ते न सभवन्ति । के ? नियमा द्वित्र्यादिसख्याप्रतिज्ञा । किंविशिष्टा ? परपरिकल्पिता परै सौगतादिभि कल्पिता रचिता । कुतो न युज्यन्ते ? अन्तर्भावात् सग्रहात् । कासाम् ? अन्यसविदाम् अनुमानादिज्ञानानाम् । क्व ? अत्रैव प्रत्यक्षपरोक्षसग्रह एव ।"–लघी० ता० पृ० ८१ । (२) तुलना–"ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम्, हेयस्य हानमनुष्ठानमुपादेयस्य चोपादानम् । ततो हेयोपादेययो हानोपादानलक्षणा नु सिद्धिरित्युच्येत ।"–न्यायबि० टी० पृ० ८। "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् ।"–परीक्षामु० १।२ । प्रमाणनय० १।३ । (३) साव्यवहारिक प्रत्यक्षम् । तुलना–लघी० टि० पृ० १३२ प० १० । (४) "लक्षण सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् । अक्रम करणातीतमकलङ्क महीयसाम् ॥"–न्यायवि० का० १६८ । प्रमाणस० का० ९ । तुलना–न्यायवि० टि० पृ० १६२ प० २५ । न्यायकुमु० पृ०२५ टि० २। (५) तुलना–"अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ४२१ B । अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । प्रमाणमी० पृ० १४ । षड्द० बृह० पृ० ५३ ।

1–न्नु यु–ज० वि० । 2 द्विविधैव ब० । 3–चीनविदाम् ब० । 4 ज्ञानं कर्तृ प्रत्यक्षम् ब० ।

किंविशिष्टम् ? **स्पष्टम्** विशदम्। निर्विकल्पकं[1] परोक्षं[2] ज्ञानान्तरप्रत्यक्षं[3] वा तथा[4] स्यात् इत्यत्राह–'हित' इत्यादि। **हितं** सुखं तत्साधनञ्च **अहितं** दुःखं तत्कारणञ्च तयोः **प्राप्तिपरिहारौ** तत्र **समर्थं** योग्यम्। नच निर्विकल्पकादेः तत्र[5] सामर्थ्यम् अर्थमात्रग्रहणेऽप्यस्य[6] सामर्थ्यासंभवात् इत्युक्तम्[7] सविकल्पकादिसिद्धिप्रघट्टके। ननु सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना अर्थस्य गृहीतत्वात्[1] तत्र[8] प्रमाणान्तराप्रवृत्तिः स्यात् इत्यत्राह–**प्रादेशिकम्**। सर्वमस्मदादिप्रत्यक्ष प्रदेश एव नियतम्। द्विचन्द्रादिदर्शनेऽपि तैमिरिकज्ञानेन एकत्वाद्यदर्शनवत्, नीलादिदर्शनेऽपि क्षणपरिणामादर्शनवद्वा। साम्प्रतमिन्द्रियज्ञानस्य[2] स्वसंवेदनप्रत्यक्षं दर्शयन्नाह–'इन्द्रिय' इत्यादि। **इन्द्रियाणां** कार्यम् **आत्मनः** संविदां स्वरूपस्य **ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्** इति। तदुभयमपि किं भेदम् ? इत्याह–**अवग्रहेहावायधारणात्मकम्**। व्याख्याता अवग्रहादयः[3] प्रत्यक्षपरिच्छेदे[9], ते आत्मा यस्य तत् तदात्मकम्।

इदानीम्[4] 'अनिन्द्रिय' इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्शयति–अनिन्द्रियस्य मनसः कार्यं ज्ञानम् **अनिन्द्रियप्रत्यक्षम्**। ननु च इन्द्रियज्ञानमपि अनिन्द्रियस्य भवत्येव कार्यं तत्कथमयं प्रविभागः[5] इति चेत् ? प्रधानेतरभावात्[6]। [10]इन्द्रियज्ञाने हि इन्द्रियाणां प्रधानभावः, अत्र[11] तु अनिन्द्रियस्य[12] इति युक्तः प्रविभागः। किं रूपं तद् ? इत्याह–**स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्**। ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं[13] प्रतिपादितत्वात् कथमत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसङ्गात्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, यत्रांशे तेषां स्पष्टत्वं तत्रैव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्[7]। स्वरूपे एव हि [14]तेषां स्पष्टत्वम् अतस्तत्रैव[15] प्रत्यक्षत्वम् **'आत्मज्ञानम्'** इत्यभिसम्बन्धात्। बहिरर्थे त्वस्य[16] अस्पष्टत्वात् परोक्षता[8] इति न कश्चिद्दोषः। अत्रापि **'हित'** इत्यादि, **'प्रादेशिकम्'** इति च सम्बध्यते। स्मृत्यादिग्रहणमुपलक्षणं तेन 'सुखाद्यात्मकम्' इत्यपि गृह्यते।

अधुना अतीन्द्रियप्रत्यक्षप्ररूपणार्थम् **'अतीन्द्रिय'** इत्याद्याह। इन्द्रियेभ्योऽतिक्रान्तम् **अतीन्द्रियं प्रत्यक्षम्**, कथम्भूतम् ? **व्यवसायात्मकम्**, अनेन सांख्यसौत्रान्तिककल्पितं निर्विकल्पकं तन्निरस्तम्। **स्फुटतरम्**, अस्मदादिप्रत्यक्षात् समस्ते स्वगोचरे अतिशयेन विशदम्। **अवितथम्**, अभ्रान्तम्। अनेन "*भिक्षवोऽहमपि मायो-*

(१) सौगताभिमतम्। (२) मीमांसकाद्यभिमतम्। (३) नैयायिकाभिमतम्। (४) प्रत्यक्षम्, अर्थग्राहकं वा। (५) हितप्राप्तौ अहितपरिहारे वा। (६) निर्विकल्पादेः। (७) पृ० ४७। (८) अर्थे। (९) पृ० ११६। (१०) तुलना–इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्।"–प्रमेयर० २।४। प्रमाणमी० पृ० १६। (११) अनिन्द्रियप्रत्यक्षे। (१२) अनिन्द्रियस्यैव इत्यवधारणं द्रष्टव्यम्। (१३) पृ० ४०३। (१४) स्मृत्यादीनाम्। (१५) स्वरूप एव। (१६) स्मृत्यादेः।

1–त्वात्तत्प्रमा–श्र०। 2 ज्ञानं स्व–आ०। 3 अवग्रहेहादयः ब०। 4 इदानीमनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्श–ब०। 5 प्रतिभागः श्र०। 6 प्राधान्येतर–श्र०। 7–प्रत्यक्षप्रति–आ०। 8 परोक्षत्वमिति श्र०।

पमः स्वप्नोपमः[1]'' [ ] इति प्रत्याख्यातम्। तस्य इन्द्रियातिक्रान्तत्वं समर्थयमानः **'अतीन्द्रियम्'** इत्याद्याह। **अतीन्द्रियम्** इन्द्रियव्यापाराजन्यम्, कुतः? **अव्यवधानम्** देशादिव्यवधानरहितं यतः, यत् स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितं न तद् इन्द्रियव्यापारजन्यम् यथा सत्यस्वप्नज्ञानम्[2], स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितञ्च अतीन्द्रियप्रत्यक्षमिति। तथा च ''[3]*ईश्वरज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात् इतरज्ञानवत्*'' [ ] इति निरस्तम्। तज्ज्ञानस्य[3] इन्द्रियप्रभवत्वे प्रत्यक्षपरिच्छेदे[4] असर्वविषयत्वप्रतिपादनात्। **लोकोत्तरं** सकललोकोत्कृष्टम् **आत्मार्थविषयम्**, 'आत्मविषयम्' इत्यनेन अस्वसंविदितमीश्वराध्यक्षं निराकृतम्। तस्य आत्माऽगोचरत्वे अर्थगोचरत्वानुपपत्तिप्रतिपादनात्। 'अर्थविषयम्' इत्यनेन तु ''[5]*नान्योऽनुभाव्यो*

(१) तुलना–''मायास्वप्नोपम जगत्'' ''मायास्वप्नोपम लोकम्–''लङ्कावतार० पृ० ३२९,३३४। ''मायास्वप्नोपम सर्वं सस्कार सर्वदेहिनाम्।''–**नैरात्म्य०** पृ० २१। ''न हि तथागता कदाचिदप्यात्मन स्कन्धाना वाऽस्तित्व प्रज्ञपयन्ति। यथोक्त भगवत्याम्–बुद्धोप्यायुष्मान् सुभूते मायोपम स्वप्नोपम, बुद्धधर्मा अप्यायुष्मन् सुभूते मायोपमा स्वप्नोपमा इति। तथा–धर्मस्वभाव तु शून्यविविक्तो बोधिस्वभाव तु शून्यविविक्तो। यो हि चरेत्स पि शून्यस्वभावो ज्ञानवतो न तु बालजनस्य इति। यथोक्त भगवता–शून्या सर्वधर्मा नि स्वभावयोगेन। निर्निमित्ता सर्वधर्मा निर्निमित्ततामुपादाय यथोक्त सूत्रे–मायोपम जगदिद भवता नटरङ्गस्वप्नसदृश विहित। नात्मा न सत्त्व न च जीवगतो धर्मा मरीचिदकचन्द्रसमा।'' –**माध्यमिकवृ०** पृ० ४४२-४५। ''तस्मान्मायास्वप्नादिस्वभावा सर्वधर्मा इति निश्चितमेतत्। स्यादेतत्–यदि सर्वव्यापिनी मायोपमस्वभावता बुद्धोऽपि तर्हि मायोपम स्वप्नोपम स्यात्। उक्तञ्चैतत् भगवत्याम्–एवमुक्ते सुभूतिस्तान् देवपुत्रानेतदवोचत्–मायोपमास्ते देवपुत्रा सत्त्वा स्वप्नोपमास्ते देवपुत्रा सत्त्वा इति हि माया च सत्त्वाश्चाद्वयमेतदद्वैधीकारम्। सर्वधर्मा अपि देवपुत्रा मायोपमा स्वप्नोपमा। स्रोत आपन्नोऽपि मायोपम स्वप्नोपम स्रोत आपत्तिफलमपि मायोपम स्वप्नोपमम्। एव सकृदागाम्यपि, सकृदागामिफलमपि। अनागाम्यपि अनागामिफलमपि। अर्हन्नपि अर्हत्त्वमपि मायोपम स्वप्नोपमय्, सम्यक्सबुद्धोऽपि मायोपम स्वप्नोपम। सम्यक्सबुद्धत्वमपि मायोपम स्वप्नोपम यावन्निर्वाणमपि मायोपम स्वप्नोपमम्, स चेन्निर्वाणदपि कश्चिद्धर्मो विशिष्टतर स्यात्तमप्यह मायोपम स्वप्नोपम वदामि।''–**बोधिचर्या०** पृ० ३७९। ''आर्यललितविस्तरेप्युक्तम् (पृ० २०९-११) सस्कार प्रदीप अर्चिवत् क्षिप्रमुत्पत्तिनिरोधधर्मका। अनवस्थितमारुतोपमा फेनपिण्डेव असारदुर्वला॥ सस्कार निरीहशून्यका, कदलीस्कन्धसमा निरीक्षते। मायोपमचित्तमोहना बाल उल्लापनरिक्तमुष्टिवत्॥'' –**बोधिचर्या०** पृ० ५३२। ''मायास्वप्नमरीचिबिम्बसदृशा प्रोद्भासश्रुत्कोपमा। विज्ञेयोदकचन्द्रबिम्बसदृशा निर्माणतुल्या पुन।''–**महायानसू०** पृ० ६२। उद्धृतमिदम्–**सन्मति० टी०** पृ० ३७१, ३७७। **शास्त्रवा० यशो०** पृ० २१५ A। (२) तुलना–''स्वयप्रभुरलङ्घनार्हं स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत्।''–**प्रमाणस०** पृ० ९९। **प्रमाणम० टि०** पृ० १७२ प० २३। (३) ईश्वरज्ञानस्य। (४) पृ० १०८। (५) ''नान्योनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपर। तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ यथा च स्वरूपादन्यो बुद्ध्या अनुभाव्यो नास्ति तथा तस्य ज्ञानस्य चाऽपरोऽनुभवो नास्ति। तस्य ज्ञानग्रहणस्यापि तुल्यार्थचोद्यत्वात्, स ह्यन्यत्वनिबन्धनो ग्राह्यग्राहकभाव, तच्चानुपपन्नमित्युक्तम्। तस्मात्तज्ज्ञानमपरोक्षतया उत्पन्न स्वय प्रकाशते नान्येन प्रकाश्यते।''–**प्रमाणवा०**

इत्याह ब०। 1 इन्द्रियज्ञान ब०।

बुद्ध्यास्ति" [प्रमाणवा० २।३२७] इत्येतन्निरस्तम्। तदविषयत्वे[1] बुद्धेः बुद्धिरूपत्वस्यै-[1]वानुपपत्तेः स्वपरव्यवसायस्वभावत्वात्तस्याः[2]। प्रसाधितश्च बाह्योऽर्थः प्रपञ्चतो बाह्यार्थसिद्ध्यवसरे[3]। ननु वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यमेतत् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावतः खपुष्पवदसत्त्वात् इत्याशङ्क्याह–'**तदस्ति**' इत्यादि। **तद्** अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् **अस्ति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्** इति। समर्थितञ्चास्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं प्रबन्धेन सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके[4] इत्यलं पुनस्तत्समर्थनप्रयासेन।

परोक्षमिदानीं व्याचष्टे '**श्रुतम्**' इत्यादिना। **श्रुतम्** अविस्पष्टतर्कणम् **तत्प्रमाणम्**। किं सर्वम्? न, **बाधारहितम्**। पुनरपि कथम्भूतम्? इत्याह–'**सकल**' इत्यादि। **सकलं** यत् **प्रमाणं** यच्च **प्रमेयं** तयोः **इयत्तास्वरूपाभिधायि,** अनेन च प्रत्यक्षाऽनुमेयाऽन्यन्तपरोक्षलक्षणे स्थानत्रयेऽप्यस्य[5] प्रामाण्यं दर्शयति। तथा च निराकृतमेतत्–"*तृतीयस्थानसङ्क्रान्तौ*[6] *न्य्यय्यः (न्याय्यः) शास्त्रपरिग्रहः।*" [प्रमाणवा० ४।५१] इति। नहि प्रमाणानां सापत्न्यन्यायोऽस्ति[7] येन एकविषये द्वितीयस्याप्रवृत्तिः स्यात्। अथ मतम्–अर्थापत्त्यादेः प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया प्रमाणद्वित्वसिद्धिः, यतो '**द्विधैव**'[8] इति नियमः सुघटः[4] स्यात्? इत्यत्राह–'**अत्र**' इत्यादि। **अत्र** परोक्षे[9] **अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीनि,** आदिशब्देन अविशदमन्यदपि प्रमाणं गृह्यते, **अन्तर्भवन्ति**। तत्र तदन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चितः। नन्वेवं सौगतादीनामपि स्वोपकल्पितप्रमाणसंख्यायाम् इतरप्रमाणानामन्तर्भावो भविष्यति, इत्यत्राह–'**पर**' इत्यदि। **परैः** सौगतादिभिः **परिकल्पितस्य प्रमाणान्तर्भावस्य निराकरणम् अन्यत्र** परोक्षपरिच्छेदे **उक्तमिति नेह** प्रघट्टके **पुनरुच्यते**।

मनोरथ० २।३२७। उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५२५। अष्टसह० पृ० ११०। सिद्धिवि० टी० पृ० १६६ A.। शास्त्रदी० पृ० १९५। स्या० र० पृ० १५०। शास्त्रवा० यशो० प० १७४ B, २१५ B.। न्यायकुमु० पृ० १३३ टि० ४।

(१) अर्थाविषयत्वे। (२) बुद्धे। (३) पृ० ११९। (४) पृ० ८९। (५) श्रुतस्य। तुलना–"स्थानत्रयाऽविसवादि श्रुतज्ञान हि वक्ष्यते। तेनाधिगम्यमानत्व सिद्ध सर्वत्र वस्तुनि॥ १२॥" –तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० १३। (६) "तद्विरोधेन चिन्तायाः तत्सिद्धार्थेष्वयोगत। तृतीयस्थानसङ्क्रान्तौ न्याय्य शास्त्रपरिग्रह॥ तस्य शास्त्रस्य विरोधेन तत्सिद्धेष्वर्थेषु लिङ्गादिष्वसिद्धकल्पेषु गमकचिन्ताया अयोगत। यस्मात् प्रत्यक्षपरोक्षार्थयोर्नागमाधिकार तस्मात् तृतीयस्थाने अतीन्द्रिये विषये विचारसङ्क्रान्ते शास्त्रपरिग्रहो न्याय्य प्रकारान्तरासभवात्।"–**प्रमाणवा० मनोरथ० ४।५१**। (७) यथा यदैका सपत्नी पतिसमीपे समुपतिष्ठति तदा द्वितीया ईर्ष्याविलिप्ता अनवकाशतया पत्युपकण्ठ नोपसर्पति न तथा प्रमाणाना सापत्न्यभावो इर्ष्याविलिप्तता अनवकाशता वा समस्ति इति भाव। (८) सभवैतिह्यादिकम्। (९) परोक्षे।

1–रूपस्यैवा–श्र०। 2–य संस्था–श्र०। 3 न्याय व०, श्र०। 4 संघटः श्र०।

श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह–

[1]उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
[2]स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥६२॥

विवृतिः–अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्मः आकाशं काल इति । तत्र जीवो [3]ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैः असाधारणैः अमूर्त्तत्वाऽसंख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथा इतरे परमागमतो योज्याः । ज्ञो जीवः सुखदुखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । [4]वैकल्यम् एकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः ।

---

(१) "भवत । कौ ? उपयोगौ व्यापारौ । कस्य ? श्रुतस्य, श्रूयते इति श्रुतमाप्तवचन वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यरूप तस्य, भावश्रुतस्य वा श्रवण श्रुतमिति निरुक्ते । कति ? द्वौ । किन्नामानौ ? स्याद्वादनयसज्ञितौ, स्यात्कथञ्चित् प्रतिपक्षापेक्षया वचन स्याद्वाद , नयन वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापण नय , स्याद्वादश्च नयश्च स्याद्वादनयौ, इत्थ सज्ञे व्यपदेशौ ययोस्तौ तथोक्तौ । तौ लक्षणतो निर्दिशति– स्याद्वाद उच्यते । क ? सकलादेश सकलस्य अनेकधर्मणो वस्तुन आदेश कथनम्, यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकाला षडर्था ।' 'पुनर्नयो भवति । का ? विकलसकथा, विकलस्य विवक्षितैकधर्मस्य सम्यक् प्रतिपक्षापेक्षया कथा प्रतिपादन यथा जीवो ज्ञातैव द्रष्टैव इत्यादि ।"–**लघी० ता० पृ० ८३ ।** तुलना–"तदुक्तम्–उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदत ।"–**सिद्धिवि० टी० पृ० ४ A.** । (२) "निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताऽशेषधर्मान्तरससूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचन स्याद्वाद ।" –**न्यायाव० ता० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ३ टि० १० ।** (३) तुलना–"स्यात्पदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा ये चामूर्त्तत्वासख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्माधर्माधर्मगगनास्तिकायपुद्गलै साधारणा येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादय सर्वपदार्थै साधारणास्तेऽपि च प्रतीयन्ते ।"–**आव० नि० मलय० पृ० १७० A** । (४) सकलादेशविकलादेशयो स्वरूपे प्राय सर्वेषामैकमत्येऽपि केचिदकलङ्काद्याचार्या सप्तसु भगेषु सर्वानपि भङ्गान् एकधर्ममुखेन अशेषधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादनकाले सकलादेशरूपान् एकधर्मं प्रधानतया अन्यधर्मांश्च गौणतयाऽभिधानसमये विकलादेशात्मकान् स्वीकुर्वन्ति । केचिच्च सिद्धसेनगणिप्रभृतय सदसदवक्तव्यरूप भङ्गत्रय सकलादेशत्वेन शिष्टाश्च चतुरो भगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । **अकलङ्कादीना ग्रन्था** –"तथा चोक्तम्–सकलादेश प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति ।"–**सर्वार्थसि० १।६ ।** "यत्र यदा यौगपद्य तदा "सकलादेश । एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसग्रहात् सकलादेश । तत्रादेशवशात् सप्तभगी प्रतिपदम् । यदा तु क्रम तदा विकलादेश (पृ० १८०) 'निरशस्यापि गुणभेदादशकल्पना विकलादेश । तत्रापि तथा सप्तभगी ।"–**राजवा० पृ० १८१ । नयचक्र० पृ० ३४८ B** । "सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मक वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा ।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३६ । प्रमेयक० पृ० ६८२ । सप्तभगित० पृ० ३२ । प्रमाणनय० ४।४४,४५ । जैनतर्कभा० पृ० २० ।** "इय सप्तभङ्गी प्रतिभङ्ग सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ।"–**प्रमाणनय० ४।४३ । गुरुतत्त्ववि० पृ० १५ A । शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A** । "यदा मध्यस्थभावेनार्थितववशात् किंचिद्धर्मं प्रतिपादयिषव शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखया धिया वाच प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुग्धाकारतयाचक्षते–यदुत जीवोऽस्ति

तत्र जीव इत्युक्ते जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसंकेतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थप्रतिपादनः न्यक्षेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् ततः स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति

कर्ता प्रमाता भोक्तेत्यादि, अत सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन सभवद्धर्माणा दर्शनमात्रमित्यर्थ । यदा तु प्रमाणव्यापारमविकल परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूपितया सावधारणया वाचा दर्शयन्ति 'स्यादस्त्येव जीव' इत्यादिकया, अतोऽस्य स्याच्छब्दससूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्या प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसभवस्य वस्तुन संदर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते । प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत् । तदुक्तम्–सा ज्ञेयविशेषगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र । सकलग्राहि तु मान विकलग्राही नयो ज्ञेय ।"–न्यायावता० टी० पृ० ९२ । **सिद्धसेनगणिप्रभृतीनां ग्रन्थाः**–एवेमेते त्रय सकलादेशा भाष्येणैव विभाविता सग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये । सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वार पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकार–देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति 'विवक्षायत्ता च वचस सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या । द्रव्यार्थजात्यभेदात्तु सर्वद्रव्यार्थभेदानेवैक द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदाश्चैक पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते, तदा त्वविवक्षितस्वजातिभेदत्वात् सकल वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायार्थभेदोपचरित तद्विशेषैकाभेदोपचरित वा तन्मात्रमेकमद्वितीयाश ब्रुवन् सकलादेश स्यान्नित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्यत्वयुगपद्भावैकत्वरूपैकार्थाभिधायी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्या तद्विशेषाभ्या वा वस्तुनः एकत्व तदतदात्मक समुच्चयाश्रय चतुर्थविकल्पे, स्वाशयुगपद्वृत्तं क्रमवृत्तञ्च पञ्चमषष्ठसप्तमेषूच्यते तथाविवक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेश ।"–**तत्त्वार्थभा० टी० पृ०४१५।** "तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घट स्यान्नास्ति घट स्यादवक्तव्यो घट इत्येते त्रयो भङ्गा सकलादेशाः विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदससूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्ते चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशा–स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेश, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीय, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थ ।"–**सन्मति० टी० पृ० ४४६ । उ० यशोविजयः** यद्यपि **शास्त्रवा० टी०-जैनतर्कभा०-गुरुतत्त्वविनिश्चयादौ** सप्तानामपि भङ्गाना अकलङ्कोपज्ञाता सकलविकलादेशोभयरूपता सिद्धान्तीकृता तथापि तैः **अष्टसहस्रीविवरणे** 'आद्यास्त्रयो भङ्गा सकलादेशा शिष्टाश्च चत्वारो विकलादेशा' इत्यपि तत्त्वार्थभाष्यससूचितं सिद्धसेनगणिव्यावर्णित कृतान्तीकृतम् । तथाहि–"किन्तु आद्यभङ्गद्वयघटकनिजपररूपयो शृङ्गग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वा युज्यते तृतीयभङ्गस्तु अवक्तव्यलक्षण ताभ्या युगपदादिष्टाभ्या तद्भेदादनेकभेद, इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपा', सदसत्त्व-सदवक्तव्यादयश्चत्वारस्तु चरमा सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपा, देशभेद विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वान्नोदेति इति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेषामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम् ।"–**अष्टसह० विव० पृ० २०८ B** । अयमेव सिद्धान्त **शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायाम्** 'केचित्तु' इति कृत्वा निर्दिष्ट । तथाहि–"केचित्तु अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आद्यास्त्रय एव भगा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशा अग्रिमास्तु चत्वार. सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशा, इति प्रतिपन्नवन्त ।"–**शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B** ।

1–पेक्षाऽनादि–ज० वि० ।

[1]स्वेष्टसिद्धिः। नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तः। 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः स्याच्छब्दः, 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः।

कारिकार्थ – **उपयोगौ** व्यापारौ, [2]कतिसंख्यौ ? **द्वौ**। कस्य ? **श्रुतस्य** श्रुताख्यप्रमाणस्य। किमाख्यौ ? **स्याद्वादनयसंज्ञितौ**, स्याद्वादसंज्ञितः नयसंज्ञितश्च। कोऽसौ स्याद्वादः कश्च नयः [3]इत्याह–**'स्याद्वादः'** इत्यादि। **स्याद्वादो** भवति, कोऽसौ ? **सकलादेशः** सकलस्य सम्पूर्णस्य वस्तुनः **आदेशः** कथनम्। **नयस्तु विकलसंकथा** वस्त्वेकदेशकथनम्।

---

(१) **मलयगिर्याचार्याः** स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणवाक्ये एव उररीकुर्वन्ति। एतन्मतानुसारेण सर्वेषां नयानां मिथ्यारूपत्वात्। अतस्तैः 'स्यात्पदलाञ्छितो नयः सम्यग्' इत्यकलङ्कमतस्य समालोचना कृता। प्रत्यालोचिता च सा उ० यशोविजयैरिति। तदेव समन्तभद्रसिद्धसेनदिवाकरादिभिरुपज्ञातम् अकलङ्कदेवैः विवृतमेतत् मतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति। **मलयगिरिकृता** समालोचना इत्थम्–"नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एव प्राह–'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' इति। अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता–नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति। स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।' तदेतदयुक्तम्, प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तेः, तथाहि–'स्याज्जीव एव' इति किल प्रमाणवाक्यम् 'स्यादस्त्येव जीवः' इति नयवाक्यम्। एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रय्यलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविशेषः, तथाहि–स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूताकारशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्दप्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेपः। 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः, एवकारप्रयोगात्तु यदाशङ्कितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः, स्यात्प्रयोगात् साधारणासाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव।"–आव० नि० मलय० पृ० ३७१ A.। उ० **यशोविजयैः** एतन्मलयगिरिकृतम् आकलङ्कमतालोचनं पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्–"अत्रेदमवधेयम्–यो नाम नयो नयान्तरापेक्षः तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात् तस्य तपःसंयमप्रवचनग्राहकत्वेन संयमग्राहिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्। शब्दनयानाञ्च निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तॄणां भावाभ्युपगन्तृशब्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः। नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च ग्राह्ये स्यात्पदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव लाभात् तेनाऽनन्तधर्मात्मकत्वापरामर्शः। न चेदेवं तदाऽनेकान्ते सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः अवच्छेदकभेदं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्वचत्वात्, इष्यते चायम्। स्यात्पदमवच्छेदकभेदप्रदर्शकतयैव विवृतम्। अत एव स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते। सम्यगनेकान्तसाधकस्य अनेकान्ताक्षेपकत्वात् न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम्, अतो न स्यात्पदप्रयोगमात्राधीनमादेशसाकल्यं येन प्रमाणनयवाक्ययोर्भेदो न स्यात्, किन्तु स्वार्थोपस्थित्यनन्तरमशेषधर्माभेदोपस्थापकविधेयपदवृत्त्यधीनम्। सा च विवक्षाधीनेत्यादेशसाकल्यमपि तथेति नयप्रमाणवाक्ययोरित्थं भेद एव। मलयगिरिपादवचनं तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थले अवच्छेदकभेदाभिधानानुपयुक्तेन स्यात्पदेन साक्षादनन्तधर्मात्मकत्वाभिधानात्, तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तृदुर्विदग्धदिगम्बरनिराकरणाभिप्रायेण योजनीयम्।"—गुरुतत्त्ववि० पृ० १७ B.।

---

1 स्वेष्टविसिद्धि ज० वि०। 2 किंसंख्यौ ब०, श्र०। 3 इत्याद्याह ब०

तत्र स्याद्वादपदं व्याचष्टे **'अनेकान्त'** इत्यादिना । **अनेकान्तात्मकस्य** अनेकधर्मस्वभावस्य **अर्थस्य** जीवादेः **कथनं स्याद्वादः**। अत्रोदाहरणमाह–

विवृतिव्याख्यानम्– **'यथा'** इत्यादि । **यथा** इत्युदाहरणप्रदर्शने, **जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाशं काल इति** षट्द्रव्यरूपोऽर्थः, तस्य अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वादः । तत्र जीवे तावदनेकान्तात्मकत्वं **'तत्र'** इत्यादिना निरूपयति । **तत्र** तेषु जीवादिषट्पदार्थेषु मध्ये **जीव** आत्मा **'अनेकान्तः'** इति सम्बन्धः । कैर्धर्मैः इत्याह–**ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैः** । ननु[१] दर्शनमेव पुरुषस्य स्वरूपं न ज्ञानादयः, तेषां प्रकृति[२]धर्मत्वात् तत्कथं तैरसौ[३] अनेकान्तः[४] ? इत्यप्ययुक्तम्, प्रकृतिधर्मतां निराकृत्य तेषां[५] तद्धर्मतायाः[६] प्रत्यक्षपरिच्छेदे[७] प्रतिपादितत्वात् । ततः सूक्तम्–**'ज्ञानादिभिः जीवोऽनेकान्तः'** इति । कथम्भूतैस्तैः इत्याह–**असाधारणैः** पुद्गलाद्यसंभविभिः । ननु[८] बुद्ध्यादयो नव आत्मनोऽसाधारणा[2] गुणाः सन्ति तत्किमर्थमेते चत्वार[९] एव दर्शिताः इति चेत् ? तेषामेव सहभुवां तद्गुणत्व[१०]प्रतिपादनार्थम् । इच्छादयो हि क्रमभाविनः पर्यायाः[3] न गुणाः, अन्यथा भयहर्षशोककरुणामर्षौदासीन्यादीनामपि तद्गुणत्वप्रसक्तेः 'नवैव' इति संख्यानियमो दुर्घटः स्यात् । परैरपि तदनेकान्तं[११] दर्शयितुमाह–**'अमूर्त्तत्व'** इत्यादि । रूपादिरहितत्वम् अमूर्त्तत्वम्, न पुनः असर्वगत[१२]द्रव्यपरिमाणाभावः, जीवस्य मूर्त्तत्वप्रसङ्गात्। तस्य[१३] असर्वगतत्वेन विषयपरिच्छेदे प्रसाधितत्वात्[१४] । **असङ्ख्यातप्रदेशत्वम्**[4] असंख्यातावयवोपेतत्वम्, **सूक्ष्मत्वं** शुद्धस्य तस्य[१५] केवलज्ञानादन्यतोऽसाक्षात्करणम्, तैः **अनेकान्तो 'जीवः'** इति सम्बन्धः । किं विशिष्टैः **साधारणासाधारणैः, साधारणैः** गगनादावपि[5] भावात्, **असाधारणैः** पुद्गलेष्वभावात् । पुनरन्यैस्तदनेकान्तं[6] दर्शयन्नाह[7]–**'सत्त्व'** इत्यादि । सुप्रसिद्धाः **सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादयो धर्माः** तैः । कथम्भूतैः ? **साधारणैः** षट्स्वपि[8] द्रव्येषु भावात् । **तस्य** एवंविधस्य **जीवस्य आदेशात्** कथनात् **प्रमाणं स्याद्वादः** तत्र तदविसंवादात् इति भावः । **तथा**[9] तेन असाधारणोभय-

(१) साख्य । "द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य ।"–**योगसू० २।२०।** (२) "प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । महान् बुद्धिर्धृतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विखर इति पर्याया ··आह–उक्त प्रधानाद्बुद्धिरुत्पद्यते इति ? तत्र वक्तव्य किं लक्षणा पुनर्बुद्धिरित्युच्यते–अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञान विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूप तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥"–**सांख्यका० युक्तिदी० पृ० १०८।** (३) जीव । (४)अनेकधर्मात्मक । (५)ज्ञानादीनाम् । (६)जीवधर्मताया । (७)पृ० १९१। (८)वैशेषिका· । "नवानामात्मगुणाना बुद्धिसुखदु खेच्छाप्रयत्नधर्माधर्मसस्काराणाम्··"–**न्यायमं० पृ० ५०८ ।** (९) ज्ञानदर्शनवीर्यसुखाख्या । (१०)आत्मगुणत्व । (११)जीवस्य अनेकधर्मात्मकत्वम् । (१२)"इयत्तावच्छिन्नपरिमाणयोगित्व मूर्त्तत्व तदभावोऽमूर्त्तत्वम् ।"–**सप्तप० पृ० ७२ ।** "असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिरिति हि पदार्थविद ।"–**तत्त्वबि० पृ० १५८।** (१३) जीवस्य। (१४)पृ०२६१। (१५)आत्मन ।

1 **इत्याद्युदा**–ब०, श्र०। 2–**धारणगुणा** ब० । 3–**यान् गुणा** ब० । 4–**तदेश**–श्र० । 5–**पि भवात्** ब० । 6 **पुनरप्यन्यै** श्र० । 7–**ह सुप्रसि**–श्र० । 8 **खट्स्वपि द्रव्येषु** आ० । 9 **तथा तथा तेन** श्र० ।

साधारणधर्माधिकरणत्वेन अनेकान्तप्रकारेण **इतरे** पुद्गलादयः पदार्थाः **परमागमतः** परमागममाश्रित्य **योज्याः** ।

इदानीं नयं दर्शयन्नाह–'**ज्ञः**' इत्यादि । **जीव** इति धर्मिणो निर्देशः, **ज्ञः** चेतनास्वभावः इति साध्यस्य, **सुखदुःखादिवेदनादिति** हेतोः, **इति** एवं प्रयोगः **आदिर्यस्य** अनित्यशब्दादेः स तथोक्तः, स चासौ **विकलस्य** धर्मान्तरनिरपेक्षस्य धर्मस्य **आदेशश्च नयः** । ननु किमिदं साकल्यं वैकल्यञ्च आदेशस्य यतः '**स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा**' इति स्यात् ? इत्यत्राह–'**साकल्यम्**' इत्यादि । सकलस्य अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो भावः **साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता** । तत्प्रतिपादकं वचनम् एवमुक्तम्, विषयस्य विषयिण्युपचारात् । **विकलस्य** एकदेशस्य भावो **वैकल्यम्–एकान्तः**, तदादेशः तथोक्तः । कुतः ? इत्याह–'**धर्मान्तर**' इत्यादि । विवक्षितधर्माद् अन्यो **धर्मः तदन्तरं** तस्य **अविवक्षातः**, नान्यथा दुर्नयत्वप्रसङ्गात् । ननु शब्दस्य अर्थे सम्बन्धाभावतः प्रवृत्तेरेवाऽसंभवात् न सकलविकलादेशप्ररूपणं युक्तम्, इत्यत्राह–'**तत्र**' इत्यादि । **तत्र** अनन्तात्मके तत्त्वे स्थिते सति, यदि वा **तत्र** एवं स्याद्वादनयस्वरूपे निरूपिते सति '**जीव**' **इत्युक्ते जीवशब्दः** अवान्तरविशेषरहितं **जीवमात्रमेव अभिदध्यात्** । कथम्भूतम् ? इत्याह–'**योग्यता**' इत्यादि । योग्यतायाम् अपेक्षा यस्य योग्यतां वा अपेक्षते इति **योग्यतापेक्षः**, **अनादिः सङ्केतो** यस्य स तथोक्तः । '**योग्यता**' इत्यनेन तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धविरहे नित्यैकरूपसम्बन्धाऽसत्त्वेऽपि च शब्दार्थयोः वाच्यवाचकभावं दर्शयति, योग्यतास्वभावसम्बन्धसंभवात् । एतच्च सप्रपञ्चं प्राक् प्रपञ्चितम् ।

ननु योग्यतातोऽपि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वे एकस्माच्छब्दात् युगपदनेकार्थप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वस्य शब्दस्य सर्वत्रार्थे प्रतिपादनयोग्यतासंभवात्, तदनुपपन्नमिति '**सङ्केत**' इत्यनेन दर्शयति–सत्यामपि अनेकार्थप्रतिपादनयोग्यतायां विनियतसङ्केतवशाद् विनियतार्थप्रतीत्युपपत्तेः । एतच्च '**प्रमाणं श्रुतम्**' [लघी० का० २६] इत्यत्र प्ररूपितम् । ननु यदा जीवशब्दोऽर्थमभिधत्ते न तदा पूर्वसङ्केतोऽस्ति तत्कथं तदपेक्षस्यास्य नियतार्थप्रतीतिहेतुत्वमिति चेत्, न, 'अस्येदं वाच्यम् इदं वाचकम्' इति चित्तस्य सङ्केतत्वात्, तस्य च तदापि भावात् । न चेदमवान्तरकल्पितम् इति **अनादि**-पदेन दर्शयति । ननु जीवमात्रमभिदध्यात् इत्ययुक्तम्, अन्यापोहस्यैव जातेरेव

(१) साकल्यशब्देन । (२) अनन्तधर्मात्मकत्वरूपसाकल्यस्य वाच्यस्य । (३) वाचके स्याद्वादे सकलादेशे । (४) न तु धर्मान्तरस्य प्रतिक्षेपः । (५) सौगत । (६) सर्वशब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनमनुपपन्नम् । (७) अनादिसङ्केतापेक्षस्य जीवशब्दस्य । (८) चित्तस्य । (९) बौद्धा । (१०) मीमासका ।

1–कान्तेन प्रका–ब० । 2 इतरेषु पु–श्र० । 3–कल्य वादेश–श्र० । 4 अनन्तात्मकत्वे तत्त्वे ब० । 5–यां नियत–श्र० । 6 पूर्वः सकेतो–ब०, श्र० । 7 चेत्तस्य सकेतस्यात् ब० ।

अ[१]न्योन्यविभिन्न[1]तद्द्वयस्यैव वा शब्दार्थत्वात्, इत्यत्राह–'**स्वभाव**' इत्यादि। **स्वभावभूतः अन्यतः** सर्वतोऽ**पोहः** पररूपेण असत्त्वं यस्य स त[2]थोक्त स चासौ **स्वार्थश्च** स्वाभिधेयः तस्य **प्रतिपादनः जीवशब्दः तन्मात्रमभिदध्यात्**। किं कृत्वा ? **निरस्य**। कम् ? **प्रतिपक्षम्**, प्रत्यनीकं मतम् अपोहादिमात्राभिधायित्वलक्षणम्। कथम् ? **न्यक्षेण** सामस्त्येन। यथा च अपोहादेः शब्दार्थता न घटते तथा '**प्रमाणं श्रुतमर्थेषु**' [लघी० का० २६] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्। ततः तस्मात् न्यायात् **स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तस्य** 'सन्नेव जीवः, असन्नेव, द्रव्यरूप एव, पर्यायरूप एव वा' इत्येवंरूपस्य **त्यागात्** निरासात्, **स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टः** स्वद्रव्यक्षेत्रादिविशेषणविशिष्टः **जीवः** जीवशब्देन **अभिधीयते इति स्वेष्टस्य** अनेकान्तात्मनो जीवस्य **सिद्धिः**।

एवं प्रमाणवाक्यमुपदर्श्य साम्प्रतं नयवाक्यं दर्शयन्नाह–'**नयोऽपि**' इत्यादि। [3]**नयोऽपि** [4]नयवाक्यमपि न केवलं प्रमाणवाक्यम्, **तथैव** स्यात्प[5]दप्रयोगप्रकारेणैव **सम्यगेकान्तः** सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, [२]अन्यथा मिथ्यैकान्तगोचरः स्यादिति। अधुना एवकारप्रयोगोपयोगं दर्शयन्नाह–'**स्यात्**' इत्यादि। '**अनेकान्तः**' इत्येतदनुवर्त्तमानमिह सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः सिद्धः–**स्यात्** कथञ्चित् **जीव एव** ज्ञानदर्शनसुखवीर्यैः धर्मैः अनेकान्तः नान्यः इति एवकारार्थः। **इत्येवमुक्ते** एवं वाक्ये प्रयुक्ते सति नैकान्तविषयः किन्तु **अनेकान्तविषयः स्याद्** भवेत् **शब्दः** '**स्याज्जीव एव**' इतिवाक्यम् अनेकान्तरूपस्य तस्य[३] अभिधानात्। '**स्यादस्त्येव जीवः**' **इत्युक्ते** सति **एकान्तविषयः** सम्यगेकान्तगोचरः **स्याद्** भवेत् **शब्दः** '**स्यादस्त्येव**' इति वाक्यम्, प्रधानतः तदस्तित्वैकान्तप्रतिपादनात्। [४]एवमुत्तरभङ्गेष्वपि वक्तव्यम्।

ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च [6]प्रयुञ्जते, अन्यथैव तत्प्रयोगदर्शनात्, अतो न युक्तमेत[५]दित्याशङ्कापनोदार्थमाह–

[६]अ[7]प्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः॥ ६३॥

---

(१) यौगा। (२) स्यात्पदप्रयोगाभावे। (३) जीवस्य। (४) स्यान्नास्त्येवेत्यादिषु। (५) स्यात्पदप्रयोगनियमः। (६) "प्रतीयतेऽधिगम्यते। क ? स्यात्कार स्यादिति पदमव्ययम्, क्व ? सर्वत्र शास्त्रे लोके वा। कस्मिन् विषये ? विधौ सत्त्वादौ साध्ये। न केवल विधौ किन्तु निषेधेऽपि असत्त्वादावपि साध्ये। अन्यत्रापि अन्यस्मिन् अनुवादातिदेशादावपि। किंविशिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि स्यादस्ति जीव इत्यनुक्तोऽपि। तर्हि कुत प्रतीयते इति चेदत्राह–अर्थात् सामर्थ्यात्। · ·चेद्यदि कुशल स्यात् व्यवहारे प्रबुद्ध स्यात्। क ? प्रयोजक प्रतिपादक·। · ·"–**लघी० ता० पृ० ८६**। उद्धृतोऽयम्– ' ·विधौ निषेधेन्यत्रापि · '–**आव० नि० मलय पृ० ३६९** B.। **गुरुतत्त्ववि० पृ० १६** A.। तुलना– "विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि सर्वोऽर्थोऽस्य प्रतीयते॥ व्यवच्छेदफलं वाक्य यथा चैत्रो धनुर्धर। पार्थो धनुर्धरो

1–**न्नद्वय**–आ०,श्र०। 2 **तथो स** आ०। 3 '**नयोऽपि**' नास्ति ब०। 4 '**नयवाक्यमपि**' नास्ति आ०। 5–**पदयोग**–श्र०। 6 **प्रयुंजते** आ०। 7–**युक्तेऽपि** मु० लघी०।

विवृतिः–क्वचित्स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात् । अवधारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वात् अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः । किं बहुना विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु कारकेषु कर्त्रादिषु स्वार्थादिषु प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः इत्याबालप्रसिद्धम् ।

कारिकार्थ – **अप्रयुक्तोऽपि** न केवलं प्रयुक्तः **सर्वत्र** वाक्ये **स्यात्कारः,** उपलक्षणमेतत् तेन एवकारोऽपि **प्रतीयते ।** कुत इत्याह–**अर्थात्** सामर्थ्यात् । तथाहि–'पानीयमानय' इत्युक्ते यदि पानीयस्य अन्यस्य चानयनं लौकिकानामभिप्रेतं स्यात्तदा पानीयपदोपादानमनर्थकं स्यात् । अथाप्यनानयनमभिप्रेतम्, आनयनग्रहणं व्यर्थम् । अस्ति च तदुभयग्रहणम्, अतः एवकारप्रतीतिः इति । क्व ? **विधौ निषेधेऽपि,** भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दः **'अन्यत्र'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । **अन्यत्रापि** अनुवाद-अतिदेशादावपि । अथ यदि सर्वत्र सः प्रतीयते "*अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते*" [ ] इत्यादावपि प्रतीयेत । तथा च "*सर्वस्योभयरूपत्वे*" [प्रमाणवा० ३।१८१] इत्यादिदोषानुषङ्गः स्यात् इत्यत्राह–**'कुशलः'** इत्यादि । यथा योऽर्थः प्रमाणतः प्रतिपन्नः तथैव तस्य प्रतिपादकः **प्रयोजकः कुशलो** भवेत् नान्यथा, स **चेत् यदि प्रयोजकः** शब्दानामिति ।

विवृतिव्याख्यानम्– व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह–**'क्वचिद्'** इत्यादि । **क्वचिद्** विध्यादिवाक्ये **स्यात्कारमनिच्छद्भिः** एकान्तवादिभिः **सर्वथा** धर्मापेक्षया इव धर्म्यपेक्षयाऽपि, यद्वा यथा धर्म्यपेक्षया तथा धर्मापेक्षयापि **एकान्तः सर्वथैकान्तः** सोऽ**भ्युपगतः स्यात्** तत्र च प्रमाणविरोधः इत्यभिप्रायः । अतस्तद्विरोधं परिहर्तुमिच्छता सर्वत्र स्यात्कारोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं व्यतिरेकमुखेन सर्वत्र स्यात्कारं प्रसाध्य इदानीं तथैव एवकारं प्रसाधयन्नाह–**'अवधारण'** इत्यादि । **अवधारणस्य** एवकारस्य **अभावेऽपि** न केवलं स्यात्काराभावे **'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्'** इति सम्बन्धः । कुत एतदित्यत्राह–**अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यम्भावित्वादिति ।**

नील सरोजमिति वा यथा ।"–प्रमाणवा० ४।१९१-९२। "सामर्थ्याच्चाप्रयोगेऽर्थो गम्य स्यादेवकारयो ।" –सिद्धिवि०, टी० पृ० ५०७ B । न्यायवि० का० ४५३। "सोऽप्रयुक्तोपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३७। स्या० रत्ना० पृ० ७१८। रत्नाकरावता० पृ० ६१ । सप्तभगित० पृ० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप० पृ० ९६ A ।

(१) तुलना–"अत्रान्यत्रापि इति–अनुवादातिदेशादिवाक्येषु · · ।"–आव० नि० मलय० पृ० ३६९ B. । (२) पृ० ५३० टि० ३ । (३) पृ० ६२० टि० ५ ।

1–निराकाराभ्युपगमस्यावश्यं–ई० वि० । 2–युक्तो न व० । 3–णमेतेन एव–व० । 4 वानयनं व०, श्र० । 5 द्रष्टव्यम् व० । 6–पेक्षया तथा धर्मापेक्षयाप्येकान्तः श्र० । 7–मुखेण आ० । 8 अभावे न के–व० । 9–दित्याह व० ।

तथाहि–'ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव' इति [1]अन्ययोगव्यवच्छेदेन जीवस्यैव [2]एतल्लक्षणलक्षितस्य[1] अनेकान्तानभ्युपगमे अजीवोऽपि [3]तल्लक्षणः स्यादिति बहिरर्थव्यवस्थाविलोपः, तद्विलोपे च सकल[4]प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारापहारः। 'तल्[5]लक्षण एव सः' इति अयो[6]गव्यवच्छेदानभ्युपगमे च रूपादिरप्ये[7]तल्लक्षणं स्यात् इति जीवेतरविभागाभावः स्यात्। '[8]भवत्येव' इत्यवधारणाभावे अत्य[9]न्तायोगाव्यवच्छेदः स्यात्।

ननु साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा एवकारस्यैव प्रतीतिर्युक्ता [10]तत्साध्य[3]स्य अयोगादिव्यवच्छेदफलस्य सर्वत्र वाक्ये संभवान्न पुनः स्यात्कारस्य निष्फलत्वात्। उक्तञ्च–

"[11]अयोगमपरैर्योगमत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः॥" [प्रमाणवा० ४।१९०]

---

(१) "विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, यथा पार्थ एव धनुर्धर। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेद। तत्र एवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्नः पार्थ इति बोध।"–सप्तभंगि० पृ० २६। "तत्र विशेष्यगतैवस्थले पार्थ एव धनुर्धर इत्यादौ अन्यतादात्म्यव्यवच्छेदोऽर्थ। अन्यत्वञ्च समभिव्याहृतपदार्थापेक्षिकम्। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोध।"–वैयाकरणभू० द० पृ० ३७०। "यद्वा पार्थान्यस्मिन् प्रशस्तधनुर्धरत्व व्यवच्छिद्यते।"–वाच०। न्यायको० पृ० १९१। (२) ज्ञानदर्शनोपयोग। (३) एवकाराभावे अजीवोऽपि ज्ञानादिमान् स्यात्तथा च सर्वस्य चेतनात्मकत्वप्राप्त्या बाह्यद्रव्यस्य अचेतनस्य सर्वथाऽभाव. स्यादिति भाव.। (४) बाह्यार्थापलापे हि प्रमाणादिव्यवस्थाऽभाव, बाह्यार्थापेक्षयैव हि ज्ञाने प्रमाणतदाभास व्यवहारो भवति "बहि प्रमेयापेक्षाया प्रमाण तन्निभञ्च ते" (आप्तमी० का० ८३) इत्यभिधानात्। (५) तानि ज्ञानदर्शनादीनि लक्षणानि यस्य जीवस्य असौ तल्लक्षण। (६) "विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधक, यथा शङ्ख पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदो नाम उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाऽप्रतियोगित्वम्।"–सप्तभंगि० पृ० २५। "विशेषणसङ्गतैवस्थले अयोगव्यवच्छेद 'शङ्ख पाण्डुर एव' इत्यादौ शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वसमवायाभावव्यवच्छेदबोधनात्।"–वैयाकरणभू० द० पृ० ३७०। "अत्र शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बुध्यते। अथवा विशेष्ये शङ्खे पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बोध्यते।" –(म० प्र० १ पृ० ७)"–न्यायको० पृ० १९१। (७) एतस्य जीवस्य लक्षण स्यात्। (८) जीव. ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो भवत्येव। (९)"क्रियासङ्गतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक' यथा नील सरोजं भवत्येव।"–सप्तभंगि० पृ० २६। वैयाकरणभू० द० पृ० ३७०। "सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते।"–वाच०। न्यायको० पृ० १९२। (१०) एवकारसाध्यस्य। (११) "अयोग योगमपरैरत्य "निपात एवकारो व्यतिरेचक नियामक क्वचिद् धर्मस्य विशेषणस्य अयोग व्यवच्छिनत्ति। क्वचिदपरै विशेष्यादन्यै योग व्यवच्छिनत्ति क्वचिदत्यन्तायोग व्यवच्छिनत्ति। ननु निपातो न स्वय वाचक किन्तु द्योतक तदस्य कथमयमर्थप्रभेद इत्याह–विशेषणविशेष्याभ्या क्रियया च सहोदित.। द्योतकत्वादेव निपातो विशेषणेन सहोदितोऽयोगस्य व्यवच्छेदक। विशेष्येण सहोक्तोऽन्ययोगस्य, क्रियया च सहोक्तोऽत्यन्तायोगस्येति विशेषणादिपदवाच्य एव अयोगव्यवच्छेदादि तत्सहोक्तनिपातद्योत्य इत्यर्थ·।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९०। तुलना–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५०७A.। "यद्विनिश्चय. –अयोग योगमपरै·"–षड्द० बृह० पृ० १४। न्यायाव० टी० टि० पृ० १७। "यदुक्तम्–अयोगमन्ययोगञ्च अत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मत.॥"–काव्यप्र० टी० पृ० ८८।

1–स्यानभ्यु–आ०। 2–क्षण. स्यात् आ०। 3–ध्य योगादि–ब०।

[1]निपात एवकारः व्यतिरेचकः निवर्त्तकः । तत्र 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यत्र [1]अयोगव्यवच्छेदः, तथाहि-परप्रतिपत्तये वाक्यं प्रयुज्यमानं यदेव परेण व्यामोहादाशङ्कितम् तदेव व्यवच्छिनत्ति, चैत्रश्च लोके धनुर्धरो न प्रतीतः, ततश्चैत्रस्य अधनुर्धरत्वशङ्काव्यवच्छेदेन धनुर्धरत्वविधानार्थं 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'पार्थ एव धनुर्धरः' [2]इत्यत्र [2]अन्ययोगव्यवच्छेदः । नहि [3]पार्थे अधनुर्धरत्वाशङ्का कस्यचिदस्ति धनुर्धरत्वेन अखिलजनप्रसिद्धत्वात्तस्य । तस्मात् यदतिशयवद्धनुर्धरत्वं तत् पुरुषान्तरसाधारणमाशङ्कितमिति तद्व्यवच्छेदाय 'पार्थ एव धनुर्धरः' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यत्र तु [4]अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः, यदा हि सरोजं नीलवर्णविविक्तं प्रसिद्धमिति नीलत्वमस्य नास्तीति आशङ्कितं भवति तदा तद्व्यवच्छेदाय 'नीलं सरोजं भवत्येव' इति वाक्यं प्रयुज्यते इति ।

[3]तदसमीक्षिताभिधानम्, स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्तेः, तथाहि- 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्युक्ते सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामन्यपुरुषाणां धानुर्धर्याभावः प्रतीयते, तत्र च प्रत्यक्षादिविरोधः । अथ [5]विशिष्टं तदन्यपुरुषेषु प्रतिनियतदेशकालापेक्षया प्रतिषेद्धुमिष्टं न धनुर्धरत्वमात्र ततोऽयमदोषः, [6]ननु अयमर्थः स्यात्कारप्रसादादेव प्रत्येतुं शक्य इति, एतत्प्रयोजनत्वात् कथं[7]सौ निष्फलः यतः साक्षात्प्रयुक्तस्य [4]सामर्थ्यगम्यस्य वा अस्य [5]सर्वत्र वाक्ये प्रतीतिर्न स्यात् ? तथा 'चैत्रो धनुर्धर एव'

---

(१) "यत्र धर्मिणि धर्मसद्भाव सन्दिह्यते तत्राऽयोगव्यवच्छेदस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अत्र दृष्टान्तो यथा चैत्रो धनुर्धर इति । चैत्रे हि धनुर्धरत्व सन्दिह्यते किमस्ति नास्तीति । ततश्चैत्रो धनुर्धर इत्युक्ते पक्षान्तरमधनुर्धरत्व श्रोतुराकाङ्क्षोपस्थापित निराकरोति अयोगव्यवच्छेदोऽत्र न्यायप्राप्त ।"-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १५ । "चैत्रे धनुर्धरत्वसन्देहात् विशेषणेन अयोगमात्र व्यवच्छिद्यते ।"-प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (२) "यथा पार्थो धनुर्धर इति सामान्यशब्दोऽप्यय धनुर्धरशब्दः प्रकरणसामर्थ्यादिना प्रकृष्टगुणवृत्तिरिह पार्थे हि धनुर्धरत्व सिद्धमेवेनि नाऽयोगाशङ्का । तादृशन्तु सातिशय किमन्यत्राप्यस्ति नास्ति इत्यन्ययोगशङ्काया श्रोतुर्यदा पार्थो धनुर्धर इत्युच्यते तदा सातिशय पार्थ एव धनुर्धरो नान्य इति प्रतीयते । तेनात्र अन्ययोगव्यवच्छेदो न्यायप्राप्तः ।"-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १५ । "पार्थे धनुर्धरत्व प्रसिद्धमेव किन्तु तादृशमन्यस्यापि किमस्तीति सन्देहे अन्ययोगव्यवच्छेदफल विशेषणम् ।"-प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (३) अर्जुने । (४) "न खलु सर्वमेव नील सरोज येनायोगव्यवच्छेद स्यात्, नापि सरोजमेव नीलश्येन अन्ययोगव्यवच्छेदो भवेत् । किन्तु 'नील सरोज सभवति न वा' इत्यत्यन्तायोगसन्देहे विशेषणेन स एव व्यवच्छिद्यते ।"-प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (५) यादृश धनुर्धरत्व पार्थे न तादृगन्यत्र इति । (६) तुलना-"यत्रापि अन्ययोगव्यवच्छेदोऽभिप्रेतस्तत्रापि योगविशेषो व्यवच्छिद्यते न योगसामान्यम्, यादृग् पार्थे धनुर्धरता तादृगन्यत्र नास्तीति ।"-तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । (७) स्यात्कार ।

---

1 'निपात एवकारो व्यतिरेचक.' नास्ति ब० । 2 इत्यन्ययो-आ० । 3 तदेतदसमी-ब०, श्र० । 4-र्थ्यधर्म्यस्य श्र० । 5-म्यस्य सर्वत्र ब० ।

'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यत्र [1]अयोगाऽ[2]त्यन्तायोगयोः सर्वथा [1]व्यवच्छेदे चैत्र-धानुर्धर्ययोः नीलसरोजयोश्च अन्यतरदेव स्यात्। [2]अथ स्वस्वरूपापरित्यागेनैव अनयोः अयोगाऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः नतु अन्योन्यस्वरूपस्वीकारेण अतोऽयमदोषः, तन्न; स्यात्कारमन्तरेण अस्यार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्।

किञ्च, 'चैत्रो धनुर्धरः' इत्यादिवाक्येषु धनुर्धरत्वादिभिः अयोगादिव्यवच्छेदं कुर्वता एवकारेण अधनुर्धरत्वादीनामशब्दवाच्यानामपि [3]ततोऽन्यत्वान्निवृत्तिर्यदि [3]विधीयते, तर्हि शूरत्वोदारत्वादिधर्माणामपि [4]विधीयतां शब्दवाच्येभ्यो धनुर्धरत्वादिभ्योऽन्यत्वाविशेषात्। अथ यो धर्मो यत्र [4]नियम्यते तद्विरोधिन एव तत्र निवृत्तिः चैत्रे च धनुर्धरत्वनियमे अधनुर्धरत्वं विरुद्धम्, पार्थे च असाधारणधनुर्धरत्वविधौ सकलजगत्साधारणं [5]तद् विरुद्धम्, सरोजे च नीलत्वसंभवविधौ [6]तदसंभवमात्रं विरुद्धम्, अतः तस्यैवाऽतो[7] निर्[5]वृत्तिः [6]नतु शूरत्वादिधर्माणाम् तेषां [8]तदन्यत्वेऽप्यविरुद्धत्वात्[9] इति; तदेतदन्धसर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति, एवंविधप्रविभागस्य स्याद्वादानभ्युपगमे अनुपपत्तेः। ननु तदभ्युपगमेऽपि शब्दानभिधेयत्वाविशेषे कथं विरोधिन एव निवृत्तिः नतु सर्वस्य इति चेत्, तथा सामर्थ्यात्। स्वार्थप्रतिपादनाय हि शब्दप्रयोगो न व्यसनितया। [7]स्वार्थश्च भावाभावा[8]त्मकः प्रत्यक्षवत् शब्देऽपि प्रतिभासते। भावाभावव्यवहारश्च [10]स्वरूपप्रतियोग्यपेक्षानिबन्धनः। नच अविरुद्धस्य प्रतियोगित्वं युक्तम्, अतः कथं सर्वस्य [9]निवृत्तेः शङ्कापि इति ? ततः स्थितम् **'अवधारण'** इत्यादि।

---

(१) तुलना–"अयोगव्यवच्छेदेन हि अस्तिना योग इष्यते। स च योग किं सामान्यरूपेण अस्तिना प्रत्याय्यतेऽथ विशेषरूपेण उतोभयरूपेणेति सर्वथा प्राक्तनदोषप्रसङ्ग। व्यवच्छेदोऽपि अस्तित्वसामान्यायोगस्य वा अस्तित्वविशेषायोगस्य वा उभयायोगस्य वा ?"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९। "चैत्रस्य धनुषा अयोगे व्यवच्छिन्ने योग प्रतिपादितो भवेत् इतरथा चैत्रो धनुर्धर एवेति प्रयोगानुपपत्ति। सैव सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? आद्ये पक्षे चैत्रस्य धनुषाऽयोगे व्यवच्छिन्ने सति न चैत्रता सिद्धयेत् धनुर्भाव सिद्धयेत्। केषामित्याह–स्याद्वादविद्विषाम् एकान्तवादिनामित्यर्थः।"–सिद्धिवि० टी० पृ० ५०८ B. । (२) "अत्यन्तायोगव्यवच्छेदेऽपि अत्यन्तमयोगो नास्ति योग एव सर्वथा, अथवा कदाचिदस्ति कदाचिन्नास्तीत्येव च विकल्पद्वयेऽपि प्राच्य एव प्रसङ्गो योज्य।"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९। "यच्चान्यदुक्त क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यच्छिनत्ति निपातो व्यतिरेचक इति, तत्र दूषणमाह–प्राप्तमित्यादि। नीलं सरोज भवत्येवेति चेत् यदि तर्हि समन्तात् नित्य सर्वदा नीलं सरोजैकरूप व्यक्तं यथा भवति तथेदं जगत् प्राप्तम्। अयमभिप्राय –सर्वथा कथञ्चिद्वा नील सरोज भवत्येव ? प्रथमपक्षेऽय दोष, अन्यत्र अनेकान्त इति।"–सिद्धिवि० टी० पृ० ५१० A। (३) धनुर्धरत्वात्। (४) निवृत्तिर्विधीयताम्। (५) धनुर्धरत्वम्। (६) नीलत्वासभवमात्रम। (७) एवकारात्। (८) धनुर्धरत्वाद्भिन्नत्वेऽपि। (९) धनुर्धरोऽपि स्यात् शूरश्च उदारश्च इति न कोऽपि विरोध। (१०) स्वरूपस्य प्रतियोगिनश्चापेक्षा, स्वरूपापेक्षो भावव्यवहार प्रतियोग्यपेक्षोऽभावव्यवहार –आ० टि०।

---

1 **व्यवच्छेदाच्चैत्र–**ब०। 2 **अथ स्वरूपा–**ब०। 3 **विधीयेत** श्र०। 4–**यस्यते** आ०। 5–**वृत्तेः** श्र०। 6 **ननु** आ०। 7 **स्वार्थस्वभावात्मक.** ब०। 8–**त्मकं प्र–**श्र०। 9 **निवृत्ते शङ्कापि** आ०।

ननु 'जीवोऽस्ति' इत्युक्ते तत्र अस्तित्वम्, [1]'नास्ति' इत्युक्ते नास्तित्वम्, उभयवचनेन उभयं प्रतीयते अतो न युक्तम् **'अवधारण'** इत्यादि, इत्यत्राह–**'अन्यथा'** इत्यादि। अनेकान्तनिरास[1]स्य अवश्यंभावित्वाभावप्रकारेण **अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गात्** कारणात् **'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्'** इति सम्बन्धः। अवधारणाभावे धर्मिवत् [2]धर्मेऽपि अनेकान्तप्रसङ्गात्। अपरमपि स्याद्वादमन्तरेण नश्यति इति दर्शयन्नाह–**'किं बहुना'** इत्यादि। **किम्** ? न किञ्चित् **बहुना** 'उक्तेन' इत्यध्याहारः। **विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु,** आदिशब्देन नियमादिवाक्यपरिग्रहः, **कारकेषु कर्त्रादिषु, स्वार्थादिषु** आदिशब्देन लिङ्गादिपरिग्रहः, **प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु,** चशब्दः अत्र समुच्चायार्थो द्रष्टव्यः। **स्याद्वादमन्तरेण 'प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः'** इति सम्बन्धः। इति एवम् **आबालप्रसिद्धम्** [2]न स्वेच्छया कल्पितमिति यावत्।

[3]ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्तमुक्तम्–**'तत्र जीव इत्युक्ते'** इत्याद्याशङ्क्याह–

[4]वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्।
वाञ्छितांश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते।
[5]वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वि[3]ति ॥६५॥

विवृतिः–वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वम् आगमात् प्रतिपत्तव्यम्। वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थाऽन्यथानुपपत्तेः। अयं च प्रसंगोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते। शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे

(१) अनेकान्तनिरासोऽवश्य भवतीति न–आ० टि०। (२) स्याज्जीव सन्नेवेति हि नयवाक्यम्, अत्र चेदवधारण न क्रियते तदा यथा धर्मिणि जीवे अवधारणरहिते अनेकान्तोऽस्ति तथा धर्मेऽपि अस्तित्वाख्ये स प्राप्नोति, नयरूपञ्चेदम्, धर्मिण्यनेकान्त धर्मे एकान्त –आ० टि०। (३) बौद्ध। (४) "प्राहुरभिदधति। के ? वर्णा अक्षराणि गकारादीनि। तथा पदानि गवादीनि तथा वाक्यानि च गामानयेत्यादीनि। कान् ? अर्थान् अभिधेयान्। किं विशिष्टान् ? अवाञ्छितान्, अविवक्षितान् भूम्यादीन्, वाञ्छितांश्च विवक्षितानपि सास्नादिमदादीन्। क्वचित् मन्दबुद्धिषु प्रतिपाद्येषु न प्राहु तेषा ततोऽर्थाधिगमाभावात् इत्येव प्रकारा सर्वजनप्रतीता प्रसिद्धि रूढि। ईदृशी विचित्रा व्यवहारिभिरभ्युपगन्तव्या तथैवार्थक्रियोपपत्ते। ता प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव उल्लघ्यैव। स्वेच्छया स्वैरभावेन वदता कथयता सौगताना युज्यते युक्त भवतीति, अधिक्षेपवचनम्। कथम् ? शब्द सूचकं वाचकम्। कस्य ? वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य वक्तु प्रयोजकस्याभिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावन्मात्रस्यैव न बहिरर्थस्येति। नु अहो आश्चर्यमित्याक्षेपो गम्यते, सामान्यविशेषात्मनो बहिरर्थस्य शब्दप्रयोगात्प्रतीतेस्तस्यैव तदर्थत्वात् अभिप्रायस्य तत स्वप्नेप्यप्रतीते।"–लघी० ता० पृ ८७। (५) तुलना–"तदुक्तम्–विवक्षाप्रभवा हि शब्दास्तामेव ससूचयेयु।"–तत्त्वोप० पृ० १२०।

1 'नास्तीत्युक्ते' नास्ति आ०। 2 नत्वेच्छया ब०। 3 न्विति आ०, मु० लघी०।

अभिप्रेतव्यभिचारित्वं [1]कुतोऽपनीयते सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात्। अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात् [1]वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात्। उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इति अलौकिकप्रतिभानम्। [2]लोको हि [2]अर्थस्याप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे [3]तत्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्। [4]अबाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमातिष्ठमानानां युक्तम्–अभिप्रेतमात्रसूचकत्वं शब्दानाम्।

वर्णपदवाक्यानि प्राहुः, कान्? **अर्थान्** घटादीन्। किंविशिष्टान्? **अवाञ्छितान्** वाञ्छयाऽविषयीकृतान् **वाञ्छितांश्च** तद्विषयीकृतांश्च शास्त्रव्याख्यानाद्यर्थान् **क्वचित्** मन्दबुद्धिप्राणिषु **न** प्राहुः **इति** [5]**एवं प्रसिद्धिः** लोकप्रतीति**रियं** सकलजनसाक्षिकी। **ईदृशी** विचित्रा। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–'**स्वेच्छया**' इत्यादि। स्वेच्छया स्वाभिप्रेतप्रक्रियामात्रेण **तां** प्रसिद्धि**मतिक्रम्यैव वदतां** सौगतानां **युज्यते**। किं तद्? इत्याह–**वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं** [6]**त्विति**।

कारिकार्थ –

नन्वु वर्णादयोऽर्थानवाञ्छितान् किमनित्या[7]: सन्तः प्रतिपादयन्ति, नित्या वा[8]? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; अनित्यत्वे तेषाम् उत्पन्नमात्रप्रध्वंसित्वेन सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वतः [3]तत्प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः। द्वितीयपक्षस्तु उपपन्नः, [4]नित्यानां तेषां [5]तदनुयायित्वेन तत्प्रतिपादकत्वोपपत्तेः। प्रमाणतः तन्नित्यत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च। तथाहि–'स एवाऽयं गकारः' इत्यादि [6]प्रत्यभिज्ञा-

शब्दनित्यत्ववादिना मीमांसकानां पूर्वपक्षः –

(१) तुलना–"विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥"–न्यायवि० का० ३५४। "विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः।"–प्रमाणसं० का० १६। प्रमाणसं० टि० पृ० १७३ पं० २३। (२) तुलना–"बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति। सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु॥"–आप्तमी० का० ८७। (३) अर्थप्रतिपादकत्वाऽनुपपत्तेः। "यदा हि क्षणिकः शब्दो न शक्तोऽर्थावधारणे। न हि क्षणिकस्य सम्बन्धग्रहणं संभवति"–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३, न्यायर०। (४) कुमारिलमते हि शब्दो नित्यः द्रव्यरूपश्च। "श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दत्वजातिमान्। द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिलमते मतः॥"–मानमेयो० पृ० २१८। प्रभाकरमते च शब्दो नित्योऽपि आकाशस्य गुणो न तु स्वतन्त्रं द्रव्यम्। द्रष्टव्यम्–"आकाशश्च शब्दवानिति, स एव श्रोत्रं तद्गुणश्च शब्दः"–प्रक० प० न्यायशुद्धिप्रकरणम्। (५) सङ्केतव्यवहारकालव्यापकतया। (६) "वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न न करणदौर्बल्यम्, एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति, स एवायमिति प्रत्यभिजानाना प्रत्यभिजानन्ति चेद्वयमिवान्येऽपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति।"–शाबरभा० १।१।२०। "प्रत्यभिज्ञयैव कालान्तरावस्थायिता सिद्ध्यति, कालान्तरावस्थितिश्च सप्रत्यभिज्ञप्रत्यक्षगम्येत्युक्तम्।"–बृहती० १।१।१८। "शब्दोऽपि

1 कुतोऽप्रतीयते ज० वि०। 2 अर्थस्यानाप्ति–ज०वि०। 3 तत्र शब्दव्यवहारस्थितिमप्रतिक्रम्य स्वेच्छ–ई० वि०। 4 अबाधितमतिक्रम्य ज० वि०। 5–वं सिद्धिः श्र०। 6 न्विति आ०। 7–त्या प्रति–व०। 8 'वा' नास्ति श्र०।

ख्यप्रत्यक्षत एव तावच्छब्दानां नित्यत्वं प्रतीयते। न चास्य[1] अज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्; प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात्। नापि संशयरूपम्, एकांशावलम्बित्वात्। उभयांशावलम्बी हि प्रत्ययः संशयः, न चेदं तथा। नापि मिथ्या[2]स्व(त्व) रूपम्, अबाध्यमानत्वात्। यदेव हि ज्ञानं बाध्यते तदेव मिथ्या प्रसिद्धं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम्, न चेद[3] देशकालनरान्तरेष्वपि बाध्यते। न च दुष्टकारणप्रभवत्वादस्याप्रामाण्यम्, तत्कारणानां[4] दुष्टत्वानिश्चयात्। नापि अधिगताधिगन्तृत्वात्, स्मर्यमाणानुभूयमान[5]विशेषणावच्छिन्नस्य गकारादेः पूर्व[6]संवेदनाविषयत्वात्। तदुक्तम्–

"यः[7] पूर्वावगतोऽंशोऽत्र स न नाम प्रतीयते।
इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३-३४] इति।

प्रत्यक्षत्वञ्चास्य[8] श्रोत्रेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सुप्रसिद्धम्। न च स्मृतिपूर्वकत्वादस्य[9] अप्रत्यक्षत्व युक्तम्; तत्पूर्वकत्वेऽप्यस्य सत्सं[1][10]प्रयोगजत्वेन प्रत्यक्षत्वोपपत्ते.। उक्तञ्च–

प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते।"–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३। भाट्टचि० पृ० २९। "एतदुक्त भवति–प्रत्यभिज्ञाख्यविशेषप्रत्ययबलेन ह्यस्तनाद्यतनगकारयोरेकत्वावगमान्नित्यत्वमाश्रीयते, अतो गत्वादिसामान्यनिबन्धनेय प्रत्यभिज्ञा सिद्धयति। एव सति व्यक्तिभेदे सामान्य तदभावात्तु नास्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्, अत सिद्ध प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम्।"–शास्त्रदी० पृ० ५४०,५६८। तन्त्ररह० पृ० २६।

(१) प्रत्यभिज्ञानस्य। (२) प्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यात्वरूपमप्रामाण्यम्। (३) प्रत्यभिज्ञानम्। (४) प्रत्यभिज्ञानकारणानामिन्द्रियादीनाम्। "प्रमाण प्रत्यभिज्ञान दृढेन्द्रियतयोच्यते।"–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३७२। (५) स एवायम्–आ० टि०। (६) पूर्वप्रत्यक्ष। (७) "ननु गृहीतमपि गृह्यते इति कथ प्रामाण्यमत आह य इति। तस्मिन्नशे मा भूत्प्रामाण्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षमेव तु प्रामाण्यमिति।"–न्यायर०। "ननु न केवलमधिक गम्यते किन्तु प्रागवगतमपि इति कथ प्रामाण्यमत आह य पूर्वेति। सविकल्पके हि शब्दार्थस्वरूपसम्बन्धकालसम्बन्धा प्रथन्ते तत्र शब्दादिरशोऽस्मृतिविषय इति मा नाम प्रमाणविषयो भवतु इदानीन्तनी तु वस्तुसत्ता न पूर्वमवधृतेत्यस्ति तत्र प्रमाणावसर इति स्थित प्रामाण्यम्। इन्द्रियव्यापारानुविधानाच्च प्रत्यक्षत्वमिति। एकञ्चेद पूर्वविज्ञानजनितसस्कारप्रत्युत्पन्नेन्द्रियादिकारणक वेदितव्यम्।"–काशिका। 'पूर्वमवगतोऽश स न नाम'–प्रमेयक० पृ० ३३९। 'पूर्वमवगतो नाश स च नाम'–सन्मति० टी० ३१९। 'य· पूर्वावगतोऽशोऽत्र स नो नाम'–स्या० र० पृ० ६७५। उत्तरार्धम्–तत्त्वोप० पृ० २७। प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ७७। तत्त्वसं० पृ० १५९। (८) स एवाय शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य। (९) प्रत्यभिज्ञानस्य। "तत्र शब्दार्थसम्बन्ध प्रमातु स्मरतोऽपि या। बुद्धि पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते॥ चक्षुषा सन्निकृष्टेऽर्थे नाऽप्रत्यक्षममी भवेत्॥"–मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २२९–३०। (१०) सश्चासौ सम्प्रयोगश्चेति कर्मधारय· तया च इन्द्रियाणामर्थेन साक सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थ। तुलना–"किं पुनरिद प्रत्यभिज्ञाख्य प्रमाणम्? प्रत्यक्षमिति ब्रूम। पूर्वानुभवजनितसंस्कारसध्रीचीनेन्द्रियजन्यत्वात् ग्रहणस्मरणरूपमिदमेक ज्ञानम्।"–शास्त्रदी० पृ० ५६८।

---

1 सत्सयोग–श्र०।

‘‘[1]नहि स्मरणातो यत् प्राक् तत्प्रत्यक्षमितीदृशम् । वचनं राज[3]कीयं वा लौकिकं वापि विद्यते ॥१॥
न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् । वार्यते केनचिन्नापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् [1]प्रागूर्ध्वञ्चापि यत्स्मृतेः । विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥’’

[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-३७] इति ।

एवमतः[4] शब्दस्य नित्यत्वे सिद्धे इदानीमिव अन्यदापि यच्छब्दस्योच्चारणं न तत्तस्य[5] जनकं किन्तु अभिव्यञ्जकम् । अत इदमुच्यते[6]-अन्यदापि[2] यत् शब्दस्य उच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात्, यद् यद् उच्चारणं तत्तदभिव्यञ्जकम् यथा एतत्कालोपलक्षितमुच्चारणम्, तथा च [3]प्रकृतम्, तस्मादिदमपि तथा ।

तथा, विवादाध्यासितो वा कालः गादिसम्बद्धः कालत्वात् प्रतिपादितशब्दसम्बद्धकालवत् । अतः सिद्धमस्य अनुमानतोऽपि नित्यत्वम् । इतोऽप्यनुमानात्[7] तत्सिद्धम्-नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, यद् यदेवं तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चाऽयम्, तस्मादयमपि तथा । तथा, देश[8]कालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः एकगोशब्दविषया

(१) ‘‘नन्विदं भवत्यधिकविषयं स्मरणोत्तरकाले भवत् कथ प्रत्यक्षम् ? न हि निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षस्यैष धर्मो दृष्ट अत आह-नहीति । न हि स्मरणात् प्राग्भाविता प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तर्हि इन्द्रियजत्वम्, तच्चात्राप्यविशिष्टमिति भाव । यदि स्मरणेनेन्द्रियप्रवृत्तिरेव वार्यते तदा दूष्यते, ततस्तदुत्तरकालं जायमान सविकल्पक प्रत्यक्षं भवेदपि, न त्वेतदस्ति इत्याह न चेति । यतः स्मृत्या नेन्द्रिय विरुध्यते न वा दूष्यते, तेन प्रागूर्ध्वं वा स्मृतेर्यदिन्द्रियार्थसम्बन्धाद् ज्ञान जायते सर्वं तत्प्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यमित्याह-तेनेति ।’’-**काशिका** । (२) अर्थात् यच्च स्मरणादूर्ध्वं तदप्रत्यक्षम्-**आ० टि०** । (३) ‘राजकीय वा वैदिक वापि’-**मी० श्लो०** । ‘राजकीय वा लौकिक नापि’-**सन्मति० टी० पृ० ३१९** । उद्धृता इमे-**प्रमेयक० पृ० ३३९ । सन्मति० टी० पृ० ३१९ । स्या० र० ४९९** । (४) प्रत्यभिज्ञानात् । (५) शब्दस्य । (६) ‘‘यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्व वक्तु शक्ष्यामः ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्नेनाभिव्यज्यते इति भविष्यतीति ।’’-**शाबरभा० १।१।१२** । ‘‘शब्दस्य प्रयत्न एव कारणतया सभावितः । स च प्रत्यभिज्ञाबलेन द्वितीयादिदर्शनेष्वभिव्यञ्जकतामापादित इति प्रथमदर्शनेप्यसौ अभिव्यञ्जक एव अत कारणरहितत्वेन सत्त्वान्नित्य शब्द गगनादेरिव नास्याऽनित्यतेति ।’’-**प्रक० पं० पृ० १७०। भाट्टचि० पृ० २६** । ‘‘एवञ्चोच्चारणं शब्दस्य न कारण किन्तु अभिव्यञ्जकमिति सिद्धम् । न चोच्चारणादन्यत्कारण सभवतीत्यकार्यत्वम्, अत एवाविनाशान्नित्यत्वसिद्धि ।’’-**शास्त्रदी० पृ० ५९०** । ‘‘शब्द प्रयत्नाभिव्यङ्ग्य यथा तदनुत्पाद्यत्वे सति तदनन्तरमुपलब्धे, यो यदनुत्पाद्यत्वे सति यदनन्तरमुपलभ्यते स तदभिव्यङ्ग्यः यथा प्रदीपानन्तरमुपलभ्यमानो घट ।’’-**तन्त्ररह० पृ० २६ । मानमेयो० पृ० २२१** । (७) ‘‘श्रौत्रता चेय हेतु. शब्दत्ववत्कृत । यद्वा श्रोत्रप्रत्यक्षत्वमत्र हेतु, तद्धि शब्दत्वदृष्टान्तेन शक्नोति नित्यत्व साधयितुमित्याह श्रौत्रेति ।’’-**मी०श्लो०, न्यायर० शब्दनि० श्लो० ३९३** । ‘‘प्रयोगश्चैव भवति नित्य. शब्द श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् ।’’-**शस्त्रदी० पृ० ५८५** । (८) ‘‘देशकालादिभिन्ना वा समस्ता गोत्वबुद्धय । एकगोशब्दजन्या स्युर्गोधीत्वादेकबुद्धिवत् ॥ गोशब्दबुद्धयोऽप्येवमेकगोशब्दगोचराः ॥ गोशब्दविषयत्वेन कल्प्यतामेकबुद्धिवत् ॥ · · · ‘‘गोशब्दबुद्ध्या ह्यस्तन्या गोशब्दोऽय प्रकाशितः । गोशब्दविषयत्वेन यथैवाद्यप्रसूतया ॥ इय वा त विजानाति तद्धेतोः पूर्वबुद्धिवत् । उभे वाप्येकविषये भवेतामेकबुद्धिवत् ।’’-**मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१८-२१** ।

1 **प्रागूर्वापि** आ० । 2-**पि शब्दस्य** श्र० । 3 **प्रकृतत्वं** त-श्र० ।

न चानेकार्थगोचरा गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवत्। 'गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः' इत्युच्यमाने सिद्धसाध्यता स्यात्, एकगोशब्दव्यक्तिबुद्धेः एकविषयत्वाभ्युपगमात्, तन्निवृत्त्यर्थं बहुवचनम्। तथा 'सामान्ये गोशब्दनिबन्धनाः समाना एव धियः प्रभवन्ति' इति तन्निरासार्थं व्यक्तिग्रहणम्। एकस्मिन् देशे काले वा बहूनां प्रमातॄणां गोशब्दज्ञानानि एकगोशब्दव्यक्तिगोचराणि इति सिद्धसाध्यताप्रसङ्गव्यवच्छेदार्थं 'देशकालादिभिन्नाः' इत्युक्तम्। ह्यस्तनो वा गोशब्दः अद्याप्यनुवर्त्तते गौरिति ज्ञायमानत्वात् अद्योच्चारितगोशब्दवत्। अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽपि आसीत् गौरिति ज्ञायमानत्वात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत्। शब्दो वा वाचकः दीर्घकालावस्थायी सम्बन्धबलेन अर्थमतिजनकत्वात् धूमसामान्यवत्। यस्तु अस्थिरः स सम्बन्धबलेन नार्थं बोधयति तादात्विकनिमित्तत्वात् प्रदीपविद्युत्प्रकाशवत्। तदेवम्–

तुलना–"देशकालादिभिन्नाश्च गोशब्दव्यक्तिबुद्धय । समानविषया सर्वा न वा नानार्थगोचरा ॥ गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नबुद्धिवत् । गोशब्दव्यक्तिषु या बुद्धयो देशकालद्रुतमध्यविलम्बितादिप्रतिभेदभासभिन्नास्ता एकार्थविषया नानार्थविषया न वा भवन्ति गौरित्याकारोपग्रहेणोत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोबुद्धिवत्। अथवा या या गोशब्दविषया बुद्धि साऽद्यतनगोशब्दविषया गोशब्दविषयत्वात् अद्यप्रसूतगोशब्दबुद्धिवत्। गोशब्दविषया च ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिरिति स्वभावहेतु । अथवा अह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्धर्मिणी ह्यस्तनगोशब्दविषयत्व साध्यधर्म· गोशब्दविषयत्वादिति हेतु ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्दृष्टान्त · अथवा, उभे ह्यस्तन्यद्यतन्यौ बुद्धी एकविषये गोशब्दविषयत्वादेकगोशब्दबुद्धिवत्। अथवा, समस्ता गोत्वबुद्धय देशादिभेदभिन्ना एकगोशब्दजन्या गोधीत्वादेकगोबुद्धिवत्। पूर्व गोशब्दविषया बुद्धय धर्मिण्य एकविषयत्वञ्च साध्यम्, इदानीञ्च गोत्वजातिविषया बुद्धयो धर्मिण्य एकगोशब्दजन्यत्व साध्यमिति विशेष· ।"–तत्त्वस० पं० पृ० ५९२ । स्या० र० पृ० ६७६ ।

(१) "नित्ये तु सति गोशब्दे बहुकृत्व उच्चरित श्रुतपूर्वश्चान्यासु गोव्यक्तिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामाकृतिवचनमवगमयिष्यति, तस्मादपि नित्य ।"–शाबरभा० १।१।१९। "ह्यस्तनोच्चारितस्तस्माद्गोशब्दोऽद्यापि विद्यते । गोशब्दज्ञानगम्यत्वाद्यथोक्तोऽद्यैष गौरिति ॥"–मी०श्लो०शब्दनि०श्लो० ४१६। (२) "ह्यो वाऽऽसीदेष गोशब्द पूर्वोक्तेनैव हेतुना । यद्वा गोत्वाभिधायित्व वाच्यो हेतुर्द्वयोरपि ॥"–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१७। तुलना–"गौरिति श्रूयमाणोऽद्य ह्योऽपि शब्दो मया श्रुतः । हेतो पूर्वोदितादेव ह्य उच्चारितशब्दवत् ॥"–तत्त्वस० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६ । (३) "अत्रोच्यते स्थिर शब्दो धूमगोत्वादिजातिवत् । सम्बन्धानुभवापेक्षसामान्यार्थावबोधनात् ॥" –मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३११। तुलना–"शब्दो वा वाचको यावान् स्थिरोऽसौ दीर्घकालभाक्। सम्बन्धानुभवापेक्षज्ञेयज्ञानप्रवर्तनात् । य ईदृक् स स्थिरो दृष्ट धूमसामान्यभागवत् ॥"–तत्त्वस० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६ । (४) वाच्यवाचकभावेन–आ० टि० । (५) तुलना–"अस्थिरस्तु न सम्बन्धज्ञानापेक्षोऽवबोधक । तादात्विकनिमित्तत्वाद् दीपविद्युत्प्रकाशवत् ॥"–तत्त्वस० पृ० ५९२। स्या० र० पृ० ६७६ । (६) न हि प्रदीपादिप्रकाशस्य नियतेन घटादिना सम्बन्धोऽस्ति, तादात्विकनिमित्तत्वात्, यत्र यत्र याति तत्र तत्र प्रकाशयति। सम्बन्धे हि स्मृत्यपेक्षा भवति, न च घटप्रदीपादयस्तथा –आ० टि० । "तादात्विक तावत्कालिक व्यवहारकालानुयायि निमित्त सम्बन्धो यस्य स तथोक्त तद्भावस्तत्त्वम् ।"–तत्त्वस० प० पृ० ५९३। स्या० र० पृ० ६७६ ।

1 ह्यापि ब० । 2 गोशब्दो वा श्र० । 3 चोदयति श्र० ।

"कञ्चित् कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।
वि[1]नाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥" [ ]

तथा, विवादा[2]ध्यासितः कालः गादिशब्दशून्यो न भवति कालत्वात् इदानीन्तनकालवत् ।

तथा, अ[3]र्थापत्तितोऽप्यस्य नित्य[1]त्वं सिद्धम्, तथाहि–नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः । न चेयम[4] अन्यथा[5]पि अ[6]न्यथैव वा उपपद्यते; शब्दस्यानित्यत्वे सर्वथानुपपद्यमानत्वात् । प्रतिपन्नप्रतिबन्धाद्धि शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चाऽनित्यत्वे शब्दस्य प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य उत्तरकालमनुवृत्तिः संभवति; तस्य[7] तदैव विनाशात् । तदुक्तम्–

"अ[8]र्थापत्तिरियं चोक्ता प[9]क्षधर्मादिवर्जिता । य[10]दि ना[11]शिनि नित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत् ॥१॥

(१) "अनपेक्षत्वात् १ ।१।२१ । येषामनवगतोत्पत्तीना द्रव्याणा भाव एव लक्ष्यते तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते येषा विनाशकारणमुपलभ्यते, यथा अभिनव पट दृष्ट्वा । न चैन क्रियमाणमुपलब्धवान् अथ चानित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा । तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽय तन्तुव्यतिषङ्गविनाशात्तन्तुविनाशाद्वा विनश्यतीत्यवगच्छति । नैव शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते यद्विनाशाद्विनङ्क्ष्यति इत्यवगम्यते ।"–जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।२१ । "एव स्थितस्य शब्दस्य श्रुतिकालात्क्षणान्तरे । संभाव्यते विनाशित्व न भूयोऽन्येन हेतुना ॥ यथा शस्त्रादिभिर्भेदाज्जरया वा पटादय । नङ्क्ष्यतीत्यवगम्यन्ते नैव शब्देऽस्ति कारणम् ॥"–मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४४२–४३ । उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ६७६ । "अस्यार्थ – शब्द सर्वकाल स्थिर विनाशहेतुशून्यत्वात् । विनाशहेतुशून्यत्वञ्च कञ्चित्काल स्थिरत्वात्सिद्धम् । स हि सम्बन्धकरणकालं यावदनुपद्रुत पश्चादपि केनापनीयतामिति ।"–स्या० र० पृ० ६७६ । (२) तुलना–स्या० र० पृ० ६७६ । (३) "नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्य शब्दो भवितुमर्हति । कुत ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारण तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे नचाऽन्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितु शक्नुयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगम इति युक्तम् ।"–जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।१८ । "अर्थप्रतिपत्त्यन्थानुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम् । न हि प्रत्युच्चारणमन्यस्यान्यस्य क्रियमाणस्यार्थप्रत्यायकत्व सभवति सम्बन्धग्रहणासभवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य चाऽप्रत्यायकत्वात् । न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्व सभवति । न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽश्वशब्द प्रत्याययति ।"–शास्त्रदी० पृ० ५५९ । "शब्दो नित्य परार्थदर्शनसम्बन्धित्वात् धूमादिवदिति ।"–नयवि० पृ० २४२ । (४) अर्थप्रतिपत्ति । (५) नित्ये च अनित्ये [च]–आ० टि० । (६) अनित्ये एव–आ० टि० । (७) अनित्यशब्दस्य । (८) शब्दो नित्य· दर्शनस्य परार्थत्वाऽन्यथानुपपत्ते , परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्ते , अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेर्वा । (९) अनुमानत्वाद्यभाव·–आ० टि० । (१०) "अर्थापत्तौ हि द्वावेव दोषौ अन्यथाप्युपपत्तिरन्यथैवोपपत्तिश्च । तदिहापि यद्यनित्यत्वेऽप्यर्थप्रत्यायकत्वमुपपद्येत अनित्यत्व एव वा ततो दूषण स्यात् नतु तदस्तीत्याह यदीति ।"–न्यायर० पृ० ७९० । "यदि शब्दे नाशिनि नित्ये वा वाचकसामर्थ्यमित्यनेन सशय उक्त विनाशिन्येव वा शब्दे वाचकसामर्थ्यमित्यनेन तु विपर्यय उपदर्शित. तदा दूषणमुच्यतामिति । यदैव शब्दे वाचकसामर्थ्यं सन्दिग्ध विपर्यस्तञ्च स्यात्तदा दूषणावसर एतच्चात्रोभयमपि नास्तीति भाव ।"–स्या० र० पृ० ६७८ । (११) नाशिनि नित्ये वेति निरवधारणत्वात् मिलितमेव 'अन्यथापि' इत्यस्य व्याख्यानम्, विनाशिन्येव इति तु 'अन्यथैव' इत्यस्य–आ० टि० ।

1–त्वं तथा–श्र० ।

शब्दे वाचकसामर्थ्ये तदा[1] दूषणमुच्यताम् । फलवद्[१]व्यवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता ॥२॥
निष्फल[2]त्वेन[२] शब्दस्य योग्यत्वादवगम्यते[३] । परीक्ष्यमाणस्तेनास्य[४] युक्त्या नित्य-विनाशयोः ॥३॥
स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो यः प्रधान[५] न बाधते । नहि अङ्गाङ्ग[६]यनुरोधेन[७] प्रधानफलबाधनम् ॥४॥
युज्यते, नाशिपक्षे च तदेकान्तात् प्रसज्यते । नहि अदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥५॥
तथा च स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् । सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥
सम्बन्ध[९]ज्ञानसिद्धिश्चेद् ध्रुवं कालान्तरस्थितिः । अन्य[१०]स्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥
गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३७-४४] इति[११] ।

अथ[3] सदृशतया शब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः[4] नार्थापत्तितोऽस्य नित्यत्व-सिद्धिः, तदयुक्तम्[१२], तत्सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तितः[5] तथा[१३] तस्य[१४] तद्धेतुत्वा[१५]-नुपपत्तेः । उक्तञ्च-

(१) "ननु माभूदर्थप्रत्यायन तथापि किमित्यनित्यता न भवति ? अत आह-फलवदिति । फलवतो गवानयनादिव्यापारस्य अङ्गभूतोऽर्थप्रत्यय तत्फलत्वेनैव फलवान्, शब्दस्योच्चारणसस्कारभाज स्वयमफलस्य फलवत्प्रत्ययाङ्गताऽवगम्यत इति । तत किमित्याह-परीक्षमाण इति । अर्थप्रत्ययाङ्गस्य शब्दस्य स एव धर्मः स्वाङ्गत्वेन ग्रहीतव्यो यश्च प्रधानमर्थप्रत्यय न बाधत इति । कारणाह-नहीति । अर्थप्रत्ययाङ्गभूतस्य शब्दस्य यदङ्गमनित्यत्व तदनुरोधेन यत्तत्प्रधान शब्द तत्फलस्य अर्थप्रत्ययस्य बाधनमयुक्तमिति । तथापि कथ नानित्यत्वमत्राह-नाशीति । कथमित्याह-नहीति । किमित्यवाचकः ? अत आह-तथा चेदिति । सम्बन्धज्ञानञ्च न क्षणिकस्य सभवतीत्याह-सम्बन्धेति ।" -**न्यायर०** पृ० ७९० । (२) अर्थप्रत्ययाकरत्वे-**आ० टि०** । (३) 'दवधार्यते'-**मी० श्लो०** । (४) शब्दस्य । (५) प्रधान व्यवहाराख्य फलम्-**आ० टि०** । (६) 'अङ्गाङ्गानुरोधेन' -**मी० श्लो०** । अर्थप्रत्यय -**आ० टि०** । (७) शब्द -**आ० टि०** । (८) व्यवहारः-**आ० टि०** । (९) "ननु कियन्त चित्कालमवतिष्ठन्ता शब्दा, यावत्सम्बन्धदर्शन तस्य व्यवहारश्च सभवति, नैनावता नित्यत्वसिद्धिरत आह-सम्बन्धेति । नन्वन्यस्यैव गोशब्दस्य सम्बन्ध गृहीत्वा अन्यस्मादर्थं प्रत्येष्यामो नावश्यमेकस्यैव स्थायित्वमत आह-अन्यस्मिन्निति, एव ह्यव्यवस्था स्यादिति ।"-**न्यायर०** पृ० ७९१ । (१०) यस्य हि सम्बन्धो ज्ञात सोऽन्य. यश्च वाचक. सोऽन्य विनाशित्वात्-**आ० टि०** । (११) उद्धृता इमे-**प्रमेयक०** पृ०४०५-६। द्वितीयतृतीयचतुर्थश्लोकान् विना-**स्या० र०** पृ० ६७८। पञ्चम-षष्ठसप्तमश्लोका किञ्चित्पाठभेदेन-**तत्त्वसं०** पृ० ६१७। (१२) "अर्थत्वसादृश्यादर्थाविगम इति चेत्, न कश्चिदर्थवान् सर्वेषा नवत्वात् । कस्यचित्पूर्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत्, तदुक्तम्, सदृश इति चावगते व्यामोहात्प्रत्ययो व्यावर्तेत शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव ।"-**शाबरभा०** १।१।१८। "ननु तत्तुल्योपादानमभेदमुपादाय सिध्यति पारार्थ्यं दर्शनस्य; सत्यम्; सिध्यति, किन्तु नेत्थम्भूतत्वे प्रमाण-मस्ति । न कस्यचिदप्यासससार जन्तो पूर्वोक्तसदृशमुच्चारयामि तत्सदृश एवायमिमिति ज्ञानोत्पादो दृष्ट. । अत एव चाविपरीत प्रतिपद्यन्ते । अन्यथा मालाशब्दप्रत्ययस्येव शालाशब्दसवेदनादविपर्यय स्यात् ।"-**बृहती०** १।१।१८ । **शास्त्रदी०** पृ० ५६० । **नयवि०** पृ० २४ । (१३) सादृश्यद्वारेण । (१४) शब्दस्य । (१५) अर्थापत्ति (अर्थप्रतीति) हेतुत्वानुपपत्ते -**आ० टि०** ।

1 **ततो दू**-ब० । 2 **निःफल**-श्र०, ब० । 3 **असदृशतया** श्र० । 4-**त्वोपपन्नार्थापि**-श्र० । 5-**पत्तेस्तथा** ब० ।

"सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचकः। कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यतां वाचकोऽपरः ॥ अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा । अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत् तस्य तावान् क्षणः कुतः ॥ द्विस्त्रींवानुपलब्धो हि अर्थवान् सम्प्रतीयते ।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८–५०]

"तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवेत् । एवमेकमनेकं वा नित्यं वाऽनित्यमेव वा ॥ भिन्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता । व्यक्त्यनन्यदथैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥ व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम् ।" [मी०श्लो०शब्दनि०श्लो०२७१–७३] इति ॥छ॥

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शब्दस्य अनित्यत्वप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[11]—'स एवायं गकारः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, अस्य[12] प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनतया एकत्वाऽप्रसाधकत्वात् प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञानवत् । न खलु 'स एवायं प्रदीपः, अङ्गहारः[13], लूनपुनर्जातनखकेशादिर्वा' इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं प्रदीपादीनामेकत्वं प्रसाधयति । अथाऽत्र[14] एकत्वाभावात्तस्य[15] तद[16]प्रसाधकत्वं तदन्यत्रापि समानम् ।

(१) "शब्दस्तु न तथा बालानामपि प्रतीतिप्रसङ्गादित्यर्थवत्सादृश्यादर्थावगम इति भाष्यम्, तस्यार्थमाह–सदृशत्वादिति । शब्दान्तरे गृहीतसम्बन्धेऽर्थवति शब्दान्तर तत्सादृश्यात् तत्त्वेन भ्रान्त्यवगत तदर्थं प्रत्याययतीति । परिहरति तद्द्वारेणेति । कारणमाह–कस्येति । च शब्दो हेतौ । इदञ्च न हि कश्चिदर्थवानित्यनेन भाष्येणोक्तमिति एतदेवोपपादयति–अदृष्टेति । शङ्कते–अर्थवानिति । निराकरोति तस्येति । अवसराभावमेव दर्शयति–द्विस्त्रिरिति ।"–**न्यायर० पृ० ७९३ ।** (२) सादृश्येन–**आ० टि० ।** (३) किन्तु वैसदृश्यम्–**आ० टि० ।** (४) वाचक–**आ० टि० ।** (५) वाच्योपलम्भकालं यावत–**आ० टि० ।** 'तावान् कुत क्षण'–**मी० श्लो० ।** (६) "द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धो हि नार्थवान् सम्प्रतीयते ।"–**मी० श्लो० । तत्त्वस० पृ० ६१९ ।** (७) उद्धृता इमे–**प्रमेयक० पृ० ४१० । तत्त्वसं० पृ० ६१९ ।** (८) "भिन्नत्वैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते । अभेदाऽनित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव तुल्यता ।" –**मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२ ।** (९) 'व्यक्त्यनन्यत्तथैकञ्च'–**मी० श्लो० ।** (१०) उद्धृता इमे–**प्रमेयक० पृ० ४११ ।** (११) **पृ०६९७ प०१८ ।** (१२) तुलना–"किमिद प्रत्यभिज्ञानम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वमन्यत्वेपीत्यनेकान्त "–**न्यायवा० २।२।३३ ।** "अनित्यत्वेऽपि सादृश्यवशात्प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यत एवेति । विवादगोचरापन्न शब्दोऽभिव्यक्त प्रत्यभिज्ञानकाल यावन्नावतिष्ठते शब्दप्रत्ययविषयत्वात् पूर्वानुभूतशब्दवत् ।"–**प्रश० व्यो० पृ० ६४७ ।** "नृत्ताभिनयचेष्टादिप्रत्यभिज्ञानतो वयम् । विशेष प्रत्यभिज्ञाने न पश्यामो मनागपि ॥ उच्यते प्रत्यभिज्ञानमन्यथाप्युपपद्यते । गत्वादिजातिविषय यद्वा सादृश्यहेतुकम् ॥"–**न्यायमं० पृ० २२३-२४ ।** "तथा ह्यनित्येऽपि प्रदीपादौ प्रत्यभिज्ञान दृष्टं तस्मादनैकान्तिकमेतत् , यथा क्षणिकेऽपि कर्मणि प्रयोगे दृश्यते"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७९ ।** "सादृश्यान्नैकरूपत्वात्स एवायमिति स्थिति ॥ यदि चैवविधो नित्यो नित्यास्ते विद्युदादय । प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाण स्याद् युगपद् भिन्नदेशयो ।"–**न्यायवि० का०४२५-२६ ।** "सादृशापरग्रहणेनापि तत्त्वसंभवात् क्षणिकेष्वपि करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हेतु । तत्क्रियैकत्वेपि किमिदानीमनेकं स्यात् ।"–**अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ ।** "गाद्येकत्वग्राहिकाया लूनपुनर्जातकेशनखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात् ।"–**सन्मति० टी० पृ० ३४ । स्या० र० पृ० ६८० । रत्नाकराव० ४।९ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७६ A. ।** (१३) नृत्यक्रियाविशेष , वृश्चिकगमनादिभेदेन द्वाविंशतिविधः । (१४) प्रदीपादौ । (१५) प्रत्यभिज्ञानस्य । (१६) एकत्वाप्रसाधकत्वम् ।

1–**य गौर इत्या–श्र० ।**

ननु तैलादिकारणस्य उत्तरत्र क्षयोपलम्भतः[1] प्रदीपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वप्रसिद्धेः युक्तमेकत्वासत्त्वं न शब्दस्य विपर्ययात्, इत्यप्यनुपपन्नम्, अस्यापि[1] तात्वादिसंयोगविभागलक्षणकारणस्य उत्तरत्र प्रक्षयप्रतीतितः प्रतिसमयमन्यत्वसिद्धेः एकत्वासत्त्वोपपत्तेः । तत्सं[2]योगविभागयोः तदभि[3]व्यञ्जकवायूत्पादे कारणत्वं न शब्दे इत्यभ्युपगमे वर्त्तिकामुखतैलानल[2]संयोगादेरपि प्रदीपाद्यभिव्यञ्जकवायूत्पादे कारणत्वं न तदुत्पादे[4] इत्यप्यभ्युपगम्यतामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्रापि न काकैर्भक्षितः ।

यदपि प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम्[5], तदप्ययुक्तम्, प्रत्यक्षपरिच्छेदे विशदस्वभावस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । न चेदं[6] तत्स्वभावम्, अतः कथमस्य प्रत्यक्षताशङ्कापि ? अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य[7] तद्रूपता, इत्यप्यसत्, तस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाभावात्, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य[8] प्रत्यभिज्ञापरीक्षाप्रघट्टके प्ररूपितत्वात्[9] । प्रत्यक्षत्वे चास्य[10] अतीतकाल[11]परिगतत्वेन शब्दग्राहकत्वानुपपत्तिः, सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारित्वात्तस्य[12] । तद्ग्राहकत्वे[13] वा कथं योगिप्रत्यक्षस्य प्रतिक्षेपः[14] प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्य[15] तद्वद्[16] अतीताद्यर्थग्राहकत्वाविरोधात् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चित् तत्[17]प्रत्यक्षम्, तथापि न तत्[18] शब्दस्यैकत्वप्रसाधकम्, तदुत्पादविनाशग्राहिणा प्रमाणान्तरेण[19] वाध्यमानत्वात्, यत् प्रमाणान्तरेण वाध्यते न तत् स्वविषयव्यवस्थापकम्[3] यथा शुक्तिशकले रजतग्राहिप्रत्यक्षं शुक्तिस्वरूपग्राहिप्रत्यक्षान्तरेण, बाध्यते च तदुत्पाद[20]विनाशग्राहिणा तेन तदेकत्वग्राहिप्रत्यभिज्ञानमिति । न चेदमसिद्धम्, प्रत्यक्षस्यैव[4] तावत् तदुत्पादविनाशग्राहकत्वेन तद्बाधक[21]त्वसंभवात् । तथाहि–'उत्पन्नः शब्दः विनष्टः' इति प्रतीतिः इन्द्रियव्यापारानन्तरं प्रतिप्राणि संवेद्यमानोपजायते । न

(१) तुलना–"शब्दस्य ताल्वादिसयोगविभागलक्षणकदम्बकस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतित प्रतिक्षणमन्यत्वसिद्धेरेकत्वासत्त्वोपपत्ते ।"–स्या० र० पृ० ६८१ । (२) ताल्वादि–आ० टि० । (३) शब्दाभिव्जक । (४)प्रदीप–आ० टि० । (५)पृ०६९८प० ११ । (६ प्रत्यभिज्ञानम् । तुलना–"एवम्मन्यते –प्रथमे क्षणे शब्दग्रहण द्वितीयक्षणे पूर्वगृहीतशब्दाहितसस्कारप्रबोध ततोऽन्यस्मिन् क्षणे शब्दस्मरणम्, ततश्चतुर्थे क्षणे तिरोहिते तस्मिन् स एवाय घटशब्द इति प्रत्यभिज्ञान कथ प्रत्यक्ष स्यादसन्निहितविषयत्वात् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७८ । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानस्य (९) पृ० ४१५ । (१०) प्रत्यभिज्ञानस्य । (११) 'स' इति–आ०टि० । (१२) प्रत्यक्षस्य । तुलना–"पूर्वकालसम्बन्धित्वस्येदानीमसन्निहितत्वेनाऽग्रहणात् । ग्रहणे वा श्रोत्रज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभास स्यात् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५२ । (१३) अतीतग्राहकत्वे–आ० टि० । (१४) प्रतिक्षिपन्ति हि मीमासका सर्वज्ञम्–आ० टि० । (१५) योगिप्रत्यक्षस्य । (१६) प्रत्यभिज्ञानवत्–आ० टि० । (१७) प्रत्यभिज्ञानम् । (१८) तुलना–"शब्दे विनाशविज्ञानात्तु न सा नित्यत्वसाधिका ।"–न्यायम० पृ० २२४ । (१९) प्रत्यक्षेण–आ० टि० । (२०) शब्दोत्पादविनाश । (२१) स एवाय शब्द इति प्रत्यभिज्ञानबाधकत्वसभवात् ।

1–क्षयोपलभः प्र–श्र० । 2–लानिल–आ० । 3–व्यवस्थाग्राहकम् आ० । 4–व तावदुत्पाद–ब०, –व तदुत्पाद–श्र० ।

चेयं मिथ्या, देशकालनरान्तरेषु अबाध्यमानत्वात् 'उत्पन्नो घटः विनष्टो घटः' इति प्रतीतिवत्। अथ प्रत्यभिज्ञानेनैव इयं[1] कस्मान्न बाध्यते ? तन्न, अस्य[2] सादृश्यनिबन्धनतया तन्नित्यत्वाप्रसाधकत्वात्।

ननु एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात्[3] क्वचिद्[4] घटाद्यभावप्रतीतिर्युक्ता, नतु शब्दाभावप्रतीतिः, तत्रैक[5]ज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिदप्यसंभवात्, इत्यप्यचोद्यम्; विवक्षित[6]शब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैव एकज्ञानसंसर्गिणः संभवात्। निःशब्दप्रदेशे सर्वशब्दाभावप्रतीतौ तर्हि तदसंभव इति चेत्, न, तत्रापि आत्मस्वरूप[7]संवेदनस्य तदेकज्ञानसंसर्गिणः संभवात्। यथैव हि घट[1]भूदेशादीनाम् एकत्र ज्ञाने संसर्गः तथा स्वपररूपयोरपि, अखिलज्ञानानां स्वपररूपावभासिस्वभावत्वात्। न चैवं शब्दाभाववत् रूपाद्यभावोऽपि अतो[8]ऽनुषज्यते, तेषां[9] प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतया तदभावस्यापि प्रतिनियतादेव [10]इन्द्रियात् प्रसिद्धेः। यो हि यदिन्द्रिय[11]ग्राह्यः तदभावोऽपि तदिन्द्रियादेव व्यवस्थाप्यते। यदिन्द्रियोपयुक्तो ह्यात्मा यत्र यदा यद्विषयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं नोपलभते तत्र तदा तस्याभावमधिगच्छतीति।

नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भः कुतः स्यात्–इन्द्रियाभावात्, शब्दस्यासन्निहितत्वात्, आवृतत्वाद्वा ? न तावदिन्द्रियाभावात्; उच्चारणानन्तरं शब्दो-

---

(१) उत्पन्न शब्द विनष्ट शब्द इति प्रतीति। तुलना–"प्रत्यभिज्ञा हि सापेक्षा निरपेक्षा त्वभावधी। तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते॥ शब्दाभावस्य ग्रहणात् प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वानुसन्धानादिसव्यपेक्षत्वात्। अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरति कर्मादिषु गृह्यते। तेनास्या शब्देप्यभावप्रत्ययोपहतवपुषि क समाश्वास ? न चैवं प्रत्यक्षेप्यनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहतप्रभावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्वं कर्मादिष्विव शब्देऽपि न साधयितु प्रभवति ..."–न्यायमं० पृ० २२४। स्या० र० पृ० ६८१। (२) भ्रान्तिवशाद्भवत स एवाय शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य। (३) भूतल–आ० टि०। (४) भूतलादौ। (५) शब्दाभावप्रत्यये। (६) तुलना–"विवक्षितशब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैकज्ञानसर्सागण संभवात्।"–स्या० र० पृ० ६८२। (७) तुलना–"तत्राप्यात्मस्वरूपस्य तदेकज्ञानसर्सागण सम्भवात्। स्वपररूपावभासकस्वभावस्य ह्यात्मन परस्मिन् योग्यदेशावस्थिते वस्तुनि न केवलमात्मस्वरूपसवेदनं भवेत् यावन्ति खलु वस्तूनि प्रतिषेध्यत्वसम्मतवस्तुना साकं योग्यदेशावस्थितानि सन्त्यवश्य प्रतिभासन्ते, तानि सर्वाण्येकज्ञानससर्गीणि। तत्र कुम्भादौ प्रतिषेध्यो भूतलादि आत्मस्वरूपञ्चैकज्ञानसर्सागि। शब्दे तु प्रतिषेध्ये सशब्दके प्रदेशे शब्दान्तरमात्मस्वरूपञ्च, नि शब्दके तु केवलमात्मस्वरूपम्। अथवा मा भवत्वेकज्ञानसर्सागिपदार्थान्तिर प्रमाणान्तरगृहीत तु भविष्यति। यथा स्मृतिगोचरे चैत्यकुलादौ क्वचिदभावप्रमाणेन भवतामभावग्रहणे चैत्यकुलादि।"–स्या० र० पृ० ६८२। (८) परत्वाविशेषात् यथा शब्दाभावो ज्ञात तथा रूपाभावोऽपि ज्ञायतामित्यर्थ –आ० टि०। स्वपररूपग्राहिणः कस्माच्चिदपि ज्ञानात्। (९) रूपादीनाम्। (१०) यद्ग्रहे यदपेक्ष चक्षु तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षते इति किरणावलीवचनात् यद्भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्यैव –आ० टि०। (११) येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेन तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते इति नियमात्।

1–भूप्रदेशादीनाम् ब०, श्र०।

पलम्भात् । न¹ च प्रागसतः तदैव इन्द्रियस्य प्रादुर्भावः, प्रतीतिविरोधात् । नापि शब्द-स्यासन्निहितत्वात्, नित्य²व्यापितया सर्वत्र सर्वदा तस्य³ सन्निहितत्वात् । नाप्यावृतत्वात्, नित्यैकस्वभावत्वेन तस्य आवृतत्वानुपपत्तेः । न खलु दृश्यस्वभावपरित्यागेन अदृश्यस्वरू-पाऽस्वीकारे शब्दस्य आवृतत्वं घटते अतिप्रसङ्गात् । य⁴द् यदा यत्स्वरूपं न परित्यजति न तस्य तदा तत्प्रत्यनीकस्वरूपसंभवः यथा अनावृतावस्थायां दृश्यस्वरूपमपरित्यजतो नादृश्यस्वरूपसंभवः, न परित्यजति च आ⁵वृतावस्थायां दृश्यस्वरूपं शब्द इति । त⁶दा तत्स्वरूपपरित्यागे वा सिद्धमस्य अनित्यत्वम्, स्वरूपभेदस्वभावत्वात्तस्य⁶ । ननु घटादीनां स्व⁷रूपाभेदेऽपि अन्धकारादिना आवृतत्वं दृश्यते, इ³त्यप्ययुक्तम्, तत्रापि स्वरूपभेदे सत्येव आवृतत्वोपपत्तेः । स्वरूपमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वानुपपत्तेः ।

---

(१) उच्चारणात् प्राक् तद्ग्राहक श्रोत्रमिन्द्रिय नासीत् उच्चारणकाल एव शब्देन सहोत्पद्यते इत्युक्ते सत्याह न चेति । (२) नित्यतया व्यापितया च-आ० टि० । (३) शब्दस्य । (४) शब्दस्य आवृतावस्थाया न अदृश्यस्वरूपसभव अपरित्यक्तपूर्वस्वरूपत्वात् । तुलना-"यद्यदा यत्स्वरूप न परित्य-जति "-स्या० र० पृ० ६८२ । (५) आवृतावस्थाया दृश्यस्वरूपत्यागे । तुलना-"तदयं ताल्वा-दिव्यापारजनितश्रावणस्वभाव परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेन्न किञ्चिदनित्यम् ।" -अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०७ । (६) अनित्यत्वस्य । (७) स्वरूपभेदाभावेऽपि । तुलना- "स्यान्मत यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरण तथा शब्दस्यापीति, तदसत्; तस्यापि तेन आत्मखण्डनोपगमात्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात् तमसस्तदावरणत्वसिद्धे सर्वस्य परिणामित्व-साधनात् । तमसाऽपि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धि किन्न भवितुमर्हति, तस्य तेन उपलभ्यतयाऽप्य-खण्डनात् ।"-अष्टश०, अस्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० र० पृ० ६८२ ।"स्ति-मितेन वायुनावरणान्नित्य नोपलभ्यत इति चेदाह-नापीत्यादि । तस्य बाह्यस्य उपलभ्यात्मनो दृश्यस्य किञ्चिदुपलम्भावरण सम्भवति । तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । सतोऽपि वा विद्यमानस्यापि चावरणस्य तदात्मानमखण्डयतो नित्यशब्दात्मानमप्रच्यावयत सामर्थ्यतिरस्कारायोगात् ज्ञान-जननशक्त्यभिभवायोगात् । यस्मान्न हि तत्र शब्दात्मन्यतिशयमनुत्पादयन्नावरणाभिमत' किञ्चित्करो नाम । अकिञ्चित्करश्चार्थं क कस्यावरण ज्ञानविबन्धकमन्यद्वेति प्रकारान्तरेणोपघातक नैवेति यावत् । · · अकिञ्चित्करस्य आवरणत्व दृष्टमिति कथयन्नाह पर-कुड्यादय इत्यादि । कुड्यादयो घटादीना कमतिशयमुत्पादयन्ति कम्वा सामर्थ्यातिशय खण्डयन्ति येनावरणमिष्यन्ते । तस्माद् यथा तेऽतिशयमनुत्पादयन्तो घटादीनामावरणमिष्यन्ते तथा नित्यस्यापि शब्दस्य किञ्चिदावरण भविष्यती-त्यभिप्राय । न ब्रूम इत्यादिना परिहरति । ते कुड्यादय किञ्चिद् घटादिकमतिशाययन्ति विशिष्ट स्वभाव कुर्वन्तीति न ब्रूम । कथन्तर्ह्यावरणमुच्यन्त इत्याह-अपि तु न सर्व इत्यादि । न सर्वघटक्षणा सर्वस्य पुरुषस्य इन्द्रियज्ञानहेतव किन्तर्हि परस्परसहितास्तु विषयेन्द्रियालोकाः परस्परतो विशिष्ट-क्षणान्तरोत्पादात् कारणाद् विज्ञानहेतवः ते च विषयेन्द्रियादय तेन प्रतिघातिना कुड्यादिनाऽव्यव-हिता यदा भवन्ति तदाऽन्योन्यस्योपकारिण सति च व्यवधायके कुड्ये अन्यस्योत्पित्सो' समर्थस्य क्षणस्य यथोक्तकारणाभावेनानुत्पत्तेर्ज्ञानकारणवैकल्यमत कारणवैकल्यात् घटादिषु कुड्यादिव्यवहितेषु ज्ञानानुत्पत्तिरिति कृत्वा कुड्यादय आवरणमुच्यते न पुन प्राग्विज्ञानजननयोग्यस्य घटादे प्रति-बन्धात् ·"-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३६१-६२ । (८) उपलम्भानुपलम्भरूपेण ।

1-वत्वे तस्य ब० । 2 आवृतत्वावस्थायां आ०, ब० । 3 इत्ययु-श्र०, ब० ।

किञ्च, [1]व्यञ्जकव्यापारात् पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धे सद्भावे आवरणं सिद्ध्येत्, स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटे अन्धकारादिवत्, न चासौ सिद्धः। 'प्रत्यभिज्ञानात्तत्सिद्धिः' इत्यपि मनोरथमात्रम्, तस्य एकत्वाप्रसाधकत्वप्रतिपादनात्।

अस्तु वा[1] यथाकथञ्चित्ते[3]षामावरणम्, [4]तथापि तत् दृश्यम्, अदृश्यम्, नित्यम्, अनित्यम्, व्यापकम्, अव्यापकम्, एकम्, अनेकं वा स्यात्? न तावद् दृश्यम्; प्रत्यक्षप्रमाणतः [5]तत्प्रती[2]त्यभावात्। [6]ततस्तत्प्रतीतौ वा विप्रतिपत्त्यभावः। नहि नीले नील[3]तया प्रतीयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते। अथादृश्यम्; कथं [7]तदस्ति अतिप्रसङ्गात्? ननु नित्यस्य सतः शब्दस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धौ निमित्तान्तरासंभवात् [8]तन्निमित्तमदृश्यमप्यावरणं कल्प्यते; इत्यप्यसाधीयः; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्–सिद्धे हि शब्दस्य आवरणे नित्यस्य सतोऽस्य[9] उच्चारणात् प्रागनुपलब्धिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तदावरणसिद्धिरिति। ननु प्रत्यभिज्ञानात् [4]शब्दस्य नित्यत्वसिद्धेः उच्चारणात् प्राक् तदनुपलब्धौ नावरणादन्यन्निमित्तम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्; प्रत्यभिज्ञानस्य तन्नित्यत्वप्रसाधकत्वप्रतिषेधात्।

नित्यत्वे च आवरणस्य सदा शब्दस्यानुपलब्धिः स्यात्। अनित्यत्वे त्वस्य[10] प्रध्वस्तस्य पुनरुत्पादे कारणाभावात् सर्व[5]दा सर्वस्य उपलम्भप्रसङ्गः। नहि [11]प्रतिनियतावरणोत्पादे प्रतिनियतं किञ्चित्कारणमुपलभ्यते।

व्यापकत्वञ्चास्य अतीव दुर्घटम्; बाधकप्रमाण[6]सद्भावात्। तथाहि–[12]आवरणत्वेनाभिमतो वायुरव्यापकः स्प[7]र्शवद्द्रव्यत्वात् लोष्टवत्। व्यापकत्वे चास्य[13] उभयोरपि [14]आवार्यावारकयोः सर्वगतत्वात् किं कस्य आवारकं स्यात्? न हि आकाशमात्[15]मादी-

(१) तुलना–"स्वज्ञानेनान्यधीहेतु सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मत । यथा दीपोऽन्यथा वापि को विशेषोऽस्य कारकात् ॥ स्वप्रतिपत्तिद्वारेण अन्यप्रतिपत्तिहेतुर्लोके व्यञ्जक सिद्धो दीपादिवत्, स चेत्प्राक्सिद्ध स्यात्। समानजातीयोपादानलक्षणसिद्धेन तस्यैवातिशयस्य ज्ञानहेतोः तस्य तत्सामग्रीत्वात्। ये पुन असिद्धोपलम्भना कारका एव कुलालादिवद् घटादौ। स्वज्ञानेन कारणेन अन्यधीहेतुरर्थो व्यञ्जको मत । कदा? सिद्धेऽर्थे। यद्यसौ व्यङ्ग्य प्रागसिद्ध स्यात्तदा को विशेषोऽस्य व्यञ्जकस्य कारकाद्धेतोः।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६४।** "यत प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरण सिद्धयेत् स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारादिवत्।"–**प्रमेयक० पृ० ४२१।** (२) सद्भाव–आ० टि०। (३) शब्दानाम्–आ० टि०। (४) तुलना–"तथापि तदावरणं दृश्यदृश्य वा नित्यमनित्य वा व्यापकमव्यापक वा एकमनेक वेत्यष्टौ विकल्पा।"–**स्या० र० पृ० ६८३।** (५) आवरणप्रतीत्यभावात्। (६) प्रत्यक्षत। (७) आवरणम्। (८) अनुपलब्धि–आ० टि०। (९) शब्दस्य। (१०) आवरणस्य। (११) एकैकवर्णस्य एकैकमावरणम्–आ० टि०। (१२) तुलना–"आवरणत्वेनाभिमत प्रभञ्जन न व्यापक स्पर्शवद्द्रव्यत्वादुपलशकलवत्।"–**स्या० र० पृ० ६८३।** (१३) आवरणस्य। तुलना–"तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्, न तर्ह्यावारकम्, न ह्याकाशमात्मादीनामावारकम्।"–**प्रमेयक० पृ० ४२१। स्या० र० पृ० ६८३।** (१४) शब्दस्तिमितवाय्वो। (१५) पराभिसन्धिना–आ० टि०।

1 **वा कथञ्च**–श्र०। 2–**त्यसंभवात्** श्र०। 3 **नीलतायाः प्र**–श्र०। 4 **शब्दनित्य**–आ०, श्र०। 5–**दा शब्दस्य** ब०, श्र०। 6–**णभावात्** आ०। 7 **स्पर्शनद्रव्य**–श्र०।

नामावारकं प्रतीतम् । अव्यापकत्वे त्व[१]स्य नितरां तेन[२] शब्दस्य आवार्यत्वानुपपत्तिः, त[३]न्मध्ये तद्देशे पार्श्वे च विद्यमानत्वात्[४], प्रत्युत शब्द एवा[५]स्य आवारकः स्यात्, अ[६]न्यथा सर्षपोऽपि घटस्य आवारको भवेत् । ननु भूम्यादिना आकाशस्य तथावि[७]धस्यापि आव्रियमाणत्वोपलम्भाददोषोऽयम्, इत्यप्यसत्, त[८]त्प्रदेशस्यैव तेन[९] आव्रियमाणत्वाभ्युपगमात्[१०]। शब्दप्रदेशस्यापि वायुना आव्रियमाणत्वाभ्युपगमे शब्दस्य सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्यात् ।

तथा निखिलशब्दानां यदि एकमेवावरणं [1]कल्प्यते, तदा ए[११]कोपलम्भे सर्वे[१२]षामुपलम्भप्रसङ्गः, त[१३]दावरणापगमे त[१४]द्वत् सर्वेषामनावृतत्वात् । तद[१५]नुपलम्भे वा विवक्षितशब्दस्यापि त[१६]द्वदनुपलम्भः स्यादविशे[१७]षात् । अथ विभिन्नम्; तन्न; स[१८]र्वशब्दानां व्यापितया

(१) वायो –आ० टि० । (२) वायुना–आ० टि० । (३) आवरणात्मकवायुमध्ये । (४) व्यापित्वेन–आ० टि० । (५) वायो –आ० टि० । (६) यद्यल्पपरिमाणमपि वस्तु महत आवारक स्यात् तदा । (७) व्यापिनोऽपि–आ० टि० । (८) आकाशप्रदेशस्यैव । (९) भूमिना । (१०) जैने आकाशस्य अनन्तप्रदेशित्वप्रतिज्ञानात् । (११) आवरणापाये कस्यचिदेकस्य शब्दस्य उपलब्धिकाले । तुलना–"यथा जवनिकापायप्राप्तप्रसरमीक्षणम् । रङ्गभूमिषु तद्देशमशेषं वस्तु पश्यति ।। तथा प्रसरसरोधिसमीरोत्सारणे सति । श्रोत्रं तद्देशनि शेषशब्दग्राहि भविष्यति ।"–न्यायम० पृ० २२१ । "क्वचिच्छब्दस्याभिव्यक्तौ तस्य व्यापकतया सर्वदेशावस्थितपुरुषाणामुपलम्भः स्यात् निरावरणस्य व्यापकत्वाविशेषात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ६८४ । (१२) शब्दानाम् । (१३) विवक्षितशब्दस्य आवरणस्य विनाशे । (१४) एकशब्दवत्–आ०टि० ।(१५) सर्वशब्दानुपलब्धौ । (१६) सर्वशब्दवत् । (१७) अनावृतत्वाविशेषात् । (१८) तुलना–"नियमश्च न स्यात्, यदि चानेके शब्दा युगपदाकाशे वर्तन्ते इति, एवञ्च यत्किञ्चिद् व्यञ्जकमुपात्त समानदेशान् सर्वानभिव्यनक्तीति यदा वीणा वाद्यते तदा रासभध्वनिरपि श्रूयेत । न हि समानेन्द्रियग्राह्याणा समानदेशाना व्यञ्जकेषु नियमो दृष्ट । यद्यस्य व्यञ्जक तेन तस्य व्यक्तिरिति चेत्, तन्न, अदृष्टत्वात् । अथ मन्यसे अनेकशब्दसन्निपाते सति व्यञ्जकानि भिद्यन्ते व्यञ्जकभेदानुविधायिन्यो व्यक्तय प्रतिशब्दमुपजायन्त इति; तन्न, अदृष्टत्वात् । न हि प्रदीप एकेन्द्रियग्राह्यमनेकमर्थं युगपत्सन्निपतित न प्रकाशयति ।"–न्यायवा० पृ० २८८ । न्यायवा० ता० पृ० ४४६ । "न च गोशब्दाभिव्यक्त्यर्थं प्रेरितो वायुर्नाश्वशब्द व्यनक्तीति वाच्यम्, व्यञ्जकेषु नियमानुपलब्धे । यथा घटाभिव्यक्त्यर्थमुत्पादित प्रदीप समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितपदार्थव्यञ्जक इति । तथाहि–न श्रोत्र प्रतिनियतमस्कारकसस्कार्यं समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्रकाशकत्वात् चक्षुर्वत् । शब्दा वा विवादविषया प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितत्वात् घटादिवत् ।"–प्रश० व्यो० पृ ६४८ । "न च समानकरणाना समानेन्द्रियग्राह्याणाञ्च भावाना प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमुपलब्धम् । गृहे दधिघटी द्रष्टुमानीतो गृहमेधिना । अपूपानपि तद्देशान् प्रकाशयति दीपक ॥"–न्यायम० पृ० २१२ । "श्रोत्र तावत्समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मापन्नार्थाना ग्रहणाय प्रतिनियतसस्कारकसस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वत् । शब्दा वा प्रतिनियतसस्कारकसस्कार्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानधर्मापन्नत्वे सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात् घटादिवत् ।"–न्यायसा० पृ० ३० । "ननु नियतव्यञ्जककृता नियतश्रुतिरित्यत्राह–नहीत्यादि । न हि यस्मात् समानदेशानाम् समानाक्षविषयाणामेतत् नियतव्यञ्जकत्व न्याय्यम् ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५४B । "समानकरणाना तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषा सकुला श्रुति स्यात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२३ । सन्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० र० पृ० ६८३ । प्रमेयर० ३।१०० । शास्त्रवा टी० पृ० ३७८A ।

1 कल्प्येत ब०, श्र० ।

समानदेशत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे च आवरणभेदस्य व्यञ्जकभेदस्य चानुपपत्तेः। तथाहि–शब्दाः प्रतिनियतावरणावार्याः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, अभिन्नदेशत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा एकघटवृत्तिसामान्य-संख्या-रूप-परिमाण-कर्मादि, तथा चैते शब्दाः, तस्मात्तथेति। 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्युच्यमाने रूपरसादिभिर्व्यभिचारः, तेषामेकद्रव्यवृत्तित्वेऽपि प्रतिनियतव्यञ्जकप्रतीतेः, अतः 'एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' इत्युक्तम्। तस्मिंश्चोच्यमाने भिन्नदेशव्यवस्थितघटादिनिष्ठैः सामान्यादिभिः अनेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्यभिहितम्। तदतोऽनुमानात् शब्दानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाऽव्यवस्थितेः अयुक्तमुक्तम्–

"(1)अन्यार्थं प्रेरितो वायुः यथान्यं न करोति (2)वैः। (3)तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८०।] इत्यादि।

यदि च (4)ताल्वादयो (5)ध्वनयो (6)वा शब्दानां व्यञ्जकाः; तर्हि तद्व्यापारे नियमेन उपलब्धिर्न स्यात्। का(7)र(8)कव्यापारो ह्येषः–स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम, न व्यञ्जकव्यापारः। न खलु यत्र यत्र व्यञ्जकः प्रदीपादिः तत्र तत्र व्यङ्ग्यस्य घटादेः सन्निधानमुपलब्धिर्वा नियमतोऽस्ति कारक-व्यञ्जकयोरविशेषप्रसङ्गात्, (9)चक्रादिव्यापार-वैयर्थ्यानुषङ्गाच्च। अथ घटादेरसर्वगतत्वान्न व्यञ्जकसन्निधाने नियमतः सन्निधान-

(१) "अन्यार्थमिति अन्यवर्णनिष्पत्त्यर्थम्। अन्यवर्णसंस्कारशक्त इति अन्यवर्णप्रतीत्यर्थः सस्कारो यः श्रोत्रस्य सोऽन्यवर्णसंस्कारशब्देनोक्त न तु वर्णसस्कार एव श्रोत्रसस्कारस्य प्रकृतत्वात्। नान्यं करिष्यति इति नान्यं वर्णं श्रोत्रसस्कारद्वारेण संस्करिष्यतीत्यर्थ।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ६०८। (२) 'करोति च'–स्या० र० पृ० ६८४। 'करोति स'–तत्त्वसं० पृ० ६०८। प्रकृतपाठ–प्रमेयक० पृ०४२३। सन्मति० टी० पृ० ३६। (३) भो जैना–आ० टि०। (४)'एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भप्रसङ्ग' इत्युपालम्भस्य समाधानमिद मीमासकेन प्रोक्तम्–आ० टि०। (५) तुलना–"कारणाना समग्राणा व्यापारादुपलब्धितः। नियमेन च कार्यत्व व्यञ्जके तदसम्भवात्। नहि कदाचिद् व्यापृतेषु करणेषु शब्दानुपलब्धि, न चावश्यं व्यञ्जकव्यापारोऽर्थमुपलम्भयति क्वचित् प्रकाशेऽपि घटानुपलब्धे। सेय नियमेनोपलब्धि तद्व्यापाराच्छब्दस्य तदुद्भवे स्यात्। अकर्तुर्व्यापारेऽपि तत्सिद्ध्ययोगात्। किञ्च करणाना समग्राणा व्यापारात् परिस्पन्दादिलक्षणात् नियमेन शब्दस्य उपलब्धित. कारणात् कार्यत्व प्राप्तम्। किं कारणम्? व्यञ्जके हेतौ तदसम्भवात् नियमेन व्यङ्ग्यस्योपलम्भासंभवात्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६५। "व्यञ्जकव्यापृतौ न स्याद् व्यङ्ग्यस्य नियमाद् गति. नावश्यम्भावनियम स्याच्छ्रुतेरुच्चारणात्तत।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५५A। "न कश्चिद्विशेषहेतुः ताल्वादयो व्यञ्जका न पुनश्चक्रादयोऽपि इति। ते वा घटादेः कारका. न पुन शब्दस्य ताल्वादयोऽपीति। न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति। सन्निधापयति च ताल्वादिव्यापृतिर्नियमेन शब्द ततो नासौ ताल्वादीना व्यङ्ग्यः चक्रादीना घटादिवत्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०३। "यदि च ताल्वादयो ध्वनयो वास्य"–प्रमेयक० पृ ४१५। स्या० र० पृ० ६८४। (६) वायव–आ० टि०। (७) "प्राक् सतः स्वरूपसस्कारक हि व्यञ्जकम्, असतः स्वरूपनिर्वर्तक कारकम्।"–प्रमेयक० पृ० ११६। (८) घटाद्युत्पादने। (९) प्रदीपादिनैव साध्यसिद्धे.–आ० टि०।

1–णस्य भेदस्य ब०। 2–व्यंजनव्य–आ०। कारकस्य व्या–श्र०।

मुपलम्भो वा, शब्दस्य तु भवति विपर्ययात्; त[१]दप्यचर्चिताभिधानम्; तत्सर्वगतत्वासिद्धेः। तथाहि–शब्दः सर्वगतो न भवति [२]सामान्यविशेषवत्त्वे सति वाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् [1]घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषाभावाद् उभयोः कार्यत्वं व्यङ्ग्यत्वं वाऽविशेषतोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

किञ्च, [३]एते ध्वनयः कुतः प्रतिपन्नाः येन तदधीना शब्दश्रुतिः स्यात्–प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्; किं [2]श्रौत्रेण, [3]स्पार्शनेन वा ? न तावत् श्रौत्रेण; तथा प्रतीत्यभावात् । नहि शब्द[4]वत् श्रोत्रे ध्वनयः प्रतिभासन्ते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । [४]तत्र तत्प्रतिभासाभ्युपगमे च अपरशब्दकल्पनावैयर्थ्यम्, [५]ध्वनीनामेव श्रावणस्वभावतया शब्दत्वप्रसङ्गात् । अथ स्पार्शनप्रत्यक्षेण ध्वनयः प्रतीयन्ते, स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वकरसंस्पर्शनेन ता[६]न् प्रतिपद्यते, इत्यप्यसाम्प्रतम्; वायु[७]वत् ताल्वादिव्यापारानन्तरं वि[5]प्रुषामुपलम्भतः शब्दाभि[८]र्व्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्तृमुखप्रदेश एव ता[6]सां[९] [7]प्रेक्षयतः श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावान्न त[१०]द्, इत्यन्यत्र[११]ापि समानम् । न खलु वायवोऽपि [१२]तत्र गच्छन्तः प्रत्यक्षत. प्रतीयन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु प्रतीतिः [१३]उभयत्र तुल्या । यथा च स्तिमितभाषिणो न वि[8]प्रुषामुपलम्भः तथा वायूपलम्भोपि नास्ति ।

(१) तुलना–"व्यापिन शब्दा नित्याश्च, ततो व्यापिनित्यत्वाच्छब्दाना व्यञ्जकस्य करणस्य व्यापारात् सर्वत्रोपलब्धि घटादयस्तु न व्यापिन नापि नित्या तेन ते व्यञ्जकव्यापारेण नावश्यमुपलभ्यन्त इति, यद्येव क इदानी घटादिषु समाश्वास निश्चय', यथा ते न नित्या नापि व्यापिन इति यावता तेऽपि नित्या व्यापिनश्च भवन्तु ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८५ । "नैष दोष सर्वगतत्वाद्वर्णानामित्यपि वार्तम्; प्रमाणवलायातत्वाभावात् अन्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०३ । स्या० र० पृ० ६८४ । (२) सामान्यनिरासार्थं विशेषणमुक्तम्–आ०टि० । तुलना–"तदुक्त न च सर्वगताऽमूर्तनित्यैकात्माऽत्र युज्यते । वर्णो वाह्येन्द्रियग्राह्यस्वभावत्वाद् घटादिवत् ॥"–पत्रप०पृ० ११। "न सर्वगत शब्द सामान्यविशेषवत्त्वे सति वाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् ।"–प्रमेयक० पृ०४१५ । "सामान्यविशेषवत्त्वे सति वाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् ।"–स्या० र० पृ० ६८४। (३) तुलना–प्रमेयक० पृ०४१८ । स्या० र० पृ०६८४। (४) श्रोत्रे । (५) तुलना–"ध्वनय एव हि विशिष्टा वर्णरूपा वाचका । तेभ्यो भिन्नोऽर्थान्तर वाचक शब्दरूपमस्तीत्येतत्सत्ताग्राहकप्रमाणाभावात् अतिवह्विय श्रद्धेयम् । किं कारणम् ? यतो न वयमवाचक ध्वनि शब्दञ्च वाचक पृथग्रूपमिति ध्वनिभ्यो भिन्नस्वभावमुपलक्षयाम. तस्मात् ध्वनिविशेष एवाकारादिरूपेण स्थित वर्णास्य ·"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३६८ । "यतो ध्वनिविशेष एव वर्ण उच्यते । तेन द्रुतोच्चारितो ध्वनिविशेष. द्रुता गव्यक्तिरुच्यते, मध्योच्चारितो मध्यगव्यक्ति , विलम्बितोच्चारिता ध्वनिविशेषो विलम्बिता गव्यक्ति न तु व्यञ्जकेभ्यो ध्वनिभ्योऽन्यो गकार प्रतिभासते· "–प्रमाणवा०स्ववृ०टी०पृ०३८२ । (६) ध्वनीन् । (७) तुलना–"वायुवत्ताल्वादिव्यापारानन्तर कफाशानामप्युपलम्भेन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् ।"–प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० र० पृ० ६८४ । (८) यद्यत्ताल्वादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तत्तच्छदाभिव्यञ्जकं यथा वायु तथा च विप्रुष इति –आ० टि० । (९) विप्रुषाम् कफकणानाम् । (१०) शब्दाभिव्यञ्जकत्वम् । (११) ध्वनावपि । (१२) श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे । (१३) वायुवत् कफाशेष्वपि समाना ।

1 'घटादिवत्' नास्ति आ० । 2 श्रोत्रेण श्र०, ब० । 3 स्पर्शनेन श्र० । 4 शब्दवत्तत्र ध्वनय. श्र०, ब० । 5 विप्रुषाणाम्–आ० । 6 तेषा आ० । 7 प्रत्यक्षतः प्रक्षयतः ब० । 8 विप्रुषोपलम्भः आ० ।

स्ति[1]मितस्य कल्पनमुभयत्र तुल्यम्। एतेन वदतो मुखाग्रस्थिततूलादेः प्रेरणोपलम्भात् अनुमानतो ध्व[1]नीन् प्रतिपद्यते; इत्यपि प्रत्युक्तम्; तद्वद् वि[3]प्रुषामपि अत[2]ः प्रति[3]पत्तिप्रसङ्गात्।

अथ अ[4]र्थापत्त्या ध्वनयः प्रतीयन्ते; तथाहि–शब्दस्तावत् नित्यत्वात् नोत्पद्यते, सस्कृतिरेव तु क्रियते, सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्युः। उक्तञ्च–

"शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वात् अन्यथानुपपत्तितः। विशिष्टसंस्कृतेर्जन्म ध्वनि[3]भ्योऽध्यवसीयते ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६-२७।] इति।

त[4]दप्यचारु; यतः केयं विशिष्टा संस्कृतिर्नाम–श[6]ब्दसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो वा ? त्रिविधो हि संस्कारो मीमांसकैरिष्टः।

"स्या[7]च्छब्दस्य हि सं[5]स्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२।]

"स्थि[8]रवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत्।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२।] इत्यभिधानात्।

तत्राद्यपक्षे कोऽयं श[9]ब्दसंस्कारो नाम–शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः कश्चिद-

(१) वायून्–आ० टि०। (२) 'मुखाद्विप्रुषो निःसरन्ति मुखाग्रस्थितवस्त्रे आर्द्रतादर्शनात्' इत्यनुमानात्। (३) विप्रुषो हि मुखाग्रस्थवस्त्रादौ दृश्यन्ते–आ० टि०। (४) ध्वनयः सन्ति विशिष्टसंस्कृत्यन्यथानुपपत्ते। "तथा हि सन्ति शब्दव्यञ्जका ध्वनय शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः।"–**स्या० र० पृ० ६०५।** (५) "नन्वेवमविशेषे किमिति सस्कारविशेषोत्पत्तिरेवाङ्गीक्रियते न शब्दविशेषोत्पत्तिरत आह–शब्देति। प्रागनुपजातपश्चादुपजातशब्दोपलम्भानुपपत्त्याऽवश्य कल्पनीये कस्मिंश्चित् प्रत्यक्षतया शब्दोत्पत्तेर्निषेधात् सस्कारकल्पनैव युक्तेति।"–**न्यायर०।** 'ध्वनिभ्यो व्यवसीयते'–**प्रमेयक० पृ० ४१८।** प्रकृतपाठ–**तत्त्वसं० पृ० ६११।** (६) "इन्द्रियस्यैव संस्कार शब्दस्यैवोभयस्य वा। क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥"–**वाक्यप० १।७९।** (७) 'सा हि स्याच्छब्द' –**मी० श्लो०। तत्त्वसं० पृ० ५९८।** अनेनैव रूपेण उद्धृतोऽयम्–**प्रमेयक० पृ० ४१९।** "साऽभिव्यक्ति शब्दस्य भवन्ती वायवीयैः सयोगविभागैः शब्दसंस्काराद्वा भवेत् इन्द्रियसंस्काराद्वा उभयस्य वा शब्दस्येन्द्रियस्य च सस्कारात्।"–**तत्त्वसं० पं० पृ० ५९९।** (८) "द्विविधो हि वायु स्थिरोऽस्थिरश्च। तत्र य स्थिर सघनान्धकारवत् शब्दमावृत्यास्ते तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्थेन वायुना सयोगविभागा उत्पद्यन्ते। तैश्च सयोगविभागै तस्य स्थिरस्य वायोरपनय क्रियते स एव च शब्दस्य सस्कारो नान्य स्वलक्षणपुष्ट्यादि. तस्य नित्यत्वेनैकरूपत्वात्।"–**तत्त्वसं० पं० पृ० ६०१।** (९) तुलना–"भवन्ती वा कारणेभ्योऽतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्ति आवरणविगमो विज्ञानं वा गत्यन्तराभावात्। यत एवन्तस्मान् न व्यक्ति शब्दस्य कारणेभ्य किन्तूत्पत्तिरेव। भवन्ती वा कारणेभ्य. सकाशाद् व्यक्तिस्त्रिधा भवेत्–पूर्वावस्थापरित्यागेन अतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिर्भवेत्, उपलम्भावरणविगमो वा, शब्दालम्बन विज्ञान वा व्यक्ति, प्रकारत्रयव्यतिरेकेण गत्यन्तराभावात्।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८६।** इमे सर्वे विकल्पा–**प्रमेयक० पृ० ४१९।** "क एष शब्दसस्कार–किमतिशयाधानमनतिशयव्यावर्तनमावरणापगमो वा"–**स्या० र० पृ० ६८५। रत्नाकराव० ४।९।**

1 **स्तिमितकल्प**–आ०। 2 **विप्रुषाणामपि** आ०। 3–**भ्योऽवसी**–श्र०। 4 **एतदप्य**–आ०। 5 **संस्कार इन्द्रि**–श्र०।

तिशयः, अनतिशयव्यावृत्तिः, स्वरूपपरिपोषः, व्यक्तिसमवायः, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्, आवरणविगमो वा ? यदि शब्दस्य उपलब्धिः; कथमसौ ध्वनीनां गमिका शब्दश्रोत्रमात्रभावित्वात्तस्याः[१] ? तथात्वेऽन्यनिमित्ताकल्पने[२] हेतूनामनवस्थितिः। आत्मभूतः कश्चिदतिशयः[३] अनतिशयव्यावृत्तिर्वा, इत्यत्रापि अतिशयः[४]–दृश्यस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिश्च[1] अदृश्यस्वभावखण्डनमेव। [2]ते[६] च [५]ततो भिन्ने, अभिन्ने वा विधीयेते ? यदि [3]भिन्ने; तदा [७]तत्करणे शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्था [८]अस्य अश्रुतिः स्यात्। अथ [4]अभिन्ने, तर्हि शब्दस्यापि [१०]तद्वत् कार्यतानुषङ्गादनित्यत्वप्रसक्तिः[5]। [११]यो हि यस्मादभिन्नस्वभावः [6]तत्करणे तस्यापि करणम् यथा अतिशयानतिशयव्यावृत्तिस्वरूपस्य, ताभ्यामभिन्नस्वभावश्च शब्द इति।

किञ्च, श्रोत्रप्रदेश [7]एव अस्य[१२] ध्वनिभिः संस्कारः [8]क्रियेत, सर्वत्रापि वा ? प्रथमपक्षे[१३] तावन्मात्रक एव शब्दः स्यात् न सर्वगतः। [१४]तस्यैव अन्यत्र[१५] तद्विपर्ययरूपतया[१६] अवस्थाने दृश्यादृश्यत्वप्रसङ्गान्निरंशताव्याघातः[१७]। दृश्येतररूपता चैकस्य ब्रह्मवादे समर्थ्यते, चेतनेतररूपतयापि एकस्य [9]तद्वदवस्थित्यविरोधात्। घटादेरपि चैवं सर्वगतत्वानुषङ्गः, सोऽपि हि [10]दृश्यप्रदेशे दृश्यः अन्यत्र चादृश्य इति वदतो न वक्त्रं वक्रीभवेत्। सर्वत्र चास्य[१८] संस्कारे सर्वत्र सर्वदा उपलब्धिः स्यात्, न वा क्वचित् कदाचित्[11] विशेषात्[१९]।

स्वरूपपरिपोषोऽप्यनुपपन्नः, नित्यस्य स्वभावाऽन्यथाकरणासंभवात्। करणे वा

---

(१) शब्दोपलब्धेः। (२) शब्दश्रोत्रव्यतिरिक्त–आ० टि०। (३) तुलना–"तत्र नातिशयोत्पत्तिः अनित्यताप्रसङ्गात् तस्याः पूर्वापररूपहान्युपजननलक्षणत्वात्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।२६५। "विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिर्विभाव्यते। नित्यस्यातिशयोत्पत्तिविरोधात्स्वात्मनाशवत्॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८। (४) "अतिशयो दृश्यस्वभाव एव अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव, ते चेत्ततोऽन्ये, तत्करणेऽपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुतिः। अथानन्ये, तदा शब्दस्यापि कार्यतया अनित्यत्वानुषङ्गः।"–प्रमेयक० पृ० ४१९। स्या० र० पृ० ६८५। (५) अदृश्यः सन् अतिशये जाते दृश्यो जातः–आ० टि०। (६) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्ती। (७) शब्दात् –आ० टि०। तुलना–"विशिष्टसंस्कृतिः सा हि न शब्दव्यतिरेकिणी। शब्दस्याज्ञेयताप्राप्तेः ततः शब्दोऽपि जायते॥"–तत्त्वस० का० २५७०। (८) अतिशयोत्पादने अनतिशयव्यावृत्तौ वा। (९) शब्दस्य–आ० टि०। (१०) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिवत्। (११) शब्दः कार्यः कार्यरूपाभ्यामतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिभ्यामभिन्नस्वभावत्वात्। (१२) शब्दस्य। (१३) "श्रोत्रप्रदेश एव चास्य संस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः न सर्वगतः स्यात्।"–प्रमेयक० पृ० ४१९। (१४) शब्दस्य। (१५) श्रोत्रदेशादन्यत्र (१६) अदृश्यरूपतया अशब्दरूपतया वा। (१७) शब्दस्य दृश्यादृश्यत्ववत्। (१८) शब्दस्य। (१९) तुलना–"सर्वेषामुपलम्भः स्याद् युगपद्व्यापिता यदि॥ संस्कृतस्योपलम्भे च कः संस्कर्ताऽविकारिणः।"–प्रमाणवा० ३।१५३-५४।

1–वृत्तिस्तु ब०, श्र०। 2–तौ च ततो भिन्नौ अभिन्नौ वा आ०। 3 भिन्नौ आ०। 4 अभिन्नौ आ०। 5–क्तः श्र०। 6 तत्कारणे श्र०। 7 एवश्च–श्र०। 8 क्रियते आ०। 9–तः स्यात दृ–श्र०। 10 दृष्टप्र–श्र०। 11–चित् स्वरूप–श्र०।

अतिशयपक्षभाविदोषानुषङ्गः। नापि व्यक्तिसमवाय[1]:; अनभ्युपगमात्, अ[2]न्यथा शब्दस्य सामा[3]न्यादि[4]रूपताप्रसङ्गः। अ[5]त एव न तद्[6]ग्रहणापेक्षग्रहणता। नापि व्यञ्जकसन्निधि-मात्रम्; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृभिः सर्वशब्दानां ग्रहणप्रसङ्गात्। आवरणविगमरूपे तु त[7]त्संस्कारे युगपन्निखिलशब्दानामुपलब्धिः स्यात्। प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादय-मदोषः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; तेषां तद्व्यङ्ग्यत्वस्यापास्तत्वात्।

मा भूत्तर्हि शब्दसंस्कारो[1]ऽभिव्यक्तिः, इन्द्रियसंस्कारस्तु भविष्यति। तदुक्तम्–

"अथापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठान[8]देशतः[9]। श[10]ब्दं न श्रोष्यति श्रोत्रं तेनासंस्कृतशष्कुलि ॥१॥
[11]अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया। अतोऽधिष्ठानभेदेन [12]संस्कारनियमः स्थितः ॥२॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९–७१] इति;

तदप्यविचारितरमणीयम्, [13]इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि सकृत् संस्कृतस्य श्रोत्रस्य युगपन्निखिल-शब्दप्रकाशकत्वप्रसङ्गात्। नहि अञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं स्वविषयं नीलधवला-दिकं कञ्चित् पश्यति कञ्चिन्नेति, [14]बलौतलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादिव-र्णान् [2]शृणोति कांश्चिन्नेति नियमो दृष्टः, येनात्रापि तथा कल्पना स्यात्। ततोऽयुक्तमेतत्–

(१) शब्दोऽपि व्यक्तिषु समवैति–आ० टि०। (२) यदि शब्द व्यक्तिषु समवेयात् तदा। (३) सामान्य हि व्यक्तिषु समवैति–आ० टि०। (४) आदिपदेन संयोगादयोऽनेकस्था पदार्था ग्राह्या। (५) सामान्यरूपादिप्रसङ्गादेव–आ० टि०। (६) व्यक्तिग्रहणापेक्षया स्वज्ञानजनकता। (७) शब्दसस्कारे। तुलना–'तद्रूपावरणानाञ्च व्यक्तिस्ते विगमो यदि। अभावे करणग्रामसामर्थ्यं किन्न तद्भवेत्॥"–प्रमाणवा० १।२६६। (८) "अधिष्ठानम्–कर्णशष्कुली। तत्सस्कारद्वारेण श्रोत्रस्य संस्कारो न केवलस्य। तेनासस्कृताधिष्ठानत्वाच्च विदूरस्थान्यचित्तसुप्तमूर्च्छिताना श्रोत्र न शृणोति। असस्कृता कर्णशष्कुली यस्य तत्तथोक्तम्। अधिष्ठानदेशत. इति सप्तम्यर्थे तसि। "यद्यप्यधिष्ठानसस्कारकारिणो नादा-स्तद्देशेन्द्रियसस्कारका वा, तथापि प्राप्ता एव सन्त सस्कारभाजि पदार्थे सस्कारं कुर्वन्ति नाप्राप्ता इत्यतो न सर्वपुरुषाधिष्ठानादिसस्कार"–तत्त्वसं० पं० पृ० ६०६। (९) सप्तमी–आ० टि०। सप्तम्यर्थे पञ्चमीविभक्तिरित्यर्थ। (१०) 'अतो न श्रोष्यति'–स्या० र० पृ० ६८५। (११) यस्यैव कर्णदेश ध्वनि प्राप्त तस्यैव श्रोत्रसस्कारः–आ० टि०। 'अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनिना श्रोत्रसस्क्रिया' –स्या० र० पृ० ६८६। (१२) 'सस्कारनियमस्थिति'–मी० श्लो०। प्रमेयक० पृ० ४२४। 'सस्कारनियम. स्थित'–तत्त्वसं० पृ० ६०६। स्या० र० पृ० ६८६। (१३) तुलना–"इन्द्रियस्य स्यात्संस्कार शृणुयान्निखिलञ्च तत्। सस्कारभेदभिन्नत्वादेकार्थनियमो यदि॥ अनेकशब्दसघाते श्रुतिः कलकले कथम्।"–प्रमाणवा० ३।२५५-५६। "तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयन सस्कारः शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५। "इन्द्रियसस्कारस्योन्मीलनालोकादे सकृदिन्द्रि-यसम्बन्धयोग्यसर्वार्थोपलब्ध्यनुकूलसस्कारजनकत्व दृष्टं तद्वद्वायुरपि सकृदेव सर्वशब्दोपलब्ध्यनुकूलं श्रोत्रे सस्कारमादध्यात् तथा च सर्वशब्दोपलब्धि स्यात्।"–तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४०५। "नन्वेवमपि अशेषशब्दोपलम्भप्रसङ्गः, सस्कृते हि श्रोत्रे सर्वेषा सान्निध्यात्।"–प्रश० व्यो० पृ० ६४८। (१४) "बलातैलादिना सस्कृत श्रोत्रं वा काश्चिदेव गकारादीन् शृणोति काश्चिन्नेति नियमो दृष्ट।"–प्रमेयक० पृ० ४२४। सन्मति० टी० पृ० ३६। स्या० र० पृ० ६८६। शास्त्रवा० टी० पृ० ३७७B.।

1–रो भक्तिः श्र०। 2 शृणोतीति नियमो आ०, ब०।

"यथा[१] घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते । चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्यात् श्रोत्र[२]संस्कृतेः ॥
न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण संस्कृतिः । उत्पत्तावपि तुल्यत्वात् शक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३] इति,

प्रदीपाद्यनुगृहीतचक्षुषा युगपद् घटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेण एकदा अनेकशब्दग्रहणप्रसङ्गात्। प्रयोग[३]ः–श्रोत्रम् एकेन्द्रियग्राह्याऽभिन्नदेशस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽप्यभिव्यक्तिर्घटते ।

अस्तु तर्हि उभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, तत्र उक्तदोषासंभवात् । तदुक्तम्–

"द्वय[४]संस्कारपक्षे तु वृ[५]था दोषद्वये वचः । येनान्य[६]तरवैकल्यात् सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६-८७ ।] इति;

तदप्ययुक्तम्; उक्त[७]दोषानुषङ्गादेव; तथाहि–यदा एकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णानपि प्रतिपद्येत, संस्कृतञ्च वर्णं सर्वत्र सर्वदा[८][1] स्थितत्वेन, अन्य[९]था तत्प्रतीतिरेव न स्यात् तदा[१०]त्मकत्वात्तस्य ।

ततो नित्यैकरूपत्वे शब्दस्य आवार्यावारकभावस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य वा[2]ऽनुपपत्तेः नावरणकृता प्रा[११]गुच्चारणादस्याऽनुपलब्धिः । अतः तात्वादिव्यापारान-

(१) "कीदृश पुनर्ध्वनीनामभिव्यञ्जकत्वम् ? तद्दर्शयति यथेति । तेजसश्चाक्षुषस्य आप्यायनानुग्रह कुर्वन् प्रदीपो यथा चाक्षुषाणा घटादीना व्यञ्जको भवति तथा ध्वनयोऽपि श्रोत्रसस्कार कुर्वन्त शब्दस्याभिव्यञ्जका भविष्यन्तीति ।"–**न्यायर०** । उद्धृताविमौ–**प्रमेयक० पृ० ४२४। तत्त्वस० पृ० ६०२**। (२) श्रोत्रसस्कृतेरनुग्रहाद् ध्वनि शब्दस्य व्यञ्जक –**आ० टि०** । (३) द्रष्टव्यम्–पृ० ७०८ **टि० १८** । (४) "श्रोत्रसस्कारवैकल्यान्न सर्वे पुरुषै श्रूयते, शब्दसस्कारवैकल्याच्च न सर्व शब्द, समुच्चितयोर्द्वयो कारणत्वात् । प्रत्येककारणत्वे हि दोषद्वयं स्यादिति ।"–**न्यायर०** । "सस्कारद्वयपक्षे तु वृथा दोषद्वय हि तत् । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वे शब्दो न गम्यते । अन्यतरस्य श्रोत्रसस्कारस्य अर्थसस्कारस्य वा वैकल्यात् न शब्दो गम्यते । तथाहि–सत्यपि शब्दसस्कारे बधिरस्य श्रोत्रसस्कारवैकल्यान्न शब्दग्रहणम्, अबधिरस्याप्यनभिव्यक्ते शब्दस्याग्रहणम् । क्वचित्पाठो मृषा दोषद्वये वच इति ।"–**तत्त्वस० पं० पृ० ६१२** । (५) 'मृषा दोषद्वये वच'–**मी० श्लो०** । **स्या० र० पृ० ६८७** । प्रकृतपाठ –**तत्त्वसं० पृ० ६११** । **प्रमेयक० पृ० ४२४**। (६) शब्दसस्कार श्रोत्रसस्कार –**आ० टि०** । (७)तुलना–"तथाहि सस्कृता श्रोत्रवर्णा यद्व्यञ्जकै पुरा । न नष्टास्ते च्युतिप्राप्ते सर्वै सर्वश्रुतिस्तत ।" –**तत्त्वस० का० २५७३**। "यदैकवर्णग्राहकत्वेन सस्कृत श्रोत्र सस्कृत वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान् प्रतिपद्येत ।"–**प्रमेयक० पृ०४२५। स्या० र० पृ० ६८७।** (८) तदाकाशदेशे सर्वेषामपि वर्णाना व्यापितया नित्यतया च विद्यमानत्वात् । (९) यदि सस्कृत वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन न जानाति तदा । (१०) नित्यव्यापिरूपत्वात् । (११) तुलना–"प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ प्रागुच्चारणान्नास्ति शब्द । कस्मात् ? अनुपलब्धे । सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्य । एतन्नोपपद्यते, कस्माद् ? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । अनेन आवृत शब्दो नोपलभ्यते असन्निकृष्टेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिकारण न गृह्यते इति सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति । तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणमपि त्वभावादेवेति । सोऽयमुच्चार्यमाण श्रूयते श्रूयमाणश्चाऽभूत्वा

1 **सर्वदा च स्थि–श्र०** । 2 **चानु–व०, श्र०** ।

न्तरमस्योपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् तत्कार्यत्वमेव[1] अभ्युपगन्तव्यम् । ननु-खननाद्यनन्तरं व्योम उपलभ्यते तदभावे च नोपलभ्यते, न[1]च त[2]त्तत्कार्यम्[3], अतोऽनैकान्तिकत्वमस्य[4] । उक्तञ्च–

"अनैकान्तिकता[5] तावद्धेतूनामिह कथ्यते । प्रयत्नानन्तरं[6] दृष्टिर्[7]नित्येऽपि न विरुध्यते ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९]

"आकाशमपि नित्यं सद् यदा भूमिजलावृतम् । व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः ॥
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं[8] तदा तत्रापि विद्यते[9] । तेनाऽनैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम्[10] ॥
अथ स्थगितम[11]प्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते । शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रा[12]गस्तीत्यवगम्यते ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३३] इति[13];

तदप्यसुन्दरम्; एकस्व[14]भा[2]वत्वस्य आकाशेऽप्यसिद्धत्वात् । तद्धि[15] तत्स्वभावं सत् स्वविषयज्ञानजननैकस्वरूपम्, तद्विपरीतं वा स्यात् ? यदि तज्जननैकस्वरूपम्; तदा तस्य न खननाद्यनन्तरमेव उपलब्धिः, किन्तु पूर्वमपि स्यात् । तद्विपरीतस्वरूपत्वे तु न कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात् । विशेषे[16] वा तदेकरूपताव्याघातः[17] । प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दे प्राक्सत्त्वसिद्धिश्च लूनपुनर्जातनखकेशादावपि सामाना । कथञ्चैवं ध्वनीनामपि प्रा[3]क्सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् ? य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि इति प्रतीतेः । तथा च व्यङ्ग्यवद्[18] व्यञ्जकस्यापि सर्वत्र सद्भावसिद्धेः[19] ताल्वादिव्यापारवैयर्थ्यम्, सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च स्यात् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्–'अन्यदापि यत् शब्दस्योच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चा-

---

भवतीत्यनुमीयते । ऊर्ध्वञ्चोच्चारणान्न श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान्न श्रूयते इति । कथम् ? आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम् । तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मक शब्द इति ।"–न्यायभा० २।२।१८ ।

(१) ताल्वादिव्यापाररूपोच्चारणकार्यत्वम् । शब्द. अनित्यः ताल्वादिव्यापाररूप्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति । (२) व्योम । (३) खननकार्यम् । (४) प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यस्य हेतो । (५) "तावच्छब्देनासिद्धतापि वक्ष्यत इति प्रयत्नानन्तरदर्शनादित्यस्य तावदनैकान्तिकत्व दर्शयति–प्रयत्नेति । दर्शन हि तत्र सत्ता गमयति न कालान्तरे निषेधति, तेन विपक्षेऽपि कालान्तरे सत्त्वसभवात्तत्र दर्शनमनैकान्तिकमिति ।"–न्यायर० । (६) 'प्रयत्नानन्तरा दृष्टिः'–मी० श्लो० । (७) उपलब्धि –आ० टि० । (८) व्योमज्ञानम्–आ० टि० । (९) 'दृश्यते'–मी० श्लो० । (१०) "दर्शनम्–प्रयत्नानन्तरज्ञानम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ६४० । 'दर्शनात्'–मी० श्लो०, तत्त्वसं० । (११) भूम्याद्यावृतमपि आकाशम् । (१२) उच्चारणात् प्राक् । (१३) उद्धृता इमे श्लोका –प्रमेयक० पृ० ४२२ । स्या० र० पृ० ६८९ । द्वितीयतृतीयौ–तत्त्वसं० पृ० ६४० । (१४) तुलना–"एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा"–प्रमेयक० पृ० ४२२। स्या० र० पृ० ६८९ । (१५) आकाशं नित्यैकस्वभावम् । (१६) खननात् प्रागनुपलब्धिसमये स्वविषयज्ञानाऽजननस्वभावत्वे खननान्तरञ्च स्वविषयज्ञानजननात्मकत्वे । (१७) आकाशस्य नित्यैकरूपता न स्यादिति भाव । (१८) शब्दवत् । (१९) ध्वन्युत्पत्तावेव ताल्वादीनामुपयोग ते च सर्वदा सन्तीति ।

---

1 न च तत्का–व० । 2–भावस्य आका–श्र० । 3 प्राच्यत्वसि–व० ।

रणत्वात्' इत्यादि[१], ध्वनावप्यस्य समानत्वात्। तथाहि–अन्यदापि यद् ध्वनेरुच्चारणं तत्तस्या[२]भिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात् इदानीं त[1]दुच्चारणवत्।

एतेन "तावत्कालं स्थिरश्चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति[३]।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६] इत्येतदपि[४] प्रत्युक्तम्, ध्वनेरपि प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वोत्तरकालद्वयावस्थायिनः प्रसिद्धस्य पश्चात् केनचिन्नाशानुपपत्तेः।

यदप्यभिहितम्[५]–'विवादाध्यासितः कालो गादिसम्बद्धः कालत्वात्' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्, गादेः[६] उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य कालान्तरेऽनुपलम्भतोऽभावसिद्धेः, तत्र[७] तत्सद्भावावेदकानुमानस्य बाधितपक्षतया कालात्ययापदिष्टहेतुतया च अगमकत्वात्। विद्युदादेरपि चैवं नित्यत्व स्यात्, तथाहि–विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिसम्बद्ध. कालत्वात् विद्युदादिसम्बद्धकालवत्। प्रतीतिविरोधोऽन्यत्रा[८]प्यविशिष्टः। अत एव 'नित्य. शब्दः श्रावणत्वात्' इत्याद्य[९]प्ययुक्तम्; उदात्तादि[१०]भिर्ध्वनिधर्मैः अनैकान्तिकत्वाच्च[११], तेहि श्रावणत्वेऽपि अनित्या भवद्धि. प्रतिज्ञाताः। [१२]तेषामश्रावणत्वे श्रोत्रेण शब्दगतधर्मतया उपलम्भो न स्यात्, यदश्रावणस्वरूपं न तस्य शब्दधर्मतया[2] श्रोत्रेणोपलम्भः यथा नीलत्वादेः, अश्रावणस्वरूपाश्च[१३] उदात्तादयो ध्वनिधर्मा इति। तथा वीणादिशब्दैश्च अनैकान्तिकत्वम्, तेषामप्यनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वात्।

यच्चान्यदुक्तम्[१४]–'देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः' इत्यादि; तदपि न साधीयः; गोशब्द[१५]लिपिबुद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वात्, सा हि '[3]गौः' इत्युत्पद्यते न च सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्ध्यै[१६]कविषया इति। नचैवं विषयभेदः क्वापि प्रसिद्ध्यति, स[१७]कलबुद्धीनामभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात्। तथाहि–देशकालभि[4]न्नवस्तुबुद्धयः एकविषया नै[5]वाऽनेकविषया

(१) पृ० ६९९ प० ५। (२) ध्वनेरभिव्यञ्जकम्। (३) उद्धृतोऽयम्–न्यायवा० ता० पृ० २५४। (४) तुलना–तत्त्वस० पृ० ९५५। तत्त्वचि० पृ० ३७९। (५) पृ० ६९९ पं० ९। (६). तुलना–"गादेरुच्चारणादनन्तर विनाशस्य प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वेन प्रतिपादनात्"–स्या० र० पृ० ६८९। (७) कालान्तरे उच्चारणानन्तरम्। (८) शब्देऽपि। (९) पृ० ६९९ पं० ११। (१०) तुलना–"उदात्तादिभिर्धर्मैरनैकान्तिकत्वात्। ते हि श्रवणग्राह्यत्वेऽपि न नित्या भवद्भिरङ्गीकृता। तेषामश्रावणत्वे तु नीलादीनामिव श्रोत्रेणोपलम्भो न भवेत्। वीणादिशब्दैश्चानैकान्तिकत्वम्, तेषा श्रावणत्वेऽप्यनित्यत्वात्।"–स्या० र० पृ० ६९०। (११) चशब्देन प्रतीतिविरोध समुच्चीयते। (१२) उदात्तादीनाम्। (१३) भवन्मते–आ० टि०। (१४) पृ० ६९९ पं० १२। (१५) तुलना–"गोशब्दलिपिबुद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वात्। सा हि गौरित्युल्लेखेनोत्पद्यते न चैकगोशब्दविषया देशकालादिभिन्नत्वाद् गोशब्दलिपीनाम्।"–स्या० र० पृ० ६९०। (१६) अन्या हि लिपिबुद्धि अन्या हि गोशब्दबुद्धि–आ० टि०। (१७) तुलना–"अन्यथा सर्वबुद्धीनामेकालम्बनता भवेत्। क्रमभावविरोधश्च शक्तकारणसन्निधे॥"–तत्त्वस० का० २४६६। स्या० र० पृ० ६९०।

1 तदनुच्चा–व०। 2–तयो श्रावणोप–व०, तयोपलम्भो आ०। 3 गोरित्यु–व०। 4–भिन्ना वस्तु–श्र०। 5 नचानेक–श्र०।

वस्तुबुद्धित्वात् सम्प्रत्युत्पन्नघटबुद्धिवत् । ततश्च अखिलवस्तुबुद्धीनाम् एकघटलक्षणवस्तुविषयत्वे घटबुद्धित्वमेव स्यात् न गोशब्दबुद्धित्वम् । अतः कथं देशादिभिन्नगोशब्दव्यक्तिबुद्धीनां धर्मित्वम्, कथं वा गोशब्दबुद्धित्वं हेतुः, सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवदिति दृष्टान्तो वा सिद्ध्येत् यतोऽनुमानं स्यात् ? अथ गवाश्वादिवस्तुभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामेकघटविषयत्वे साध्ये 'वस्तुबुद्धित्वात्' इत्यस्य कालात्ययापदिष्टत्वम् अग्नेरनुष्णत्वे द्रव्यत्ववदित्युच्यते, [1]यद्येवम्, उदात्तादिधर्मभेदेन गोशब्दव्यक्तिभेदस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामपि एकविषयत्वे साध्ये 'गोरित्युत्पद्यमानत्वात्' इत्यस्यापि कालात्ययापदिष्टत्वं स्यात् ।

यदप्यभिहितम्[1]–'ह्यस्तनो गोशब्दोऽद्याप्यनुवर्त्तते' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्; [2]ह्यस्तनाऽद्यतनगोशब्दयोर्भेदस्य प्रत्यक्ष[2]प्रसिद्धत्वेन तदभेदप्रसाधनस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् । कथमन्यथा ह्यस्तनाऽद्यतनविद्युत्प्रकाशयोरपि एकत्वन्न स्यात् । शक्यं हि वक्तुं ह्यस्तनो विद्युत्प्रकाशोऽद्याप्यनुवर्त्तते विद्युत्प्रकाशत्वात् अद्यतनविद्युत्प्रकाशवदिति । अथ तीव्रा [3]विद्युत् तीव्रतरा तीव्रतमेति प्रत्यक्षतः तीव्रादिधर्मात्मकतया विद्युत्प्रकाशस्य विभिन्नस्वभावस्य प्रतीतेः न तदैक्यप्रसाधकमनुमानं गमकम्; तदन्यत्रापि समानम्–गोशब्दस्यापि तीव्रादिधर्मोपेतस्य श्रोत्र[4]प्र[3]त्यक्षे प्रतिभासनात् । [4]तद्धर्मस्य [5]अत्रौपाधिकत्वे विद्युत्यपि अस्य[6] तदस्तु विशेषाभावात् । अथ शुद्धा[7]याः विद्युतः कदाचिदप्यसंवेदनात् न तत्रा[8]स्यौपाधिकत्वम्; तदेतत् शब्देऽप्यविशिष्टम्, नहि तद्धर्मशून्य[9]: [5][10]सोपि स्वप्नेऽपि प्रतिभासते । एतेन 'अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽप्यासीत्' इत्यादि[11] प्रतिव्यूढम्; न्यायस्य समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्[12]–'शब्दो वाचको दीर्घकालावस्थायी' इत्यादि; तदपि चेष्टया[13] अनैकान्तिकम्, तस्याः सम्बन्धबलेन अर्थमतिहेतुत्वेऽपि दीर्घकालावस्थायित्वाभावात् ।

एतेन 'यस्त्वस्थिरः स सम्बन्धबलेन नार्थं [6]बोधयति' इत्यादि[14] प्रत्याख्यातम्,

---

(१) पृ० ७०० पं० ६ । (२) तुलना–"ह्यस्तनाद्यतनाः सर्वे गोशब्दप्रत्यया इमे । नैकार्था क्रमसम्भूते रूपगन्धादिबुद्धिवत् ॥"–तत्त्वसं० का० २४६५ । स्या० र० पृ० ६९० । (३) तुलना–"स्वाभाविकत्वावधारणन्यायस्य यत्र तत्र प्रसिद्धस्य अत्रापि तुल्यत्वात् । न हि पयसि शैत्यद्रवत्वे तेजसि वा भास्वरत्वोष्णत्वे स्वाभाविके इत्यत्रान्यत्प्रमाण प्रत्यक्षात् ।"–स्या० र० पृ० ६९० । (४) उदात्तादिधर्मस्य । (५) शब्दे । (६) तीव्रतीव्रतरादिधर्मस्य । (७) तीव्रतीव्रतरादिसर्वधर्मशून्याया । (८) विद्युति । (९) उदात्तानुदात्तादिधर्मरहित शुद्ध । (१०) शब्दोऽपि । (११) पृ० ७०० पं० ७ । (१२) पृ० ७०० पं० ८ । (१३) आह्वानादौ अङ्गुल्यादिकृतया–आ० टि० । तुलना–"चेष्टयाऽनैकान्तिकत्वात्"–स्या० र० पृ० ६९२ । (१४) पृ० ७०० पं० ९ ।

---

1 यदेवम् श्र० । 2–क्षसि–श्र०, ब० । 3 विद्युत्तीव्रतमेति श्र० । 4 श्रोत्रप्रत्यक्षप्र–श्र०, श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्र–ब० । 5–न्यः स्वापे स्वप्नेऽपि श्र० । 6 चोदयति ब० ।

चेष्टायाः सम्बन्धबलेन अर्थबोधकत्वेऽपि तादात्विकनिमित्तत्वसंभवात्। ततोऽयुक्तमेतत्–

"कञ्चित्कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।
विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥" [ ] इति,

यत् कञ्चित्कालावस्थायित्वं किम् उपलम्भ[1]कालावस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्त्तमानकालावस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे चेष्टाया विद्युदादेश्च सर्वकालमपि स्थायित्वप्रसङ्गः, तथाविधकियत्कालस्थिरत्वस्य तत्राप्यविशेषात् । अतीतवर्त्तमानकालावस्थायित्वञ्चास्य[2] न कुतश्चित् सिद्ध्यति इत्युक्तं प्रागेव । हेतुश्चात्रासिद्धः, शब्दस्य[3] कादाचित्कतया विनाशहेतुशून्यत्वानुपपत्तेः। यत् कादाचित्कं न तत् विनाशहेतुशून्यम् यथा विद्युदादि, कादाचित्कश्च शब्द इति ।

यदपि–'विवादाध्यासितः कालो गादिशब्दशून्यो न भवति' इत्याद्युक्तम्[4]; तदपि[5] विद्युदादौ समानत्वादयुक्तम् । तथाहि–विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिशून्यो न भवति कालत्वात् तत्सत्त्वोपेतकालवत् । प्रत्यक्षबाधनम् उभयत्र[6] तुल्यम् ।

यदप्युक्तम्[7]–'नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, धूमादिवदनित्यस्याप्यस्य[8] सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । न खलु 'य एव सङ्केतकाले दृष्टः तेनैव अर्थप्रतीतिः कर्त्तव्या' इति नियमोऽस्ति, महानसदृष्टधूमसदृशादपि पर्वतधूमाद् वह्निप्रतिपत्तिप्रतीतेः । न च पर्वतमहानसप्रदेशवर्तिन्योः धूमव्यक्त्योरैक्यं[9] संभवति, प्रतीतिविरोधात्, सर्वस्य सर्वगतत्वानुषङ्गाच्च । अथ धूमसामान्यस्य अत्र गमकत्वम्, शब्दसामान्यस्य अन्यत्र वाचकत्वं किन्न स्यात् ? ननु शब्दसामान्यस्य वाचकत्वे शब्दस्य किमायातम् ? तर्हि धूमसामान्यस्याप्यनुमापकत्वे धूमस्य किमायातम् ? अथ धूमात्तस्यां[10]ऽभेदात् तदनुमापकत्वे धूमस्याप्यनुमापकत्वम्, तर्हि शब्दात् तत्सामान्यस्या[11]प्यभेदात् तद्वाचकत्वे तस्यापि वाचकत्वमस्तु अविशेषात् । अथ शब्दे[3] सामान्यमेव नास्ति तत्कथमस्य वाचकत्वमुच्यते, धूमेऽपि[4] तर्हि तन्नास्ति तत्कस्य

(१) उच्चारणानन्तरं यदुपलभ्यते स उपलम्भकाल –आ० टि० । (२) शब्दस्य। (३) तुलना–"कादाचित्कत्वाच्च शब्दे तदसिद्धम्"–स्या० र० पृ० ६९२ । (४) पृ० ७०१ प० ३ । (५) तुलना–"तदपि विद्युदादौ तुल्यत्वादयुक्तम्"–स्या० र० पृ० ६९२ । (६) शब्दे विद्युदादौ च । (७) पृ० ७०१ प० ४ । (८) तुलना–"अनित्यत्वेऽपि सादृश्योपादाने सत्यर्थप्रतिपत्तेर्भावात् । तत्र यत्र गकारौकारविसर्जनीयानामित्थम्भूतानुपूर्वीमुपलभसे तत्र तत्र गोत्वविशिष्टोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः प्रतिपादयितव्यश्चेति सङ्केतग्रहे सति तथाविधं शब्दमुपलभमानः तमर्थं प्रतिपद्यते प्रतिपादयति चेति ।"–प्रश० व्यो० पृ० ६४९ । "धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्य अवगतसम्बन्धस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसंभवात् ।"–प्रमेयक० पृ० ४०९ । सन्मति० टी० पृ० ३३ । स्या० र० पृ० ६९२ । प्रमेयर० ३।१०० । (९) यदि महानसोपलब्धैव धूमव्यक्ति पर्वतेऽपि स्यात्तदा । (१०) धूमसामान्यस्य । (११) शब्दसामान्यस्य शब्दत्वस्य ।

1 पूर्वकाल–श्र० । 2 इत्युक्त ब०, श्र० । 3 शब्दसामा–आ० । 4 धूमोऽपि श्र० ।

गमकत्वमुच्येत ? अथ[1] तद्भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् 'धूमो धूमः' इत्यसन्दिग्धाऽबाध्यमानाऽनुगतप्रतीतिदर्शनात् अस्ति तत्र तत्[2], तदेतदन्यत्रापि समानम्। ननु शब्दव्यक्तीनां प्रत्यक्षतो भेद[1]प्रसिद्धेः तत्र इष्टमेव शब्दत्वसामान्यम्, गादीनां तु एकैकव्यक्तिक[2]त्वेन भेदाभावान्न तत्र गत्वादिसामान्यं संभवतीति तत्र[3] तस्य वाचकत्वाभावः, तदप्यसाम्प्रतम्, तेषाम्[4]अपि उदात्तादिभेदतो नानाव्यक्तिकत्वसंभवाद् गत्वादिसामान्यसद्भावोपपत्तेः। 'ध्वनिधर्मा एव उदात्तादयः' इति च मनोरथमात्रम्, तेषां[5] तद्धर्मत्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात्। ततोऽनित्यपक्षेऽपि इत्थं शब्दादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तेः नार्थापत्तितोऽपि तन्नित्यत्वसिद्धिः। अतोऽयुक्तमुक्तम्–"*अर्थापत्तिरियं चोक्ता*" [मी० श्लो०] इत्यादि। प्रसाधितञ्च नित्यसम्बन्धपरीक्षावसरे अनित्यत्व एव शब्दस्य वाचकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चान्यदुक्तम्[6]–'सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः' इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; तस्य आबालमबाधप्रतीतिगोचरचारितया अपह्नोतुमशक्यत्वात्। एकस्य[7] हि स्वसामग्रीतो यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं यमलकवत्। तच्च व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नञ्च सामान्यपरीक्षाप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम्[8]इति कृतं पुनः प्रसङ्गेन। ततो यद् यद्रूपतया कुतश्चिदपि प्रमाणान्न प्रतीयते न तत्तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा[3] जगद् अद्वैतरूपतया, सर्वथा नित्य[4]स्वभाव[9]तया न प्रतीयते च कुतश्चित्[5]प्रमाणात् शब्द इति। तदनित्यस्वभावतायां तु प्रमाणसद्भावात् तद्रूपतयाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः।

तच्च प्रमाणम्[10]–अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं[6] दृष्टं यथा घटः, कृतकश्चायमिति। न चेदमसिद्धम्; तथाहि–कृतकः शब्दः, कारणान्वयव्यतिरेकानु-

(१) महानसीयपर्वतीयादिभेदेन धूमव्यक्तीनामनेकत्वादस्ति तत्रानुगतं धूमत्वाख्य सामान्यम्, गादिशब्दस्तु एक अत कथ तत्र शब्दत्वम् व्यक्तेरभेदस्य जातिबाधकत्वादित्याशयेन शङ्कते अथेति। (२) धूमत्वाख्यं सामान्यम्। (३) गत्वादौ। (४) गादीव्यक्तीनामपि। (५) उदात्तादीनाम्। (६) पृ० ७०२ पं ९। (७) तुलना–"स्वहेतोरेकस्य हि यादृश परिणाम तादृश एवापरस्य सादृश्य न तु स एव। स च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च।"–प्रमेयक० पृ० ४११। (८) पृ० २८९। (९) तुलना–"नित्यत्वेऽपि शब्दाना सर्वेषा स्यात् सकृच्छ्रुति। समाक्षग्रहयोग्यत्वात् व्यापिना समवस्थिते॥ तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वत तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न सभवति। सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितैकशब्दश्रुतिर्न स्यात्।"–सिद्धिवि० पृ० ५५४। "स्वतन्त्रत्वे तु शब्दाना प्रयासोऽनर्थको भवेत्। व्यक्तयावरणविच्छेदसस्कारादिविरोधत॥ वर्णादिस्वरधाराया सकुलं प्रतिपत्तित। क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्त सकृद्ग्रहणविभ्रम। ताल्वादिसन्निधानेन शब्दोऽय यदि जायते। को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते॥"–न्यायवि०का० ४२२-२४। (१०) तुलना–"अनित्य' शब्दः इत्युत्तरम्। कथम् ? 'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च॥ आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति। कारणवदनित्य दृष्टम्। सयोगविभागजश्च शब्द कारणवत्त्वादनित्य इति। का पुनरियमर्थदेशना कारणवत्त्वादिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्य शब्द इति, भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति। साशयिकमेतत्–किमुत्पत्तिकारण सयोगविभागौ शब्दस्य आहोस्विदभिव्य-

1 भेदसिद्धेः श्र०। 2–कत्वे भेदा–आ०। 3 यथा च जगद् श्र०। 4 नित्यत्वस्व–श्र०। 5 कुतश्चेतिप्रमा–श्र०। 6–त्यं यथा व०।

विधायित्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा घटः, तथा च शब्दः, तस्मात्तथेति। नचेदमप्यसिद्धम्, ताल्वादिकारणव्यापारे सत्येव अस्यात्मलाभोपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् मृद्दण्डादिकारणव्यापारभावाभावयोः घटस्य आत्मलाभाऽलाभोपलम्भवत्। न च तद्व्यापारे तदभिव्यक्तेरेव आत्मलाभो न शब्दस्य इत्यभिधातव्यम्, तस्याः प्रागेव प्रपञ्चतोऽपास्तत्वादिति ॥छ॥

तदेव वर्णानां पौरुषेयत्वप्रसिद्धौ पदवाक्यानामनायासतः तत्प्रसिद्ध्यति तदात्मकत्वात्तेषाम्। नन्वस्तु लौकिकानां तेषां तत्सिद्धिः न वैदिकानामिति चेत्, न; तदत्यन्तवैलक्षण्याप्रतीतेः। "य एव हि लौकिका शब्दाः त एव वैदिकाः" [शाबरभा० १।३।३०] इत्यभ्युपगमव्याघातप्रसङ्गाच्च। तदपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च; न च तदभावोऽसिद्धः, यतः तत्प्रसाधक प्रमाण प्रत्यक्षम्, अन्यद्वा भवेत्? न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन तत्पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्वग्राहकत्वाऽसंभवात्।

क्तिकारणमित्यत आह–ऐन्द्रियकत्वात् इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः। किमय व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत्, अथ सयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति? सयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम्। दारुव्रश्चने दारुपरशुसयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते, न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति तस्मान्न व्यञ्जक सयोग इतश्च शब्द उत्पद्यते नाभिव्यज्यते कृतकवदुपचारात्। तीव्र मन्दमिति कृतकमुपचर्यते तीव्र सुख मन्द सुख तीव्र दु ख मन्द दु खमिति, उपचर्यते च तीव्र शब्दो मन्द शब्द इति।"–न्यायसू०, भा० २।२।१३। "अनित्य शब्द तीव्रमन्दविषयत्वात् दु खवदिति कृतकवदुपचारादित्यनेन सूत्रेण सर्वानित्यत्वसाधनवर्गसग्रह कृतकत्वग्रहणस्य उदाहरणार्थत्वात्। यथा सामान्यविशेषवतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, उपलभ्यस्य अनुपलब्धिकारणाभावे सत्यनुपलब्धे, गुणस्य सतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् इत्येवमादि।"–न्यायवा० पृ० २९०। "तदेवन्तीव्रादिभेदभिन्नत्वात्सुखादिवदनित्यत्व शब्दानाम्। व्यञ्जकानुपलब्धौ चाभूत्वा भवनस्योपलब्धे कार्यत्वादनित्यत्व घटादिवत्। तथा परमात्मगुणान्यत्वे सति व्यापकविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ६४९। "अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रवणमध्यस्वभाव प्राक् पश्चादपि पुद्गलाना नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणाम।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०८। "परिणामी शब्द वस्तुत्वान्यथानुपपत्ते।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६। "अनित्य शब्द तीव्रमन्दतादिधर्मोपेतत्वात् सुखदु खादिवत्"–रत्नाकराव० ४।९। "तस्माद्वर्णो न नित्योऽनित्यो वा सत्त्वे सत्युत्पत्तिमत्त्वात्, अस्मदादिवहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति जातिमत्त्वात्, अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वाद्वा, आत्मैकत्वप्रत्यक्षत्वपक्षे प्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, व्यापकसमवेतप्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, अनात्मप्रत्यक्षगुणत्वात्, अव्याप्यवृत्तित्वात्, वहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुगुणत्वात्, भूतप्रत्यक्षगुणत्वात्, उत्कर्षापकर्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वाद्वेत्यादि।"–तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६०।

(१) शब्दस्य। (२) ताल्वादिव्यापारे। (३) वर्णात्मकत्वात्पदवाक्यानाम्। तुलना–"यदा च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपाणा पदाना कुतस्तराञ्च तत्समूहरूपस्य वाक्यस्य कुतस्तमाञ्च तत्समूहस्य वेदस्येति"–तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६४। (४) पदवाक्यानाम्। (५) पौरुषेयत्वसिद्धि। (६) तयो लौकिकवैदिकपदवाक्ययो। (७) उद्धृतमिदम्–सन्मति० टी० पृ० ३९। तौतातित० पृ० १३४। भाट्टचि० पृ० ४१।

---

1 तया शब्द. श्र०।

किञ्च, अनादिसत्त्वस्वरूपमपौरुषेयत्वम्, तत्कथम् अक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम्?[1] अक्षाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अनादिकालेनाऽसम्बन्धात् तत्कालसम्बद्ध[2]सत्त्वेनाप्यसम्बन्धतः तज्ज्ञाना[3]ऽहेतुत्वात्।

वेदस्य अपौरुषेयत्वमुररीकुर्वता मीमांसकाना पूर्वपक्षः –

ननु मा भूत् प्रत्यक्षतस्तदपौरुषेयत्वसिद्धिः, अनुमानात्तु सा भविष्यति। तच्चानुमानम्–अपौरुषेयो[4] वेदः कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वाद् व्योमवत्। न चायमसिद्धः; वेदकर्त्तुः[5] कदाचित् केनचित् स्मरणाभावात्। सतश्चास्य तदर्थानुष्ठानसमये[6] अनुष्ठातृणामनिश्चितप्रामाण्यानां तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरणं स्यात्। ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते ते अवश्यं

(१) तुलना–"अनादिसत्त्वरूपञ्च अपौरुषेयत्व कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् ।"–प्रमेयक० पृ० ३९१। (२) अनादिकाल। (३) अनादिसत्त्वरूपाऽपौरुषेयत्वज्ञानाकारणत्वात्। (४) "अपौरुषेयत्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति। कथ पुनरिदमवगम्यत अपौरुषेय एव सम्बन्ध इति ? पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्। कथ सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम्। ननु चिरवृत्तत्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम्। न हि चिरवृत्त. सन्न स्मर्येत। न च हिमवदादिषु कूपारामादिवदस्मरण भवितुमर्हति, पुरुषवियोगो हि तेषु भवति देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा। न च शब्दार्थवियोगः पुरुषाणामस्ति। स्यादेतत्–सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजन कर्तृस्मरणमनाद्रियमाणा विस्मरेयुरिति, तन्न; यदि हि पुरुष कृत्वा सम्बन्ध व्यवहारयेत् व्यवहारकाले अवश्य स्मर्तव्यो भवति। सप्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहर्त्रोरर्थ सिद्धयति न विप्रतिपत्तौ। न हि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्व्यवहरत आदैच प्रतीयेरन् पाणिनिकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तथा मकारेण अपिङ्गलस्य न सर्वगुरुस्त्रिक प्रतीयेत पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तेन कर्तृव्यवहर्त्तारौ सम्प्रतिपद्येते। तेन वेदे व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीय. सम्बन्धस्य कर्त्ता स्यात् व्यवहारस्य च। तस्मात् कारणादवगच्छामो न कृत्वा सम्बन्ध व्यवहारार्थं केनचिद्वेदा प्रणीता इति। ....तस्मादपौरुषेय शब्दस्य अर्थेन सम्बन्ध।" –शाबरभा० १।१।५। पृ० ५३। बृहती० पृ० १७७। "यदा चाप्तप्रणीतत्वाच्छब्दोऽर्थ प्रतिपादयेत्। न स्वशक्त्या तदाप्तत्व मितौ न स्मर्यते कथम् ॥ यदा हि कश्चित् पदपदार्थसम्बन्ध कृत्वा धर्माधर्मप्रतिपादनाय वेदवाक्यानि कृतवान् तदाऽवश्यमसौ सम्बन्धस्य कर्ता, स एव च तै पदैः वेदवाक्यरचनात्मक व्यवहारं करोतीति समयव्यवहारयोरेककर्तृत्व प्रतिपत्तृभि स्मर्तव्यम्, तथा च वाक्यादर्थ प्रतिपद्यमानानामवश्य वाक्यकर्तुराप्तत्व प्रतिपत्तृभि स्मतर्व्यम्, तदधीनत्वादर्थनिश्चयस्य, न वेदादर्थ प्रतिपद्यमाना समयकर्तार तेन सह वेदकर्तुरेकत्व तस्य चाप्तत्व स्मरन्तो दृश्यन्त इति। "दृष्टे भवतु मा वाभूत् कर्तृसप्रतिपन्नता। वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरणादृते ॥ एवं गामानयेत्येवमादिषु मा नाम समयकर्तु व्यवहारकर्तुश्च संप्रतिपत्तिर्भूत्, वेदेऽपि प्रतिपत्तिमात्र विनाऽपि संप्रतिपत्त्या सिद्धयतु नाम। व्यवहारस्तु योऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानात्मक सोऽदृष्टार्थो वाक्यैकप्रमाणको नाऽसति वाक्यकाराप्तस्मरणे सिद्धयेत्, तदवश्यस्मर्तव्यस्य वेदाना सम्बन्धानाञ्च कर्तुरस्मरणात् योग्यानुपलम्भनादभावेऽवधारिते सिद्ध वेदाना सम्बन्धानाञ्च नित्यत्वमित्याह–दृष्ट इति।"–मी० श्लो० न्यायर०, सम्बन्धा० श्लो० १२३, १३०। "कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानाम् ? पुरुषस्य कर्तुरस्मणात्।"–प्रक० पं० पृ० १४०। "कर्तुरस्मरणाच्चापौरुषेयत्वम्"–भाट्टदी० पृ० ३३। नयवि० पृ० २७९। "स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणाद् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तुरनुमानासभवात् समाख्यायाश्च प्रवचननिमित्तत्वादपौरुषेया वेदा इति।"–शास्त्रदी० पृ० ६९,६१६। (५) वेदकर्तु। (६) अग्निष्टोमादियज्ञानुष्ठानकाले।

1 तत्र ज्ञाना–आ०, व०। 2 कदाचित्कत्वेन चित् श्र०।

तच्छास्त्रकर्त्तारमनुस्मरन्ति यथा अष्टका[1]द्यर्थानुष्ठानार्थिन. तत्प्रणेतारं मनुम्, वेदविहितार्थानुष्ठाने वहुवित्तव्ययायाससाध्याऽग्निष्टोमादिकर्मलक्षणे प्रवर्त्तन्ते च प्रेक्षापूर्वकारिणः, अतस्तेषां महती तत्कर्त्तृस्मरणापेक्षा। तेहि अदृष्टफलेषु कर्मसु एवं निःसशयाः प्रवर्त्तेरन् यदि तेषां तद्विषयः सत्यतानिश्चयः स्यात्। न चासौ तदुपदेष्टुः स्मरणाभावे घटते पित्राद्युपदेशवत्। यथैव हि पित्रादिकमुपदेष्टार स्मृत्वा स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात् 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्ट तेनाऽनुष्ठीयते' इति, एवं वैदिकेष्वपि कर्मसु अनुष्ठीयमानेषु कर्त्तुः स्मरणं स्यात्। न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातॄणां त्रैवर्णिकानां तत्स्मरणमस्ति, अतोऽसौ तत्र नास्तीति निश्चीयते।

छिन्नमूलत्वाच्च तत्र कर्त्तृस्मरणाभावः। स्मरणस्य हि अनुभवो मूलम्, न चा[2]सौ वेदे कर्त्तृविषयत्वेन विद्यते तत्कथं तत्स्मरणसंभावनाशङ्काऽपि ? न च रचनावत्त्वेन अत्र भारतादिवत् कर्त्तृसद्भावप्रसिद्धेर्नास्य छिन्नमूलत्वमित्यभिधातव्यम्; वेदरच[3]नाया. कर्त्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्। न च रचनामात्रस्यात्रोपलम्भात्[4] कर्त्रनुमानं युक्तम्, जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानानुषङ्गतोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात्। अतो यादृशी रचना कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिपन्ना तादृश्येव परिदृश्यमाना कर्त्तारमनुमापयति इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तत्कथ वेदे त[5]तः कर्त्रनुमानशङ्काऽपि संभाव्यते ? अतो वैदिकी रचना अपौरुषेयी दृष्टकर्त्तृकरचनाविलक्षणत्वात् आकाशवदिति। तथा–

"वेदाध्ययन सर्व गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययनं यथा॥" [मी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६]

---

(१) कर्त्तार। आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिसृषु क्रियमाण पितृश्राद्धविशेष। तथा च मनुवचनम्–"पितृश्चैवाष्टकास्वर्चेत्"–मनुस्मृति० ४।१५०। (२) अनुभव। (३) "विप्लवते खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात्प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति। ननु सामान्यतो दृष्ट पौरुष वचन वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते, न, अन्यत्वात्। न ह्यन्यस्य वितथभावे अन्यस्य वैतथ्य भवितुमर्हति अन्यत्वादेव। न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्व भवितुमर्हति।" –शावरभा० १।१।२। "वाक्यत्वात् पौरुषेयत्व दृश्यादर्शनवाधितम्। प्रतिहेतुविरुद्धश्च हेतु. तस्मादकृत्रिमा॥"–शास्त्रदी० पृ० ६१५। "प्रकृष्ट हि वचन कस्यचिदेव कुत्रचिदेव तावत्सघातमकत्व न पौरुषेयतामनुमापयितुमलम् वेदार्थविषयवाक्यरचनासामर्थ्यानुपपत्ते य एव हि पदसघाता. पौरुषेयै विरचयितु शक्यन्ते तत्रैव पौरुषेयत्व दृष्टमित्यशक्यविरचनेषु पौरुषेयत्वानुमान न क्रमते। न च पौरुषेयत्व विना पदसघातात्मकतैव नोपपद्यते, उच्चारणवशेन हि पदानि सहततामापद्यन्ते।"–प्रक० प० पृ० ९८–९९। तन्त्ररह० पृ० ४३। (४) रचनामात्रात्। (५) "उक्त तु शब्दपूर्वत्वम्। उक्तमस्माभि शब्दपूर्वत्वमध्येतॄणाम्।"–जैमिनिसू०, शावरभा० १।१।३०। "वेदस्य कर्तुरस्मरणम्, वेदार्थस्यातीन्द्रियत्वमित्येवमादिहेतुभिरध्येतॄणामनादिप्रवृत्ताना शब्दपूर्वं उच्चारणान्तरपूर्वो वेदो न केनचिच्चिन्तयित्वा प्रवर्तित इति अकृतकत्वहेतोरुक्तत्वात्"–मीमासाभा० प० पृ० ७८। "सप्रतिसाधनश्च वाक्यत्वात् इति। विवादाध्यासितं वेदाध्ययन गर्वध्ययनपूर्वक वेदाध्ययनत्वादद्यतनाध्ययनवदिति। तदिदमाह सूत्रकार –'उक्त तु शब्दपूर्व-

---

1 तत्कर्त्त स्मरणा–ब०। 2–तत्कर्त्रनु–श्र०।

"अतीतानागतौ कालौ वेद[1]कारविवर्जितौ ।
कालत्वा[1]त्तद्यथा कालो वर्तमानः समीक्ष (क्ष्य) ते ॥" [ ]

इत्यतोप्यस्य अपौरुषेयत्वं[2]सिद्धिः । †नन्[3]वाप्तप्रणीतत्वाभावे कथमस्य[2] प्रामाण्यं स्यादिति चेत् ? 'अपौरुषेयत्वादेव' इति ब्रूमः । व[3]चनस्य पुरुषदोषानुप्रवेशेनैव अप्रामाण्यप्रसिद्धेः† । तदुक्तम्–

*"शब्दे[4] दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति[4] स्थितम् । तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः[5] ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे[5] संक्रान्त्यसंभवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥"*
[मी० श्लो० चोदना० श्लो० २६, ६३]

न च आप्तगुणसंक्रान्त्यैव शब्दस्य प्रामाण्यम्, वेदे च आप्तप्रणीतत्वाभावतः तत्संक्रान्त्यसंभवान्न प्रामाण्यमित्यभिधातव्यम्; यतो नात्र[7] आप्तगुणसंक्रान्त्या प्रामाण्यम् शब्दोच्चारणमात्रे तस्य[6] व्यापारात्, शब्दस्तु स्वमहिम्नैव अवितथामर्थप्रतिपत्तिं कुर्वाणः प्रमाणम् । न चैवमनाप्तस्यापि तदुच्चारणमात्रे व्यापारात् शब्दः स्वमहिम्नैवासत्यप्रतीतिं कुर्वाणः अप्रमाणमित्यभिधातव्यम्; अनाप्तप्रणीतत्वादिदोषाणाम् अप्रामाण्योत्पादनादन्यप्रयोजनाभावात्, आप्तप्रणीतत्वादिगुणानां तु दोषापसारणे व्यापारात् स्वतः प्रामाण्यं

त्वम्' इति । शब्दशब्देनात्र शब्दजन्यमध्ययनम् । तदयमर्थ –सर्वपुंसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम्, सर्वे हि यथैव गुरुणाऽधीत तथैवाधिजिगासन्ते न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति य. कर्ता स्यात् तस्मादपौरुषेया वेदा ।"–शास्त्रदी० पृ० ६१७ । "विमत वेदाध्ययन परतन्त्राध्येतृकं वेदाध्ययनत्वात् सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्, आत्मत्व वेदकर्तृव्यक्तिसमवेत न भवति जातित्वात् गोत्ववदिति प्रतिहेतुविरुद्धञ्च वाक्यत्वम् ।"–मानमेयो० पृ० १७३ । उद्धृतोऽयम्–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । न्यायम० पृ० २३३ । 'तदध्ययनपूर्वकम्'–अष्टसह० पृ० २३७ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । प्रमेयक० पृ० ३९६ । सन्मति० टी० पृ० १३७ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३३ । 'तदध्ययनपूर्वकम्'–प्रमेयर० ३।९९ । रत्नाकराव० ४।९ ।

(१) "वेदकारवियोगिनौ । कालत्वात्तद्यथा'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । 'वेदकारविवर्जितौ'–प्रमेयक० पृ० ३९८ । सन्मति० टी० पृ० ३१ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३४ । प्रमेयर० ३।९९ । रत्नाकराव० ४।९ । (२) वेदस्य । (३) "विप्लवते हि खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात् प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति ।"–शावरभा० पृ० १७ । (४) 'इति स्थिति.'–मी० श्लो० । स्या० र० पृ० ६२७ । रत्नाकराव० ४।९ । प्रकृतपाठ–न्यायमं० पृ० १६७ । प्रमाणप० पृ० ७८ । सिद्धिवि० टी० पृ० ४०६A. । प्रमेयक० पृ० ३९७ । सन्मति० टी० पृ० १९ । प्रमेयर० ३।९९ । (५) शाब्दे प्रत्यये । (६) आप्तस्य । (७) "तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावत । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदित ॥ " तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्व नाशङ्कामपि गच्छति । अतो वक्त्रनधीनत्वात्प्रामाण्ये तदुपासनम् । न युक्तम्, अप्रमाणत्वे कल्प्ये तत्प्रार्थना भवेत् । ततश्चाप्ताऽप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते ।"–मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५-७० ।

1–त्वा यथा आ०, श्र० । 2–त्वमिति नन्वा–ब० । †एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 3 न चाप्तप्रणीतत्कालाभावे–ब० । 4 शब्दो आ० । 5–वतृतत्वतः श्र० । 6 शब्दसंक्रा–श्र० । 7 नाप्तगुण–ब० ।

वेदे आप्तानाप्तप्रणीतत्वाभावान्न प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा; इत्यप्यसुन्दरम्; [१]यत्र हि पुरुषकृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्षं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात् स्वसामर्थ्ये[1]नैवार्थावबोधकत्वा[२]त् [2]तन्निरपेक्षं प्रामाण्यम्। नहि तादृशीमानुपूर्वीं कश्चित् कर्त्तुं क्षमः अन्यत्र[3]ाऽभिव्यक्तेः। [4]पूर्वसिद्धानुऽपूर्वीतोऽ[३]पूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्वातन्त्र्यासंभवात्। कुर्वाणो वा [४]तां तदध्येतृभिः [5]अन्यैर्वा निवार्येत। उक्तञ्च–

"*अन्यथाकरणे चास्य [6]बहुभ्यः स्यान्नि[५]वारणा।*" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १५०] इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[६]–'कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्'

वेदाऽपौरुषेयत्वस्य प्रतिविधानम्–

इत्यादि, तदसमीचीनम्, [७]यतः किमिदम् अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वन्नाम–किं कर्त्तृस्मरणाभावः, अकर्त्तृकत्वं वा? प्रथमपक्षे [८]व्यधिकरणासिद्धो हेतु., कर्त्तृस्मरणाभावो हि आत्मनि वर्त्तते अपौरुषेयत्वं तु वेदे इति। [९]अज्ञातासिद्धश्च, तद्ग्राहकप्रमाणावात्। नहि प्रत्यक्ष तद्ग्राहकम्; प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अभावे तस्य प्रवृत्त्यसभवात्। संभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् [१०]तत्साध्यस्य अध्यक्षादित एव प्रसिद्धेः। अभावप्रमाणात्तत्[११]सिद्धौ तु तत्र तदु[१२]त्पत्तौ कारणं वाच्यम्, [7]निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्तेः।

"[१३]*गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।*
मानस नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्; ननु अत. प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं [१४]तदभावं निराश्रयम्, साश्रयं वा प्रसाधयेत्? न तावन्निराश्रयम्; '*गृहीत्वा वस्तुसद्भावम्*' इत्यभिधानात्। [१५]अनेन हि निषेध्याधारवस्तुग्रहणमभिदधता भट्टेन [8]निषे[१६]ध्याभावाश्रयः सूचित एव, अन्यथा प्रतिनियतवृत्तितया कर्त्तृस्मरणाभावसिद्धिः [१७]ततोऽतिदुर्लभा। यन्निराश्रयं न तत् प्रतिनियतवृत्ति यथा आकाशम्, निराश्रयश्च भवद्भिरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्ध्यन् कर्त्तृस्मरणाभाव इति।

---

(१) "पौरुषेये तु वचने प्रमाणान्तरमूलता। तदभावे हि तद् दुष्येदितरन्न कदाचन॥"–मी० श्लो० चोदना० श्लो० ७१। (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम्। (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षणा आनुपूर्वी। (४) विलक्षणा शब्दानुपूर्वीम्। (५) 'निवारणम्'–मी० श्लो०। प्रकृतपाठ–स्या० र० पृ० ६२८। (६) पृ०७२१प०५। (७) तुलना–"किमिद कर्तृरस्मरण नाम कर्तृस्मरणाभाव अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा?"–प्रमेयक० पृ० ३९२। (८) "अपौरुषेयो वेद कर्त्रस्मरणात् इत्येव प्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणत्वदोषात्।"–सन्मति० टी० पृ० ४१। (९) "तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम्, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्।"–स्या० र० पृ० ६२९। (१०) अभावप्रमाणेन क्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य। (११) कर्तृस्मरणाभावसिद्धौ। (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ। (१३) द्रष्टव्यम्–पृ०४६४टि०१। (१४) कर्तृस्मरणाभावम्। "नन्वत प्रादुर्भूतमभावप्रमाण तदभाव साश्रयमेव प्रसाधयेत् गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानात्।"–स्या० र० पृ० ६२९। (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति श्लोकांशेन। (१६) निषेध्यस्य य अभाव तस्य आश्रय। (१७) अभावप्रमाणात्।

1–नैवावबोध–ब०। 2–त्वान्निरपे–ब०। 3–त्रापि व्यक्ते आ०। 4 पूर्व सि–ब०। 5 अन्यैनिवा–आ०। 6 बहुभिः श्र०। 7 नि का–आ०। 8 निषेध्याश्रयः ब०।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते; ननु कोऽस्य[1] आश्रयः–स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्त्तृस्मरणं नास्ति' इति; किमेतावता सिद्धम्? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र[2] स्मरणं नास्ति, न चैतावता तस्याभावः सिद्ध्यति। ममानु[3]ष्ठातुरवश्यं स्मर्त्तव्योऽसौ[4], यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्; इत्यप्यसारम्; भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धेः[5]। तस्य[6] स्वयं निहितेऽवश्यं स्मर्त्तव्ये क्वचिद् द्रव्यादौ विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात्। तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौषधं स्वयं धृतं महत्यामप्यर्थितायां न स्मर्यते, नचैतावता तस्याऽभाव[7]. इत्यनेन चाऽनेकान्तः[1]। अथ सर्वप्रमातारः; ननु[8] 'त्रैलोक्योदरवर्त्तिनः प्रमातारो वेदकर्त्तारं न स्मरन्ति' इत्यसर्वविदो वेदनानुपपत्तिः। उपपत्तौ वा सर्ववेदित्वप्रसङ्गः।

किञ्च[9], सर्व[2]प्रमातृदेशान् गत्वा तांश्च[10] पृष्ट्वा तत्र[3] स्मरणाभावः प्रतीयेत[4], अन्यथा वा? न तावदन्यथा, "गत्वा[11] गत्वा तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुषङ्गात्। गत्वा चेत्; ननु तत्र[12] तेषु[13] पृष्टेषु 'न स्मरामः' इति प्रतिवचनञ्च ब्रुवाणेष्वपि कः समाश्वासः पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्तेः? न च सर्वेषामाप्तताप्रतिपत्तिरस्ति, यतः तद्गुणसंक्रान्त्या तत्र[14] प्रामाण्यं स्यात्; तत्प्रतिपत्तेरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण वाऽसंभवात्।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्तिः यत्र वस्तुसत्तावबोधकं प्रमाणपञ्चकं न प्रवर्त्तते।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता[15]॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

(१) कर्तृस्मरणाभावस्य। "अपि च किमशेषजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्ति। तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्ति, तदाऽसिद्धा; अवधारयितुमशक्यत्वाच्चार्वाग्भागविद्भि। अवधारणे वा त एव सर्वज्ञा स्यु अर्वाग्भागविदो न भवेयु। अथ कतिपयपुरुषापेक्षया; तदाऽनैकान्तिको हेतु, विद्यमानकर्तृकेष्वपि कर्ता न स्मर्यते कैश्चित्।"–तत्त्वोप० पृ० ११७। "आश्रयश्चास्य स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा"–स्या० र० पृ० ६२९। (२) मदीय आत्मनि। (३) "ममानुष्ठाने स्मर्तव्योऽसौ"–स्या० र० पृ० ६२९। (४) वेदकर्ता। (५) "एव तर्हि पितामहस्य पितर मातामहीमातरम्, तन्मातापितरौ च न स्मरति तत्तेषामभावो भवेत्।"–स्या० र० पृ० ६२९। (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वय धृतौषधादिद्रव्यस्य। (८) ननु इति निश्चयार्थे। तुलना–"सर्वे पुमास कर्तार वेदस्य न स्मरन्ति इति कथ जानाति भवान्। न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। न च यत् त्व न जानाति तदन्योऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात्।" –न्यायमं० पृ० २३७। स्या० र० पृ० ६३०। (९) तुलना–"अपि च सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा ताश्च पृष्ट्वा तत्र कर्तृस्मरणाभाव. प्रतीयेतान्यथा वा?"–स्या०र०पृ०६३०। (१०) सर्वप्रमातॄन्। (११) "गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते। ततोऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते॥"–मी० श्लो०। उद्धृतोऽयम्–प्रमेयक० पृ० २२। सन्मति० टी० पृ० २३,३२१। (१२) देशान्तरे। (१३) सर्वप्रमातृषु। (१४) तैरुक्ते 'न स्मराम' इति प्रतिवचने। (१५) द्रष्टव्यम्–पृ० ४६४ टि० ४।

1 वानें–आ०। 2 सर्वत्रप्रमा–श्र०। 3 तत्र स्मर न स्मरन्तीत्यसर्वविदो वेदनानु गत्वा गत्वा आ०। 4 प्रतीयते ब०। 5 सद्भाव–ब०।

इत्यभिधानात्। वेदे च [1]आत्मनः कर्त्तृसद्भावावेदके सति कथं [2]तत्प्रवृत्तिः ?

"स हि रुद्र वेदकर्त्तारम् ।" [ ]

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति ।" [श्वेताश्व० ६।१८]

"तथा प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत, ततः त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त ।" [ ]

[3]इत्यादिको वेदः कर्त्तृसद्भावावेदकः अनेकधा श्रूयते । [4]स्वरूपासिद्धश्चायं हेतुः, पौराणिका हि वेदस्य ब्रह्मकर्त्तृत्वं स्मरन्ति–

"[5]प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।" [मत्स्यपु० १४५।५८]

"अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ।" [ ]

इत्यभिधानात् । यौगा रुद्र[1]कर्त्तृकत्वम्, जैनाः कालासुर[2]कर्त्तृकत्वम् ।

स्मृतिपुराणादिवच्च [6]ऋषिनामाङ्किताः काण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादयः शाखाभेदाः कथमस्मर्यमाणकर्त्तृकाः ? तथाहि–एताः[7] तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किताः, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि ताव[3]दुत्सन्ना[8] शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्याः[9] सम्प्रदायाविच्छेदः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वेदस्य । (२) अभावप्रमाणप्रवृत्ति । (३) उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (४) "अपौरुषेयतापीष्टा कर्तृणामस्मृते किल । सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग् व्यापक तम ।। यस्मादिद साधनमसिद्धमनैकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिकृत्याह–तथाहीत्यादि । स्मरन्ति सौगता वेदस्य कर्तृनष्टकादीन्, आदिशब्दाद् वामकवामदेवविश्वामित्रप्रभृतीन् । हिरण्यगर्भं ब्रह्माण वेदस्य कर्तार स्मरन्ति काणादा वैशेषिका ततश्चासिद्ध कर्तुरस्मरणम् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६९ । मनोरथ० ३।२६९ । "असिद्धोप्यय हेतु यस्मात्स्मरन्ति एव कर्त्तार काणादा । तथा लौकिका अपि बहुल वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वेदा प्रणीता इति ।"–तत्त्वोप० पृ० ११७ । "नैव सर्वनृणा कर्तु स्मृतेरप्रसिद्धित । तत्कारण हि काणादा स्मरन्ति चतुराननम् । जैना कालासुर बौद्धा-स्त्वष्टकान् सकला सदा ।।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८ । अष्टसह० पृ० २३७। प्रमेयक० पृ० ३९३ । सन्मति० टी० पृ० ४० । स्या० र० पृ० ६३० । "यच्चेदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति तदसिद्धम्, प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाहरासीन्न रात्रिरासीत् स तपोऽतप्यत तस्मात्तपसश्चत्वारो वेदा अजायन्त इत्याम्नायेनैव कर्तृस्मरणात्, जीर्णकूपादिभिर्व्यभिचाराच्च ।"–प्रश० कन्द० पृ० २१६ । "कपिल-कणादगौतमैतच्छिष्यैश्चाद्यपर्यन्त वेदे सकर्तृकत्वस्मरणस्य प्रतीयमानत्वात् ।"–तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७१ । (५) उद्धृतोऽयम्–न्यायम० पृ० २३६। प्रमेयक० पृ०३९२। स्या० र० पृ० ६३० । न्यायपरि० पृ० ३८३। तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७३। (६) तुलना–"सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेरनेकपद-महतिप्रतिनियमसन्दर्शनात् । फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्, श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव श्रुति ।।"–पात्रके० श्लो० १४। प्रमेयक०पृ०३९२ । स्या० र० पृ० ६३० । प्रमेयर० ३।९९ । (७) काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादय शाखा । तुलना–"एतास्तत्कृतत्वात्तन्नामभिरङ्कितास्तद्दृष्टत्वात् तत्प्र-काशितत्वाद्वा ।"–प्रमेयक० पृ० ३९२। स्या० र० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९। (८) विशीर्णा विस्मृता वा । (९) शाखाया ।

1 कर्त्तृत्वम–ब०, श्र० । 2–कर्तृत्वम् ब०, श्र० । 3–वदुच्छिन्ना आ० ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा; तर्हि [1]यावद्भिरुपाध्यायैः सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावतां नामभिः तस्याः किन्नाङ्कितत्वं स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते–अस्ति [2]यौगादी[1]नां वेदे कर्त्तृस्मरणं किन्तु [3]सविगानं तत्कर्तृवि[4]शेषे[2] विप्रतिपत्तेः अतोऽप्रमाणमिति; तदप्युक्तिमात्रम्; [5]यतः कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यान्न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः §कर्त्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्त्तृक†त्वस्य तदापि ([6]तत्रापि) गतत्वादनेकान्तः। [3][7]अथ वेदे कर्त्तृ†विशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्त्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः तन्मात्रस्मरणमप्यप्रमाणं कादम्बर्यादीनां तु कर्त्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तेः [8]तत्प्रमाण[4]मित्यतो नानेकान्तः, [9]ननु वेदे सौगतादयः कर्तारं स्मरन्ति न मीमांसकाः इत्येवं कर्त्तृमात्रे विप्रतिपत्तेः§ यदि [10]तदप्रमाणम्, तर्हि [11]तद्वत् [12]तदस्मरणमप्यप्रमाणं किन्न स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात्। तथा [13]चायमसिद्धो हेतुः।

विरुद्धश्च, स्मर्यमाणकर्त्तृकत्वाऽस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वयोः कार्यधर्मतया वि[14]पक्ष एव वर्त्तमानत्वात्। कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्त्तृकं दृष्टं घटादि, किञ्चिदस्मर्यमाणकर्त्तृकं जीर्णकूपादि। ततश्च कृतको वेदः अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वात् जीर्णकूपादिवत्। [15]नहि नित्यं

(१) "समाख्यापि च शाखाना नाद्यप्रवचनादृते।'''' काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषा शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते। ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धना प्रवक्तृणामनन्तत्वात्। नापि प्रकृष्टवचननिमित्ता, उपाध्यायेभ्योपि प्रकर्षे प्रत्युतान्यथाकरणदोषात्, तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात्। कति चानादौ ससारे प्रकृष्टाः प्रवक्तार इति को नियामक इति।"–न्यायकुसु० ५।१७। (२) "येऽपि हि पौरुषेयता मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरण शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमत कर्तार तत्र निक्षिपन्ति–केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम्। न चाय नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदवकल्पते। नहि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेष प्रति कश्चिद्विवदते। तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणाद् दृश्यादर्शनवाधित सामान्यतोदृष्ट न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम्।" –शास्त्रदी० पृ० ६१७। (३) सविवादम्। (४) रुद्रे–आ० टि०। (५) तुलना–"नन्वेव कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्।"–प्रमेयक० पृ० ३९३। सन्मति० टी० पृ० ४२। स्या० र० पृ० ६३०। शास्त्रवा० यशो० पृ० ३८४ A। (६) कादम्बर्य्यादावपि। (७) तुलना–"अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम्' '"–प्रमेयक० पृ० ३९३। सन्मति० टी० पृ० ४२। स्या० र० पृ० ६३०। (८) कर्तृमात्रस्मरणम्। (९) तुलना–"ननु वेदे सौगतादय कर्तृमात्र स्मरन्ति न मीमासका इत्येव कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेः यदि कर्तृस्मरण मिथ्या तदा कर्तृस्मरणत् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि असत्य स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतु।"–सन्मति० टी० पृ० ४२। प्रमेयक० पृ० ३९३। स्या० र० पृ० ६३१। (१०) कर्तृमात्रस्मरणम्। (११) कर्तृस्मरणवत्। (१२) कर्त्रस्मरण। (१३) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। (१४) पौरुषेये अनित्ये। (१५) तुलना–"नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृक नाप्यस्मर्यमाणकर्तृक प्रतिपन्न किन्त्वकर्तृकमेव।"–प्रमेयक० पृ० ३९२।

1–नां कर्त्तृ–ब०। 2–षेपि विप्र–श्र०। §एतदन्तर्गत पाठो नास्ति श्र०। †एतदन्तर्गत. पाठो नास्ति आ०। 3 अथ कर्त्तृविशेषे विप्रतिपत्ति कर्तृमात्रमपि विप्रतिपत्ते ब०। 4–णमतो ब०।

वस्तु स्मर्यमाणकर्त्तृकमस्मर्यमाणकर्तृकं वा प्रतिपन्नम्, किन्तु अकर्त्तृकमेव। कालात्ययापदिष्टश्च, श्रुतिस्मृतिबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। तन्न कर्तृस्मरणाभावलक्षणमस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं घटते।

नापि अकर्त्तृकत्वलक्षणम्, अशब्दार्थत्वात्। नहि अस्मर्यमाणक[1]र्त्तृत्वशब्दस्य अकर्त्तृकत्वमर्थो लोके शास्त्रे वा प्रसिद्धः। प्रसिद्धौ वा [1]साध्याविशिष्टत्वम्। अस्तु वाऽविचारितमणीयमस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वम्, तथापि [2]तद् वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा सम्बन्धि हेतुः स्यात्? यदि वादिनः, तदनैकान्तिक[3]म्, *"वटे वटे वैश्रवणः"* [ ] इत्यादिषु विद्यमानकर्त्तृकेष्वपि प्रयोजनाभावात् मीमांसकैरस्मर्यमाणकर्त्तृकेषु अस्य सद्भावात्। ननु वेदे [2]कर्त्रभावपूर्वकमस्मर्यमाणकर्त्तृत्वं हेतुः, तच्चात्र[4] नास्ति कर्त्रनुपलम्भमात्रपूर्वकत्वा[3]त्तत्र त[5]स्य तत्कथमनैकान्तिकत्वम्? इत्यपि मनोरथमात्रम्, यतः कुतोऽ[6]त्र कर्त्रभावसिद्धिः–प्रमाणान्तरात्, अत एव वा? यदि प्रमाणान्तरात्, तदाऽस्य[7] आनर्थक्यम्। अत एव चेत्, अन्योन्याश्रयः–अतो हि अनुमानात् [8]तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं सिद्ध्यति, [9]तत्सिद्धौ च अतोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति। अथ प्रतिवादिनः सम्बन्धि [10]तत् हेतुत्वेन विवक्षितम्, तदसिद्धम्, तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्त्तारम्। एतेन सर्वस्याऽस्मरणं प्रत्याख्यातम्, [11]सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य [12]तत्र कर्त्रस्मरणमवैति? अतोऽस्य [4]अज्ञातासिद्धत्वम्, सतोऽप्यस्य[13] असर्वविदा ज्ञातुमशक्यत्वात्।

---

(१) साध्य हि अपौरुपेयत्व तदेव च अकर्तृकत्वमिति, साध्यावशिष्टत्वाद् असिद्धो हेत्वाभासो लक्ष्यते साध्यस्य असिद्धत्वादिति। (२) तुलना–"किञ्च अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वादिन प्रतिवादिन सर्वस्य वा स्यात्।"–प्रमेयक० पृ० ३९५। सन्मति० टी० पृ० ३०। स्या० र० पृ० ६३१। प्रमेयर० ३।९९। "अपि च किमशेषजनस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्ति।"–तत्त्वोप० पृ० ११७। (३) तुलना–"अनैकान्तिकत्वमप्याह–दृश्यन्ते चेत्यादि। उपदेशपारम्पर्यं सम्प्रदाय, विच्छिन्न क्रियासम्प्रदाय पुरुषकृतत्वसम्प्रदायो येपा वटे वटे वैश्रवणादिशब्दाना ते तथा। अनेन अस्मर्यमाणकर्तृत्वमाह। कृतकाश्च पौरुषेयाश्च। तत पौरुषेयेऽपि वाक्ये कर्तुरस्मरण वर्तत इत्यनैकान्तिको हेतु।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२४२। स्या० र० पृ० ६३१। "वादिनश्चेत्तदनैकान्तिकम्, सा ते भवतु सुप्रीतेत्यादौ विद्यमानकर्तृकेष्यस्य भावात्।"–प्रमेयक० पृ० ३९५। (४) 'वटे वटे श्रवण' इत्यादिवाक्येषु। (५) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य। (६) वेदे। तुलना–"यत कुतोऽत्र कर्त्रभावसिद्धि प्रमाणान्तरादत एव वा"?–स्या० र० पृ० ६३१। (७) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य हेतो। (८) वेदे कर्त्रभावसिद्धौ। (९) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वसिद्धौ च। (१०) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्। (११) तुलना–"तद्यदि सकलजनस्मरणनिवृत्ति तदाऽसिद्धा अवधारयितुमशक्यत्वाच्च अर्वाग्भागविद्भि। अवधारणे वा त एव सर्वज्ञा स्यु अर्वाग्भागविदो न भवेयु।"–तत्त्वोप० पृ० ११७। न्यायम० पृ० २३७। प्रमेयक० पृ० ३९५। स्या० र० पृ० ६३१। (१२) वेदविषये। (१३) सर्वसम्बन्धिकर्त्रस्मरणस्य।

1–णकर्त्तृकत्व शब्दस्य ब०,–णकर्त्तृत्व शब्दस्य आ०। 2 कर्त्तृत्वभाव–श्र०। 3–त्वात्तस्य ब०। 4 अज्ञानासि–श्र०।

यदप्युक्तम्[1]–'ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते तेऽवश्यं तच्छास्त्रकर्त्तारमनुस्मरन्ति' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, नियमाभावात्[2]। न हि 'यो धर्मशीलः' [ ] इत्यादिवाक्येभ्यः तदर्थानुष्ठाने प्रवर्त्तमानानामनुष्ठातॄणां[1] तत्कर्त्तृस्मरणमस्ति, तदन्तरेणापि धर्मशीलताद्यर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिक[2]भयाऽभावहेतौ प्रवृत्तिप्रतीतेः।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'छिन्नमूलत्वाच्च' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, यतः [4]अध्यक्षेणानुभावाभावात् तत्र[5] [6]तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा? अध्यक्षेण चेत्; किं [7]भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा? यदि भवत्सम्बन्धिना, तर्हि आगमान्तरेऽपि कर्त्तृसद्भावग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्तेः [8][3]तत्कर्त्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेन अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वस्य भावाद् व्यभिचारी हेतुः। अथ[4] तत्र[9] तद्ग्राहकत्वेन अस्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः कर्त्तृसद्भावाभ्युपगमान्न व्यभिचारः, तन्न, परकीयाभ्युपगमस्य [10]भवतोऽप्रमाणत्वात्, अन्यथा वेदेऽपि [11]परैस्[12]तत्सद्भावाभ्युपगमात् अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात्। सर्वसम्बन्धिना चेत्; सोऽसिद्धः, अर्वाग्दृशा तस्यावसातुमशक्यत्वात्। अथ प्रमाणान्तरेण अनुभवाभावः, तन्न, [13]आगमस्य तत्र कर्त्तृसद्भावावेदकस्य प्रतिपादितत्वात्। रचनावत्त्वाद्यनुमानस्य च तत्प्रसाधकस्य सद्भावात्। तथाहि- पौरुषेयो वेदः रचनावत्त्वात्[14] भारतादिवत्, पद[15]वाक्यात्मकत्वाद्वा तद्वत्। तथा प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि वाक्यानि

(१) पृ० ७२१ पं० ८। (२) "न चाय नियमोऽनुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्ते"–प्रमेयक० पृ० ३९५। सन्मति० टी० पृ० ४३। शास्त्रवा० यशो० पृ० २८४ B.। "न हि यो धर्मशील इत्यादिवाक्येभ्यस्तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठातॄणा तत्कर्तृस्मरणमस्ति। तदन्तरेणापि धर्मशीलताद्यर्थानुष्ठाने महापुरुपार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाभावहेतौ प्रवृत्तिप्रतीते ।"–स्या० र० पृ० ६३१। (३) पृ० ७२२ पं० ९। (४) "यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात्तत्र तच्छिन्नमूल प्रमाणान्तरेण वा।"–प्रमेयक० पृ० ३९३। सन्मति० टी० पृ० ४२। स्या० र० पृ० ६३१। (५) वेदे। (६) कर्तृस्मरणम्। (७) तुलना–"सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी। विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादिरदृष्टावपि सत्त्वत ॥"–तत्त्वसं० पृ० ६५। न्यायवि० टि० पृ० १६७ पं० ३। न्यायली० पृ० २२। (८) आगमान्तरकर्तृस्मरणस्य। (९) आगमान्तरे। (१०) मीमासकस्य। (११) जैनादिभि। (१२) कर्तृसद्भाव। (१३) वेदस्मृतिरूपस्य। (१४) तुलना–"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे–वाक्यकृतिर्वाक्यरचना सा बुद्धिपूर्वा वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात्, नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्यरचनावत्।"–वैशे० सू०, उप० ६।१।१। "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वाक्यरचना वेदे तद्रचनात्वात् उभयाभिमतवाक्यरचनावत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८१। प्रश० कन्द० पृ० २१७। "तथा च वैदिक्यो रचना कर्तृपूर्विकाः रचनात्वाल्लौकिकरचनावत्।"–न्यायमं० पृ० २३२। स्या० र० पृ० ६३२। "ततो ये नररचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुपेया यथाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूपप्रासादादय, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टञ्च वैदिक वचनमिति।"–प्रमेयक० पृ० ४०२। सन्मति० टी० पृ० ३९। (१५) तुलना–"इतश्च वर्णवत्त्वात्, वर्णवन्ति लौकिकवाक्यानि अनित्यानि तथा च वेदवाक्यानि, तस्मात्तान्यप्यनित्यानि। इतश्च सामान्यविशेषवत्त्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्। इतश्च

1–णमिति ब०। 2–त्रिकमयाद्वारहेतौ ब०। –त्रिकतयाभावहेतौ आ०। 3 तत्रकर्तृ–ब०। 4 अयतद्ग्रा–ब०।

आप्तोक्तानि, वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा पित्रादिवाक्यम्, तथा चामूनि, तस्मात्तथेति ।

यदप्यभिहितम्[1]–'वेदरचनायाः कर्त्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्' इत्यादि, तत्र किमिदं तस्याः तद्वैलक्षण्यं नाम–दुर्भणत्वम्[2], दुःश्रवणत्वम्, लोकव्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्दविनिवेशः, अपूर्वछन्दोनिबद्धत्वम्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेतमन्त्रयुक्तत्वं वा ? सर्वमेतत् पुरुषाणां न दुष्करम्, विज्ञानकरणपाटवाधीनत्वाद् वाचोवृत्तेः। मन्त्राणाञ्च[3] महाप्रभावोपेतत्वं पुरुषप्रणीतत्वेनैवोपपन्नम्, निरतिशयप्रभाववता हि पुरुषेण

पदवत्त्वात् लौकिकवाक्यवत् ।"–न्यायवा० पृ० २७२। "अनित्यानि वेदवाक्यानि वाक्यत्वादुभयाभिमतवाक्यवत् ।"–प्रश० व्यो० ५८१। "न चाक्षरराशेरपौरुषेयत्वं येन स्वत प्रमाण वेद स्यात्, शास्त्रान्तरस्यापि तदनुषङ्गात् विशेषाभावाच्च ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ४०६ B.। "वेदपदवाक्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्यत्वाद् भारतादिपदवाक्यवत् ।"–प्रमेयक० पृ० ३९१। "श्रुति. पौरुषेयी वर्णाद्यात्मकत्वात् कुमारसभवादिवत् ।"–रत्नाकराव० ४।९।

(१) पृ० ७२२ प० ११। (२) तुलना–"दुर्भणत्वानुदात्तत्वक्लिष्टत्वाऽश्रव्यतादय । वेदधर्मा हि दृश्यन्ते नास्तिकादिवचस्स्वपि ॥ विषापगमभूत्यादि यच्च किञ्चित्समीक्ष्यते। सत्य तद्वैनतेयादिमन्त्रवादेऽपि दृश्यते । दुर्भणत्व दुरभिधानम्, अनुदात्तत्व मनोज्ञत्वम् क्लिष्ट व्यवहितम्,·· ·· अश्रव्यता श्रुतिदुर्भगता। आदिशब्देन पदविच्छेदप्लुतोदात्तादिपरिग्रह.। विषापगमे भूति सामर्थ्यं प्रभाव इति यावत्। अथवा विषापगमश्च भूतिश्चेति समास, भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति यावत्। आदिशब्देन भूतग्रहाद्यावेशवशीकरणाभिचारादयो गृह्यन्ते। सत्यमिति अविसवादि। वैनतेयादीत्यादिशब्देन बौद्धादिमन्त्रवादपरिग्रह ।"–तत्त्वस०, प० पृ० ७३९। "सर्वेषा दुर्भणत्वादीना मन्त्रादिसामर्थ्यानाञ्च साधारणत्वात् ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२४२। "दुर्भणनदु श्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्याना तदतिशयान्तराणा शक्यक्रियत्वादितरत्रापि ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३७। स्या० र० पृ० ६३२। रत्नाकराव० ४।९। (३) तुलना–"अपि चेद मन्त्रा अपौरुषेयाश्चेति व्याहत पश्याम । तथाहि –"समयत्वे हि मन्त्राणा कस्यचित् कार्यसाधनम्। युक्त यद्येते मन्त्राः कस्यचित्समयो यथा मत्प्रणीतमेतदभिमतार्थोपनिबन्धन वाक्यमेव नियुञ्जानमनेनार्थेन योजयामीति, परार्थपरतानुरोधेन अन्यतो वा कुतश्चिद्धेतो स्यात् तदा मन्त्रप्रयोगात् कदाचिदर्थनिष्पत्तिर्युक्ता कविसमयादिव पाठकानाम् ।" –प्रमाणवा० स्ववृ० १।२९४। "अपि च न मन्त्रो नामान्यदेव किञ्चित्। किं तर्हि ? सत्येत्यादि। यथाभूताख्यान सत्यम्, इन्द्रियमनसोर्दमन तप तयो प्रभावो विषस्तम्भनादिसामर्थ्यं स विद्यते येषा पुसा ते तथा तेषा सत्यतप प्रभाववता पुसा समीहितार्थस्य साधन तदेव मन्त्र· । तद्वचन मन्त्रलक्षणमद्यत्वेऽपि पुरुषेषु दृश्यत एव। किं कारणम् ? यथास्व सत्याधिष्ठानबलाद् विषदहनादेः स्तम्भनस्य सामर्थ्योपघातस्य दर्शनात्। तथा शबराणा केषाञ्चित् स्वनियमस्थानामद्यापि विषापनयनशक्तियुक्तस्य कारणात् शक्नुवन्त्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम्। अवैदिकानाञ्च–वेदादन्येषा बौद्धादीनामिति, आदिशब्दाद् आर्हतगारुडमाहेश्वरादीना मन्त्रकल्पाना मन्त्राणा मन्त्रकल्पानाञ्च दर्शनात्। विद्याक्षराणि मन्त्रा, तत्साधनविधानोपदेशा मन्त्रकल्पा तेषाञ्च बौद्धादीनाम्मन्त्रकल्पाना पुरुषकृते पुरुषै करणात् ।" –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४२। "येऽपि मन्त्रविद केचिन्मन्त्रान् काश्चन कुर्वते। प्रभो प्रभावस्तेषा स तदुक्तन्यायवृत्तित ॥ कृतका पौरुषेयाश्च मन्त्रा वाच्या फलेप्सुना। अशक्तिसाधन पुसामनेनैव निराकृतम् ।"–प्रमाणवा० ३।३०९–१०। "परोक्षाया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात्। न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणा शक्तिरुपलभ्यते न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्य वक्तु प्रमाणबाधनात् ।" –अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७। स्या० र० पृ० ६३३। "मन्त्रादीनाञ्च सामर्थ्यं शाबरणामपि स्फुटम्।

'अमुष्मान्मन्त्रादस्येदं फलं भवतु' इत्यनुसन्धाय यदा यया[1] कयाचित् भाषया प्रयुज्यन्ते मन्त्राः तदा[2] तेषां तत्कर्तृप्रभावादेव तथाविधार्थक्रियाकरणसामर्थ्यं संभाव्यते। दृश्यते हि साम्प्रतमपि महाप्रभाववतो मन्त्रवादिन आज्ञाप्रदानात् ज्वराद्युच्चाटनं निर्विषीकरणादि च।

किञ्च, अत्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्त्तारं प्रतिक्षिपति न[4]तु कर्तृमात्रम्। न हि जीर्णकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचनोपलभ्यमाना तन्मात्रं[3] प्रतिक्षिपन्ती प्रतीता, तत्करणासमर्थस्यैव शिल्पिनः तया[5] प्रतिक्षेपात्। नहि कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्त्तारमन्तरेण उपपद्यन्ते। अतः 'वैदिकी रचनाऽपौरुषेयी' इत्याद्यनुमानमनुपपन्नम्; दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य उक्तप्रकारेण तत्राऽसंभवात्। संभवे वा कर्तृमात्रानिषेधकत्वात्। ततोऽयुक्तमुक्तम्[6]–'रचनामात्रात्कर्त्रनुमाने जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानानुषङ्गः' इत्यादि, वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वाव्यवस्थितेः, जगद्रचनायास्तु तत्स्थितेः। तत्स्थितिश्च ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके[7] सप्रपञ्चं प्रपञ्चिता।

यदप्युक्तम्[9]–'वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्' इत्यादि, तत्र[10] निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वम् अपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, सविशेषणं वा? तत्र आद्यविकल्पेऽनैकान्तिकत्वम्[11], निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वप्यस्य भावात्[8]। द्वितीयपक्षे तु किं तस्य[12] विशेषणम्? वेदश्चेत्[9], ननु वेदविशिष्टमप्यध्ययनं किं तावन्मात्रेण हेतुः, अपरविशेषणवि-

प्रतीत सर्वलोकेऽपि न चाप्यव्यभिचारि तत्॥"–शास्त्रवा० १०।४४।

(१) संस्कृतरूपया प्राकृतस्वरूपया पालिरूपया वा भाषया। (२) वेदे। तुलना–"अपि च यद्विलक्षणेय रचना तद्विलक्षण एव कर्ता अनुमीयता न पुनस्तदपलापो युक्त इत्यप्युक्तम्।" –न्यायमं० पृ० २३६। "अपि चात्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तारं निराकुरुते न पुनः कर्तृमात्रमपि।"–स्या० र० पृ० ६३४। (३) कर्तृमात्रम्। (४) विशिष्टरचनया। (५) वेदे। (६) पृ० ७२२ पं० १२। (७) कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वस्थितेः, यतो हि विद्यमानकर्तृकेषु अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिरुपजायते नतु क्षित्यादौ। (८) पृ० १०२। (९) पृ० ७२२ पं० १७। (१०) तुलना–"किञ्चात्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत् कर्त्रस्मरणविशिष्ट वा?"–प्रमेयक० पृ०३६९। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३४। (११) तुलना–"यत एवन्तस्मादध्ययनमध्ययनान्तरवद् अध्ययनान्तरपूर्वकमिति साध्ये अध्ययनादिति लिङ्गं व्यभिचारि, भारताद्यध्ययने पौरुषेयत्वाध्ययनत्वस्य भावात्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४५। "न हि तच्छब्दवाच्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते। अनैकान्तिकश्चाय हेतु, भारतेप्येवमभिधातु शक्यत्वात्। भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति।"–न्यायमं० पृ० २३३। प्रमेयक० पृ०३६९। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३४। "पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात्। वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्रं वक्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेऽपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्व न स्यात्।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७। "भारताध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययन यथा॥" –प्रमेयर० ३।९९। (१२) अध्ययनशब्दवाच्यत्वादिति हेतो.।

1 भवति ब०। 2 'तदा' नास्ति आ०। 3–मानतत्करण–श्र०। 4 ननु आ०। 5 तथा आ०। 6–द्धेतुत्वानु–आ०। 7 भारतेष्वप्यस्य ब०। 8 सद्भावात् ब०, श्र०। 9 वेदश्चेन्ननु श्र०।

शिष्टत्वेन वा ? यदि तावन्मात्रेण, तदाऽनैकान्तिकम्[1], विपक्षेऽप्यस्य[2] [3] अविरुद्धतया सद्भावसंभवात्। विपक्षेण विरुद्धं हि विशेषणं ततो[4] हेतुं व्यावर्त्तयति नान्यद् अतिप्रसङ्गात्। नच वेदविशेषणं कर्त्तृपूर्वकत्वलक्षणविपक्षेण विरुद्धम् भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्यापि सकर्त्तृकत्वेऽप्यविरोधात्।

किञ्च, यथाभूतानां[5] पुरुषाणामध्ययनम् अध्ययनपूर्वकं[6] दृष्टं तथाभूतानामेव तत्तथा[7] [8] साध्यते, अन्यथाभूतानां[9] वा ? यदि तथाभूतानाम्[10], तदा सिद्धसाधनम्। अथ अन्यथाभूतानाम्, तर्हि जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वे सन्निवेशादिवदप्रयोजको[11] हेतुः। अथ तथाभूता[12]नामेव तत्तथा[13] [14] साध्यते, नच सिद्धसाधनम्[15], सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येन अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन ईदृशत्वात्[16], तदप्यसुन्दरम्, प्रेरणायाः[17]

(१) तुलना–"वेदेन विशेषणाददोष, अध्ययनमात्रस्य हि व्यभिचारो न वेदेन विशिष्टस्याध्ययनस्येत्यभिप्राय। क पुनरित्यादि सिद्धान्तवादी। कोऽतिशयो वेदाध्ययनस्य येन तद्वेदाध्ययनमन्यथेति स्वय कृत्वाऽध्येतु न शक्यते। नैव कश्चिदतिशय। ततो वेदाध्ययनञ्च स्यान्न च अध्ययनपूर्वकमिति विरोधाभावात् स एव व्यभिचार। यस्मान्नहि विशेषण वेदत्वम् अविरुद्ध विपक्षेण अनध्ययनान्तरपूर्वकत्वेन सह, अस्माद् विपक्षाद् हेतु निवर्तयति। किं कारणम्? अविरुद्धयो वेदत्व-अध्ययनान्तरपूर्वकत्वयोरेकत्र वेदवाक्ये सम्भवात्। को ह्यत्र विरोधो यद् वेदाध्ययनञ्च स्यान्न च अध्ययनान्तरपूर्वकमिति। तस्माद्वेदत्व विशेषणमध्ययनस्य हेतोरतिशयभाग् न भवति विशेषाधायकन्न भवति, विपक्षविरोधाभावेन विपक्षादव्यावर्तनात् उपात्तमपि विशेषणमनुपात्तसमम्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ०३४५। प्रमेयक० पृ०३९७। स्या० पृ० ६३४। (२) अनध्ययनपूर्वकाध्ययने सकर्तृके (३) वेदविशेषणस्य अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य। (४) विपक्षात्। (५) अस्मदादीनाम् अर्वाग्दृशाम्। तुलना–"किञ्च यथाभूताना पुरुषाणामध्ययनमध्ययनपूर्वक दृष्ट तथाभूतानामेव अध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्व साधयत्यन्यथाभूताना वा ?"–प्रमेयक० पृ०३९८। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या०र० पृ० ६३४। (६) गुर्वध्ययनपूर्वकम्। (७) वेदाध्ययनम्। (८) वेदाध्ययनपूर्वकम्। (९) अतीन्द्रियार्थदर्शनशालिना पुरुषाणा वा। (१०) अस्मदादीनाम्। तुलना–"यादृश त्वध्ययन स्वयङ्कर्तुमशक्तस्य तन्निमित्तम् अध्ययनान्तरनिमित्त दृष्ट तत्तथेति अध्ययनान्तरपूर्वकमेवेति स्यात् तन्निमित्ततया शक्तिनिमित्ततया दृष्टेऽवगते विशेषे स्वय कृत्वाऽध्ययनलक्षणे तत्त्यागेन तस्य विशेषस्य त्यागेन वेदाध्ययनत्वसामान्यस्य ग्रहण शक्तस्याशक्तस्य वा सर्वं वेदाध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं वेदाध्ययनत्वसामान्यादिति क्रियमाण व्यभिचार्येव। किमिव ? हुताशनसिद्धौ अग्निसिद्धौ पाण्डुद्रव्यत्ववत्"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४६। (११) यादृश सन्निवेशादि घटादिषु यदक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादक दृष्ट तादृशमेव जीर्णकूपादौ बुद्धिमद्धेतुकत्वमनुमापयति नतु तद्विलक्षणम्–अक्रियादर्शिन कृतबुद्ध्यनुत्पादकमिति स्थिति, तथापि सन्निवेशसामान्यात् पृथिव्यादावपि बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमाने मृद्विकारत्वहेतुना वल्मीकस्यापि कुम्भकारकृतत्व स्यात्, ततो यथा जगतो बुद्धिमद्धेतुके सन्निवेशादिसामान्यमकिञ्चित्कर तथैव यादृशानामस्मदादिपुरुषाणामध्ययनमध्यनान्तरपूर्वक दृष्ट तादृशानामेव देशान्तरादौ अध्ययनपूर्वकत्व साधयितुमुचित न तु अन्यादृशानामतीन्द्रियार्थद्रष्टृणाम्, तत्र अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य अप्रयोजकत्वादिति भाव। (१२) अस्मदादीनामर्वाग्दृशाम्। (१३) अध्ययनम्। (१४) अध्ययनपूर्वकम्। (१५) अन्यथाभूताऽतीन्द्रियपुरुषासंभावनया। (१६) अस्मदादिवदेव अर्वाग्दर्शित्वात्। (१७) वेदस्य।

1 कर्तृत्वलक्षण–ब०। 2–त्वविलक्ष–श्र०। 3–पूर्वं दृष्टं आ०, ब०।

[1]तथाभूतार्थप्रतिपादने प्रामाण्याप्रसिद्धेः। तदप्रसिद्धिश्च [2]गुणवतो वक्तुरभावे [3]तद्गुणै-रनिराकृतैर्दोषैः [4]तस्यापोहित्वात् सुप्रसिद्धा। [5]तथाभूताञ्च प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शन-शक्तिविरहिणोऽपि कर्त्तुं समर्था इति कुतः तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन अशेषपुरु-षाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात्। अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽ-प्रामाण्यनिवृत्तिः अपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः[6] संभवात् ततोऽयमदोषः, तदप्यसाम्प्रतम्; यतोऽ-पौरुषेयत्वमस्याः[7] किमन्यतः प्रमाणात् प्रसिद्धम्, अत एव वा ? यदि अन्यतः; तदा अस्य वैयर्थ्यम्। अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः–अतो हि अनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणायाः प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामी-[8]दृशत्वसिद्धिरिति। तन्न वेदाध्ययनमात्रं हेतुः।

अथ अपरविशेषणविशिष्टम्; किं पुनस्तत्र[9] विशेषणम्–कर्त्रस्मरणम्, सम्प्रदाया-व्यवच्छेदो वा ? न तावत् कर्त्रस्मरणम्; तस्य असिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात्। [10]सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ? न तावदात्मगतः; भारतादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यस्य सम्भवात्। नापि [2]सर्वलोकगतः, असर्वविदा तस्य सतोऽपि ज्ञातुम-शक्यत्वात्, "*वटे वटे वैश्रवणः*" [   ] इत्यादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यस्या[11]ऽविरोधाच्च।

किञ्च, प्रमाणादर्थव्यवस्था भवति। सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च किं स्वतन्त्रं प्रमाणम्, प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तदन्तर्भूतं वा ? न तावत् स्वतन्त्रम्, षट्प्रमाणसंख्याव्याघात-प्रसङ्गात्। नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तस्य[12] तत्सामग्रीतो विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वात्, आज्ञापारम्पर्यवत्। [13]अत एव न [14]तदन्तर्भूतम्। [3]ततो वटे यक्षपारम्पर्यवत् संशयजनक-[1]मेवैतत्[15] नार्थतत्त्वव्यवस्थापनप्रवणम्। अव्यवच्छेदश्चास्य[16] श्रद्धामात्रगम्यः; नैपथ्यव्यव-

(१) अतीन्द्रियार्थं। (२) तुलना–"गिरा सत्यत्वहेतूना गुणाना पुरुषाश्रयात्। अपौरुषेयं मिथ्यार्थं किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते॥" –प्रमाणवा० ३।२२५। "यावता गुणवद्वक्त्रभावे तद्गुणैरनिरा-कृतैर्दोषैरपोहितत्वात् तत्र सापवाद प्रामाण्यम्।"–प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३४। (३) वक्तृगुणै.। (४) प्रामाण्यस्य निराकृतत्वात्। (५) अप्रमाणभूताम्। (६) अप्रामाण्यनिवृत्ते। (७) चोदनाया। "यतोऽपौरुषेयत्वमस्या किमन्यत प्रमाणात् प्रति-पन्नमत एव वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० र० पृ० ६३५। (८) अस्मदादिवदर्वाग्दर्शित्वसिद्धिः। (९) वेदाध्ययनवाच्यत्वाख्ये हेतौ। "किं तत्र विशेषणम्–कर्त्रस्मरण सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ?"–स्या० र० पृ० ६३५। (१०) "सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ?"–स्या० र० पृ० ६३५। (११) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य। (१२) सम्प्रदायाव्यव-च्छेदस्य। (१३) विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वादेव। (१४) प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतम्। (१५) सम्प्रदायाव्यवच्छे-दात्मक प्रमाणम्। (१६) वेदस्य। तुलना–"अपि च आदिमतोऽपि शास्त्रग्रामस्य सम्प्रदायव्यवच्छे-दोऽस्ति वेदस्य पुनरनादेरसौ नास्तीति क. श्राद्धिको भवतोऽपर प्रतिपद्येत।"–स्या० र० पृ० ६३५।

1–पोदित–आ०। 2–पादित–श्र०। 2 सर्वगतो ब०, श्र०। 3 ततो दृष्टयक्षपारम्पर्यवत् संशयज्ञवक्तुमेवेतदर्थत्वव्यवस्था भवति सम्प्रदायाऽव्ययनप्रवणम् ब०। 4–जननमेव तत्सार्थे–आ०।

हारवालक्रीडादीनाम् आदिमताम[1]पि निर्मूलोच्छेदोपलम्भेन अनादौ वेदे अव्यवच्छेदस्य श्रद्धामात्रादन्यतः संभावयितुमशक्यत्वात् ।

यदप्युक्तम्[1]–'*अतीतानागतौ कालौ*' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, आगमा[2]न्तरेऽप्यस्याविशेषात् । किञ्च[3], इदानीं यथाभूतो [2]वेदकरणाऽसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृ[3]पुरुषरहितो वा कालः प्रतीतः अतीतोऽनागतो वा तथा[4]भूतः काल[5]त्वात् साध्येत, अन्य[6]थाभूतो वा ? यदि तथाभूतः, तदा सिद्ध[7]साधनम् । अथ अन्यथा[8]भूतः, तदा सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूत[9]स्यैव तस्य[10] तद्[11]रहितत्वं साध्यते, नच सिद्धसाधनम्[12] अन्य[13]थाभूतस्य कालस्यैवाऽसंभवात्, ननु[14] 'अन्यथाभूतः कालो नास्ति' इत्येतत् कुतः प्रमाणात् प्रतिपन्नम्–अत एव, अन्यतो वा ? यदि अत[15] एव, इतरेतराश्रयः–अन्य[16]थाभूतकालाभावसिद्धौ हि अतोऽनुमानात्तद्[17]रहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च अन्यथाभूतकालाभावसिद्धिरिति । अन्यतः [18]तत्सिद्धौ चास्या[19]नर्थक्यम् अपौरुषेयत्वस्यापि तत एव प्रसिद्धेः । ततो वेदे अपौरुषेयत्वप्रसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासभवात् कथमसौ अपौरुषेयः स्यात् ।

अस्तु वा, तथाप्यसौ[20] व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ? न तावदव्याख्यातः, अतिप्रसङ्गात् । अथ व्या[21]ख्यातः, कुतस्तद्व्याख्यानम्–स्वतः, पुरुषाद्वा न तावत् स्व[22]त एव, 'अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थः नायम्' इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपा-

(१) पृ० ७२३ प० १ । (२) तुलना–"कालत्वपुरुषत्वादौ सन्दिग्धव्यतिरेकिता । पूर्ववत्करणाशक्ते नराणामप्रसाधनात् ॥"–**तत्त्वस० का० २७९९।** (३) तुलना–"किञ्चेदानी यथाभूतो वेदाकरणसमर्थपुरुषयुक्त तत्कर्तृपुरुषरहितो वा काल प्रतीत, अतीतानागतो वा तथाभूत कालत्वात्साध्येत अन्यथाभूतो वा ?"–**प्रमेयक० पृ० ३९९। सन्मति० टी० पृ० ३१। स्या० र० पृ० ६३५ ।** (४) वेदकर्तृपुरुषरहित । (५) हेतो वेदकारविवर्जित इति शेष । (६) वेदकर्तृपुरुषसहित । (७) वेदकर्तृपुरुषरहितकालस्य वेदकारविवर्जितत्वमिष्टमेव । (८) वेदकरणसमर्थपुरषयुक्त तत्कर्तृपुरुषसहितो वा । (९) वेदकर्तृपुरुषरहितस्यैव । (१०) कालस्य । (११) वेदकाररहितत्वम् । (१२) वेदकर्तृपुरुषसहितकालसम्भावनया । (१३) वेदकर्तृपुरुषसहितस्य । (१४) तुलना–"नन्वन्यथाभूत कालो नास्तीत्येत्कुत प्रमाणात् प्रतिपन्नम् ?"–**प्रमेयक० पृ० ३९९ ।सन्मति० टी० पृ० ३१। स्या० र० पृ० ६३५ ।** (१५) कालत्वात् हेतो । (१६) वेदकर्तृसहित । (१७) वेदकारविवर्जितत्व । (१८) अन्यथाभूतकालाभावसिद्धौ । (१९) कालत्वादिति हेतो । (२०) तुलना–"सहि वेद केनचिद् व्याख्यात धर्मस्य प्रतिपादक स्यादव्याख्यातो वा ?"–**आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० ४०० । स्प० र० पृ० ६३६। प्रमेयर० ३।९९ ।** (२१) तुलना–"न हि तावत्स्थितोप्येष ज्ञान वेद करोति न । यावन्न पुरुषैरेव दीपभूतै प्रकाशित ॥ ततश्चापौरुषेयत्व भूतार्थज्ञानकारणम् । न कल्प्यं ज्ञानमेतद्धि पुव्याख्यानात्प्रवर्त्तते ॥ सत्यप्येषा निरर्थाऽतो वेदस्यापौरुषेयता । यदिष्ट फलमस्या हि ज्ञान तत्पुरुषाश्रितम् ॥ स्वतन्त्रा पुरुषाश्चेह वेदे व्याख्या यथारुचि । कुर्वाणा प्रतिबद्धु ते शक्यन्ते नैव केनचित् ॥ मोहमानादिभिर्दोषैरतोऽमी विप्लुता. श्रुते । विपरीतामपि व्याख्या कुर्युरित्यभिशङ्क्यते ॥"–**तत्त्वस० का० २३६६–७१ ।** (२२) तुलना–"अर्थोऽय नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न । कल्प्यो-

1 अधिमता–श्र० । 2 वेदाकरणसमर्थ–ब० । 3 तददृष्टपुरु–ब० । 'तत्कर्तृपुरुषरहितो' इति नास्ति आ० ।

दनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात्। पुरुषाच्चेत्; कथं तद्व्याख्यानात् पौरुषेयादर्थप्रतिपत्तौ दोषाशङ्कानिवृत्तिः स्यात्? पुरुषा हि रागादिमन्तो विपरीतमप्यर्थं व्याचक्षाणा दृश्यन्ते। संवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनानर्थक्यम्, पौरुषेयत्वेऽपि वेदस्य संवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः। नच व्याख्यानानां संवादोऽस्ति, परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्यं[1] विसंवादोपलम्भात्।

किञ्च, असौ तद्व्याख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा? प्रथमपक्षे अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधः। धर्मादौ च अस्यै प्रामाण्योपपत्तेः "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च। अथ तद्विपरीतः; कथं तर्हि तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, अयथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तेः?

ऽयमर्थं पुरुषै ते च रागादिसंयुता ॥"–प्रमाणवा० ३।३१२। "वेदो नर निराशसो ब्रूतेऽर्थं न सदा स्वत.। अन्धात्तयष्टितुल्या तु पुव्याख्या समपेक्षते ॥ स तया कृष्यमाणश्च कुवर्त्मन्यपि सम्पतेत्। ततो नालोकवद्वेदश्चक्षुर्भूतश्च युज्यते।"–तत्त्वसं० का० २३७४–७५। प्रमेयक० पृ० ४००। स्या० र० पृ० ६३६। प्रमेयर० ३। ९९। "अथवा न तावदय वेद स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगमप्रसङ्गात्।"–धवलाटी० पृ० १९५।

(१) तुलना–"व्याख्याप्यपौरुषेय्यस्य मानाभावान्न सङ्गता। मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वाद्यनिश्चिते ॥"–शास्त्रवा० १०।३१। (२) तुलना–"अथान्ये व्याचक्षते; तेषा तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा न वा। प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा?"–धवलाटी० पृ० १५९। "व्याख्याता रागादिमान् विरागो वा?"–आप्तप० का० ११०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ८। प्रमेयक० पृ० ४०१। स्या० र० पृ० ६३६। प्रमेयर० ३। ९९। (३) तुलना–"यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थेऽनागमज्ञानसंभव। अतीन्द्रियार्थवित् कश्चिदस्तीत्यभिमत भवेत् ॥ यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थे स्वर्गसम्बन्धादौ जैमिन्यादेरनागमस्य आगमनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य संभव तदा अतीन्द्रियार्थदर्शी कश्चिदस्तीत्यभिमत भवेत् ततस्तत्प्रतिक्षेपो न युक्त। यदि तु न कश्चिदतीन्द्रियार्थदर्शी तदा–स्वय रागादिमान्नार्थं वेत्ति वेदस्य नान्यत। न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गति ॥"–प्रमाणवा०, मनोरथ० ३।३१६–१७। (४) अतीन्द्रियार्थद्रष्टु। (५) "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म।"–जैमिनिसू० १।१।२। "चोदनैव प्रमाणञ्चेत्येतद् धर्मेऽवधारितम्।" –मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४। "यो धर्मः स चोदनालक्षण, चोदनैव तस्य लक्षणम्।"–शास्त्रदी० १।१।२। उद्धृतमिदम्–आप्तप० पृ० ५७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२। प्रमेयक० पृ० ४०१। स्या० र० पृ० ६३६। (६) यथार्थप्रतीत्यनुपपत्तेः। तुलना–"अपि च वेदस्तद्व्याख्यान वा पुरुषेण पुरुषायोपदिश्यमानमनष्टसम्प्रदायमेवानुवर्तते इत्यत्रापि शपथ शरणम्। आगमभ्रंशकारिणामाहोपुरुषिकया तद्दर्शनविद्वेषेण वा तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणादन्यथारचनासभवात्। अपि चात्र भवान् स्वमेव मुखवर्णं स्ववादानुरागान्नून विस्मृतवान् 'पुरुषो रागादिभिरुपप्लुतोऽनृतमपि ब्रूयादिति नास्य वचन प्रमाणम्' इति। तदिहापि किन्न प्रत्यवेक्ष्यते सभवति न वेति। स एवोपदिशन्नुपप्लवात् वेदवेदार्थं वाऽन्यथाप्युपदिशेदिति। श्रूयन्ते हि कैश्चित् पुरुषैरुत्सन्नोद्धृतानि शाखान्तराणि इदानीमपि कानिचिद् विरलाध्येतृकाणि। तद्वत् प्रचुराध्येतृकाणामपि कस्मिश्चित्काले कथञ्चित्संहारसभवात्। पुन सभावितपुरुषप्रत्ययात् प्रचुरतोपगमनसभावनासभवाच्च। तेषाञ्च पुन प्रतानयितृणा पुरुषाणा कदाचिदधीतविस्मृताध्ययनानामन्येषा संभावनाभ्रंशभयादिनाऽन्यथोपदेशसभवात्। तत्प्रत्ययाच्च

1–न्योन्यवि–आ०।

नच मन्वादीनां सातिशयप्रज्ञत्वात् तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां[1] सातिशयप्रज्ञत्वासिद्धेः। तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्[1], ब्रह्मणो वा स्यात्? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यादविशेषात्। वेदार्थाभ्यासाच्चेत्, ननु वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा अभ्यासः स्यात्? न तावदज्ञातस्य; अतिप्रसङ्गात्। अथ ज्ञातस्य; कुतस्तज्ज्ञप्तिः[2]–स्वतः, अन्यतो वा? स्वतश्चेत्; अन्योन्याश्रयः–सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिंश्च सति तदर्थाभ्यास इति। अथ अन्यतः; तर्हि तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यतः इति अतीन्द्रियार्थदर्शिनो[2]ऽनभ्युपगमे अन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्तिः। अदृष्टमपि न प्रज्ञातिशयप्रसाधकम्, तस्य आत्मान्तरेऽपि सद्भावात्। न तथाविधमदृष्टमन्यत्र मन्वादावेव अस्य संभवादिति चेत्; कुतस्तत्रैवास्य[3] संभवः? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्, स[4] तर्हि ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा वेदार्थस्य अनुष्ठाता स्यात्? अज्ञातस्य चेद्, अतिप्रसङ्गः। ज्ञातस्य चेत्, चक्रकप्रसङ्गः–सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टविशेषसिद्धिः, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति। ब्रह्मणोऽपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सति अतो[5] मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः सिद्ध्येत्। तच्चास्य[6] कुतः सिद्धम्? धर्मविशेषाच्चेत्, स एव चक्रकप्रसङ्गः–सिद्धे हि वेदार्थपरिज्ञानातिशये तत्पूर्वकानुष्ठानविशेषः सिद्ध्येत्, ततः तज्जनितधर्मविशेषः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ[7] च वेदार्थपरिज्ञानातिशयः सिद्ध्येदिति। ततोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तिरेव।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात् लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवा-

---

तद्भक्तानामविचारेण प्रतिपत्तेः बहुष्वप्यध्येतृषु सभावितात् पुरुषाद् बहुल प्रतिपत्तिदर्शनात्। ततोऽपि कथञ्चिद् विप्रलम्भसभवात्। किञ्च, परिमितव्याख्यानृपुरुषपरम्परामेव चात्र भवतामपि शृणुम। तत्र कश्चिद् द्विष्टाज्ञधूर्तानामन्यतमः स्यादपीति अनाश्वास।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।३२२।

(१) तु०–"कुतस्तस्य तादृशः प्रज्ञातिशय? श्रुत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत्, सोऽपि कुत? पूर्वजन्मनि श्रुत्यभ्यासादिति चेत्, स तस्य स्वतोऽन्यतो वा? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यात। तस्यादृष्टवशाद् वेदाभ्यास स्वतो युक्तो न सर्वस्य तदभावादिति चेत्; कुतस्तस्यैव अदृष्टविशेष तादृग्? वेदार्थानुष्ठानाच्चेत्, तर्हि स वेदार्थस्य स्वय ज्ञातस्यानुष्ठाता स्यादज्ञातस्य वापि? न तावदुत्तर पक्ष, अतिप्रङ्गात्। स्वय ज्ञातस्य चेत्, परस्पराश्रय। मन्वादेर्वेदाभ्यासोऽन्यत एवेति चेत्, स कोऽन्य? ब्रह्मेति चेत्, तस्य कुतो वेदार्थज्ञानम्? धर्मविशेषादिति चेत्, स एवान्योन्याश्रय।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९। प्रमेयक० पृ० ४०१। स्या० र० पृ० ६३६। (२) तुलना–"यस्मादेकोऽपि तन्मध्ये नैवातीन्द्रियदृङ्मत.। अनादि कल्पितायेषा तस्मादन्धपरम्परा॥ अन्धेनान्ध समाकृष्ट सम्यग्वर्त्म प्रपद्यते। ध्रुव नैव तथाप्यस्या विफलाऽनादिकल्पना।"–तत्त्वस० का० २३७९-८०। "अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा। तदर्थदर्शिनोऽभावान्म्लेच्छादिव्यवहारवत्।"–न्यायवि० का० ४१७। अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३९। प्रमेयक० पृ० ४०१। स्या० र० पृ० ६३७। तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३६९। (३) प्रज्ञातिशयप्रयोजकस्य अदृष्टस्य। (४) मन्वादि.। (५) ब्रह्मण। (६) ब्रह्मण। (७) धर्मविशेषसिद्धौ।

---

1 अदृष्टत्वात् श्र०। 2–प्ति स्वतश्चेदन्यो–आ०।

क्यार्थप्रतिपत्तेरपि प्रसिद्धिः अश्रुतकाव्यादिवत्, अतो न वेदार्थप्रतिपत्तौ अतीन्द्रियार्थदर्शिना किञ्चित् प्रयोजनम्, इत्यप्यपेशलम्, [१]लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि अनेकार्थत्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणा[२]दिभ्यस्[३]तन्नियमः; ते[४]षामप्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेन अग्न्यादिशब्देन अविशिष्टत्वाद् वैदिकस्य अग्न्यादिशब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिः; तर्हि [2]पौरुषेयेणा[५]पि ते[६]न अविशिष्टत्वात् पौरुषेयोऽप्यसौ[७] कथन्न स्यात्? लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्य अर्थवत्त्व पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्, तत्र अयं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति? [८]उभयमपि गृह्णीयात् जह्याद्वा। न[९][3] च लौकिकवैदिकशब्दयोः स्वरूपाऽविशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषोऽस्ति, यतो वैदिका अपौरुषेयाः शब्दा लौकिका[4]स्तु पौरुषेयाः स्युः। [१०]ततो ये नररचितरचनाऽविशिष्टाः ते पौरुषेयाः यथा अभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टाः जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचित[5]वचनरचनाऽविशिष्टञ्च वैदिकं पदवाक्यादिकमिति ॥ छ ॥

किं पुनः पदं वाक्यञ्च इति चेत्? उच्यते–वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः पदवाक्ययोर्लक्षणम्– समुदायः पदम्[११]। पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो

(१) तुलना–"उत्पादिता प्रसिद्धयैव शङ्का शब्दार्थनिश्चये। यस्मान्नानार्थवृत्तित्व शब्दाना तत्र दृश्यते ॥ अन्यथासभवाभावान्नानाशक्ते. स्वय ध्वने। अवश्य शङ्कया भाव्य नियामकमपश्यताम् ॥ सर्वत्र योग्यस्यैकार्थद्योतने नियमः कुतः। ज्ञाता वाऽतीन्द्रिया केन विवक्षावचनादृते ॥"–**प्रमाणवा० ३। ३२३,२४,२६। प्रमेयक० पृ० ४०२। स्या० र० पृ० ६३७।** (२) आदिपदेन संसर्गादयो गाह्या.। तथा चोक्तम्–"संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थ प्रकरण लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि ॥ सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्तिः स्वरादय। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव।"–**वाक्यप० २।३१७-१८।** (३) इष्टार्थनियम। (४) प्रकरणादीनामपि। तुलना–"तेपामप्यनेकधा प्रवृत्तेः द्विसन्धानादिवत्।"–**प्रमेयक० पृ० ४०२।** "तेपामप्यनेकताप्रवृत्तेस्त्रिसन्धानादिवत।"–**स्या० र० पृ० ६३७।** (५) पौरुपेयत्वदृष्टचापि। (६) लौकिकशब्देन। (७) वैदिकशब्द। (८) तात्पर्यम् पौरुपेयत्वञ्च। (९) "अथ स्यादस्त्येव तयो स्वभावभेद इत्याह–न चात्रेत्यादि। अत्र जगति लौकिकवैदिकयोर्वाक्ययोः स्वभावनानात्व [नच] पश्याम.। असति तस्मिन् स्वरूपभेदे तयो लौकिकवैदिकवाक्ययो सामान्यस्यैव तुल्यरूपस्यैव वर्णानुक्रमलक्षणस्य दर्शनाद् एकस्य लौकिकवैदिकस्य कचिद् धर्मं विवेचयन् पौरुपेयत्वमपौरुपेयत्व वा विभागेन व्यवस्थापयन् पुरुप आशक्यव्यभिचारवाद क्रियते।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४१।** "नच लौकिकवैदिकशब्दयो शब्दरूपाविशेपे सकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुपेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेपो विद्यते यतो वैदिका अपौरुपेया स्यु.।"–**प्रमेयक० पृ० ४०२। सन्मति० टी० पृ० ३९। स्या० र० पृ० ६३७।** (१०) दृष्टव्यम्–पृ० ७२९ टि० १४। (११) तुलना–"सुप्तिङन्त पदम्"–**पाणिनिव्या० १।४।१४।** "ते विभक्त्यन्ता पदम्"–**न्यायसू० २।२।५९। नाटचशा० १४।३९।** "पदं पुनर्वर्ण-

1–त्ते आ०। 2 **पौरुषेयत्वस्यापि** ततोऽवशि–ब०। 3 **न लौकि**–आ०, ब०। 4–**काश्च पौरु**–ब०। 5–**तरचना**–आ०, ब०।

वाक्यमिति। नन्वेवं कथमिदं साधनवाक्यं घटते–'यत् सत् तत्सर्वं परिणामि यथा घटः संश्च शब्दः' इति, 'तस्मात्परिणामि' इत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः ? इत्यचोद्यम्; कस्यचित् प्रतिपत्तुः तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः। यस्य हि प्रतिपत्तुः 'तस्मात् परिणामि' इत्यत्र आकाङ्क्षाक्षयः तदपेक्षया तद् वाक्यं भवति उक्तवाक्यलक्षणसद्भावात् नान्यापेक्षया। निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तृधर्मः वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मः तस्याऽचेतनत्वात्। स चेत् प्रतिपत्ता तावता अर्थं प्रत्येति किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसङ्गात् न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः स्यात्। तथा च वाक्याभावात् न क्वचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित् स्यात्। तामिच्छता यस्य

समूहः"–न्यायवा० पृ० १। न्यायमं० पृ० ३६७। "शक्तं पदम्।"–मुक्ता० का० ८१। "वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः"–सा० द० २।५। "व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः निरुक्तनिघण्ट्वादिभिः निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तौ पदम्।"–काव्यमी० पृ० २१। "वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्।"–प्रमेयक० पृ० ४५८। "वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति।"–प्रमाणनय० ४।१०।

(१) तुलना–"आख्यातं साव्ययं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्–अपर आह–आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि। एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्।"–पात० महाभा० २।१।१। "तिङ्सुबन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारकान्विता।"–अमरको०। "पूर्वपदस्मृत्यपेक्षः अन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानः विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम्।"–न्यायवा० पृ० १६। "यावद्भिः पदैरर्थपरिसमाप्तिः तदेकं वाक्यम्।"–वादन्याय पृ० १०८। "पदसमूहो वाक्यमिति।"–न्यायमं० पृ० ६३७। न्यायवा० ता० पृ० ४३४। "अथात्र प्रसङ्गान्मीमांसकवाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह–साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्। कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥"–वाक्यप० २।४। "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४५८। प्रमाणनय० ४।१०। "सुप् साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्। सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादिदोषतः॥ यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयताकान्वयबोधं प्रत्यनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृशशब्दस्तोमः तथाविधार्थं वाक्यम्।"–शब्दश० श्लो० १३। "वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।"–सा० द० २।१। "पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम्।"–काव्यमी० पृ० २२। "वाक्यं विशिष्टपदसमुदायः। यदाह–पदानां संहतिर्वाक्यं सापेक्षाणां परस्परम्। साध्याहारा कल्पनास्तत्र पदानामनु यथायथम्।"–न्यायाव० टी० टि० पृ० ८। (२) "ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घटः संश्च शब्दः इति साधनवाक्यम्, तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयम्, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः, निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तृधर्मोऽयं वाक्येष्वध्यारोप्यते न पुनः शब्दस्य धर्मः तस्याचेतनत्वात्। स चेत्प्रतिपत्ता तावताऽर्थं प्रत्येति किमिति शेषमाकाङ्क्षति ?"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८५। प्रमेयक० पृ० ४५८। स्या० र० पृ० ६४१। (३) सौगतस्य। (४) सौगतापेक्षया। (५) पञ्चावयववादिनैयायिकापेक्षया। (६) उपनय। (७) षष्ठावयवापेक्षा। (८) तन्निराकाङ्क्षत्वसन्निधानाभावे न वाक्यपरिनिष्ठिति।

1–तत्पर्यन्त श्र०।

प्रतिपत्तुर्धर्मवत्सु परस्परापेक्षेषु तेषु पदेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिः प्रतिपत्तव्या। एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षस्यापि पदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवत् वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्।

एतेन परैरुक्तं वाक्यस्य लक्षणाष्टकम्–

"आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥ पदमाद्यं पृथक्सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि। वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥"

[वाक्यप० २।१-२] इति

तदव्याख्यानम्; यत्तावदाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात्? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; पदान्तरनिरपेक्षस्याख्यातस्य पदत्वेन वाक्यत्वानुपपत्तेः, अन्यथा आख्यातपदाभावः स्यात्। द्वितीयपक्षेऽपि क्वचित् निरपेक्षोऽसौ, न वा? प्रथमपक्षे कैवल्यासिद्धिः, अनेकपदस्यैव वाक्यत्वस्य इष्यमाणत्वात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; पदान्तरसापेक्षस्याख्यातस्य क्वचिदनपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थपरिसमाप्त्या वाक्यत्वायोगात् अर्द्धवाक्यवत्।

---

(१) "प्रकरणादिना वाक्यार्थस्यावगतेर्न वा प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षस्य पदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिवत् वाक्यत्वसिद्धेः।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४५८। स्या० र० पृ० ६४२। (२) वैयाकरणैः भर्तृहरिप्रभृतिभिः। (३) आख्यातं केवलं वाक्यमिति आचार्याणाम्। तत्राख्यातशब्दो जातिः संघातवर्तिनी एको बुद्ध्यनुसंहृतिरिति पञ्च मतानि। उत्तरार्धे तु आद्यपदं, सर्वपदं साकाङ्क्षमिति त्रीणि मतानि। इत्यादि वाक्यमिति व्याख्यातम्। आख्यातपदं पदमाद्यं पृथक्सर्वं पदं साकाङ्क्षमिति विभागः। "इत्यष्टधैव वाक्यविकल्पाः। मतभेदेन भेदकम् इति बोद्धव्यम्।"–वाक्यप० टी० २।१-२। 'आख्यातं संघातो'–मी० श्लो० वाक्या० पृ० ८३०। (४) बुद्ध्यनुसंहृतिः–वाक्यप०, मी० श्लो० वाक्या० पृ० ८३०। स्या० र० पृ० ६४७। प्रकरणादि–अष्टसह० पृ० २८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५९। सन्मति० टी० पृ० १९८ टि०। (५) पदमाद्यं पृथक्सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि–वाक्यप०। 'पदमाद्यं पृथक्सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि'–मी० श्लो० वाक्या० पृ० ८३०। स्या० र० पृ० ६४७। प्रकरणा०–अष्टसह० पृ० २८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५९। (६) 'न्यायवादिनाम्'–वाक्यप०। 'न्यायवादिनाम्'–मी० श्लो० वाक्या०, स्या० र०। 'न्यायवेदिनाम्'–अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो०, प्रमेयक०। (७) [illegible]–वाक्यप० टी० २।३२७। "तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वे अन्यथा आख्यातपदाभावप्रसङ्गात्। पदान्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात् प्रकृतार्थपरिसमाप्तेः। निराकाङ्क्षस्य तु पदसमुदायस्य वाक्यत्वम्।"–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४५९। (८) वैयाकरणः। (९) उक्तदूषणम्।

---

१ सत्यभामावत् ब०। २ प्रतिपादितं नास्ति आ०। ३ वाक्यलक्षण–ब०।

'सङ्घातो वाक्यम्' इत्यत्रापि वर्णानाम्, पदानां वा सङ्घातो वाक्यं स्यात्? प्रथमपक्षे पदाय दत्तो जलाञ्जलिः। द्वितीयपक्षे तु देशकृतः, कालकृतो वा पदानां सङ्घातः स्यात्? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषामेकस्मिन् देशे सकृदवस्थित्यभावतो देशकृतसंघा[ता]संभवात्। द्वितीयपक्षे तु पदेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा? न तावद्भिन्नोऽनंशः, तथाविधस्यास्याप्रतीतेः, वर्णान्तरवत् सङ्घातविरोधाच्च। अथ तेभ्योऽभिन्नोऽसौ, किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा? यदि सर्वथा; कथमसौ सङ्घातः सङ्घातिस्वरूपवत्? अन्यथा प्रतिपदं सङ्घातप्रसङ्गः। न चैकं पदं सङ्घातो नाम अतिप्रसङ्गात्। अथ कथञ्चित्, तदा जैनमतप्रसङ्गः, परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदसमूहरूपतामापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसङ्घातस्य कथञ्चिद्वर्णेभ्यो भिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात्। साकाङ्क्षाऽन्योन्यानपेक्षाणां तु तेषां वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुषङ्गः।

एतेन 'जातिः सङ्घातवर्त्तिनी वाक्यम्' इत्यपि नोत्सृष्टम्, निराकाङ्क्षाऽन्योन्या-

(१) सघातस्य स्वरूपम्–"केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते। वाक्यस्य तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्॥ सम्बन्वे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते। वाक्यार्थमेव त प्राहुरनेकपदसश्रयम्॥ केवल पद यस्यैवार्थस्य वाचकम् वाक्यस्यमपि तमेवाभिदधाति। तत समुदये पदानां परस्परान्वये पदार्थवशाद् यदाधिक्य ससर्ग स वाक्यार्थ.। उक्तञ्च–यदत्राधिक्य वाक्यार्थ स इति। अनेकपदसंश्रयमित्यनेन सघातो वाक्यमिति दर्शितम्।"–वाक्यप० टी० २।४२। "यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित्। अर्थवन्त समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते॥"–वाक्यप० २।५५। (२) तुलना–"सघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणा पदानामनपेक्षाणा वा? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वे अस्मत्पक्षसिद्धि साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोध। द्वितीयविकल्पे अतिप्रसङ्ग।"–अष्टसह० पृ० २८५। स्या० र० पृ० ६४४। (३) "देशकृत कालकृतो वा वर्णाना सघात स्यात्।"–प्रमेयक० पृ० ४५९। (४) पदानाम्। (५) "न वर्णेभ्यो भिन्न सघातोऽनश प्रतीतिमार्गावतारी सघातत्वविरोधाद् वर्णान्तरवत्। नापि ततोऽनर्थान्तरमेव सघात, प्रतिवर्णसघातप्रसङ्गात्। न चैको वर्ण मघातो भवेत्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६। प्रमेयक० पृ० ४५९। (६) पदानाम्। (७) पदान्तरसाकाङ्क्षत्वे वाक्याऽपरिसमाप्ति, अन्योऽन्यानपेक्षत्वे तु पदत्वमेव स्यान्न वाक्यत्वमिति। (८) "अथ जाति सघातवर्तिनीत्युद्दिष्टस्य जातिस्फोटस्यापि दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण स्फुटीकरणायाह–यथा क्षेपविशेषेऽपि कर्मभेदो न गृह्यते। आवृत्तौ व्यज्यते जाति कर्मभिर्भ्रमणादिभि॥ वर्णवाक्यपदेष्वेव तुल्योपव्यञ्जना श्रुति। अत्यन्तभेदे तत्त्वस्य सरूपेव प्रतीयते॥ इह भ्रमणलक्षणा कर्मजातिर्यथा विशिष्टप्रयत्नजनितेन क्षेपविशेषेणाभिव्यक्ता प्रत्येकपरिसमाप्तत्वात्। न च पार्श्वस्थेन सा विज्ञायते। भ्रमणानामावृत्तौ तु भ्रमण भ्रमण प्रति प्रतिपत्रा सा गृह्यते। एव वर्णपदवाक्येषु श्रुतिरभिव्यञ्जको ध्वनिरत्यन्तभेदे तत्त्वस्य वर्णपदवाक्यस्फोटलक्षणस्य साऽभिव्यञ्जिका सरूपेव प्रतीयते, परमार्थतो भिन्नापि सती। कीदृशी? तुल्योपव्यञ्जनेति। तुल्य सदृश उपव्यञ्जन स्थानकरणाभिघातलक्षणो यस्या सा तथेति। तेन भिन्नप्रयत्नोदीरितध्वन्यभिव्यक्तोऽय जातिस्फोटो विलक्षण एवेति वोद्धव्यम्। युक्तञ्चैतत्। यथा निरंशस्यास्य स्फोटस्य पूर्वापरभाव उपाधिकृतो न स्वतो नित्यत्वादिति।"–वाक्यप०, टी० २।२०, २१। (९) तुलना–"निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसघातवर्तिन्या सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्।"–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४६०।

1–कृतक्रमासंभ–आ०, ब०। 2–धस्याप्रतो–आ०। 3 कथञ्चिद्धर्मेभ्यो ब०।

पेक्षपदसङ्घातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चित्ततोऽभिन्नायाः जातेर्वाक्यत्वघटनात्, अन्यथा सङ्घातवाक्यपक्षोक्ताऽशेषदोषानुषङ्गः।

'एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम्' इत्यपि मनोरथमात्रम्, तस्य अप्रमाणकत्वात्। तदप्रमाणकत्वञ्च शब्दस्फोटग्राहकप्रमाणानां निषेत्स्यमानत्वात् सुप्रसिद्धम्।

'क्रमो वाक्यम्' इत्येतत्तु सङ्घातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तद्दोषेणैव दुष्टं[1] द्रष्टव्यम्।

'बुद्धिर्वाक्यम्' इत्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात्? प्रथमकल्पनायां

(१) संघातात्। (२) "स्फोटश्च द्विविध.–बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविध.। तत्र जातिलक्षणस्य जाति सघातवर्तिनीति, व्यक्तिलक्षणस्यैकोऽनवयव शब्द इति। आभ्यन्तरस्य तु बुद्ध्यनुसहृतिरित्यनेनोद्देश।"–वाक्यप० टी० २।२। "टीकाकारश्चामुमेव पक्ष सूत्रकाराभिप्रायसमाश्रयणेन युक्तियुक्त मन्यमानो वहीरूप आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः स्फोटलक्षण एव वाक्यमिति क्रमेण व्याजिहीर्षु चित्रज्ञानचित्ररूपदृष्टान्तप्रदर्शन पूर्वमुपक्रमते। तत्र चित्रबुद्धिदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमह–यथैक एव सर्वार्थप्रत्यय प्रविभज्यते। दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा॥ चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनै। नीलादिभि समाख्यान क्रियते भिन्नलक्षणै॥ तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः। शब्दान्तरै समाख्यान साकाङ्क्षैरनुगम्यते॥ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति। विभागै. प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते॥"–वाक्यप० २।७-९,१३। "नित्यत्वे समुदायाना जातेर्वा परिकल्पने। एकस्यैवार्थतामाहु वाक्यस्याव्यभिचारिणीम्॥"–वाक्यप० २५७। (३) "श्रोत्रबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिंगाभावात्"–अष्टसह० पृ० २८५। (४) "क्रमपक्ष व्याख्यातुमाह–सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिता। ते क्रमादनुगम्यते न वाक्यमभिधायकम्॥ क्रमव्यतिरेकेण न शब्दात्मकं न वाक्यमभिधायकमस्तीत्युच्यते। शब्दाना क्रममात्रे च नान्य शब्दोऽस्ति वाचकः। क्रमो हि धर्म कालस्य तेन वाक्यं न विद्यते॥ वर्णाना च पदानाञ्च क्रममात्रनिवेशिनी। पदाख्या वाक्यसज्ञा च शब्दत्व नेष्यते तयो॥ अनर्थकान्युपायत्वात्पदार्थेनार्थवन्ति वा। क्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्षणम्॥"–वाक्यप० २।५०-५२,५६। (५) तुलना–"वार्य पदक्रमो वाक्य यथा वर्णक्रम पदम्।"–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ५३। "वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् पदरूपतामापन्नाना वर्णविशेषाणा क्रमो वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परापेक्षाणा निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, क्रमभुवा कालप्रत्यासत्तेरेव समुदायत्वात्, सहभुवामेव देशप्रत्यासत्ते समुदायत्वव्यवस्थिते। अथ साकाङ्क्ष; तदा न वाक्यमर्धवाक्यवत्। परस्परनिरपेक्षाणा तु क्रमस्य वाक्यत्वेऽतिप्रसङ्ग एव।"–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४६०। स्या० र० पृ० ६४४। (६) "इदानीमन्तरे वाऽनवयव बोधस्वभाव शब्दार्थमयं निर्विभाग शब्दतत्त्वमिति यद्गीत तदेव नादैर्वहि प्रकाशित वाक्यमाहुराचार्या इत्यनतर बुद्ध्यनुसहृतिरित्युद्दिष्ट व्याख्यातुमाह–यदन्त शब्दतत्त्व तु नादैरेक प्रकाशितम्। तदाहुरपरे शब्द तस्य वाक्ये तथैकता॥ अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाश्यते। एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ॥ प्रकाशकप्रकाश्यत्व कार्यकारणरूपता। अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥"–वाक्यप० २।३०-३२। (७) तुलना–"बुद्ध्या न चोपसहर्तु क्रमो निष्कृष्य शक्यते। पदान्येव हि तद्वन्ति वर्तन्ते श्रोत्रबुद्धिवत्। तावत्स्वेव पदेष्वन्य क्रमोऽन्यश्च प्रतीयते। तत्र यावत्क्रम भेदो वाक्यार्थस्य प्रसज्यते। किञ्च, वर्णक्रमस्य पदत्व युज्येतापि, स ह्यर्थप्रतीत्यौपयिक क्रमान्तरे अर्थप्रतीत्यभावात्। पदक्रमस्य तु वाक्यार्थप्रत्ययानौपयिकस्य कथं वाक्यत्वम्? औपयिकत्वे वा क्रमभेदे वाक्यार्थभेद स्यादित्याह तावत्सु इति।"–मी० श्लो० न्यायर० वाक्या० श्लो० ५३-५५। "बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्य द्रव्यवाक्य वा?"–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४६०।

1 तद्दुष्टं श्र०, ब०।

सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्य अन्त्यवर्णश्रवणानन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतोर्बुद्ध्यात्मनो भाववाक्यस्य अस्माभिरपीष्टत्वात्। द्रव्यवाक्यरूपतां तु बुद्धेः कः सुधीः श्रद्दधीत[1] प्रतीतिविरोधात् ?

एतेन 'अनुसंहृतिर्वाक्यम्' इत्यपि चिन्तितम्, यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य [2]चेतसि परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात्।

'आद्यं पदमन्त्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद् भिद्यते, परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा [3]पदस्य वार्त्ताप्युच्छिद्येत[4]।

येऽपि मन्यन्ते–पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते–

(१) "संहृतसकलक्रमस्यैकस्यादेशप्रदेशत्वेऽप्यन्तरात्माऽन्तर्यामीत्येवमाख्यायमानस्य प्रतिप्राणिवृत्तेः शब्दतत्त्वस्याक्षरचिह्नादिभिरिवाऽतथाभूतैः क्रमवद्भिर्भागैर्योऽस्य बुद्धेरनुसंहारः क्रमशः पूर्वपूर्वभागग्राहिणीभिः बुद्धिभिर्जनितो यः संस्कारस्तः उपन्नस्य स्मरणस्य बलादन्त्यवर्णभागग्रहणतुल्यकालः स वाक्यमिति।"–स्या० र० पृ० ६४६। (२) तुलना–"भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोऽभीष्टत्वात्।"–अष्टसह० पृ० २८५। प्रमेयक० पृ० ४६०। (३) "नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना। स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते॥–साधनं साध्यञ्च परस्परं नियतमेव, केवलमाकाङ्क्षादिवशादितरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नेव प्रकाशते इत्याक्षिप्तपदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्, पदार्थाश्च वाक्यार्थ इति अव्यतिरिक्त संघातपक्षोऽयम्। गुणभावेन साकाङ्क्षं तत्र नाम प्रवर्तते। साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते॥"–वाक्यप० २।४८-४९। (४) तुलना–"एवमाद्यन्तसर्वेषां पृथक् संघातकल्पने। अन्योऽन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति वाक्यता॥ आद्यं यदि पदं सर्वैः संस्क्रियेत विशेषतः। ततस्तदेव वाक्यं स्यादन्यश्च द्योतको गुणः॥ एवमन्त्येषु सर्वेषु पृथग्भूतेष्ववस्थितम्। स्वतन्त्रेषु हि वाक्यत्वं कथञ्चिन्नोपलक्षितम्॥"–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ४९-५१। "इत्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद् भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः।"–अष्टसह० पृ० ३८५। प्रमेयक० पृ० ४६०। स्या० र० पृ० ६४६। (५) मीमांसकाः। "नानपेक्ष्य पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम्। कुतः ? प्रमाणाभावात्। न च किंचन प्रमाणमस्ति येन प्रमिमीमहे। न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्काररहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽर्थान्तरे वर्तितुमिति। पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तः वाक्यार्थं गमयन्ति। कथम् ? यत्र हि शुक्ल इति वा कृष्ण इति गुणः प्रतीतो भवति, भवति खल्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम्। तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति। सम्पत्स्यत एषा यथा सङ्कल्पितोऽभिप्रायः, भवष्यति विशिष्टार्थसंप्रत्ययः। विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थः।"–शाबरभा० १।१।२५। "साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥ वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥"–मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३४२–४३। "तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैः लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते।"–शास्त्रदी० पृ० ६०४। "तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु। पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संल्लक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्॥"–न्याय० मा० पृ० १०२।

1–धीति विरो–ब०। 2 चैतस्य परि–श्र०। 3 पदवार्त्ता–श्र०। 4–द्यते आ०।

"पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावभावतः [1]।" [मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११]

"पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थितः ।" [मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६]

इत्यभिधानात्; तैरपि विवक्षितपदानामन्योन्यापेक्षाणां पदान्तरानाकाङ्क्षाणां वाक्यार्थ-प्रतिपत्तिहेतुत्वमुच्यते, तद्विपरीतानां वा ? तत्र उत्तरपक्षे [2]अतिप्रसङ्गः । प्रथमपक्षे तु [3]अन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेन अस्मदुक्तवाक्यलक्षणानुसरणमेव ।

किञ्च, [4]वाक्यार्थः पदार्थादन्यः, अनन्यो वा ? यदि अनन्यः, तदा पदार्थ एवासौ न वाक्यार्थः । तत्रैव 'वाक्यार्थः' इति नामकरणे [5]स्वकम्बलस्य 'कूर्दालिका' इति नामकृतं [2] स्यात् । अथान्योऽसौ क्रियाकारकसंसर्गरूपः; ननु तथाभूतोऽसौ किं नित्यः, अनित्यो वा ? यद्यनित्यः, किं विवक्षितपदार्थैर्जन्यते, पदार्थान्तरैर्वा ? पदार्थान्तरोत्पाद्यत्वे स्वसिद्धान्तविरोधः । वि[6]वक्षितपदार्थोत्पाद्यत्वे त एव उत्पादकाः त एव ज्ञापकाः स्युः, तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ? प्रथमकल्पनायाम् असति वाक्यार्थे मेये क[7]ं ते [8]ज्ञानमुत्पादयेयुः ? उत्पादयतां वा, तेषां न तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविद्यमानविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवत् । अथ असन्तमपि [9]तं कर्त्तव्यतया ते प्रतिपादयन्ति तेनायमदोषः; ननु [3]किंस्वरूपेयं तत्कर्त्तव्यता नाम[10]–भावरूपा, अभावरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा व ? यदि भावरूपा, [4]तदा विद्य-

(१) "सिद्धान्तमाह–अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न न । पदार्थाना तु मूलत्व दृष्ट तद्भावभावत । सत्य न वाचक वाक्यं वाक्यार्थस्योपपद्यते ।। यद्यपि प्रत्येक पद संहतानि वा साक्षान्न मूल तथा जाति सम्बन्धज्ञानं सावयवनिरवयवाक्यानि तथापि पदार्था पदै प्रत्यायिता. प्रत्यासत्त्यपेक्षया योग्यत्वसनाथा मूलं भविष्यन्ति, तद्भावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भावादिति ।"–मी० श्लो० न्यायर० वाक्या० श्लो० ११०–११ । उद्धृतोऽयम्–सन्मति० टी० पृ० ७४३ । 'तद्भावनावत.'–प्रमेयक० पृ० ४६१ । (२) अन्योन्यानपेक्षत्वे पदत्वमेव स्यान्न वाक्यत्वम्, पदान्तराकाङ्क्षत्वे वाक्याऽपरिसमाप्तिः । (३) 'तेप्यन्धसर्पबिलप्रवेश'–प्रमेयक० पृ० ४६१ । (४) तुलना–"यद्यसौ पदार्थादभिन्न तदा पदार्थ एव स्यान्न वाक्यार्थ तथा च कुत पदार्थगम्यता ? अथ क्रियाकारकससर्गरूप पदार्थादर्थान्तरं वाक्यार्थं, नन्वसावपि यद्यनित्य तदा कारकसपाद्य, पदार्थसपाद्यो वा ?"–सन्मति० टी० पृ० ७४२ । (५) "स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्र स्यात् ।"–अष्टसह० पृ० ९ । (६) "पदार्थोत्पाद्यत्वेऽपि य एव पदार्थास्तस्योत्पादकास्त एव यदि ज्ञापकाः, तदा पूर्वं किं ज्ञापका उत उत्पादका इति वक्तव्यम् ।"–सन्मति० टी० पृ० ७४२ । (७) विवक्षितपदार्थाः । (८) क्रियाकारकससर्गम् । "भावनैव हि वाक्यार्थ सर्वत्राख्यातवतया । अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता । पदार्थाहितसस्कारचित्रपिण्डप्रसूतया । पदार्थपदबुद्धीना संसर्गस्तदपेक्षया ।।"–मी० श्लो० वाक्य० श्लो० ३३०–३३ । (९) "कर्तव्यतया ते तं ज्ञापयन्तीति चेन्न; तस्यामपि भावाभावोभयानुभयविकल्पानतिक्रमात ।"–सन्मति० टी० पृ० ७४२ । (१०) "आद्यविकल्पे तत्कर्तव्यताया भावस्वभावतया विद्यमानवाक्यार्थविषया चोदना स्यात, तथा च विद्यनोपलम्भनत्व-सतसम्प्रयोगजत्वोपपत्तेः अध्यक्षवन्न भावना अर्थविषया स्यात् ।"–सन्मति० टी० पृ० ७४२ ।

1 तद्भावतः श्र० । 2 कृते श्र० । 3–किंरूपेयं ब०, श्र० । 4 तदा विद्यमानार्थ–श्र०, तथा विद्यमानार्थ–ब० ।

मानरूपार्थगोचरा चोदना प्रमा । न च तत्रास्याः प्रामाण्यमिष्टम्; अनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । विद्यमानस्य कर्तव्यता च स्ववचनविरुद्धा । अभावरूपतायामपि एतदेव दूषणम्, अस्यापि स्वरूपेणाविद्यमानत्वात् । तद्रूपस्य स्वर्गादिसाधनस्य कर्तव्यताविरोधात् । अभावे चोदनायाः प्रामाण्यानभ्युपगमाच्च । उभयरूपतापि अनेनैव प्रत्युक्ता । अनुभयरूपतायां तु चोदनायां निर्विषयत्वादप्रामाण्यमेव स्यात् । न च अनुभयरूपता एकत्रोपपन्ना; विधिप्रतिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यंभावित्वात् । अथ पुरुषमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति; तर्हि विद्यमानविषयत्वात् तत्रास्याः प्रामाण्यानुपपत्तिः । एतेन नियोगवाक्यार्थपक्षः प्रत्युक्तः, विद्यमानार्थविषयतया अप्रामाण्यानुषङ्गाविशेषात् ।

किञ्च, प्रसिद्धे पदे वाक्ये वा पदार्थवाक्यार्थाभिव्यक्तिर्नित्यत्वे युक्ता, तच्च तत्र प्रसिद्धम् । तद्धि वर्णेभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात् ? यद्यभिन्नम्, तदा वर्णा एव, पदवाक्यलक्षणमेव वा । भेदेऽपि तद् दृश्यम्, अदृश्यं वा ? अदृश्यत्वे ततोऽर्थप्रतीतिर्न स्यात् । अज्ञातात् (ज्ञाता) पदादेरर्थप्रतीतावतिप्रसङ्गात्, प्रतीत्यनुपरमानुषङ्गाच्च । नापि दृश्यम्; वर्णव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात् । नहि देवदत्तादिवर्णेषु तद्व्यतिरिक्तं निरंशमेकं पदं वाक्यं चोपलभामहे ।

किञ्च, तत् पदं वाक्यं वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते, वर्णद्वारेण वा ? न तावत् स्वातन्त्र्येण, वर्णाऽश्रवणेऽपि पदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । वर्णद्वारेणापि सावयवस्यास्य प्रतीतिः स्यात्, निरवयवस्य वा ? सावयवत्वे प्रागुक्तमेव पदवाक्यलक्षणमङ्गीकृतं स्यात्, अन्योन्यापेक्षाणां वर्ण-पदान्तरानपेक्षाणां कालप्रत्यासत्तिलक्षणस्य समूहस्यैव सावयवपदवाक्यरूपतोपपत्तेः । अथ निरवयवम्; तत्किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्यः प्रतीयते, व्यस्तेभ्यो वा ? न तावत्समस्तेभ्यः, उच्चरितप्रध्वंसिना तेषां सामस्त्यासंभवात् । नापि व्यस्तेभ्यः, प्रथमवर्णपदश्रवणकालेऽपि सकलपदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गतः शेषवर्णपदोच्चा-

(१) विद्यमानार्थे । (२) चोदनायाः । (३) विद्यमानोपलम्भकत्वेन सम्प्रयोगजत्वापत्त्या प्रत्यक्षत्वमेव स्यात् । (४) "अभावस्य तु चोदनाया गोचरत्वे अनुपयोगोऽपि तेन रूपेण विद्यमानत्वात् कर्तव्यत्वासंभवात् । तथाभावविषय चोदनाया परं प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, अभावप्रमाणविषयत्वाच्च अभावस्य, तद्विषयत्वे चोदनाया अनुवादत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च ।"–सन्मति० टी० पृ० ७४२। (५) अभावस्यापि । (६) अविद्यमानस्य । (७) विद्यमानार्थविषयत्वेन चोदनायाः प्रत्यक्षादिवत्सार्थगोचरत्वात् अप्रामाण्यप्रसक्तेः ।"–सन्मति० टी० पृ० ७४२ । (८) "अथ नित्यो वाक्यार्थं पदार्थं प्रतिपादयेत्, तत्रैव विद्यमानार्थगोचरत्वं चोदनायाः स्यात्, तथा च त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका चोदनेत्यभ्युपगमव्याघातः ।"–सन्मति० टी० पृ० ७४२ । (९) प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतत्वात् अपूर्वार्थबोधकत्वाभावात् प्रामाण्यानुपपत्तिरिति भावः । (१०) पदम् । (११) अज्ञातपदस्य सुप्तमूर्च्छितादेरप्यर्थप्रतीतिः स्यात् । (१२) अज्ञातज्ञापकादर्थप्रतीतौ हि सत्यामपि एकपदार्थप्रतीतौ अपरस्मादज्ञातपदात् पुनरर्थप्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रतीत्यनुपरमः । (१३) पदस्य । (१४) पदस्य वाक्यस्य वा । (१५) वर्णानाम् ।

1 अतान्यातान् ज्ञापका–आ०, अज्ञायापका–श्र० । 2–दर्थ प्र–ब० । 3–तावप्यतिप्र–ब०, श्र० । 4 पदवाक्य श्र० । 5 चोपलभा–ब०, योपलभा–श्र० । 6–तीयेत ब० ।

रणवैयर्थ्यप्रसक्तेः। अथ सकलवर्णसंकारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या[1] वाक्यावधारणमिष्यते; नन्वसौ बुद्धिः किं स्मरणम्, उत अध्यक्षम् ? न तावत् स्मरणम्; अ[1]गृहीताऽन्त्यवर्णग्राहकत्वात्। नापि प्रत्यक्षम्; अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात्[2]। अथ पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रह[3]णाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं जन्यते, ते[4]नावधारणम् ; नन्वेतत् प्रमाणम, न वा ? प्रमाणञ्चेत् ; किं प्रत्यक्षाद्यन्यत[2]मत्, प्रमाणान्तरं वा ? न तावत् तदन्तरम्; प्रमाणसंख्याव्याघातप्रसङ्गात्। नापि प्रत्यक्षाद्यन्यत[3]मत्, तत्र[5] तद[6]न्यतमरूपतायाः प्रत्यभिज्ञानविचारावसरे प्रतिव्यूढत्वात्[7]। अथ कल्पनाज्ञानमेवेदं[4] न प्रमाणम्; कथमतस्तत्त्वसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? वाक्यस्य वा काल्पनिकत्वानुषङ्गाद् वास्तवत्वानुपपत्तिः। ततो यथोक्तलक्षणमेव पदं वाक्यं वा अभ्युपगन्तव्यम् तस्यैव प्रसाधितप्रामाण्ये प्रत्यभि[8]ज्ञाने प्रतिभासनादिति।

स्फोट एवार्थप्रतिपादको न तु वर्णा इति वैयाकरणादीनां पूर्वपक्षः—

ननु वर्णपदवाक्यानामर्थप्रतिपादकत्वाभावात्[5] तल्लक्षणप्रणयनमनुपपन्नम्; स्फोट[9] एव हि अर्थप्रतिपादको न वर्णाः। [10]ते हि समस्ताः, व्यस्ता वा तत्प्रतिपादकाः स्युः ? यदि व्यस्ताः, तदा एकेनापि वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तेः उत्पादितत्वात् द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यम्। अथ समस्ताः; तन्न, क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषां सामस्त्यासंभवात्। न च

---

(१) पूर्ववर्णबुद्ध्यगृहीतस्य अन्त्यवर्णस्य ग्राहकत्वान्नास्य स्मृतिरूपता, पूर्वानुभवानुसारित्वात्स्मृते। (२) प्रत्यक्षस्य च विद्यमानार्थग्राहकत्वात्। (३) प्रत्यक्ष। (४) विकल्पज्ञानेन। (५) प्रत्यक्षस्मरणजनितविकल्पज्ञाने प्रत्यभिज्ञानरूपे। (६) प्रत्यक्षाद्यन्यतरूपताया। (७) पृ० ४१६। (८) पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णप्रत्यक्षजनिते। (९) "पद पुनर्नादानुसहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति, वर्णा एकसमयासभवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मान ते पदमसस्पृश्यानवस्थाप्य आविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते। वर्ण पुनरकैक पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचित सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद् वैश्वरूप्यमिवापन्न पूर्वश्चोत्तरेण उत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येव बहवो वर्णा क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौगारविसर्जनीया सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति, नदेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसहृतध्वनिक्रमाणा य एको बुद्धिनिर्भासः तत्पद वाचक वाच्यस्य सकेत्यते। तदेक पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापित परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सप्रतिपत्त्या प्रतीयते।"—**योगभा० ३। १७। तत्त्ववै०, भास्वती, योगवा० ३।१७।** "नानेकावयव वाक्य पद वा स्फोटवादिनाम्। निरस्तभेद पदतत्त्वमेतत्।"—**स्फोटसि० का० २९, ३६।** "एकाकारधिया तावद्वर्णेभ्योऽभ्यधिक पदम्।"—**स्फोट० भा० पृ० १।** गौरित्यादिषु विज्ञानमेक पदमिति स्फुटम्।"—**स्फोट० न्या० पृ० १।** "तत्त्वतस्तु वाक्यमेवाखण्डमयूराण्डकललवदविभाग भिन्नार्थप्रतीतिहेतुभूत स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यम्।"—**स्फोटप्र०।** "इत्यनवयव प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागो वाक्यस्फोट एव श्रेयान्।"—**स्फोटतत्त्वम्।** "तस्मादेकवर्णात्मकोऽखण्डवाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम्।"—**स्फोटच०।** "वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्य शब्द स्फोट इति तद्विदो वदन्ति। अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्य, स्फुटति

---

1 **अन्त्यबुद्ध्या** आ०। 2–**तमं प्र**–ब०। 3–**तमं तत्र** ब०। 4–**वेदमप्र**–श्र०। 5–**वाल्लक्ष**–ब०।

युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकल्पना युक्ता; एकपुरुषापेक्षया युगपत्तदुत्पत्तेरेवाऽसंभवात्, प्रतिनियतस्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम्। न च विभिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽपि अर्थप्रतिपादकत्वं प्रतीयते, प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शाब्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात्।

न च अन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सति अर्थप्रतिपादकः, पूर्ववर्णानाम् अन्त्यवर्णं प्रति अनुग्राहकत्वानुपपत्तेः। तद्धि अन्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? न तावज्जनकत्वम्, वर्णाद् वर्णोत्पत्तेरभावात् प्रतिनियतस्थानकरणादिसाध्यत्वात्तस्याः, वर्णाभावेऽपि आद्यवर्णोत्पत्तिप्रतीतेश्च। नापि अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्त्यवर्णानुग्राहकत्वम्; असतां सहकारित्वस्यैवासंभवात्। यथा च अन्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णाः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते तथा तज्जनित-

---

स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहु।"–सर्वद० पृ० ३००। "वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थिति। यद्यपि वर्णस्फोट पदस्फोट वाक्यस्फोट' अखण्डपदवाक्यस्फोटौ वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटाः इत्यष्टौ पक्षा सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहणमनर्थक दुरर्थकञ्च, तथापि वाक्यस्फोटातिरिक्तानामन्येषामप्यवास्तत्वबोधनाय तदुपादनमत एवाह–अतिनिष्कर्ष इति।"–वैयाकरणभू० पृ० २९४। परमलघु० पृ० २। "तादृशमध्यमानादव्यङ्ग्य शब्द स्फोटात्मको ब्रह्मरूप. नित्यश्च।"–परमलघु० पृ० २८। (१०) "प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयौगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्ते', नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च। तस्माद् वर्णव्यतिरेकी वर्णेभ्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्यय स्वनिमित्तमुपकल्पयति।"–स्फोटसि० पृ० २८। "ते खल्वमी वर्णा प्रत्येक वाच्यविषया धियमादधीरन् नागदन्तका इव शिक्यावलम्बनम्, सहता वा ग्रावाण इव पिठरधारणम् ? न तावत्प्रथम कल्प, एकस्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्ते उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्ग। वर्णाना तु यौगपद्याभावोऽत परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वायोगात् सम्भूयापि नार्थधियमादधते।"–योगभा० तत्त्ववै० १।१७। "वर्णाना प्रत्येक वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात् एकस्मृत्युपारूढाना वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्त स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचक।"–महाभा० प्र० पृ० १६। "तत्र तावद् गकारादेरेकैकस्मान्न वाच्यधी'। उदेति यदि चेदस्ति प्रथमेनैव गादिना॥ वर्णेनोच्चरितेनेह गवाद्यर्थाभिधानत। उच्चारण द्वितीयादिवर्णाना स्यान्निरर्थकम्॥ तदुच्चारणसामर्थ्यं नैकैकस्मात्ततोऽर्थधी। समुदायोऽपि वर्णेषु क्रमज्ञातेष्वसम्भवी। नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यो नच सा दृश्यतेऽर्थधी। यौगपद्येऽपि वर्णेभ्यो नापि क्रमविपर्यये।"–स्फोट० न्या० पृ० २। सर्वद० पृ० २९९।

(१) वर्णानाम्। (२) अनुग्राहकत्वम्। (३) पूर्ववर्णानाम्। (४) वर्णोत्पत्ते। (५) पूर्ववर्णानाम्। (६) "क्व पुनरिय सहायता, यदा न विसर्जनीयसमये वर्णान्तरोपलब्धिरस्ति ? कार्ये खलु व्यापारत' सहायता, न चासतस्तदानी व्यापृतिरस्ति। स्वकालेऽपि च व्यापारस्तदानीमेव प्रध्वसान्नेदानीन्तनकार्योपजनननिमित्तम्।"–स्फोटसि० पृ० ३३। "असता पूर्ववर्णाना तदानी व्यापृति कथम्। असतामपि साहाय्य वर्णाना यदि विद्यते॥ केवलान्त्यप्रयोगेऽपि भवेदेवाभिधेयधी।"–स्फोट० न्या० पृ० ४। (७) पूर्ववर्णजनितज्ञानानि।

---

1 शब्दप्रति–ब०।

संवेदनान्यपि तत्प्रभवसंस्काराश्च, [1]तेषामपि तत्कालेऽसत्त्वाऽविशेषात्।

किञ्च, संवेदनप्रभवसंस्काराः स्वोत्पादकसंवेदनविषये स्मृतिहेतवः न तु अर्थान्तरे ज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः। न खलु [2]घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधत् दृष्टः। न च तत्संस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायता युक्ता, [3]तासां युगपदुत्पत्त्यभावात्, अयुगपदुत्पन्नानाञ्च अवस्थित्यसंभवात्। न च अखिलसंस्कारप्रभवैका स्मृतिः संभवति; अन्योन्यविरुद्धानेकार्था[4]नुभवप्रभवसंस्काराणामपि एकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात्। न च अन्यवर्णानपेक्ष एव 'गौः' इत्यत्र अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यानुषङ्गात्, घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्याप्यस्य ककुदादिमर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च। तन्न वर्णाः समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादकाः संभवन्ति। अस्ति च गवादिशब्देभ्योऽर्थप्रतीतिः, अतस्तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तः अर्थप्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युप-

(१) पूर्ववर्णजनितसंवेदनप्रभवसंस्काराः। "अर्थधीकृन्न संस्कारो न तच्छक्तिर्न तज्जधी। न तस्यापूर्वकल्पस्य कल्पकं जनकं फलम् ॥"–स्फोटसि० भा० पृ० १८। (२) पूर्ववर्णजनितज्ञानानां तत्प्रभवसंस्काराणाञ्च। (३) अन्त्यवर्णकाले। (४) "संस्कारा खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याप्रभाविताः। विज्ञानहेतवस्तत्र ततोऽर्थे धीर्न कल्प्यते ॥ संस्कारा खलु यद्वस्तूपलम्भसंभावितात्मानः तत्रैव नियतनिमित्तलब्धप्रतिबोधा धियमाविर्भावयन्ति नार्थान्तरे। न हि जातु गवावग्रहप्रत्ययप्रभावितः संस्कारोऽश्वस्मरणमुपकल्पयति।"–स्फोटसि० पृ० ४४। "स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु संस्कारः स्वकारणानुभवविषयनियतो न विषयान्तरे प्रत्ययमाधातुमुत्सहते, अन्यथा यत्किञ्चिदेवैकमनुभूय सर्वं सर्वं जानीयादिति।"–योगसू० तत्त्ववै० ३।१७। "पूर्ववर्णग्रहणजसंस्कारसहितादन्त्यवर्णात्तदर्थधीरिति चेत्, तदपि न, वस्त्वन्तरग्रहणजस्य संस्कारस्य वस्त्वन्तरज्ञानजनकत्वादर्शनात्।"–स्फोटसि० भा० पृ० १६। (५) "नन्वेकस्मृत्युपारोहात् समुदायस्य संभवः। वर्णेषु क्रमवृद्धेषु युगपत्स्मृत्यसंभवात्। संभवेऽपि च तेष्वेव विपरीतक्रमेष्वपि गकारादिषु विज्ञानं गौरित्येकं प्रसज्यते।"–स्फोट० न्या० पृ० १। "अन्यैस्तु सकलवर्णोपलब्धिनिबन्धननिखिलभावनाबीजजन्मा युगपदखिलवर्णरूपपरामर्शी चरमवर्णप्रत्यक्षोपलब्धिसमनन्तरं स्मरणैकरूपः सङ्गीर्यते; क्रमसमधिगतात्मनु न युगपदनुस्मरणमित्यपि मिथ्या।"–स्फोटसि० पृ० ६१। (६) "न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारपिण्डलब्धजन्मस्मृतिदर्पणसमारोहिणो वर्णाः समधिगतसहभावा वाचका इति साम्प्रतम्; क्रमाक्रमविपरीतक्रमानुभूतानां तत्राविशेषेणार्थधीजननप्रसङ्गात्।"–योगसू० तत्त्ववै० पृ० ३२२। "पूर्वोपलब्धिभेदेऽपि भवेदर्थस्य दर्शनम्। एकोपलब्धौ नैतेषां भेदः कश्चन लक्ष्यते ॥ पूर्वोपलब्धयो हि क्रमविशेषवत्यः परिगृहीताभिमतविपरीतानुपूर्व्या अक्रमाश्चैकवक्तृप्रयुक्तवर्णविषया विपरीताश्च न पश्चाद् भाविन्या समस्तवर्णावभासिन्यामुपलब्धावनुविपरिवर्तमानान् वर्णात्मनो भिन्दन्ति।"–स्फोटसि० पृ० ६५। "एवं तर्हि सर्वसंस्कारजा सकलवर्णग्राहिण्येका स्मृतिरर्थधीहेतुः, तदपि न; क्रमप्रत्यस्तमयेन जरारराजेत्यादावर्थाविशेषप्रसङ्गात्।"–स्फोटसि० भा० पृ० १८। "तुल्यत्वाद् यौगपद्यस्य तदा नार्थधियो भिदा। सरोरसनदीदीनजरारराजादिषु स्फुरेत् ॥"–स्फोट० न्या० पृ० १०। (७) "न चान्त्यवर्णमात्रस्य पुंसः सम्बन्धवेदनम्। अक्षवर्त्मनिवृत्तत्वान् संस्कारस्य न तत्कृतः ॥ विदितसङ्गतयो हि शब्दा यथास्वमर्थान् प्रकाशयन्ति। न चान्त्यवर्णमात्रमर्थसम्बन्धितया प्रतिपत्तुं शक्यम्।"–स्फोटसि० पृ० १०५। (८) "गौरश्व इति वा केवलोच्चारणे वा को विसर्जनीयस्य भेदः सत्ताऽसत्ताभेदे प्रत्ययभावाभावौ च।"–स्फोटसि० पृ० ३३। (९) विसर्जनीयस्य।

1 तेषां तत्रा–आ०। 2 पटप्रभवः श्र०। 3–ज्ञानां वा स्थित्य–श्र०। 4–नुभवसंस्का–श्र०।

गन्तव्यः, [1]प्रत्यक्षतः तस्यैव अवभासमानत्वात्। विभिन्नतनुषु हि वर्णेषु अभिन्नाकारं श्रोत्रान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्षं स्फोटसद्भावमेव अवभासयति। [2]नहि तद् वर्णविषयम्, वर्णानामन्योन्यव्यावृत्तरूपतया अभिन्नाकारावभासिप्रत्यक्षोत्पादनसामर्थ्यासंभवात्। नापि सामान्यविषयम्; गकारौकारविसर्जनीयेषु वर्णत्वव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्याऽसंभवात्। वर्णत्वस्य च प्रतिनियतककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः। न चेदं भ्रान्तम्; अबाध्यमानत्वात्। न चाबाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्य असत्त्वं युक्तम्; अवयविद्रव्यादेरपि असत्त्वप्रसङ्गात्।

[3]नित्यश्चासौ अभ्युपगन्तव्यः। अनित्यत्वे सङ्केतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात्। असङ्केतिताच्छब्दात् अर्थप्रतीतेरसंभवात्। संभवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् सङ्केतकरणवैयर्थ्यं[1] स्यात्। ननु 'देवदत्त गामभ्याज' इत्यादि वाक्यस्फोट अन्तरालेष्वपि शब्दप्रतिपत्तयः संवेद्यन्ते अतस्तत्रापि तावद्वा[2] (द्धा) स्फोटः कल्पनीयः तथा च स्वमतव्याघातः, तस्याऽखण्डस्यैकस्य तत्र प्रसिद्धेः, इत्यप्यचोद्यम्, [4]अन्तरालप्रत्ययानां स्फोटाभिव्यक्तिहेतुतया विभिन्नस्फोटायोग्यत्वात्। यथैव हि पुनः पुन-

(१) "तत्र प्रत्यक्ष तावत्प्रसिद्धमेव, गौरित्युच्चारणे सत्येकमेवेद पदमित्येकाकारविज्ञानोदयात्। न चेदं वर्णमात्रविषय भवितुमर्हति, तेषा भिन्नानामभ्रान्तैकाकारज्ञानविषयत्वायोगात्। न चेद भ्रान्तम्, भ्रान्तिनिमित्ताभावात् ।"–स्फोटसि० भा० पृ० १। "प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता। मानान्तरेषु ग्रहणमथवा नैव हि ग्रह ॥ इन्द्रिय हि व्यक्तावभासिनोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य हेतु यथा दूराद् ग्रहणे सूक्ष्मार्थनिरूपणायाञ्च। लिङ्गशब्दादयस्तु निश्चितात्मान प्रत्ययमुपजनयन्त्येकरूप नैव वा तत्र व्यक्ताव्यक्तग्रहणबुद्धिभेद । अर्थश्च शाब्दप्रत्ययावसेय, स्फोटात्मा तु प्रत्यक्षवेदनीय इति निरवद्यम् ।"–स्फोटसि० पृ० १६९। (२) "न च समुच्चयज्ञानोपारोहिवर्णनिबन्धनार्थबोधाभिप्राय 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति,नापि शब्दजात्यभिप्रायम्। तथाहि–नेक्षिता जातिशब्दाना समुदायानुपातिता। जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तिर्वा जातिसङ्गता ॥ न तावदिद शब्दजात्यभिप्रायम्। न शब्दजातितोऽर्थप्रतीति, गवाश्वादिपदेषु तदविशेषादभिधेयाविशेषप्रसङ्गात्। नापि शब्दव्यक्त्यभिप्रायम्, तद्भेदात् गोशब्दादित्येकवचनानुपपत्ते ।"–स्फोटसि० पृ० ७३। (३) "अनादिनिधन शब्दब्रह्मतत्त्व यदक्षरम् ।"–वाक्यप० १।१। (४) "यत प्रत्येकमपि तेऽविकल स्फोटात्मानमभिव्यञ्जयन्ति। न चेतरनादवैयर्थ्यम्, अभिव्यक्तिभेदात्। तथाहि–पूर्वे ध्वनय अनुपजातभावनाविशेषमनसः प्रतिपत्तु अव्यक्तरूपोपग्राहिणी उत्तरव्यक्तपरिच्छेदोत्पादानुगुणभावनाबीजवापिनी प्रख्या प्रादुर्भावयन्ति, पश्चिमस्तु पुरस्तनध्वनिनिबन्धनाव्यक्तपरिच्छेदप्रभावितसकलभावनाबीजसहकारि स्फुटतरविनिविष्टस्फोटबिम्बमिव प्रत्ययमतिव्यक्ततरमुद्भावयन्ति। यथा रत्नपरीक्षिण परीक्षमाणस्य प्रथमसमयाधिगमानुपाख्यातमनुपाख्येयरूपप्रत्ययोपाहितसस्काररूपाहितविशेषाया बुद्धौ क्रमेण चरमे चेतसि चकास्ति रत्नतत्त्वम्।"–स्फोटसि० पृ० १२९। स्फोट० न्या० पृ० २०। स्फोटसि० भा० पृ० २१। "अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति, उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुट स्फुटतर स्फुटतमम्। यथा स्वाध्याय सकृत् पठ्यमानो नावधार्यते, अभ्यासेन तु स्फुटावसाय, यथा वा रत्नतत्त्व प्रथमप्रतीतौ स्फुट न चकास्ति चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते ।"–सर्वद० पृ० ३०३।

1–यर्थ्यञ्च स्यात् श्र०। 2 तावद्वास्फो–श्र०, तावस्फो–आ०।

रुच्चार्यमाणोऽनु[1]वाक[1]ग्रन्थः श्लोको वा आवृत्त्या सुखेनैव अवधारयितुं [2]शक्यते न तु सकृदुच्चरितः प्रतिगताऽऽवृत्तिः, तथैवायं स्फोटलक्षणः शब्दः अन्तरालप्रत्ययैः सत्यप्रतिभासकल्पैः तद्ग्रहणानुगुणोपायभूतैः अभिव्यज्यते । [3]अन्त्येन हि ध्वनिना सह पूर्वभाविभिर्नादैः आहितसंस्कारायां बुद्धौ अयं स्फुरन्नेव अवधार्यते । उक्तञ्च–

"[2]यथाऽनुवाकः श्लोको वा [4]सोढत्वमुपगच्छति । आवृत्त्या [5]नतु स ग्रन्थः [3]प्रत्यावृत्तिर्निरूप्यते ॥
[4]प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्[5]ग्रहणानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥
[6]नादै[6]र्नाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । [7]आवृत्ति(त्त)परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥"

[वाक्यप० १।८३–८५] इति ॥ छ ॥

---

(१) ऋग्यजु सामसमूह–इत्यमरः । "वेदविशेष इति सूभूतिः"–शब्दकल्पद्रुमः । (२) व्याख्या–"सोढत्वमेकबुद्धिविषयत्वम्, एवं वर्णपदवाक्यविषया. प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुन पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति नत्वेतावता आनन्त्य स्फोटानाम्,यथावृत्तौ न श्लोकाद्यानन्त्यम् । तदेवाह–न तु प्रत्यावृत्त्या स ग्रन्थ श्लोकसमुदायात्मको भेदेन निरूप्यत इत्यर्थ. । तत्रान्त्यया ध्वनिना सम्यग्बुद्धौ निवेश । यच्चानुपगृहीतविशेष बुद्धावसन्निविष्टं तावदनुपलब्धमेव । नहि तेन कश्चिदपि व्यवहार प्रकल्प्यते ।"–वाक्यप० पु० टी० । वाक्यप० वृ० । "अनुवाक इति वैदिकं वाक्यम्, सोढत्वमिति सोढु शक्यत्व बुद्ध्याक्रमणीयता स्वीकार्यत्वम्, येन स्वेच्छयाऽसौ पठनीयो भवति । आवृत्त्येति जातावेकवचनम्, आवृत्तिरेकैकापि उपयुज्यते उत्तरोत्तरविशेषाधानाय, अन्यथा एकावृत्त्यैव सोढता स्यादिति । यथा ह्यनुवाकः श्लोको वा पुन पुनरावृत्त्या सुखेनावधारयितु शक्यते । न च प्रत्यावृत्तिस्तत्र ईदृशी बुद्धिरुपजायते यथेदं गृहीतमिद नेति । अथ चानेकावृत्तौ श्लोकाद्यवभासः स्पष्टः सवेद्यते तथैवायमपि शब्दात्मा पुन पुनरभिव्यक्तस्फोटरूपोऽवधार्यते, न च प्रत्यभिव्यक्तिस्तत्रेदृशी बुद्धिरुपजायते इद गृहीतमिदं नेति । अथवाऽनेकाभिव्यक्तौ स्फोटावभास स्पष्ट सवेद्यते ।"–स्या० र० पृ० ६५० । "अनुवाको वैदिक श्लोकस्तु लौकिक, सोढत्व जितत्वं वशतामिति यावत्"–स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । (३) 'प्रत्यावृत्त्या'–वाक्यप०, 'प्रत्यावृत्ति नि'–वाक्यप० ब्र०, स्फोटसि० । प्रकृतपाठ–स्या० र० । न्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । 'प्रत्यावृत्तिर्निरुच्यते'–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९। (४)"यथा श्लोक एकदा प्रकाशितोऽनवधारितोऽन्यदा प्रकाशने त्ववधारणसहो भवति पुन पुन प्रकाशने त्ववधार्यते । तथा वाक्यं पूर्वध्वनिभावानभिव्यक्तमपि नावधारितम्, तेन पूर्वपूर्ववाक्याभिव्यक्त्याहितैस्तु सस्कारैर्वाक्यावधारणं प्रति प्रत्ययभूतैरन्त्यवर्णश्रवणकाले तदवधार्यते, तस्माद्वर्णेनानुक्रमवताऽक्रमस्य वाक्यव्यक्तिर्युज्यत एव ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । "व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकारा (इद तदिति तस्य बुद्ध्यारूढस्याख्यातुमशक्यत्वात्) बहव उपायभूता. प्रत्यया ध्वनिभि प्रकाश्यमाने शब्दे समुत्पद्यमाना शब्दस्वरूपावग्रहहेतवो भवन्ति ।"–वाक्यप० वृ० । (५) 'ग्रहणानुग्रहै'–ध्वन्या० टी० १।१६ । प्रकृतपाठ–स्फोटसि०, प्रमाणवा०स्ववृ०टी०,स्या०र०,न्यायवि०वि० । (६) "नादै शब्दात्मानमवद्योतयद्भि यथोत्तरोत्कर्षेणाधीयन्ते व्यक्तपरिच्छेदानुगुणसस्कारभावनाबीजानि, ततश्चान्त्यो ध्वनिविशेष परिच्छेदसंस्कारभावनाबीजवृत्तिलाभप्राप्तयोग्यतापरिपाकाया बुद्धौ उपग्रहेण शब्दस्वरूपाकार सन्निवेशयति ।"–वाक्यप०वृ० । वाक्यप० पु० टी० । 'नादैराहित'–वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० र०, न्यायवि० वि०, सर्वद० । प्रकृतपाठ–तत्त्वसं० पृ० ७२२, पं० पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । (७) "आवृत्त

1–वादकग्र–आ० । 2 शक्यचोच्यते श्र० । 3 अन्येन ब०, श्र० । 4 स्फोटत्व–आ०, ब०, श्र० । 5 ननु आ०, ब० । 6 इति नाहित–श्र० ।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'स्फोट एव' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टाद् अन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तितः स्फोटस्य अर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः। न च अभावस्य सहकारित्वं न दृष्टम्; वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्दर्शनात्, तथा प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म उत्तरसंयोगं कुर्वत् प्रतीतम्, परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंससहकृतो रक्ततामुत्पादयन् दृष्टः। यद्वा पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञानजनितसंस्कारसव्यपेक्षो वा अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतीत्युत्पादकः।

[margin: ...र्थप्रति- पादकत्वनिरसनम्–]

परिपाको यस्या इति, परिपाक कार्योत्पादन प्रति विशिष्ट आत्मलाभ"–वाक्यप० वृ० टी०। "आवृत्तोऽन्यस्त परिपाको यस्या सा तयोक्ता, प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद्भावनाबीजमाहितम्, तेन न कश्चित्परिपाक कार्यजननशक्तिविशेष एव द्वितीयेनेति। यद्यपि परिपाका भिन्ना. तथापि जातिमाश्रित्यावृत्तवाचोयुक्ति अष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्त इतिवत्। आवृत्तेत्यस्यान्या व्याख्या–आवृत्तेन वावृत्त्या कषायपरिपाको यस्यामिति। क्वचित्तु आवृत्तीति पाठ। बुद्धावन्त करणे शब्दोऽवधार्यते अन्त्येन ध्वनिना सह, यदा अन्त्यो ध्वनिरवधार्यते तदा गौरित्येव शब्दोऽप्यवधार्यत इत्यर्थ।"–स्फोटसि० टी० पृ० १३२। 'आवृत्तपरि'–वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, तत्त्वस० पृ० ७२२। सन्मति० टी० पृ० ४३५। स्फोटत० पृ० ९। 'आवृत्तिपरि'–तत्त्वस० प० पृ० ६३६। प्रमेयक० पृ० ४५६। स्या० र० पृ० ६५०। न्यायवि० वि० पृ० ५७६ B। (८) 'शब्दोऽवधार्यते'–वाक्यप०। स्फोटसि०। प्रमाणवा० स्ववृ० टी०। तत्त्वसं० प०। स्या० र०। सर्वद०। प्रकृतपाठ–तत्त्वस० पृ० ७२२। प्रमेयक०। सन्मति० टी०। न्यायवि० वि०।

(१) पृ० ७४५ प० ११। (२) तुलना–"अन्ये तु पूर्ववर्णाना तज्ज्ञानानाञ्च अतीतानामप्यन्त्यवर्णसहकारित्वमन्वयव्यतिरेकोपपत्ते। तथाहि–वर्तमानस्य कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्या विज्ञातम् एवमतीतस्यापि। यदि वा पूर्ववर्णविनाशास्तज्ज्ञानप्रध्वंसाश्च समीपवर्तिनोऽन्त्यवर्णसहकारिण।"–प्रश० व्यो० पृ०५९५। प्रमेयक० पृ०४५३। "तत्र पूर्वे वर्णा अतीता अप्युपकारिणस्ति, चरमवर्णस्तु वर्तमान [illegible] कालनिक क्रियाक्षणसमूह इव वर्णसमूहोऽर्थप्रत्यायक।"–न्यायम० पृ० ३७६। "अर्थप्रतीतिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णात्। न चाभावस्य सहकारित्व विरुद्धम्; वृन्तफलसंयोगाभावस्यैवाप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने, दृष्टश्चोत्तरसंयोग विदधत् प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्ट कर्म, परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंसविशिष्टो रक्ततामुत्पादयन्।"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। (३) सहकारित्व। (४) परमाणुगतश्यामरूप। (५) "यद्वा उपलभ्यमानोऽन्त्यवर्णः पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट पदरूपतामासादयन् पदार्थे प्रतिपत्ति जनयति।"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। प्रमेयक० पृ० ४५३। (६) "पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्ण [illegible]।"–शाबरभा० १।१।५। "वाक्यस्थेषु तु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावत्क्रमेण भवति, श्रुत [illegible] प्रतिसन्धत्ते, प्रतिसन्धाय पद व्यवस्यति। पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं [illegible], पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्य व्यवस्यति, सम्बद्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते।"–न्यायभा० ३।२।६०। "अन्त्यवर्णप्रत्ययात् पूर्ववर्णप्रतिसन्धानप्रत्ययापेक्षादर्थप्रत्यय।"–न्यायवा० पृ० ३७०–१६। "पूर्ववर्णानुगृहीतस्यान्त्यवर्णस्य [illegible]।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९५। "यद्वा पूर्ववर्ण[illegible]संस्कारापेक्षोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायक।"–प्रश० कन्द० पृ० २७०। प्रमेयक० पृ० ४५३। "[illegible]संस्कारसव्यपेक्षो वा"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। "[illegible]।"–मुक्ता० शब्दख०।

ननु संस्कारस्य कथं विषयान्तरे ज्ञानजनकत्वम् ? इत्यप्यचोद्यम् ; इत्थमेव वाक्यार्थप्रतीतेरुपलब्धेः। पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्रणालिकया अन्त्यवर्णसहायतां प्रतिपद्यते, तथाहि–प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम्, तेन च पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते, एवं तृतीयादावपि योजनीयम्, यावदन्त्यः संस्कारः अर्थप्रतीतिजनकान्त्यवर्णसहायः। अथवा, शब्दार्थोपलब्धिनिमित्तादृष्टप्रतिनियमाद् अविनष्टा एव पूर्वसंविदः तत्संस्काराश्च अन्त्यवर्णसंस्कारं विदधति। तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वा अन्त्यो

(१) अर्थप्रतीतो। यद्विषयको हि सस्कार तद्विषयामेव स्मृति विदधातीति नियमात्। शब्दविषयकश्च सस्कार. शब्दस्मृतिमेव विदधीत नतु अर्थप्रतीतिमिति भावः। तुलना–"यद्यपि स्मृतिहेतुत्व सस्कारस्य व्यवस्थितम्। कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिषिध्यते ॥ ननु हेतो कथ कार्यान्तरे सामर्थ्यमत आह–यद्यपि इति। सभवति ह्येकस्याप्यनेकत्र सामर्थ्य कर्मवत्सयोगविभागयोरिति।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ५३६। "यत पदार्थे प्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवैराधीयमाना वर्णविषया. संस्कारा. स्मृतिहेतुसंस्कारविलक्षणशक्तय एवाधीयन्ते, तथाभूतानामेव तेषा कार्येणाधिगमात्"–प्रश० कन्द० पृ० २७१। (२) तुलना–"तथा चैकस्मिन् वर्णे ज्ञाते तेन क्रियते सस्कार, पुनर्द्वितीयवर्णे ज्ञानम्, तेनापि पूर्ववर्णसस्कारसहकारिणा सस्कार इति क्रमेणान्त्यवर्णज्ञानम्, तस्मात् पूर्वसस्काराभिव्यक्ताविशेषवर्णानुस्मरणे सत्यन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्ति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९५। प्रमेयक० पृ० ४५३। सन्मति०टी० पृ० ४३३। "स्मृत्यारूढान्येव सर्वपदानि वाक्यार्थमवगमयिष्यन्ति। तत्र चेय कल्पना वर्णक्रमेण तावत् प्रथमपदज्ञान तत सकेतस्मरणं सस्कारश्च युगपद् भवतः। ज्ञानयोर्हि यौगपद्य शास्त्रे प्रतिषिद्ध न सस्कारज्ञानयो। तत पदार्थज्ञान तेनापि सस्कार, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञान तत' सकेतस्मरण पूर्वसंस्कारसहितेन च तेन पटुतर सस्कार पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञान सकेतस्मरण पूर्वसस्कारापेक्ष पटुतर सस्कारः, पुन' पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकेतस्मरणं पूर्वसस्कारापेक्ष. पटुतर सस्कार इत्येवं पदज्ञानजनिते पीवरे सस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि सस्कारे स्थिते अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तर पदसस्कारात् सर्वपदविषयस्मृति, पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति सस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे स्मृती भवत। तत्रैकस्या स्मृतावुपारूढ' पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढ पदार्थसमूहो वाक्यार्थ। अथवा कृत स्मरणकल्पनया अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसाय शतादिप्रत्ययस्थानीयो भविष्यति। तदुपारूढानि पदानि वाक्य तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्यार्थ।"–न्यायमं०पृ० ३९४–९५। (३) तुलना–"अन्ये तु शब्दार्थोपभोगप्रापकादृष्टनियमिता पूर्ववर्णानुभवजनितसस्कारा. पूर्ववर्णेष्वेक स्मरणमारभन्ते तत्सहकारी चान्त्यो वर्ण. पदम्। यदि वा सस्कारमेक विचित्रमारभन्ते तस्माच्च पूर्ववर्णेष्वेक स्मरणमिति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९५। प्रमेयक० पृ० ४५३। सन्मति० टी० पृ० ४३३। (४) तुलना–"यद्वा प्रत्यक्षत पूर्व क्रमज्ञातेषु यत्परम्। समस्तवर्णविज्ञान तदर्थज्ञानकारणम् ॥ अन्त्यवर्णेऽपि विज्ञाते पूर्वसस्कारकारितम्। स्मरण यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते ॥ सर्वेषु नैवमर्थेषु मानस सर्ववादिनाम्। इष्ट समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु सत्स्वपि ॥ न चेत्तदाऽभ्युपेयेत क्रमदृष्टेषु नैव हि। शतादिरूप जायेत तत्समुच्चयदर्शनम् ॥ तेन श्रोत्रमनोभ्या स्यात् क्रमाद्वर्णेषु यद्यपि। पूर्वज्ञान परस्तात्तु युगपत्स्मरण भवेत् ॥ तदारूढास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थावबोधनात्। शब्दादर्थमतिस्तेन लौकिकैरभिधीयते।"–मी० श्लो० स्फो० श्लो० १०९,११२–११६। तत्त्वसं० का० २७२०–२५।

1–ध्ये ज्ञानाहितसंस्कारश्च आ०। 2–वर्णेन ता–आ०। 3 तेन च पूर्ववर्णविज्ञानं तेन विशिष्ट संस्कारो ब०। 4 यावदन्त्यसंस्का–आ०।

वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः। वाक्यार्थप्रतिपत्तावपि अयमेव न्यायो द्रष्टव्यः। वर्णाद् वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव। तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्यवर्णाद् अर्थप्रतिपत्तेः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽनर्थिकैव, तदभावेऽपि अर्थप्रतिपत्तेः उक्तप्रकारेण संभवे अन्यथानुपपत्तेः प्रक्षयात्। न खलु दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तौ अदृष्टतदन्तरपरिकल्पना [1]युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, यदि उपलभ्यमाना वर्णा व्यस्ताः समस्ता वा नार्थप्रतिप्रत्तिजननसमर्थाः, [2]तदा [3]स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्थाः स्युः। तथाहि–न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति उक्तप्रकारेण [4]तेषां सामस्त्यासंभवात्। नापि व्यस्ताः, वणान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्, एकेनैव वर्णेन स्फोटाभिव्यक्तेः कृतत्वात्। न च पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं तदुच्चारणम् इत्यभिधातव्यम्, [5]तदुच्चारणेऽपि तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तेरवश्यम्भावित्वात्।

"तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्ण पदार्थप्रतिपत्तिहेतु।"–प्रमेयक० पृ० ४५४। "तस्मात्पूर्ववर्णेषु स्मृतिरुपजाता अन्त्यवर्णेनोपलभ्यमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति।"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। द्रष्टव्यम्–पृ० ७५० टि० ६।

(१) "क्रमोपलब्धेष्वपि वर्णेषु मानसमनुव्यवसायरूपमखिलवर्णविषय सङ्कलनाज्ञान यदुपजायते तदर्थप्रत्ययनाङ्ग भविष्यति।"–न्यायमं० पृ० ३७६। "सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिका पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति एव क्रमानुरोधिन एव वर्णा पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति। तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णा क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धा सन्त स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तर समस्तप्रत्यवमर्शिन्या बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्त तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना।"–ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८। "ते हि पूर्वमनुभूता प्रत्येकमनुभूतताक्रमोपसृष्टा एकबुद्धिसमारोहिण शक्नुवन्त्यर्थधियमाधातुम्।"–न्यायवा० ता० पृ० ४७०। (२) तुलना–"वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव। तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वर्णादर्थप्रतिपत्ति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपजायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पना निरस्यति तदभावेऽप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सभवेऽन्यथानुपपत्ते प्रक्षयात्। नहि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात्।"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। प्रमेयक० पृ० ४५४। (३) "यस्यानवयव स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभि। सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते॥ तत्रापि प्रतिवर्ण पदस्फोटो न गम्यते। नचावयवशो व्यक्तिस्तदभावान्न चात्र धी॥ प्रत्येकञ्चाप्यशक्ताना समुदायेप्यशक्तता।"–मी० श्लो० स्फो० श्लो० ९१–९३। "न समस्तैरभिव्यज्यते; समुदायानभ्युपगमात्। न व्यस्तै, एकेनैवाभिव्यक्तौ शेषोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९५। "पदस्फोटो नित्यो निरश सर्वगतोऽमूर्त किमनभिव्यक्त एवार्थप्रतिपत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थक्यम्। द्वितीयपक्षे तु पदस्फोटोऽभिव्यज्यमान प्रत्येक वर्णेनाभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा?"–युक्त्यनु० टी० पृ० ९६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६। प्रमेयक० पृ० ४५४। सन्मति० टी० पृ० ४३३। (४) वर्णानाम्। (५) "वर्णान्तरोच्चारणादपि पदार्थान्तरप्रतिपत्तेरेवानुषङ्गात्। यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयेत तथा औकारोच्चारणाद् औशनस इति पदस्यार्थं प्रतिपद्येत। आद्येन गकारेण गौरिति पदस्येव प्रथमौकारेण औशनस इति पदस्य स्फोटस्य अभिव्यक्ते। तथा च गौरिति पदादेव गौरौशनस इति वाक्यार्थप्रतिपत्ति प्रसज्येत। संशयो वा स्यात्"–युक्त्यनु० टी० पृ० ९६। प्रमेयक० पृ० ४५४।

1 बुद्धिः सगता ब०, युक्ति सगता आ०। 2 तथा आ०, ब०।

यथाहि[1] गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा[2] औकारोच्चारणाद् औशनस इति पदार्थोऽपि, तथा च गौरिति पदादेव 'गौः' 'औशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत[3]। संशयो वा स्यात्–'किं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन एकपद§स्फोटाभिव्यक्तये गवाद्यनेकवर्णोच्चारणम्, किंवा अनेकपदस्फोटाभिव्यक्तये अनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति। नच पूर्ववर्णैः§स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यो वर्णस्तस्य व्यञ्जकः इति न वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यमित्यभिधातव्यम्; अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य[१] संस्कारस्यैव तत्रानुपपत्तेः। न खलु वेगाख्यः तत्र[२] तैः[३] संस्कारो विधीयते; मूर्त्तेष्वेव अस्य संभवात्। नापि वासनारूपः; अचेतनत्वात्[४]। स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः। नापि स्थितस्थापकरूपः; अस्यापि मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य च अमूर्त्तत्वाभ्युपगमात्।

किञ्च, असौ संस्कारः[५] स्फोट एव, तद्धर्मो[4] वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वानुषङ्गात्। द्वितीयविकल्पोऽप्यसंभाव्यः, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्तेः। स्फोटाद्धि[5] तस्य[६] अव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्य[७] अनित्यत्वानुषङ्गात् स्वाभ्युपगमक्षतिः। व्यतिरेके तु सम्बन्धानुपपत्तिः[८] अनुपकारकत्वात्, तस्य[९] तदुपकारकत्वे[१०] वा तदुपकारस्यापि[११] ततो[१२] व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पप्रसङ्गः, तत्रापि पूर्वोक्तदोषोऽनवस्थाकारी[6] प्रसज्येत। नच व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेऽपि स्फोटस्य अनभिव्यक्तस्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं घटते अतिप्रसङ्गात्, तत्त्यागे[१३] वा[7]ऽनित्यत्वप्रसक्तिः।

किञ्च, वर्णैः[१४] संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियेत, सर्वात्मना वा ? यदि एकदेशेन; तदा तद्देशानामपि अतो[१५]ऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः। सर्वात्मना संस्कारे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां ततोऽर्थप्रतीतिः स्यात्।

किञ्च, स्फोटसंस्कारः[१६] स्फोटविषयसंवेदनम्, आवरणापनयनं वा ? यदि आवर-

(१) तुलना–"अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसस्कारस्वरूपानधारणात्। तथाहि न तावत्तत्र तैर्वेगाख्य सस्कारो निर्वर्त्यते तस्य मूर्त्तेष्वेव भावात्। नापि वासनारूप, अचेतनत्वात्"–सन्मति० टी० पृ० ४३३। प्रमेयक० पृ० ४५४। (२) स्फोटे। (३) वर्णे। (४) स्फोटस्य अचेतनत्वात्। (५) "किञ्चासौ संस्कार स्फोटस्वरूपस्तद्धर्मो वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४५५। सन्मति० टी० पृ० ४३४। (६) सस्कारस्य। तुलना–"अपि च साऽभिव्यक्ति स्फोटादव्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ता वा ध्वनिभि क्रियेत ?"–स्या० र० पृ० ६६२। (७) स्फोटस्य। (८) स्फोटस्याय सस्कार इति। (९) सस्कारस्य। (१०) स्फोटोपकारकत्वे। (११) सस्कारकृतोपकारस्यापि। (१२) स्फोटात्। (१३) अनभिव्यक्तस्वरूपपरित्यागे। (१४) तुलना–"किञ्च, आद्यो वर्णध्वनि शब्दात्मा सकलस्य वा व्यञ्जक स्यादेकदेशस्य वा ? यदि सकलस्य, इतरेषा ध्वनीनामानर्थक्य स्यात्। अथैकदेशस्य, निरवयवत्वमस्य हीयते।"–राजवा० ५।२४। प्रमेयक० पृ० ४५५। सन्मति० टी० पृ० ४३४। (१५) स्फोटात्। (१६) "किञ्च, स्फोटसस्कार स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयन वा ?"–प्रमेयक० पृ० ४५५। सन्मति० टी० पृ० ४३४।

1 यथा गौ–श्र०। 2 तदा श्र०। 3 प्रतीयते आ०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 4 धर्मो वा श्र०। 5 स्फोटाद्धितस्य ब०। 6–दोषानवस्था–श्र०। 7 वानि–ब०।

णापनयनम्, तदा एकत्रैकदा आवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदोपलभ्येत नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य[1] सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात्। अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा न क्वचित् [1]कदाचित् केनचिदुपलभ्येत। अथ एकदेशेन आवरणापगमः क्रियते, [2]नन्वेवम् आवृतानावृतत्वेनास्य सावयवत्वसंभवात् कार्यत्वाऽनित्यत्वे स्याताम्। अथ अविनिर्भागत्वेन एकत्राऽनावृतोऽसौ[2] सर्वत्राऽनावृतोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तदवस्थः अशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसङ्गः। यथा च निरवयवत्वात् एकत्राऽनावृतः सर्वत्राऽनावृतः, तथा एकत्र आवृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि नोपलभ्येत। अथ स्फोटविषयसंवेदनोत्पादस्तत्संस्कारः; सोऽप्ययुक्तः, वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्तिजननेऽपि सामर्थ्यासंभवात्, न्यायस्य समानत्वात्।

अथ मतम्–पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्य आत्मनः [3]अन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तरं पदादिस्फोटस्य अभिव्यक्तेरयमदोषः, तदप्यपेशलम्, पदार्थ[3]प्रतिपत्तेरप्येवं प्रसिद्धेः स्फोट[4]कल्पनानर्थक्यात्। चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्य अर्थप्रकाशनसामर्थ्यासंभवाच्च। स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु, [4]स्फुटति[5] प्रकटीभवति अर्थोऽस्मिन्निति स्फोटः चिदात्मा। पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यफोटः, इति भावतः श्रुतज्ञानपरिणतस्य आत्मनस्तथा[6]भिधानाविरोधात्।

'वायवः स्फोटाभिव्यञ्जकाः' इत्यप्यसुन्दरम्, [7]शब्दाभिव्यक्तिवत् स्फोटाभिव्यक्तेः तेभ्योऽनुप§पत्तेः। तेषां तद्व्यञ्जकत्वे च वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तौ अर्थप्रति§पत्तौ च [8]अमीषामनुपयोगात्।

एतेन '*नादेनाहितबीजायाम्*' इत्यादि[9] [10]प्रत्याख्यातम्, नित्यत्वमन्तरेणापि च

(१) स्फोटस्य। (२) स्फोट। (३) "तथैव पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धे स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात्। चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य स्फोटस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्तेः। स एव चिदात्मा विशिष्टशक्ति स्फोटोऽस्तु। स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटश्चिदात्मा। पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्ट पदस्फोट, वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति। प्रकरणाह्निकाध्यायशास्त्रादिरङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यविकल्प स्फोट प्रसिद्धो भवति, भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्तथाभिधानाविरोधात्।"–**युक्त्यनु० टी० पृ० ९७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५६।** (४) तुलना–"स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणा स्फोट व्यञ्जयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्।"–**ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८।** (५) "स्फुटत्यर्थोऽस्मिन् प्रकाशते इति स्फोट"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२६।** (६) पदवाक्यादिस्फोटरूपेण। (७) "वायूनाञ्च व्यञ्जकत्वपरिकल्पने वर्णवैफल्यप्रसक्ति।"–**सन्मति० टी० पृ० ४३४। प्रमेयक० पृ० ४४६।** "न च स्फोटमभिव्यञ्जन्ति ध्वनय अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् गन्धवत्।"–**तत्त्वार्थभा० व्या० ५।२४।** (८) वर्णानाम्। (९) पृ० ७४९ पं० ७। (१०) तुलना–"समस्तवर्णसस्कारवत्याऽन्त्यया बुद्धधा वाक्यावधारणमित्यपि

1 'कदाचित्' नास्ति आ०, श्र०। 2 **नत्वेव** आ०, ब०। 3 **अन्यवर्ण**–श्र०। 4 **स्फोटति** श्र०।
§ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०।

अर्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

किञ्च, सिद्धे वर्णोत्पादात् वायूत्पादाद्वा पूर्वं[1] स्फोटसद्भावे वर्णानां वायूनां वा तद्व्यञ्जकत्वं युक्तम्, न चास्य सद्भावः कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धः ।

यदप्युक्तम्[2]–'प्रत्यक्षतः तस्यैवावभासमानत्वात्' इत्यादि; तदपि श्रद्धामात्रम्; घंटादिशब्देषु[3] परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्य अध्यक्षगोचरचारितया [ऽ] प्रतीतेः । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादर्थव्यवस्था युक्ता; अन्यथा दूरान्निविडतरुनिकरे अभेदप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । अथास्य बाध्यमानत्वान्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्; तदन्यत्रापि समानम्, स्फोटप्रतिभासेऽपि अनेकधा बाधकप्रदर्शनात् ।

यच्चान्यदुक्तम्–'यथानुवाकः श्लोको वा' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यात् । अनुवाक् (क) ग्रन्थादौ हि प्रत्यक्षतः प्रतीतिः, पुनः[2] पुनरुच्चार्यमाणे चास्मिन् आवृत्त्या अप्रयासेनैवाऽवधारणमनुभूयते, अतस्तत्र तथा[3] तत्कल्पनं युक्तम्, स्फोटस्तु स्वप्नेऽपि न प्रतीयते[4], अतः कथं तस्य अन्तरालप्रत्ययैर्व्यङ्ग्यत्वकल्पना ज्यायसी ।

मिथ्या, तस्यावर्णरूपसंस्पर्शिन. कस्यचित्कदाचिदप्रतिपत्ते । वर्णानाञ्चाक्रमेणाऽप्रतिपत्ते कुतोऽक्रममेकबुद्धिग्राह्य नाम । नचान्त्यवर्णप्रतिपत्तेरूर्ध्वमन्यमशकल शब्दात्मानमुपलक्षयाम ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० १।२५३ ।**

(१) "स्थिते च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात् प्राक् सद्भावे वर्णाना वायूनां वा व्यञ्जकत्वं परिकल्प्येत । नच तत्सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणादवगत ।"–**सन्मति० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ० ४५६ ।** (२) पृ० ७४८ पं० १ । (३) "घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरिक्तस्य स्फोटात्मनोऽर्थप्रत्यायकस्यैकस्य अध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् "–**सन्मति० टी० पृ० ४३५ । प्रमेयक० पृ० ४५७ ।** (४) तुलना–"दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपदार्थस्य घनरूपताप्रतीति उत्तरकालभाविबलिष्ठविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यत इति तत्र घनत्वप्रतीतिवशाद् व्यवस्थाप्यमान घनत्वमस्त्ववास्तव क किमाह । वर्णाद्यवयवाभासस्य तु नोत्तरकालिक बाधक किञ्चिच्चेतयाम ।" **स्या० र० पृ० ६५८ ।** (५) **पृ० ७४९ पं० ५ ।** (६) तुलना–"यतोऽनुवाकश्लोकौ सावयवौ वा स्याता निरवयवौ वा ? प्रथमपक्षे वैषम्यम् । अनुवाकादौ हि सावयवत्वात् स्फुटोऽस्फुटश्चावभासो युज्यते स्फोटे तु निरवयवत्वान्न तौ संभवत इति । अपसिद्धान्तप्रसङ्गश्चास्मिन् पक्षे वैषम्यम्–श्लोकानुवाकयोरपि स्फोटरूपत्वेनाभ्युपगतयोर्भवच्छास्त्रे निरवयवत्वेनाभ्युपगतत्वात् । द्वितीयविकल्पे तु देवदत्त गामभ्याजेति वाक्यस्फोटवत् एतावपि पूर्वपूर्वध्वनिजनिताभिव्यक्तिकृतसस्कारविशेषावन्त्यध्वनिबुद्धौ प्रथमावृत्तावपि स्फुटर प्रतिभासेयाताम् ।"–**स्या० र० पृ० ६६० ।** "योऽपि द्वितीयो दृष्टान्त उदाहारि-यथानुवाक श्लोको वा प्रथमसस्थया गृहीतोऽपि संस्थानान्तराभ्यासै स्फुटतरपरिच्छिन्नो भवति तथा स्फोटोऽपि प्रथमवर्णव्यक्तो वर्णान्तरैरतिशयिताभिव्यक्तिर्भविष्यतीति, सोऽपि न सदृशो दृष्टान्त श्लोकानुवाकयोरनशत्वानुपपत्ते । केचिदवयवा वर्णात्मान पदात्मानो वा प्रथमाया बुद्धावपरिस्फुरन्त सस्थाभ्यासलब्धातिशयाया तस्या प्रकटीभवन्ति, स्फोटस्तु एकवर्ण इव निरश. इति तत्र को बुद्धेरतिशययोग तस्मादयमपि न सङ्गतो दृष्टान्त. ।"–**न्यायमं० पृ० ३०९ ।** (७) स्फुटतरतमादिरूपेणाभिव्यक्तिकल्पनम् ।

---

1 **पूर्वस्फोट**–आ०, ब० । 2 '**पुन**' नास्ति आ० । 3 **तथावत्कल्प**–आ०, **तदात्मनत्कल्प**–श्र० । 4 **प्रतीतोऽत.** ब०, श्र० ।

किञ्च, वर्णैः तद्बुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो यदि शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते, तदा प्रदीपादिना तद्बुद्ध्या वा व्यङ्ग्यः प्रदीपादि[1]स्फोटोऽप्यभ्युपगम्यतामविशेषात्। प्रत्यक्षादिविरोधात् तदनभ्युपगमे शब्दस्फोटोऽप्यत एव नाभ्युपगन्तव्यः। बाधकानुमानसद्भावाच्च, तथाहि–न[1] वर्णाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति व्यञ्जकत्वात्। अर्थ[2]बुद्धिर्वा वर्णपदवाक्यप्रभवा तद्भावभावित्वात् धूमादेर्धूमध्वजबुद्धिवत्।

यदि च अर्थप्रतीत्यर्थो वर्णादिव्यतिरिक्तः शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते तर्हि गन्धादि[3]स्फोटोऽप्यभ्युपगन्तव्यः। यथैव हि शब्दः कृतसङ्केतस्य कचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि, 'एवंविधं गन्धमाघ्राय स्पर्शञ्च संस्पृश्य रसञ्चास्वाद्य रूपञ्[2]चावलोक्य त्वया एवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणां पुनः कचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः गन्धादिविशेषव्यङ्ग्यः गन्धादिस्फोटोऽस्तु वर्णविशेषव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत्।

एतेन हस्त-पाद-करण[4]-मा[5]त्रि(तृका)-अ[6]ङ्गाहारादिस्फोटोऽपि आपादितो द्रष्टव्यः। नच[7] पदादिस्फोट एव, नतु स्वावयवक्रियाविशेषव्यङ्ग्यो हंस[3]पक्ष्मादिः हस्तस्फोटः, विकुट्टितादिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपः मात्रि(तृ)कास्फोटः, मात्रि(तृ)कासमूहलक्षणः अङ्गहारस्फोटो वा इति वक्तुं युक्तम्, तस्यापि

(१) "वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोट न पदवाक्ययो। व्यञ्जन्ति वयञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादय ॥ सत्त्वात् घटादिवच्चेति साधनानि यथारुचि। लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि॥ नार्थस्य वाचक स्फोट वर्णेभ्यो व्यतिरेकत। घटादिवत्, न दृष्टेन विरोधो धर्म्यसिद्धित ॥"–**मी० श्लो० स्फो० श्लो० १३१–३३।** (२) "वर्णोत्था वाऽर्थधीरेपा तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा। येदृशी सा तदुत्था हि धूमादेरिव वह्निधी ॥"–**मी०श्लो०स्फो०श्लो०१३५। तत्त्वस०का०२७३१।** (३) "गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमार्हत्वात्। यथैव शब्द वक्तृसकेतस्य क्वचिदर्थप्रतिपत्तिहेतु तथा गन्धादिरपि विशेषाभावात्। एवविधमेव गन्ध समाघ्राय इत्थमेवविधोऽर्थ प्रतिपत्तव्य स्पर्शं स्पृश्य रस वास्वाद्य रूप वालोक्येत्थम्भूतमीदृशो भावः प्रत्येतव्य इति समयग्राहिणा पुन क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धे. गन्धादिज्ञानाहितसस्कारस्यात्मन तद्वाक्यार्थपतिपत्तिहेतो गन्धादिपदस्फोटतोपपत्ते पूर्वगन्धादिविशेषज्ञानाहितसस्कारस्यात्मन अन्त्यगन्धादिविशेपोपलम्भानन्तर गन्धादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गन्धादिवाक्यस्फोटत्वघटनात्।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७। प्रमेयक० पृ० ४५७।** (४) हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत्।"–**नाट्यशा० ४।३०।** (५) "द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो नृत्तमातृका। नृत्तस्य अङ्गहारस्यात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम्।"–**नाट्यशा० ४।३१।** (६) "अङ्गाना देशान्तरे समुचिते प्रापणप्रकारोऽङ्गहार हरस्य वाय हार प्रयोग, अङ्गनिर्वर्त्यो हार अङ्गहार। स्थिरहस्तादिभेदेन द्वात्रिंशद्विध। द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभि.॥ त्रिभि कलापक चैव चतुर्भिर्मण्डक भवेत्॥ पञ्चैव करणानि स्यु सङ्घातक इति स्मृतः॥ षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभि नवभिस्तथा। करणैरिह सयुक्ता अङ्गहारा प्रकीर्तिता ॥"–**नाट्यशा० ४।३१-३३।** (७) "पदादिस्फोट एव घटते न पुन स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यङ्ग्य हसपक्ष्मादिर्हस्तस्फोट स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमतिसन्दर्शनमात्रम्। एतेन वित्कुट्टितादि पादस्फोट हस्तपादसमायोगलक्षण करणस्फोट करणद्वयरूमात्रिकासहस्रलक्षण अङ्गहारादिस्फोटश्च न घटते इति वदन्ननभिधेयवचन प्रतिपादितो बोद्धव्य, तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणात्।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७।**

1–**स्फोटोऽभ्यु**–ब०। 2–**ञ्चालोक्य** ब०, श्र०। 3–**पक्षादिः** श्र०।

स्वस्वावयवाभिव्यङ्ग्यस्य[1] स्वाभिनेयार्थप्रतीतिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात्। तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटाग्रहाभिनिवेशो दूरतः परित्याज्यः, आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात्। ततः स्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्य., किन्तु गवादिशब्दास्तन्निबन्धनं प्रतिपत्तव्या इति।

संस्कृतशब्दा एव साधवोऽर्थवाचकाश्च न तु अपभ्रंशादय. इति मीमांसक-वैयाकरणादीना पूर्वपक्ष.-

नन्वस्तु तेषां तन्निबन्धनत्वम्; किन्तु संस्कृतानामेव न प्राकृतानाम्, तेषामसाधुत्वात्। व्याकरणसिद्धा एव हि गवादयः शब्दाः साधवः, अतस्तेषामेव अर्थवाचकत्वमुपपन्नं न पुनः गव्यादीनाम्[2], तेषां तदभावात्। वृद्धव्यवहारे हि अनन्यथासिद्धाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाच्यवाचकभावोऽवधार्यते, तौ च यदि एकस्य गोशब्दस्य एकत्र गोत्वलक्ष-

(१) "अथ पुनरेकमेवानवयवं वाक्यम्; तत्र-एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसम्भवात्। कालभेद एव न युज्यते। न ह्येकस्य क्रमेण प्रतिपत्तिर्युक्ता; गृहीतागृहीतयोरभेदात्। क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्तिर्दृष्टा, सर्ववाक्याध्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्ते वर्णरूपासंस्पर्शिनश्चैकबुद्धिप्रतिभासिन. शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात् वर्णानुक्रमप्रतीते। तदविशेषेप्यनुक्रमकृतत्वाद्वाक्यस्य अनुक्रमवती वाक्यप्रतीति, वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे तैर्यथाकथञ्चित्प्रयुक्तैरपि यत्किञ्चिद्वाक्य प्रतीयेत विनापि वा वर्णे। तैरनुक्रमवद्भिरक्रमस्योपकारायोगात्। अक्रमेण च व्यवहर्तुमशक्यत्वात्। गत्यन्तराभावाच्च।"-**प्रमाणवा० स्ववृ० १।२५३।** (२) "एकः शब्द सम्यग्ज्ञात शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।"-**पात० महाभा० ६।१।८४।** "तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष अपशब्द।"-**पात० महाभा० पस्पशा०।** (३) "यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति।"-**पात० महा० पस्पशा०।** "तस्माद् यमभियुक्ता उपदिशन्त्येष एव साधुरिति साधुरित्यवगन्तव्य।"-**शाबरभा० १।३।२७।** "शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धा. साधवो धर्मसाधनम्। अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधव।"-**वाक्यप० १।२७।** "शब्दस्य तत्त्वमवैकल्यमनपगतसस्कार साधुस्वरूम्। अन्ये तु तत्प्रयुयुक्षया प्रयुज्यमाना विकला स्युरपभ्रंशा।"-**वाक्यप० स्ववृ० १।१३।** "स साधुर्यस्य व्याकरणावगत· सस्कारोऽविकल। ताद्विकलास्त्वपभ्रंशा इति।"-**वाक्यप० पु० टी० १।१३।** "तस्मान्न लोकवेदाभ्या कश्चिद् व्याकरणादृते। वाचकाननपभ्रष्टान् यथावज्ज्ञातुमर्हति।"-**तन्त्रवा० पृ० २७८।** "तथा व्याकरणाख्येन साधुरूप नियम्यते। अविशेषेण सिद्धि स्याद्विना व्याकरणस्मृते॥"-**तन्त्रवा० पृ० २८७।** "व्याकरणलक्षणानुगमविशेषित्व वाचकत्व साधुत्वम्।"-**न्यायमं० पृ० ४२३।** "अभियुक्ततमैरिन्द्रपाणिनिप्रभृतिभि साधुत्वेनाविगानत स्मर्यते स साधुरितरोऽसाधुरिति निश्चीयते।"-**न्यायवा० पृ० ७१४।** "साधुत्व नाम क्वचिदर्थविशेषे स्वाभाविकप्रतिपादनशक्तियोगिन शब्दस्य विलक्षणं रूपम्। तच्च प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण व्याकरणस्मृत्या यस्य प्रतिपाद्यते तस्यैव व्याकरणस्मृतिसहकृतेन श्रोत्रप्रत्येक्षण असाधुशब्दव्यावृत्तं साधुत्वरूप स्फुटतरमद्यतनैस्तावत्प्रतीयत एव।"-**तौता० पृ० १२८।** "गवादय एव साधवो न गाव्यादय इति साधुस्वरूपनियम।"-**शास्त्रदी० १।३।२७।** "साधूनेव प्रयुञ्जीत गवाद्या एव साधवः। इत्यस्ति नियम पूर्वपूर्वव्याकृतिमूलत॥"-**जैमिनिन्या० १।३।२७।** "इत्थञ्च संस्कृते एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्तत्त्व साधुत्वम्। वस्तुतो वृत्तिमत्त्व न साधुत्वम्·· किन्तु व्याकरणनिष्पाद्यत्वम्। यत्र य शब्दो व्याकरणे व्युत्पादित स तत्र साधु।"-**वैयाकरणभू० पृ० २४९।** "अनपभ्रष्टतानादिर्यद्वाऽभ्युदययोग्यता। व्याक्रिया व्यञ्जनीया

1 **खल्वावयवाभि**-ब०, **स्वसावयवाभि**-आ०। 2 **गव्यादी**-आ०, ब०।

णेऽर्थे शक्तिं कल्पयित्वा उपपन्नौ तदा न द्वितीयस्य गावीशब्दस्य तत्रार्थे तौ[2] शक्तिं कल्पयतः। अनुप§पत्त्या हि तयोः कल्पकत्वम्, यश्च येन विना आत्मानं न लभते स तेन विनाऽनुपपन्नः स्वोपपत्तये तं कल्पयति, यत्पुनः येन विनाप्युप§पद्यते न तत् तं कल्पयति अनुपपत्तेः कल्पिकायाः क्षीणत्वात्।

न च गावीशब्दादपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिसंभवात् कथन्न वाचकत्वमित्यभिधातव्यम्, अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्र अन्यथासिद्धत्वात्। अवाचकस्यापि हि गावीशब्दस्य वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण अर्थप्रतिपत्तौ अन्वयव्यतिरेकौ घटेते। दृश्यते च असाधुशब्दप्रयोगे साधुशब्दस्मरणादर्थप्रतिपत्तिः, यथा आमन्त्रणे 'अम्ब'

वा जाति कापीह साधुतेति।"–शब्दकौ० पृ० २५। (४) "गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादय अपभ्रशा।"–पात० महा० पस्पशा०।

(१) "सामर्थ्यं सर्वभावानामर्थापत्त्यावगम्यते। एकसामर्थ्यसिद्धेऽर्थे नानेक तन्च लभ्यते॥ नाम च व्यवहारार्थमर्थस्याभ्युपगम्यते। तेनैकेनैव सिद्धेऽर्थे द्वितीयादि च निष्फलम्॥"–तन्त्रवा० पृ० १।३।२६। "किंच, वाचकशक्तिर्नाम सूक्ष्मा परमार्थापत्तिमात्रशरणावगमा न तन्मन्दतायामन्यत कुतश्चिदवगन्तु पार्यते। सा चेयमन्यथाप्युपपद्यमाना गवादिभ्योऽर्थप्रत्ययादिव्यवहारे मन्दीभवति तेषु शक्तिकल्पनायामर्थापत्ति एव गवादय एव वाचकशक्तेराश्रयः न गाव्यादय।"–न्यायम० पृ० ४२१। "अत्र च संस्कृतस्य सर्वदेशे एकत्वात्तत्रैव शक्ति, भाषाणाञ्च प्रतिदेश भिन्नत्वात् संस्कृतै. सह पर्यायतापत्तेश्च न शक्ति।"–वैयाकरणभू० पृ० २४८। "एकत्र शक्तयाप्यन्यत्र तदारोपात्तदर्थप्रतीत्युपपत्तावेकत्रैव शक्तिर्लाघवात्, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। सा च शक्ति संस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात्।"–तत्त्वचि० शब्द० पृ०६४१। (२) अन्वयव्यतिरेकौ। (३) गावीशब्दे। (४) "अथ यदुक्तम्–अर्थोऽवगम्यते गाव्यादिभ्य, अत एषामप्यनादिरर्थेन सम्बन्ध इति। तदशक्तिरेषा गम्यते। गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचिदशक्तया गावीत्युच्चारितम्, अपरेण ज्ञात सास्नादिमानस्य विवक्षितस्तदर्थं गौरित्युच्चारयितुकामो गावीत्युच्चारयति। तत शिक्षित्वाऽपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति। तेन गाव्यादिभ्य सास्नादिमानवगम्यते। अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोशब्दस्य। एव गाव्यादिदर्शनाद् गोशब्दस्मरण तत सास्नादिमानवगम्यते।"–शाबरभा० १।३।२८–२९। "यथा गौरित्यस्य पदस्यार्थे गावीति प्रयुज्यमान पद ककुदादिमन्तर्थं प्रतिपादयतीति। न च शब्दान्वाख्यान व्यर्थम्, अनेन शब्देन गोशब्दमेवादौ प्रतिपद्यते गोशब्दात् ककुदादिमन्तमर्थम्।"–न्यायवा० पृ० ५५६। "ते तु वर्णसारूप्यच्छायया गवादिशब्दस्मृतिमादधानाः तदर्थप्रतिपत्तिहेतुतामुपगच्छन्ति।"–न्यायमं० पृ० ४२१। न्यायवा० ता० पृ० ७१४। तत्त्वचि० शब्द०पृ० ६४३। "न चापभ्रशानामवाचकतया कथमर्थाववोध इति वाच्यम्, शक्तिभ्रमवता वाधकाभावात्। विशेषदर्शिनस्तु द्विविधा–तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्त तद्विकलाश्च। तत्र आद्याना साधुस्मरणद्वारा अर्थवोध। द्वितीयाना तु वोध्यार्थसम्वद्धार्थान्तरवाचकस्य स्मृतौ सत्या ततो लक्षणया वोध। सर्वनामस्मृतेर्वा, तदर्थज्ञापकत्वेन रूपेण साधुस्मृतेर्वा, अर्थाध्याहारपक्षाश्रयणाद्वा यथायथ वोध्यम्।"–शब्दकौ० पृ० ३२। (५) "अस्वगोण्यादय शब्दा साधवो विषयान्तरे। निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वञ्च व्यवस्थितम्॥ ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतव। तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशक॥ न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधव। ते यत स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचक॥ अम्वाम्वेति यथा वाल शिक्षमाण॰ प्रभाषते। अव्यक्त तद्विदा तेन व्यक्ते भवति निश्चय॥ एव साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रश प्रयुज्यते। तेन साधुव्यवहित कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥"–

---

1 अनुपपत्त्या हि व०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 2 विनोपप–ज०।

इति विवक्षायां स्थानकरणप्रयत्नवैकल्यात् प्रमादाद्वा तमुच्चारयितुमसमर्थः [1]अम्बिति बालोऽपभाषते । अम्बा च तच्छब्दश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमाना एवं मन्यते–अनेन बालेन 'अम्ब' इति शब्दविवक्षायाम् अम्बिति [2]तत्स्थाने समुच्चारितमिति अम्बितिशब्दादसाधुभूताद् 'अम्ब' इति मूलशब्दं साधुभूतं स्मृत्वा प्रवर्त्तते। तथा, खण्ड (षण्ढ) शब्दे समुच्चारयितव्ये विवक्षिते प्राच्यानां संढशब्दोच्चारणं दृश्यते । व्यवहर्त्ता तद्वाक्यश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमानः अनेन मूलशब्दोच्चिचारयिषया अशक्त्या प्रमादेन वा अयं संढशब्दः समुच्चारितः इति संढशब्दात् षंढशब्दं स्मृत्वा ततोऽर्थं प्रतिपद्य प्रवर्त्तते । एवं गावीशब्दादसाधुरूपात् मूलभूतं साधुरूपं गोशब्दं स्मृत्वा व्यवहर्त्ता ततोऽर्थं प्रतिपद्यते इति, अन्वयव्यतिरेकयोरत्र अन्यथासिद्धत्वात् न वाचकत्वावधारणक्षमत्वम् । यत्रैव हि निश्चितौ तौ तत्रैव वाचकत्वनियममवबोधयतः । न च गावीशब्दस्य उक्तप्रकारेण तौ निश्चितौ, अतो न तन्नियममवबोधयतः । गोशब्दस्य तु उभयवादिसम्प्रतिपन्नत्वेन तौ निश्चितौ, अतोऽस्यैव [3]गोत्वप्रतिपत्तौ वाचकत्वनियमोऽवक[4]ल्प्यते । [(1)]सर्वदेशकालपुरुषपुराणवेदादिषु गोशब्दस्य एकरूपतया व्यवहारकारकत्वेन प्रतीयमानत्वाच्च अस्यैव व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य वाचकत्वनियमो युक्तः न तु गावीशब्दस्य, अस्य नियतदेशादावेव व्यवहारहेतुतया प्रतीयमानत्वात् । न खलु ये देशान्तरादिप्रभवा गाव्यादिशब्देष्वगृहीतसम्बन्धा तेषां[(2)] ते[(3)] व्यवहारं प्रसाधयन्ति । अतः अवगतप्रमाणभावेन व्याकरणेन ये अनुशिष्टा गवादयः शब्दाः त एव साधवः सिद्धा न[5] तु गा[6]व्यादयः ।

तत्रैव वाचकत्वनियमावगतेश्च गवादिशब्दानामेव साधुत्वम् ; तथाहि–'गामानय' इत्युक्ते सास्नादिमत्त्वविशिष्टार्थानयनप्रतिपत्तिर्भवति[7] । तत्र च यथा 'गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थो वाच्यः' इत्यवधार्यते, तथा 'गोशब्दस्यैव अयमर्थः' इति नियमोऽप्यवधार्यते । अवगतश्च नियमः अन्यस्य वाचकत्वं बाधते ।

अस्तु[8] वा नाम गवादीनामेव वाचकत्वावधारणम् ; तथापि वृद्धव्यवहारादेव तेषां [(4)]तद् भविष्यति, अतस्तत्साधुत्वसमर्थनाय व्याकरणारम्भो व्यर्थः; इत्यसमीचीनम् ; व्याकरणनिर[9]पेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव सकलशब्दानां वाचकत्वस्य अवधारयितुमशक्यत्वात् । अनन्तो हि शब्दराशिः, तस्य अनन्तेनापि कालेन प्रतिपदं वृद्धव्यवहाराद्

वाक्यप० १।१४९–५३ । "गाव्यादिशब्दाना पुनरुच्चारणासामर्थ्यतो मूलशब्दादपभ्रंशाना विवक्षितेषु मूलशब्दानुसारेणार्थप्रतिपादकत्वम्, अविवक्षितेषु तु वाचकभ्रान्त्यैवेति ।"–तौता० पृ० १३० । भाट्टचि० पृ० ९५ ।

(१) सर्वे देशान्तरे । "सर्वे खलु एते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।"–पात० महा० पस्पशा० । (२) पुरुषाणाम् । (३) गाव्यादयः शब्दा । (४) वाचकत्वावधारणम् ।

1 अन्विति आ० । 2 तत्र स्थाने ब० । 3 गोशब्दत्वप्रति–श्र० । 4–ल्पते आ०, ब० । 5 ना तु आ० । 6 गव्या–ब० । 7–तीति तत्र श्र० । 8 अस्तु नाम ब०, श्र० । 9–निरपेक्षे वृ–श्र० ।

वाचकत्वं गृहीतुमशक्यम्। व्याकरणेन[1] तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षितानां स्वल्पप्रयत्नेन सर्वेषामपि शब्दानां वाचकत्वमवबोद्धुं शक्यमेव। अतो व्याकरणादेव तेषां साधुत्वावगमः। तथाहि-"कर्मण्यण्" [पाणिनि० ३।२।१] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-काण्डलाव-वेदाध्यायादय[1] शब्दाः बहवः साधुत्वेन[2] लक्ष्यन्ते। अतो व्याकरणानुगृहीतलोकव्यवहारात्[2] सुखेनैव साधुत्वमवधारयितु शक्यते इत्यस्ति व्याकरणस्योपयोगः। ननु चास्य[3]प्रमाणत्वात् कथं ततः केषाञ्चिच्छब्दानां साधुत्वमवधारयितुमुचितम्, इत्यप्यसाम्प्रतम्; तदप्रामाण्ये कर्मकर्त्रादिकारकाणां सम्प्लवप्रसङ्गात्। न खलु व्या[4]करणमन्तरेण प्रकृति-प्रत्ययविभागद्वारेण कर्मकर्त्रादिकारकाणां नैयत्येन प्रतिपत्तिर्घटते, तन्नैयत्यहेतोरन्यस्याऽसभवात्। अतस्तन्नैयत्यमुपलभ्यमान स्वव्यवस्थानिमित्तं व्याकरणमेव व्यवस्थापयति।

तथा व्याकरणाप्रामाण्ये लोकशास्त्रविरोधः। तत्र लोकविरोधस्तावत्-सकल[3]शिष्टानां तत्प्रामाण्यस्य अभीष्टत्वात्। शास्त्रविरोधोऽपि तदप्रामाण्ये सकलशास्त्रोच्छेदप्रसङ्गात्। सकलान्यपि हि शास्त्राणि नियतभाषात्मकानि, नियमस्य च व्याकरणाधीनत्वात् कथ तदप्रामाण्ये तदुपपत्तिः? शास्त्रप्रामाण्यमनभ्युपगच्छताऽपि परप्रत्यायनाय साधनदूषणप्रयोगः तत्प्रामाण्यप्रसाधनोऽवश्याभ्युपगन्तव्य। तदनभ्युपगमे स्वपरपक्षसाधनदूषणप्रपञ्चप्रत्यस्तमयप्रसङ्गात्, केवलैर्[5]मनोविकल्पैः अङ्गसंज्ञाभिर्वा परप्रत्यायनानुपपत्तेः। तस्मादुक्तदोष परिजिहीर्षता न व्याकरणप्रामाण्यमपह्नवनीयम्, इति सिद्धं तत्सा[6]धुत्वप्रसाधनायास्य प्रामाण्यम्।

ननु साधुत्वस्य शब्दानां कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं तत्प्रसाधनाय व्याक-

(१) "रक्षोहागमलघ्वसन्देहा प्रयोजनम् लघ्वर्थं चाध्येय व्याकरणम् ब्राह्मणेनावश्य शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरण लघुनोपायेन शब्दा शक्या ज्ञातुम्। ' किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षण प्रवर्त्यम्, येनाल्पेन प्रयत्नेन महतो महत शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्ग कर्त्तव्य कश्चिदपवाद। सामान्येनोत्सर्ग· कर्त्तव्य तद्यथा कर्मण्यण्। तस्य विशेषेणापवाद, तद्यथा आतोऽनुपसर्गे क।"-पात० महा० पस्पशा०। "प्रकृत्यादिविभागकल्पनया सामान्यविशेषवता लक्षणेन॥"-काशिका० पृ० १। "तत्र सामान्यवता लक्षणेन प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनया कुम्भकार काण्डलाव शरलाव इत्येवमादिक महान्त शब्दौघ प्रतिपद्यते। विशेषवता तु पार्ष्णित्रो गोद कम्बलद इत्येवमादिकम्।"-न्यास० पृ० ६। सर्वद० पाणिनि०। (२) "लोकव्याकरणाभ्या हि मिश्राभ्यामविप्लुतवाचकसिद्धिरिति।"-तन्त्रवा० १।३।२७। (३) व्याकरणस्य। (४) "नचान्तरेण व्याकरण कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्।"-पात० महा० पस्पशा०। "तत्त्वाववोध शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते।"-वाक्यप० १।१३। (५) "सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य।"-हैमश० बृह० पृ० २। (६) "साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति। अविच्छेदेन शिष्टानामिद स्मृतिनिबन्धनम्॥"-वाक्यप० १।१४३।

1-ध्याय इत्यादय श्र०। 2 शब्दबहुसाधुत्वेन श्र०। 3-लविशिष्टानां श्र०।

रणस्य प्रामाण्यम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; [१]प्रत्यक्षत एव तत्साधुत्वप्रसिद्धेः । तथाहि–व्याकरणसंस्कृतमतेः [1]श्रौत्रप्रत्यक्षे वर्णस्वरूप[2]वत् तत्साधुत्वमवभासते, व्याकरणानुशि[3]ष्टेषु शब्देषु उच्चार्यमाणेषु 'साधुभिरयं भाषते' इति प्रतीतिसद्भावात्, अन्यथा चोच्चार्यमाणेषु 'असाधुभिरयं भाषते पापः अपश[4]ब्दान् करोति' इति प्रत्ययप्रतीतेः प्रत्यक्षत एव साधुत्वासाधुत्वविभागोऽवसीयते । अथोच्यते–यदि वर्णस्वरूपातिरिक्तं साधुत्वं स्यात् तर्हि व्याकरणसंस्कारात्पूर्वं वर्णस्वरूपवत् तदपि प्रतिभासेत, तत्प्रतिभासकारणस्य श्रोत्रसम्बन्धस्य प्रागपि सद्भावात्; तदप्युक्तिमात्रम्; व्याकरणसंस्कारापेक्षस्य श्रोत्रस्य पू[5]र्वमभावात्, कारणाभावे च कार्याभावस्य उपपन्नत्वात् । वर्णस्वरूपग्रहणे हि श्रोत्रस्य केवलस्यापि सामर्थ्यम्, साधुत्वग्रहणे तु व्याकरणसहकृतस्यैव । यथा र[२]त्नादिभेदानां तच्छास्त्रसंस्कारसहायं चक्षुः ग्रहणे समर्थम् न तद्रहितम् ।

ननु शब्दराशेरपर्यन्ततया प्रत्यक्षागोचरत्वात् कथं ततः तत्साधुत्वसिद्धिः ? इत्यप्यसुन्दरम्; त[३]दगो[6]चरस्यास्य अनुमाना[४]त् साधुत्व[7]प्रसिद्धेः, तथाहि–अदृश्यमानप्रयोगाः शब्दाः साधवः व्याकरणानुशिष्टत्वात् परिदृश्यमानगवादिशब्दवत् । तथा *"साधुभिर्भाषितव्यम्[५]"* [ ] *तस्मा[६]देषा संस्कृता वागुद्यते"* [तैत्ति० ६।४।७ (?)] इत्येवमादिना आगमेनापि साधुत्वं प्रसाध्यते । तथा उपमानेनापि साधुत्वमवगम्यते; तथाहि–[8]सूत्रकार-भाष्यकार-वार्तिककारादिभिः प्रयुक्ता यथा साधवः शब्दाः तथा तत्प्रायैरन्यैरपि प्रयुक्ताः साधव एवेति । तथा अर्थाप[७]त्त्यापि; अनाद्यनन्ताऽनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकतोऽर्थप्रतीतिसाधनत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणया शब्दानां साधुत्वमवसीयते इति ॥छ॥

---

(१) "साधुत्वमिन्द्रियग्राह्य लिङ्गमस्य च विद्यते । शास्त्रस्य विषयोऽप्येष प्रयोगोऽप्यस्त्यसकरः ॥ ...वैयाकरणोपदेशसाहाय्यकोपकृतश्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । यथा ब्राह्मणत्वादिजातिरुपदेशसव्यपेक्षचक्षुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपोज्झति । ..व्याकरणकोविदोपदेशसचिवश्रवणेन्द्रियग्राह्ये अपि साधुत्वासाधुत्वे न प्रत्यक्षतामतिवर्तेते ।"–**न्यायमं० पृ० ४२२ । तौता० पृ० १२८ ।** (२) "यथा च पद्मरागादीन् काचस्फटिकमिश्रितान् । परीक्षका विजानन्ति साधुत्वमपरे तथा ॥ यथा रत्नपरीक्षाया साध्वसाधुत्वलक्षणम् । तथा व्याकरणात्सिद्धं साधुशब्दनिरूपणम ॥"–**तन्त्रवा० १।३।२७।** (३) प्रत्यक्षागोचरस्यापि शब्दराशे । (४) "विशिष्टशब्दश्रवणोत्तरकालप्रवृत्तव्यवहारावगतार्थप्रतिपत्तिसहित शब्दानुशासनशास्त्रोपदिष्टप्रकृतिप्रत्ययविकरणवर्णलोपागमादेशादिलिङ्गमव्यभिचारि तत्स्वरूपावधारणे कारणं भविष्यति ।–"**न्यायमं० पृ० ४२३। तन्त्रवा० १।३।२७।** (५) उद्धृतोऽयम्–**न्यायमं पृ० ४२३ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । वैयाकरणभू० पृ० २५२। तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४० ।** "साधूना साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभि ।"–**वाक्यप० १।१४१।** (६) 'तस्मादेषा व्याकृता'–**तन्त्रवा० १।३।२७। भाट्टचि० पृ० ९८ ।** (७) "तथा लौकिकार्थप्रत्ययोत्थापितवाचकत्वार्थापत्तिलभ्यस्तावदेक. साधुत्वनिश्चय ।"–**तन्त्रवा० १।३।२७।**

---

1 **श्रौत्रप्र**–आ०, व० । 2–**वत्साधु**–व०, आ० । 3–**शिष्टेषूच्चार्य**–आ०,–**शिष्टेषु शब्दोच्चार्य**–व० । 4–**ब्दानुकरोति** आ० । 5 **पूर्व भावा**–आ०, **पूर्वसद्भा**–व० । 6–**रस्यानु**–आ० । 7–**त्वसिद्धेः** आ० । 8 **सूत्रकारवार्त्तिक**–श्र० ।

अपभ्रशप्राकृतादिभाषाशब्दाना साधुत्वसमर्थनेन वाचकत्वप्रसाधनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]–'गवादय. शब्दा एव साधवः, तेषामेव वाचकत्वोपपत्तेः' इत्यादि; तदविचारितरमणीयम्, यतो लोके[2]व्यवहारसमधिगम्यो हि वाच्यवाचकभाव । लोकश्च गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरन् प्रतीयते । संस्कृतवेदिनो हि संस्कृतान् शब्दान् परित्यज्य व्यवहारकाले गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरन्तः प्रतीयन्ते । अतः संस्कृतेतरवेदिनां व्यवहारस्य गाव्यादिशब्दैरेव दृष्टत्वात्तेषा[3]मेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाचकत्वमवधार्यते । नच गाव्यादिशब्दानां गवादिस्मृतिसापेक्षमर्थावबोधकत्वं स्वप्नेऽपि प्रतीतं येन अर्थप्रतिपत्तेरन्यथा[2]प्युपपद्यमानत्वात् तेषामवाचकत्व स्यात् । न खलु प्राकृतशब्देभ्यः 'प्र[3]थमं संस्कृतशब्दस्मरण ततोऽर्थप्रतीतिः' इति व्यवधानेन अर्थप्रत्ययोऽनुभूयते, संस्कृतशब्दवत् तेभ्[4]योऽपि साक्षादेव अर्थप्रत्ययप्रतीतेः, अन्यथा यत्र सं[5]स्कृतज्ञा न सन्ति तत्र भाषाशब्देभ्योऽर्थप्रत्ययो न स्यात् । ततो गवादिशब्दवत् शब्दान्तरस्मृतिनिरपेक्षतयैव सदा तेषामर्थावबोधकत्वप्रतीतेः वाचकत्वमेवोपपन्नम् । यथैवं हि गवादिशब्दस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गाव्यादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गोत्वाद्यर्थाभिधायकत्वं प्रतीयते तथा गवादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गाव्यादीनामपि । एवञ्च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तु[5]ल्येऽर्थप्रतिपादकत्वे यद्येकस्यैव वाचकत्वं कल्प्यते तद्वरं गाव्यादिशब्दस्यैव कल्प्यताम्, निखिलजनानां व्यवहारस्य त[6]द्द्वारेणैव प्रतीतेः ।

किञ्च, स्मरणं मूलानुभवे सति प्रमाण भवति अनुभवानुसारित्वात्तस्य । न च गवादिशब्दानां गोव्यवहारे प्र[6]थमत एव स्वरसवृत्त्या वाचकत्वमनुभूतम्, गाव्यादिशब्दानामेव तदा तद[7]नुभवात् । अतो येषां[8] वाचकत्वमनुभूतपूर्वं तन्निबन्धने व्यवहारे[7] अननुभूतवाचकत्वा[9]ः स्मर्यन्ते इति महन्न्यायकौशलम् ।

(१) पृ० ७५७ प० ६। (२) 'वृद्धि (द्ध) प्रसिद्धितस्त्वेष व्यवहार प्रवर्तते। सस्कृतैरिति सर्वापि शब्दे भाषास्वनैरिव।"–तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २९०। (३) गाव्यादिशब्दानामेव। (४) प्राकृतशब्देभ्योऽपि। तुलना-"व्युत्क्रमादर्थनिर्णीतिरपशब्दादिवेत्यपि। वक्तु शक्तेस्तथा दृष्टे सर्वथाप्यविशेषत ॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९०। प्रमेयक० पृ० ६६८। (५) तुलना–"स्त्रीशूद्राणामुभयप्रतीतेरभावात्। य· खलूभय वेत्ति शब्दमपशब्दञ्च स एव प्रतिपद्यते। यस्तु नक्कमुक्कशब्दमेव वा वेत्ति न नासाशब्द स कथमपशब्दाच्छब्द प्रतिपद्येत ततोऽर्थं प्रतिपद्येत ? दृष्टा चानुभयवेदिनोऽपि प्रतीतिरिति।"–वादन्या० पृ० १०३। "म्लेच्छादीना साधुशब्दपरिज्ञानाभावात्कथ तद्विषया स्मृति । तदभावे न गोऽर्थप्रतिपत्ति स्यात्।"–तत्त्वो० पृ० १२४। (६) गाव्यादिशब्दद्वारेणैव । तुलना–"विपर्ययदर्शनाच्च । शब्दादर्थमप्रतिपद्यमाना अपशब्दैरेव ज्ञान व्युत्पद्यमाना लोके दृश्यन्ते इति व्यर्थं शब्दानुशासनम्। तथाहि वृक्षोऽग्निरुत्पलमित्युक्तेऽव्युत्पन्नधियो बाला प्रश्नोपक्रम सन्तिष्ठन्ते कोऽय वृक्ष इत्यादिना। ते चान्यस्य व्युत्पादनोपायस्याभावादपशब्दैरेव व्युत्पाद्यन्ते रुक्ख अग्गी उप्पलमिति। तदेवमत्रासाधव एव वाचका न साधव सन्तोऽपि इति विपर्ययो दृश्यते।"–वादन्या०, टी० पृ० १०५। (७) वाचकत्वानुभवात् (८) गाव्यादीनाम्। (९) गवादय. शब्दा ।

1 असस्कृते–आ०। 2–थोपपद्य–ब०। 3 प्रथमस–श्र०। 4–व गवादि–ब०। 5 तुल्यार्थप्रति–ब०। 6–प्रथमं त एव स्वरस्य वृत्ता वा–आ०। 7–रे न खलु वाचकत्वाः ब०।

यदप्युक्तम्[1]–'गोशब्दे समुच्चारयितव्ये अशक्त्या प्रमादेन वा बालेन गावीशब्दः समुच्चारितः' [1] इति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो यदि गोशब्दसमुच्चिचारयिषया बालः अशक्तिप्रमादाभ्यां गावीशब्दं समुच्चारयेत्, तर्हि परित्यक्तबालभावः प्रबुद्धः सन् 'मया अशक्त्या प्रमादेन वा[2]ऽयं प्रयुक्तः' इति ज्ञात्वा तं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहारं कुर्यात्। न च पटुकरणोऽपि गावीशब्दं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहरति। ननु च असंस्कृतमतिभिः सह संस्कृतशब्देन गवादिना व्यवहारः कर्तुं न शक्यते, लक्षण[2]परिज्ञानाभावतस्तेषां[3] संस्कृतशब्दपरिज्ञानानुपपत्तेः, अतः बहुत्वादसंस्कृतमतीनाम् अशक्तिप्रमादप्रभवोऽपि अपभ्रष्टव्यवहारः परां रूढिमागतः, येन शक्तो विज्ञातशब्दस्वरूपोऽपि जनः तेनैव व्यवहरति; इत्यप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्; प्रमादाऽशक्तिप्रभवत्वे गाव्यादिशब्दव्यवहारस्य उक्तदोषानुषङ्गात्।

अपभ्रष्टत्वञ्चास्य पुरुषार्थाऽप्रसाधकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदाऽनवच्छिन्नस्य[3] एकत्वेन प्रतीत्यभावात्, सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात्? तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; सकलस्य धर्मार्थादेः पुरुषार्थस्य प्राकृतशब्दव्यवहारादेव प्रसिद्धेः। नहि कश्चित्तादृशः पुरुषार्थोऽस्ति यत्र साक्षात् परम्परया वा तद्व्यवहारो[4] न स्यात्। तत्प्रतिपिपादयिषया[5] प्रयुक्तानामपि संस्कृतशब्दानामर्थः सुस्पष्टः प्राकृतशब्दैरेव प्रदर्श्यते इति कथं तद्व्यवहारस्य पुरुषार्थाऽप्रसाधकत्वं यतोऽपभ्रष्टत्वं[5] स्यात्? द्वितीयपक्षे तु ठकागमस्य *"सधनं ब्राह्मणं हन्याद् भूतिकामः"* [ ] इत्यादेः साधुत्वप्रसङ्गः, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदानवच्छिन्नस्यैकत्वेन अस्यापि प्रतीत्यविशेषात्। शिष्टैरस्वीकृतत्वात् तत्रास्य विच्छेदः पशुवधाद्यागमेऽपि समानः। नहि *"श्वेतमजमालभेत"* [ ] इत्यागमः परीक्षाप्रधानैः कृपाद्रींकृतचेतोवृत्तिभिः[6] आद्रियते। तृतीयपक्षोऽप्ययुक्तः; प्राकृतशब्दवत् संस्कृतशब्दानामपि सङ्केतसहायानामेव अर्थप्रतिपादनसामर्थ्यसंभवात्। असङ्केतिताऽनभि(ताभि)धाने अतिप्रसङ्गात्। तदेवं संस्कृतेतरशब्दानां विशेषासंभवात् उभयेषां साधुत्वमसाधुत्वं वा अविशेषतः प्रतिपत्तव्यम्।

किञ्च, स्वरूपतः प्रसिद्धे साधुत्वे क्वचिद् विधानं निषेधो वा युक्तः। न च स्वरूपत. तत्[7] प्रसिद्धम्। तत्स्वरूपं हि वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता, धर्मसाधनत्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्, विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, बाधारहितत्वम्, प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम्[6], अनुपहतेन्द्रियग्राह्यत्वम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वं[7]

(१) पृ० ७५९ पं० ६। (२) व्याकरणसूत्र। (३) असस्कृतमतीनाम्। (४) प्राकृतादिभाषाशब्दव्यवहार। (५) पुरुषार्थबोधनाय। (६) जैनबौद्धवैष्णवादिभिः। (७) साधुत्वम्।

1 इत्यादि तद–श्र०, ब०। 2 चायं श्र०। 3–नवस्थितस्य ब०। 4 तद्व्यापारव्यवहारो न आ०, श्र०। 5–ष्टव्यत्व श्र०। 6–नुगृहीतमनु–आ०, ब०। 7–रूपं वा ब०।

वा स्यात् ? यदि वाचकत्वम्, तद् [1]गवादिशब्दवत् गाव्यादिशब्दानामस्त्येव, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वत् तेषामप्यर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनात् ।

अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया, नित्यत्वापेक्षया वा उच्येत ? प्रथमपक्षे गोगावीशब्दयोरविशेषः, द्वयोरपि अनादिप्रयोगितायाः तथा संभवाद् उभयोरपि साधुत्वमसाधुत्वं वाऽविशेषतः स्यात् । अनादिप्रयोगितया[1] च साधुत्वे प्राकृतस्यैव गाव्यादेः साधुत्व स्यात्, तस्यैव [2]तत्संभवात् । [3]प्रकृतिरेव हि प्राकृतम्, प्रकृतिश्च स्वभावः, अतः प्रकृतिभूतस्य अर्थस्वरूपावेदकस्य अनादिप्रयोगार्हस्य गाव्यादेरेव साधुत्वं युक्तं न तु संस्कृतस्य गवादेः, तस्य अनादिप्रयोगितानुपपत्तेः । सतो हि वस्तुनो गुणान्तरारोपः संस्कारः, स च आदिमानेव, अतः संस्कृतव्यपदेशादेव संस्कारात् पूर्वं विद्यमानं प्रकृतिभूतमन्यत्किञ्चिदस्तीत्यवसीयते । तच्च प्राकृतमेव, इत्यस्यैव अनादिप्रयोगितया साधुत्वमायातम् ।

अथोच्यते–न प्रकृतिरेव प्राकृतम्, किं तर्हि ? [3]प्रकृतेर्भवम्[4] । ननु केयं प्रकृतिर्नाम–यतो भव प्राकृतम् [4]इत्युच्येत ? किं स्वभावः, धातुगणः, संस्कृतशब्दस्वरूपं वा ? प्रथमविकल्पे 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इत्ययमेव पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात्, प्रकृतेः स्वभावात् लब्धात्मलाभैर्गाव्यादिशब्दैः निखिललोकानां व्यवहारप्रसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु गवादिशब्दानामपि प्राकृतत्वप्रसङ्गः, [5]धातुगणात् तत्स्वरूपसिद्धेरविशेषात्, इति संस्कृतव्यवहाराय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात् । संस्कृतशब्दस्वरूपस्य तु प्रकृतित्वमनुपपन्नम्, वि[6]कारत्वात् । सतो हि वस्तुनो गुणान्तराधानं संस्कारः स विकाररूपतया कथं प्रकृतित्वं प्रतिपद्येत ?

किञ्च, पूर्वापरकालभावित्वे सति प्रकृति-विकृतिभावो दृष्टः । न चात्र[5] तदस्ति, वैपरीत्यप्रतीतेः–'आदिमद्धि संस्कृतम् अनादिमच्च प्राकृतम्' इति ।

---

(१) "अथ गावीशब्दस्य वाचकत्व नोपपद्यते, तदयुक्तम्, गावीशब्देन बहुल व्याहरन्ति प्रमातार ।"–तत्त्वबो० पृ० १२४ । (२) अनादिप्रयोगितासंभवात् । (३) "प्राकृतेति–सकलजगज्जन्तूना व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कार सहजो वचनव्यापार प्रकृति, तत्र भव सैव वा प्राकृतम् । 'आरिसवयणे सिद्ध देवाण अद्धमग्गहा वाणी' इत्यादि वचनाद्वा प्राक् पूर्व कृत प्राक्कृत बालमहिलादिसकलभाषानिबन्धनभूत वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूप तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेष सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति । अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु संस्कृतादीनि । पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते ।"–काव्या० रुद्र० नमि० २।१२ । (४) तुलना–"प्रकृति संस्कृत तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम् ।"–हेम० प्राकृ०, प्राकृतसर्व०, प्राकृतच०, वाग्भट्टा० टी० २।२ । "एतदेव विपर्यस्त संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेय प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम् ॥"–नाट्यशा० १७।२ । "प्रकृते संस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता ।"–षड्भा० । "प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनि ।"–प्राकृतस० । "प्रकृते संस्कृतात् साध्यमानात्सिद्धाच्च यद्भवेत् । प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥"–त्रि० प्रा० पृ० १ । (५) संस्कृतप्राकृतयो ।

1–तया साधु–श्र० । 2 न च श्र० । 3 प्रकृतौ भवम् आ० । 4 इत्युच्यते ब० । 5 धातुगणोत्थस्वरूपसिद्धे ब० । 6 विकारित्वात् श्र ।

अथ मतम्–न गुणान्तराधानं संस्कारः, किं तर्हि ? अभिन्नस्वरूपस्य शब्दस्य सम्यगनधिगतार्थस्य प्रकृति-प्रत्ययादिविभागद्वारेण तदन्तर्गतोऽर्थः प्रकाश्यते इत्येवं रूपः शब्दस्य संस्कार इति; तदप्यसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण अर्थकथनस्य व्याख्यानरूपतया संस्कारत्वानुपपत्तेः। नहि वस्त्रादौ तथाविधः संस्कारः कदाचिद्[1] दृष्टः। किं तर्हि ? [1]गुणान्तराधानलक्षणः। तथाप्यस्य संस्कारत्वाभिधाने स्वकम्बलस्य 'कूर्दालिका' इति नाम कृतं स्यात्।

एतेन '[2]व्यवहर्तृशक्तिद्वारेण अपभ्रश्यतः शब्दस्य [2]रक्षाद्वारेण अविचलितस्व-[3]रूपस्यैवावस्थापनं संस्कारः' इति मतान्तरमपि अपास्तम्; अविचलितरूपतयावस्थापनस्यापि संस्कारत्वेन क्वचिदप्यप्रतीतेः। अविचलित[4]रूपतया अवस्थापनञ्च शब्दानां सादृश्यापेक्षया, नित्यैकरूपापेक्षया वा स्यात् ? यदि सादृश्यापेक्षया; तर्हि गाव्यादिशब्दस्यापि संस्कृतत्वप्र[5]सङ्गः तदविशेषात्। अथ नित्यैकरूपापेक्षया; तदयुक्तम्, शब्दानां नित्यैकरूपतायाः प्राक्[3] प्रबन्धेन प्रतिषेधात्। तन्न प्रवाहापेक्षया अनादिप्रयोगितातः शब्दानां साधुत्वं सिद्ध्यति। त[4]या तत्साधुत्वाभ्युप[6]गमे च 'पितरि स्वर्गं गते ज्येष्ठेन पुत्रेण माता वोढव्या' इत्यादिम्ले[5]च्छव्यवहाराणामपि साधुत्वप्रसक्तिः; प्रवाहेण अनादिप्रयोगितायाः तत्राप्यविशेषात्। अथ नित्यत्वा[7]पेक्षया अनादिप्रयोगितातः तत्साधुत्वसिद्धिः इत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; शब्दानां नित्यत्वस्य प्रमाणानुपपन्नत्वात्। तदनुपपन्नत्वञ्चैषां शब्दानित्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन। तन्न अनादिप्रयोगितापि तत्साधुत्वलक्षणम्।

नापि [6]धर्मसाधनत्वम्, तद्धि तेषां साक्षात्; परम्परया वा स्यात् ? न तावत् साक्षात्; [7]व्रतानुष्ठानादेः तदर्थस्य आनर्थक्यानुषङ्गात्। [8]परम्परया तत्साधनत्वं तु संस्कृत-

---

(१) "नन्वेव वयं गुणातिशयमपश्यन्त. सस्कार केषाञ्चिच्छब्दानामनुमन्यामहे"–वादन्या० पृ० १०७। (२) "रक्षार्थं वेदानामध्येय व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति।"–पात० महा० पस्पशा०। (३) पृ० ७०३। (४) अनादिप्रयोगितया। (५) तुलना–"म्लेच्छव्यवहारा अपि केचित् मातृविवाहादयो मदनोत्सवादयश्चानादय. नास्तिक्यवचासि च अपूर्वपरलोकाद्यपवादीनि।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।२४७। (६) "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियम।' 'शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एव क्रियमाणमभ्युदयस्तत्तुल्य वेदशब्देन।"–पात० महा० पस्पशा०। "साधवो धर्मसाधनम्"–वाक्यप० १।२७। (७) तुलना–"न धर्मसाधनता, मिथ्यावृत्तिचोदनेभ्योप्यधर्मोत्पत्तिः, अन्येभ्योऽपि विपर्यये धर्मोत्पत्ते। शब्दस्य सुप्रयोगादेव स्वर्गमोदनघोषणा वचनमात्रम्। नचैवविधानागमानाद्रियन्ते युक्तिज्ञा। नच दानादिधर्मसाधनचोदनाशून्यकेवलशब्दसुप्रयोगान्नगपात इति ब्रुवाणस्य कस्यचिन्मुख वक्रीभवति।"–वादन्या० पृ० १०६। "तथा च सस्कृताच्छब्दात्सत्याद् धर्मस्तथाऽन्यत.। स्यादसत्य यदा (सत्याद्यदा) धर्म. क. नियम. पुण्यपापयोः।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९०। प्रमेयक० पृ० ६६८। (८) शब्दादनुष्ठेयार्थ-

---

1–चिद्दृष्टम् श्र०। 2 व्यवहारार्त्तश–श्र०। 3–लितस्वरूप–ब०, श्र०। 4–रूपतापेक्षया ब०, श्र०। 5–प्रसंगतस्तद–ब०। 6–पगमेपि च श्र०। 7–पेक्षस्यनादि–ब०।

शब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यविशिष्टम् ।

विशिष्ट[1]पुरुषप्रणीतत्वं विशिष्टा[1]र्थाभिधायित्वं बाधारहितत्वं प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम् अनुपहतेन्द्रियग्राह्यत्वञ्च उभयत्राप्यविशिष्टमेव । अनावृतत्वमपि आवृतत्वपूर्वकं न शब्दे संगच्छते, स्थायित्वाभावात् । स्थायिन एव हि पदार्थस्य आवृतत्वा[2]नावृतत्वे घटेते । शब्दे च स्थायित्वं प्रागेव प्रतिषिद्धम् ।

व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वञ्च संस्कृतशब्दवत् प्राकृतशब्दानाम[3]प्यस्त्येव । यथैव हि संस्कृतव्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा प्राकृतेनापि । अस्या[2]ऽव्याकरणत्वे अन्यत्र कः समाश्वासः ?

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'संस्कृता वा[4]गुद्यते' इत्यादि; तत्राप्यसौ कदा वक्तव्या–कर्मकाले[5], अध्ययनकाले वा ? अध्ययनकाले चेत्, कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य, संस्कृतस्य वा ? न तावत् प्राकृतस्य, तत्र[4] संस्कृतवाचोऽनभिधानात्, अन्यथा तदध्ययनानुपपत्तिः । अथ संस्कृतस्य, कथं तदध्ययनकाले अ[6]नधीयमानत्वात् प्राकृतवाचोऽसाधुत्वम् ? अन्यस्याध्ययनकाले अन्यस्याऽप्रयोगादसाधुत्वे[7] तु पुराणाध्ययनकाले वेदवाचामप्यप्रयोगादसाधुत्वं स्यात् । अथ कर्मकाले; कुतस्तदा प्रा[8]कृता न वक्तव्याः–अर्थाप्रतिपादकत्वात्, अपशब्दत्वात्, अधर्महेतुत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, गाव्यादिशब्देभ्यः संस्कृतेतरवेदिनां सु[9]स्पष्टार्थ[10]प्रतिपत्तिप्रतीतेः ।

अपशब्दत्वञ्च गाव्यादिशब्दानां स्वरूपमात्रात्, व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? यदि स्वरूपमात्रात्; तर्हि गोशब्दस्यापि अपशब्दत्वप्रसङ्गः तदविशेषात् । व्याकरणादनिष्पत्तिरपि संस्कृतात्, प्राकृताद्वा स्यात् ? न तावत् प्राकृतात्, तत्र[5] तेषां स्वरूपनिष्पत्तिप्रतीतेः । संस्कृतव्याकरणतोऽपि गावीशब्दस्य स्वरूपमात्रेणाऽनिष्पत्तिः, अर्थविशेषे वा ? न तावत् स्वरूपमात्रेण, "य[6]स्ये तदादि गुः" [जैनेन्द्र० १।२।११४] इति गु[7]सञ्ज्ञायां सत्यां गोरियं गावी प्रक्रिया इति स्वरूपमात्रेण तन्निष्पत्तिप्रसिद्धेः । अथ अर्थविशेषे गोत्वलक्षणे गावीशब्दस्य अतोऽनिष्पत्तेः अपशब्दत्वमुच्यते, तदप्यसुन्दरम्, तत्र[8] तस्या[9]ऽव्युत्पादकत्वात् । प्राकृतव्याकरणमेव हि गोत्वलक्षणेऽर्थे गावीशब्दं व्युत्पादयति नान्यत् ।

बोधस्ततोऽनुष्ठानं ततो धर्मोत्पत्तिरिति ।

(१) तुलना–"न ह्येषां प्रज्ञाबाहुश्रुत्यादिकं संस्कारं पश्यामो नाप्येषामेकान्तेन श्रव्यता । नाप्यर्थप्रत्यायने कश्चिदतिशयः । 'शिष्टप्रयोगः संस्कार इति चेत्, के शिष्टाः ? ये वेद्यतादिगुणयुक्ताः । क पुनरेषां गुणोत्कर्षानपेक्षोऽलीकनिर्बन्धो यत्तेऽमूनेव शब्दान् प्रयुञ्जते नापरान्' "–वादन्या० पृ० १०७। (२) प्राकृतव्याकरणस्य । ३) पृ० ७६१ पं० १४ । (४) प्राकृताध्ययनकाले । (५) प्राकृतव्याकरणे । (६) "यस्य त्यं यत्त्य तस्मिन् परतः तदादि शब्दरूपं गुसञ्ज्ञं भवति ।"–शब्दार्ण० । (७) 'गु' इति सञ्ज्ञा 'अंग'सञ्ज्ञास्थानीया । (८) गोत्वलक्षणेऽर्थे । (९) संस्कृतव्याकरणस्य ।

1–ष्टाभिधा–ब० । 2–नावृतत्व घटते ब० । 3–मस्त्येव ब० । 4 वागुत्पद्यते आ० । 5–ले वा अध्य– । 6 अनभिधीय–श्र० । 7–त्वे प्राकृ–आ० । 8 प्राकृताऽसौ न श्र० । 9 संस्पष्टार्थ–श्र० । 10–प्रतिप्रतीते. आ०, ब० । 11 त्येतदा–श्र० ।

अव्युत्पादकादनिष्पत्तेश्चास्य[1] अपशब्दत्वे गोशब्दस्याप्यपशब्दत्वप्रसङ्गः, प्राकृतव्याकरणात्तस्याप्यनिष्पत्तेरविशेषात् । अतः संस्कृतेतरव्याकरणप्रसिद्धयोः गोगावीशब्दयोः गोत्वलक्षणार्थाभि[1]धायित्वेन प्रवृत्तेः कुतोऽयं नियमः 'गोशब्द एव गोत्वस्य वाचको न गावीशब्दः शब्दः तथा' । यथैवं[2] हि तुल्यप्रमाणावधारितवाचकत्वा[2] वृक्षतरुपादपादयः पर्यायशब्दाः तथा गोगाव्यादयोऽपि । तथा[3]हि—गो-गावी-गौणी-[4]गोपोतलिकेत्यादयः शब्दाः गोत्वस्य वाचकाः वृद्धैस्तत्र अविगानेन प्रयुज्यमानत्वात्[4] गौः उश्रा(स्रा)इत्यादिवत् । तथा, गाव्यादयः शब्दाः गोत्वे अनादिप्रयोगाः अनवगम्यमानाऽवधित्वात् [5]गौरुश्रा(स्रा)इत्यादिवत् ।

अथ अधर्महेतुत्वादसाधुत्वमस्याः, ननु कदा तस्या अधर्महेतुत्वम्—सर्वदा, यागादिकर्मकाले वा ? यदि सर्वदा; न कदाचिद् धर्मस्यावसरः स्यात्, नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानसमयेऽपि प्राकृतशब्दानां घृतसमिदाद्यभिधायिनां गोभूम्यादिदानाभिधायिनाञ्च प्रयुक्तानामधर्मस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात् । अथ यागादिकर्मकाले; महत् तत्कर्मणो माहात्म्यं येनान्यदा अधर्मस्याजनकमपि आत्मसत्ताकाले[ऽ]धर्मजनकं करोति इति ।

किञ्च, प्राकृतवचसामधर्महेतुत्वनियमः तदा सिद्ध्येत् यदा संस्कृतानां तेषां धर्महेतुत्वनियमः स्यात् । तन्नियमाभ्युपगमे च नटभटव[6]रुट[6]चर्मकारादीनां संस्कृतवेदवचोऽभिधायिनां प्राकृतवक्तृमासोपवासिन्यादिभ्यः अतीवाधिकधर्मोत्पत्तिः स्यात् । अथ ब्राह्मणस्यैव तदभिधायिनो धर्मः नान्यस्येति चेत्, न; ब्राह्मण्यस्य कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रतीतेः ॥छ॥

नित्यनिरंशैकत्वादिधर्मोपेता योनिनिबन्धना ब्राह्मण्यजातिरिति मीमांसकादीनां पूर्वपक्ष –

ननु प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीयते; विस्फारिताक्षस्य पुरोव्यवस्थितेषु क्षत्रियादिसङ्केषु तद्वैलक्षण्येन 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारप्रत्ययविषयतया ब्राह्मणसङ्के मनुष्यत्वाद्यतिरिक्तस्य अनुगतैकाकारस्य ब्राह्मण(ण्य)स्य प्रतिभासप्रतीतेः । न चायं प्रत्ययः सन्दिग्धः; उभयकोटिसंस्पर्शित्वाभावात् । नापि विपर्यस्तः, दोषरहितैः कारणैरारब्धत्वात् बाधकप्रत्ययरहितत्वाच्च । [7]यदि च ब्राह्मण्यं प्रत्यक्ष न स्यात् तदा 'ब्राह्मणोऽयं पुरुषः' §इति विशिष्टप्रतिभासो न स्यात् । अत्र हि ब्राह्मणत्वानुरागविशिष्टः पुरुषः प्रतिभासते, [8]न पुनः

(१) गावीशब्दस्य । (२) तुलना—"तस्मात्पर्यायशब्दत्वात् गाव्यादेस्तरुवृक्षवत् । आचारेण प्रयोज्यत्व न शास्त्रस्थैर्निवारितम् ॥"—तन्त्रवा० १।३।२४ । (३) तुलना—"गावीगोण्यादय शब्दाः सर्वे गोत्वस्य वाचका । वृद्धैस्तत्र प्रयुक्तत्वाद् गोरस्रेत्येवमादिवत् ॥"—तन्त्रवा० १।३।२४ । (४) म्लेच्छजातिविशेष । "पुलिन्दा नाहला निष्टचा शवरा वरुटा भटा । माला भिल्ला किराताश्च सर्वेऽपि म्लेच्छजातय ॥"—हैम । (५) ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रत्ययः ।

1–भिधायकत्वेन ब०, श्र० । 2–त्वात् वृक्ष–ब० । 3–गौणातलि–श्र० । 4 गोरूपत्वेत्या–ब०, गोरुक्षेत्या–श्र० । 5 गोरूपत्वेत्या–ब० । 6–चरुट–आ०, ब० । 7 यदि ब्राह्म–आ० । §एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 8–न पुनः पुरुषमात्रं श्र० ।

प्रतिभासते तच्छून्यं[१] पुरुषमात्रम्। तत्प्रतिभासे[२] हि 'पुरुषोऽयम्' इति प्रतिभासः स्यात् नतु 'ब्राह्मणोऽयम्' § इति, पुरुषातिरेकित्वाद् ब्राह्मण्यस्य[1]। न च अप्रतिपन्ने विशेषणे विशिष्टः प्रत्ययो युक्तः, अतिप्रसङ्गात्। न च तथाभूतस्य ब्राह्मण्यस्य[2] अर्थेषु संभवे प्रथमदर्शनेऽपि प्रतिभासप्रसङ्गः, यतः स्वविशेषव्यङ्ग्या जातिः, विशेषाश्च इतरजातिपरिहा[3]रेण अवभासमाना जात्यन्तरपरिहारेण स्वजातीर्व्यञ्जयन्ति यथा गवाश्वादयः, अतः तत्र[३] प्रतिभाताऽपि[4] जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणान्नोल्लिखति। व्यञ्जकभेदाग्रहणञ्च अत्यन्तसुसदृशावयवत्वादुपपन्नम् अत्यन्तसुसदृशगोगवयवत्। दृश्यते च द्रव्यपरीक्षकाणां कूटाकूटविवेके मणिपरीक्षकाणाञ्च मणिकाचादिविवेके अवधानवतां नैसर्गिकाभ्यासिकप्रतिभाससामग्रीसद्भाव[5] एव कूटाकूटविवेको मणिकाचादिविवेकश्च, एवमत्रापि 'अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुतायां ब्राह्मण्यामुत्पन्नः ब्राह्मणः' इत्याद्यौपदेशिकमातापितृब्राह्मण्यज्ञानलक्षण[6]सामग्रीसद्भाव[४] एव 'ब्राह्मणोऽयम्' इति विवेकेन प्रतिभासाविर्भावो भवति। यदि वा, तद्ब्राह्मण्यज्ञाननिरपेक्षः[५] 'ब्राह्मणोऽयम्' इत्युपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण 'ब्राह्मणोऽयम्' इति ब्राह्मण्यजातिग्राही प्रत्ययो जन्यते। नच सामग्र्यभावात् यन्न प्रतिभासते तन्नास्तीति वक्तुं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। अविप्लुतत्वञ्च मातापित्रोः प्रवादाभावान्निश्चीयते[६]। व्यभिचारो

(१) ब्राह्मणत्वरहितम्। (२) ब्राह्मणत्वशून्यपुरुषमात्रप्रतिभासे। (३) पुरुषेषु। (४) "ब्राह्मण्या ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मण स्यान्न सशय। क्षत्रियाया तथैव स्याद् वैश्यायामपि चैव हि॥" –**महाभा० अनु० ४७।२८।** "सुवर्णं व्यज्यते रूपात्तामृत्वादेरसशयम्। तैलाद् घृत विलीनञ्च गन्धेन च रसेन च॥ भस्मप्रच्छादितो वह्नि स्पर्शनेनोपलभ्यते। अश्वत्वादौ च दूरस्थे निश्चयो जायते स्वनै। सस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि योनित। क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजानुपालितात्॥"–**मी० श्लो० वन० श्लो० २७–२९।** "कथ पुनरिद लोकस्य प्रसिद्धम्? प्रत्यक्षेणेति ब्रूम। कस्मात्पुन मातापितृसम्बन्धानभिज्ञा चक्षु सन्निकृष्टेषु मनुष्येष्वनाख्यात न प्रतिपद्यन्ते? शक्त्यभावात् यथा वृक्षत्व प्रागभिधानव्युत्पत्ते। तेन यथैवालोकेन्द्रियानेकपिण्डानुस्यूतिशब्दस्मरणव्यक्तिमहत्त्वसन्निकर्षाकारविशेषादयोऽन्यजातिग्रहणे कारण तथैवात्र उत्पादकजातिस्मरणम्। अयञ्चोत्पाद्योत्पादकसम्बन्धो मातुरेव प्रत्यक्षोऽन्येषा तु अनुमानाप्तोपदेशावगत कारणम्। नच तप आदीनां समुदायो ब्राह्मण्यम्, न तज्जनित सस्कार, न तदभिव्यङ्ग्या जाति। किं तर्हि? मातापितृजातिज्ञानाभिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसमधिगम्या।"–**तन्त्रवा० १।२।२।** "तस्मात्समानाकारेष्वपि पिण्डेषु विलक्षणब्राह्मणप्रत्ययवेद्यब्राह्मण्यादिजातिर्नापह्नोतु शक्यते।"–**तन्त्रवा० न्यायसु० पृ० १०–१५।** "यथा ब्राह्मणत्वादिजातिरुपदेशसव्यपेक्षचक्षुरिन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपोज्झति यथा च ब्राह्मणत्वादिजातिप्रतीतौ कारणान्तरमुक्तं क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजानुपालितादिति मन्वादिदर्शितानवद्यवर्त्मानुसरणनिपुणनरपतिपरिपाल्यमानवर्णाश्रमाणा शङ्कितकपटकृतकार्यवेशदृष्टशूद्रव्यभिचारे देशे विशिष्टाचारगम्यापि ब्राह्मणत्वादिजातिर्भवति।"–**न्यायमं० पृ० ४२२।** (५) मातापितृब्राह्मण्यज्ञान। (६) "स्त्र्यपराधात्तु दुर्ज्ञानोऽय सम्बन्ध इति स्वयमेव वक्ष्यति। न च तावन्मात्रेण प्रत्यक्षता हीयते। न हि यद्गिरिशृङ्गमारुह्य गृह्यते तदप्रत्यक्षम्। न च स्त्रीणा क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रैव कल्पना युक्ता। लोकविरुद्धानुमानासभवात्। विशिष्टेन हि प्रयत्नेन महाकुलीना परिरक्षन्त्यात्मानम्, अनेनैव हेतुना राजभिर्ब्राह्मणैश्च स्वपितृपितामहा-

1 **ब्राह्मणस्य** ब०, श्र०। 2 **ब्राह्मणस्य** ब०, श्र०। 3 **इतरज्जाति**–आ०। 4 **प्रतिज्ञातापि** आ०, श्र०। 5–**सामग्र्यासद्भा**–ब०। 6 **इत्योपदेशि**–ब०, **इत्यापदे**–श्र०।

हि प्रवादेन व्याप्तः, अतः प्रवादो निवर्त्तमानः व्यभि[1]चारं निवर्त्तयति, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽनिवृत्तिविरोधात् ।

यदि च ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्यजातिरर्थो न स्यात् तदाऽयमनर्थकः स्यात्, न चैतद् युक्तम्, एतदुच्चारणानन्तरभाविनोऽर्थप्रत्ययस्य उपलभ्यमानत्वात् । तन्निबन्धनव्यवहारस्य च 'ब्राह्मणं भोजय' इत्यादिरूपस्य असन्दिग्धाबाधि[2]तस्य सुप्रतीतत्वात् । पांशुपतादिलिङ्गिनामपि ब्राह्मणत्वादिजात्यनुरूपो नामचिह्नाचारोपदेशादिव्यवहारो दृश्यते, अतः सुदृढ[3]व्यवहारदर्शनाद् व्यक्तिभ्योऽर्थान्तरभूता प्रत्यक्षतः प्रसिद्धा ब्राह्मण्यजातिः ।

तथा अनुमानतोऽपि; तथाहि-[३]असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः स तदाकारविषयनिमित्तकः यथा नीलादिप्रत्ययः, असति प्रतिबन्धके भवति च 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारः प्रत्ययः, तस्मात् पिण्डव्यतिरिक्त-अनुगतैकाकारब्राह्मण्यनिमित्तक इति । यदाकारो हि प्रत्ययः विषयेणापि तदाकारेणैव भवितव्यम्, अन्यथा नीलादिप्रत्ययस्य अनीलादिविषयत्वप्रसङ्गात् प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपानुषङ्गः ।

तथा, ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताऽभिधेयसम्बद्धम् पदत्वात् पटादिपदवत् । न चायमसिद्धो हेतुः; धर्मिणि विद्यमानत्वात् । नापि विरुद्धः; विपक्ष एवाऽवृत्तेः । नाप्यनैकान्तिकः, पक्षसपक्षवद् विपक्षेऽप्यप्रवृत्तेः । नापि साधनविकलो दृष्टान्तः; पटादिपदेषु पदत्वस्य विद्यमानत्वात् । नापि साध्यविकलः; तेषु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येन अनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः ।

तथा वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मण' इति ज्ञानं तन्निमित्तबुद्धिविलक्षणत्वात् गवाश्वादिज्ञानवदिति ।

दिपारम्पर्याविस्मरणार्थं समूहलेख्यानि प्रवर्तितानि । तथा च प्रतिकूलगुणदोपस्मरणात्तदनुरूपा प्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते ।"-तन्त्रवा० १।२।२। "स्त्रीत्वस्य व्यभिचाराप्रयोजकत्वसूचनार्थोऽनुमाने कल्पनाशब्द । न च निर्मूलकत्वेन लोकस्याप्रामाण्यम्, प्रयत्नेन रक्षणे योग्यानुपलब्धेर्मूलत्वसभवादिति दर्शयितुमाह-विशिष्टेन हीति । महाकुलीनाना पुरुषाणां स्त्रीरक्षणमेव आत्मरक्षणम्, जायाया रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षित इति स्मरणात् । यद्वा दुष्कुलप्रसूतत्वं व्यभिचारशीलत्वे प्रयोजक न स्त्रीत्वमिति दर्शयितु महाकुलीनत्व स्त्रीणामुक्तम् । व्यभिचाराभावनिश्चयमेव अभियुक्तवृद्धव्यवहारेण द्रढयति अनेनैवेति । व्यभिचाराभावानिश्चये हि निर्मूलत्वात् पितृपितामहादिपरम्परालेखनात्मकसमूहलेख्य व्यर्थं स्यादिति भाव । कुलपरीक्षापूर्वकेदानीन्तनपुरुषगतविवाहादिव्यवहारेणापि तमेव द्रढयति तथा चेति ।"-तन्त्रवा० न्यायसु० पृ०१२। "यत्र यावदुपलब्धिसामग्री तावत्या सत्यामपि यासा व्यभिचारो न दृश्यते तासा नास्त्येव व्यभिचार इति लोकप्रमाणकमेतत् । अपि च अप्रमत्तै स्त्रियो रक्षणीया, तासु नास्त्येव व्यभिचारसभावनावकाशो यासु त्वस्ति मा भूत् तदपत्येषु तत्सन्ततिप्रभवत्वनिश्चय. । न चैतावता यत्रापि निश्चय शक्यस्तत्रापि अनिश्चय इति युक्तमिति ।"-प्रक० पं० पृ० ३१ ।

(१) ब्राह्मणशब्दप्रयोग । (२) शैवादिभेदानाम् । (३) ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय पिण्डव्यतिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धन असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकरतया समुत्पद्यमानत्वात् । (४) पटादिपदेषु । (५) पटव्यक्तितो व्यतिरिक्तमेकं निमित्त पटत्वाख्यम् ।

1-चारं विनि-ब० । 2-तस्य प्रती-ब० । 3 सुदृढं व्यव-श्र० ।

तथा "*ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः*" [ ] इत्याद्यागमादपि ब्राह्मण्यजातिः प्रसिद्धा । तथा 'वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धा चासौ "*आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियम्, ऊरुभ्यां वैश्यम् पद्भ्यां शूद्रम्*" [ ] इत्यादि वचसां भूयसां तत्र तत्प्रतिपादकानां श्रवणादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीते' इत्यादि; तदसमीचीनम्, यतः किं केवलेन्द्रियजनितेन तेन तत्प्रतीयेत, अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेन वा? प्रथमपक्षे किं निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तज्जनितेन तेन तत्प्रतीयेत? न तावन्निर्विकल्पकेन, तत्र जात्यादिप्रतिभासाभावात्, भावे वा निर्विकल्पकत्वविरोधः कथमन्यथेदं शोभेत–

सदृशपरिणामरूप एव ब्राह्मण्यम्, नतु योनिनिबन्धनमिति समर्थनम्–

"*अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥*
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया । बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२, १२०] इति ।

नापि सविकल्पकेन, अस्य निर्विकल्पकाविषये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । उपपत्तौ वाऽतिप्रसक्तेः । न च विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्त्तिखण्डमुण्डकर्कादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिवत्

(१) ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥"–ऋग्० पुरुष० १२ । "अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः स बाहू कृतो बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यद्यावूरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इयञ्च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां (३१।११) सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता ।"–सायणभा० । (२) पृ० ७६८ प० १८ । (३) तुलना–"तत्र किं निर्विकल्पकात् विकल्पकाद्वा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ।"–प्रमेयक० पृ० ४८२ । स्या० र० पृ० ९५८ । (४) इन्द्रियजनितेन प्रत्यक्षेण । (५) निर्विकल्पके । (६) व्याख्या–"यस्त्वपिशब्दमसहमानः सर्वमेव ज्ञानं शब्दानुविद्धत्वात् सविकल्पकमेव न किञ्चिन्निर्विकल्पकमस्तीति मन्यते तं प्रत्याह–अस्तीति । बालानामिव अव्युत्पन्नानामस्माकमपि चक्षुःसन्निपातानन्तरं सविकल्पकात् प्रथममस्ति निर्विकल्पकं प्रतीतिसिद्धमालोचनविज्ञानं शुद्धवस्तुविषयम्, तदभावे हि निर्निमित्तं शब्दस्मरणं स्यात् । अस्मृतशब्दस्य च (न) शब्दानुविद्धो विकल्पः संभवतीति । शुद्धवस्तुजमित्येतद्विवृणोति– न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते । तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते ॥ महासामान्यमन्यैस्तु द्रव्यं सदिति चोच्यते ।"–मी० श्लो० न्यायर० । उद्धृतोऽयम्–'ज्ञानमाद्यं चेन्निर्विकल्पकम्'–तत्त्वसं० पृ० ३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । प्रमेयर० पृ० ७४ । स्या० र० पृ० ९५८ । स्या० मं० श्लो० १३ । 'ह्यालोचनं ज्ञानं'–षड्द० बृह० पृ० ११ । (७) ततो निर्विकल्पकादुत्तरकालं जात्यादिभिर्विकल्प्य वस्तु यया बुद्ध्या गृह्यते साऽपि प्रत्यक्षमेवेति ।"–मी० श्लो० न्यायर० । उद्धृतोऽयम्–तत्त्वसं० पृ० ३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । स्या० र० ९५८ । (८) मनोराज्यादिविकल्पादपि वस्तुसिद्धिप्रसङ्गात् । (९) तुलना–"विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्तिखण्डमुण्डकर्कादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिवत् मनुष्यव्यक्तिषु मनुष्यत्वपुस्त्वाद्यतिरिक्तब्राह्मणस्य कस्यचिदप्रतिभासात् ।"–स्या० र० पृ० ९५८ ।

1 इति वचसां ब० । 2 वचसां तत्र श्र० । 3–वा तत्प्र–ब० ।

शुक्लत्वादिगुणवद्वा मनुष्यव्यक्तिषु [1]मनुष्यत्वपुंस्त्वा[2]द्व्यतिरिक्तस्य [3]ब्राह्मण्यस्यैकस्य अखिलस्वव्यक्तिष्वनुगतस्य प्रतिभासोऽस्ति। कथमेवं क्वचिद् ब्राह्मणत्वानुरक्तोऽनु[4]गतप्रत्ययः स्यादिति चेत्? सङ्केतवशात्, यथैव हि परस्परविलक्षणेषु गोवत्रादिषु एकगोत्वरूपसामान्याभावेऽपि 'गौः गौः' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययः तथा अन्योन्यविलक्षणेष्वपि मनुष्यव्य[5]क्तिविशेषेषु 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययो भविष्यति। वस्तुसामर्थ्यप्रभवत्वे तु अगृहीतसङ्केतास्वपि व्यक्तिषु [1]तन्मात्रोपलम्भेनैव अव्यभिचा[6]रिगोप्रत्ययवत् [2]स स्यात्, न चैवम्। न खलु यथा [7]महिषादिसङ्घे गवां गोजातिः वैलक्षण्येन प्रतिभासते [8]स्वसङ्घे च गुणः क्रिया वा, तथा ब्राह्मण्यमपि। नहि हस्तपादाद्याकारव्यङ्ग्यमनु[3]ष्यत्वा[9]द् व्यतिरिच्यमानपुंस्त्वादिसामान्यवत् ब्राह्मणत्वं वैविक्त्येन [10]जातु प्रतिभासते। अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेनापि ते[4]न निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तत्[5] प्रतीयेत? उभयत्र उक्तदोषानुषङ्गः।

किञ्च, इन्द्रियाणां तद्विषयं प्रत्यक्षमुपजनयतां किं तदन्यत् सहकारित्वेन अभिप्रे[6]तम्-ब्राह्मणभूतपितृ[11]जन्यत्वम्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेशः, आचारविशेषः, संस्कारविशेषः, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा? [12]तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्न[7]ः; यतः पित्रोर्ब्राह्मण्ये सिद्धे तज्जन्यत्वेन पुत्रस्य ब्राह्मण्यं सिद्ध्येत्, [8]तच्चानयोः [13]ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वात् सिद्ध्येत्, तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा? प्रथमपक्षे अनवस्था। बीजाङ्कुरवदनादित्वात् तत्कार्यकारणप्रवाहस्य अतो नानवस्था दोषाय; इत्यप्ययुक्तम्; यतो बीजाङ्कुरयोः कार्यकारणभावः पूर्वबीजाङ्कुरकार्यकारणभावग्रहणनिरपेक्षः प्रमाणतः प्रतीयते, अत्र तु पूर्वपूर्वब्रा[14]ह्मण्यप्रतिपत्त्यभावे परापरब्राह्मण्यप्रतिपत्तेः कर्त्तुमशक्यत्वान्न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः मनागपि साम्यम्। द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि पितृब्राह्मण्ये ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वेन [15]पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः; तत्सिद्धौ च ब्राह्मणभूतपुत्रजनकत्वात् पितृब्राह्मण्यसिद्धिरिति।

---

(१) वस्तुमात्रोपलम्भेनैव। (२) ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय। (३) मनुष्यत्व हि स्त्रीपु पुरुषेषु च व्याप्तम्, पुरुषत्वं तु पुरुषमात्र एव। (४) प्रत्यक्षेण। (५) ब्राह्मण्यम्। (६) "ननु किमिदमिन्द्रियसहकारित्वेनात्रेष्टम्-ब्राह्मणभूतस्वपितृजन्यत्वम्, पितृगोचरोऽविप्लुतत्वोपदेशः, आचारविशेष, संस्कारविशेष, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा?"-स्या० र० पृ० ९५८। (७) तुलना-"यत पित्रादिब्राह्मण्यज्ञान प्रमाणमप्रमाण वा?"-प्रमेयक० पृ० ४८३। (८) "तच्चानयो ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वात् सिद्धचेत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा?"-स्या० र० पृ० ९५९।

---

1 मनुष्यपुंस्त्वा-आ०, व०। 2-स्त्वाद् व्यति-श्र०। 3 ब्राह्मणस्यै-आ०, श्र०। 4-गत. प्रत्य-व०। 5-व्यक्तिषु मनुष्यत्वपुंस्त्वादव्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणोऽयं श्र०। 6-चारी गोप्रत्य-आ०,व०। 7 महिष्यादि-श्र०। 8 स्वस्वसंघे व०। 9-त्वाद्यतिरि-व०, आ०। 10 जातिः प्रति-श्र०। 11-जन्मत्वं व०। 12 तत्राद्यप-व०। 13 ब्राह्मण्यभूत-श्र०। 14-ह्मण्यभावेपरा-श्र०। 15 पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण्यसिद्धिः तत्सिद्धौ च ब्राह्मण-आ०।

'अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुतायां ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मणः' इत्यविप्लुतमातापित्रुपदेशस्तत्सहकारी, इत्यपि श्रद्धामात्रम्[1], प्रमाणतोऽप्रतिपन्नेऽर्थे वास्तवोपदेशासंभवात्। [2]यन्न कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते न तत्रोपदेशो वास्तवः यथा सकलशून्यतायाम्, कुतश्चिदपि प्रमाणान्न प्रतीयते च भवत्कल्पितं ब्राह्मण्यमिति। अथ प्रत्यक्षत एव ब्राह्मण्यं प्रतीत्य यथोक्तोपदेशो विधीयते, तदसत्, [3]परस्पराश्रयप्रसङ्गात्–सिद्धे हि ब्राह्मण्यप्रत्यक्षत्वे प्रमाणभूतयथोक्तोपदेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतोपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण ब्राह्मण्यप्रत्यक्षतासिद्धिरिति।

अवि[4]प्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया, अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा अभिप्रेतम्? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्रापि अनयोः [1]तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्, अनादिकाले वा? तज्जन्मनि चेत्, केन तत्तत्र तयोः प्रतीयेत–पुत्रेण, अन्यैर्वा? न तावत् पुत्रेण, स्वजन्मकालेऽपि तस्य तद्विवेचनासामर्थ्यात्। नाप्यन्यैः, [5]तद्धि तैः प्रत्यक्षतः प्रतीयेत, अनुमानात्, आगमाद्वा? न तावत् प्रत्यक्षतः, 'अयमेतस्मादेव एतस्यामुत्पन्नः' इत्येवंरूपस्यार्थस्य अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षीकर्त्तुमशक्यत्वात्। नाप्यनुमानात्; प्रत्यक्षाविषये भवता अनुमानाऽनभ्युपगमात्। लिङ्गाच्च अनुमानमुदयमासादयति। न [6]च पि[2]त्रविप्लुतत्वे किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। तत्र हि लिङ्गम्- पित्रोः संवृताकारादिविशेषः, अपत्येष्वविलक्षणता वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, दुश्चारिणाम् अतीव संवृताकारदर्शनात्। द्वितीयपक्षोऽप्यपेशलः; [7]यतो यदि विप्लुतेतरपि[3]तृप्रभवाऽपत्येषु विलक्षणाकारता सिद्ध्येत् तदा अवि-

(१) तुलना–"न खलु द्विजादिभाव प्रमाणगोचरचारी। स हि जातियोगलक्षण गोत्रलक्षण क्रियासामर्थ्यातिशययोगो वा? परोपदेशप्रामाण्य प्रत्यक्षार्थे न युक्तिमत्। उपदेशो हि लोकानामन्यथापि प्रवर्तते।"–**प्रमाणवार्तिकाल०** पृ० २२। "नचोपदेशसहायाध्यक्षगम्य तत्, अध्यक्षविषये उपदेशापेक्षायोगात्। तद्योगे वा उपदेशस्यैव केवलस्य व्यापार इति उपदेशमात्रव्यङ्ग्यतैव।"–**सन्मति० टी०** पृ० ६९७। (२) ब्राह्मण्ये नोपदेशो वास्तव प्रमाणतोऽप्रतीयमानत्वात्। (३) "किञ्च, ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धि, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिरित्यन्योन्याश्रय।"–**प्रमेयक०** पृ० ४८३। **स्या० र०** पृ० ९५९। (४) तुलना–"शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रो पित्रोर्यदेकश। तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का। कामिनीवर्गससर्गैर्न क सङ्क्रान्तपातकः।" –**नैषध०** १७। ४०–४१। "अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वाऽभिप्रेतम्? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया; तत्राप्यनयोस्तज्जन्मन्यविप्लुतत्वमभिमतमनादिकाले वा? तज्जन्मनि चेत्, तर्हि केन तत्र तयो प्रतीयेत पुत्रेण अन्यैर्वा?"–**स्या० र०** पृ० ९५९। (५) विवक्षितपित्रपेक्षया तज्जन्मन्यविप्लुतत्वम्। (६) "नच पित्रोरविप्लुतत्वे किञ्चिल्लिङ्गमस्ति, तद्धि (द्धि) सवृताकारादिविशेष अपत्येष्वविलक्षणता वा?"–**स्या० र०** पृ० ९५९। (७) तुलना–"नच विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वैलक्षण्य लक्ष्यते। न खलु वडवाया गर्दभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्या ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्य लक्ष्यते।"–**प्रमेयक०** पृ० ४८३। **स्या० र०** पृ० ९५९। "न च जात्यन्तरस्थेन पुरुषेण स्त्रिया क्वचित्। क्रियते गर्भसभूतिर्विप्रादीना तु जायते॥ अश्वाया रासभेनास्ति सभवोऽस्येति चेन्न स। नितान्तमन्यजातिस्थ॰ शफादितनुसाम्यतः॥ यदि वा

1 तज्जन्यविप्लुत–श्र०। 2 पितृविप्लु–आ०, ब०। 3–पितृभवा–ब०।

लक्षणाकाराऽपत्योपलम्भात् पित्रोरविप्लुतत्वं निश्चीयते, न चासौ[1] सिद्धा। न खलु वडवायां गर्दभाश्वप्रभवाऽपत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं स्वप्नेऽपि प्रतीयते। [2]आगमतोऽपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तयोरविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः स्यात्? न तावदपौरुषेयात्; तत्प्रतिपादकस्य अपौरुषेयस्य आगमस्यैवाऽसंभवात्। पौरुषेयोऽप्यागमः [3]तत्प्रणेत्रा प्रमाणान्तरेणानयोरविप्लुतत्वे प्रतिपन्ने सति प्रवर्त्तमानः प्रमाणतां [2]भजते, 'न [4]तत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिदस्ति' इत्युक्तम्। तन्न तज्जन्मनि अनयोरविप्लुतत्वं कुतश्चित् प्रत्येतुं शक्यम्।

एतेन अनादिकाले [5]तयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता; ययोर्हि तज्जन्मन्यप्यविप्लुतत्वं प्रत्येतुं न शक्यते तयोः अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम्!

एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अविप्लुतत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा।

किञ्च, [6]सदैव अबलानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात् अनादौ काले ताः कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्यम्। तथा च 'व्यभिचारो हि प्रवादेन [3]व्याप्तः' इत्याद्ययुक्तम्; अत्यन्त[4]प्रच्छन्नकामुकानां प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसंभवतः तस्य तेन व्याप्त्यनुपपत्तेः। अतः पित्रोरविप्लुतत्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः न तदुपदेशो ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुषः सहकारित्वं प्रतिपद्यते।

नापि आ[7]चारविशेषः; स हि ब्राह्मणस्याऽसाधारणो याजनाऽध्यापनप्रतिग्रह-

तद्वदेव स्याद् द्वयोर्विसदृश सुत। नात्र दृष्ट तथा तस्माद्गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः॥"–पद्मपु० ११।१९६-९८। "वर्णाकृत्यादिभेदाना देहेस्मिन्न च दर्शनात्। ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्॥ नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणा गवाश्ववत्। आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते॥"–उत्तरपु० ७४।४९१–९२।

(१) विप्लुतेतरप्रभवापत्येषु विलक्षणाकारता। (२) तुलना–"न च वेदवच किञ्चित् द्विजातित्वप्रसाधकम्। व्यक्ते सामान्यवचनमनुक्तसममेव तत्॥"–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २५। (३) आगमप्रतिपादकेन। (४) अविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः। (५) पित्रोरविप्लुतत्वप्रतीति.। (६) तुलना–"यदाहु–अनादाविह ससारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना॥"–नैषध० टी० १७।४०। "अनादिगोत्रपद्धत्यामस्या न स्खलन स्त्रिया। इति ज्ञान कथन्नाम कामार्ता हि सदा स्त्रिय.॥ ब्राह्मणत्वे स्थिते पूर्वं तद्गोत्रत्वस्य सभव। तदाऽस्थिते. कथं गोत्र सेयमन्धपरम्परा॥" –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २५। "अतीतश्च महान् कालो योषिताञ्चातिचापलम्। तद् भवत्यपि निश्चेतु ब्राह्मणत्व न शक्यते॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो न हि कश्चित् समस्ति व.। त्वदन्वयविशुद्धिञ्च नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान्॥"–तत्त्वसं० का० ३५७९–८०। "प्रायेण प्रमादाना कामातुरतया इहजन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्कुतो योनिनिवन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः।"–प्रमेयक० पृ० ४८२। "अनादिगोत्रपद्धतौ च कामार्तत्वात् सर्वदा प्रमदाना कस्याश्चिद् व्यभिचारसभवात् कुतो योनिनिवन्धनब्राह्मण्यनिश्चयात् सस्कारस्य अध्ययनादेश्च अविपर्यस्तत्वनिश्चय।"–सन्मति० टी० पृ० ६९८। स्या० र० पृ० ९६०। "न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता। कालेनानादिना गोत्रे स्खलन क्व न जायते॥"–धर्मप० १७।२८। (७) "अध्यापनमध्ययन यजन याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥"–मनुस्मृ० १।८८।

1–द्वानयो ब०। 2 भजते तन्न श्र०। 3 व्याप्त इ–श्र०। 4–प्रवृत्तकाप्रकाशानां ब०।

ग्रहादिः, स च तत्प्रत्यक्षतानिमित्तं न[1] भवति अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुषङ्गात्, याजनादिरहितेषु हि ब्राह्मणेष्वपि तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादव्याप्तिः, शूद्रेष्वपि अखिलस्य याजनाद्याचारस्योपलब्धितो ब्राह्मण्यानुषङ्गाच्चातिव्याप्तिः। अथ मिथ्याऽसौ आचारविशेषस्तत्र[2], अन्यत्र कुतः सत्यः? ब्राह्मण्यसिद्धेश्चेत्, अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि आचारसत्यत्वे ब्राह्मण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति।

किञ्च, आचाराद् ब्राह्मण्यसिद्ध्यभ्युपगमे व्रतबन्धात् पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गः। तन्न आचारोऽपि तैत्प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्।

एतेन[4] संस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याख्याता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्यविशेषात्। तत्र अव्याप्तिः–संस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि अब्राह्मण्यप्रसक्तेः स्यात्। अतिव्याप्तिः पुनः अब्राह्मणस्यापि तथाविधसंस्कृतस्य ब्राह्मणत्वापत्तेः स्यादिति। एतेन वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा। ब्रह्मप्रभवत्वस्य च तदङ्गत्वे अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्प्रभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात्।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति, न वा? यदि नास्ति; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः? न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता। अथ अस्ति, किं सर्वत्र, मुखप्रदेशे एव वा? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिनां भेदाभावानुषङ्गः। अथ मुखप्रदेश एव, तदाऽन्यत्रास्य शूद्रत्वानुषङ्गात् न विप्राणां तत्पादादयो वन्द्याः स्युः।

(१) तुलना–"अथाध्ययनादिना क्रियाविशेषेण ज्ञायते नोपदेशमात्रात्; तदप्यसत्, द्विजातित्वे क्रिया साध्या न क्रियातो द्विजातिता। वचनादपि नैवास्या प्रतीतिरविरोधिनी ॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २३। "जातकर्मादयो ये च प्रसिद्धास्ते तदन्यवत्। आचारा सावृतास्ते हि कृत्रिमेष्वपि भाविन ॥"–तत्त्वस० का० ३५७८। "अत एवाध्ययन क्रियाविशेषो वा तत्सहायता न प्रतिपद्यते। दृश्यते हि शूद्रोऽपि स्वजातिविलोपाद्देशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययन तत्प्रणीताञ्च क्रिया कुर्वाण।"–प्रमेयक० पृ० ४८५। "अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुषङ्गात्"–स्या० र० पृ० ९६०। (२) शूद्रादिषु। (३) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताम्। (४) तुलना–"एतेन सस्कारविशेषस्य वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च चक्षु सहकारिता प्रत्युक्ता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्यविशेषात्।"–स्या० र० पृ० ९६१। (५) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षतानिबन्धनत्वे। (६) तुलना–"ब्रह्मणोऽपत्यतामात्रात् ब्राह्मण्येति प्रसज्यते। न कश्चिदब्रह्मतनोरुत्पन्न क्वचिदिष्यते ॥ अन्तरा जातिभेदश्चेन्निर्निमित्त कथं भवेत्। अन्तराले क्रियाभेदात् गोत्रेणार्थो न कस्यचित् ॥ अथ द्विजादिगोत्राणामनादिर्भेद इष्यते। ज्ञायता स कथन्नाम प्रमाणस्याप्रवृत्तित ॥ क्रिया तदपरिज्ञानादक्रियैव प्रसज्यते। अविच्छेदश्च गोत्रस्य प्रत्येतु शक्यते न च ॥ सूतमागधचाण्डाला कथ सभविनोऽन्यथा। ज्ञायन्त एव ते तज्ज्ञैरिति चेन्नियमो न हि ॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २४। (७) ब्रह्मप्रभवतया। (८) तुलना–"किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा न वा? नास्ति चेत्, कथमतो ब्राह्मणोत्पत्ति? अस्ति चेत्; किं सर्वत्र मुखप्रदेश एव वा?"–प्रमेयक० पृ० ४८४। स्या० र० ९६१। (९) अब्राह्मणाद् ब्राह्मण। (१०) सर्वत्र शरीरावयवेषु मुखादिपादान्तेषु। (११) पादादिषु। (१२) ब्रह्मण।

1 आचारस्तत्र ब०, आ०। 2–व्याप्त्योस्तत्रा–श्र०। 3–त्वानुपपत्ते श्र०। 4–वत्त्वसाधनत्वं गत्वे ब०। 5 –त्तिः प्रतीयते ब०,–त्तिता प्रतीता श्र०।

किञ्च, ब्राह्मण[1] एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव[1] वासौ जायते ? विकल्पद्वयेपि अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव[2] तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः[2], तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति। न च ब्रह्मप्रभवत्वं विशेषणं ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते। न च अप्रतिपन्नं विशेषणं विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधातुं समर्थमतिप्रसङ्गात्। यद् विशेषणं तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति।

एतेन 'असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः' इत्याद्यनुमानं[3] ब्राह्मण्यसद्भावप्रसाधकं प्रत्याख्यातम्; अनेकधा प्रतिबन्धकसद्भावप्रतिपादनात्।

यदपि–'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानमुक्तम्[4], तदप्ययुक्तम्; पक्षस्य[5] अध्यक्षबाधितत्वात्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बन्धशून्यमेव अध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तशब्दवत्। अप्रसिद्धविशेषणश्च[3] पक्षः, न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वं मीमांसकस्य अस्माकं[6] वा क्वापि प्रसिद्धम् [4]व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्य[7] सामान्यस्योभाभ्यामभ्युपगमात्[8][5]। हेतुश्चानैकान्तिकः; सत्ताऽऽकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावेऽपि पदत्वस्य भावात्। अत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनायां[9] सामान्यस्य[6] निःसामान्यत्वमनेकव्यक्तिवृत्तित्वञ्च व्याहन्येत। अद्वैताखिलशून्यत्वादेश्च सामान्यवत्त्वेन परमार्थसत्त्वानुषङ्गात्[10] कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिश्च स्यात् ? दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः; पटादिपदे व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तत्वासिद्धेः। नित्यैकरूपसामान्यमन्तरेणापि अनन्तानां वाच्यवाचकव्यक्तीनां सम्बन्धो यथा सिद्ध्यति तथा नित्यसम्बन्धनिषेधावसरे प्ररूपितम्[11]।

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं[12] प्रत्युक्तम्, उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात्। नगरा[13]-

(१) तुलना–"किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते तन्मुखादेवासौ जायेत ?"–प्रमेयक० पृ० ४८४। (२) ब्राह्मणस्यैव। (३) पृ० ७६९ पं० ८। (४) पृ० ७६९ पं० १३। (५) तुलना–"यतो यदि व्यक्त्यादिभ्यो व्यतिरिक्त निमित्तमात्रमस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, तत्समुदायस्य समुदायिभ्य कथञ्चिदव्यतिरिक्तस्य तद्विषयत्वेन स्वीकारात्। अथ प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तमेकान्तव्यतिरिक्तमभिधीयते; तदा पक्षस्य प्रतिपक्षबाधितत्वम्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणज्ञानं व्यक्त्यादिव्यतिरिक्तसामान्यनिमित्तरहितमेवाध्यक्षत प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तशब्दवत्।"–स्या० र० पृ० ९६१। प्रमेयक० पृ० ४८५। (६) जैनानाम्। (७) व्यक्तिभ्यो कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्य। (८) मीमांसकजैनाभ्याम्। (९) व्यक्तिभ्यो भिन्नाना सत्तात्व-आकाशत्व-कालत्व-अद्वैतत्वादीना सम्बन्धस्वीकारे। (१०) अद्वैतस्य सकलशून्यतायाश्च सिद्धिप्रसङ्गात्। (११) पृ० ५४६। (१२) पृ० ७६९ पं० १८। (१३) तुलना–"नगरादिज्ञानवत् व्यतिरिक्तनिबन्धनाभावेऽपि तथाभूतज्ञानस्य कथञ्चिदुपपत्ते.। न हि नगरादिज्ञानेऽपि व्यतिरिक्त द्रव्यान्तरमस्ति यदेकाकारज्ञाननिबन्धन भवेत्, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्त्या कयाचित् प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनाना नगरादिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्ते, अन्यथा पण्णगरीत्यादिष्वपि वस्त्वन्तरकल्पनाप्रसक्ते।"–सन्मति० टी० पृ० ६९७। प्रमेयक० पृ० ४८५। स्या० र० पृ० ९६१।

1–देव चासौ आ०, ब०। 2–सिद्धेः श्र०। 3 अथप्रसिद्ध–श्र०। 4 व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभामभ्यु–आ०। 5–भाभ्यागयुप–श्र०। 6 सामान्यनि सा–आ०।

दिज्ञानेन अनेकान्ताच्च, तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावेऽपि वर्णविशेषादिनिमित्तबुद्धिविलक्षणत्वस्योपलम्भात्। न खलु 'नगरं सेना वनम्' इत्यादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तम् अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं किञ्चिदस्ति। तद्धि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात्? प्रथमपक्षे नगरादिकमेव तत्र द्रव्यम्, अन्यद्वा? न तावत् नगरादिकमेव, तस्य द्रव्यत्वाऽसंभवात्। नहि नगरं सेनादिकं वा द्रव्यं संभवति; गृहादिभिरसंयुक्तैः विजातीयैश्च तस्य आरम्भाऽसंभवात्। कतिपयगृहाणामस्ति संयोग इति चेत्; न, तेषां[1] स्वयं संयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात्[2]। गुणरूपतया च तेषां[3] द्रव्यानारम्भकत्वम्, गुणैर्द्रव्यारम्भाऽसंभवात्[4]।

'सत्ता नगरादिकम्' इत्यत्रापि असौ[5] गृहादिविशेषिता, केवला वा तत्प्रत्ययमुत्पादयेत्[6]? न तावत् केवला; गृहादिविविक्तेऽपि प्रदेशे ततः[7] तत्प्रत्ययप्रसङ्गात्। अथ गृहादिविशेषिता; न, कूटस्थनित्यायाः[8] विशेष्यत्वासंभवात्, अकिञ्चित्करस्य[9] अविशेषणत्वाच्च। किञ्चित्करत्वे वा[10] तत्कूटस्थताक्षतिः[11]। कथञ्चैवं 'षण्णगरी' इत्यत्र समुदायोपपत्तिः सत्ताया एकरूपतया समुदायतानुपपत्तेः?

प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि कस्य केन सह नगरादिव्यपदेशमर्हेत्? गृहादीनां गृहाद्यन्तरैः इति चेत्, कः पुनरसौ–तेषां तैः सह समवायः, सयोगो वा? न तावत्समवायः, [12]तेषां युतसिद्धतया अनाधार्याधारभूततया च तदसंभवात्। नापि संयोगः; गृहादीनां संयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात्। न च नगरादिशब्दात् [13]संयुक्तसयोगाल्पीयस्त्वलक्षणे प्रत्यासत्तिविशेषे एकस्मिन् कस्यचित्[14] प्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्तयोऽनुभूयन्ते, किन्तु गृहादावनेकत्र। नगरशब्दाद्धि गृहादौ, सेनाशब्दाद् अश्वादौ, वनशब्दाच्च धवादावनेकत्रार्थे ताः[15] प्रतीयन्ते इति। यत्र[16] हि शब्दादुच्चरितात् प्रतिपत्त्यादयः प्रतीयन्ते स शब्दस्यार्थः तथा वृद्धव्यवहारात्। 'देशादिप्रत्यासत्तिविशिष्टा गृहादयो नगरादिव्यपदेशभाजः' इत्यप्यनेनाऽपास्तम्, देशादौ हि प्रत्यासत्तिः–तेषां समवायः, संयोगो वा? तत्र च

(१) गृहाणाम्। (२) सयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। (३) गृहाणाम्। (४) "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्" (वैशे० सू० १।१।१०) इति नियमात्। (५) सत्ता। (६) नगरमिति प्रत्ययम्। (७) सत्तात। (८) सत्ताया। (९) गृहादे। (१०) यदि गृहादय. सत्ताया कञ्चिदतिशयमुत्पादयन्ति तदा। (११) सत्ताया नित्यैकरूपताव्याघात। (१२) गृहादीनाम्। (१३) एकेन गृहेण सयुक्तमपर गृह तेन चापरमिति सयुक्तसयोगाद् यदल्पीयस्त्वम् अल्पदेशावगाहित्व तत्र। (१४) पुरुषस्य। (१५) प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तय। (१६) तुलना–"सेनाशब्दादनेकत्र हस्त्याद्यर्थे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिसिद्धे, वनशब्दाच्च धवखदिरपलाशादावनेकत्रार्थे। यत्र हि शब्दात् प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तय समधिगम्यन्ते स शब्दस्यार्थ प्रसिद्धस्तथा वृद्धव्यवहारात्। न च सेनावनादिशब्दात् प्रत्यासत्तिविशेषे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूयन्ते येन स तस्यार्थ स्यात्।"–आप्तप० का० ४।

1–निबन्धनाभावेपि आ०, श्र०। 2–त्वात् कि–ब०। 3–णप्रत्यासत्ति–ब०। 4–तात्तत्प्रतिपत्त्या–आ०।

उक्तदोषोऽविशिष्टः। [1]भवतामपि कथमेवं नगरादिव्यपदेशः स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्; देशप्रत्यासत्ति[1]विशिष्टे प्रासादादौ [2]तद्व्यपदेशस्य अस्माभिरभ्युपगमात्। देशप्रत्यासत्तिश्चात्र संयोगलक्षणा प्रतिपत्तव्या, प्रासादादेरवयवित्वेन [3]अस्माकमिष्टत्वात्। विजातीयैः काष्ठेष्टिकादिभिः तस्य[4] आरम्भासंभवात् कथमवयवित्वम्? इत्यप्यनुपपन्नम्; विजातीयैरपि पृथिव्यादिभिः शरीराद्यवयविनः आरम्भोपलम्भात्। सजातीयानाम् आरम्भनियमस्य षट्पदार्थपरीक्षायां[5] पृथिव्यादीनां तत्वान्तरत्वनिषेधावसरे निषिद्धत्वात्। ततो [6]भवन्मते नगरादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्त[2]निमित्तनिबन्धनत्वाभावात्, सिद्धमनेनानैकान्तिकत्वम्। न चान्यत् किञ्चिद् ब्राह्मण्ये लिङ्गमस्ति यतः तत्सिद्धिः स्यात्।

अस्तु वा किञ्चित्तत्र[7] लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्धं तत्[8] न तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्, अतिप्रसङ्गात्। प्रतिबन्धग्रहश्च अप्रतिपन्ने ब्राह्मण्ये न संभवति, अतिप्रसङ्गात्। [9]तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्धा। अनुमानतः तत्प्रतिपत्तौ चक्रकप्रसङ्गः–सिद्धे हि अनुमानतो ब्राह्मण्ये तेन लिङ्गस्य प्रतिबन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनुमानसिद्धिः, ततश्च ब्राह्मण्यसिद्धिरिति।

आ[10]गमतोपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात्? न तावदपौरुषेयात्; तस्य कार्ये[11] एवार्थे प्रामाण्यात्, ब्राह्मणत्वस्य च नित्यतयेष्टितोऽकार्यत्वात्। नापि पौरुषेयात् ततः[12] तत्प्रतिपत्तिः; तस्य प्रमाणान्तर[13]सापेक्षत्वात्, [3]तस्य चात्राऽसंभवात्।

नाप्युपमानात् तत्प्रतिपत्तिः, तस्य सादृश्यालम्बनत्वात्। अप्रतिपन्ने च प्रमाणान्तरेण ब्राह्मण्ये कथं तेन सादृश्यं कस्यचित् प्रतीयेत यतः [14]तद्दर्शनाद् ब्राह्मण्यं प्रतीयेत?

नाप्यर्थापत्तेस्तत्प्रतिपत्तिः; ब्राह्मण्यजातिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्य अप्रतीयमानत्वात्। अतः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणकवलीकृतत्वात् नभोऽम्भोजवत् नास्ति ब्राह्मण्यम्। अतो ब्राह्मण्यजातेः सत्त्वस्यैवाऽसंभवात् 'प्रथमदर्शने प्रतिभातापि जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणान्नोल्लिखति' इत्यादि[15] प्रत्याख्यातम्।

---

(१) जैनानाम्। (२) नगरादिव्यपदेशस्य। "प्रासादतोरणपुरुषादीना समुदायो नगरम्।" –प्रमाणवा०स्ववृ० टी० पृ० १२७। (३) जैनानाम्। (४) अवयविद्रव्यस्य। (५)पृ०२३९। (६) नैयायिकादिमते। (७) ब्राह्मण्ये। (८)लिङ्गम्। (९) ब्राह्मण्यप्रतीति। (१०) "नाप्यागमत', यतोऽसौ पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेय"–स्या० र० पृ० ९६२। सन्मति० टी० पृ० ६९८। (११) "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्–क्रिया कथमनुष्ठेयेति ता वदितु समाम्नातारो वाक्यानि समामनन्ति।" –जैमिनिसू०, शाबरभा०१।२।१। (१२)आगमात्। (१३) वक्तु प्रतिपाद्यविषयज्ञानस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव तत्प्रणीतागमस्य प्रामाण्यम्। (१४) ब्राह्मण्यसदृशवस्तुदर्शनात्। (१५) पृ०७६८ पं० ६।

1–विशिष्टप्रासा–श्र०। 2–क्तनिबन्ध–आ०। 3 'तस्य चात्रासंभवात्' नास्ति आ०।

यदप्युक्तम्[१]–'द्रव्यपरीक्षकाणाम्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्, यतो[२] न पीततामात्रं सुवर्णम्, विचित्ररेखारचितपरिणतिमात्रं वा द्रव्यम्, वृत्तसंस्थानमात्रं वा मणिः, अतिप्रसङ्गात्। किं तर्हि? तद्विशेषः। स च न प्रत्यक्षः, दाहच्छेदादेः[३] तुषाम्बुसं[1]-प्रक्षालनादेः परप्रश्नादेश्च[2] वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्यापि तत्प्रतिपत्तौ[४] सहायत्वे तज्जातौ किञ्चित्तथाविधं सहायं वाच्यम्। तच्च[५] ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वादिकम्, आकारविशेषो वा स्यात्? सर्वमेतत् प्रागेव कृतोत्तरत्वान्न तत्प्रतिपत्तौ[६] सहायतां प्रतिपद्यते। अतोऽयुक्तमुक्तम्[७]–'न च सामग्र्यभावाद् यन्न प्रतिभासते तन्नास्ति' इत्यादि, तत्प्रतिभाससामग्र्याः प्रागेव अशेषविशेषतो[3] निरस्तत्वात्।

ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां[८][4] वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य च उपपत्तेः। तन्न[5] भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन[6] एवायं ब्राह्म-

(१) पृ० ७६८ प० ७। (२) तुलना–"काञ्चनाद्युपदेशस्य हि यदाऽसत्यताशङ्का तदा प्रत्यक्षदर्शनादसौ निवर्तते नैवं जात्याद्युपदेशस्यासत्यताशङ्कया प्रत्यक्षात् सत्यता जातिस्वरूपग्रहणाकारात्। सुवर्णादौ हि रूपविशेषसद्भावात् एवम्भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्तेर्दृष्टस्य न काचित्क्षतिः, अत्र तु पुनरेवंविधमेव ब्राह्मण्यमिति न पादप्रसारणमात्रं त्राणम्।"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २२। "यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्" "–प्रमेयक० पृ० ४८४। (३) दाहच्छेदतुषाम्बुप्रक्षालनादेः। (४) सुवर्णादिप्रतिपत्तौ। (५) "तच्चाकारविशेषो वा स्यादध्ययनादिकं वा?" –प्रमेयक० पृ० ४८५। (६) ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ। (७) पृ० ७६८ प० १३। (८) जैनानाम्। (९) तुलना–"न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो। यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥ न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं। 'भो वादि' नाम सो होति स वे होति सकिञ्चनो। अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥"–धम्मप० गा० ३९३,३९६। "कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ। वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"–उत्तरा० २५।३३। "तस्माद् गुणैर्वर्णव्यवस्थिति। ऋषिशृङ्गादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते। ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात्॥ चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणम्। सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम्॥ –पद्मपु० ११।१९८–२०५। "मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्। वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥"–आदिपु० ३८।४५–४६। "आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्। न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी॥ ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः। एकैव मानुषी जातिराचारेण विभिद्यते।' गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसाद्विपद्यते।"–धर्मप० १७।२४–३२। महाभाष्येऽपि 'गुणवाचिनः ब्राह्मणादिशब्दाः' इति पक्षोऽप्युपन्यस्तः। तथाहि–"अथवा सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति।"–पात० महाभा० २।२।६। "क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः।' ततः क्रियाविशेषादिनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः।"–प्रमेयक० पृ० ४८६। स्या० र० पृ० ९६२।

1 तुषटुसप्रक्षा–आ०, तुषबुसप्रक्षा–श्र०। 2 परपक्षादेश्च ब०। 3 अशेषतो ब०। 4 भगवता श्र०। 5 तन्न तवकल्पि–ब०। 6 क्रियानिबन्धन ब०।

णादिव्यवहारो[1] युक्तः। कथमन्यथा[2] वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां [1]ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च स्यात्, जातिर्यतः पवित्रता हेतुः? सा[3] च भवन्मतेन[4] नित्यैकरूपतया तदवस्थैव, अन्यथा[5] गोत्वजातेरपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात्। गवादीनां हि [2]चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपि इष्टं शिष्टैरादानं न तु ब्राह्मणीनाम्। अथ क्रियाभ्रंशात्तासां[6] निन्द्यता अनादानञ्चेष्यते, तर्हि किमनेन अन्तर्गडुना[7] ब्राह्मण्येन कल्पितेन? कल्पयित्वापि तत्[8] क्रियाविशेषवशादेव वन्द्यताया [3]ब्राह्मणव्यवहारस्य चाभ्युपगमनीयत्वात्।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ[9] ब्राह्मण्यजातेर्निवृत्तिः स्यात्, यदि सा[10] तस्याः[11] कारणं व्यापकं वा स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिदिष्टम्। नापि क्रियाभ्रंशात् तस्या[12] विकारोऽस्ति *"भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः"*[13] [ ] इत्यभिधानात्। न चाऽविकृतायाः निवृत्तिः संभवति अतिप्रसङ्गादिति। तदेवं भवत्कल्पितब्राह्मण्यस्य आकाशकुशेशयवदप्रसिद्धस्वरूपत्वान्न ब्राह्मणस्यैव संस्कृतशब्दप्रयोगात् धर्मो युक्तः, किन्तु सर्वेषामविशेषेणैव अतो[14]ऽसौ[15] स्यात्, न चैवम्। अतोऽवितथार्थाभिधायित्वमेव शब्दस्य साधुत्वमभ्युपगन्तव्यम् नान्यत्, उक्तदोषानुषङ्गात्। तथाविधञ्च तत्[16] संस्कृतशब्दस्येव प्राकृतशब्दस्याप्यविशिष्टम्, अतो द्वयोरप्यनयोः साधुत्वम्। ततः सावूक्तम्–**'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्'** इत्यादि।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकाद्वयं विवृण्वन्नाह–**'वर्ण'** इत्यादि। **वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वम्** अर्थप्रतिपादकत्वम्, **यथास्वं** स्वस्यार्थस्य अनतिक्रमेण **आगमात् प्रतिपत्तव्यम्**। तत्रास्य प्रत्येकं प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वात्। कुतः पुनः विवक्षातोऽन्यस्य वाचकाः शब्दाः? इत्याह–**'वक्त्रभिप्रायात्'** [4]इत्यादि। **वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्य** बहिर्भूतस्य **अर्थस्य** घटादेः **वाचकाः शब्दाः**[5]। कुत एतत्? इत्याह–**सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः**। यत्र सत्यानृतव्यवस्था तद् वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नार्थविषयं यथा प्रत्यक्षादि, सत्यानृतव्यवस्था च शब्देष्विति। **अयञ्च प्रसङ्गः** बहिरर्थ-

(१) तुलना–"तत संव्यवहारमात्रप्रसिद्ध ब्राह्मण्यम्।"–प्रमाणवार्तिकालं पृ०२६। (२) यदि क्रियाविशेषनिबन्धनो ब्राह्मण्यादिव्यवहारो न स्यात्तदा। तुलना–"कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टाना ब्राह्मणीना ब्राह्मण्याभावो भवेत्"–स्या० र० पृ० ९६२। प्रमेयक० पृ० ४८६। (३) जाति। (४) मीमासकनैयायिकमतेन। (५) "अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्य निकृष्टं स्यात्।"–प्रमेयक० पृ० ४८६। (६) ब्राह्मणीनाम्। (७) "घटामस्तकयोरन्तरालवर्ती मासपिपडोऽन्तर्गडु"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १६८। (८) ब्राह्मण्यम्। (९) तुलना–"किञ्च क्रियानिवृत्तौ"–प्रमेयक० पृ० ४८७। (१०) क्रिया। (११) ब्राह्मण्यजाते। (१२) ब्राह्मण्यजाते। (१३) उद्धृतमिदम्–प्रमेयक० पृ० ४८७। (१४) सस्कृतशब्दोच्चारणात्। (१५) धर्म। (१६) अवितथार्थाभिधायित्वलक्षणं साधुत्वम्।

1 ब्राह्मणानां ब०। 2 चाण्डालादीनां गृहे श्र०। 3 ब्राह्मण्यव्य–आ०, श्र०। 4 इति आ०। 5 'शब्दाः' नास्ति आ०।

विषयतामन्तरेण सत्यानृतव्यवस्थानुपपत्तिलक्षणः **अन्यत्र 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** [लघी० का० २६] इत्यादौ **विस्तरेणोक्तः इति नेह** प्रघट्टके पुनः **प्रतन्यते**। नन्वर्थाभावेपि शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात् कथं तद्वाचकत्वम्[1] इत्यत्राह[2]-**'शब्दानाम्'** इत्यादि। **शब्दानाम् अर्थव्यभिचारित्वेऽभ्युपगम्यमाने अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतः** प्रमाणात् न कुतश्चित् **अपनीयते** निराक्रियते। कुत एतत् ? इत्यत्राह-**'सुषुप्तादौ'**[3] इत्यादि, आदिशब्देन मत्तादिपरिग्रहः **वाग्वृत्तेर्दर्शनात्**।

ननु विवक्षाप्रभवाच्छब्दादन्य एव शब्दः, यः तदभावे[1] तत्र जायते। न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य[4] व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्। 'सुविवेचितं हि कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इति, तदेतदत् अर्थविशेषसद्भावासद्भावप्रतिबद्धात्मलाभेष्वपि शब्देषु समानम्। साम्येऽपि तेषां विवक्षेतरप्रभवाः शब्दाः वैलक्षण्येनाऽवसीयन्ते नतु अर्थविशेषसद्भावाऽसद्भावप्रतिबद्धात्मलाभा[5] इति स्वदर्शनानुरागमात्रम्। विवक्षामात्रगोचरत्वे च अमीषां बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वानुपपत्तिः, तदविषयत्वाद्[2], यद् यद्विषयं न भवति न तत् तत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः यथा रूपज्ञानं रसाविषयं न रसे, न भवन्ति च बहिरर्थविषया भवन्मते शब्दा इति। नचैतद् युक्तम् प्रतीतिविरोधात्। सुप्रसिद्धा हि शब्देभ्यो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतिः आबालं प्रत्यक्षवत्। अतः तद्विषयत्वमेव अमीषां युक्तम्। यद्[3] यत्र प्रवृत्यादिहेतुः[6] तत्तद्विषयम् यथा रसज्ञान रसे प्रवृत्त्यादिहेतू रसविषयम्, बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतवश्च शब्दा इति। नचायमसिद्धो हेतुः; प्रत्यक्षवत्[4] शब्देभ्यः तत्र प्रवृत्त्यादिप्रतीतेः। यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानादिसामग्रीसापेक्षात् प्रत्यक्षार्थे प्रतिपत्त्यादिप्रतीति. सकलजनप्रसिद्धा, तथा सङ्केतादिसामग्रीसापेक्षात् शब्दात् शब्दार्थेऽपि इति। न च अर्थे अर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक इत्यभिधातव्यम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि[5] अर्थित्वादेव प्रवृत्तिप्रतीतेः। परम्परयाऽत्र[6] प्रवर्त्तकत्वे[7] शब्देऽपि तथा[8] तदस्तु अविशेषात्।

का[9] चेयं विवक्षा नाम-शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देन अमुमर्थं प्रति-

(१) विवक्षाभावे। (२) बहिरर्थाविषयत्वात्। (३) शब्दो बहिरर्थविषय बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वात्। (४) तुलना-"प्रत्यक्षादिव शब्दाद् बहिरर्थप्रतीतिसिद्धे। यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसव्यपेक्षात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्ति तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्ति सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थवेदनादेव अर्थे पुरुषस्यार्थिन स्वयमेव प्रवृत्ते शब्दोऽप्रवर्त्तक इत्येव वक्तु युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि सर्वस्याभिलाषादेव प्रवृत्ते।"-अष्टसह० पृ० २१। प्रमेयक० पृ० ४४९। (५) प्रत्यक्षविषयीभूतेऽप्यर्थे। (६) प्रत्यक्षे। (७) प्रवर्त्तकत्वव्यपदेशे। (८) परम्परया प्रवर्तकत्वम्। (९) "का चेय विवक्षा नाम-किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम् ·"-प्रमेयक० पृ० ४५०।

1 तद्वाचकमि-श्र०। 2 इत्याह ब०। 3 सुषुप्तादीनामि-श्र०, सुषुप्त्यादौ इ-ब०। 4 अपरस्य ब०। 5-त्मलाभ इति आ०, ब०। 6-तुस्तद्वि-आ०।

पादयामि इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रश्रवणप्रणयनादौ[1] प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति । न खलु कश्चिदनुन्मत्तः शब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रं वाक्यान्तरं वा प्रणेतुं श्रोतुं वा प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यैः सह सर्ववाक्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषां स्वप्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाऽविशेषात् । अथ अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामीत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन अखिलशब्दानां विवक्षानुमापकत्वम् ; तदप्यनुपपन्नम्; व्यभिचारात् । नहि शुकशारिकोन्मत्तादयः तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किञ्च, संमयानपेक्षः[(1)] शब्दः तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षो वा ? आद्यविकल्पे न कश्चित् क्वचिद्भाषानभिज्ञः स्यात्, सर्वेषामविशेषतः शब्दार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । समयापेक्षस्तु शब्दः अर्थमेव किन्न गमयेत् ? नह्ययम् अर्थाद् बिभेति येन तत्र साक्षान्न वर्त्तेत । अशक्यसमयत्वान्न शब्दोऽर्थं गमयति; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; अभिप्रायेऽपि तदगमकत्वानुषङ्गात्, तत्रापि तस्य अशक्यसमयत्वाविशेषात् । असिद्धश्चास्य अशक्यसमयत्वम्; **'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** [लघी० का० २६] इत्यत्र तच्छक्यसमयत्वस्य प्रपञ्चतः प्रतिपादितत्वात् ।

न केवलं **सुषुप्तादौ**[2] **वाग्वृत्तेर्दर्शनादभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते**[3] इति, अपि तु इतश्च । कुतस्तदपनीयते इत्याह–**'अनिच्छताम्'** इत्यादि । **अनिच्छतामपि** अपशब्दाद्युच्चारणविवक्षाविकलानामपि[4] **अपशब्दादिभाषणसद्भावात्**, **आदि**शब्देन श्रुतिदुष्टादिपरिग्रहः । तथा **वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात्** तत्कुतोऽपनीयते ? अत्राह परः–**'उभयत्र'** इत्यादि । **उभयत्र** अर्थेऽभिप्राये च **व्यभिचारात्** शब्दानाम् **न कस्यचिद**र्थस्य अभिप्रायस्य वा **वाचकाः शब्दाः**, **इति**शब्दः परमतसमाप्त्यर्थः । अत्र दूषणमाह–**'अलौकिकं प्रतिभानमिति'** प्रतिभोत्तरप्रतीतिः इत्यर्थः, **अलौकिकश्च** तत् **प्रतिभानश्च,** लोकबाधितम् इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'लोको हि'** इत्यादि । **हि**र्यस्मात् **लोकः अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थाम् आतिष्ठेत** । कस्य ? **शब्दस्य** । यदि हि न कस्यचिद्वाचकाः शब्दाः स्युः तर्हि तेभ्यो घटाद्यर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः न तत्प्राप्त्या केषाञ्चिच्छब्दानां सत्यत्वम् अन्येषां तु अनृतत्वं विपर्ययात् इत्येवं लोको वचसां तद्व्यवस्थामातिष्ठेत इत्यभिप्रायः । ननु[5] अभिप्रायमात्रप्रतिपादनेऽपि तद्व्यवस्थामास्थास्यत इत्यत्राह–**'न'** इत्यादि । **अभिप्रायमात्रे** शब्दार्थे **'न लोकः तद्व्यवस्थामातिष्ठेत'** इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह[6]–**'तत्र'** इत्यादि । **'तत्र'** तन्मात्रे **शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्,** क्वचित्[7] तत्र[(2)] तद्व्यव-

(१) तुलना–"किञ्च, समयानपेक्ष वाक्य तादृशमभिप्राय गमयेत् तत्सापेक्ष वा ?" –प्रमेयक० पृ० ४५० । (२) अभिप्रायमात्रे ।

1–श्रवणयनादौ आ० । 2 सुषुप्त्यादौ व० । 3–पनीत व० । 4 अशब्दाद्युच्चा–श्र० । 5 न तु अभि–आ०, व० । 6 इत्याह तत्र तन्मात्रे व०, इत्यत्राह तत्र तन्मात्रे आ० । 7 [illegible]

हारेपि बहुलं वहिः[1] तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भावः ।

ननु प्रतीयते शब्दादर्थः स तु विचार्यमाणो न सङ्गच्छते, तत्र तस्य[2] सम्बन्धाभावतः प्रत्यायकत्वायोगात्, इत्यत्राह–**'अबाधिताम्'** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः-यादृशेऽर्थे[2] सङ्केतितः यादृशः शब्द· देशान्तरे कालान्तरे च[3] योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्बाधकम् इत्युक्तम्–**'योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः'**[4] [लघी० स्ववृ० का० ६२] इत्यत्र । अतः **अबाधितां** शब्दादुपजायमानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयां तत्प्रतीति**मतिक्रम्य स्वेच्छया** प्रतीत्यनाश्रयणेन **प्रमाणस्वरूपम्**–'प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव प्रमाणं नागमादि' इति, **प्रमेयस्वरूपम्** प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नं स्वलक्षणमेव **प्रमेयम्** अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्' इत्यातिष्ठमानानां सौगतानां **युक्तम्** उपपन्नम् किं तत् ? **अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम्** । केषाम् ? **शब्दानाम्** इति ।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् **'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः'** इत्येतत् । साम्प्रतं **'नयो ज्ञातुरभिप्रायः'** इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह–

श्रुतभेदा[3] नयाः सप्त[4] नैगमादिप्रभेदतः ।
द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥६६॥
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः[5] ।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥६७॥

(१) वहिरर्थे । (२) शब्दस्य । (३) व्याख्या–"ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति । के ? ते । श्रुतस्य सकलादेशस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकलादेशा । कति ? सप्त । कुत नैगमादिप्रभेदत ? किं विशिष्टा ? द्रव्यपर्यायमूला। तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह–द्रव्य सामान्य भवति । किं विशिष्टम् ? एकान्वयानुगम्, एकञ्चान्वयश्च एकान्वयौ तावनुगच्छति व्याप्नोतीत्येकान्वयानुगम् । तत्रैकानुगम् अर्थता (ऊर्ध्वता) सामान्य पूर्वापरव्यापकम्, सदृशपरिणामलक्षण तिर्यक्सामान्यमन्वयानुगम् । पुन किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निर्गतश्चयः पर्यायान्तरसंकरो यस्मादसौ निश्चय पर्याय. स आत्मा यस्य तत्तथोक्तम् । अपि पुनरन्य पर्यायो विशेषो भवति । किं विशिष्ट ? व्यतिरेकपृथक्त्वग, व्यतिरेकश्च पृथक्त्वञ्च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति स तथोक्त । तत्र व्यतिरेक एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविपर्याय । पृथक्त्वग पुनरर्थान्तरगतो विसदृशपरिणाम । 'तु पुनर्निश्चयव्यवहारौ मूलनयौ आश्रितौ आलम्बितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायम् । द्रव्य श्रितो निश्चयनय द्रव्यार्थिक इत्यर्थ । पर्यायाश्रितो व्यवहारनय पर्यायार्थिक इत्यर्थ ।"–लघी० ता० पृ० ८८ । (४) तुलना–"सत्त मूलणया पण्णत्ता । तं जहा णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवभूए ।"–स्था० ७।१९ । अनुयोग० १३६ । नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया ।"–तत्त्वार्थ० १।३४ । "नेगमसंगहववहारुज्जुसुए होइ वोधव्वे । सद्दे य समभिरुढे एवभूए य मूलनया ।"–आव० नि० गा० ७५४ । "नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नया । आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।"–तत्त्वार्थाधि० १।३४, ३५ । सिद्धसेनदिवाकरास्तु षड् नयान् स्वीकुर्वन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात् । द्रष्टव्यम्–सन्मति० १।४, ५ ।

1 वहिश्छद्मस्थव्य–व० । 2 यादृशोऽर्थे सकेतित तादृश· शब्द आ० । 3 'कालान्तरे च' नास्ति व०, श्र० । 4–क्षोऽनादि–व० । 5–रेकापृथ–मु० लघी० ।

विवृतिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, [1]मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात्। मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मिकायाः कारण[1]मतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात्। तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ। द्रव्यम् एकान्वयात्मकम्। एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् अन्वयि। पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मनां तथाभावसंकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वमनुमिमीमहे। तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः पुरुषश्च। समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम्। निश्चयनयादेको जीवः कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः। पर्यायः पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च। पृथक्त्वम् एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम्। [2]व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः। व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः। निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्, पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वम् आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदेपि रूपादिमत्त्वमपरिजहत्। नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः [2]मूर्त्तत्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम् इत्युक्तप्रायं नेहोच्यते। भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कुर्वत् कथं निराकुर्युः? [3]ततः तीर्थंकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ। नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति; तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भावात्। न नैगमस्य [4]प्रमाण[ता]तादात्म्यविवक्षाभावात्।

कारिकार्थ — **श्रुतस्य** आगमस्य **भेदाः** विशेषाः न पुनर्मतिज्ञानस्य। के? **नयाः**, [3]प्रतिपत्रभिप्रायाः, कियन्तः? **सप्त**। कुत.? **नैगमादिप्रभेदतः**। किंमूलास्ते? इत्याह—'**द्रव्य**' इत्यादि। **द्रव्यपर्यायौ मूलम्** आश्रयो येषां **ते** तथोक्ताः। किं स्वरूपं द्रव्यम्? इत्याह—'**द्रव्यम्**' इत्यादि। **एक**शब्दोऽयं भावप्रधानः, एकत्वञ्च **अन्वयश्च** सदृशपरिणामः ताभ्यां यथासंख्येन स्वपर्यायान्

---

(१) तुलना—उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहक साम्प्रतकालविषय मतिज्ञान श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम् उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम्।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।२०। (२) तुलना—"अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेक गोमहिषादिवत।"—परीक्षाम्० ४।९। (३) तुलना—"तित्थयरवयणसगह विसेसपत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं॥"—सन्मति० १।३। (४) तुलना—"प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वत। इत्ययुक्तमिह ज्ञप्ते पधानगुणभावत॥ प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धि वेदनम। प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम्॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९।

1–मतिभिन्नार्थवि– ई० वि०। 2–मूर्तत्व– ज० वि०। 3–वक्त्रभि–ब० श्र०।

द्रव्यान्तराणि च अनुगच्छति अनुयाति इति **तदनुगम्** । 'एकत्वानुगम्' इत्यनेन भेदैकान्तनिषेधः, 'अन्वयानुगम्' इत्यनेन तु सर्वद्रव्यैकत्वनिरासः। तदेवंविधं द्रव्यं प्रमाणापरिच्छेद्यं भविष्यति इत्यत्राह– **'निश्चयात्मकम्'** इति । संशयादिव्यवच्छेदलक्षणा प्रमेयस्था गृहीतिक्रिया **निश्चयः, स आत्मा** स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम् । न केवलं द्रव्यमेव निश्चयात्मकम्[1], किन्तु **अन्योऽपि** पर्यायोऽपि, निश्चयात्मकः इति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः । पुनरपि कथम्भूतः ? इत्याह–**व्यतिरेकपृथक्त्वगः** । स्वद्रव्यपर्यायान्तरापेक्षया **व्यतिरेकं** परस्परव्यावृत्तिम् एकद्रव्यापरित्यागेन गच्छतीति **व्यतिरेकगः,** द्रव्यान्तरपर्यायापेक्षया **पृथक्त्वं** पृथग्द्रव्यवृत्तित्वं गच्छतीति **पृथक्त्वगः।** ननु यदि नैगमादयो नयाः द्रव्यपर्यायमूलाः तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयौ किम्मूलौ ? इत्याह–**'निश्चय'** इत्यादि । चेतनस्य अचेतनस्य वा यः सन् स्वभावः न कदाचिद्विनश्यति तदवलम्बी नयो **निश्चयः** द्रव्यार्थिकनयः इत्यर्थः । यो विनश्यति स्वभावःतदवलम्बी **व्यवहारः** पर्यायार्थिक इति यावत् तौ । **तु** शब्दः अपिशब्दार्थे, **द्रव्यपर्यायमाश्रितौ** । वक्ष्यति च **'तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ'** इत्यादि ।

तत्र प्रथमकारिकायाः प्रथमभागं व्यतिरेकमुखेन विवृण्वन्नाह–**'नहि'** इत्यादि ।

विवृतिव्याख्यानम्–

नहि नैव **मतिभेदाः** किन्तु श्रुतभेदाः, के ते ? **नयाः** । कुत एतत् ? इत्याह–**'त्रिकाल'** इत्यादि । **त्रयः काला गोचरो** येषाम् **अनेकद्रव्यपर्यायाणां** ते **विषयो** येषां तेषां भावात् **तत्त्वात्** । 'नयानाम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । मतिरपि तथा भविष्यति ? इत्यत्राह–**'मतेः'**इत्यादि । **मतेः** इन्द्रियजनितायाः **साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात्** वर्त्तमानकालगोचरद्रव्यपर्यायात्मकार्थग्राहकत्वात् **'न मतिभेदा नयाः'** इति सम्बन्धः । अनिन्द्रियजनितायास्तर्स्याः[(१)] ते तर्हि भेदाः भवन्तु तस्याः त्रिकालगोचरद्रव्यादिविषयत्वात् इत्यत्राह–**'मनोमतेः'** इत्यादि । न केवलम् इन्द्रियमतेः अपि तु **मनोमतेरपि 'नहि भेदाः नयाः'** इति सम्बन्धः । किंविशिष्टायाः ? इत्याह–**स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मिकायाः** । कुत एतत् ? इत्यत्राह[2]– **'कारण'** इत्यादि । विशदाऽवितथा मतिः[(३)] मनोमतेः कारणत्वात् **'कारणमतिः'** इत्युच्यते, तया **परिच्छिन्नो योऽर्थः तद्विषयत्वान्मनोमतेः** । तस्यैव[(४)] कथञ्चिदधिकतया तया[(५)] ग्रहणात् एवमुक्तम् ।

नयभेदं दर्शयन्नाह–**'तत्र'** इत्यादि । तत्रैवं[3] श्रुतभेदत्वे नयानां व्यवस्थिते **मूलनयौ** कारणनयौ नैगमादीनाम् । कौ ? इत्याह–**द्रव्यपर्यायार्थिकौ,** द्रव्यश्च पर्यायश्च

(१) मतेः । (२) इन्द्रियजनिता मतिः । (३) इन्द्रियमतिविषयभूतस्य अर्थस्यैव । (४) अर्थादर्थान्तरानुगमरूपेण, विचारात्मकत्वान्मनोमतेः । (५) मनोमत्या ।

1–त्मकं पृथग्द्रव्यमेव निश्चयात्मकं किन्तु श्र०। 2 इत्याह–ब०। 3 तत्रैव श्रुतभेदत्वेन व्यव–ब०।

तावेव **अर्थौ** तौ यथासंख्येन विद्येते ययोः तौ तथोक्तौ । तत्र द्रव्यपदं व्याचष्टे **'द्रव्यम्'** इत्यादिना । **एकत्वान्वयौ** व्याख्यातौ, तौ आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् । एतदेव समर्थयमानः प्राह–**'एकत्वम्'** इत्यादि । **'द्रव्यम्'**[1] इत्यनुवर्त्तते । तस्य एकत्वं कुतः ? इत्याह–**'तद्'** इत्यादि । स च विवक्षितः असश्च अविवक्षितः **तदतौ,** तौ च तौ **परिणामौ** च तौ यस्य स्तः तत् **तदतत्परिणामि,** यदि वा, तयोः परिणमत इत्येवं शीलं **तदतत्परिणामि,** तस्य भावात् तत्त्वात् । साम्प्रतम् **'अन्वयात्मकं तत्'** इत्येतत् समर्थयते–**अन्वयि** द्रव्यान्तरेण अनुगमवद् **'द्रव्यम्'** इति सम्बन्धः। कुतः ? इत्यांह[2]–**'तद्'** इत्यादि । **सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वात्** । अत्राह सौगतः–असमानानपेक्ष्य समानपरिणामाः अनुपादानोपादेयानपेक्ष्य[3] एकपरिणामाः केचन भावाः कल्प्यन्ते न परमार्थतः, अपेक्षाकृतस्य धर्मस्याऽतात्त्विकत्वात्; इत्यत्राह–**'पुरुष'** इत्यादि । अस्यायमर्थः–**नानैकसन्तानात्मनाम्** नानासन्तानस्वभावानाम् एकसन्तानस्वभावानाञ्च[4] युगपत्क्रमभाविनां क्षणानाम् इत्यर्थः । तेषां **यदपेक्षातः** यथोक्तायाः अपेक्षायाः सकाशात् कल्पितं **पुरुषत्वं** तिर्यक्सामान्यम्, **आदि**शब्देन द्रव्यविशेषपरिग्रहः, तस्मात् **सत्यपि** विद्यमानेऽपि **समानेतरपरिणामातिशये** [5]समानपरिणामातिशये तत्प्रकर्षे इतरपरिणामातिशये एकत्वपरिणामप्रकर्षे। ननु इतरशब्दस्य उक्तविपरीतार्थाभिधायित्वात् समानपरिणामाद् इतरो विसदृशपरिणाम एव लभ्यते, न एकत्वपरिणामातिशय इति चेत्, एवमेतत्, तथापि–इह समानैकत्वपरिणामातिशययोः प्रकृतत्वात् समानपरिणामात् इतरः एकत्वपरिणाम एव उच्यते । तस्मिन् **सत्यपि एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्**। सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् **'अन्वयि'** इति सम्बन्धः। नहि (१)तथाऽपरिणतम् अपेक्षातः तद् भवति विप्रतिषेधात्, अन्यथा स्वयममूर्त्तमपि ज्ञानं ज्ञानान्तरात् अमूर्त्तात् व्यवर्त्तमान मूर्त्तं स्यात् । ननु च विचार्यमाणस्य तदतत्परिणामिनः सदृशपरिणामलक्षणसामान्यस्य चानुपपत्तेः अभिमतरूपवद् अनभिमतरूपेणापि[6] प्रसङ्गाच्च अयुक्तम्–**एकत्व**मित्यादि, इति चेदत्राह–**'तथा'** इत्यादि । **तथा** तदतिशयप्रकारेण यौ **सङ्कर-व्यतिकरौ** तयोः **व्यतिरेकाद्** अभावाद् **अन्वयिनोः** तदतत्परिणामिसामान्ययोः **अस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वम्** साकल्येन नानैकसन्तानात्मस्वभावम् **अनुमिमीमहे** अनुमानेन प्रतिपद्यामहे 'अनुमाननिमित्तस्य उक्ततर्कस्य प्रविजृम्भणात्' इत्यभिप्रायः ।

(१) न हि अग्नित्वेनापरिणत अपेक्षात अनग्निव्यावृत्त्यपेक्षया अग्निर्भवति, जलादावपि अनग्निव्यावृत्त्या अग्नित्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इति भाव. ।

1 द्रव्यमित्यादि द्रव्यमित्यनुवर्त्तते व०, द्रव्यमित्यादि इत्यनुवर्त्तते श्र० । 2–ह सदृश–आ०, व० । 3–पेक्ष एक–व० । 4–ञ्च युगपत्क्रमभाविनाञ्च युगपत्क्रमभाविनां क्ष–आ० । 5 'समानपरिणामातिशये' नास्ति श्र०, समानपरिणामप्रकर्षे व० । 6–रूपेणातिप्र–श्र० ।

यदि वा वैशेषिकादिमतात्–पुरुषत्वमपेक्ष्य समानपरिणामातिशयो नानात्मसु, बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य एकात्मनि एकत्वपरिणामातिशयो न परमार्थतः इति; तत्राह–'पुरुषत्वादेः' इत्यादि । पुरुषत्वम् आदिर्यस्य बुद्ध्यादिसमवायित्व-त्रिगुणसंयोगित्वादेः स तथोक्तः तस्य या अपेक्षा ततः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये । केषाम् ? इत्याह–नानैकसन्तानात्मनाम् । नाना एकसन्तानाश्च ते आत्मानश्च तेषाम् इति. शेषं पूर्ववत् । ननु भवतु आत्मनां समानैकत्वपरिणामः न घटादीनां तत्र समानपरिणामस्यैव संभवात् इत्याशङ्क्याह–'तथाहि' इत्यादि । तथाहि तेन अस्खलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वप्रकारेण च स्कन्धो घटाद्यवयवी, स किम् ? इत्याह–एकत्वम् । केषाम् ? इत्याह–'स्व' इत्यादि । स्वशब्देन स्कन्धः परामृश्यते तस्य ये गुणा रूपादयः ते च पर्याया नवपुराणादयः तेषाम् एकत्वम् न समानपरिणाम. 'अस्खलदेकप्रत्ययविषयत्वात्' इति भावः । ननु भिन्नसन्तानात्मनामिव एकसन्तानात्मनामपि समानपरिणाम एवास्तु इति सौगतः । तत्राह–'पुरुषश्च' इति । न केवलं स्कन्धः किन्तु पुरुषोऽपि 'स्वगुणपर्यायाणामेकत्वम्' इति सम्बन्धः । ननु यथा क्रमभाविनां सुखादीनामेकत्वं पुरुषः तथा युगपद्भाविनामात्मनाम् एकत्वं भोऽस्तु इति चेदत्राह–'समान' इत्यादि । अपिशब्द एवकारार्थः । समानपरिणाम एव सकलपदार्थगः नैकत्वं सकलपदार्थगम् 'पुरुषस्य' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । अनेन 'तथाभाव' इत्यादि समर्थितम्, 'द्रव्यमेकान्वयानुगम्' इति कारिकापादश्च व्याख्यातः । निश्चयनयात् द्रव्यार्थिकनयात् एकः अभिन्नः जीवः सर्वोऽपि सर्वसाधारणचेतनापरिणामापेक्षया । स एव द्विविधो व्यवहारनयात् इति दर्शयन्नाह–'कर्म' इत्यादि । कर्मणा ज्ञानावरणीयादिना निर्मुक्तो रहितो जीवः, सकर्मकश्च । कुतः ? व्यवहारनयात् पर्यायार्थिकनयात् । एवमेकेन्द्रियादिभेदोऽपि चिन्त्यः । अनेन द्वितीयकारिकाया उत्तरार्द्धं व्याख्यातम् ।

पर्यायं कथयन्नाह–'पर्यायः' इत्यादि । पर्यायः कः ? इत्याह–पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च । तत्र पृथक्त्वपदं व्याचष्टे–पृथक्त्वम्, एकत्र एकस्मिन् द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणां परस्परपरिहारेण कथञ्चित् अवस्थानम् इत्यर्थः । व्यतिरेकपदं विवृणोति–व्यतिरेको व्यावृत्तिः । कः ? इत्याह–सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः गोमहिष्यादिपरिणामः । तत्र जीवगतपर्यायान् दर्शयन्नाह–'व्यवहार' इत्यादि । व्यवहारपर्यायाः पर्यायार्थिकनयपर्यायाः इत्यर्थः । के ? क्रोधादयः कादाचित्कत्वात् ।

(१) सौगत । (२) ...। (३) पुरुष ...।

१ बुद्ध्यादिसम–आ० । २ नानैकसन्तानात्मनाम्' नास्ति ब० । ३ तथा च तेन ब०, तथा तेन भा० । ४–सन्तानात्मनि ब० । ५–स अनेक ... भा०, ब० । ६ सद्द्रव्यमे–ब० । ७ निश्चयाद् आ०, ब० । ८–शेषेन्द्रियभेदोऽपि ब० । ९ पर्यायश्च इ–ब० । १०–इतरस्या–ब० । ११ गोमहिष्यादि–ब०आ० ।

किंविशिष्टस्य **जीवस्य** ते पर्यायाः ? इत्याह–**संसारिणः**। मुक्तस्य के पर्यायाः ? इत्याह–'**निश्चय**' इत्यादि। **निश्चयपर्यायाः** द्रव्यार्थिकगोचराः पर्यायाः **शुद्धस्य** '**जीवस्य**' इति सम्बन्धः। के ते ? **ज्ञानादयः** अकादाचित्कत्वात्। कथम्भूतास्ते ? '**ते च**' इत्याह (इत्याह **ते च**) **प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः**। न केवलं द्रव्यार्थिकनयाज्जीवस्यैव अभेदः अपि तु पुद्गलद्रव्यस्यापि इत्याह–'**निश्चय**' इत्यादि। **निश्चयनयात्** द्रव्यार्थिकनयात् **पुद्गलद्रव्यम् एकम्** अभिन्नम्। कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**पृथिव्यादिभेदेऽपि**। किं कुर्वत्तदेकम् ? इत्याह–'**रूप**' इत्यादि। **अजहत्** अपरित्यजत्, किम् ? इत्याह–**रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वम्** *"रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः"* [तत्त्वार्थसू० ५।२३] इत्यभिधानात्। कथम्भूतं तत् ? इत्याह–**आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपम्**। पृथिव्यां तद् आविर्भूतस्वरूपं जलादौ अनाविर्भूतस्वरूपम्, जले गन्धस्य अनले गन्धरसयोः अनिले रूपरसगन्धानामनाविर्भावात्।

ननु[3] जलादौ गन्धादिसद्भावे प्रमाणतः सिद्धे अनाविर्भावो युक्तः, अन्यथा सर्वस्य सर्वत्राऽनाविर्भावप्रसङ्गात् सांख्यदर्शनप्रतिप्रसङ्गः स्यात् इति चेत्; उच्यते–जलादयो[4] गन्धादिमन्तः, स्पर्शवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा पृथिवी, स्पर्शादिमन्तश्चैते, तस्माद्-गन्धादिमन्त इति। यत् पुनः गन्धादिमन्न भवति न तत् स्पर्शवत् यथा आत्मादि, इत्यादि षट्पदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनामतत्त्वान्तरभावसमर्थनावसरे[5] प्रपञ्चतः प्ररूपित-मिहावगन्तव्यम्। पुनरपि किं कुर्वत् ? इत्यत्राह–'**स्कन्ध**' इत्यादि। **स्कन्धाश्च** घटादयः **परमाणवः** अत्यन्तसूक्ष्माः पुद्गलाः त एव **पर्यायाः** परस्परतः प्रादुर्भावात्, परमाणुभ्यो हि स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति तेभ्यश्च परमाणव इति, तेषां **भेदेपि रूपादिमत्त्वमपरित्यजदेकं**। दृष्टान्तार्थमेतत्, ततो यथा तत् परमाणुरूपं स्कन्धीभवत् स्कन्धस्वभावं वा परमाणुरूपतामादधत् रूपादिमत्त्वमपरित्यजत् एकं तथा प्रकृतमपि इति। एतदेव दर्शयन्नाह–'**नहि**' इत्यादि। **हि**र्यस्मात् **न अवस्था च देशश्च कालश्च संस्कारश्च** ते **मूर्त्तत्वं** रूपादिमत्त्वम् *"रूपादिमयी मूर्त्तिः"*[6] [ ] इत्यभिधानात्। **अत्यन्तं** सुष्ठु **भिन्दन्ति** 'पृथिव्यादिभेदस्य स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदस्य च[2]' इति सम्बन्धः। कुत एतत् ? इत्याह–'**अमूर्त्त**' इत्यादि। **अमूर्त्तो** रूपादिरहितो यो **भेदः** व्यक्तिविशेषः तस्य **प्रसङ्गात्**। यथा च अवस्थादयो न रूपादिमत्त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति, तथा **सत्ताभेदाश्च**

(१) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।"–तत्त्वार्थसू०। (२) रूपरसगन्धादि। (३) वैशेषिक। (४) तुलना–पृ० २३८ टि० ४। (५) पृ० २३८। (६) तुलना–"रूपं मूर्तिरित्यर्थः। मूर्तिः ? रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः।"–सर्वार्थसि० राजवा० ५।५।

1 प्रतिप्रसवः स्यात् आ०, श्र०। 2 वा श्र०।

जीवादयः सत्ताम् **'अत्यन्त न भिन्दन्ति'** इति सम्बन्धः । असद्भेदप्रसङ्गात्[1] इत्युक्तप्रायं **'जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः'** [लघी० का० ३१] इत्यत्र, **नेह पुनरुच्यते** । ननु[1] जीवादिद्रव्यस्य सत्तादिसामान्यस्य वा कस्यचिदसंभवात् **'निश्चयनयादेको जीवः'** इत्याद्ययुक्तम्, तत्संभवे च अवस्थादिभेदेन विरुद्धधर्माध्यासतः प्रतिक्षणं भेदप्रसङ्गान्न तदेकत्वम् इत्याशङ्क्याह—**'भेद'** इत्यादि । ये विरुद्धधर्माध्यासतः सर्वथा वस्तुनो भेदं **वदन्ति** सौगताः[2] तेऽपि **कथं नैव निराकुर्युः** ? किं तत् ? **ज्ञानम्**[3], कथम्भूतम् ? **एकम्** । किं कुर्वत् ? **स्वयम्** आत्मनोऽ**नेकाकारं** नीलपीतादिविचित्राकारं ग्राह्यग्राहकाकारविविक्तेतररूपतया प्रत्यक्षपरोक्षाकारं वा **आत्मसात्कुर्वत्** । कदा ? **एकस्मिन् क्षणे** । तन्निराकरणे सकलशून्यता स्यात् । सा[4] च प्रत्यक्षपरिच्छेदे[5] प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्ता इत्यलं पुन· प्रसङ्गेन । ततो यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकमेकदा ज्ञानमविरुद्धं तथा क्रमेण[6] जीवादिद्रव्यमपि इति ।

उक्तार्थोपसंहारमाह—**'तत'** इत्यादि । यत उक्तप्रकारेण जीवादि सुखादिपर्यायात्मक व्यवस्थितं **ततः तीर्थकरस्य** भवावतोऽर्हतो **वचनं** स्याद्वादप्रवचनं[2] तस्य विषयभूताः, श्रुतभेदत्वात् नयानाम्, ये **सङ्ग्रहविशेषाः** सङ्ग्रहश्च विशेषाश्च व्यवहारादिनयभेदाः तेपा **प्रस्तारस्य**[3] प्रपञ्चप्ररूपणस्य **मूलव्याकारिणौ** आद्यौ उत्पादकौ **निश्चेतव्यौ** । कौ ? इत्याह—**द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ** । अन्यः कुतो नेति चेत् ? अत्राह—**'नहि'** इत्यादि । **हि**र्यस्मात् **न तृतीयं प्रकारान्तरं** नयान्तर**मस्ति** । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**'तस्य'** इत्यादि । **तस्य** तदन्तरस्य **प्रमाणे एव** न नये **अन्तर्भावात्** **'न तदस्ति'** इति सम्बन्धः । प्रधानभूतान्योन्यात्मकसामान्यविशेषविषयाभिसन्धेः[7] प्रमाणत्वात् । नैगमोऽपि तर्हि प्रमाण स्यात् इति चेदत्राह—**'न'** इत्यादि । **न प्रमाणता,** कस्य ? **नैगमस्य** । कुत एतत् ? इत्याह—**'तादात्म्य'** इत्यादि । **तादात्म्येन** प्रमाणस्वभावत्वेन **विवक्षायाः अभावात्,** नयत्वेन विवक्षासद्भावात् इत्यर्थः । एतदपि कुतः इत्यत्राह—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

(१) असश्चासौ भेद विशेष तस्य प्रसङ्गात् असद्रूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थ । (२) सौगत । (३) चित्रज्ञानम्, ग्राह्यग्राहकाद्यनेकाकार सवेदनम् ग्राह्याद्याकाररराहित्य-सवेदनापेक्षया प्रत्यक्षपरोक्षात्मक सवेदन वा । (४) सकलशून्यता । (५) पृ० १३३ । (६) सुखाद्यनेकाकारम् । (७) अभिप्रायवतो ज्ञानस्य । (८) व्याख्या—"स्यात् । क ? नैगमो नय । का ? विवक्षा अभिप्राय । कयो ? धर्मयो एकत्वानेकत्वयो । केन ? गुणप्रधानभावेन । क्व ? एकधर्मिणि एकोऽभिन्नो धर्मी द्रव्यं तस्मिन् । तदाकृति तस्य नैगमस्य आकृतिराभास स्यात् । का ? अत्यन्तभेदोक्ति अत्यन्तो निरपेक्ष भेदो नानात्व तस्योक्तिर्वचन नैयायिकाद्यभिप्रायो नैगमाभास इ त्यर्थ ।"—लघी० ता० पृ० ९० ।

1 तत्सभवे वानस्या—श्र० । 2 स्याद्वादवचनं आ० । 3 प्रसारस्य श्र० । 4 प्रकारभूता—श्र० । 5—भिसम्बन्धे. प्र—आ०, श्र० ।

विवृतिः—जीवः सन्नमूर्त्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणा[1]मी नित्यः पृथिव्यादिभू[2]तविलक्षणः इति प्रधानवृत्त्या जीवस्वतत्त्वनिरूपणायां गुणीभूताः सुखादयः। सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा। तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः। गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्वतां चेत्यादि तादात्म्यमविवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैग[3]मे, संग्रहादौ एकविवक्षेति भेदः।

गुणप्रधानभावेन मुख्यामुख्यरूपतया **धर्मयोः एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा**

कारिकाव्याख्या— प्रतिपत्तुरभिसन्धिः[4] **नैगमः** स कथं प्रधानभूतोभयधर्मस्वभावधर्मिविषयप्रमाणरूपतां[(१)] प्रतिपद्येत[5] ? तदाभासमाह—**अत्यन्तभेदोक्तिः 'धर्मयोः एकधर्मिणि'** इति सम्बन्धः, **स्यात् तदाकृतिः** नैगमाभासो भवेत्।

विवृतिव्याख्यानम्— कारिकां विवृण्वन्नाह—**जीवः सन्नमूर्त्तः सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ताऽसंख्यातप्रदेशी भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः** एवं प्रधानवृत्त्या **जीवस्वतत्त्वनिरूपणायां** जीवस्वरूपप्ररूपणायां क्रियमाणायां **गुणीभूताः सुखादयो धर्माः**। आह्लादनाकारं[(२)] सुखं तद्विपरीतस्वरूपं दुःखं स्वार्थग्रहणस्वभावं ज्ञानम् इत्येवं मुख्यतः **सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा[6] आत्मा 'गुणीभूतः'** इति सम्बन्धः। नैगमाभासं प्ररूपयन्नाह—**'तद्'** इत्यादि। **तयोः** सुखाद्यात्मनोः **अत्यन्तभेदाभिसन्धिः[7] नैगमाभासः**। उदाहरणमाह—**गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां जातितद्वतां चे[8]त्यादि**। **'अत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः'** इति सम्बन्धः। अनेन कापिलीयोऽपि चैतन्यसुखाद्योरत्यन्तभेदाभिसन्धिः चिन्तितः। कुतोऽसौ नैगमाभासः ? इत्यत्राह—**'तादात्म्यम्'** इत्यादि। यतोऽसौ धर्मधर्मिणोस्तदात्म्यं सदपि अविवक्षित्वा स्वदुरागमवासनाविपर्यासितमतेः प्रतिपत्तुः प्रवर्त्तते ततोऽसौ नैगमाभासः इति। **धर्मधर्मिणोः** इत्युपलक्षणार्थमेतत्, तेन अवयवावयविनोः क्रियाकारकयोः जातितद्वतोश्च ग्रहणम्। धर्मयोर्वा **गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे** यतः[9] ततोऽत्यन्तभेदविवक्षा तदाभास इत्यभिप्रायः। संग्रहादेरतः कुतो भेदः ? इत्यत्राह—**'संग्रह'** इत्यादि। **संग्रहः आदिर्यस्य** व्यवहारादेः स तथोक्तः तत्र **एकस्य** गुणादेः गुण्यादेर्वा **विवक्षा इति** हेतोः **भेदः नैगमात्** संग्रहादेः इति।

तत्र संग्रहस्वरूपं सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह—

---

(१) विषय यत्प्रमाण तद्रूपताम्। (२) "सुखमाह्लादनाकार विज्ञान मेयबोधनम्"—न्यायवि०। द्रष्टव्यम्—अकलङ्कग्र० परि० पृ० ५८।

1–णामं ज० वि०। 2–भूतावि–ज० वि०। 3 निगमे ज० वि०। 4–भिसम्बन्धिः आ०। 5–पद्यते आ०, श्र०। 6 चात्मा ब०। 7–सम्बन्धिः श्र०। 8 चेत्यादि आ०। 9 नैगमो यतः ब०, श्र०।

सदभेदात्[1] **समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।**
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥६९॥

विवृतिः-सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमोपायाभावात् । नापि तस्योपेयत्वं खरविषाणवत् ।

कारिकार्थ —

समस्तस्य जीवाजीवविशेषप्रपञ्चस्य **ऐक्येन संग्रहात्** कारणात् **संग्रहो नयः** 'प्रवर्त्तते' इत्युपस्कारः । कुतः समस्तैक्यसंग्रहः इत्याह–**सदभेदात् ।** ब्रह्मवादोऽपि सदभेदमाश्रित्य समस्तैक्यं संगृह्णाति इति सोऽपि संग्रहः स्यादित्यत्राह–**'दुर्नय'** इत्यादि । **दुर्नयः** संग्रहाभासो **ब्रह्मवादः स्यात् ।** कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'तद्'** इत्यादि । **तस्य** ब्रह्मणः **यत्स्वरूपं** निराकृतसकलभेदप्रपञ्चं सत्तामात्रं तस्य **अनवाप्तितः** प्राप्तेरभावात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'सर्वम्'** इत्यादि **सर्वं** चेतनाचेतनरूपं वस्तुजातम् **एकं**

विवृतिव्याख्यानम्–

सदविशेषात् इति एवं **संग्रहनयः** प्रवर्त्तते । **तदाभासः** संग्रहाभासः **ब्रह्मवादः ।** कुत एतत् ? इत्यात्राह–**'तत्'** इत्यादि । **तदभ्युपगमस्य** ब्रह्मवादस्वीकारस्य **उपायाभावात्** प्रमाणाभावात् । प्रमाणमूलो हि अभ्युपगमः सत्यः इत्यभिप्रायः । दोषान्तरमाह–**'नापि'** इत्यादि । **नापि तस्य** ब्रह्मणः **उपेयत्वं** स्वीकरणीयत्वम् **'उपायाभावात्'** इत्यभिसम्बन्धः । यस्य उपायाभावो न तदुपेयम् यथा **खरविषाणम्,** उपायाभावश्च ब्रह्मणः इति । यथा चास्य न कश्चिदुपायो घटते तथा ब्रह्माद्वैतनिषेधावसरे[2] व्यासतः चिन्तितम् ।

व्यवहारनयं दर्शयन्नाह–

व्यवहारानुकूल्यात्तु[3] **प्रमाणानां प्रमाणता ।**
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥

विवृतिः–प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इति आकुमारं प्रसिद्धम्,

---

(१) व्याख्या–"· · समस्तस्य जीवाजीवविशेषस्य ऐक्येन ऐकत्वेन सग्रहात् सक्षिप्य ग्रहणात् । कथमनेकस्य सक्षेपणमित्याशङ्क्याह–सदभेदात्, सत् सत्त्वसामान्य सच्चासावभेदश्च तमाश्रित्य । नहि सत्त्वात् किञ्चिद् भिन्नमस्तीति वक्तु युक्त विरोधात् । दुर्नय संग्रहाभास स्यात् । क ? ब्रह्मवाद सत्ताद्वैतम् । कुत ? तत्स्वरूपानवाप्तित , तस्य परपरिकल्पितब्रह्मण· स्वरूप भेदप्रपञ्चशून्य सन्मात्र तस्यानवाप्ति प्रमाणादप्राप्तिस्तत , न खलु तत् प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तथाऽप्रतीते ।"–लघी० ता० पृ० ९० । (२) पृ० १५० । (३) "व्यवहारानुकूल्यात्तु, सग्रहभेदको व्यवहारः तस्यानुकूल्यमविसवाद तस्मादेव । बाध्यमानाना सशयादीना विसवादिना ज्ञानानाम् । तत्र प्रमाणेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वात् व्यवहारो नय , अन्यथा तदाभास इत्यर्थ. ।"–लघी० ता० पृ० ९१ । उद्धृतोऽयम्–"व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणाना प्रमाणता । नान्यथा बाध्यमानाना तेषाञ्च तत्प्रसङ्गत ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । तुलना–"प्रामाण्य व्यवहारेण "–प्रमाणवा० ३।५ ।

---

1 तस्योपेयत्वं ज० वि० । 2 एकेन आ०, ब० । 3–दित्याह श्र० ।

अन्यथा संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात्। प्रत्यक्षं सविकल्पकं प्रमाणं व्यवहाराविसंवादात्। उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत् गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्यादि श्रुतज्ञानस्य प्रमाणान्तराबाधन-पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसंभवात् प्रामाण्यम्, अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च। बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यवहारविरोधित्वात् दुर्नयत्वम्।

कारिकार्थ – **प्रमाणानाम्** अध्यक्षादीनां या **प्रमाणता** सौगतादिभिरिष्यते सा **व्यवहारानुकूल्या**देव उपपन्ना **नान्यथा, अन्यथा** व्यवहारप्रातिकूल्यप्रकारेण **न**, कुत एतत्? इत्यत्राह–'**बाध्यमान**' इत्यादि। **बाध्यमानानां** व्यवहारानधिरूढप्रातीतिकद्विचन्द्रसकलशून्यताद्यर्थविषय**ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः** प्रमाणताप्रसङ्गतः।

विवृतिव्याख्यानम् – कारिकां व्याख्यातुमाह–'**प्रमाणानाम्**' इत्यादि। **प्रमाणानां** प्रत्यक्षादीनां **प्रामाण्यम्** अमिथ्यात्वम् इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षण**व्यवहाराविसंवादात्**, इत्येतत् **आकुमारम्** आबालं **प्रसिद्धम्। अन्यथा** व्यवहाराविसंवादाभावप्रकारेण तत्प्रामाण्ये **संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात्।** तदविसंवादाच्च तत्प्रामाण्ये यत् परेषां निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदप्रमाणं व्यवहाराविसंवादाभावात् इति मन्यमानः प्राह–'**प्रत्यक्षम्**' इत्यादि। **प्रत्यक्षं सविकल्पकम् प्रमाणं** '**स्यात्**' इत्यनेन सम्बन्धः। कुत एतत्? इत्यत्राह–**व्यवहाराविसंवादात्**। न पुनः निर्विकल्पकं तद्विपर्ययात् इति भावः। साम्प्रतं श्रुतस्य तत एव प्रामाण्यं दर्शयन्नाह–'**उत्पाद**' इत्यादि। **उत्पादविगमध्रौव्याणि लक्षणं** स्वरूपं यस्य तदेतल्लक्षणं जीवादिवस्तु **सद्** भवति, **गुणपर्ययवद्द्रव्यं जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्येवमादिश्रुतज्ञानस्य** अस्पष्टतर्कणस्य '**प्रामाण्यं स्यात्**' इति गतेन सम्बन्धः। कुत एतत्? इत्यत्राह–'**प्रमाणान्तर**' इत्यादि। श्रुतात् अन्यत् प्रत्यक्षादि **प्रमाणान्तरं** तेन **अबाधनञ्च पूर्वापरयोः** श्रुतवाक्ययोः **अविरोधश्च** लक्षणं यस्य **संवादस्य** तस्य तत्र **संभवात्।** अत्रैवार्थे हेत्वन्तरमाह–'**अर्थ**' इत्यादि। **अर्थो** जीवादिः **अभिधानं** जीवादिशब्दः **प्रत्ययः** तद्विषयो ज्ञानं ते **आत्मा** यस्य **व्यवहारस्य** तस्या**नुकूल्याच्च**

(१) तुलना–"त्रय पदार्थाः अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्"–राजवा० पृ० १७। अष्टसह० पृ० २५१। (२) व्यवहाराविसवादात्। (३) सौगतानाम्। (४) द्रष्टव्यम्–पृ० ६०५ टि० ७। (५) तुलना–"गुणाणमासओ दव्व एकदव्वस्सिआ गुणा। लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिआ भवे॥"–उत्तरा० २८।६। "दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त। गुणपज्जयासय वा ज त भण्णन्ति सव्वण्हू॥"–पचास्ति० गा० १०। "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"–तत्त्वार्थसू० ५।३८। न्यायवि० का० १११। "त परियाण हु दव्वु तुहुँ जं गुणपज्जयजुत्तु। सहभुव जाणहि ताहँ गुण कमभुव पज्जउ उत्तु॥"–परमात्मप्र० गा० ५७।

1 श्रुतज्ञानेन ज० वि०। 2–मात्रे शून्य–ज० वि०। 3 'अन्यथा' नास्ति आ०, ब०। 4–मारबाल श्र०। 5 इत्याह ब०, श्र०। 6 संवादस्य तत्र आ०, ब०।

हेतोः श्रुतज्ञानस्य **'प्रामाण्यम्'** इति सम्बन्धः । व्यवहारदुर्नयं दर्शयन्नाह–**'बहिरर्थ'** इत्यादि । **बहिरर्थश्च विज्ञप्तिमात्रञ्च** ताभ्यां **शून्यं** तत्प्रतिपादकवचसां **दुर्नयत्वम्** । बहिरर्थशून्यवचसां विज्ञप्तिमात्राद्यद्वैतप्रतिपादकवचसां तन्मात्रशून्यवचसां सकलशून्यताप्रतिपादकवचसामिति । कुतः तेषां दुर्नयत्वम् ? इत्यत्राह–**'व्यवहारविरोधित्वात्'** इति । नहि तद्वचस्सु इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहारस्य अविरोधो युक्तः प्रमाणप्रमेयसद्भावे सत्येव [1]अस्याऽविरोधात् । ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह–

[2]भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

विवृतिः–बहिरणवः संचिताः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं यथा दर्शयन्ति तद्वत् संवित्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साधयेत् भेदस्याभेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्मेव न स्यात् । सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापाये अर्थस्याऽनुपपत्तेः ।

कारिकार्थः– सर्वस्य सर्वतो **भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन्** [4]ऋजु प्राञ्जल वर्त्तमानपर्यायमात्रं सूत्रयति प्ररूपयति इति **ऋजुसूत्रः नयो मतः** । प्रधानशब्दस्यं च सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । तदाभासमाह–**'सर्वथा'** इत्यादि । **सर्वथा** गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण **एकत्वविक्षेपी** एकत्वनिराकारकः **तदाभासः** ऋजुसूत्राभासः । **तुः** यस्मादर्थे, यस्मा**दलौकिकः** लोकव्यवहारातिक्रान्तोऽयमीदृशो [5]भेदाभ्युपगमः । न खलु सर्वथैकत्वप्रतिक्षेपेण स्थासकोशकुशूलादौ बालकुमारादौ वा भेदव्यवहारो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**'बहिः'** इत्यादि । **बहिरणवः दर्शयन्ति** [2]जनयन्ति **स्थूलमे-**

विवृतिव्याख्यानम्– **काकारप्रत्ययम्**, किंविशिष्टम् ? **अभूतम्** अपरमार्थविषयम् । कथम्भूतास्ते ? [3]**सञ्चिताः** पुञ्जीभूताः । एवंविधास्ते **यथा** येन प्रकारेण तथा

(१) व्यवहारस्य । (२) "प्राधान्यत मुख्यत्वेन, अनेन गौणत्वेन द्रव्यमप्यपेक्षत इत्यर्थ । तु पुनस्तदाभासो भवति । किं विशिष्ट ? एकत्वविक्षेपी, एकत्व द्रव्य विक्षिपति निराकरोत्येवशील एकत्वविक्षेपी । कथम् ? सर्वथा प्राधान्यतोऽप्राधान्यतश्च, पुन किं विशिष्ट ? अलौकिक लोको व्यवहारस्तत्प्रयोजनो लौकिक तद्विपर्ययोऽलौकिक अलौकिकादित्यर्थ । न हि परस्पर सजातीयविजातीयव्यावृत्ता प्रतिक्षणविशरारव परमाणवो व्यवह्रियन्ते परीक्षकै यतस्तिद्वपयो नयाभासो न स्यात् ।"–लघी० ता० पृ० ९१ । (३) सौगतमते पुञ्जीभूता परमाणव एव स्थूलाकारप्रत्यहेतव ; तथाहि–"अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मन ॥" –प्रमाणवा० ३।१९५ । (४) "ऋजु प्रगुण सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्र ।"–सर्वार्थसि०, राजवा० १।३३ । (५) सर्वथा क्षणिकत्वस्वीकार ।

1–स्य सम्ब–आ० । 2 'जनयन्ति' नास्ति श्र० ।

विधं प्रत्ययं दर्शयन्ति **तद्वत् संवित्परमाणवोऽपि**, कथम्भूतम् ? **चित्राकारम्**, नीलादिग्राह्याद्यनेकाकार**मेकम्** अत एव **अभूतम्**। उपसंहारमाह–**'ततः'** इत्यादि। यस्मादेकाकारप्रत्ययस्य अपरमार्थविषयत्वं **ततो नैकमभिन्नस्वभावं तत्त्वं** जीवादिवस्तु **अक्रमं** युगपद् **अनेकरूपम्** 'युक्तम्' इत्युपस्कारः। **यत् सक्रमं** क्रमवत् सुखादिभेदभिन्नम् आत्मानं **साधयेत्**। **'यत्'** इत्याक्षेपे वा नैव साधयेत्। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'भेदस्य'** इत्यादि। **भेदस्य** नानात्वस्य **अभेदेन** एकत्वेन **विरोधात्**। विपक्षे बाधकमाह–**'अन्यथा'** इत्यादि। **अन्यथा** अन्येन तदविरोधप्रकारेण **क्वचिद्** घटपटादौ **नानात्वमेव न स्यात्** इति। अस्याभिसन्धेर्नयत्वं दुर्नयत्वञ्च दर्शयन्नाह–**'सापेक्ष'** इत्यादि। सह प्रत्यनीकधर्मापेक्षया वर्त्तते इति **सापेक्षः नयः**। अपेक्षातो निष्क्रान्तः निरस्ता वा अपेक्षा येनासौ **निरपेक्षः दुर्नयः**। ननु प्रमाणाभावेन अभेदस्य क्वचिदनुपपत्तेः कथं तदपेक्षो नयः स्यात् ? इत्यत्राह–**'प्रतिभास'** इत्यादि। **प्रतिभासस्य** प्रत्यक्षादिसंवेदनाकारस्य **भेदात्**[2] **स्वभावभेदं** चेतनेतरस्वरूपनानात्वं **व्यवस्थापयन्**[3] सौगतः **तदभेदात्** [4]प्रतिभासाभेदात् **अभेदं प्रतिपद्यत एव** विशेषाभावात्। एतच्च **'अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः'** [लघी० का० ८] इत्यत्र सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम्। अत्रैवार्थे समर्थनान्तरमाह–**'तद्'** इत्यादि। **तयोः** भेदाभेदयोर्मध्ये **अन्यतरस्य** भेदस्य अभेदस्य वा **अपाये अर्थस्य** उत्तरकार्यस्य संवेदनस्य[5] **वाऽनुपपत्तेः, सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नय** इति।

अथ सप्तनयेषु मध्ये के अर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह–

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां[6] समाश्रिताः ॥७२॥

विवृतिः–कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत् अभूत् भवति भवि-

(१) व्याख्या–"एते। के ? नैगमादय प्रागुक्ता चत्वारोऽर्थनया अर्थप्रधाना नयाः। कुत ? जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्, जीवाजीवादीनामर्थाना व्यपाश्रयाद् आलम्बनात्। त्रयः शेषा शब्दसमभिरूढैवम्भूताः शब्दनया शब्दप्रधाना नया। किं विशिष्टा ? सत्यपदविद्या समाश्रिता, सत्यानि प्रमाणान्तराबाधितानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषा विद्या व्याकरणशास्त्र तामाश्रिता आलम्बिनाः व्याकरणाश्रिततत्वादित्यर्थ।"–लघी० ता० पृ० ९२। तुलना–"चत्वारोऽर्थाश्रया. शेषास्त्रय शब्दत।" **–सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१७ B.**। "तत्र सग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनया. शेषा शब्दनया"**–राजवा० पृ० १८६**। "अत्थप्पवर सद्दोवसज्जण वत्थुमुज्जुसुत्तंता। सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जण सेसया विंति।"–**विशेषा० गा० २७५३**। "तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः। त्रय शब्दनयाः शेषा शब्दवाच्यार्थगोचराः॥"**–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४। नयविव० पृ० २६२**। "एषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः शेषास्तु त्रय. शब्दवाच्यगोचरतया शब्दनयाः।"**–प्रमाणनय० ७।४४,४५। जैनतर्कभा० पृ० २३। नयप्रदीप पृ० १०४ B.**। उद्धृतोऽयम्–"जीवाद्यर्थविनिश्चयात्।"**–आव० नि० मलय० पृ० ३८१ B.। सूत्रकृताग० टी० पृ० ४२६ A.**।

1–विधप्रत्य–श्र०, ब०। 2 **भेदनात्** श्र०। 3 **व्यवस्थापयेत् सौ**–आ०। 4 **'प्रतिभासाभेदात्'** नास्ति श्र०। 5–**स्य चानुप**–आ०। 6–**विन्यासमाश्रि**–ज० वि०।

ष्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्ता इति। पर्यायभेदाद् अभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति। क्रियाश्रयः एवम्भूतः। कुर्वत एव कारकत्वम्। यदा न करोति तदा कर्त्तृत्वस्य अयोगात् इति। कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति? कथं च न? तदप्रतिबन्धात्। 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात्। कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोः ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्योदनम्, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति, इत्याद्यनागतविषयाणाम् अविसंवादिनाम् आनन्त्यात्। ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धं प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादनस्वाभाव्यात् विज्ञानवदिति। वर्त्तनालक्षणः कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्त्यान-प्रसव-तदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्, कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकं तथाप्रतीतेः। पर्यायोऽपि अर्थभेदकृत्। क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात् तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नेव इन्द्रः नान्यदा, ततः सिद्धः क्रियाभेदः पाचकपाठकादिवत्। नहि वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्। व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्र[1]विभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन् नयः न मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षस्यैव मिथ्यात्वात्। अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वम् तदनिराकृतेः सापेक्षत्वं नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम्।

कारिकार्थ –

चत्वार एते नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्या व्याख्यातस्वरूपा **हि** स्फुटम् **अर्थनया** एव अर्थप्रधाननया **अर्थनयाः**। कुतः? इत्याह– **जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्** [2]जीवाद्यर्थसमाश्रयणात्। **त्रयः** शब्दसमभिरूढैवम्भूताः **शब्दनयाः** शब्दप्रधाना नयाः [3]**शब्दनयाः**। कुतस्ते तथाविधाः? इत्याह–**'सत्य'** इत्यादि। **सत्यानि** अवितथानि अपशब्दस्वरूपरहितानि यानि **पदानि** कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां **विद्या** व्याकरणं यत्र तानि व्युत्पाद्यन्ते तां **समाश्रिताः** यतः ततः ते शब्दप्रधानाः।

विवृतिव्याख्यानम्–

कारिकापूर्वार्द्धस्य अनन्तरमेव व्याख्यातत्वात् उत्तरार्द्धं विवृण्वन्नाह–**'काल'** इत्यादि। **शब्दः** शब्दनय. **अर्थभेदकृत्**। कुतः? **कालकारकलिङ्गभेदात्**। **'यथा'** इत्यादिना एतदेव दर्शयति। तत्र कालभेदाद् **अभूत् भवति भविष्यति**। कारकभेदात् **करोति क्रियते**। लिङ्गभेदात् **देवदत्तो देवदत्ता इति**। **पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर** इति। **क्रिया-**

1–प्रतिभागेन ज० वि०। 2 'जीवाद्यर्थसमाश्रयणात्' नास्ति श्र०। 3 'शब्दनयाः' नास्ति आ०।

श्रयः एवम्भूतः । कुत एतत् ? इत्याह–'कुर्वतः' इत्यादि । शचीपतेः इन्दनादिक्रियां कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्याऽयोगात् इति । [१]परः प्राह–'कथम्' इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चित्, 'पुनः' इत्याक्षेपे, शब्दज्ञानं शब्दस्य कार्यं यदर्थज्ञानं तत् विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं बहिःस्वलक्षणं प्रत्येति विषयीकरोति । सूरिः परं पृच्छति–'कथञ्च न' इति। स पृष्टः प्राह–तदप्रतिबन्धात्। तस्मिन् अर्थे अप्रतिबन्धात् तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासंभवात् शब्दज्ञानस्य। तदप्रतिबन्धेऽपि तत्[1][२] [३]तमवे(वै)ति इति चेदत्राह–'नहि' इत्यादि। हिर्यस्मात् न बुद्धेः अकारणं [2]किन्तु कारणं विषयः इत्येतत् प्रतिव्यूढम्। कुत एतत् ? इत्यत्राह–विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात्। अनागतस्य अलब्धात्मलाभतया अकारणभूतस्य अर्थस्य निर्णयात् निर्णयसंभवात्। तथाहि–कृत्तिकोदयदर्शने [3]शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, एवम् आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुलाः भविष्यन्त्योदनः, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्यनागतविषयाणामविसंवादिनां ज्ञानानामानन्त्यात्। 'ततः' इत्यादिना प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नाह–यतः अनागतविषयत्वं ज्ञानस्य सिद्धं ततः शब्दज्ञानमपि न केवलं प्रत्यक्षानुमानज्ञानम् विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धम्। ननु शब्दस्य [4]अर्थप्रतिबन्धाभावात् कथं [४]तज्ज्ञानम् अर्थग्राहि ? इत्यत्राह–'प्रतिबन्ध' इत्यादि। प्रतिबन्धमन्तरेणापि तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धं विनापि तस्य शब्दस्य यत् प्रतिपादकं स्वाभाव्यं योग्यतालक्षणं स्वरूपं तस्मात् तत्[५] तद्ग्राहि सिद्धम्। अत्र दृष्टान्तमाह–'विज्ञानवत्' इति। शब्दज्ञानस्य दार्ष्टान्तिकत्वात् इह विज्ञानग्रहणेन यत् प्राग् अर्थाजन्यतया समर्थितं [5]प्रत्यक्षं तदेव गृह्यते, तदिव तद्वदिति।

ननु कालादिभेदात् शब्दनयस्य अर्थभेदकत्वं प्रतिपादितम्, कालादीनां तु लक्षणं नोक्तम्, [6]नचालक्षितरूपाणाम् [7]अर्थभेदप्रतीतिहेतुत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् इत्याशङ्क्य तेषां लक्षणं प्ररूपयन्नाह–'वर्त्तना' इत्यादि। सकलपदार्थानां वृत्तिहेतुत्वं वर्त्तना सा लक्षणं यस्य असौ तल्लक्षणः कालः। [8]क्रियया आविष्टं युक्तं द्रव्यं कारकम्, क्रियां कुर्वद्द्रव्यं कारकमित्यर्थः। लिङ्गं त्रिविधम् स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। तत्र स्त्यानसामान्यलक्षणं स्त्रीलिङ्गम्। प्रसवसामान्यलक्षणम् अपत्यजनकत्वमात्रलक्षणं पुल्लिंगम्। तदुभयाभावसामान्यलक्षणं[9] स्त्यानप्रसवोभयाभावमात्रलक्षणं नपुंसकलिङ्गमिति। तदे-

(१) सौगत । (२) शब्दज्ञानम् । (३) अर्थम् । (४) शब्दज्ञानम् । (५) शब्दज्ञानम् ।

1 तत्तत्त्वमवेति ब०, तत्तत्रमद्यवेति श्र०। 2 'किन्तु कारण' नास्ति श्र०। 3 शकटोदये भवि–आ०, शकटोदये च भवि–श्र०। 4 अर्थे प्रति–ब०, श्र०। 5 'प्रत्यक्षं' नास्ति श्र०। 6 न चालक्षणलक्षितरूपा–ब०। 7 अर्थे भेद–ब०। 8 क्रियाया अविशिष्टं श्र०। 9–क्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभावसामान्यलक्षणं स्त्यानप्रस–आ०।

तदुक्तलक्षणं कालादि कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकम् तथाप्रतीतेः प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु **'पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्'** इत्ययुक्तमुक्तम्, पर्यायस्यार्थाऽभेदकत्वात् इत्याशङ्क्याह–**'पर्याय'** इत्यादि । न केवलं कालादयः किन्तु **पर्यायोऽपि** 'इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः' इत्यादिरूपः **अर्थस्य** शचीपत्यादेः **भेदकः** कथञ्चिद् वैलक्षण्यापादकः **'तथाप्रतीतेः'** इत्यनन्तरेणाभिसम्बन्धात् । यदपि **'क्रियाश्रय एवम्भूतः'** इत्युक्तम्, तत्रापि कुतोऽस्य एकत्रापि पर्याये क्रियाभेदाद् भेदहेतुत्वम्? इत्यत्राह–**'क्रिया'** इत्यादि। **क्रियाभेदाद्** इन्दनादिभेदात् **एकोऽपि शब्दः** इन्द्रादिपर्यायरूपः **क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात्** तन्निमित्तकव्युत्पत्तेरभावात् **तदर्थम्** इन्द्राद्यर्थं **नाचष्टे**[1] **इति** हेतोः **परमैश्वर्यम्** इन्दनक्रियां **अनुभवन्नेव** इन्द्रः **नान्यदा**[2] अभिषेचनादिकाले । एवं शकनकाल एव शक्रः पूर्दारणसमय एव पुरन्दरः नान्यदा **'तथाप्रतीतेः'** इति गतेन सम्बन्धः। यतो यत्क्रियापरिणतः पदार्थः तत्क्रियानिमित्तव्युत्पत्तिकैः शब्दैः तत्काल एवाभिधीयते नान्यदा । **ततः सिद्धः क्रियाभेदो** भेदको भावानां **पाचक[3]पाठकादिवत्**[4] ।

ननु क्रियामाश्रित्य शब्दा व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते, तच्च मिथ्या इत्येके, वर्णा एव पदमेव वाक्यमेव वा सत्यमित्यन्ये, तन्मतमपाकर्त्तुमाह–**'नहि'** इत्यादि । **नहि** न खलु **वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं** व्याकरणलक्षणं **वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायत्वात्** । नहि व्याकरणासत्यत्वे अपशब्दव्युदासेन सम्यक्शब्दप्रतीत्युपायः कश्चित् संभवति। ननु वृद्धव्यवहारपरम्परात[5] एव शब्दाऽपशब्दविवेको भविष्यति अतस्तदर्थं[१] व्याकरणसमाश्रयणमयुक्तम्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्; व्याकरणानपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव आनन्त्येनाऽखिलशब्दानां प्रतिपदं[6] तद्विवेकस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । व्याकरणाश्रयणेन तु सामान्यविशेषवता[7] लक्षणेन उपलक्षितानां स्वल्पप्रयत्नेनापि तेषां तद्विवेकः कर्त्तुं सुशकः। तथाहि–"*कर्मण्यण्*" [पाणिनि० ३।२।१] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-काण्डलाव-शास्त्रा[8]ध्यायादयो बहवः शब्दाः सल्लक्ष्यन्ते, अतः[9] व्याकरणानुगृहीतात् लोकव्यवहारात् सुखेनैव शब्दापशब्दविभागस्य कर्त्तुं शक्यत्वात् अस्ति व्याकरणस्योपयोगः। न चास्याऽप्रमाणत्वात् तद्विभागे नोपयोगः इत्यभिधातव्यम्; तदप्रामाण्ये कर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य सम्प्लवप्रसङ्गात्। न च तत्सम्प्लवः अस्ति। अतः अयमेव तदसम्प्लवः[३] स्वसिद्धये व्याकरणं प्रमाणयति, अन्यतः तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । व्याकरणत एव हि प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारेण अन्योन्यविभक्तस्य कर्मकर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यतः, तथाप्रतिपत्तिहेतोस्ततोऽन्यस्याऽसंभवात् । ननु वर्णपदवाक्यानां निरंशत्वात् किं तेन[४] प्रकृत्यादि-

(१) शब्दापशब्दविवेकार्थम् । (२) द्रष्टव्यम्–पृ० ७६० टि० १ । (३) कर्त्रादिकारकनैयत्यम् ।
(४) व्याकरणशास्त्रेण ।

1 व्याचष्टे आ० । 2 नान्यथा श्र० । 3 पावकपाचकपाठकादि–आ०, पावकपाठकादि–ब० । 4–पाठादि–श्र० । 5–परम्परया त एव श्र० । 6 प्रतिपाद श्र० । 7–विशेषवल्लक्ष–आ० । 8–शास्त्रध्याया–श्र० । 9 ततः श्र० ।

प्रविभागमाश्रित्य व्युत्पाद्येत[1] ? निरंशानामपि ते(१)षां तत्प्रविभागं परिकल्प्य व्युत्पादने तच्छास्त्रं वितथमेव स्यात् त(२)त्स्व[2]रूपाऽसंस्पर्शित्वात् इत्यत्राह–'व्या[3]वहारिक' इत्यादि । व्यवहारे व्यवहारनयभेदप्ररूपके वैयाकरणव्यवहारे वा भवा या प्रकृत्यादिप्रक्रिया तस्याः प्रविभागो भेदः तेन परमार्थः वास्तवो यः शब्दः वर्णपदवाक्यरूपः । वर्णो हि उदात्तादिभेदेन भिन्नः व्यवहारे वास्तवः प्रसिद्धः, पदं तु सुप्तिङन्तभेदेन, वाक्यमपि अन्योन्यापेक्षाणां पदानां निरपेक्षः समुदायः इत्यादिभेदेन इति । यथा च नित्यनिरंशादिरूपाणां वर्णपदवाक्यानामनुपपत्तिः तथा **'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्'** [लघी० का० ६४] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । तस्य **प्राप्त्युपायत्वात्** स्वरूपावगतिहेतुत्वात् । **'नहि तद्व्युत्पादकं शास्त्रं वितथम्'** इति सम्बन्धः । प्रयोगः–यः परमार्थभूतस्य प्राप्त्युपायो नासौ वितथः यथा ज्ञातुरभिप्रायात्मको नयः, परमार्थभूतस्य श[4]ब्दस्य प्राप्त्युपायश्च वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रमिति । तत्र **'ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्'** इत्यमुं दृष्टान्तं **'यथा'** इत्यादिना व्याचष्टे–**यथा** येन प्रकारेण **न मिथ्यात्वमनुभवेत्**, कोऽसौ ? **नयः ज्ञातुरभिप्रायः** । किं कुर्वन् ? **प्रकाशयन्**, [5]किं तत् ? **एकान्तम्** । क[6]थम्भूतम् ? **तदंशम्** अनेकान्तात्मकार्थैकदेशम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? **व्या[7]वहारिकम्** व्यवहारप्रयोजनम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? **तत्प्राप्त्युपा[8]यं तस्य** अनेकान्तात्मकार्थस्य **प्राप्तिः** तस्या **उपायः** सा वा उपायो यस्य । कथं तं प्रकाशयन् ? **अपोद्धृत्य** पृ[9]थक्कृत्य । कस्मात् ? **अर्थात्** । कथम्भूतात् ? **अनेकान्तात्मकात्** । किं कल्पनातः तथाविधात्तस्मात् ? इत्यत्राह–**पारमार्थिकात्** । परमार्थोऽकल्पितं रूपं तेन [10]संभवात् । कुतोऽयमित्थम्भूतो न मिथ्यात्वमनुभवेत् ? इत्याह–**'निरपेक्षस्य'** इत्यादि । प्रत्यनीकध[11]र्मे निष्क्रान्ता अपेक्षा यस्यासौ **निरपेक्षः** तस्यैव नोक्तप्र(३)कारस्य **मिथ्या[12]त्वात्** । अथ कस्य निरपेक्षत्वं कस्य च सापेक्षत्वम् ? इत्याह–**अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वं तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम्** । एवंविधसापेक्षानपेक्षत्वप्रकारेणैव **नयानां सम्यक्त्व-मिथ्यात्वे नान्यथा इति स्थितम्** ।

युक्तिस्वच्छजलं सुबोधकमलं सद्भङ्गवीचीचयम्,
गम्भीरं निखिलार्थपा[13]लिकलितं सत्साधुहंसाकुलम् ।
प्रज्ञाधीशपटिष्ठपाठकखगध्वानप्रतानान्वितम्,
जीयाद् दुर्गतिता[14]पतृड्विहननं जैनागमाख्यं सरः ॥ छ ॥

[15]इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे ष[16]ष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

(१) वर्णपदवाक्यानाम् । (२) वर्णपदवाक्यस्वरूपानवगाहनात् । (३) सापेक्षस्य ।

1–द्यते ब०,–द्येत् आ० । 2–रूपत्वासं–श्र० । 3 व्यवहा–श्र० । 4 शब्दप्रा–आ०, 'शब्दस्य' नास्ति श्र० । 5 'किं तत्' नास्ति श्र० । 6 'कथंभूतं' नास्ति श्र० । 7 व्यवहा–श्र० । 8–पायत्वं त–श्र० । 9 'पृथक्कृत्य' नास्ति श्र०, ब० । 10 भावात् श्र० । 11–धर्मो नि–श्र० । 12–त्वम् ब०, श्र० । 13 पारिकलि–आ० । 14 तापवृद्धिहनन श्र०, ब० । 15 इति श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यवि–ब० । 16 षष्ठमः ब० ।

तृतीये प्रवचनप्रवेशे

सप्तमः निक्षेपपरिच्छेदः ।



प्रादुर्भूतं निखिलविषयोद्योतिसंवित्सरस्याम्,
शास्त्राम्भोजं सकलविषयप्रौढपत्रप्रपञ्चम्[1] ।
लक्ष्मीक्षेत्रं प्रमितिनयसत्कर्णिकाकेसराढ्यम्,
निक्षेपोरुप्रवरमकरन्दाप्तये सेव्यतां[2] भोः ॥छ॥

अथेदानीं शास्त्रविधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः[3] ।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने[4] ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान्[5] श्रुतार्पितान्[6] ॥७४॥

(१) व्याख्या–" पुनरपि कथभूत ? तपोनिर्जीर्णकर्मा, तपसा यथाख्यातचारित्रलक्षणेन व्युपरतक्रियानिवृत्तिशुक्लध्यानेन निर्जीर्णानि निर्मूलितानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि येनासौ तथोक्त । अनेन चारित्रतपस्याराधनाद्वय सूचितम् । भूय किंभूत ? जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् अनेन ज्ञानाराधना ज्ञापिता । पुन किंविशिष्ट ? विवृद्धाभिनिवेशन, विशेपेण वृद्ध क्षायिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेशन सम्यग्दर्शन यस्यासौ तथोक्त. । अनेन दर्शनाराधना निरूपिता । एवमाराधनाचतुष्टयस्यैव मोक्षमार्गत्वोपपत्ते । कि कृत्वा विवृद्धाभिनिवेशन सजात इत्याशक्याह– अनुयुज्य पृष्ट्वा । कानि ? द्रव्याणि । किंविशिष्टानि ? जीवादीनि । कै ? अनुयोगैश्च प्रश्नैरेव । कि विशिष्टै ? निर्देशादिभिदा गतैः । तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथन निर्देश यथा चेतनालक्षणो जीव इति। कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्यकथन स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपण साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे स्वस्मिन्नित्याधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने अनन्तकालमिति कालप्ररूपण स्थिति । कतिविध इत्यनुयोगे चैतन्यसामान्यादेकविध इति प्रकारकथन विधानम् । पूर्वं कृत्वा विरचय्य न्यस्य । कान् ? अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान्, अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च ते आत्मान स्वभावा येषा ते च ते भेदाश्च व्यवहारास्तान् । तत्र अर्थात्मानौ भेदौ द्रव्यभावौ तयोरर्थधर्मत्वात् । वागात्मको नामव्यवहार । प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहार तस्य सकलपरूपत्वात् । किंविशिष्टास्तान् ? श्रुतार्पितान् श्रुतेन अनेकान्तेन विकल्पितान् । कै ? नयानुगतनिक्षेपै, नयान् द्रव्यपर्यायविषयाननुगता अनुवृत्ता निक्षेपा न्यासास्तै । किंरूपै ? उपायै कारणैः । क्व ? भेदवेदने मुख्यामुख्यविशेषनिर्णये कारणभेदैरित्यर्थ । आदौ किं कृत्वा ? परीक्ष्य विचार्य । कै परीक्ष्य ? अभिसन्धिभि ज्ञातुरभिप्रायै नयैरित्यर्थ । पूर्वं किं कृत्वा ? अधिगम्य ज्ञात्वा । कमर्थम् ? जीवादिप्रमेयम् । किंविशिष्टम् ? अनेकान्तात्मकम् । कस्मात् ? श्रुतात् स्याद्वादात् ।"–लघी० ता० पृ० ९५–९७ ।

1–प्रौढमेयप्र–ब० । 2–तां नो ब०,–ता भो श्र० । 3–मभिग–ब० । 4–वेदनो आ०, ब० । 5 विचार्यार्थवाक्–श्र० । 6–भेदाच्छ्रुता–ब० ।

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां[1] गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः[2] ॥७५॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥ इति[१] ।

विवृतिः–[२]श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणम्–त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपणम्, तदर्थांशपरीक्षा[3]प्रवणोऽभिसन्धिर्नयः । ताभ्यामधिगमः परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः[३] । सोऽवरतः चतुर्धा[४] नामस्थापनाद्रव्यभावतः । तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं[4] संज्ञाकर्म नाम[५] । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना[६] । अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं

(१) उद्धृता इमे–"तथा चाहुर्भट्टाकलङ्कदेवाः–"श्रुतादर्थं ..विवृद्धाभिनिवेशत "–अनागारध० पृ० १६९। (२) तुलना–"द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादिनिधनमिष्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित्कदाचित्कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च सभवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते, यथाऽङ्कुरो बीजपूर्वकः स च सन्तानापेक्षया अनादिनिधन इति ।"–सर्वार्थसि० १।२०। (३) तुलना–"विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थो न्यासो निक्षेप ।"–तत्त्वार्थभा० १।५। "णिच्छए णिण्णए खिवदित्ति णिक्खेवो । सोवि छव्विहो णामट्ठवणादव्वखेत्तभावमंगलमिदि ।"–धवलाटी० पृ० १०। "य इह गुणाक्षेप स्यादुपचरित. केवल स निक्षेप ।"–पञ्चाध्या० श्लो० ७४१। "प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा नि.क्षेपा ।"–जैनतर्कभा० पृ० २५। (४) तुलना–"जत्थ य ज जाणेज्जा निक्खेव निक्खिवे निरवसेस । जत्थवि अ न जाणेज्जा चउक्कग निक्खिवे तत्थ ॥ आवस्सय चउव्विह पण्णत्ते । त जहा–नामावस्सयं ठवणावस्सय दव्वावस्सय भावावस्सयं ।"–अनु० सू० ८। "नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास ।"–तत्त्वार्थसू० १।४। "निक्षेपोऽनन्तकल्पश्चतुरवरविध प्रस्तुनव्याक्रियार्थं । तत्त्वार्थज्ञानहेतु नयद्वयविषय सशयच्छेदकारी ॥"–सिद्धिवि० परि० १२। मूलाचारे षडावश्यकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेप नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावै. षड्विध उक्त । आवश्यकनिर्युक्तौ (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालवचनभावविकल्पात् सप्तविधो निक्षेप प्ररूपित । (५) "नाम सज्ञा कर्म इत्यनर्थान्तरम् -"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। "अतद्गुणे वस्तुनि सव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं सज्ञाकर्म नाम ।"–सर्वार्थसि० १।५। राजवा० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८। पञ्चाध्या० श्लो० ७४३। "यस्य कस्यचिदनिर्दिष्टविशेषस्य निमित्तान्तरानपेक्ष सज्ञाकर्म नाम ।"-सिद्धिवि०, टी० पृ० ५७४ A.। "पज्जायाणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्ख । जाडच्छिअ च नाम जावदव्व च पाएण ॥"–विशेषा०गा०२५। जैनतर्कभा० पृ० २५। "अत्ताभिप्पायकया सन्ना चेयणमचेयणे वा वि । ठवणादीनिरविक्खा केवल सन्ना उ नामिदो ॥"–बृहत्कल्पभा० गा० १२। "तत्थ णाममगल णामणिमित्ततरणिरवेक्खा मगलसण्णा । तत्थ णिमित्तं चउव्विह जाइ दव्व गुण किरिया चेदि ।"–धवलाटी० पृ० १७। (६) "य काष्ठपुस्तचित्र-

1–भिदागतै आ०, मु० लघी० । 2–वेशत ज० वि०, आ०, व० । 3–परीक्षप्रव–ज० वि० । 4–पेक्षं कर्म ज़० वि० ।

द्रव्यम् । तच्च आगम-नोआगमविकल्पाद् द्वेधा । तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः । अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । तेन च निक्षिप्ताः पदार्थाः निर्देशादिभिः सदादिभिश्चानुयोगैः अनुयुज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः

कर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापना जीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्र स्कन्दो विष्णुरिति।" –तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ।"–सर्वार्थसि०, राजवा० १।५। पञ्चाध्या० श्लो० ७४३। "ज पुण तयत्थसुन्न तयभिप्पाएण तारिसागार । कीरइ व निरागार इत्तरमियर व सा ठवणा ।"–विशेषा० गा० २६। "सब्भावमसब्भावे ठवणा पुण इदकेउमाईया। इत्तरमणित्तारा वा ठवणा नाम तु आवकह ॥"–बृहत्कल्पभा० गा० १३। "सद्भावस्थापनया नियम , असद्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूणेन्द्रवत् ।"–नयचक्रवृ० पृ० ३८१A.। सिद्धिवि० टी० पृ० ४७४ B.। जैनतर्कभा० पृ० २५। "अहिदणामस्स अण्णस्स सोयमिदिट्ठवण ठवणा णाम। सा दुविहा सब्भावासब्भावट्ठवणा चेदि ।"–धवलाटी० पृ० १९। "वस्तुन कृतसञ्ज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाविरोधत ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११।

(१) "द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्त प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। "गुणै द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम् ।"–सर्वार्थसि० १।५। "अनागतपरिणामविशेष प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्यम्। अतद्भव वा ।"–राजवा० पृ० २०। सिद्धिवि० पृ० ४७४। धवलाटी० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११। पञ्चाध्या० श्लो० ७४४। "दव्वे पुण तल्लद्धी जस्सातीता भविस्सते वा वि। जो वा वि अणुवजुत्तो इदस्स गुणे परिकहेई ॥"–बृहत्कल्पभा० गा० १४। "दनए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण सदावो। दव्व भव्व भावस्स भूअभाव च ज जोगग ॥"–विशेषा० गा० २८। जैनतर्कभा० पृ० २५। "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारण तु यल्लोके। तद्द्रव्य तत्त्वज्ञै सचेतनाचेतन कथितम् ॥"–आव० नि० मलय० पृ० ६ B.। (२) "वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षित द्रव्य भाव ।"–सर्वार्थसि० १।५। राजवा० पृ० २१। सिद्धिवि० पृ० ४७४। धवलाटी० पृ० २९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११३। पञ्चाध्या० श्लो० ७४५। "जो पुण जहत्थजुत्तो सुद्धनयाण तु एस भाविदो। इदस्स वि अहिगार वियाणमाणो तदुवउत्तो ।" –बृहत्कल्पभा० गा० १५। "भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यात । सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥"–आवनि० मलय० पृ० ९ A.। (३) तुलना–"स किमर्थ ? अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च ।"–सर्वार्थसि० १।५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। "अथ किमति निक्षेप क्रियते इति चेत् ? उच्यते–त्रिविधा श्रोतार अव्युत्पन्न अवगताशेषविवक्षितपदार्थ एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम्। द्वितीय सशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतादर्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा। द्वितीयवत्तृतीयोऽपि सशेते विपर्यस्यति वा। तत्र यद्यव्युत्पन्न पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय। अथ द्रव्यार्थिक , तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपा उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्ते। द्वितीयतृतीययो सशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम्। तयोरेव विपर्यस्यतो प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेप क्रियते। उक्त हि–अवगयणिवारणट्ठ पयदस्स परूवणाणिमित्त च। ससयविणासणट्ठ तच्चत्थवधारणट्ठ च ।"–धवलाटी० पृ० ३०। उद्धृतमिद वाक्यम्–जैनतर्कभा० पृ० २५। (४) "णिद्देसे पुरिसे कारण कहिं केसु काल कइविह ।"–अनु० सू० १५१। "निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत ।"–तत्त्वार्थसू० १।७। "कैण कस्य कत्थवि केवचिर कदिविधो य भावो य। छहि अणिओगद्दारे "–मूलाचा० ८।१५। (५) "सतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ।"–छक्खंडा०

सर्वे पदार्थाः, तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीव[1]स्थानगुण[2]स्थान-[3]मार्गणास्थानानि। एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुष-तत्त्वं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मक-सम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः [4]बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्त-मतीन्द्रियं सुखमृच्छति आत्मा। न[1]हि गुणविनाशात् जडः गुणगुणिविनाशात् शून्यः, भोग्यविरहात्तदभोक्ता, तथाधिगमाभावात् तद्बाधासंभवाच्च। शरीरादिकं धर्मि ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य तत्सत्यपि ज्ञानोदयसंभवात्।

कारिकार्थ – **अयं** शा[2]स्त्रस्य कर्ताऽध्येता वा आत्मा **सुखमृच्छति** सुखमयो भवति। किंविशिष्टः सन्? इत्याह–**'विमुक्तः'** इति। विशेषेण मुक्तः सकलकर्मविवर्जितः। विमु[3]क्तोऽपि कथम्भूतः सन्नसौ स्यात् इत्याह–**तपोनिर्जीर्णकर्मा** इति। **तपसा** यथाख्यातचारित्रलक्षणेन **निर्जी[4]र्णानि** निर्मूलोन्मीलितानि **कर्माणि** येनासौ तथोक्तः। पुनरपि कथम्भूतः सन्नसौ विमुक्तः स्यात् इत्याह–**'जीवस्थान'** इत्यादि। प्रत्येकं चतुर्दशभिः **जीवस्थानैः गुणस्थानैः मार्गणास्थानैश्च तत्त्ववित्** जीवादिस्वरूपवित्। पुनरपि किंविशिष्टः सन्नसौ विमुक्तः स्यात्? इत्याह–**'विवृद्ध'** इत्यादि। विशेषेण **वृद्धं** क्षायिकरूपतया परम-प्र[5]कर्षं प्राप्तम् **अभिनिवेशनं** सम्यग्दर्शनं यस्य स तथोक्तः। **'विवृद्धाभिनिवे-**

सू० ७। "से किं त अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते। त जहा–संतपय परूवणया, दव्वपमाणं च, खित्त, फुसणा य, कालो य, अंतर, भाग, भाव, अप्पाबहु चेव।"–अनु० सू० ८०। "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।"–तत्त्वार्थसू० १।८।

(१) "सुहुमा वादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता। एइंदिया दु जीवा जिणेंहि कहिया चदुवियप्पा॥ पज्जत्तापज्जत्ता विय होंति विगलिंदिया दु छब्भेया। पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णी य सेसा दु।"–मूला० पर्या० गा० १५२–५३। गो० जी० गा० ७२। कर्मग्र० ४।२। (२) मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असजदो चेव। देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो॥ एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसपराओ य। उवसतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य॥"–मूला० पर्या० गा० १५४–५५। छक्खडा० सू० ९–२३। गो० जी० गा० ९–१०। कर्मग्र० २।२। (३) "गइ इदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे सजमे दसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि।"–छक्खंडा० सू० ४। "गइ इदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य। सजम दसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥"–मूलाचारपर्या० गा० १५६। गो० जी० गा० १४१। कर्मग्र० ४।९। (४) "अव्वावाहमणिदियमणोवम पुण्णपावणिम्मुक्क। पुणरागमणविरहियं णिच्च अचल अणालम्ब॥" –नियम० गा० १७७। "शिवमजरमरुजमक्षयमव्यावाध विशोकभयशकम्। काष्ठागतसुखविद्याविभव विमल भजन्ति दर्शनपूता॥"–रत्नक० श्लो० ४०। सर्वार्थसि० पृ० १। तत्त्वानु० श्लो० २४२। (५) तुलना–"आत्मलाभं विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्। नाभाव नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम्॥" –सिद्धिवि०, टी० पृ० ३८४। यश० उ० पृ० २८०। "स्वरूपावस्थिति पुसस्तदा प्रक्षीणकर्मण। नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥"–तत्त्वानु० श्लो० २३४।

1–शाद् गुणगुणि–ज०वि०। 2 अस्य शा–ब०। 3 मुक्तोऽपि श्र०। 4 निर्जीर्णानिर्मूलो–आ०। 5–कर्षप्राप्तं श्र०।

शतः' इति क्वचित् पाठः। तत्रायमर्थः–**विवृद्धाऽभिनिवेशतोऽय**मात्मा **जीवादितत्त्ववित् तपोनिर्जीर्णकर्मा** च भवति सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् सम्यग्ज्ञानचारित्रयोरिति। अनेन च ग्रन्थेन विमुक्तेः[(1)] सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मिका सामग्री प्ररूपिता भवति, तदन्यतमस्याप्यपाये तस्या अनुपपद्यमानत्वात्। तदनुपपद्यमानत्वञ्च अत्रैव अनन्तरं प्रतिपादयिष्यते। किं कृत्वाऽसौ विवृद्धाभिनिवेशनः तत्त्वविच्च इत्याह–'**अनुयुज्य**' इत्यादि। अनु[(2)]योगशब्दः प्रश्ने प्रतिवचने च[1] प्रवर्त्तते, तद्यथा 'कृतानुयोगोऽपि भवान्न किञ्चिद् ब्रवीति तूष्णीमादाय स्थितः' इत्यत्र अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रसिद्धः। 'दत्तानुयोगोऽपि भवान् पुनः[2] पुनः पृच्छति' इत्यत्र तु पृष्टप्रतिवचने इति। तेनायमर्थः स्थितो भवति–**अनुयुज्य** जीवद्रव्यादेः[3] स्वरूपादि तज्जिज्ञासया पृष्ट्वा[4]। कैः? **अनुयोगैश्च। अनुयोगैरेव, च**कार एवकारार्थे। किंविशिष्टैः? इत्याह–'**निर्देश**' इत्यादि। **निर्देश आदि**र्येषां स्वामित्वादिसदादीनां **तद्भिदां गतैः** निर्देशादिभेदरूपैः इत्यर्थः।

निर्देशादौ च प्रश्नं प्रति द्वयी गतिः–नामनि निर्ज्ञाते[5] लक्षणनिर्णयार्थः प्रश्नो भवति लक्षणे वा निर्ज्ञाते नामनिर्ज्ञानार्थ इति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'किं लक्षणं जीवादिद्रव्यम्' इति प्रश्नः, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिवचनम्। अपरस्मिन् पक्षे 'उपयोगादिलक्षणः[6] किन्नामा पदार्थः' इति प्रश्नः[7]; 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम्। के पुनर्निर्देशादयः इति चेत्? उ[(3)]च्यते–'किम्' इत्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः। 'कस्य' इत्यधिपतित्व[8]ख्यापनं स्वामित्वम्। '[9]केन' इति करणप्रकाशनं साधनम्। 'कस्मिन्' इत्याधाराभिधानम् अधिकरणम्। 'कियच्चिरम्' इति कालकृतावस्थाव्यवस्थापनं स्थितिः। 'कतिविधम्' इतिप्रकारकथनं विधानम्। अत्र किम्, कस्य, केन, कस्मिन्, कियच्चिरम्, कतिविधम्' इति प्रश्नरूपः अनुयोगः। 'वस्तुस्वरूपकथनम्, अधिपतित्वख्यापनम्' इत्यादिकस्तु [(4)]प्रतिवचनरूप इति।

अधिगता निर्देशादयः। सदादयो निरूप्यन्ताम्[10]इति चेदु[(5)]च्यते–सकलपदार्थाधिगतिमूलं द्रव्यपर्यायगुणसामान्यविशेषविषयं 'सत्' इत्यभिधानं सत्। सकलादेश-

(१) विमुक्ते। (२) "प्रश्नोऽनुयोग पृच्छा च"–इत्यमरः। (३) "निर्देशः स्वरूपाभिधानम्, स्वामित्वमाधिपत्यम्, साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्, अधिकरणमधिष्ठानम्, स्थिति कालपरिच्छेद, विधान प्रकार।"–सर्वार्थसि० १।७। (४) उत्तररूप अनुयोग इति। (५) "सदित्यस्तित्वनिर्देश। सख्या भेदगणना। क्षेत्र निवासो वर्तमानकालविषय.। तदेव स्पर्शन त्रिकालगोचरम्। कालो द्विविधः मुख्यो व्यावहारिकश्च। अन्तर विरहकाल। भाव औपशमिकादिलक्षण। अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्ति।"–सर्वार्थसि० १।८।

1 च वर्त्तते ब०। 2 'पुन' नास्ति आ०। 3–द्रव्यादि स्व–आ०। 4 पृष्टाः श्र०। 5 निर्जाते श्र०। 6–लक्षणं कि–ब०। 7 प्रश्ने जीवादीनामित्यु–ब०। 8–त्वव्याख्याप–श्र०। 9 किमिति ब०। 10–प्यताम् श्र०।

त्वात् संग्रह[1]निमित्तम्, व्यवहारनिमित्तं वा विकलादेशत्वात्। भेदगणनं संख्या। वर्त्तमाननिवाससामान्यं क्षेत्रम्। तदेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनम्। कालो वर्त्तमानादिलक्षणः। कस्यचित् सन्तानेन[2] वर्त्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकालः अन्तरम्। औपशमिकादिः भावः। संख्यातादन्यतमनिश्चये[3]ऽपि परस्परं विशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्पबहुत्वम् इति। एवमुक्तप्रकारनिर्देशादिरूपैरनुयोगैः किं कृत्वा जीवादिद्रव्याण्यनुयुङ्क्तेऽयमात्मा? इत्याह–'**विरचय्य**' इति। विशेषेण रचयित्वा विधाय, कान्? इत्याह–'**अर्थ**' इत्यादि। **अर्थश्च वाक्**[4] **च प्रत्ययश्च** तदात्मक**भेदान्**। अर्थात्मको हि भेदः–द्रव्यभावरूपः, वागात्मकः नामरूपः, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूपः इति। किंविशिष्टांस्तान्? इत्याह–'**श्रुतार्पितान्**' इति। **श्रुतेन अर्पितान्** विवक्षितान्। कैः कृत्वा तान् विरचय्य? इत्याह–'**नय**' इत्यादि। **नयेषु** वस्त्वंशप्ररूपकेषु प्रवृत्तेषु सत्सु **अनु** पश्चाद् **गताः** प्रवृत्ता ये **निक्षेपाः** तैः। किंविशिष्टैः? **उपायैः** कारणभूतैः। क? **भेदवेदने**। नामस्थापनादिस्वभावभिन्नजीवादिद्रव्यवेदने। कुतः पुनरेषां नयानुगतत्वं[5] सिद्धमिति चेत्? नयनिरूपिते वस्त्वंशे प्रवृत्तेः। एतदेव दर्शयन्नाह–'**परीक्ष्य**' इत्यादि। **परीक्ष्य** विचार्य **तांस्तान्** द्रव्यपर्यायादीन्, **तद्धर्मान्** अनेकान्तात्मकाऽर्थांशान्। कथम्भूतान्? **अनेकान्**। पुनरपि किंविशिष्टान्? **व्यावहारिकान्** व्यवहारप्रयोजनप्रसाधकान्। कैः परीक्ष्य? इत्याह–'**अभिसन्धिभिः**' इति। **अभिसन्धिभिः** ज्ञातुरभिप्रायैः। किं कृत्वा? **अधिगम्य**। कम्? **अर्थम्**। किंविशिष्टम्? **अनेकान्तम्**। कस्मादधिगम्य? इत्याह–'**श्रुतात्**' इति।

कारिकाचतुष्टयं यथोद्देशं विवृण्वन्नाह–'**श्रुतम्**' इत्यादि। **श्रुतम्** आप्तवचनम्

विवृतिव्याख्यानम्– तत्कथम्भूतम्? **अनादि**। कया? **सन्तानापेक्षया** द्रव्यापेक्षया[6]। कथं पुनर्द्रव्यं सन्तानशब्दवाच्यमिति चेत्? 'समीचीनः त्रिकालप्रवृत्त[7]निखिलपर्यायानुयायी तानः विस्तारो यस्य' इति व्युत्पत्तेः। कथं तर्हि तत्(१) सादि[8]? इत्याह–'**साधनम्**' इत्यादि। साध्यते निर्वर्त्त्यते इति **साधनो** वर्णपदादिपर्यायः, साध्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन इति वा, **तं प्रति सादि 'श्रुतम्'** इति सम्बन्धः। अनेन सर्वथा नित्यमनित्यं[9] वा तत्(२) इति प्रत्याख्यातम्। प्रपञ्चितञ्चैतत् प्रागेव इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन। तदेवंविधं श्रुतं **प्रमाणम्**, कुतः इत्याह–'**त्रिकाल**' इत्यादि। **त्रिकालगोचराश्च** ते **सर्वपर्यायाश्च**[10] **जीवादिपदार्थाश्च** तेषां **निरूपणम्** यथावस्थितस्वरूपोद्योतनं तत्र **प्रवणं** दक्षम्। यत एवंविधं ततस्तत्प्रमाणम्। प्रयोगः–यत्(३) त्रिकालगोचरसर्वपर्याय[11]जीवा-

(१) श्रुतम्। (२) श्रुतम्। (३) श्रुत प्रमाण त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवादिपदार्थनिरूपणप्रवणत्वात्।

1 सग्रहव्यवहा–श्र०। 2 सन्तानो न ब०। 3–श्चयोपि श्र०। 4 वाक्प्र–श्र०। 5 नयानुगतत्वं श्र०। 6 'द्रव्यापेक्षया' नास्ति श्र०। 7–प्रवृत्तिनि–आ०। 8 स्यादित्याह ब०। 9 अनित्यं नित्यं वा ब०, श्र०। 10–श्च ते जीवा–ब० श्र०। 11–पर्यायवज्जीवा–ब०।

दिपदार्थनिरूपणप्रवणं तत् प्रमाणम् यथा सर्ववित्प्रत्यक्षम्, तथाभूतञ्चोक्तप्रकारं श्रुतमिति। नयः कीदृशः ? इत्याह–'**तदर्थांश**' इत्यादि । **नयो** भवति । कोऽसौ ? **अभिसन्धिः** ज्ञात्रभिप्रायः । किंविशिष्टः ? **तदर्थांशपरीक्षाप्रवणः**, **तस्य** श्रुतस्य **अर्थो** विषयः उक्तप्रकारो जीवादिः तस्य **अंशो** धर्मः नित्यत्वादिः तस्य **परीक्षायां प्रवणो** दक्षः । **ताभ्यां** श्रुतनयाभ्याम् **अधिगमः** निश्चयः । केषाम् ? इत्याह–**परमार्थव्यावहारिकार्थानाम्** द्रव्यपर्यायाणाम् इत्यर्थः ।

अथेदानीं '**तदधिगत**' इत्यादिना नयानुगतत्वं निक्षेपस्य प्रदर्श्य तत्स्वरूपं व्याचष्टे–**तदधिगतानां** [1]श्रुतनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायरूपाणां जीवादीनां **वाच्यतामापन्नानां** साधारणस्वरूपाणाम्, न हि असाधाणस्वरूपा अर्थपर्याया वाच्यतामापद्यन्ते। **वाचकेषु** जीवादिशब्देषु **भेदेन** [(1)]सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण **उपन्यासः** जीवाद्यर्थानां प्ररूपणं **न्यासः** निक्षेप इति यावत्[2]। स कति प्रकारो भवति ? इत्याह–'**सः**' इत्यादि। **सः** प्ररूपितस्वरूपो न्यासः **अवरतः** सङ्क्षेपतः **चतुर्धा** । कथम् ? इत्याह–'**नाम**' इत्यादि । **नाम-स्थापना-द्रव्य-भावैः** प्रकारैः निक्षेपः **चतुर्धा** भिद्यते। '**तत्र**' इत्यादिना तान् व्याचष्टे–तत्र तेषु निक्षेपप्रकारेषु [3]नामादिषु मध्ये किन्नाम ? इत्याह–'**निमित्त**' इत्यादि। किं पुनः नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तान्तरमिति चेत् ? [(2)]'वक्तुरभिप्रायोऽस्य निमित्तम्, जात्यादिकं तु निमित्तान्तरम्' इति ब्रूमः । **तदनपेक्षं** [4]**यत् संज्ञाकर्म** संज्ञाकरणम् इच्छावशात् **तन्नाम** । तस्य इयत्ताव्यवच्छेदार्थमाह–'**तच्च**' इत्यादि । **तच्च** उक्तस्वरूपं नाम **अनेकधा** अनेकप्रकारं भवति । [(3)]तथाहि–किञ्चिद् एकजीवनाम यथा डित्थ इति ।

(१) सर्वेषा युगपत्प्राप्ति सङ्कर, परस्परविषयगमन व्यतिकर, ताभ्या व्यतिरेकेण प्रतिनियतस्वस्वरूपस्थितत्वेनेति भाव । (२) तुलना–"निमित्तान्तर पुनर्जातिद्रव्यगुणक्रिया ।"–**सिद्धिवि०, टी० पृ० ४७४A** । "नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्त कथित समम् । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते ।।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९** । (३) "जस्स ण जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा "–**अनु०सू०९**। "व्यस्तसमस्तैकानेकजीवाजीवविषयतोपपत्ते –तथा [व्यस्त] जीवविषयतोपपत्ते अय मासपिण्डो देवदत्तोऽय देवदत्त इत्यादिवत् । समस्तजीवविषयतोपपत्ते एते सर्वे गर्गादय इत्यादिवत् । एकजीवविषयतोपपत्ते नाभेय पुरुदेव इत्यादिवत् । अनेकजीवविषतोपपत्ते अय डित्थ. अय डवित्थः अय जिनदत्त इति चत्त्वारो जीवभेदा । तथा व्यस्ताजीवविपयतोपपत्ते स नु त्य क्य च इत्यादि । समस्ताजीवविषयतोपपत्ते भूवादयो धुरित्यादिवत् । एकाजीवविषयतोपपत्ते. आकाश काल धर्म अधर्म इत्यादिवत् । अनेकाजीवविषयतोपपत्ते. तौ सदिव ।"–**सिद्धिवि० टी० पृ० ४७४A.** । "तस्स मगलस्स आधारो अट्ठविहो । त जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा व ।"–**धवलाटी० पृ० १९** । "किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा डित्थ इति । किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाजीवनाम यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्जिदेकजीवानेकाजीवनाम

1 '**श्रुतनयाधिगताना**' नास्ति श्र०। 2–**वत् स कति यावत् स कतिप्रका**–आ० । 3 '**नामादिषु**' नास्ति आ० । 4 **तदनपेक्ष्य यत्** व० ।

किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाऽजीवनाम यथा घटः इति। किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति। किञ्चिदेकजीव-एकाजीवनाम यथा [१]प्रतीहार इति। किञ्चिदेकजीव-अनेकाजीवनाम [1]यथा [२]कोहार इति । किञ्चिद् अनेकजीवाऽजीवनाम यथा नगरमिति । इत्याद्यनेकप्रकारं तत् प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् तदनियतप्रकारम् ? इत्याह-**जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात्** अनियतत्वात्, जात्यादिनियतनिमित्तापेक्षाणामेव शब्दानां नियतत्वोपपत्तेः । [३]जातिद्वारेण हि ये शब्दाः द्रव्यादि[2]षु प्रवर्त्तन्ते ते जातिशब्दाः यथा गौः अश्वः इत्यादयः । द्रव्यद्वारेण तु ये वर्त्तन्ते ते द्रव्यशब्दाः । ते च द्विविधाः-संयोगिद्रव्यशब्दाः, समवायिद्रव्यशब्दाश्च । तत्र [3]संयोगिद्रव्यशब्दाः कुण्डली इत्यादयः, समवायिद्रव्यशब्दाः विषाणी इत्यादयः । गुण-कर्मद्वारेण तु ये द्रव्ये वर्त्तन्ते ते गुणशब्दाः कर्मशब्दाश्च प्रतिपत्तव्याः, यथा 'शुक्लो नीलः' इत्यादयः, 'गच्छत्यागच्छति' इत्यादयश्च ।

अथ का स्थापना ? इत्याह-**'आहित'** इत्यादि। [४]स्थाप्यते इति **स्थापना** प्रतिकृतिः, सा च **आहितनामकस्य** अध्यारोपितनामकस्य **द्रव्यस्य** इन्द्रादेः **'सोऽयम्'** [4]इत्यभिसन्धानेन **व्यवस्थापना ।** केनात्मना व्यवस्थापना ? इत्याह-**'[५]सद्भाव'** इत्यादि । तत्र अध्यारोप्यमाणेन मुख्येन्द्रादिना समाना **सद्भावस्थापना ।** मुख्याकारशून्या पुनः **असद्भावस्थापना ।**

यथा काहार इति । किञ्चिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मंदुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति ।"-**तत्त्वार्थश्लो०पृ०९८ ।**

(१) दण्डधारको द्वारपाल, तत्र एकोऽजीव. दण्ड जीवश्च द्वारपाल इति । (२)एको जीव धीवर., अनेकाश्च अजीवा जलाहरणाय उपयुज्यमाना घटादय । (३) तुलना-"यदृच्छाशब्देपु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति । जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देन क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति ।"-**प्रमाणस० टी० पृ० १२ ।** "तत्थ जाइणिमित्तं णाम गोमणुस्सघडपडत्थंभवेत्तादि । संजोगदव्वणिमित्त णाम दंडी छत्ती मौली इच्चेवमादि । समवायणिमित्त णाम गलगडो काणो कुडो इच्चेवमाइ । गुणणिमित्त णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ। किरियाणिमित्त णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ ।"-**धवलाटी० पृ० १८।** "जातिद्वारेण शब्दो हि द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु स विज्ञेय गौरश्व इति शब्दवत् ॥३॥ गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्तकः । शुक्ल. पाटल इत्यादिशब्दवत्सम्प्रतीयते ॥६॥ कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते । चरति प्लवते यद्वत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥७॥ सयोगिद्रव्यशब्द. स्यात्कुण्डलीत्यादिशब्दवत् । समवायिद्रव्यशब्दो विषाणीत्यादिरास्थित ॥९॥"-**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९ ।** (४) "स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः । सा चाहितनामकस्य इन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सोत्यमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्र स्थापनेति वचनात् ।"-**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ ।** (५) तुलना-"जण्ण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा सघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सब्भावट्ठवणा वा असब्भावट्ठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सयं ।"-**अनु० सू० १० ।** "तत्थ आगारवतए वत्थुम्मि सब्भावट्ठवणा,

---

1 **यथाहार** आ० । 2-**षु वर्त्त**-आ०, ब० । 3 **सयोगिशब्दा**-श्र० । 4 **इत्यभिधानेन** आ० ।

अथ किंलक्षणं द्रव्यम् ? इत्याह–**'अनागत'** इत्यादि। ननु **'अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्'** इति द्रव्यलक्षणमयुक्तम्, *"गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"* [तत्त्वार्थसू० ५।३८] इत्यागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रकाराभिप्रायानभिज्ञः, *'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'* इति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदा अनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्त्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायश्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविपाणवत्। केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचने अनागतपरिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामानुयायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्। सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणार्पणात् *'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'* इति सूत्रितम्, क्रमोऽक्रमानेकान्तस्य तथा व्यवस्थितेः। तच्चैवंविधलक्षणलक्षितं द्रव्यं द्विधा भिद्यते आगम-नोआगमविकल्पात्। तत्र आत्मा यो जीवादिप्राभृतं तत्त्वतो जानाति परन्तु चिन्तन-परप्रतिपादनलक्षणोपयोगेनाऽनुपयुक्तः स आगमद्रव्यम्। नोआगमः त्रेधा भिद्यते–ज्ञातृशरीर-भावि-तद्व्यति-

---

तव्विवरीया असब्भावट्ठवणा।"–धवलाटी० पृ० २०। "काष्ठपुस्तचित्रकर्मादयो ये सद्भावस्थापनारूपा तथाऽक्षनिक्षेपादयोऽसद्भावस्थापनारूपा।"–**तत्त्वार्थभा० व्या० १।५।** "तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना, मुख्यदर्शिन स्वय तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात् कथञ्चित्सादृश्यसद्भावात्। मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति सप्रत्ययात्।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११।**

(१) सूत्रकार उमास्वाम्याचार्य। तुलना–"सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञ, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रय द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदाऽनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुख तदा वर्त्तमानपर्यायाक्रान्त परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्ते खरविपाणादिवत्।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११२।** (२) क्रमभाविपर्यायापेक्षया क्रमाऽनेकान्त सहभाविगुणापेक्षया तु अक्रमानेकान्त। (३) "से कि त दव्वावस्सय? दुविह पण्णत्त त जहा आगमओ अ नोआगमओ अ।"–**अनु० सू० १२। सर्वार्थसि०, राजवा० १।५। धवलाटी० पृ० २०।** (४) "जस्स ण आवस्सएत्ति पद सिक्खितं ठित जित मित परिजित नामसम घोससम अहीणक्खर अणच्चक्खर अव्वाइद्धक्खर से ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए नो अणुप्पेहाए, कम्हा? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु।"–**अनु० सू० १३।** "जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीव।"–**सर्वार्थसि०, राजवा० १।५।** "आगमओऽणुवउत्तो मगलसद्दाणुवासिओ वत्ता। तन्नाणलद्धिसहिओऽवि नोवउत्तोत्ति तो दव्व॥"–**विशेषा० गा० २९।** "तत्थ आगमओ दव्वमगल णाम मगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो, मगलपाहुडसद्दरयणा वा, तस्सत्थट्ठवणक्खररयणा वा।"–**धवलाटी० पृ० २१।** (५) "से कि त नो आगमओ दव्वावस्सय? तिविह पण्णत्त, त जहा–जाणयसरीरदव्वावस्सय भविअसरीरदव्वावस्सय जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्त दव्वावस्सय।" –**अनु० सू० १४।** "नो आगमद्रव्यजीवस्त्रेधा व्यवतिष्ठते–ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचर तज्ज्ञायकशरीरम्। सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति जीव-

---

1–**पर्यायव**–आ०, श्र०। 2–**पर्यायव**–आ०, श्र०। 3–**प्रकारेण तथा** ब०। 4–**पर्यायव**–आ०, श्र०। 5–**भूतं न जाना**–श्र०। 6–**गेनानुयुक्तं स** आ०,–**गो वानुपयुक्त. स** ब०।

रिक्तविकल्पात्। तत्र ज्ञशरीरलक्षणं नोआगमद्रव्यमपि त्रिकालगोचरं त्रिविधम्–भावि-वर्त्तमान-परित्यक्तभेदात्। गत्यन्तरे स्थितो मनुष्यभवप्राप्ति प्रत्यभिमुखो भाविजीवः। स एव यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति केवलमग्रे ज्ञास्यति तदा भाविनोआगमः। तद्व्यतिरिक्तं नोआगमद्रव्यं कर्मनोकर्मभेदात्मकम्। तत्र ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं कर्म, शरीरपर्याप्तियोग्यपुद्गलादानं नोकर्म।

अथ को भावः? इत्याह–'**तथा**' इत्यादि। **तथा**, किम्? विवक्षितप्रकारेण **उपयोगो** व्यापारः। यदि वा, **तथा** आगमनोआगमरूपतया **उपयोगो** जीवस्य उपयुक्तत्वं **भावः**। अतश्च द्रव्यवद् भावोऽपि आगमनोआगमविकल्पाद् द्विविधः प्रतिपत्तव्यः। तत्र जीवादिप्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमभावः। जीवादिपर्यायाविष्टो नोआगमः। एवं प्ररूपितनामादिचतुःप्रकारो निक्षेपः[1] सिद्धः। स किमर्थं प्ररूप्यते निष्फलत्वात् इत्याशङ्क्याह–'**अप्रस्तुत**' इत्यादि। **अप्रस्तुतार्थस्य** मुख्यस्य इन्द्रादेः **अपाकरणात्** निराकरणात्, **प्रस्तुतस्य** नामस्थापनेन्द्रादेः **व्याकरणाद्** व्युत्पादनाच्च हेतोः **निक्षेपः फलवान्** सार्थकः। तेन च इत्थम्भूतेन निक्षेपेण **निक्षिप्ता** उक्तप्रकारेण प्ररूपिताः **पदार्थाः** जीवादयः **अनुयुज्यन्ते**[2] **अनु** पश्चात् **युज्यन्ते**[3] जीव[4]द्रव्यादेः स्वरूपादीनि तज्जिज्ञासया पृच्छ्यन्ते। कैः कृत्वा? **अनुयोगैः**। किंविशिष्टैः? **निर्देशादिभिः** निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणैः, न केवलमेतैरेव अपि तु **सदादिभिश्च,** सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वलक्षणैश्च। एवंविधैश्च अनुयोगैः **अनुयुक्ता यद्यपि सर्वे पदार्थाः तथापि जीवपदार्थविषयो यो विशेषः** इतरपदार्थेभ्यः स्वरूपातिशयः तस्य **प्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि** प्रत्येकं

नसामान्यस्य सदापि विद्यमानत्वात्। विशेपापेक्षया त्वस्ति–गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्ति प्रत्यभिमुख मनुष्यभाविजीव । तद्व्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्प ।"–**सर्वार्थसि० १।५। धवलाटी० पृ० २१।** "मगलपयत्थजाणयदेहो भव्वस्स वा स जीवोऽवि। नो आगमओ दव्वं आगमरहिओत्ति ज भणिअ ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेगदेसाओ। भूयस्स भाविणो वा जस्स ज कारण देहो ॥ जाणयभव्वसरीराइरित्तमिह दव्वमगल होइ। जा मगल्ला किरिया त कुणमाणो अणुवउत्तो ॥"–**विशेषा० गा० ४४-४६।**

(१) "से किं त भावावस्सय? दुविह पण्णत्त, त जहा–आगमतो अ, नो आगमतो अ।"–**अनु० सू० २२। सर्वार्थसि० १।५। धवलाटी० पृ० २९।** (२) "जाणए उवउत्ते, से त आगमतो भावावस्सय।" –**अनु० सू० २३।** "तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीव ।"–**सर्वार्थसि० १।५।** "मगलसुयउवउत्तो आगमओ भावमगलं होइ।"–**विशेषा० गा० ४९।** "आगम सिद्धान्त, आगमदो मगलपाहुडजाणओ उवजुत्तो।"–**धवलाटी० पृ० २९।** (३) "जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवनपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नो आगमभावजीव ।"–**सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थश्लो० १।५।** "णो आगमदो भावमगल दुविह उपयुक्तस्तत्परिणत इति। आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्त । मगलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति।"–**धवलाटी० पृ० २९।**

1–पः प्रसिद्धः श्र०। 2 अनुयुज्जन्ते श्र०। 3 युज्जन्ते श्र०। 4 जीव इत्यादेः श्र०।

चतुर्दश भवन्ति । तैः प्ररूपितस्वरूपातिशये जीवद्रव्ये यथावज्ज्ञाते मुमूक्षूणां मुक्त्यङ्गं परिपूर्णं रत्नत्रयं भवति नान्यथा । एतदेवाह–'एवम्' इत्यादि । एवम् उक्तप्रकारेण[1] प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः पदार्थप्रतिपत्त्युपायैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं पुनः जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य, इत्यनेन मुमुक्षोः सम्यग्ज्ञानं मुक्त्यङ्गं प्ररूपितम् । प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः इत्यनेन सम्यग्दर्शनम्, 'तपसा निर्जीर्णकर्मा' इत्यनेन तु सम्यक्चारित्रमिति । तेन च सम्यग्दर्शनादित्रयेण निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सन् अयमात्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । किंविशिष्टं[2] तत्सुखम् ? बाधारहितं विगतबाधम्, अव्यवच्छिन्नं[3] शाश्वतम्, अनन्तम् इयत्तावधारणवर्जितम्, अतीन्द्रियम् विशुद्धात्ममात्रोत्थम् । ननु आत्मनो मुक्तौ बुद्ध्याद्यशेषविशेषगुणोच्छेदात् कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसन्तानोच्छेदतः तस्यैवाऽसंभवादिति[1] सौगताः । अभोक्तृत्वादिति सांख्याः । अत्राह–नहि इत्यादि । नहि नैव गुणविनाशाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदात् जडः पाषाणकल्पः मुक्तौ आत्मा भवति, गुणगुणिविनाशात् शून्यः 'नहि' इति सम्बन्धः । गुणाः ज्ञानादयः गुणी चित्तसन्तानः तेषां विनाशाद् अत्यन्तोच्छेदात् आत्मा शून्यः सकलस्वरूपविविक्तो भवति 'नहि' इति सम्बन्धः । भोग्यविरहात् तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानाद् अभोक्ता आत्मा[4] सुखादेः 'नहि' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह[5]–तथाधिगमाभावात् तद्बाधासंभवाच्च । यथा च मुक्तौ तथाविधस्य[2] आत्मस्वरूपस्य कुतश्चिदपि प्रमाणादधिगमासंभवः तत्र च बाधासंभवः तथा अग्रे प्रपञ्चतः प्ररूपयिष्यते ।

आवरणस्वरूपविषये इतरेषां पूर्वपक्षः –

ननु ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ[6] 'तपोनिर्जीर्णकर्मा' इत्यभिधातुं युक्तम् । नच तत्सद्भावः[7] प्रसिद्धः । तद्धि[3] शरीरम्, रागादि, देशकालादिकं वा भवेत् ? तत्र आद्यविकल्पद्वयमयुक्तम्, शरीरे रागादौ च सत्यपि अर्थज्ञानोदयसंभवात् । यस्मिन्[4] सत्यपि ज्ञानोदयसंभवः न तस्य ज्ञानावरणादिस्वरूपता यथा चक्षुरादेः, अर्थज्ञानोदयसंभवश्च शरीरादौ सत्यपि, तस्मान्न[8] तस्य[5] ज्ञानावरणादिस्वरूपता इति । तस्य[9] तत्स्वरूपतायां वा काण्डपटादिवन्न तत्सद्भावे[6] तदुपलम्भसंभवो[7] भवेत् । तर्हि देशकालादेस्तत्स्वभावताऽस्तु[8], सुप्रसिद्धा हि मेर्वादौ दूरदेशताया आवरणता रावणादौ दूरकालतायाः परमाण्वादौ सूक्ष्मस्वभावतायाः, मूलकीलो[9]-

(१) आत्मन एव । (२) सुखादिव्यतिरिक्तस्य शून्यस्य अभोक्तृत्वरूपस्य वा । (३) तुलना– "तद्धि शरीरं रागादयो देशकालादिकं वा स्यात् ।"–प्रमेयक० पृ० २४१ । स्या० र० पृ० ३५६ । (४) शरीरं रागादिकं वा नावरणस्वरूपम् तत्सद्भावेऽपि ज्ञानोदयात् । (५) शरीरादेः । (६) शरीरादिसद्भावे । (७) ज्ञानोपलम्भसंभव । (८) आवरणस्वभावता । (९) भूम्यन्तर्गतस्य वृक्षमूलस्य कीलस्य उदकादेर्वा ।

1–रेण नयनि–आ० । 2–ष्टं सुख श्र० । 3 अवच्छिन्न श्र० । 4 'आत्मा' नास्ति आ० । 5 इत्याह–ब० । 6–द्धौनिर्जीर्ण–श्र० । 7 तदभावः ब० । 8 तस्मान्नास्य ब० । 9 'तस्य' नास्ति श्र० ।

दकादौ च भूम्यादेः; इत्यप्यसमीचीनम्; तद्[1]भावस्य योगिनोऽप्यशक्यक्रियत्वात्। न खलु सातिशयर्द्धिमताऽपि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः। नचान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते। अस्तु[2] वा तत्, तथापि-अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्, मूर्तिमताऽनेन[3] अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणानुपपत्तेः, अन्यथा शरीरादेरप्यावरणत्वप्रसङ्गः। आत्मगुणत्वात् कर्मणो न पौद्गलिकत्वमित्य[4]न्ये। भवतु[1] पौद्गलिकत्वम् अन्यथाभूतत्वं[5] वाऽस्य[6]; तथापि न साकल्येन क्वचिन्निर्जरासंभवः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यास्य अनादित्वात्, अनादेश्च आत्मादिवद् विनाशासंभवादित्य[7]परे।

कर्मणः पौद्गलिकत्वप्रसाधनं सवरनिर्जरयोः सिद्धिश्च-

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[8]–'ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ' इत्यादि; तत्र किं कर्ममात्रसद्भावे भवतां विप्रतिपत्तिः, ज्ञानावरणादिकर्मविशेषे वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शरीरादिव्यतिरिक्तस्य कर्ममात्रस्य अनुमानतः[9] सद्भावप्रसिद्धेः। तथाहि–स्वपरप्रमेयबोधैकस्वभावस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयादिषु विशिष्टाभिरतिः आत्मतद्व्य[10]तिरिक्तकारणपूर्विका, तत्त्वात्, कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्याः तन्त्राद्युपयोगप्रभवविशिष्टाभिरतिवत्। द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः; ज्ञानावरणादिकर्मविशेषस्यापि तद्[11]व्यतिरिक्तस्य

(१) दूरदेशताया दूरकालताया सूक्ष्मस्वभावताया भूम्यादेर्वा अभावस्य। (२) वेदान्तिनः। "अत एवावरणस्य अनिर्वाच्याविद्यास्वरूपत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्। न तु दुर्निरूपत्वमात्रेण तदपलापो युक्त. अनुमानसिद्धत्वात्। तथाहि–अस्ति तावन्मूढानामेव व्यवहार 'अशनायाद्यतीत विवेकिप्रसिद्धमात्मतत्त्वं नास्ति न प्रकाशते च' इति योऽय व्यवहारः आत्मनि भावरूपावरणनिमित्तो भवितुमर्हति, 'अस्ति प्रकाशते' इत्यादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वात्, यन्नैव तन्नैवं यथास्ति प्रकाशते घट इति व्यवहार। न च कारणपौष्कल्यमसिद्धम्; नित्यसिद्धस्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेणात्रान्यापेक्षाऽभावात्। न चान्यथासिद्धि; इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूर्तद्रव्यस्य आत्मनि निरवयवे सर्वगते दुसपादत्वात्।"–विवरणप्र० पृ० २१। (३) पौद्गलिककर्मणा। (४) यौगा। द्रष्टव्यम्–पृ० ३ टि० ५। (५) अविद्यादिरूपत्वम्। (६) कर्मण। (७) जयन्तभट्टादय। तुलना–"अन्ये तु मिथ्याज्ञानजनितसस्कारस्य सहकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीरारम्भकाणीनि मन्यन्ते।" –प्रश० व्यो० पृ० २० ख। "सहकारिवैकल्यात् कुसूलावस्थितबीजवत् कर्मणामनारम्भकत्वे सति न कश्चिद्दोष। एष एव च तेषा दाहो यत्कार्यानारम्भकत्वम्। नन्वविनष्टस्वरूपाणि कुसूलबीजवदेव कदाचिदारप्स्यन्ते कार्यं तस्माद्वरमुच्छिद्यन्तामेव; किमिदानी नित्यमात्मानमप्युच्छेत्तु यतामहे?"–न्यायमं० पृ० ५२३। (८) पृ० ८०८ पं० १९। (९) तुलना–"चेतनस्य सत सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणं मदिरादिवत्। तत्कुत सिद्धम्। विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदय सम्बन्ध्यन्तरकारणक मोहोदयत्वात् मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४९। "ससारी बन्धवान् परतन्त्रत्वादालानस्तम्भागतहस्तिवत्। परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् कामोद्रेकपरतन्त्रहीनस्थानपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत्।"–आप्तप० पृ० १। प्रमेयक० पृ० २४२। (१०) शरीरादिव्यतिरिक्त। (११) शरीरादिभिन्नस्य।

1–तु वा पौ–ब०।

अनु[1]मानादेव प्रसिद्धेः । तथाहि–यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादि व्याप्तिज्ञानं सावरणम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्टं तत्सावरणम् यथा [1]रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनि[2]करादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टञ्चेदं ज्ञानमिति । मिथ्या[2]दृशां सर्वत्र अनेकान्तस्वभावे भावे विपरीतज्ञानं सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति ।

यदप्युक्तम्[3]–'अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अमूर्त्तस्य अमूर्त्तेनैव आवरणनियमाऽसंभवात्, [4]मूर्त्तेनापि मदिरादिना अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात् । कथमेवं शरीरादेर्न तदावरणत्वं स्यादिति चेत् ? 'तदविरुद्धत्वात्' इति ब्रूमः । मूर्त्तत्वाविशेषेऽपि हि यदेव ज्ञानेन विरुद्धं तदेव तस्य[5] आवरणं युक्तं नान्यत्, अन्यथा अमूर्त्तत्वाविशेषात् अविद्यावत् आकाशादेर्ज्ञानान्तरस्य च आवरणत्वमनुषज्येत । [3]तस्य[6] तेन[7] विरोधश्च मदिरादिवत् पौद्गलिककर्मोदये प्रबन्धेन प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानस्य[4] निरोधान्निश्चीयते । तथाहि–आत्मनो[8] मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनः, तत्स्वरूपान्यथा[5]भावस्वभावत्वात्, उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्याज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेन अनेकान्तः, तस्यापि अपरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव संभवात् अपरापरोन्मत्तकादि[6]रससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

एतेन 'आत्मगुणत्वात् कर्मणां न पौद्गलिकत्वम्' इत्यपि[9] प्रत्युक्तम्, तेषां[10]मात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वानुपपत्तितः सदैव आत्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति यथा पृथिव्यादेः रूपादिः, गुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म [11]परैरिष्टम् इति । न चैतत् युक्तम्, आत्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः प्रतीतेः । तथाहि–परतन्त्रोऽयमात्मा, हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपर[7]तन्त्राऽशुचिस्थानपरिग्रहवद्वि-

(१) "अशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्यात्मन स्वविषयेऽप्रवृत्ति विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता पीतहृत्पूरपुरुषस्वविषयज्ञानाप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धक द्रव्य तद् ज्ञानावरणादि वस्तुसत् पुद्गलरूप कर्म ।"–सन्मति० टी० पृ० ७३६ । "यदप्रवृत्तिमत्स्वविषये तत्सावरण यथा तैमिरिकस्य लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि, अप्रवृत्तिमच्च स्वविषये समस्तार्थलक्षणेऽस्मदादिज्ञानमिति ।"–स्या० र० पृ० ३५७ । "ज्ञानं सावरण विशदतया स्वविषयानवबोधकत्वात् ।"–प्रमेयक० पृ० २४० । (२) "तथा मिथ्यात्वपटलविलुप्तविवेकदृशा यदेतत्सर्वस्मिन्ननेकान्तात्मके वस्तुनि विपर्ययज्ञान तत्सावरण मिथ्याज्ञानत्वात् ।"–स्या० र० पृ ३५७। प्रमेयक० पृ० २४२। (३) पृ० ८०९ प०३। (४) "सुराभिभवदर्शनात्"–राजवा० पृ०८१। प्रमेयक० पृ०२४३। प्रमेयर० पृ०५६। (५) ज्ञानस्य । (६) पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादिकर्मणः । (७) ज्ञानेन । (८) "आत्मनो मिथ्याज्ञानादि '' "–प्रमेयक० पृ० २४३। (९) पृ० ८०९ पं०५। (१०) "तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति, तस्य ससारहेतुत्वानुपपत्ते ।"–सर्वार्थसि० ८।२। "कर्मणामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वायोगात् सर्वदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तेर्मुक्तिप्रसङ्गात् ।"–आप्तप० का० ११३ । प्रमेयक० पृ० २४३ । स्या० र० पृ० ११०१ । (११) योगैः ।

1 गजो–श्र० । 2–निकारादि–श्र० । 3 'तस्य' नास्ति आ० । 4–स्य तिरोधानान्निश्ची–श्र०, –स्य तिरोधान्निश्ची–ब० । 5–याभावत्वात् उ–श्र० । 6–रसद्भावे ब० । 7–तन्त्रानुचितस्था–ब०।

शिष्टपुरुषवत् । हीनस्थानं[1] हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कारागारवत्, तत्परिग्रहवांश्च संसारी सर्वेषां सुप्रसिद्ध एव । नच देवशरीरे तदभावात्[2] पक्षाव्याप्तिः; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः । यत्परतन्त्रश्चासौ तच्च कर्म, इति सिद्धमस्य[3] अनात्मगुणत्वम्, अतः पौद्गलिकत्वमेवास्योपपन्नम् । प्रयोगः[4]–पौद्गलिकं कर्म, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगलादिवत् । नच क्रोधादिभिर्व्यभिचारः; तेषाम् आत्मपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात् । क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

यच्चान्यदुक्तम्[5]–'न साकल्येन क्वचिन्निर्जरासंभवः' इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्, कर्मणां सन्तानपरम्परयाऽनादित्वेपि क्वचिद् विपक्ष[6]परमप्रकर्षसद्भावे साकल्येन प्रक्षयोपपत्तेः । यस्य[7] क्वचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे[1]ः तस्य तत्र साकल्येन प्रक्षयः यथा शीतस्पर्शस्य, सम्यग्दर्शनादिलक्षणतद्विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च क्वचिदात्मनि इति । नचायं साध्यविकलो दृष्टान्तः; नहि[8] अनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षभूतस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षसद्भावे निर्मूलतलं प्रलयमुप[2]व्रजन्न प्रतीतः, कार्यकारणप्रवाहेण बीजाङ्कुरादिसन्तानो वाऽनादि. प्र[9]तिपक्षभूतदहननिर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति । प्रतिपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च अनुमानतः प्रसिद्धः; तथाहि–ज्ञाना[10]दयः क्वचित् परमप्रकर्षं प्रतिपद्यन्ते, प्रकृष्यमाणत्वात्, परिमाणवत् । इत्थं वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः

---

(१) तुलना–"मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेतनावशात् । हीनस्थानगतिर्जन्म"–प्रमाणवा० १।२६३ । "हीनस्थान शरीरमात्मनो दु खहेतुत्वात् कस्यचित्कारागृहवत्"–आप्तप० पृ० १। प्रमेयक० पृ० २४३। स्या० र० पृ० ११०१ । (२) दु खहेतुत्वाभावात् । (३) कर्मण. । (४) "तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगडादिवत् ।"–आप्तप० पृ० ६१ । प्रमेयक० पृ० २४३। (५) पृ०८०९पं०६। (६) तुलना–"सर्वेषा सविपक्षत्वान्निर्ह्रासातिशय श्रित । सात्मीभावात्तदभ्यासात् । हीयेरन्नास्रवाः क्वचित् ॥"–प्रमाणवा० ३।२२०। "ये चापचयधर्माणः प्रतिपक्षस्य सन्निधौ । अत्यन्तापचयस्तेषा कलधौतमलादिवत् ।"–तत्त्वसं० का० ३४१६। "सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षये । कर्माऽश्लेष प्रवृत्ताना निवृत्ति फलदायिनाम् ।"–न्यायवि० का० ४४३ । (७) "स कर्मभूभृता भेत्ता तद्विपक्षप्रकर्षतः । यथा शीतस्य भेत्तेह कश्चिदुष्णप्रकर्षत ॥"–आप्तप० का० ११० । अष्टसह० पृ० ५४ । "यदुत्कर्षतारतम्यात् यस्यापचयतारतम्य तत्प्रकर्षनिष्ठागमने भवति तस्य आत्यन्तिक क्षय , यथा उष्णस्पर्शतारतम्यात् शीतस्पर्शस्य, भवति च ज्ञानवैराग्यादेरुत्कर्षतारतम्यात् अज्ञानरागादेरपचयतारतम्यमिति ।"–सन्मति० टी० पृ० ७३७ । (८) "विपक्षप्रकर्षगमनात् कर्मणा सन्तानरूपतयाऽनादित्वेऽपि प्रक्षयप्रसिद्धे । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्श "–आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० र० पृ० ३५७ (९) "प्रतिपक्षभूतदहनान्निर्दग्धबीजो ·"–आप्तप० पृ० ५९ । "प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजो ·–प्रमेयक० पृ० २४५। (१०) तुलना–"अस्ति काष्ठाप्रप्ति सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत् ।" –योगभा० १।२५। "तत्प्रकर्ष. पुन सिद्ध परम. परमात्मनि । तारतम्यप्रकर्षस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत् ॥"–आप्तप० का० ११२। अष्टसह० पृ० ५५। प्रमेयक० पृ० २४५। स्या० र० पृ० ३५८। "शुद्धि प्रकर्षमायाति परम क्वचिदात्मनि । प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात् कनकादिविशुद्धिवत् ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१५ ।

1–यस्तत्र तस्य श्र० । 2–मुपाव्रज–श्र० ।

कर्त्तव्यः–[1]ज्ञानावरणादिहानिः क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षमायाति, प्रकृष्यमाणत्वात्, नभसि परिमाणवत्। न चात्राऽसिद्धं साधनम्, तथाहि–[2]प्रकृष्यमाणा आवरणहानिः, आवरणहानित्वात्, माणिक्याद्यावरणहानिवत्। यद्वा, [3]ज्ञानावरणादिकर्म क्वचिदामूलं प्रक्षीयते, समग्रक्ष[2]यहेतूपेतत्वात्, लोचने तिमिरादिवत्। [4]तत्कर्मप्रक्षयस्य हि हेतू संवर-निर्जरे, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायी स तद्धेतुः यथा धूमोऽग्नेः, अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते च तत्प्रक्षयः संवरनिर्जरयोरिति। सति संवरे भाविकर्म नोत्पद्यते "[5]अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्थसू० ९।१] इत्यभिधानात्। सञ्चितं पुनः तन्निर्जरातः प्रलीयते–"[6]उपात्तकर्मणां निर्हरणं निर्जरा" [ ] इति वचनात्। सा च निर्जरा द्विविधा[7]–औपक्रमिक-इतरभेदात्। तत्र औपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या, अनौपक्रमिकी तु यथाकालं संसारिणः स्यादिति।

अदृष्ट-कर्मबन्धादि-विषये साङ्ख्यानां पूर्वपक्षः–

अत्र साङ्ख्या ब्रुवते–सत्यम्, अनात्मगुणोऽदृष्टं [8]प्रकृतिपरिणामत्वात्तस्य "[9]प्रकृतिपरिणामः शुक्लकृष्णाद्य कर्म" [ ] इत्यभिधानात्। [10]प्रकृत्या हि कर्म क्रियते अतस्तत् तत्परिणामो नात्मनः तस्याऽकर्तृत्वात्।

---

(१) "दोषावरणयोर्हानि निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥" **आप्तमी० का० ४। प्रमेयक० पृ० २४५।** (२) "प्रकृष्यमाणा आवरणहानि आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत्।"–**प्रमेयक० पृ० २४६। स्या० र० पृ० ३५९।** (३) "क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम्। समग्रक्षयहेतुत्वाल्लोचने तिमिरादिवत्॥"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५।** (४) "तेषामागमिनां तावद्विपक्षः संवरो मतः। तपसा सञ्चितानां तु निर्जरा कर्मभूभृताम्॥"–**आप्तप० का० १११। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६।** (५) "आस्रवनिरोधः संवरः."–**तत्त्वार्थसू० ९।१।** उद्धृतमिदम्–**प्रमेयक० पृ० २४५।** (६) "एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा।"–**सर्वार्थसि० १।४।** "उपात्तस्य कर्मणस्तपोविशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा।"–**राजवा० १।४।** "कर्मणां तु विपाकात्तपसा वा यः शाटः सा निर्जरा"–**तत्त्वार्थभा० व्या०, तत्त्वार्थहरि० १।४।** "पूर्वोपार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४८३।** (७) "सा द्विप्रकारा–विपाकजेतरा च। तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्य अनुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्म अप्राप्तविपाककालम् औपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा।"–**सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ८।२३।** "सा द्विविधा–अनुपक्रमोपक्रमिकी च। तत्र पूर्वा यथाकालं संसारिणः स्यात्, उपक्रमिकी तु तपसा द्वादशविधेन साध्यते।"–**आप्तप० का० १११। प्रमेयक० पृ० २४४। स्या० र० पृ० ३५७।** "सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म–आयुर्विपाकं कर्म द्विविधम्–सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च। तत्र यथार्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण शुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वा अग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निः तृणराशौ क्रमतोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्।"–**योगसू० व्यासभा० ३।२२।** (८) द्रष्टव्यम्–**पृ० ३ टि० ७।** "तत्कार्यं धर्मादि"–**सांख्यसू० २।१४।** (९) तुलना–"चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः–कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति।"–**योगभा० ४।७।** "अशुक्लाकृष्णकर्म

1–दि क्वचि–श्र०। 2–क्षयहेतु–ब०,–क्षयेहेतु–आ०।

साक्षित्वादिकमेव हि स्वरूपमात्मनो न कर्त्तृत्वादि । तदुक्तम्–

"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥" [सांख्यका० १९]

तस्माच्च तस्मादेव त्रिगुणविपर्यासात् सिद्धमात्मनः साक्षित्वादिस्वरूपम्[1]; तथाहि– साक्षित्वं तावदात्मनः गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम् स्वयमस्य नैर्गुण्यात्, सुखादिभ्यो हि यतोऽयमर्थान्तरभूतः तस्मात् तत्प्रवृत्तौ साक्षी । तथा कैवल्यमप्यस्य सिद्धम् ततो विविक्तत्वात् । यतः खल्वयं गुणेभ्यः पृथग्भूतः[2] तस्मादेव केवलः, न तैः सह संसर्गेण वर्त्तते । तथा माध्यस्थ्यमप्यस्य विषयित्वात् सिद्धम् । विषयाणां हि तुल्यबलत्वात् न्यूनाधिकतोपपत्तेश्च अन्योन्यं बाधानुग्रहौ उपपन्नौ[3], विषयी चायम्, तस्मान्नास्य न्यूनतादि, अत एव इतरयोरनुपपत्तिः । तथा द्रष्टृत्वमप्यस्य चैतन्यस्वरूपत्वात्[4]सिद्धम् ।

स्यान्मुमुक्षोर्योगिनो यते. । कृष्ण शुक्ल तथा मिश्र कर्मान्येषा त्रिधा भवेत् ॥"–योगका० ४।१२ । उद्धृतमिदम्–"प्रधानविवर्त शुक्ल कृष्णञ्च कर्म ।"–आप्तप० पृ० ६१ । "प्रधानपरिणाम शुक्ल कृष्णञ्च कर्म ।"–प्रमेयक० पृ० २४४, २८५ । (१०) "प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥"–भगवद्गी० ३।२७ ।

(१) "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"–श्वेताश्व० ६।११ । "पुरि शयनात् प्रमाणात् पूरणात् पुरुवृत्तिता । स चानादि सर्वगतश्चेतनो निर्गुणोऽपर ॥ द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मक । सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि स ॥"–सांख्यतत्त्ववि० पृ० १० । (२) "तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद् विपर्ययात् । निर्गुणः पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणाना पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तः तस्मात् सत्त्वरजस्तम सु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्ध पुरुषस्येति । योऽयमधिकृतो बहुत्व प्रति, गुणा एव कर्तार. प्रवर्तन्ते साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव । किञ्चान्यत्, कैवल्यम्–केवलभाव कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थ. त्रिगुणेभ्य केवलोऽन्यः । माध्यस्थ्यभाव , परिव्राजकवन्मध्यस्थ पुरुष । यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थ , पुरुषोऽप्येव गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते तस्मात् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च । यस्मान्मध्यस्थः तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषः तेषा कर्मणामिति । सत्त्वरजस्तमासि त्रयो गुणा. कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुष । एव पुरुषस्यास्तित्वञ्च सिद्धम् ।"–गौडपा० भा०, माठरवृ०, साख्यतत्त्वकौ०, जयमग, का० १९ । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० पृ० ५४६ A. । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १४० A. । (३) "अकर्तृभावश्चेत्यनेन सप्तविधमकर्तृभावमाश्रयति–न ह्ययं विषयेषु स्वस्यान्त.करणसान्निध्येऽध्यवसायं कुरुते । न च सत्त्वादीना प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मै इतरेतरोपकारेणाप्रवर्तमानाना स्वेन चैतन्यलक्षणेन धर्मेण अङ्गभाव प्रतिपद्यते नाप्यङ्गिभावम् । एवं सह गुणै. कार्यं न कुरुते स्त्रीकुमारवत् । स्थितप्रयोग न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रेरकवत्, न स्वात्मनो मृत्पिण्डवत्, न परत कुम्भकारवत्, नाप्यादेशात् मायाकारवत्, नोभयतो मातृपितृवत् ।"–युक्तिदी० पृ० १०० । (४) "तत्र साक्षित्वमित्यनेन गुणाना प्रवृत्तौ अस्वातन्त्र्य ख्यापयति प्रधानस्य तदर्थनिबन्धनत्वात् प्रवृत्ते ।"–युक्तिदी० पृ० १०० । (५)गुणाना सत्त्वरजस्तमसा प्रवृत्ते , गुणस्य वा प्रधानस्य प्रवृत्ते. । (६)पुरुषस्य । (७) गुणात् । "कैवल्यमित्यनेन ससारिधर्मत्वमात्मनो निवर्तयति । न यथा सत्त्वादीना परस्परेण प्रकाशादिधर्मापेक्षाणा ससर्गः एव पुरुषस्य तैर्भवति ।"–युक्तिदी० पृ० १०० । (८) "माध्यस्थ्यमित्यनेन अतिशयनिर्ह्रासानुपपत्ते , पुरुषस्य गुणै सह बाधानुग्रहानुपपत्तिः स्वकार्यप्रवृत्तौ चापक्षपात दर्शयति ।"–युक्तिदी० । (९) बाधानुग्रहयो ।

1–दिरूपं श्र० । 2 पृथग्गतः ब० । 3 उपपत्तौ ब० । 4–न्यरूप–श्र०, ब० ।

प्रकृतिविकारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुष एव स्थाप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा। उक्तञ्च-"चैतन्य स्वरूपं पुरुषस्य" [योगभा० १।९] इति। अत्राऽभेदे षष्ठी। चितिरेव हि पुरुषः, रूपशब्दः स्वभाववचनः। एतदेव हि आत्मनः स्वम् आत्मीयं रूपं स्वभावः यत् चैतन्यं नाम, तस्य व्यक्ता-व्यक्तयोरसंभवात्। तथाऽकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वादस्य सिद्धः, यस्मात् प्रस्पन्दन-परिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्त्ता इति।

ननु सत्त्वादीनां कर्त्तृत्वे 'पुरुषः पुण्यं करोति' इत्यात्मनि कर्त्तृत्वप्रतीतिः कथ-मुपपन्नेति चेत्? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धिः चेतनासंसर्गात् चेतना उपचर्यते, तथा कर्त्तृप्रधानसंसर्गात् स्वयमकर्त्ताप्यात्मा कर्त्तेव उपचर्यते। तदुक्तम्-

"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिह (व) लिङ्गम्।
गुणकर्त्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥" [साख्यका० २०] इति।

ततः चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप-

(१) "चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदि-श्यते? भवति च व्यपदेशो वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गौरिति।"-योगभा० १।९। उद्धृतमिदम्-सर्वार्थसि० पृ० १। न्यायवि० वि० पृ० ५४७ A। (२) "तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथ पुरुषे व्यपदिश्यते इति? यथा विजय पराजयो वा योद्धृषु वर्तमान स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एव बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्ध तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्व-ज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावा, स हि तत्फलस्य भोक्तेति।"-योगभा० २।१८। (३) "तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम्' यस्माच्चेतनस्वभाव पुरुष तस्मात् तत्सयोगादचेतन महदादिलिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते। को दृष्टान्त? तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भि सस्पृष्ट शीतो भवति अग्निना सयुक्त उष्णो भवति, एव महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति। तस्मात् अध्यवसाय कुर्वन्ति गुणा. कार्यादिषु। तद्यथाऽसौ अचौर तत्ससर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्तै तथा सत्त्वादयो गुणा कर्त्तार. तैः सयुक्त पुरुषोऽपि अकर्ताऽपि कर्ता भवति, कर्तृससर्गात् कर्तेव, पर परमार्थतया अकर्ता पुरुप।" -माठरवृ०, गौडपा०, सांख्यतत्त्वकौ०, जयमङ्ग० का० २०। "तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्ध्यन्तरसम्पर्कात् अन्यगताऽन्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या न परमार्थत। उक्तञ्च-चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते। कर्तृष्ववस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्त्तेव लक्ष्यते॥"-युक्तिदी० पृ० १०४। उद्धृतोऽयम्-न्यायम० पृ० ४८९। 'चेतनावदिह'-अष्टसह० पृ० ६७। न्यायवि० वि० पृ० ५९ A। स्या० र० पृ० २३४। (४) "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रति-सङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सुखदु खमोहात्मकत्वमशुद्धि सुखमोहावपि विवेकिन दु खा-कुरुत्तोऽतो दु खवद् हेयौ। तथा चातिसुन्दरमपि अन्तवद् दुनोति तेन तदपि हेयमेव विवेकिन। सेयमशुद्धिरन्तश्च चितिशक्तौ पुरुषे न स्त इत्यत उक्त शुद्धा चानन्ता चेति। ननु सुखदु खमोहात्मक-शब्दादीनिय चेतयमाना तदाकारापन्ना कथ विशुद्धा? तदाकारपरिग्रह-परिवर्जने च कुर्वती कथ-मनन्तेत्यत उक्तम्-दर्शितविषया इति। दर्शितो विषय शब्दादिर्यस्यै सा तथोक्ता। भवेदेतदेवं यदि

1-न्यरूप-श्र०, ब०। 2-न्यं रूपं श्र०। 3 तथात्र प्रधा-श्र०। 4-चेतना चेतना-आ०।

गन्तव्या। न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसद्भावाभ्युपगमे पुरुषकल्पनानर्थक्यमित्यभिधातव्यम्; [1]द्रष्टृत्वात्तस्य। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यमुपपद्यते पङ्ग्[2]वन्धयोरिवानयो[3]: अन्योन्यापेक्षत्वात्। यथैव हि अन्धो दर्शनशक्तिविकलः तच्छक्तियुक्तपङ्गूपदेशमन्तरेण नेष्टप्रदेशमुपसर्पति, पङ्गुरपि क्रियाशक्तिशून्यः तच्छक्तियुक्ताऽन्धसंसर्गाद्विना इति, तथा प्रधानं नान्तरेण पुरुषं कृतमपि कार्यं द्रष्टुं क्षमम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधानं विना[1] दृश्याभावान्न द्रष्टा स्यात्।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुषः कथं संसारप्रबन्धप्रवृत्तिहेतौ प्रधाने स्थितं फलमुपभुङ्क्ते? इत्यप्यचोद्यम्; चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलम् आत्मस्थं मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वोपपत्तेः[2], यदा तु ज्ञानमस्य आविर्भवति 'दुःखहेतु-

---

बुद्धिवच्चितिशक्तिर्विषयाकारतामापद्येत, किन्तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती, अतदाकारायै चितिशक्त्यै विषयमादर्शयति, तत. पुरुषश्चेतयत इत्युच्यते। ननु विषयाकारा बुद्धिमनारूढायाश्चितिशक्ते कथ विषयवेदनम्? विषयारोहे वा कथन्न तदाकारापत्तिरित्यत उक्तम्–अप्रतिसङ्क्रमेति। प्रतिसङ्क्रम. सञ्चार., स चितेर्नास्ति इत्यर्थः। स एव कुतोऽस्या नास्तीत्यत उक्तम्–अपरिणामिनी इति। न चितेस्त्रिविधोऽपि धर्मलक्षणावस्थालक्षण: परिणामोऽस्ति येन क्रियारूपेण परिणता सती बुद्धिसयोगेन परिणमेत चितिशक्ति।"–योगभा०, तत्त्ववै, भास्व० १।२। "यतोऽपरिणामिनी अत एव चितिशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा असञ्चारा। यथा बुद्धिर्विषयं गच्छति तद्ग्रहणार्थं नैव चितिरक्रियत्वात्। अथवा नास्ति प्रतिसङ्क्रमः सङ्गो विषयेषु यस्या. इत्यप्रतिसङ्क्रमा निर्लेपेति यावत्। ननु अपरिणामित्वे चात्मनो विषयाकारत्वाभावात् कथं विषयस्फुरणम्? तत्राह–दर्शितविषया, दर्शितो बुद्ध्या निवेदितो विषयो यस्या इति विग्रह, विषयैः सह बुद्धिवृत्तिश्चितौ प्रतिबिम्बिता सती भासत इति भाव…"यतोऽपरिणामिनी अत एव शुद्धा अनन्ता च।"–योगवा०, पातञ्जलरह० १।२। तुलना–"तथा चोक्त (पञ्चशिखेन–तत्त्ववै०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति"–योगभा० २।२०।

(१) "द्रष्टा दृशिमात्र. शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य.।"–योगसू० २।२०। (२) "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत. सर्ग॥' 'तद्वत् पङ्ग्वन्धवत् प्रधानपुरुषौ द्रष्टव्यौ। पङ्गुवत् पुरुषो द्रष्टव्य. अन्धवत् प्रधानम्। पुरुषस्य दृक्शक्ति', प्रधानस्य क्रियासामर्थ्यम्।"–सांख्यका० माठर० २१। "पङ्ग्वन्धदृष्टान्तस्तु नान्तरीयकप्रदर्शनार्थम्। यथा पङ्गुर्नान्तरेणान्ध दृक्शक्त्या विशिष्टेनार्थेन अर्थवान् भवति, अन्धश्च नान्तरेण पङ्गुं विशिष्टेनार्थेन। एवं प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्यं द्रष्टु शक्तमनवधिकञ्च प्रवर्तमान विशेषाभावान्नैव निवर्तते। तथा पुरुष सत्यपि चेतनत्वे नान्तरेण प्रधानम् उपलभ्याभावाद् उपलब्धा भवेदिति प्रधानमपेक्षते।"–युक्तिदी० पृ० १०७। (३) द्रष्टृदृश्यभूतयो' पुरुषप्रधानयो.। (४) "पुरुष' प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य तदसद्योनिजन्मसु॥"–भगवद्गी० १३।२१। "यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसयोग, तस्य हेतुरविद्या"–योगद० २।२४। "तथा चैतदत्रोक्तम् (पञ्चशिखेन) व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पद मन्वान. तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापद मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।"–योगभा० २।५।

1–ना कृत्याभा–श्र०। 2–भोक्तृतोप–श्र०।

रियम् न मम अनया सह संसर्गो युक्तः' इति, तदा विवेकख्यातेर्न तत्सम्पादितं कर्मफलमुपभुङ्क्ते, सोऽपि[3] च 'विज्ञातविरूपाऽहं[1] न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्वा न तत्सम्पादनाय[4] त प्रति प्रवर्त्तते कुष्ठिनीस्त्रीवद्[2] दूरादपसर्पति । अतो गुणपुरुषान्तरदर्शनाद् अपवर्गप्राप्तिः । अन्ये गुणाः सत्त्वादयोऽचेतनाः परार्थाः प्रकृतिविकारभूता, अन्योऽहम् "न[5] प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" [साख्यका० ३] इति भेदप्रत्ययः गुणपुरुषान्तरदर्शनम्, तस्मात् तत्प्राप्तिरिति[3] ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[6]–'प्रकृतिपरिणाम' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतः सिद्धे धर्मिणि धर्मचिन्ता उपपद्यते । नच प्रकृतिः धर्मिणी कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धा, तत्प्रसाधकप्रमाणानां प्रकृतिपरीक्षाप्रघट्टके प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात्[7] । अतः कथं तत्परिणामतया कर्मणां व्यावर्णनमुपपन्नम् ? अस्तु वाऽसौ[8], तथापि–पुरुषस्य निमित्तमपेक्ष्य तथा[9] परिणमेत्[4], अनपेक्ष्य वा ? न तावदनपेक्ष्य[10], मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तस्याः[11] तथा

तत्प्रतिविधानपुरस्सर कर्मणः पौद्गलिकत्व-प्रसाधनम्–

(१) प्रकृति । (२) "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय विवेकख्याति ।"–योगद०, व्यासभा० २।२६ । "एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ॥ अभ्यासेनैव तत्त्वदर्शन तस्मादभ्यासात् पुरुषस्य बुद्धिरुत्पद्यते–नास्मि तत्त्वानि, न मे तत्त्वानि, नाह तत्त्वानाम् किन्तु प्रधानकान्येतानि । तस्माज्ज्ञानमुत्पद्यते एवमादि । अपरिशेष निरवशेषमित्यर्थः । किं ज्ञानम् ? गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थ ॥ अत्राह तेन ज्ञानेन पुरुष किं करोति ? अत्रोच्यते–तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुष प्रेक्षकवदवस्थित स्वस्थ ॥"–साख्यका० माठर० ६३–६४ । (३) प्रकृतिरपि । "प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ यथा काचित् कुलस्त्री साध्वी स्वगृहद्वारि स्थिता पुरुषेण सहसैवागतेन दृष्टा सहसैव व्रीडमाना त्वरित गृह प्रविष्टा । सा एव मत्वा 'दृष्टाऽहमनेन' इति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य । तस्याञ्च विनिवृत्ताया पुरुषो मोक्ष गच्छति ।"–सांख्यका० माठर० ६१ । तत्त्वमी० पृ० १९४ । साख्यतत्त्वप्र० पृ० १७७ । सांख्यप्र० ३।६९,७० । "दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरताऽन्या । सति सयोगेऽपि तयो प्रयोजन नास्ति सर्गस्य ॥ यथेमा रङ्गगता नर्तकी सर्वास्ववस्थासु वर्तमाना दृष्ट्वा विरमति रङ्गात् प्रेक्षक दृष्टा मयेत्युपेक्षक एक केवल शुद्ध पुरुष. तथा प्रकृतिरपि अनेन अह दृष्टेति निवृत्ता । एका त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति । नर्तक्यपि अहमनेन दृष्टेत्युपरमते नृत्यात् एव पुरुषोऽपि दृष्टा मयेय ज्ञानचक्षुषा प्रकृति इति प्रेक्षकवदुपरमते मोक्ष गच्छतीत्यर्थ ।"–साख्यका० माठर० ६६ । तदुक्तं नारदीये–सविकारापि मौढ्येन चिर भुक्ता गुणात्मना । प्रकृतिर्ज्ञातदोषेय लज्जयेव निवर्त्तते ।"–साख्यप्र० भा० पृ० १११ । (४) भोगसम्पादनाय । (५) "पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वात् न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात् । नैवासौ कारण न च कार्यमित्यर्थ ।"–माठर०वृ० । (६) पृ० ८१२ पं० ११ । (७) पृ० ३५४ । (८) प्रकृति । (९) कर्मरूपतया । (१०) तुलना–"यदि प्रधान पुरुषस्य निमित्तमनपेक्ष्य प्रवर्तते, मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय प्रवर्तेत अविशेषात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । प्रमेयर० ४।१ । (११) प्रकृते ।

1 विज्ञानवि–ब० । 2 कुष्टिनी–आ०, ब० । 3–स्मात्प्राप्ति–आ० । 4–णामेत् श्र० ।

परिणमनप्रसङ्गात्। अथ अपेक्ष्य; किं तदपेक्ष्यम्–विवेकानुपलम्भः, अदृष्टं वा ? न[1] तावद् विवेकानुपलम्भः; तस्य विवेकोपलम्भाभावरूपतया मुक्तात्मन्यपि संभवात्। नच तद[2]नुत्पत्ति-प्रध्वंसयोः कश्चिद्विशेषः संभवति; अभावस्वभावत्वाविशेषात्। अदृष्टा[1]-पेक्षायास्तु तस्याः[3] तथापरिणामे[4] अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि अदृष्टे तदपेक्षायाः प्रकृतेः शुक्लकृष्णकर्मपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टसिद्धिरिति। अनादित्वात् तत्प्रवाहस्य अयमदोषः–पूर्वं हि अदृष्टमपेक्ष्य अपरः तस्या[2][5]स्तत्परिणामो भवति ततश्च अपरः इति; तदप्यनुपपन्नम्, मुक्ता[6]त्मन्यपि एवमस्याः शरीरादिसम्पादनाय तथा[7] परिणामप्रसक्तेः। तत्रास्याः निर्वृत्ताधिकारत्वान्न[8] तत्प्रसक्तिः[9]; इत्यापि वार्त्तम्, अमुक्तात्मन्यपि अस्याः तत्सम्पादनाय तथापरिणामाऽभावानुषङ्गात्। तत्र[10] प्रवृत्ताधिकारत्वान्न दोषोऽयम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सर्वथै[11]कस्याऽनंशस्य प्रधानस्य प्रवृत्त[3]-निवृत्ताधिकारत्वधर्मयोर्युगपद्विरोधात्, तदविरोधे वा सर्वथास्य[12] एकत्वाऽनंशस्यानुपपत्तिः।

किञ्चेदम् अमुक्तात्मन्यस्य प्रवृत्ताधिकारत्वन्नाम–तत्र सम्बद्धत्वम्[4], शरीरसुखादिसम्पादकत्वं वा ? न तावत् सम्बद्धत्वम्; मुक्तात्मन्यस्य गतत्वात्, प्रधानात्मनोः नित्य[5]सर्वगतत्वेन सर्वत्र सर्वदा संभवात्। अथ शरीरसुखादिसम्पादकत्वम्; तर्हि इतरेतराश्रयः–सिद्धे ह्यमुक्तात्मानं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वे[13] तं प्रत्येव तत्सम्पादकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वसिद्धिरिति।

किञ्च, शरीरादिना तत्[14]सम्पादितेन अस्य[15] कश्चिदुपकारः क्रियते, न वा ? यदि

(१) तुलना–"अथादर्शनापेक्षमिति चेत्, यस्य हि गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनानुपपत्ति तं प्रति प्रधान प्रवर्त्तते, न चासौ मुक्तात्मनीति; तन्न; मुक्तात्मन्यपि विवेकदर्शनस्य विनाशेन प्रवृत्तिप्रङ्गात्। न चानुत्पत्तिविनाशयोः अदर्शनत्वेन विशेष पश्याम।"–प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। प्रमेयक० पृ० ३१६। (२)ससारावस्थाया विवेकस्यानुत्पत्तिः मुक्तदशाया च समुत्पन्नस्यापि विवेकस्य विनाश इति न अभावत्वेन कश्चिद् भेद.। (३) प्रकृते। (४) कर्मरूपतया परिणतौ। (५) प्रकृते शुक्लकृष्णादिकर्मपरिणाम। (६) तुलना–"अथादृष्टापेक्षं प्रवर्तत इति चेत्; तदसत्, तस्यापि प्रधाने शक्तिरूपतया व्यवस्थितस्य उभयत्राविशेषात्।"–प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। प्रमेयक० पृ० ३१६। (७) शुक्लकृष्णादिकर्मरूपेण। (८) "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्यसाधारणत्वात्।–कृतार्थमेक पुरुप प्रति दृश्य नष्टमपि नाश प्राप्तमपि अनष्ट तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशल पुरुप प्रति नाश प्राप्तमपि अकुशलान् पुरुषान् प्रति अकृतार्थमिति तेषां दृशे कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेण आत्मरूपमिति।"–योगसू०भा० २।२२। (९) शरीरादिसम्पादनाय कर्मरूपपरिणामप्रसङ्ग। (१०) संसार्यात्मनि। (११) तुलना–"न ह्येकमेव निवृत्ताधिकारत्व-प्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरणं युक्तं नष्टत्वानष्टत्वयोरिव विरोधात्।"–आप्तप० पृ० ८३। (१२) प्रधानस्य। (१३) अमुक्तात्मानं प्रत्येव। (१४) प्रधानसम्पादितेन। तुलना– "सहि प्रधानस्य विकारो महदादि पुरुषार्थो भवतु(वन्) पुरुषस्य कञ्चिदुपकार करोति न वा ? यदि करोति, पुरुषादर्थान्तिरमनर्थान्तरं वा ?"–युक्त्यनु० टी० पृ० २९। (१५) संसार्यात्मन.।

1 अदृष्टापेक्षयास्तु आ०। 2 तस्य तत्परि–ब०। 3 प्रवृद्धविनिवृत्ता–श्र०। 4 सम्बन्धत्वं ब०, श्र०। 5 नित्यं सर्व–ब०।

न क्रियते, कथं तत् 'तस्य'[1] इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् । अथ क्रियते, किं ततो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्नः, तदा तत्करणे[2] पुंसोऽपि कार्यत्वानुषङ्गात् नित्यत्वक्षतिः । अथ भिन्न·, तदा पुंसो न किञ्चित्कृतं स्यात्, तस्येतिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेन[3] तस्याऽसम्बन्धात्[4], तेनाप्युपकारान्तरकरणे[5] अनवस्था । ततः प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्तेः, द्रव्यरूपस्य कर्मणः पुद्गलपरिणामत्वं भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगन्तव्यम् । पुद्गलात्मनोः सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्यत्वादात्मनस्तत्परिणामोपगमे[6] अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय; कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् । सकलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकान्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधानस्यापि च तत्परिणामोपगमे[7] अनित्यत्वापत्तिः समाना ।

यदप्युक्तम्[8]–'साक्षित्वं तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि मनोरथमात्रम्, सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणानां प्रवृत्तेः प्रकृतिपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात्[9], सर्वथा नित्यव्यापित्वादिस्वभावस्य चात्मनः स्वदेहप्रमितौ प्रतिव्यूढत्वात्[10], अतः किं कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

यदपि 'अकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वात्' इत्याद्युक्तम्[11], तदप्यविचारितरमणीयम्; सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगः–भवत्कल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगनेन्दीवरवत् ।

यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्त्ता' इत्यभिहितम्[12]; तदप्यपेशलम्, स्वदेहप्रमितौ आत्मनः प्रस्पन्दनपरिणामयो. प्रसाधितत्वात् । अकर्तृत्वे[13] च आत्मनो भोक्तृत्वविरोध., यदयं भुजिक्रियां कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा गमिक्रियां कुर्वन् गन्ता इति । नहि तथाऽपरिणत तद्व्यपदेशमर्हति अतिप्रसङ्गात् । तथा च कर्त्तरि तृचोऽनुत्पत्तेः[14] 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभः । ननु भोक्तेति तृचो

(१) ससारिण । (२) शरीरादिना पुसोऽभिन्नोपकारकरणे । (३) उपकारेण । (४) पुस । (५) शरीरादिकृतोपकारेणापि । (६) तत् कर्म परिणाम यस्य । (७) अनित्यकर्मपर्यायात्मकत्वस्वीकारे । (८) पृ० ८१३ पं० ५ । (९) पृ० ३५४–। (१०) पृ० २६६–। (११) पृ० ८१४ प० ६ । (१२) पृ० ८१४ प० ६ । (१३) तुलना–"अत पुरुषस्य कर्त्तृत्वे युक्त वास्तव भोक्तृत्वम् । अन्यथा हि भोगक्रियामकुर्वत कथमुदासीनस्य भोक्तृत्व स्यात्, भोगस्य सुखदु खवेदनारूपत्वात्, तदाधारता तु भोक्तृत्वम् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ५२३ । भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ना तदविरोधत । विरोधे तु तयोर्भोक्तु स्याद् भुजौ कर्तृता कथम् ॥"–आप्तप० का० ८१ । "कर्ता आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्' ··साख्यकल्पित. पुरुषो वस्तु न भवति अकर्तृत्वात् खपुष्पवत् । किंच, आत्मा भोक्ता अङ्गीक्रियते, स च भुजक्रिया करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपराभि क्रियाभि किमपराद्धम् ? अथ भुजिक्रियामपि न करोति, तर्हि कथ भोक्तेति नित्यम् ।"–षड्द० बृह० श्लो० ४९ । (१४) तृच्प्रत्ययस्य ।

1 यदयं भुजि–आ० ।

दर्शनात् न वास्तवं कर्त्तृत्वं सिद्ध्यति शब्दज्ञानानुपातिनः [1]कर्त्तृत्वविकल्पस्य[१] वस्तुशून्यत्वात्; इत्यप्यसुन्दरम्, [२]भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्तेः। तथोपगमे च चेतयते इति चेतनः पुरुषः परमार्थतो न सिद्ध्येत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वाविशेषात्। अथ एतद्दोषभयाद् भुजौ कर्त्ता इष्यते; तर्हि अकर्तृत्वविरोधः। क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रसाधकत्वादकर्त्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्त्तृत्वानुषङ्गः पुरुषसाध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेन[३]ाप्यप्रसाधनात्। ततः पुंसोऽकर्त्तृत्वे भोक्तृत्वाभाव [2]एव। प्रयोगः–[४]संसार्यात्मा सुखाद्युपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्तात्मवत्।

[3]अकर्त्तुर्भोक्तृत्वाभ्युपगमे च [५]कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गः, प्रकृत्या हि कृतं कर्म न च तस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाशः, पुरुषेण च तन्न कृतम् अथ च तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागमः। अकर्त्तुः फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गः। चेतनत्वादात्मनः अकर्त्तृत्वेपि तदभिसम्बन्धः [4]इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्; [६]मुक्तात्मनोऽपि [७]अत एव तदभिसम्बन्धानुषङ्गात्, संसार्यात्मनोऽपि वा [८]तद्वदसौ न स्याद्विशेषात्। प्रयोगः–संसार्यात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत्। तथा [९]प्रधानं कर्मणां तत्फलस्य च कर्त्तृ न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत्।

यच्चोक्तम्[१०]–'यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धिः चेतनासंसर्गात्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्: बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसंभवात्, वि[११]ज्ञानस्यैव हि 'बुद्धिः, चेतना, अध्यवसायः' इति पर्यायाः। तदसंभवश्च साङ्ख्यं प्रति स्वसंवेदनसिद्धौ[१२] प्रपञ्चितः। अतः कथं तद्[१३]दृष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मनः कर्त्तृत्वं स्यात्? ततः पुरुषः 'पुण्यं करोति, ध्यानं करोति' इत्याद्यबाध्यमानप्रतीतिसिद्धं कर्त्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

---

(१) "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प ।–शब्दजनितं ज्ञान शब्दज्ञानं तदनु पतितु शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती, वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसाय स विकल्प इत्युच्यते ।"–योगसू० भोजवृ० १।९। (२) तुलना–"भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याऽवास्तवत्वापत्ते, तथोपगमे चेतयत इति चेतन पुरुषो न वस्तुत सिद्धचेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत् ।"–आप्तप० का० ८१। (३) प्रधानेनापि। (४) तुलना–"संसार्यात्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत् ।"–षड्द० बृह० श्लो० ४८। (५) तुलना–"प्रधानस्य बन्धमोक्षौ पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। प्रधानेन हि कृतौ बन्धमोक्षौ न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाश, पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनञ्च तस्येत्यकृताभ्यागम कथ परिहर्तु शक्य ?"–आप्तप० का० ११४। षड्द० बृह० श्लो० ४८,५२। (६) "मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकर्मफलानुभवनानुषङ्गात् ।"–आप्तप०का०११४। (७) चेतनत्वादेव। (८) मुक्तवत् कर्मफलाभिसम्बन्धः। (९) तुलना–"कर्तु नाम विजानन्ति गृहादीन् सर्वथा गुणाः। भोक्तु च न विजानन्ति किमयुक्तमत. परम् ॥"–चतु.श० १०।१६। "कर्तु नाम प्रजानाति प्रधान व्यञ्जनादिकम्। भोक्तुञ्च न विजानाति किमयुक्तमत परम् ॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३००। (१०) पृ० ८१४ पं० ८। (११) द्रष्टव्यम्–पृ०१९३टि० २। (१२) पृ० १९३–। (१३) बुद्धिदृष्टान्तबलेन।

---

1 कर्तृवि–आ०, श्र०। 2 'एव' नास्ति श्र०। 3 अकर्त्तृभोक्तृ–आ०। 4 इत्यनेन आ०।

[1]एतेन 'चिच्छक्तिरपरिणामिनी' इत्यादि प्रत्याख्यातम्; [2]अपरिणामिनः कस्यचिद्वस्तुत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्। ननु मुक्तस्यात्मनः शुद्धस्याऽपरिणामित्वेऽपि वस्तुत्वं भवद्भिरिष्टम्; इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्; [3]तस्यापि प्रतिसमयं परिणामि[2]त्वप्रतिज्ञानात् प्रतिसमयं दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामित्वानुपपत्तेः। न च दृश्यं वस्तु (वस्त्व) [3]परिणाम्येव इत्यभिधातव्यम्; सांख्यैस्तस्य[4] परिणामित्वाऽभ्युपगमात्। अथ चिच्छक्तिः अप्रतिसङ्क्रमत्वादपरिणामिनीत्युच्यते, तन्न, [5]अस्याः प्रतिविषयं दर्शितविषयत्वे प्रतिसङ्क्रमोपपत्तेः। बुद्धेरेव तथा प्रतिसङ्क्रमो न चिच्छक्तेः, [4]इत्यप्ययुक्तम्, बुद्धेरप्येवम् अप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्, [5]विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्। बुद्ध्याध्यवसीयमानस्य विषयस्य प्र[6]तिसङ्क्रमसंभवे बुद्धेः कथं तदसंभव इति चेत्? तर्हि बुद्धेः विषयप्रदर्शिकायाः प्रतिसङ्क्रमे तद्विषयं पश्यन्त्याश्चिच्छक्तेरपि कथमप्रतिसङ्क्रमः? [6]यथैव हि [7]प्रतिनियतं विषयं चिच्छक्तये दर्शयन्ती बुद्धिः सङ्क्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि [7]तं पश्यन्ती[8] विशेषाभावात्। कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषयाऽसौ[9] स्यात्?

किञ्च, यदा बुद्ध्या विषयः [8]तस्यै प्रदर्श्यते तदा प्राचीनम् अ[9]दर्शितस्वरूपमसौ[10] त्यजति न वा? न त्यजति चेत्; कथं प्रागवत्तदाप्यसौ दर्शितविषया स्यात्? अथ त्यजति; कथमपरिणामिनी, अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानस्य परिणामित्वाविनाभावित्वात्? अथ मतम्–चिच्छक्तेः एक एवाऽभिन्नः स्वभावस्तादृशो येन यो यत्र यदा यथा अर्थो बुद्ध्याऽध्यवसीयते तं तत्र तदा तथा पश्यतीत्यतो दर्शितविषयत्वेऽपि [10]अस्याः न प्रतिविषयं स्वभावभेदः यतः परिणामित्वं स्यादिति, तदप्यसमीचीनम्, [11]बुद्धेरप्येवमेकस्वभावत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्–बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषया-

(१) पृ० ८१४ प० १२। (२) "अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थिताया एव तस्या परिणामित्वसिद्धे ।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३०। (३) मुक्तात्मनोऽपि। "स हि सर्वज्ञ पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादानाभ्यामवस्थितस्वभाव परिणाम्येव सर्वार्थान् पश्यति नान्यथा, प्रतिसमय दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्ते । न चाय दृश्यमर्थमपरिणामिन वक्तु समर्थं ; स्वय तस्य परिणामित्वोपगमात् सिद्धान्तपरित्यागानुषङ्गात्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३०। (४) दृश्यस्य। (५) "प्रतिविषय दर्शितविषयत्वे सक्रमात्। तथा बुद्धेरेव प्रतिसङ्क्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत्, न, बुद्धेरप्यप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३०। (६) "यथैव हि विषय प्रतिनियत दर्शयन्ती बुद्धिश्चितिशक्तये सक्रामति तथा क्रमेण चितिशक्तिरपि पश्यन्ती विशेषाभावात्। कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषया स्यात्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३१। (७) विषयम्। (८) 'सक्रामति' इति वाक्यशेष । (९) चिच्छक्ति । (१०) चिच्छक्ते । (११) "तथा बुद्धेरप्येकस्वभावत्वप्रसङ्गात्। शक्य हि वक्तु बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो येन यथाकाल यथादेश यथाप्रकारञ्च विषयमध्यवस्यतीति न किञ्चिदनेकस्वभाव सिद्ध्येत्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३२।

1 तेन श्र० । 2–मित्वप्रति–आ० । 3 परिणामैव श्र० । 4 इत्येतदप्ययु–व० । 5 'विषयस्यैव प्रतिसंक्रमप्रसंगात्' इति नास्ति ब० । 6 प्रतिसंक्रमे बु–श्र० । 7 प्रतिनियमविषयं ब० । 8 स्वस्यै ब० । 9 अदर्शिनस्वरू–ब० ।

ध्यवसायस्वभावो येन यो यत्र यदा यथाऽवस्थितोऽर्थः तं तत्र तदा तथा अध्यवस्यतीति। तथा इन्द्रियमनोऽहङ्कारादीनामपि विषयाऽऽलोचनसङ्कल्पनाऽभिमननाद्येकस्वभावत्वप्रसङ्गात् न क्वचित् स्वभावभेदः सिद्ध्येत् ।

यदपि–चिच्छक्तेरप्रतिसङ्क्रमसिद्धौ शुद्धत्वादिति साधनमुच्यते; तदप्यसाधु; यतः[१] शुद्धात्मनोऽशुद्धपरिणामसङ्क्रम एव विरुध्यते न पुनः शुद्धपरिणामसङ्क्रमः । ननु शुद्धपरिणामेनापि चिच्छक्तिरप्रतिसङ्क्रमा अनन्तत्वात्; इत्यप्यचारु, प्रकृत्या[२] अनेकान्तात्, अनन्तत्वेऽपि हि तस्याः महदादिपरिणामसङ्क्रमः सांख्यैरभ्युपगम्यते ।

यदप्युक्तम्[३]–'पङ्ग्वन्धयोरिव' इत्यादि; तदतीवाऽसङ्गतम्[४]; दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्, पङ्ग्वन्धयोर्हि चेतनत्वात् इदम्[1]इत्थमेव अस्मदिष्टं कार्यं सेत्स्यतीति सम्प्रधार्य अन्योन्यापेक्षयोः प्रवृत्तिर्युक्ता, नतु प्रकृतिपुरुषयोः विपर्ययात्[2] ।

यत्पुनरुक्तम्[५]–'चिद्रूपस्यापि अस्य अज्ञानतमश्छन्नतया' इत्यादि; तत्र[६] किम् अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्च इति ? प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलं किन्न आत्मस्थं मन्येत, तदुपभोक्ता च किन्न स्यात्, तस्यापि[७] ज्ञानाभावतो[८]ऽज्ञानतमश्छन्नत्वाऽविशेषात् ? द्वितीयपक्षे तु किमिदम् अज्ञानादन्यत् तमो नाम ? रागादिकमिति चेत्; न; तस्य आत्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतया आत्माच्छादकत्वानुपपत्तेः । तथाभूतेनापि[९] तेन तदाच्छादने मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यादविशेषात् । अथ अधिकारिण[3] एव तद्[१०] आच्छादकम् न[4] मुक्तात्मा(त्म)नः; ननु किमिदमधिकारित्वं नाम ? यं प्रति प्रधानं प्रवृत्ताधिकारि सोऽधिकारीति[5] चेत्; न, प्रधाने प्रवृत्ताधिकारित्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्[११]–'विवेकख्यातेः' इत्यादि; तत्र[१२] केयं[6] विवेकख्यातिर्नाम ? प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य–प्रकृतेः,

---

(१) "शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामप्रतिसङ्क्रमाविरोधात् तत्राशुद्धपरिणामसङ्क्रमस्यैवासम्भवात् ।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३१। (२) "प्रकृत्या व्यभिचारात् । सापि ह्यनन्ता। सान्तत्वेऽपि नित्यत्वविरोधात् ।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ३१। (३) पृ० ८१५ पं० २। (४) तुलना–"अचेतने हि निरङ्कुशे प्रधाने बन्धरि सुतरामनिर्मोक्षः स्यात् । तत्त्वविदमपि पुमांस न बध्नाति प्रकृतिरिति कोऽस्या नियन्ता ? पङ्ग्वन्धन्यायेन संयोगस्य तुल्यत्वात् ।"–न्यायम० पृ० ४९१। (५) पृ० ८१५ पं० ८। (६) "यतः किमज्ञानमेव तमः उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। (७) मुक्तात्मनोऽपि। (८) मुक्तिदशायां ज्ञानं विनश्यति अतः तेषामपि ज्ञानप्रध्वंसात्मकमज्ञानमस्त्येव । (९) अत्यन्तभिन्नप्रकृतिधर्मात्मकेनापि रागादिना। (१०) रागादिकम्। (११) पृ० ८१६ पं० १। (१२) "तत्र केयं ख्यातिर्नाम–प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य–प्रकृतेः, पुरुषस्य वा ?"–षड्द० बृह० श्लो० ५२।

---

1 इदमिच्छमेव आ०, ब०। 2 विपर्यय स्यात् ब०। 3 अधिकारि एव ब०। 4 'न मुक्तात्मानः' नास्ति आ०, श्र०। 5–धिकारी चेत् आ०, श्र० । 6 केषां वि–ब० ।

पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य; प्रकृति-पुरुषव्यतिरेकेण अन्यस्य कस्यचिदपि सांख्यैरनभ्युपगमात्। नापि प्रकृतेः, तस्याः[1] असंवेद्यपर्वणि[2] स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च। नापि पुरुषस्य; तस्याप्यसंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात्। अतः प्रकृतिपुरुषयोः असंवेद्यपर्वणि स्थितयोः स्वरूपमात्रस्याप्रतिभासे विवेकेन ख्यातिः[1] अतिदुर्घटा। घटपटादौ हि स्वस्वरूपेण संवेद्यपर्वणि[3] स्थिते कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तात् विवेकेनाऽप्रतीतेः[2] यथावस्थितवस्तुप्रतिभासिप्रमाणवशाद् विवेकेन ख्यातिर्दृष्टा, न चात्र एतदस्ति।

किञ्च, विवेकेन ख्यातिः तन्निश्चयः, सा च बुद्धिधर्मत्वाद् भवन्मते पुरुषे न संभवति। संभवे वा सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना, तदा आत्मवत्तत्रापि[4] नित्यत्वानुषङ्गात् न कदाचिदमुक्तप्रसङ्गः। भिन्ना चेत्, अस्तु, तथापि-असौ नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या; किं सम्बद्धा, असम्बद्धा वा ? असम्बद्धा चेत्; कथं तस्येति व्यपदिश्येत ? असम्बद्धाया अपि तस्याः[5] तेन[6] व्यपदेशे सर्वेण सह व्यपदेशप्रसङ्गात् न कस्यचिदपि संसारः स्यात्। अथ सम्बद्धा; न, नित्ययोस्तयोः अन्योन्यमनुपकारकयोः कस्यचिदपि सम्बन्धस्यानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा तस्यापि[7] नित्यत्वात् सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गः। अथ अनित्या [3]विवेकख्यातिः; नन्वनित्या सती असौ जन्या, अजन्या वा ? तत्र अनित्यायास्तस्याः घटादिवदजन्यत्वानुपपत्तिः। जन्यत्वेऽप्यस्याः किम् आत्मना, प्रकृत्या, तद्व्यतिरिक्तेन वा केनचिदसौ जन्येत ? न तावत्[4] तद्व्यतिरिक्तेन, प्रकृति-पुरुषव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि तज्जनकस्याऽनभ्युपगमात्। नाप्यात्मना[5], तस्य[8] जनकत्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा[6] प्रकृतिवियुक्तेन, तत्सहितेन वा तेनासौ[9] जन्येत ? प्रथमपक्षे चक्रकप्रसङ्गः-सिद्धे [7]हि विवेकख्यातेर्जन्यत्वे प्रकृतिपुरुषयोर्वियुक्तत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्वियुक्तेन आत्मना विवेकख्यातेर्जन्यत्वसिद्धिरिति। तत्सहितात्मजन्यत्वे तु[8] सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्, तथा सर्वत्र सर्वदाऽविशेषतः तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

यदपि-'विज्ञातविरूपाहम्'[9] इत्याद्यभिहितम्[10]; तदप्यचर्चिताभिधानम्; प्रकृते-[11]

---

(१) प्रकृते। (२) अज्ञेयकोटौ। "तस्या अससवेद्यपर्वणि स्थितत्वादचेतनत्वादनभ्युपगमाच्च।"-षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) ज्ञेयकोटौ। (४) विवेकख्यातावपि। (५) विवेकख्याते। (६) पुरुषस्येति व्यपदेशे। (७) सम्बन्धस्यापि। (८) आत्मन। (९) विवेकख्याति। (१०) पृ० ८१६ पं० २। (११) तुलना-"अचेतनत्वात्, तथाहि-अचेतनतया प्रधानस्य अहमनेन दृष्ट (दुष्ट) तया विज्ञातमिति विज्ञानाभावे पूर्ववत् प्रवृत्तिरविशिष्टेत्यलमतिप्रसङ्गेन।"-प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। "दृष्टास्मीति विरमतीति चेत्, मैवम्, न ह्यसौ एकपत्नीव्रतदुर्ग्रहगृहीता नि सख्यपुरुषोपभो-

---

1-तिरितिदुर्घटा आ०। 2-तीतः य-आ०। 3 विवेकस्य ख्यातिः आ०। 4 तावद्व्यतिरि-ब०। 5-ना जनक-ब०, -नास्याजनक-श्र०। 6 च आ०। 7 'हि' नास्ति आ०। 8 तु सर्वदा ब०, श्र०। 9 विज्ञानविरू-आ०।

र्जडतया इत्थं विज्ञानानुपपत्तेः। न खलु जड[1]स्वरूपो घटादिः विरूपतकतयाऽहमनेन ज्ञातोऽतो नैत[2]स्मै फलं सम्पादयामि' इति [3]स्वयं संवेदयमानो दृष्टः जडाजडयोः स्वरूपसङ्करप्रसङ्गात्। स्वरूपप्रतिपत्तौ हि परमुखप्रेक्षित्वं जडस्य स्वरूपम् तन्निरपेक्षत्वं तु अजडस्य तदित्थं सङ्कीर्येत[4]।

किञ्च, विज्ञातापि प्रकृतिः संसारदशावत् मोक्षदशायामपि आत्मनो भोगसम्पादनाय स्वभावतो वायुवत् प्रवर्त्तताम् तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात्। नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायुः वि[5]रूपकतया येन ज्ञातः तं प्रति त[3]त्स्वभावादुपरमते, अतः कुतो मोक्षः स्यात्? तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपतानुपपत्तिः, पूर्वस्वभावत्यागेन उत्तरस्वभावोपादानस्य तत्र विरोधात्, परिणामिनित्ये एव तदविरोधात्। प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदभ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि प्राक्तनसुखाद्युपभोक्तृ[6]स्वभावपरिहारेण तदभोक्तृस्वभावस्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तादिस्वभावोपादानाच्च। सि[4]द्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याऽभ्युपगन्तव्यम्, इति सिद्धः—मोक्षेऽप्यात्मा विशुद्धज्ञानादिस्वभाव इति॥ छ॥

विशेषगुणोच्छेदरूपा मुक्तिरिति यौगस्य पूर्वपक्षः—

ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना बुद्ध्यादिविशेषगुणो[7]च्छेदरूपत्वात्त[5]स्य। प्रत्यक्षादिप्रमाणेन हि आत्मस्वरूपे प्रतिपन्ने मनःप्रणिधानपूर्विकायां भावनायां प्रकर्षप्राप्तायां परिपाकं प्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वस्वरूपेण आत्मनोऽवस्थान मोक्षः[6]।

गसौभाग्या पण्यवनितेव नासौ नियमेन व्यवहर्तुमर्हतीत्यास्तामेतत्।"—न्यायमं० पृ० ४९२। "प्रकृतेर्जडतयेत्थ विज्ञानानुपपत्तेः।"—षड्द० बृह० श्लो० ५२।

(१) घटादेरपि स्वय विवेकेन प्रवृत्तौ। (२) तुलना—"अस्या अचेतनतया विमृश्यकारित्वाभावात्। यथेय कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते स्वभावस्यानपायित्वात्।"—प्रश० कन्द० पृ० ४। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) प्रवर्तकस्वभावात्। (४) "सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्तव्यमन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्ग.।"—षड्द० बृह० श्लो० ५२। (५) "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्ष.।"—प्रश० व्यो० पृ० ६३८। "आत्यन्तिकी दु खव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका, द्विविधदु खावमर्शिना सर्वनाम्ना सर्वेषामात्मगुणाना दु खावमर्शाद् अत्यन्तग्रहणेन च सर्वात्मना तद्वियोगाभिधानात् नवानामात्मगुणाना बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसस्काराणां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्ग इत्युक्त भवति। यावदात्मगुणा. सर्वे नोच्छिन्ना वासनादय। तावदात्यन्तिकी दु खव्यावृत्तिर्नावकल्पते॥"—न्यायमं० पृ० ५०८। (६)"ननु तस्यामवस्थाया कीदृगात्मावशिष्यते? स्वरूपैकप्रतिष्ठान परित्यक्तोऽखिलैर्गुणै॥"—न्यायमं० पृ०५०८। "समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव।"—प्रश० कन्द० पृ० २८७। "नि श्रेयसं पुनर्दखनिवृत्तिरात्यन्तिकी"—प्रश० किर० पृ० ६। "तत्सिद्धमेतत् नित्यसवेद्यम्, अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दु.खनिवृत्ति॰ पुरुषस्य मोक्ष इति।"—न्यायसा० पृ० ४१।

1 जडत्वरूपो ब०। 2–तस्यै फलं ब०। 3 स्वयं वेदय–श्र०। 4 सकीर्त्यते ब०। 5 विरूपतया आ०, श्र०। 6–क्तृत्वस्वभा–श्र०। 7–च्छेदस्वरूप–ब०।

तदुच्छेदे च प्रमाणम्–नवानामात्मविशेषगुणानां[1] सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, प्रदीपादिसन्तानवत्[1]। नचायमसिद्धो हेतुः, पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः, सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिक ; पक्षसपक्षवद् विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः। नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरत्राऽसंभवात्। नापि सत्प्रतिपक्षः; प्रतिपक्षप्रसाधकानुमानासंभवात्।

ननु[2] सन्तानोच्छेदरूपेऽपि मोक्षे कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यः [3]निर्हेतुकविनाशाऽनभ्युपगमात् इति च न[4] शङ्कनीयम्, तत्त्वज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात्। तत्खलु विपर्ययज्ञानव्यच्छेदक्रमेण[3] निःश्रेयसहेतुः। दृष्टञ्च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम्। निवृत्ते[4] च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो निवर्त्तन्ते कारणाभावे कार्यानुत्पादात्। रागाद्यभावे च तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिः व्यावर्त्तते। तद्व्यावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः[5]। आरब्धशरीरेन्द्रियविषय†कार्ययोस्तु सुखादिफलोपभोगात् प्रक्षयः, अनारब्धतत्कार्ययोरप्यवस्थितयोः तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः। तथा चागमः–

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इति[6]।

---

(१) "नवानामात्मगुणाना सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो य सन्तान स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टः यथा प्रदीपसन्तान, तथा चाय सन्तान, तस्मात् अत्यन्तमुच्छिद्यते।"–प्रश० व्यो० पृ० २० क०। "दु खसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवदित्याचार्या।"–प्रश० किर० पृ० ९। (२) "ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसकल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दु खविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्य उत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुख शरीरपरिच्छेदञ्च उत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षण केवलो धर्म परमार्थदर्शनज सुख कृत्वा निवर्तते। तदा निरोधान्निर्बीजस्य आत्मन शरीरादिनिवृत्ति, पुन शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति।"–प्रश० भा० पृ० ६४४। "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना षण्णां पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञान नि श्रेयसहेतु।"–प्रश० भा० पृ० २० ज०। "तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम"–न्यायसू० १।१।१। (३) "दुखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग।"–न्यायसू० १।१।२। "ते इमे मिथ्याज्ञानादयो दु खान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमाना ससार इति। यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दु खमपैति, दु खापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निश्रेयसमिति।"–न्यायभा० १।१।२। "तथा ह्युपलब्ध सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शुक्तिकादाविति"–प्रश० व्यो० पृ० २० क०। (४) "निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति। रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्ति। आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षय।"–प्रश० व्यो० पृ० २० क०। (५) उद्धृतोऽयम्–"यथोक्तम्–नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरति। अवश्यमनुभोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्॥"–प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। धर्मस० वृ० पृ० २२५। प्रमेयक० पृ० ३०८। सन्मति० टी० पृ० १०५। चित्सु० पृ० ३५१। "अवश्यमेव भोक्त"–धर्मबि० टी० पृ० १३।

---

1 पटादिस–ब०। 2 ननु तत्सन्ता–ब०, श्र०। 3 निर्हेतुविना–आ०। 4 न शकनीयम् तत्र ज्ञान–आ०। † एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 5–नुपपत्ति श्र०, ब०। 6 'इति' नास्ति श्र०।

अत्रैवार्थे अनुमानम्[१]–पूर्वकर्माणि उपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरादिकर्मवत्। नच उपभोगात् तत्प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यम्भावात् संसारानुच्छेदः; समाधिबलादुत्पन्न[२]तत्त्वज्ञानस्य अवगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपद्[1]शेषशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य उपात्तकर्मप्रक्षयात् भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनिताऽनुसन्धानविकलत्वाच्च संसारोच्छेदोपपत्तेः। अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ, 'अनुसन्धीयते गतं चित्तमाभ्याम्' इति व्युत्पत्तेः।

अथ मिथ्याज्ञानभावे तत्त्वज्ञानिनः तदुपभोक्तुमभिलाषस्यैवाऽसंभवात् तदुपभोगानुपपत्तिः; तन्न, तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तितः त[३]त्त्वज्ञानिनः तदुपभोक्तुमभिलाषाभावेऽपि कर्मक्षयार्थितया तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः वैद्योपदेशेन आतुरवदौषधाचरणे। यथैव हि आतुरस्य अनभिलषितेऽपि औषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः तद्व्यतिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेः, एवमत्रापि। 'विवादापन्नः शरीरादिनिवृत्तौ आत्मा सर्ववैषयिकसुखदुःखशून्यः, समस्तधर्माधर्मशून्यत्वात्, यस्तु वैषयिकसुखदुःखवान्नासौ समस्तधर्माधर्मशून्यः यथा संसार्यात्मा, समस्तधर्माधर्मशून्यश्च मुक्तात्मा, तस्मात् सर्ववैषयिकसुखदुःखशून्यः' इत्यनुमानात्, "*न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः*[४]" [छान्दो० ८।१२।१] इत्यागमाच्चासौ तदा[५] तच्छून्यः[६] सिद्ध इति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[७]–'सन्तानत्वात्' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यस्माद्[८] आत्मनः सर्वथा[2] भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां सन्तानस्य उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथञ्चिद्भिन्नानां वा? तत्राद्यपक्षे आश्रयासिद्धो हेतुः; आत्मनोऽत्यन्तभिन्नानां तद्विशेषगुणानां

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं मोक्षस्य ज्ञानाद्यात्मकत्वप्रसाधनम्–

(१) "पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, यद्यत्कर्म तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्धशरीर कर्म, तथा चामूनि कर्माणि, तस्मादुपभोगादेव क्षीयन्ते।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। (२) "समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानो हि कर्मणाञ्च साध्यमर्थं विदित्वा युगपच्छरीराणि निर्मायोपभोग..."–प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। (३) "जानन्नपि हि तदर्थितया प्रवर्तत एव वैद्योपदेशादातुरवदौषधाचरणे"–प्रश० व्यो० पृ० २० ख०। (४) "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययो बाह्यविषयसयोगवियोगनिमित्तयो बाह्यविषयसंयोगवियोगौ ममेति मन्यमानस्य अपहतिर्विनाश उच्छेदः सन्ततिरूपयोर्नास्तीति। त पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निर्वर्तिताऽविवेकज्ञानमशरीर सन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत। स्पृशि प्रत्येक सम्बध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रिय न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति "धर्माधर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशत।"–छान्दो० शां० भा०। उद्धृतोऽयम्–न्यायमं० पृ० ५०९। ब्रह्मसू० शां० भा० १।१।४। यश० उ० पृ० २५४। स्या० र० पृ० ११९०। षड्द० बृह० श्लो० ५२। स्या० म० पृ० ७२। न्यायसारटी० पृ० २८३। चित्सु० पृ० ३५३। (५)अशरीरावस्थायाम्। (६) वैषयिकसुखदुःखप्रयोजकधर्माधर्मशून्य। (७) पृ० ८२४ प० १। (८) तुलना–"यत आत्मनः सर्वथा भिन्नाना बुद्ध्यादिगुणाना सन्तानस्योच्छेद साध्यते, अभिन्नाना वा, कथञ्चिद् भिन्नाना वा?"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। प्रमेयक० पृ० ३१७।

1–दशेषभोगस्योपात्त–श्र०। 2 सर्वदा भि–श्र०।

प्रागेव असत्त्वप्रतिपादनतस्तत्सन्तानस्य धर्मिणोऽसिद्धेः। तथा तेषां भवता अस्वसंविदितत्वोपगमात्, ज्ञानान्तरवेद्यत्वे च अनवस्थादिदोषानुषङ्गात्, अज्ञातानाञ्च सत्त्वाऽसंभवादितोऽप्याश्रयासिद्धत्वम्। आत्मनः सर्वथाऽभिन्नानां तु तेषां तत्साधने तद्वत्तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्षः स्यात्? कथञ्चित्तदभेदस्तु परैर्नाभ्युपगम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तथापि तदभ्युपगमे सर्वथा तदुच्छेदासिद्धिः कथञ्चित्तदनुच्छेदस्याप्येवं प्रसिद्धेः।

सन्तानत्वञ्च साधनं सामान्यरूपम्, विशेषरूपं वा? यदि सामान्यरूपम्, तदा स्वरूपासिद्धो हेतुः, व्यक्तिभ्यः सर्वथा भिन्नस्यास्य सामान्यपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात्। अस्तु वा तद्रूपं तत्; तथापि परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूपं वा स्यात्? प्रथमपक्षे गगनादिनाऽनेकान्तः, अत्यन्तोच्छेदाभावेऽपि अत्र सत्तापरपर्यायस्य सन्तानत्वहेतोः सद्भावात्। अथ अपरसामान्यरूपम्, विशेषगुणाश्रिता हि जातिः सन्तानत्वम्; तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपे तस्यासंभवात् साधनविकलो दृष्टान्तः।

अथ विशेषरूपम्, तत्रापि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिक्षणलक्षणविशेषरूपम्, पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूपं वा? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्य असाधारणाऽनैकान्तिकत्वम्, तल्लक्षणस्यास्य अन्यत्र क्वचिदप्यप्रवृत्तेः। अभ्युपगमविरोधश्च, बुद्ध्यादिक्षणानाम् उपादानोपादेयभावस्य यौगैरनभ्युपगमात्, अन्यथा तत्सन्तानस्य अत्यन्तोच्छेदो न स्यात् मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणाद् उत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्यादिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षे तु पाकजपरमाणुरूपादिना अनेकान्त., तथाविध-

(१) बुद्ध्यादिगुणानाम्। तुलना–"तथा बुद्ध्यादीना विशेषगुणाना परेण स्वसविदितत्वेनानभ्युपगमात् ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे वाऽनवस्थादिदोषप्रसक्तेरवेद्यत्वमित्यज्ञातस्य सत्त्वासिद्धेः पुनरप्याश्रयासिद्ध सन्तानत्वादिति हेतु।"–सन्मति० टी० पृ० १५६। प्रमेयक० पृ० ३१७। (२) वैशेषिकेण। (३) विशेषगुणवदात्मनोपि। (४) कथञ्चिद्भेदप्रकारेण। (५) "सन्तानत्व हेतुत्वेनोपादीयमान यदि सामान्यमभिप्रेत तदा बुद्ध्यादिविशेषगुणेषु प्रदीपे च तेजोद्रव्ये सत्तासामान्यव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्यासभवात् स्वरूपासिद्ध। सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य सत्सदिति प्रत्ययहेतुत्वमेव न पुन. सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम्"–सन्मति० टी० पृ० १५६। प्रमेयक० पृ० ३१७। (६) पृ० २८७। (७) तुलना–"किमुपादानोपादेयभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानत्वम, कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवृत्ति, अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्र वा?"–रत्नाकराव० ७।५७। प्रमेयक० पृ० ३१७। "ननु किमिद सन्तानत्वम्–स्वतन्त्रम्, अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्र वा, एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा?"–स्या० मं० पृ० ८३। "किं कार्यकारणभावेन प्रवृत्ति, एकाधारापरोत्पत्तिर्वा?"–न्यायसारटी० पृ० २८७। (८) "सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तिरसाधारण।"–तर्कसं० अनु०। "नन्वेव तस्य तथाभूतस्यान्यत्राननुवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकत्वम् अभ्युपगमविरोधश्च।"–सन्मति० टी० पृ० १५७। प्रमेयक० पृ० ३१८। (९) सपक्षे। (१०) तुलना–"पार्थिवपरमाणुरूपादिसन्तानेन व्यभिचारात्।"–प्रश० कन्द० पृ० ४। "अनैकान्तिकश्च

1 अशुभानाञ्च ब०। 2 तत्तद्रूप तथापि ब०। 3 अत्र सत्ताभावेप्यत्र सत्तापर–आ०। 4–णस्यान्यत्र श्र०। 5–गमधर्मविरो–श्र०। 6 उत्तरोपादेयबु–श्र०।

सन्तानत्वस्यात्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदासंभवात् ।

विरुद्धश्चायं[1] हेतुः, कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोरसंभवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य अनेकान्त एव प्रतिपादितत्वात्[2] । साध्यविकलश्च[3] दृष्टान्तः, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तस्य स्वरूपान्तरेण अवस्थानात् । न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपादे[1] रूपान्तरेणावस्थानोपगमे प्रत्यक्षबाधा, वारिस्थिते तेजसि भासुररूपोपगमेऽपि तत्प्रसङ्गात् । अथ उष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसंभवात् तत्र[4] अनुद्भूतस्यास्य[5] परिकल्पनम्; तर्हि प्रदीपादेरपि[6] अनुपादानोत्पत्तेरिव[2] अन्त्यावस्थातोऽपरापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सत्त्वकृतकत्वादेरनुपपत्तेः अत्यन्तसन्तत्यनुच्छेदोऽपि परिकल्प्यतामविशेषात् । प्रयोगः[7]–पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपादिः सत्त्वादिभ्यः पटादिवत्[3] । सत्प्रतिपक्षश्चायं[8] हेतुः, तथाहि–बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, य एवंविधः स न तत्त्वेनोपादेयः यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति । नच प्रस्तुतानुमानादेव सन्तानोच्छेदोपलब्धेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वमसिद्धमित्यभिधातव्यम्; अस्य अनेकदोषदुष्टतयाऽननुमानत्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च[9], अतोऽनुमानात् इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, अतीन्द्रियाणां वा ? तत्राद्यविकल्पे सिद्धसाधनम्[10], अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् । द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः, अतीन्द्रियाणां तेषामत्यन्तोच्छेदे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनु-

---

पाकजपरमाणुरूपादिभि', तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदाभावात् ।"–सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० मं० पृ० ८४ । न्यायसारटी० पृ० २८७ । चित्सु० पृ० ३५७ ।

(१) "विरुद्धश्चाय हेतु, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात् ।"–सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (२) पृ० ३७२ । (३) "साधनविकलश्च दृष्टान्त , प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तैजसपरमाणूना भास्वररूपपरित्यागेन अन्धकाररूपतयाऽवस्थानात् ।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । न्यायसारटी० पृ० २८७ । रत्नाकराव० ७।५७ । (४) उष्णजलस्थिते तेजोद्रव्ये । (५) भासुररूपस्य । (६) तुलना–"तर्हि प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवन्न सन्ततिविपत्त्यभावमन्तरेण विपत्ति सभवतीत्यनुमानत किन्न कल्प्यते तत्सन्तत्यनुच्छेद ।"–सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (७) "पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गीकारस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीप सत्त्वात् घटादिवत् ।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (८) "न चासत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य । तथाहि–बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान् सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्" –सन्मति० टी० पृ० १५८ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) "किञ्चेन्द्रियजाना बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेद साध्यमानोऽस्ति उत अतीन्द्रियाणाम् ?"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (१०) "तेप्यदृष्टहेतुकाना बुद्ध्यादीनामात्मान्त करणसयोगजाना च मुक्तौ निवृत्ति ब्रुवाणा न निवार्यन्ते, कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रशमसुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्था' प्रमाणविरोधात् । तत कथञ्चिद् बुद्ध्यादिविशेषगुणाना निवृत्ति. कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते ।"–अष्टसह० पृ० ६८ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ ।

1–पादे स्वरूपा–ब०, श्र० । 2–त्पत्तेरेवान्त्या–ब० । 3 पदादिवत् आ० ।

पपत्तेः । मोक्षार्थी हि सर्वो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्त्तते न पुनः सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदाभिलाषेण, अस्य केनचिदप्यनभिलषणीयत्वात् । न हि कश्चित् प्रेक्षावान् आत्मनः सद्गुणोच्छेदाय यतते तदुत्कर्षणार्थमेवास्य प्रयत्नप्रतीतेः । यदि हि मोक्षावस्थायां शिलाशकलकल्पः अपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः सम्पद्यते तदा कृतं मोक्षेण[1] संसार एव वरमस्तु यत्र सान्तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरस्ति । तच्चिन्त्यतामिदम्– 'किम् अल्पसुखानुभवो भद्रकः, किं वा सकलसुखोच्छेदः' इति ? अतो न वैशेषिकोपकल्पिते निखिलगुणोच्छेदलक्षणे पाषाणकल्पे मोक्षे कस्यचिद् गन्तुमिच्छाप्युपपन्ना । उक्तञ्च–

"वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं प्रपद्यते ।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥" [ ] इति ।

किञ्च, मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभावः कारणाभावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे कस्य कारणस्य तत्राऽभावः–चक्षुरादेः, तत्प्रतिबन्धकापायस्य वा ? चक्षुरादेश्चेत्; तर्हि तज्जन्यस्यैव ज्ञानादेः तत्राभावः स्यात् नान्यस्य, अतः सिद्धसाध्यता । ननु सर्वस्य ज्ञानादेः धर्माधर्मशरीरेन्द्रियादिकारणकलापाधीनजन्मत्वात् तदभावे ज्ञानादेरेवाऽसंभवात् कथं सिद्धसाध्यता ? इत्यप्यसाधीयः; महेश्वरज्ञानाद्यभावानुषङ्गात् । नित्यत्वात् तज्ज्ञानादेरदोषोयम्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तन्नित्यत्वस्य ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके[3] प्रतिव्यूढत्वात् । ततः चक्षुराद्यपायेऽपि ईश्वरस्य प्रतिबन्धकापायप्रभवं ज्ञानाद्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वद् अन्यमुक्तात्मनामपि तेषां तत्स्वभावत्वात् । न च स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थानं युक्तमतिप्रसङ्गात् । अथ मुक्तस्य कृतकृत्यतया ज्ञानादिना प्रयोजनाभावात् मुक्तौ तदभावः; तन्न; प्रतिबन्धकापायोपेतस्य आत्मस्वरूपस्यैव एवंविधत्वेन निष्प्रयोजनत्वासिद्धेः । अनन्तज्ञानादिलक्षणविशिष्टगुणावाप्तिरेव च आत्मनः कृतकृत्यता न पुनः निखिलगुणोच्छेदः, गुणोत्कर्ष एव लोकेऽपि कृतकृत्यशब्दप्रयोगप्रतीतेः ।

एतेन विरुद्धत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तः; स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधाऽसंभवात् । मुक्तौ तेषां विरोधाभ्युपगमे च महेश्वरेप्येषां विरोधतोऽभावानुषङ्गात् लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् ।

किञ्च, बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्यन्तिकोच्छेदस्य मोक्षरूपतायां संसारस्वरूपं वक्तव्यम्–तत्खलु तद्विशेषगुणानुच्छेदः, भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य ससारित्वप्रसङ्गः । ततोऽन्येषामेव तदनुच्छेदः तल्लक्षणम् अतो नास्य संसारित्वानुषङ्गः; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, अर्धजरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात् । असाधारणं हि स्वरूपं भावस्य

(१) "अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति । न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ।" –सम्बन्धवा० श्लो० ४२३ । विवरणप्र० पृ० १३७ । "वरं वृन्दावने वासः शृगालैश्च सहोषितम् ।" –षड्द० बृह० श्लो० ५२ । "वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्"–स्या० मं० पृ० ८६ । (२) मुक्तौ । (३) पृ० १०८। (४) अनन्तज्ञानादिविशिष्टत्वेन । (५) ज्ञानादीनाम् । (६) महेश्वरातिरिक्तप्राणिनाम् । (७) ससारलक्षणम् । (८) महेश्वरस्य । (९) द्रष्टव्यम्–पृ० १६८ टि० ११ ।

1 केनचदनभिल–आ० । 2 इत्यप्यप्रसा–ब० । 3 'च' नास्ति श्र० । 4 अतोस्य आ० ।

लक्षणम् । तद्यदि तद[१]नुच्छेदः संसारलक्षणम्, तर्हि यत्रासौ अस्ति त[1]त्र सर्वत्र संसारित्वप्रसङ्गः मुक्तस्वरूपेणास्य[२] विरोधात् । द्वितीयपक्षे तु अस्मन्मतसिद्धिः, 'स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसा[३]रः' इत्यस्माभिरभ्युपगमात् ।

किञ्च, अ[2]त्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे प्रदीपनिर्वाणवादि[४]नः भ[3]व[५]तः को विशेषः स्यात् ? त[६]त्र हि स्वरूपेण आत्मनोऽसत्त्वम्, भ[७]वन्मते तु सतोऽप्यस्य सर्वथा तद्विकलस्य ग्राहकप्रमाणाभावा[८]त् । तथा[९]भूतं हि तत्स्वरूपं प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः, मोक्षावस्थायां त[१०]स्यैवाऽसंभवात् । नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षाभावे भवन्मते अनुमानानुदयात्, प्र[११]त्यक्षपूर्वकत्वेन तस्याभ्युपगमात् ।

यदपि–तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमुक्त[१२]म्; तदुपपन्नम्; †सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदहेतुत्वं तु तस्या[१३]नुपपन्नम्;† स्वविरुद्धमिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदहेतुत्वस्यैव तत्रोपपत्तेः शुक्तिकादौ तथादर्शनात् । ननु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ रागाद्य[4]नुत्पत्तेः तत्पूर्वकधर्माप्रादुर्भावतः शरीराद्यसंभवे सिद्ध एव मोक्षदशायां सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदः; इत्यप्यपेशलम्; शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाऽखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्य उ[5]च्छेदासिद्धेः, इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानस्यैव त[6][१४]दभावेऽभावप्रसिद्धेः, तत्र च सिद्धसाधनम् इत्युक्तम् । अतीन्द्रियज्ञानादिसद्भावश्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधित[१५]ः ।

यत्तूक्त[१६]म्–'आरब्ध' इत्यादि; तदपि न सूक्तम्; उप[१७]भोगात् कर्मणामात्यन्तिकप्रक्षयानुपपत्तेः । तदुपभोगस[7]मये हि अपरकर्मोत्पत्तिकारणस्य अभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारादेः संभवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भ[१८]वतः कथमात्यन्तिकप्रक्षयः ?

यदपि 'समाधिबलात्' इत्याद्युक्त[१९]म्; तदप्ययुक्तम्; अ[२०]भिलाषरूपरागाद्यभावे साति-

(१) ज्ञानाद्यनुच्छेद । (२) ज्ञानाद्यनुच्छेदस्य । (३) "कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्ति ससार"–**सर्वार्थसि० ९।७** । "आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्ति. ससारः ।"–**राजवा० २।१०** । "यदवष्टम्भेनात्मन ससरणमितश्चेतश्च गमन भवति स ससार., अथवा बलवतो मोहस्याख्या ससार, नारकाद्यवस्था वा ससार ।"–**तत्त्वार्थभा० व्या० २।१०** । (४) बौद्धात् । "यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसप्रयोग । नेच्छाविपन्नप्रियविप्रयोग क्षेमं पद नैष्ठिकमच्युत तत् । दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेत. नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ एव कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥"–**सौन्दरनन्द० १६।२७-२९** । (५) वैशेषिकस्य । (६) बौद्धमते । (७) वैशेषिकसिद्धान्ते । (८) 'असत्त्वम्' इति शेष । (९) सकलबुद्ध्यादिगुणशून्यम् । (१०) प्रत्यक्षस्यैव । (११) "तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानम्"–**न्यायसू० १।१।५** । (१२) **पृ० ८२४ पं० ७** । (१३) तत्त्वज्ञानस्य । (१४) शरीराभावे । (१५) **पृ० ८९–** । (१६) **पृ० ८२४ पं० ११** । (१७) "उपभोगात् कर्मण प्रक्षये तदुपभोगसमये "– **प्रमेयक० पृ० ३१९** । **सन्मति० टी० पृ० १५९** । (१८) समुद्भवतः । (१९) **पृ० ८२५ पं० २** । (२०) "अभिलाषरूपरागाद्यभावे

1 **तत्र संसा**–ब० । 2 **अत्यन्तबुद्ध्या**–श्र० । 3 **भवता को** आ० । † एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०, ब० । 4–**द्यनुपपत्तेः** आ० । 5 **उच्छेदसिद्धेः** आ० । 6 **तदभावाभावप्र**–ब० । 7–**समयो हि** श्र० ।

शयर्द्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि तत्त्वज्ञानादवगतकर्मसामर्थ्यस्य नानाशरीराणि विधाय अङ्गनाद्युपभोगाऽसंभवात् । [१]तत्संभवे वा अवश्यम्भावी नृपत्यादेरिव अतिभोगिनो योगिनोऽपि प्रचुरतरकर्मसंभवः ।

यदपि–'वैद्योपदेशेन' इत्याद्यभिहितम्[२]; तदप्यभिधानमात्रम्, [३]आतुरस्यापि नीरुग्भावाभिलाषेणैव [1]औषध्याद्याचरणे प्रवृत्त्युपपत्तेः, अतः कथं तद्दृष्टान्तात् निरभिलापस्यापि तत्त्वज्ञानिनः तत्त्वज्ञानमात्रात् कर्मक्षयार्थितया अङ्गनाद्युपभोगः साधयितुं शक्यः, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् ? तन्न अशेषशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य[४] कर्मान्तरा[2]नुत्पत्तिः । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्द[५]र्शनज्ञानचारित्रस्य इत्यलं विवादेन, जीवन्मुक्तेरिव परममुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव [4]कारणादुत्पत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकम् अतः तन्निवर्त्तकेनापि [5]त्रितयात्मकेनैव भवितव्यम्, एकरूपेण सम्यग्ज्ञानादिमात्रेण [६]अस्य निवर्त्तयितुमशक्तेः । सम्यग्ज्ञानं हि विपरीताभिनिवेशविविक्ताऽऽत्मस्व[6]रूपस्वभावसम्यग्दर्शनोपचितं बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितं त्रितयात्मकमेव आगामिकर्मानुत्पत्तौ सञ्चितकर्मक्षये च समर्थम्, उष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ प्रवृत्ततत्स्पर्शप्रध्वंसे च सामर्थ्यवत् ।

य[७]दपि–'विवादापन्नः शरीरादिनिवृत्तावात्मा' इत्याद्यनुमानम् 'न ह वै' इत्याद्यागमश्च आत्मनः सर्ववैषयिकसुखादिशून्यतायां प्रमाणम्' इत्युक्तम्, [८]तदप्ययुक्तमेव, सिद्धसाधनात्, शरीरादिनिवृत्तौ हि [7]समस्तधर्मादिनिवृत्तेः तत्प्रभवमेव सुखादि मुक्तात्मनो निवर्त्तेत न स्वात्मोत्थम् । यद्धि यत्कार्यं तत् तदभावे न भवति नान्यदतिप्रसङ्गात् । धर्माद्यभावे कुतस्तस्तदुत्पत्तिः[९] इति चेत् ? '[8]प्रतिबन्धापायात्' इत्यसकृदावेदितम् । अतः परमकाष्ठाप्राप्तं सम्यग्दर्शनादित्रयं [9]परमप्रकर्षप्राप्तज्ञानादिस्वरूपं मोक्षं प्रसाधयतीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्त[10]व्यमिति ॥ छ ॥

स्त्र्याद्युपभोगासभवात् ।"–सन्मति० टी० पृ० १५९ । प्रमेयक० पृ० १३९ ।

(१) स्त्र्यादिभोगे क्रियमाणे तु । (२) पृ० ८२५ प० ८ । (३) "वैद्योपदेशप्रवर्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसगतः····"–सन्मति० पृ० १६० । प्रमेयक० पृ० ३१९ । (४) योगिन । (५) "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।"–तत्त्वार्थसू० १ । १ । "नादसणिस्स नाण नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा । अगुणिस्स णत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥"–उत्तरा० २८।३० । (६) ससारस्य । (७) पृ०८२५ पं०१०,१३ । (८) तुलना–"शुभाशुभादृष्टपरिपाकप्रभवेन भवसभविनी हि प्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्याय व्यवस्थित ; सकलादृष्टक्षयकारणक पुनरैकान्तिकात्यान्तिकरूप केवलमेव प्रियं निःश्रेयसदशायामिष्यते तत्कुत प्रतिषिध्यते ?"–रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० म० पृ० ८५ । षड्द० वृह० श्लो० ५२ । (९) स्वात्मोत्थसुखादिसमुत्पत्तिः ।

---

1 औषधाद्या–ब०, श्र० । 2–नुपपत्तिः आ०, ब० । 3–दर्शनचारित्र–श्र० । 4 कारणादुत्पत्तिः ब०, कारणानुत्पत्ते आ० । 5 त्रयात्मकेनैव ब० । 6–रूपस्यभावसमा–आ० । 7 समस्तकर्मादि–ब० । 8 प्रतिबन्धकापा–श्र० । 9 परमंप्रकर्ष–आ० । 10–त्तव्यम् आ० ।

आनन्दरूपो मोक्ष इति वेदान्तिनां पूर्वपक्षः–

ननु परमप्रकर्षप्राप्त[1]सुखस्वभावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादिस्वभावता, तत्र प्रमाणाभावात्। सुखस्वभावतायां तु तत्सद्भावादसौ युक्ता। तथाहि–आत्मा सुखस्वभावः, [2]अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, [3]अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च, यद् यदेवंविधं [1]तत्तत्सुखस्वभावम् यथा वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा, तस्मात्सुखस्वभाव इति। तथा, आत्मा सुखस्वभावः, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयः[2]शब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकसुखवदिति। इष्टार्थो मुमुक्षु[4]प्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति। परमातिशयप्राप्तता च तत्सुखस्य अतोऽनु[3]मानात्प्रसिद्धा–सुखतारतम्यं क्वचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवदिति। तथा आगमोऽपि आत्मनो मोक्षे [5]तत्स्वभावतायां प्रमाणम्–

"[6]आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।" [ ]

"[7]यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम्।
तदा तन्नित्यमानन्दं मुक्तः स्वात्मनि विन्दति॥" [ ] इति

श्रुतिसद्भावात्।

ननु नित्यानन्दस्य आत्मनि सर्वदा सद्भावाभ्युपगमे संसारदशायामप्युपलम्भप्रस-

---

(१) "एष एव ह्यानन्दयति" "आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन"–**तैत्ति० २।७।४,९।** "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"–**तैत्ति० ३।७।** "विज्ञानमानन्द ब्रह्म"–**बृहदा० ३।९।२८।** "आनन्दमयोऽभ्यासात्"–**ब्रह्मसू० १।१।१२।** "तस्मादानन्दमय पर एवात्मा"–**शा० भा०।** "ब्रह्मण्यानन्दशब्दोऽय प्रयुक्त. सुखवाचकः। सवेद्ये च सुखे लोके आनन्दाख्या प्रयुज्यते॥"–**बृहदा० वा० ३।९।१६६। विव० प्र० पृ० २१६।** "इत्यनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिरेव स्वत पुरुषार्थ इत्याहु।"–**सिद्धान्तले० पृ० ५०९।** (२) "तदेतत्प्रेय पुत्रात्प्रेय अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा आत्मानमेव प्रियमुपासीत॥"–**बृहदा० १।४।८।** "आत्मनः सुखरूपत्वात् आनन्दत्व स्वलक्षणम्। परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मन॥ सुखहेतुषु सर्वेषा प्रीति सावधिरीक्ष्यते। कदापि नावधि प्रीते स्वात्मनि प्राणिना क्वचित्॥ आत्माऽत परमप्रेमास्पद सर्वशरीरिणाम्। यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति॥ एष एव प्रियतम पुत्रादपि धनादपि। अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तर॥"–**सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६२३–२७।** "आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात्"–**संक्षेपशा० टी० पृ० ३०–३१।** "परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मन सुखरूपत्वे प्रमाणम्।"–**चित्सु० पृ० ३५८। सिद्धान्तबि० पृ० ४४५।** (३) वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्थमुपादीयन्ते, परञ्चात्मन उपादान तु नान्यार्थम्, स्वयमात्मा आत्मार्थमेवोपादीयते इत्यर्थ। (४) "प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम्। आत्मार्थमेव नान्यार्थं नात. प्रियतम पर।"–**सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३०।** (५) सुखस्वभावतायाम्। (६) 'मोक्षेऽभिपद्यते'–**प्रश० व्यो० पृ० २० ख०।** "आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्।"–**वेदान्तसि० पृ० १५१।** तुलना–"नित्य सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते।"–**न्यायभा० १।१।२२। न्यायमं० पृ० ५०९।** प्रकृतपाठ–**सन्मति० टी० पृ० १५१। षड्द० बृह० श्लो० ५२।** (७) उद्धृतोऽयम्–**षड्द० बृह० श्लो० ५२।**

---

1 **तत्सुख**–श्र०। 2–**शब्दवाचित्वाद्वा** आ०। 3–**मानात्सिद्धा** श्र०।

ज्ञात मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः इति च न वाच्यम्, नित्यानन्दस्य नित्यात्मनि सदा[1] सद्भावेपि संसारदशायामावृतत्वेन[१] अनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भसंभवाऽविरोधात्, योगाभ्यासादावरणप्रक्षये मोक्षावस्थायां तदभिव्यक्तेरुपलम्भः इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[२]–'आत्मा सुखस्वभावः' इत्यादि, तत्र किमिदं

मोक्षावस्थाया कथञ्चिन्नित्यज्ञानादिप्रसाधनम्–

सुखस्वभावत्वं नाम–सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, सुखाधिकरणत्वं वा? न तावत् सुखत्व[३]जातिसम्बन्धित्वम्, गुणे एव अस्य[४] सद्भावात्। § नहि एका काचिज्जातिः द्रव्यगुणयोः आत्मसुखयोः साधारणा उपलभ्यते। § नापि सुखाधिकरणत्वम्, नित्याऽनित्यविकल्पाऽनतिक्रमात्–यस्य हि सुखस्य अधिकरणमात्मा तत्सुखं किं नित्यम्, अनित्यं वा? न तावदनित्यम्; आत्मनोऽपि तत्स्वभा[५]वतयाऽनित्यत्वप्रसङ्गात्। न खलु स्वभावाभावे तद्वतोऽवस्थानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। अथ नित्यम्, किं कथञ्चित्, सर्वथा वा? यदि कथञ्चित्, जैनमतसिद्धिः, द्रव्यतो नित्यस्य पर्यायतश्च अनित्यस्य कथञ्चिदाविर्भावतिरोभाववतः सुखपर्यायस्य आत्मनि ज्ञानादिपर्यायवत् स्याद्वादिभिरभ्युपगमात्[2]।

ननु मुक्तौ सुखादिपर्यायस्य अपरापरस्य आविर्भावाभ्युपगमे तत्कारणं वक्तव्यम्, अकारणकस्य तत्पर्यायस्य आविर्भावानुपपत्तेः इति च न चेतसि निधेयम्, आत्मन एव तत्प्रतिबन्धकापायोपेतस्य तत्र[६] तत्कारणत्वेन[७] प्राक् प्ररूपितत्वात्। सौख्यादिप्रतिबन्धकमोहादिकर्मापायोपेतो हि आत्मैव मोक्षावस्थायां तथाभूतसुखज्ञानादिकारणम् घटाद्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकाऽपरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ। किमपेक्षोऽसौ तदा[८] तत्[९]जनयतीति चेत्? 'तत्प्रतिबन्धकापायापेक्ष एव' इति ब्रूमः। तथाभूतस्यास्य[१०] तदुत्पादनस्वभावतया तदा[3]ऽन्यापेक्षाऽनुपपत्तेः, यद् यदा यदुत्पादनस्वभावं[4] न तत्तदा तदुत्पादने अन्यापेक्षम् यथा अन्त्यावस्थायाम् अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, तदुत्पादनस्वभावश्च मोक्षावस्थायाम् अतीन्द्रियसुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मा

(१) "तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्ध, विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम्।"–चित्सु० पृ० ३६१। "प्रत्यगेव परानन्दस्तिरोभूत स्वमोहत। स्वकण्ठचामीकरवत् प्राप्तप्राप्य स्वविद्यया॥"–वे० सि० सू० ४।१०। "यद्यपि ससारदशायामविद्यावृतस्वरूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रथते तथापि तत्त्वविद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव परमानन्दस्वरूपतया प्रकाशते"–सिद्धान्तबि० पृ० ४५०। (२) पृ० ८३१ पं० ५। (३) "तत्र यदि सुखस्वभावत्व सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, तन्न आत्मनि सभाव्यते गुणे एवास्योपलम्भात्। न ह्येकाहङ्कारादिवदपरा जाति द्रव्यगुणयो साधारणोपलब्धेति। अथ सुखाधिकरणत्वम्; तन्नास्ति, नित्यानित्यविकल्पानुपपत्ते।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (४) सुखत्वजातिसम्बन्धित्वस्य। (५) अनित्यसुखस्वभावतया। (६) मोक्षे। (७) सुखादिपर्यायाविर्भावकारणत्वेन। (८) मोक्षावस्थायाम्। (९) सुखम्। (१०) आत्मन।

1 सदास्यभावेऽपि आ०। §एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०, श्र०। 2 स्याद्वा।दिभिः ब०। 3 तयान्या–श्र०। 4–वं तत्तदा तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् आ०।

इति । [1]दृश्यते हि–संसारावस्थायामपि वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियशरीरादिव्यापा[1]राजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः । स एव [2]उत्तरोत्तरभावनाविशेषव[3]शादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयन् परमकाष्ठां प्रतिपद्यते इति सर्वं सुस्थम् । [4]ततः तद्दशायामपि तत्पर्यायस्य कथञ्चिदाविर्भावनिमित्तसद्भावात् कथञ्चिदेवानित्यः सुखादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्यः ।

सर्वथा तन्नित्यत्वग्राहिणः कस्यचिदपि प्रमा[2]णस्याऽसंभवाच्च । तस्य हि ग्राहकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ? प्रत्यक्षञ्चेत्; किमैन्द्रियम्, मानसम्, स्वसंवेदनं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; इन्द्रियाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य मनसः क्वचिदपि प्रवृत्त्यसंभवात् । "अस्वतन्त्रं बहिर्मनः" [ ] [3]इत्यभिधानात् । बहिरेव अर्थे[4] त[5]न्निरपेक्षस्याप्रवृत्तिः नान्तः इति चेत्, न; त[6]त्रापि सम्बद्धस्य असम्बद्धस्य वा तस्यै[7] स्वसंवेदनसिद्धौ तत्र ज्ञानजनकत्वप्रतिषेधात्[8] । तृतीयविकल्पोऽप्यसुन्दरः, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि स्वसंवेदनप्रत्यक्षे अनवच्छिन्नदेश[5]कालकलाकलापः त्रिकालानुयायी नित्यनिरंशः सुखस्वभावोऽनुभूयते प्रतीतिविरोधात् । तन्न प्रत्यक्षं सर्वथा नित्यसुखग्राहकम् । नाप्यनुमानम्; सर्वथा तन्नित्यत्वाविनाभाविनः कस्यचिल्लिङ्गस्याऽसंभवात् । नाप्यागमः; सर्वथा सुखनित्यत्वप्रतिपादकस्य तस्याप्यप्रतीतेः ।

अस्तु वा कुतश्चित्तन्नित्यत्वप्रतीतिः; तथापि य[9]तस्तत्प्रतीतिः तत् नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्, त[10]थाविधात्ततो [6]नित्यं तत्प्रतीतिविरोधात् । कुतश्चास्य उत्पत्तिः

(१) तुलना–उपलभ्यते च वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षो सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितस्य सेन्द्रियशरीरव्यापाराजन्य परमाह्लादरूपोऽनुभव, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयतः परमकाष्ठागतिरपि सभाव्यते "–सन्मति० टी० पृ० १६१ । (२) तुलना–"आत्मनो नित्यसुखसत्ताया प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्ष तावदस्मदादीनामन्येषा वा केषाञ्चिदस्मिन्नर्थे न प्रभवतीति केय कथा । अनुमानमपि न सभवति, लिङ्गलेशानवलोकनादिति ।"–न्यायमं० पृ० ५०९ । "तस्य ग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा स्यात् ?"–स्या० र० पृ० १११५। (३) द्रष्टव्यम्–पृ० ४३२ टि० १। (४) मनस । (५) बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य । (६) अन्तः सुखादावपि । (७) मनस. । (८) पृ० १८५। (९) यस्मात्सवेदनात् तन्नित्यसुखानुभवः तत्सवेदनम् । तुलना–"तदनन्त सुख मुक्तौ पुस सवेद्यस्वभावमसवेद्यस्वभाव वा ? सवेद्यञ्चेत, तत्सवेदनस्य अनन्तस्य सिद्धि, अन्यथा अनन्तस्य सुखस्य स्वय सवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसवेद्यमेव तत्, तदा कथ सुख नाम ? सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीते ।"–अष्टसह० पृ० ६९ । "स किमानन्दो मुक्तावनुभूयते न वा ? यदि नानुभूयते; स्थितोऽप्यस्थितान्न विशिष्यते अनुपभोग्यत्वात् । अनुभूयते चेत्; अनुभवस्य कारण वाच्यम्"–प्रश० कन्द० पृ० २८६ । "नित्य सुखमभिव्यज्यते इति कोऽभिव्यक्त्यर्थ ? ज्ञानमिति चेत्, नित्यमनित्य वेति कल्पनानुपपत्ति. ।"–न्यायवा० पृ० ८५। "अस्तु वा यत्किञ्चित्तद्ग्राहक तथापि तन्नित्यमनित्य वा ?"–स्या० र० पृ० १११६ । (१०) अनित्यसंवेदनात् ।

1–व्यापारजन्यः ब० । 2 उत्तरभावना–ब० । 3–वशात्तदुत्तरोत्त–श्र० । 4 ततस्तच्छब्ददशाया –आ० । 5–कालकलापः ब० । 6 नित्यत्वप्रतीति–ब० ।

स्यात्, अनित्यस्य[1] अनुत्पत्तिधर्मकत्वानुपपत्तेः ? इन्द्रियादिभ्यश्च तदुत्पत्त्यभ्युपगमे[2] सुखविपयत्वं न प्राप्नोति इत्युक्तमनन्तरमेव। अथ[3] योगजधर्मापेक्ष आत्ममनःसंयोग एव तज्जनकः, ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसंभवात् कथमसौ तत्संयोगेन[4] अपेक्षेत यतस्तत्र[5] ततस्तदुत्पत्तिः[6][7] स्यात् ? अथ[8] आद्यं[1][9] योगजधर्मापेक्षः तत्संयोगः[10] ज्ञानं जनयति, तच्चा-[11]पेक्ष्य उत्तरोत्तरं ज्ञानमसौ[12] जनयति इति, तदप्यसाम्प्रतम्, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। नहि शरीरसम्बन्धानपेक्षं[2] ज्ञानं तत्संयोगस्य[13] ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणमिति भवतां राद्धान्तः, तदपेक्षस्यैव[14] तस्य[15] तदुत्पत्तौ कृतान्ते तत्सहकारिकरणत्वोपवर्णनात्।

अथ नित्यम्; तदा[16] मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, सुखतत्संवेदनयोः नित्यत्वेन उभयत्र सद्भावाऽविशेषात्। इन्द्रियजसुखेन चास्य[17] संसारावस्थायां साहचर्यानुभवप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः स्यात्। प्रतिवद्धत्वात्तदा[18] तस्याऽनुपलम्भ इति चेत्, केनास्य[19] प्रतिवद्धत्वम्–शरीरेण, अविद्यया, वैपयिकसुखाद्यनुभवेन, वाह्यविपयव्यासङ्गेन वा ? न तावत् शरीरेण, अस्य[20] सुखसाधकत्वेन तत्प्रतिवन्धकत्वायोगात्। नहि यद् यदर्थं[21]

(१) "अनित्यत्वे हेतुवचनम्"–न्यायभा० १।१।२२। (२) सवेदनोत्पत्तिस्वीकरणे। (३) तुलना–"आत्ममन सयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम्। धर्मस्य कारणवचनम्–यदि धर्मो निमित्तान्तरम्, तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति ? योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये सवेदननिवृत्ति –यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतु , तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये सवेदनमत्यन्त निवर्तेतेति।"–न्यायभा० १।१।२२। न्यायवा० पृ० ८५। न्यायवा० ता० पृ० २४०। (४) आत्ममन सयोगेन। (५) मुक्तौ। (६) योगजधर्मापेक्षादात्ममन सयोगात्। (७) ज्ञानोत्पत्ति। (८) तुलना–"अथाद्यसयोगजधर्मादुपजात विज्ञानमपेक्ष्य उत्तर विज्ञान तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानम्, तन्न; प्रमाणाभावात्। तथा च शरीरसम्वन्धानपेक्ष विज्ञानमेव आत्मान्त करणसयोगस्य अपेक्षाकारणमिति न दृष्टम्।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। "अथ आद्य ज्ञान योगजधर्मापेक्षस्तत्सयोगो जनयति "–स्या० र० पृ० १११६। (९) ज्ञानम् कर्मभूतम। (१०) आत्ममन सयोग। (११) आद्यज्ञानम्। (१२) आत्ममन सयोग। (१३) आत्ममन सयोगस्य। (१४) शरीरसम्वन्धापेक्षस्यैव। (१५) आत्ममन सयोगस्य। (१६) तुलना–"सुखवन्नित्यमिति चेत्, ससारस्थस्य मुक्तेनाविशेष, अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्य गृह्येत–यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफल सुख दु ख वा सवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभाव यौगपद्य गृह्येत। न सुखाभावः नानभिव्यक्तिरस्ति, उभयस्य नित्यत्वात्।"–न्यायभा०, वा० १।१।२२। "ततश्च धर्माधर्मफलाभ्या सुखदु खाभ्यामस्य नित्यस्य सुखस्य साहचर्यमनुभूयेत।"–न्यायम० पृ० ५१०। स्या० र० पृ० १११६। (१७) नित्यसुखस्य। (१८) ससारावस्थायाम्। (१९) "केनास्य प्रतिवद्धत्वम्–शरीरेण, अविद्यया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, वाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ?"–स्या० र० पृ० १११६। (२०) शरीरस्य। तुलना–"शरीरादिसम्बन्ध प्रतिवन्धहेतुरिति चेत्, न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात्। स्यान्मतम्–ससारावस्थस्य शरीरादिसम्वन्धो नित्यसुखसवेदनहेतो प्रतिवन्धक तेनाविशेषो नास्तीति, एतच्चायुक्तम्, शरीरादय उपभोगार्था ते भोगप्रतिवन्ध करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्। न चास्त्यनुमानम्–अशरीरस्य आत्मनो भोगः कश्चिदस्तीति।"–न्यायभा० १।१।२२। न्यायवा० पृ० ८६। न्यायवा० ता० पृ० २४०। न्यायमं० पृ० ५१०।

1 आद्ययोग–श्र०। 2–सम्बन्धापेक्ष ज्ञानं आ०,–सम्बन्धोऽन्यपेक्षज्ञान।

तत् तस्यैव प्रतिवन्धकम् अतिप्रसङ्गात् । [1]प्रतिवन्धकं हि कार्यविघातकमुच्यते । न च शरीरं सुखस्य विघातकम् तस्मिन् सति तस्य आत्मलाभात् । यस्मिन् सति यस्यात्मलाभः न तत् तस्य प्रतिबन्धकम् यथा वीजमङ्कुरस्य, शरीरे सति आत्मलाभश्च सुखस्येति । [2]तस्य तत्प्रतिवन्धकत्वे च तदपहन्तुर्हिंसाफलं न स्यात् , प्रतिवन्धविघातकस्य उपकारकत्वेन लोके प्रसिद्धेः । नापि अविद्यया; [3]तस्याः तुच्छरूपतया तत्प्रतिवन्धलक्षणार्थक्रियाकारित्वाऽसंभवात् । यत् तुच्छरूपं न तदर्थक्रियाकारि यथा मृगतृष्णिकाजलम्, तुच्छरूपा च अविद्या भवद्भिरिष्टा इति । प्रतिषिद्धञ्च अविद्यायाः प्रतिवन्धकत्वं ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके[4] प्रपञ्चेन इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । नापि वैषयिकसुखाद्यनुभवेन; तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिवन्धः अनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः; [5]द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि वाह्यविषयव्यासङ्गेन, तेन हि प्रमातुः, इन्द्रियादेर्वा [1]सम्वन्धिना तत्प्रतिवन्धः क्रियते ? पक्षद्वयमप्येतदयुक्तम् ; [6]आत्मनो हि प्रमातुर्व्यासङ्गः रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाऽजनकत्वम् । स चात्र असम्भाव्यः; सुखवत् तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात् ।

किञ्च, यथा[7] मुक्त्यवस्थायाम् अनित्यं सुखं ज्ञानञ्चाऽतिक्रम्य नित्यं तत्परिकल्प्यते तथा नित्यत्वधर्माधिक[2]रणं देहेन्द्रियादिकमपि परिकल्प्यतामविशेषात् । अथ धर्मादेः कार्यो देहः कथं [3]तदभावे तत्र भवेत् प्रतीतिविरोधात् ? तदन्यत्रापि समानम् । अथ संसार(रि)सुखविलक्षणं तत्सुखम् तेनायमदोषः, तर्हि देहोऽपि संसारिदेहाद् विलक्षणः तत्र अस्यास्तु विशेषाभावात् ।

किञ्च, सुखवत् ज्ञानस्य मुक्तावभ्युपगमे तच्छक्तेः[8] विपरीताभिनिवेशनिवृत्तिल-

(१) "प्रतिवन्धक कार्यव्याघातकृदुच्यते, न च नित्यसुखस्य अनुत्पत्ति सभवति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग० । (२) शरीरस्य । "प्रतिवन्धकत्वेन तदपहन्तुर्हिंसाफल न स्यात् । तथा हि प्रतिवन्धविघातक उपकारक एवेति दृष्टम् । न हि नित्यसुखसवेदनस्य प्रतिवन्धकस्य शरीरादेरपहन्तुर्हिंसाफलस्य अभाव इत्यलम् ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग० । स्या० र० पृ० ११११७ । (३) "प्रकाशस्य तुच्छेनावरीतुमशक्यत्वात् मेघा अपि रवेरन्ये स्वरूपेण च वास्तवा । तत्त्वान्यत्वाद्यचिन्त्या तु नाविद्यावरणक्षमा ॥"–न्यायमं० पृ० ५१०। (४) पृ० १४३। (५) नित्यसुख-तत्सवेदनयो । (६) "नित्यसुखे हि अनुभवस्यापि नित्यत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्ति । तथा हि आत्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्ग । एवमिन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विपये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विपयान्तरे ज्ञानाजनकत्व व्यासङ्गः। न चैवमात्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्तिः तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग० । (७) तुलना–"दृष्टातिक्रमश्च देहादिपु तुल्य । यथा दृष्टमनित्य सुखं परित्यज्य नित्यसुख कामयते, एव देहेन्द्रियवुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियवुद्धय कल्पयितव्याः।"–न्यायभा०, वा०, ता० टी० १ । १ । २२ । "सुखवज्ज्ञानवच्चास्य काम देहेन्द्रियाद्यपि । नित्य प्रकल्प्ययतामित्थं मोक्षो रम्यतरो भवेत् ।"–न्यायम० पृ० ५१० । (८) अनन्तज्ञानधारणाय उपयुज्यमानाया अनन्तशक्ते. ।

1 सम्वन्धेन तत्प्र–व०। 2–करणदेहेन्द्रि–व०। 3 तदभावे तत्र आ०, तदभावे तत प्रसवे तत्र व०।

क्षणदर्शनस्य च सामर्थ्यसिद्धत्वात् अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः जैनमतसिद्धिः स्यात्, 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्येकान्तत्यागात्। तन्न सुखस्वभावत्वलक्षणं साध्यं विचार्यमाणं भवन्मते घटते।

साधनञ्च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वम् अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्च अनैकान्तिकत्वादसाधनम्, दुःखाभावेऽपि भावात्। अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम्; नहि आत्मा अन्यार्थं नोपादीयते, सुखाद्यर्थमस्योपादनात्। अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्, दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात्।

यदपि 'आत्मा सुखस्वभावः वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्' इत्युक्तम्; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्; सुखस्वभावत्वे प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। प्रेयोबुद्धिविषयत्वं निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वञ्चाऽसिद्धम्; कदाचिद् दुःखितायां तदभावात्। अन्यथासिद्धञ्च, आत्मनो हि आत्यन्तिको दुःखाभावो मोक्षे स्यात् इति तत्र तत् साधनद्वयं न पुनः सुखस्वभाव इति। विरुद्धञ्च, सुखस्वभावताविपरीतस्य दुःखाभावस्वभावत्वस्यैव अतः प्रसिद्धेः। तथाहि-दुःखाभावरूपोऽयमात्मा, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकदुःखाभाववदिति।

यदप्युक्तम्-'इष्टार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नः' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्, हेतोरनेकान्तात्। नहि इष्टार्थसाधनायैव प्रेक्षावतां प्रयत्नो भवति, व्याधिविशेषखिन्नानां तेषाम् अनिष्टोपरमार्थमपि प्रयत्नप्रतीतेः।

किञ्च, इष्टशब्देनात्र किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेतप्रयोजनमात्रं वा? यदि अभिप्रेतप्रयोजनमात्रम्, कथमतः पुंसः सुखस्वभावता सिद्ध्येत्? परस्परविरुद्धानेकापवर्गसंसिद्धिप्रसङ्गश्च, कपिलादिमतानुसारिणामपि मुमुक्षूणां प्रयत्नस्य तदिष्टापवर्गलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रसक्तेः। प्रयत्नस्य प्रेक्षावत्त्वविशेषणात् न अनेकविरुद्धापवर्गसंसिद्धिरिति चेत्, न, तद्विवेकस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। नहि भवन्मतानुसारिणः प्रेक्षावन्त न कपिलादिमतानुसारिणः इति विवेकः कर्त्तुं शक्यः, प्रमाणप्रबाधितसर्वथानित्यादि-

(१) "दुःखाभावेऽपि भावात्। अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम्, सुखार्थमुपादानात्। अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्, दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात्।"-प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (२) पृ० ८३१ प० ६। (३) प्रेयस्त्वाभावात्। (४) पृ० ८३१ प० ७। (५) तुलना-"इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत्; न, अनिष्टोपरमार्थत्वात्।"-न्यायभा०, वा० १।१।२२। "नानिष्टोपरमार्थत्वादनिष्टस्यापि शान्तये। सन्त प्रयतमाना हि दृश्यन्ते व्याधिखेदिता॥ अनिष्टं दुःखं तस्य समानु परमार इति तदुपशमाय व्यवस्यन्त सन्तो न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवन्तीत्यनैकान्तिको हेतु।"-न्यायमं० पृ० ५०९।

1-कान्तपरित्यागात् ब०। 2-चिद्दुःखितायां ब०। 3 सुखस्वभावविप-आ०। 4-भावायावदिति आ०, -भावादिति ब०। 5-वनमिमुमुक्षु-आ०,-वतमिष्टार्थं मुमुक्षू-ब०। 6-लादिमनुसारि-आ०। 7-प्रमानबाधि-ब०।

स्वभावतत्त्वाङ्गीकारेण अशेषाणामप्यप्रेक्षावत्त्वप्रसिद्धेः । अथ सुखम् इष्टशब्देन उच्यते; तदा साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । न खलु कृषीवलादीनां कृष्यादिप्रयत्नः साक्षात्सुखार्थो भवति, कृष्यादिफलनिष्पत्त्यर्थत्वात्तस्य । परम्परया तस्य[1] तदर्थत्वे मुमुक्षुप्रयत्नस्यापि तथा[2] तदर्थत्वमस्तु । ननु मुमुक्षवो यदि साक्षात्सुखार्थप्रयत्ना न भवन्ति तदा ते निष्प्रयोजनप्रयत्ना एव स्युः प्रयोजनान्तरस्य तत्प्रसाध्यस्याऽसंभवात्; तदप्यपेशलम्; संसारदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनस्य तत्प्रयत्नप्रसाध्यस्य सद्भावात् । दुस्सहो हि संसारदुःखभारोऽयम् अतः तदुच्छित्तये प्रयतमानास्ते न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवितुमर्हन्ति ।

यत्पुनः 'सुखतारतम्यं क्वचिद्विश्राम्यति' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्; परत्वादिना अनेकान्तात् । परापरादिबुद्धिप्रकर्षसमधिगतो हि परत्वादिप्रकर्षः तारतम्यशब्दवाच्यो न च क्वचिद्विश्रान्तः ।

किञ्च, दुःखेप्येवं परमप्रकर्षप्रसङ्गः–दुःखतारतम्यं[4] क्वचिद्विश्राम्यति तारतम्यशब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् इति । न च दुःखपरमप्रकर्षो भवद्भिरिष्टः इत्यनेनापि अनेकान्तः ।

यदपि–'*आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्*' इत्याद्यागमः मोक्षे सुखस्वभावतायायात्मनः प्रमाणम्' इत्याद्युक्तम्, तदतीवाऽसङ्गतम्; तस्य प्रामाण्यासंभवात् । गुणवद्वक्तृकत्वेन[5] हि वचनस्य प्रामाण्यम् । न च वेदे भवद्भिः तदिष्टम् । अपौरुषेयत्वेनास्य प्रामाण्यम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; तदपौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रतिव्यूढत्वात् । अस्तु वा तस्य तथा प्रामाण्यम्, तथापि यथासौ मुक्तौ आनन्दरूपताम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा तदभावमपि "*न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति*,[6] *अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।*" [छान्दो० ८।१२।१] इत्यादिवचनात् । अतः क्वास्य प्रामाण्यम् इति व्याघ्रतटीन्यायो भवतः समायातः[7] । अथ इदमागमवचनम् अन्यथा व्याख्यायते- 'सशरीरस्य' इति प्रक्रमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसंभवे मोक्षे

(१) परम्परया । (२) मुमुक्षुप्रयत्न । (३) पृ० ८३१ पं० ८ । (४) दुःखपरमप्रकर्षेण । (५) पृ० ८३१ पं० ११ । (६) पृ० ७२४–। (७) "स्यादेतदेव यद्येतदेव केवलमागमवचनमश्रोष्यत, वचनान्तरमपि तु श्रूयते–न हवै · । ननु भवत्पठितमागमवचनमन्यथापि व्याख्यातु शक्यते–सशरीरस्येति प्रक्रमात् सासारिके सुखदु खे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसभवे तदानीमशरीरमातमानं न स्पृशत इत्यर्थ । हन्त तर्हि त्वदधीतमपि वेदवचनमानन्द ब्रह्मेति ससारदुःखपरिहारक्रमप्रकरणादेव तद्दु खापायविषय व्याख्यास्यते । न खलु व्याख्यानस्य भगवत काचिदभूमिरस्ति । दृष्टाश्च दुखोपशमे सुखशब्दप्रयोगा । चिरज्वरशिरोऽर्त्यादिव्याधिदुःखेन खेदिता । सुखिनो वयमद्येति तदपाये प्रयुञ्जते ।।"–न्यायमं० पृ० ५०९ । (८) "कुटुम्बमपि मे प्रेयान् प्रेयास्त्वमपि हे सखे । कि करोमि द्विधा चित्त इतो व्याघ्र इतस्तटी ।।"–परिशि० ३ । १६६ । लौकिकन्या० तृ० भा० । "इतस्तटमितो व्याघ्र. केनास्तु प्राणिनो गतिः ।"–यश० उ० पृ० १३८ । (९) 'न हवै' इत्यादि वचनम् ।

1 तस्यास्त–ब० । 2 तदा तद–ब०, श्र० । 3 न क्वचि–आ० । 4 दुःखे तारतम्य आ० । 5–क्तृत्वेन हि आ०, श्र० । 6–रपपातिरस्ति श्र० । 7 'समायातः' नास्ति श्र० ।

अशरीरमात्मानं न स्पृशतः' इति, तदपि मनोरथमात्रम्, 'आनन्दं ब्रह्म' इत्यस्यापि अन्यथा व्याख्यातुं सुशकत्वात्, [1]आत्यन्तिकसंसारदुःखाभावविषयो हि अत्र आनन्दशब्दः न पुनः सुखविषयः। दृष्टश्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः यथा भराक्रान्तस्य चिरंज्वरशिरोर्त्त्यादिव्याधिदुःखितस्य वा तदपाये '[1]चिरं तद्दुःखेन खिन्नाः सुखिनो वयमद्य' इति तदात्मनां प्रतिभासप्रतीतेः।

यच्चोक्तम्[2]–'नित्यानन्दस्य संसारदशायाम् आवृतत्वेनाऽनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भः' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, अविद्यादेः तदावारकत्वप्रतिषेधात्, नित्यैकस्व[2]भावस्य स्वप्रकाशात्मन आव्रियमाणत्वायोगाच्च, परिणामिन एव हि वस्तुनः केनचिदावरणं युक्तम् कथञ्चिदनावृतरूपपरित्यागेन आवृतरूपस्वीकारात्। अतः कथञ्चिदेव नित्यज्ञानसुखादिस्वभावो [3]मुक्तौ आत्मा प्रतिपत्तव्य इति ॥ छ ॥

नैरात्म्यभावनातो विशुद्धज्ञानोत्पत्तिरूपो मोक्ष इति बौद्धस्य पूर्वपक्ष –

ननु कार्य[4]कारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण अपरस्य आत्मनोऽसंभवात् कस्य ज्ञानादिस्वभावता मुक्तौ प्रसाध्येत ? मुक्तिश्च आत्मदर्शिनो दूरोत्सारिता। यो हि पश्यति आत्मानं स्थिरादिरूपं तस्य आत्मनि स्थैर्यादिगुणदर्शननिमित्तः स्नेहोऽवश्यम्भावी, आत्मस्नेहाच्च आत्मसुखेषु परि[5]तृष्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषांस्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परि[6]तृष्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते, ततो यावद् आत्मदर्शनं तावत्संसार एव। तदुक्तम्–

"[3]यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः। स्नेहात्सुखेषु [7]तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥

(१) "आत्यन्तिके च ससारदुखाभावे सुखवचनाद् आगमेऽपि सत्यविरोध । यद्यपि कश्चिदागम स्याद् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति। सुखशब्द आत्यन्तिके दु खाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते। दृष्टो हि दु खाभावे सुखशब्दप्रयोगो वहुल लोके।"–न्यायभा०, वा० १।१।२२। "मुख्ये हि बाधकोपपत्तेः गौण इति। तथाहि दु खाभावेऽयमानन्दशब्दः प्रयुक्तो दृष्ट । सुखशब्दो दु खाभावे यथा भाराक्रान्तस्य वाहिकस्य तदपाये इति।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ग०। (२) पृ० ८३२ प० २। (३) "यः पश्यात्मान तत्रात्मनि अस्य द्रष्टु अहमिति शाश्वत अनपायिस्नेहो भवति। स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णावान् भवति, तृष्णा च सुखसाधनत्वेनाध्यवसिताना वस्तूना दोषानशुचित्वादीन् तिरस्कुरुते प्रच्छादयति। दोषतिरस्करणात् गुणदर्शी शुचित्वेष्टत्वगुणान् पश्यन् परितृष्यन् ममेति ममेद सुखमिति गर्द्धमान तस्य सुखस्य साधनानि गर्भगमनादीन्युपादत्ते। तेन आत्मदर्शनमूलत्वेन जन्मादेरात्माभिनिवेशो यावत्तावत् स आत्मदर्शी ससार एव। न केवल जन्मप्रवन्धस्तस्य दोषा अपि समस्ता सन्तीत्याह। आत्मनि सति ततोऽन्यस्मिन् परसज्ञा परवुद्धिर्भवति, स्वपरयोर्यथाक्रम परिग्रहोऽभिष्वङ्ग द्वेष परित्याग तौ भवत । अनयो अनुनयप्रतिषेधयो सप्रतिवद्धा सर्वे दोषा रागमात्सर्येर्ष्यादय· प्रजायन्ते।"–प्रमाणवा० मनोरथ०। उद्धृता इमे–बोधिचर्या० प० पृ० ४९२। अनेकान्तजय० पृ० २८। यश० उ० पृ० २५२। न्यायवि० वि० पृ० ५८१ A.। षड्द० बृह० श्लो० ५२। ज्ञानबि० पृ० १४७ A। "य पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि· भवति"–सिद्धिवि० टी० पृ० ५५ B.। 'आत्मनि सति'–अभि० आलोक० पृ० ६७। प्रश० कन्द० पृ० २७९।

1 चिरदु खेन व०, श्र०। 2–स्वभावतयास्य प्रकाशा–व०। 3 युक्तौ श्र०। 4–कारकभूत–आ०। 5–तृप्यन् आ०, व०। 6–तृप्यन् आ०, व०। 7 तृप्यति आ०।

गुणादर्शी परितृ[1]ष्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते । तेनात्मभिनिवेशो यावत्तावत् स संसारः ॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥"
[**प्रमाणवा० १।२१९-२१**] इति ।

ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च अनात्मकमनित्यमशुचि दुःखमिति श्रु[1]तमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम्, एवं भावयतः तत्र अभि[3]ष्वङ्गाभावात् अभ्यासविशेषतो वैराग्यमुपजायते, अतः सास्रवचित्तसन्तानलक्षणसंसारनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । निरन्वयविनश्वरेषु हि[2] चित्तक्षणेषु एकत्वाध्यारोपेण आत्माभिनिवेशात् आत्मप्रेमानु[3]गतः प्रा[4]ण्यभिधानः स्कन्धसन्तानः सांसारिकसुखसाधनेषु प्रवर्त्तमानः सास्रवचित्तसन्तानं सन्तनोति । ततोऽस्य व्यलीकाभिनिवेशस्य अपोहार्थं य[5]त्नः [4,6]नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण असत्यपि आत्मनि नित्यनिरंशादिस्वभावे मोक्तरि इति । उक्तञ्च–

(१) तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्य परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निर्वृत्ता चिन्तमयी भावनामारभते ।"–आप्तप० का० ८३ । (२) अभिष्वङ्गो राग । (३) "कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मता । बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निमलता धिय ॥ यथोक्तम्–चित्तमेव हि ससारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ।"–तत्त्वसं०, पं० पृ० १८४ । (४) "तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम् । उत्खातमूला कुरुत सत्त्वदृष्टि मुमुक्षवः ॥"–**प्रमाणवा०** २।२५६ । किं पुनरिद नैरात्म्य नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्य सत्सु चोपदेष्टव्यमित्याह–अद्वितीय शिवद्वार कुदृष्टीना भयङ्करम् । विषय सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।–तत्रात्मा नाम योऽपरायत्तस्वरूप स्वभाव, तदभावो नैरात्म्यम् । तच्च धर्मपुद्गलभेदात् द्वैत प्रतिपद्यते । धर्मनैरात्म्य पुद्गलनैरात्म्यञ्च । तत्र पुद्गलो नाम य स्कन्धानुपादाय प्रज्ञप्यते । स च स्कन्धेषु पञ्चधा मृग्यमाणो न संभवति । धर्मास्तु स्कन्धायतनधातुसशब्दिता पदार्थाः तदेतेषा धर्माणा पुद्गलस्य च यथास्व हेतुप्रत्ययाधीनजन्मत्वादुपादाय प्रज्ञप्यमानत्वाच्च स्वायत्तमपरात्त निजमकृतक रूप नास्तीति पुद्गलस्य धर्माणाञ्च नै स्वाभाव्य व्यवस्थाप्यते । यस्य चार्थस्य स्वरूपसिद्धिर्नास्ति तस्य केनान्येनात्मनास्तु सिद्धिरिति । तस्मात्सर्वथाऽसिद्धलक्षणा एव पदार्था मूर्खजनस्य विसवादकेनात्मना प्रतीत्य वोपादाय वा वर्त्तमाना मूढधिया सङ्गास्पद भवन्ति । यथास्वभावं तु सम्यग्दर्शनै प्रतिभाव्यमाना धर्मपुद्गलयो सङ्गपरिक्षयवाहका भवन्ति । सङ्गपरिक्षयश्च निर्वाणप्राप्तिकारणम् । विदितनैरात्म्यस्य हि सर्वेषु परिक्षीणसङ्गस्य न क्वचित्काचित्प्रार्थना कुतो वा निमित्तोपलम्भ इत्यद्वितीयमेव शिवद्वारमेतन्नैरात्म्यम् । (पृ० १५१) तत्त्वतो नैरात्म्यमिति यस्यैव वर्तते मति । तस्य भावात्कुत प्रीतिरभावेन कुतो भयम् ॥"–चतु शत० पृ० १५१, १५६ । **तत्त्वसं०** पृ० ८६६ । "यतस्ततो वास्तु भय यद्यह नाम किंचन । अहमेव न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति ॥"–**बोधिच०** ९।५७ । "वर नैरात्म्यभावना नैरात्म्यस्य पुद्गलादिविरहस्य भावना अभ्यासः वरमुत्तमम्, आत्मदर्शनप्रवृत्ताहङ्कारनिवृत्तिहेतुत्वात् । तथाहि तावद् भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनात् साक्षान्नैरात्म्यदर्शनात् विरोधिन सत्कायदर्शन निवर्तते । तन्निवृत्तौ चैकस्यानुगामिनो दर्शनाभावात् पूर्वापररूपविकलस्य क्षणमात्रस्य दर्शनम् । तत. पूर्वापरसमारोपाभावान्नानागतसुखसाधन किंचिदात्मन पश्यति, ततो न तस्य क्वचिद्विषये रागो जायते नापि तत्प्रतिविरोधिनि द्वेष' आसङ्गाभावादेव । नाप्यपकारिण प्रति अपकारस्थान पश्यति, येन यस्मिन् कृतो-

1–तृप्यन् श्र० । 2 **चित्तलक्षणेषु** श्र० । 3–**नुगम. प्रा–**व० । 4 **प्रामाण्यभि–**श्र० । 5 **यतोनै**–व० । 6–**दिकलक्षणः** श्र० ।

"मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [प्रमाणवा० १।१९४] इति ।

नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणयत्नाभावे तु आत्माभिनिवेशाऽनिवृत्तेः इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु आत्मीयबुद्धेर्निवारयितुमशक्यत्वतो वैराग्यासभवात् मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तदुक्तम्-

"उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु ।

स्वत्वधीः केन वार्येत वैराग्य तत्र तत्कुतः ॥" [प्रमाणवा० १।२२९] इति ।

अथोच्यते-नेन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभवोऽयम् आत्मीयस्नेहः येनाय दोषः स्यात् किन्तु गुणदर्शननिबन्धनः, अतः तद्विरुद्धदोषदर्शने तन्निवृत्तितो वैराग्योपपत्तेः मुक्तिरुपपन्नेति, तदयुक्तम्, तन्निबन्धनस्वत्वबुद्धेरेव अस्याविर्भावात्, स्वचक्षुरादिषु गुणदोषपरीक्षाविकलानामपि बालपशुप्रभृतीनाम् उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिबन्धनायाः स्वत्वबुद्धेः तत्र स्नेहस्याविर्भावात्। आत्मीयेष्वपि च पिच्चटकाणकुण्टादिदोषदर्शनेऽपि अस्य भावात्, परकीयेषु गुणदर्शनेऽप्यभावात् । आत्मीयेष्वपि अतीतेषु स्वदेहच्युतेषु च अङ्गावयवेषु गुणदर्शनेऽपि आत्मीयबुद्धित्यागे स्नेहस्याभावात् तन्निबन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभव एवासौ अभ्युपगन्तव्यः । अत. युक्तः तद्व्यवच्छेदाय नैरात्म्यादिभावनाभ्यास· ।

ऽपकार तयोर्द्वयोरपि द्वितीयक्षणाभावत् । न चान्येन कृतेऽपकारे प्रेक्षावतोऽन्यत्र वैरनिर्यातनमुचितम्, नापि यस्य कृतस्तेनापि । एव रागादिनिवृत्तौ अन्येपि तत्प्रभवा क्लेशोपक्लेशा नोत्पद्यन्ते । नापि वस्तुत कश्चित् कस्यचिदपकारकारी । इद प्रतीत्येदमुत्पद्यते इति प्रतीत्यसमुत्पाददर्शनाद्वा । एव हि पुद्गलशून्यताया सत्कायदर्शननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् क्लेशा न समुदाचरन्ति । यथोक्तमार्यतथागतगुह्यसूत्रे-तद्यथापि नाम शान्तमते वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाश शुष्यति । एवमेव शान्तमते सत्कायदृष्टिप्रशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति । तस्माद्वर नैरात्म्यभावना ।"-बोधिचर्या० प० पृ० ४९२-९३ । नैरात्म्यपरि० पृ० १२ ।

(१) "मिथ्याध्यारोपस्य ससारित्वाध्यवसायस्य हानार्थं यत्नोऽसत्यपि कस्मिंश्चिदात्मादौ मोक्तरि । न हि यथावस्त्वेव व्यवहारः किन्तु यथावसायञ्च । तथाहि रज्जुरपि सर्पाध्यवसायविषयत्वात् परिहारविषय । एवमहमेव बद्धोऽहमेव मोक्ष्यामीत्यध्यारोपान्मुक्त्यर्थं व्यायाम ।"-प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्-तत्त्वस० प० पृ० १८३ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । सन्मति० टी० पृ० १६२, ४१८ । (२) "आत्मीयबुद्धिहान्यात्र त्यागो न तु विपर्यये । उपभोगाश्रयत्वेन आत्मीयबुद्धिहान्या तत्राहिदष्टाङ्गे त्यागो न तु विपर्यये आत्मीयबुद्धिसत्तायाम् । यस्माद् उपभोगस्य आश्रयत्वेन कारणत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु स्वत्वे धी आत्मीयत्वबुद्धि· केन हेतुना वार्येत ? क केनचित् । तत्कुतस्तत्र उपभोगसाधने स्वीयावयवे वैराग्य येन त्यज्यते । ततो यत्त्यज्यते आत्मीयबुद्धिहान्या एव । न चैव स्नेहादिष्वात्मीयबुद्धिहानिरस्ति येनैषा त्याग स्यात् ।"-प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्-न्यायवि० वि० पृ० ५८१ B । (३) भोगसाधनत्वनिबन्धन । (४) स्नेहस्य । (५) उपभोगाश्रयत्वनिबन्धन । (६) स्नेह ।

1-ध्यानोप-श्र० । 2-णप्रयत्ना-श्र० । 3 आनीयबुद्धे-आ० । 4 खल्वधी ब० । 5 'इति' नास्ति ब० । 6-निबन्धनसत्त्वबु-त्र० । 7 चेदयुक्तम् ब० । 8 अस्याभावात् आ० । 9-श्रयबुद्धि-ब० । 10-दर्शनेप्यस्याभा-श्र० ।

अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्लेशलक्षणात्तपसः[1] सकलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो[2] भविष्यति; तन्न, कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापवत् तपस्त्वायोगात्। विचित्रशक्तिकञ्च कर्म वि[2]चित्रफलदानाऽन्यथानुपपत्तेः, तच्च कथं कायसन्तापमात्रात् क्षीयेत अतिप्रसङ्गात्। अ[3]थ तपः कर्मशक्तीनां सं[3]ङ्करेण क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि तपसः चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः; नन्वेवं स्वल्पक्लेशेन एकोपवासादिनाऽपि अशेषस्य कर्मणः क्षयापत्तिः शक्तिसाङ्कर्यान्यथानुपपत्तेः। उक्तञ्च–

"कर्मक्षयाद्विमोक्षः स च तपसः तच्च कायसन्तापः।
कर्मफलत्वान्नारकदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात्॥
अन्यदपि चैकरूपं त[4]च्चित्रक्षयनिबन्धनं न स्यात्।
तच्छक्तिसङ्करक्षया(य)कारीत्यपि वचनमात्रं तु॥
अक्लेशात्स्तोकेऽपि क्षीणे सर्वक्षयप्रसङ्गो य[5]त्।" [ ] इति॥ छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[6]–'कार्यकारण' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; कार्यकारणभूतज्ञा[6]नक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तस्य आत्मनः सन्तानिषेधावसरे व्यासतः समर्थितत्वात्।

सान्वयशुद्धचित्तसन्ततिरूपस्य मोक्षस्य समर्थनम्–

यत्पुनरुक्तम्[7]–'यः पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपम्' इत्यादि; त[8]त्सूक्तमेव; किन्तु

(१) "तपसा निर्जरा च"–तत्त्वार्थसू० ९।३। (२) "फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते। कर्मणा तापसंक्लेशात् नैकरूपात्तत क्षय॥–कर्मणा फलवैचित्र्यस्य नानागत्युपभोग्यानेकविधोपकरणसाध्यविविधसुखदुःखोपभोगप्रकारस्य दृष्टेश्च शक्तिभेद. सामर्थ्यनानात्वमनुमीयते, अतो नानाप्रकारफलजननसामर्थ्यात् कारणादेकरूपात् फलात् तापसंक्लेशान्न कर्मणा क्षय।"–प्रमाणवा० १।२७७। (३) "अथापि तपस शक्त्या शक्तिसकरसक्षयै। क्लेशात्कुतश्चित् हीयेताशेषमक्लेशलेशत॥–अथापि तपस शक्त्या शक्तिसकरेण तापक्लेशमात्रफलेन तानि हीयन्ते। तप शक्त्या कर्मणा सक्षयेण वा जन्माभाव। यच्च किञ्चिदविशिष्टं तत् क्लेशात्कुतश्चित् केशोल्लुञ्चनादे क्षीयते। कर्मक्षयाच्च मुक्ति. अत्राह–हीयेताशेषमक्लेशलेशत। यदि तपसा कर्मक्षयोऽशेष कर्म हीयेत, अक्लेशतो विनैव केशोल्लुञ्चनादिदु खात् कर्मण. क्षीणत्वात्। यथा नारकादिदु ख न भवति तथा अल्पीयोपि न स्यात्। शक्तिसाकर्येपि लेशतः सन्तापक्लेशात् केवलात् कर्म हीयेत, न दुःखान्तरानुवन्धी ससारप्रबन्ध तपस्विन स्यात्। यदीष्टमपर क्लेशात् तत्तप क्लेश एव चेन्। तत्कर्मफलमित्यस्मान्न शक्ते सकरादिकम्॥ तपस शक्त्या शक्तिसकरसक्षयश्च तदा वक्तु शक्यो यदि क्लेशादिष्ट क्लेशादपरमन्यत्तपो नान्यथा। क्लेश एव चेत्तपः, तत्क्लेशरूप तप कर्मफलमित्यस्मात् कर्मफलभूतात्तपसः शक्तिसकरादिक न युक्तम्। आदिशब्दात् सक्षयश्च।"–प्रमाणवा० मनोरथ० १।२७८–७९। (४) "···क्षयनिमित्तमिह न स्यात्। तच्छक्तिसकर क्षयकरीत्यपि·· ·"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। ' तच्छक्तिसकरक्षयकारीत्यपि· '–स्या० र० पृ० १११८। (५) पृ० ८३८ पं० ११। (६) पृ० ९। (७) पृ० ८३८ पं०१८। (८) तुलना–"तत्सूक्तमेव, किन्त्वज्ञो जनो दु खानुषक्त सुखसाधन पश्यन्नात्मस्नेहात् सासारिकेषु दु खानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते अपथ्यादौ च मूर्खातुरवत्।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। स्या० र० पृ० १११८।

1 अथैतद्भाव–श्र०। 2–कर्मक्षया–ब०। 3 संकरणे क्षय–श्र०। 4 तच्चित्रं क्षय–आ०, ब०। 5 वत् श्र०। 6–ज्ञानलक्षणप्रवा–श्र०।

अज्ञो जनः दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन्[1] आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्त्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु[2] तादात्विकसुखसाधन स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्त्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधन व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु[3] तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्त्तते। उक्तञ्च[1]–

"तदात्वसुखसञ्ज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुद्ध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥" [ ] इति।

यदप्युक्तम्[2]–'ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च' इत्यादि; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्; सर्वथाऽनित्याऽनात्मकत्वादिभावनाया[3] निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् सर्वथा नित्यादिभावनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः[4]। तन्निर्विषयत्वञ्च आत्मसिद्धेः क्षणभङ्गभङ्गस्य च प्रसाधितत्वात् प्रसिद्धम्। न च कालान्तरावस्थाय्येकानुसन्धातृव्यतिरेकेण भावनाप्युपपद्यते इत्युक्तं सन्ताननिषेधप्रघट्टके। यो हि निगडादिभिर्बद्धः तस्यैव तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसन्धिव्यापारे सति मोक्षः इति ऐकाधिकरण्ये[4] सत्येव बन्धमोक्षव्यवस्था लोके प्रसिद्धा, इह[5] तु अन्यः क्षणो बद्धः अन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानम् अन्यस्य[5] च अनुष्ठानाभिसंन्धिः[6] व्यापारश्चेति वैयधिकरण्यात् सर्वमनुपपन्नम्।

किञ्च[6], सर्वो बुद्धिपूर्वं[7] प्रवर्त्तमानः 'किञ्चिदिदमतो मम स्यात्' इत्यनुसन्धानेन प्रवर्त्तते। इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्त्तमानः 'मोक्षो मम स्यात्' इत्यनुसन्दध्यात्–क्षणः, सन्तानो वा? न तावत् क्षणः, तस्य एकक्षणस्थायितया निर्विकल्पकतया च एतावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थत्वात्। नापि सन्तानः, तस्य सन्तानिव्यतिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्, सन्ताननिषेधे[8] निषिद्धत्वाच्च।

यच्चान्यदुक्तम्[7]–'निरन्वयविनश्वरेषु' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, आत्मनोऽन-

(१) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० पृ० ५८१। स्या० र० पृ० १११९। (२) पृ०८३९ प०४। (३) तुलना–"क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात्, नच मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वमतिप्रसङ्गात्।"–प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। "भावनाया विकल्पात्मिकायाः श्रुतमय्याश्चिन्तामय्याश्चावस्तुविषयाया वस्तुविषयस्य योगिज्ञानस्य जन्मविरोधात्। कुतश्चिदतत्त्वविषयाद् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविषयस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः।"–आप्तप० का० ८३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (४) "न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ–क्षणिकमेकं यच्चित्तं तत्संस्थौ बन्धमोक्षौ न स्याताम्। यस्य चित्तस्य बन्धः तस्य निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्याबद्धस्यैव मोक्षप्रसङ्गात्। यस्यैव बन्धः तस्यैव मोक्षः इति एकचित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ"–युक्त्यनु० टी० पृ० ४१। (५) क्षणिकैकान्तपक्षे। (६) तुलना–"किंच, सर्वो बुद्धिपूर्वं प्रयतमानः किंचिदिदमतो मम स्यादित्यनुसन्धानेन प्रवर्तते।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। (७) पृ० ८३९ प० ७।

1–साधनं पश्यन् आ०। 2–विवेकस्तु आ०। 3–विवेकस्तु आ०। 4–नित्यादिभावनमु–आ०। 5 अन्यत्रानुष्ठा–ब०। 6–सन्धेर्व्यापा–आ०। 7–पूर्वं वर्त्तमान. ब०। 8 सन्ताननिषिद्ध–श्र०।

भ्युपगमे तथाभूतचित्तक्षणेषु एकत्वाध्यारोपानुपपत्तेः[1]। तदनुपपत्तिश्च सन्तानभङ्गप्रघट्टके प्रपञ्चिता। निरन्वयविनश्वरत्वे च संस्काराणां[2] मोक्षार्थः प्रयासो व्यर्थः। रागाद्युपरमो हि भवन्मते मोक्षः, तदुपरमश्च विनाशः, तस्य च निर्हेतुकतया[1] अयत्नसिद्धत्वात् तदर्थानुष्ठानादिप्रयासो निष्फल एव। तेन[2] हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तक्षणस्य नाशः क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्य वोच्छेदः[3] अनुत्पादो वा, निराश्र(स्र)वचित्तसन्तत्युत्पादो[4] वा? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; विनाशस्य निर्हेतुकतया भवन्मते[3] कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात्। द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अनुपपन्नः; उत्पादाभावो हि अनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात् कथं कुतश्चिदुत्पद्येत[5] अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्[4]? तच्छक्तिक्षयार्थोऽपि तत्प्रयासोऽसङ्गतः; तत्क्षयस्याप्यभावरूपतया कुतश्चिदात्मलाभासंभवात्। 'सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासः' इत्यप्येतेन प्रत्युक्तम्; क्षणोच्छेदानुत्पादवत् तदुच्छेदानुत्पादयोरभावरूपतया[5] कुतश्चिदुत्पत्त्यनुपपत्तेः[7]।

किञ्च[6], सिद्धे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासो युक्तः; न चासौ तथाभूतः सिद्धः, क्षणातिरिक्तस्य तस्य वास्तवस्य भवतानभ्युपगमात्, सन्ताननिषेधे निषिद्धत्वाच्च।

किञ्च, अन्त्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे[8] सन्तानोच्छेदो भविष्यति। तच्च कुतो न करोति सत्त्वात्[9] तदुत्पादे शक्तत्वाच्च? शक्तमपि सहकारिकारणाभावात् नोत्पादयति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तदभावस्य[10] अप्रतिबन्धकत्वात्[7]। तेन[8] हि प्रतिबन्धो भावस्योत्पत्तेः, उत्पादकत्वस्य वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शाक्यपक्षे[11] हि कारणान्तराभावः[12] अभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावो भावस्य नोत्पत्तिप्रतिबन्धं कर्त्तुमर्हति। यद् सकलशक्तिविरहस्वभावं न तत् कस्यचिदुत्पत्तिप्रतिबन्धकम् यथा शशविषाणम्,

(१) तुलना–"अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसक। चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुक॥"–आप्तमी० का० ५२। "आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो बधकश्च न स्यात्॥–तथा च सकलास्रवनिरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसन्ततिनाशरूपस्य वा शान्तनिर्वाणस्य मार्गो हेतु नैरात्म्यभावनालक्षणो न युक्त स्यात् नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात्।"–युक्त्यनु० टी० पृ० ४०। "निर्हेतुकतया विनाशस्य उपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसाध्यत्वात्।"–प्रश०व्यो० पृ० २० ड। (२) तपोऽनुष्ठानादिना। "किंच, तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाश क्रियते, भाविनो वाऽनुत्पाद, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षय, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा?"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) सौगतमते। (४) निर्हेतुकाऽभाववादः विशीर्येत इत्यर्थ। (५) सन्तानोच्छेदानुत्पादयो। (६) तुलना–"किंच वास्तवस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात् किं तदुच्छेदादिप्रयासेन? नहि मृतस्य मारण क्वापि दृष्टम्।"–षड्द० बृह० श्लो०५२। (७) सहकारिकारणाभावस्य। (८) सहकारिकारणाभावेन।

1–रोपानुपपत्तिश्च सन्ता–ब०। 2 संसारिणाम् ब०, श्र०। 3 चोच्छेद ब०। 4 निराश्रयचित्त–आ०। 5–दुत्पद्यते आ०। 6 कुतश्चिदात्मलाभासंभवात सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासो युक्तो न चासौ ब०। 7–त्पद्यनुप–श्र०। 8–न्तराकर्तृकत्वे ब०। 9 सत्त्वादुत्पादे आ०। 10 तद्भावस्य ब०। 11 साध्यपक्षे ब०। 12–राभावाभावरूपतया ब०।

तथाभूतश्च शाक्यमते[1] सहकारिकारणाभाव इति । द्वितीयविकल्पोऽप्येतेन प्रतिव्यूढः; [2]उत्पादकत्वस्य हि प्रतिबन्धः कार्योत्पादकपदार्थसत्ताऽपहारः, स च अश्वविषाणप्रख्ये [1]तदभावे दुर्घटः ।

किञ्च, अन्त्यचित्तक्षणस्य [2]अनर्थक्रियाकारित्वे अवस्तुत्वं स्यात्, ततः तज्ज[3]नकस्य इति, एवमायातम[3]शेषस्य चित्तसन्तानस्य अवस्तुत्वम् । अथ स्वसन्तानवर्तिनो ज्ञानक्षणस्य अजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्तिनो योगिज्ञा[4]नस्य जननात् नाऽशेषस्य तत्सन्तानस्याऽवस्तुत्वम्; तदयुक्तम्; र[5]सादेरेककालस्य रूपादेः अव्यभिचार्यनुमानाऽभावानुषङ्गात्, [4]अन्त्यक्षणवत् रूपादेर्वि[6]जातीयकार्यजनकत्वेऽपि स[5]जातीयाजनकत्वसंभवात् । एकसामग्र्यधीनत्वेन रूपरसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वे अन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्व स्यात्, योगिज्ञान-अन्त्यक्षणयोरपि एकसामग्र्यधीनत्वाऽविशेषात् । अथ स्वसन्तानवर्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तान[8]कार्यजननसामर्थ्यम् अन्त्यक्षणस्य नेष्यते, तर्हि सर्वथा अर्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेन अस्य[9] आकाशकुशेशयवदवस्तुत्वं स्यात् । तथाविधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्वं स्यात्, तथा च सत्त्वादयः क्षणिकत्वन्न साधयेयु. अनैकान्तिकत्वात् । तन्न सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्तिः [6]तत्कारणानुष्ठानप्रयासेन प्रसाध्या इति पक्षः क्षेमङ्करः ।

निरा[7]श्र(स्र)वचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयासप्रसाध्या इति पक्षस्तु ज्यायान् । केवल 'सा चित्तसन्ततिः सान्वया, निरन्वया[8] वा' इति वक्तव्यम्? तत्र [10]अस्याः सान्वय-

(१) सहकारिकारणाभावे । (२) अर्थक्रियाकारित्वाभावे । तुलना-"चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेन अवस्तुत्वापत्तित पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्तेः सकलसन्तानाभावप्रसङ्गः । विद्युदादे सजातीयाकरणेऽपि योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वमिति चेत्, न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेऽपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमान न स्यात् ।"-सन्मति० टी० पृ० १६१ । स्या० र० पृ० ११२१ । प्रमेयक० पृ० ४९७ । (३) अन्त्यक्षणोत्पादकस्य उपान्त्यक्षणस्य । (४) यदा हि कश्चित्सर्वज्ञो योगी तम् अन्त्यक्षण जानाति तदा सोऽन्त्य क्षण योगिज्ञानस्य सहकारितया समुत्पादको भवति नाकारण विषय इति सिद्धान्तात् । अत सजातीयक्षणानुत्पादकोऽपि अन्त्यक्षण योगिज्ञानस्य सहकारितया जनकत्वात् अर्थक्रियाकारी भवत्येव । (५) बौद्धमते हि द्वितीयक्षणवर्तिनो रसस्य प्रथमक्षणवर्ती रस उपादानम् प्रथमक्षणवर्तिरूपञ्च सहकारि भवति । प्रथमक्षणवर्तिरूप हि सजातीय द्वितीयक्षणवर्तिन रूप जनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिरसे सहकारि भवति । यदि हि अन्त्यो ज्ञानक्षण सजातीय ज्ञानक्षणान्तरमनुत्पाद्यापि विजातीये सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारि स्यात् तदा पूर्वक्षणवर्तिरूपमपि द्वितीयक्षणवर्तिसजातीय रूपक्षणान्तरमजनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिनि रसे सहकारि स्यात् । तथा च द्वितीयक्षणवर्तिरसात् रूपानुमानं न स्यात् इति भाव । (६) रसोत्पादकत्वेऽपि । (७) रूपक्षणान्तरानुत्पादकत्वसभवात् । (८) योगिज्ञान । (९) अन्त्यक्षणस्य । (१०) चित्तसन्तते ।

1 साध्यमते व० । 2 व्युत्पादकस्य हि श्र०, उत्पादकत्वे हि च० । 3-मशेषचित्त-आ० । 4 अन्तक्ष-आ० । 5 सजातीयजनकत्वासंभ-व० । 6 तत्कारणेऽनुष्ठान-आ०, स्वकारणानुष्ठान-व० । 7 निराश्रयचि-आ० । 8-या चेति श्र० ।

पक्ष एव युक्तः[१]; तथाभूते एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाऽबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः संभवति, तत्र हि अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते । सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरत्रापि[२] इति चेत्; ननु सन्तानार्थः[३] परमार्थसन्, संवृतिसन् वा स्यात्? यदि परमार्थसन्, तदा आत्मैव नामान्तरेण उक्तः स्यात्? अथ संवृतिसन्; तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वाद् 'अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते' इत्यायातम्, तथा च बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ अत्यन्तनानात्वेऽपि क्षणानां दृढतररूपतया एकत्वाध्यवसायात् '[1]बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धाय प्रवर्त्तते; [४]कथमेवं नैरात्म्यदर्शनम्? यतस्तद्भावनाभ्यासान्मुक्तिः स्यात् । अथ शास्त्रसंस्कारप्रभवं तद्दर्शनमस्ति; न तर्हि[५] एकत्वाध्यवसायः अस्खलद्रूपः, [६]इत्येकं सन्धित्सोरन्यत्[७]प्रच्यवते । अतः कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात् यतो "*मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि*" [प्रमाणवा० १।१९४] इत्युक्तं शोभेत?

यत्[८]पुनरुक्तम्[2]–'उपभोगाश्रयत्वेन' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; [९]हेयोपादेयत्त्वज्ञो हि आत्यन्तिकसुखसाधनम् [3]उपभोगा[4]श्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादात्विकसुखसाधनम्; तथाहि[5]–

"[१०]*एगो मे [6]सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।*
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे सं[7]जोगलक्खणा ॥ [भावपाहु० गा० ५९]
संजोगमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा सं[8]जोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥" [मूलाचार० २।४८-४९]

(१) "चित्ताना तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनात् सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च"–अष्टसह० पृ० ६९ । **प्रमेयक० पृ० ३२० । सन्मति० टी० पृ० १६२ ।** "केवल सा चित्तसन्तति सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम् । आद्ये सिद्धसाधन तथाभूत एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्ते ।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (२) निरन्वयक्षणिकपक्षेऽपि । (३) "सन्तानस्याप्यवस्तुत्वादन्यथात्मा तथोच्यताम् । कथञ्चिद्द्रव्यतादात्म्याद्विना सन्तत्यसभवात् ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३ । "यदि सन्तानार्थ परमार्थसस्तदा आत्मैव सन्तानशब्देनोक्त. स्यात् । अथ संवृतिसन्, तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्ति स्यात् ।"–**सन्मति० टी० पृ० १६२। प्रमेयक० पृ० ३२१ ।** (४) "तर्हि न नैरात्म्यदर्शनमिति कुतस्तन्निबन्धना मुक्ति ?"–**सन्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ ।** (५) नैरात्म्यभावनायामस्खलद्रूपाया हि 'बद्धमेव आत्मान मोचयिष्यामि' इत्येकत्वाध्यवसायस्य संभावनैव नास्ति । (६) नैरात्म्यदर्शनस्य समर्थने क्रियमाणे । (७) एकत्वाध्यवसायः । (८) पृ० ८४० पं० ५ । (९) "हेयोपादेयत्त्वज्ञा हि आत्यन्तिकसुखसाधनमुपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यन्ते न तादात्विकसुखसाधनम् ।"–स्या० र० पृ० ११११ । (१०) "एको मे सासदो अप्पा ··"–**नियमसा० गा० १०२ ।** एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षण । शेषा मे बाह्या भावा. सर्वे सयोगलक्षणा. । सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दु खपरम्परा । तस्मात्सयोगसम्बन्धं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामि ।

1 **बद्धात्मानं** ब० । 2 **यदप्युक्त**–ब० । 3 **उपयोगाश्र**–आ० । 4 –**गाशयमा**–ब० । 5 **हि उक्तञ्च प्राकृतश्लोक एगो** ब० । 6 **संसवो** श्र० । 7 **संयोग**–आ० । 8 **संयोग**–आ० ।

"दारा[1] परिभवकाराः बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः ।
काय (कोऽयं) जनस्य मोहः ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥" [ ]

इत्येव भावयतो विवेकिनः संयोगसम्बन्धिषु दुःखहेतुषु[3] भावेषु सुखलेशसाधनत्वस्य सद्भावेऽपि अन्यदा आत्यन्तिकसुखसाधनं रत्नत्रयं[2] पश्यतः कुतस्तेषु[3] आत्मीयबुद्धिः यतस्ततो निवृत्तिर्न स्यात् ? ननु आत्मीयबुद्धेः ततः स्यान्निवृत्तिः यदि एकान्तेन तेषां दुःखहेतुत्वमेव स्यात्, न चैवम्, लेशतः सुखहेतुत्वस्याप्यत्र[4] संभवात्, तेन दुःखहेतुत्वे[5]ऽपि आत्मीयस्नेहात् येनाकारेण सुखहेतुता तावतांशेन स्वस्योपकारकान् इन्द्रियादीन् मन्यमानः तेषु नात्मीयबुद्धिं जहातीति, तदप्यसाम्प्रतम् ; तेषां सुखलेशसाधनत्वेऽपि अन्यस्य[5] आत्यन्तिकसुखसाधनस्य[6] सद्भावेन [7]निर्विषान्नस्य सद्भावेन सविषान्नस्येव[8] त्यागसंभवात् ।

यदप्यभिहितम्[6]–'पिच्चटकाणकुण्टादिदोषदर्शनेऽपि' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतो न सौरूप्यादि[9]गुणदर्शनात् स्नेहो भवतीत्यस्माभिरिष्यते, किन्तु उपभोगाश्रयत्वाख्यगुणदर्शनात् । विवेकिनश्च सयोगसम्बन्धिषु[10] भावेषु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणसंसारदुःखहेतुत्वाख्यम् आत्यन्तिकदोषं पश्यतो न उपभोगाश्रयत्वाख्यस्य गुणस्य[11] दर्शनमस्तीति तन्निबन्धनस्नेहस्य[12] व्यावृत्तेः कथं दोषदर्शनं [13]स्नेहस्य बाधकन्न स्यात् ।

ननु[7] तद्दोषं पश्यतो यद्यपि तत्कालेऽनुरागिणी मतिश्चलिता, तथापि तत्रासौ नैव अत्यन्तं विरक्तो द्रष्टव्यः, पुनस्तद्गुणलेशदर्शनादनुरागसंभवात्; [14]इत्यप्यसुन्दरम्, [15]अज्ञो हि तादात्विकदुःखहेतुत्वाख्यस्य[16] तादात्विकदोषस्य दर्शनाद् विरक्तः तादात्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते इति युक्तम्, हेयोपादेयतत्त्वज्ञस्तु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वाख्यस्य आत्यन्तिकदोषस्य दर्शनाद्विरक्तो न तादात्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते, किन्तु आत्यन्तिकसुखहेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् । न च संयोगसम्बन्धिषु तद्दर्शनमस्ति इति साकल्येनासौ[8] तत्र[10] [17]उपेक्षालक्षणं वैराग्यमात्मसात्करोति । ननु यदि तत्प्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वेन

(१) सगृहीतोऽयं श्लोकः सुभाषितरत्नभाण्डागारे । (२) "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"–तत्त्वार्थसू० १।१ । तुलना–"तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि तद्यथा–बुद्धो धर्मः सघश्चेति ।" –धर्मस०पृ० १ । (३) तात्कालिकसुखसाधनेषु स्त्र्यादिषु । (४) तादात्विकसुखसाधनस्त्र्यादीनाम् । (५) रत्नत्रयस्य । (६) पृ०८४०प० ११ । (७) "यद्यप्येकत्र दोषेण तत्क्षणं चलिता मतिः । विरक्तो नैव तत्रापि कामीव वनितान्तरे ।"–प्रमाणवा० १।२४१-४२ । (८) विरागवती जाता । (९) तत्त्वज्ञः । (१०) संयोगसम्बन्धिषु स्त्र्यादिषु ।

1–जना व–ब० । 2–सम्बन्धेषु श्र० । 3 दुःखाहेतुषु ब०, आ० । 4–त्र भावात् ब० । 5–त्वेऽस्यात्मीय–श्र० । 6–स्यासद्भा–ब० । 7 निर्विशेषात्तस्य सद्भावेन ब० । 8–न्नस्यैव त्यागे सभवात् श्र० । 9 सारूप्यादि–श्र० । 10–सम्बन्धाभावेषु श्र० । 11 गुणदर्शनमस्तीति ब०, आ० । 12–स्नेहव्यावृ–ब० । 13 स्नेहबाध–ब० । 14 इत्यसु–ब० । 15 अन्यो हि आ० । 16–हेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् ब०, श्र० । 17 अपेक्षा–श्र० ।

तत्रासौ विरज्यते तदा आत्मन्यपि विरज्यताम् [१]तथाविधदुःखहेतुत्वस्य तत्राप्यविशेषात्, तत्राविरागे वा अन्[२]यत्रापि न विरज्येत विशेषाभावादिति, अत्र अज्ञमात्मानभिप्रेत्य एवमुच्यते, तद्विपरीतं वा ? यदि अज्ञम्; तदा सिद्धसाधनम्, हे[३]योपादेयतत्त्वज्ञानरहिते तथाविधदुःखहेतौ आत्मनि वैराग्याऽभ्युपगमात् । हेयोपादेयतत्त्वज्ञानवति तु तस्मि[४]न् तथाविधदुःहेतुत्वाभावान्न वैराग्यम् ।

यच्चो[५]क्तम्–'कायक्लेशस्य कर्मफलत्वात्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्; हिं[६]सादिविरति[1]लक्षणव्रतोपबृंहकस्य कायक्लेशस्य कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात् । व्रताविरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात् तपोऽभिधीयते । न चैवं नारकादिकायक्लेशस्यापि तपस्त्वानुषङ्गः, तस्य हिंसाद्यावेशप्रधानतया त[७]दविरोधित्वासंभवात् । अतः कथं प्रेक्षावतां ते[८]न समानता मुमुक्षुकायक्लेशस्य आपादयितुं युक्ता ?

यदपि शक्तिसङ्करपक्षे 'स्वल्पेनैव' इत्याद्युक्त[९]म्, तत्[2]सूक्तम्; [१०]विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिसङ्करे सति क्षीणमोहान्त्यसमये अयोगिचरमसमये च[3] अक्लेशतः स्वल्पेनैव परमशुक्लध्यानरूपेण तपसा प्रक्षयाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेश्चान्यथानुपपत्तेः । स तु तच्छक्तिसङ्करः बहुतरक्लेशसाध्यः इति युक्तः तदर्थोऽनेकविधोपवासादि[4]दुश्चरकायक्लेशाद्यनुष्ठानप्रयासः, तमन्तरेण तत्सङ्कराऽप्रसिद्धेः । अतः कथञ्चिदनवच्छिन्नो ज्ञानसं[5]न्तानोऽनेकविधदुर्धरतपोऽनुष्ठानात् मुच्यते इति प्रेक्षादक्षैःप्रतिपत्तव्यम् ॥ छ ॥

सुषुप्ताद्यवस्थाया नास्ति ज्ञानमिति वैशेषिकादीना पूर्वपक्ष.–

ननु 'अनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानः' इत्ययुक्तम्, सुषुप्ताद्यवस्थायामपि तदवच्छेदप्रतीतेः । किञ्चिदपि अपरिच्छिन्दन्नेव हि '[११]सुषुप्तः' इत्युच्यते, तत्र ज्ञानसद्भा[6]वे तदपरिच्छेदानुपपत्तेः । [१२]यदि च तत्र ज्ञानसद्भावः स्यात् तदा जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदो न स्यात्, उभयत्र स्वपरावभासिज्ञानसद्भावाऽविशेषात् । तत्र तत्सद्भावेऽपि निद्र[१३]याऽभिभवात्, जाग्रदवस्थायाञ्च तदभावात्

(१)जन्मजरामरणादिप्रबन्धकारणत्वस्य । (२)स्त्र्यादिष्वपि । (३)तुलना–"यादृशो दुखहेतुस्तादृशो हेय एव, सोपाधिश्च तथा । निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्, न, अशक्यत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च।" –आत्मत० पृ० १०६ । (४) आत्मनि । (५) पृ०८४१ पं० २ । (६) "हिंसाविरतिरूपव्रतोपबृहकस्य कायक्लेशस्य कर्मत्वेपि तपस्त्वाविरोधात् ।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (७) व्रताविरोधित्वाभावात् । (८) नारकादिक्लेशेन । (९) पृ० ८४१ पं० ५ । (१०) "विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणा शक्तिसकरे सति "–षड्द० बृह० श्लो० ५२ । (११) "सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति ।"–मुक्ता० का० ५६ । (१२) "सुषुप्तावस्थाया ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेष स्यात्, उभयत्रापि स्वसवेद्यज्ञानस्य सद्भावाविशेषात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ड । (१३) "सुषुप्तौ निद्रयाभिभूतत्व विशेष इति चेत्, असदेतत्, तद्धर्मतया तस्यापि तादात्म्येन अभिभावकत्वासंभवात् । व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूप निरूप्यम् । अभिवश्च यदि

1–लक्षणं वृ–ब० । 2 'तत्सूक्तम्' नास्ति श्र० । 3 वाक्लेशतः श्र० । 4–दुःकरकाय–श्र० । 5–सन्तानो नैकविध–ब० । 6–वे च तदपरि–ब० ।

नानयोरविशेष इति चेत्, ननु कोऽयं तया[1] ज्ञानस्याऽभिभवो नाम–नाशः, तिरोभावो वा? यदि नाशः, कथं तत्र तत्सद्भावः तस्य[2] तद्विरोधित्वात्[3]। अथ तिरोभावः, तन्न, स्वपरप्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यनुपपत्तेः। अतः सुषुप्ताद्यवस्थायाम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः अभाव एव ज्यायानिति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[4]–'किञ्चिदप्यपरिच्छिन्दन्नेव हि' इत्यादि, तदसमीचीनम्, सुषुप्ताद्यवस्थायां[1] स्वापादिसंवेदनस्य तत्सुखसंवेदनस्य[2] च सद्भावात्। तत्र[3] हि ज्ञानानभ्युपगमे 'सुखमहमस्वाप्सम्'[4][5] इति सुप्तोत्थितस्य स्वापसुखस्मरणस्य 'एतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोऽहम् एतावत्कालञ्च सान्तरम्'[6] इति स्वार्थस्मरणस्य चाभावानुषङ्गात्, तस्य[7] ज्ञातवस्तुविषयत्वेन स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावित्वात्। यत्[5] स्मरणं तत् स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावि यथा घटादिस्मरणम्, स्मरणञ्च सुप्तोत्थितस्य स्वापसुखादिसंवेदनमिति। अस्य स्वविषयज्ञानान्तरमन्तरेणाप्याविर्भावे घटादिस्मरणस्यापि तदन्तरेणाविर्भावः स्यात्, अतः कुतस्तदनुभवादिरपि सिद्ध्येत्? ततः सुषुप्ताद्यवस्थायां येनानुभवेन स्वापसुखादिस्मरणमाविर्भाव्यते स तद्विषयोऽभ्युपगन्तव्यः।

सुषुप्ताद्यवस्थास्वपि ज्ञानसद्भावप्रसाधनम्

एतेन मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि ज्ञानसद्भावः प्रसाधितः, तदवस्थायाः प्रच्युतस्य 'तदा मया न किञ्चिदनुभूतम्' इति स्मरणनिर्बन्धनेन[6] येनानुभवेन सता आत्मा निखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽनुभवोऽभ्युपगन्तव्यः, तमन्तरेण तत्स्मरणानुपपत्तेः। नच[7] सुषुप्ताद्यवस्थायां स्वापसुखस्य तत्संवेदनस्य वा 'इदमित्थम्'

विनाश, न विज्ञानस्य सत्त्व विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्। अथ तिरोभाव, न; विज्ञानस्य सत्त्वेन तत्सत्त्वैव सवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्ते।"–प्रश० व्यो० पृ० २० ड।

(१) निद्रया। (२) नाशस्य। (३) सद्भावविरोधित्वात्। (४) पृ० ८४७ प० १८। (५) "ततश्च सुषुप्तावनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपाज्ञानञ्चेति त्रयमप्युत्थितेन परामृश्यते सुखमहमस्वाप्स न किञ्चिदवेदिषमिति।"–विवरणप्र० पृ० ६०। (६) "अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थनिरूपणम–एतावत्काल निरन्तरसुप्तोऽहमेतावत्काल सान्तरमित्यनुस्मरणप्रतीते।"–प्रमेयक० पृ० ३२३। (७) स्मरणस्य। (८) अनुभवात्मक। (९) तुलना–"सुप्तमूर्च्छाद्यवस्थासु चेतो नेति च ते कुत.। निश्चयो वेदनाभावादिति चेत्स कुतो गत। यदीत्थ भवतस्तासु निश्चय सप्रवर्तते। न वेद्मि चित्तमित्येव सति सिद्धा सचित्तता॥ यदि च तासु मूर्च्छाद्यवस्थासु न वेद्म्यह चित्तमित्येव निश्चय प्रवर्तते भवत, तदा तेनैव तथा प्रवृत्तेन निश्चयेन सचित्तता सिद्धा।"–तत्त्वस०, पं० पृ० ५४०। प्रमेयक० पृ० ३२३। "स्वप्नमूर्च्छाद्यवस्थासु चित्त च यदि नेष्यते। मृति स्यात्तत्र चोत्पत्तौ मरणाभाव एव वा।"–तत्त्वस० पृ० ५४१। (१०) निखिलानुभवविकलस्य आत्मन स्मरणानुपपत्ते। (११) तुलना–"स्यान्मत यदि विज्ञानं दशास्वास्वस्ति तत्कथम्। न स्मृति प्रतिबुद्धादे तदाकारा भवेदिति॥ तदकारणमत्यर्थं पाटवादेरसम्भवात्। स्मरण न प्रवर्तेत सद्योजातादिचित्तवत्॥–यदि ह्यनुभूत इत्येतावन्मात्रेणैव स्मरण स्यात्स्यादेतत्, यावता सत्यप्यनुभवे पाटवाभ्यासार्थित्वादिवैकल्यात् स्मरण न भवति, यथा सद्योजाताद्यवस्थायामनुभूतस्यापि चित्तस्य।"–तत्त्वस०, प० पृ० ५४०। प्रमेयक० पृ० ३२५।

1 स्वप्नादिस–श्र०। 2 तत्सुखसवेदनस्य' नास्ति श्र०। 3 तत्र विज्ञाना–श्र०। 4–मस्वापम् ब०। 5 यत् स्वसंस्मरण ब०। 6–निबन्धनो येना–आ०, ब०। 7 ननु सुषुप्ता–श्र०, न च सुप्ता–आ०।

इति निरूपणाभावादभावः इत्यभिधातव्यम्; तदहर्जातबालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनितसुखेन तत्संवेदनेन चाऽनेकान्तात्। न खलु तत्[1]तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते, अथ च अस्ति। नच दुःखाभावात् सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौणः, अभावस्य प्रति[१]योगिभावान्तरस्वभावतया अभावविचारावसरे व्यवस्थापितत्वात्।

यदप्युक्त[२]म्–'तत्र ज्ञानसद्भावे' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; तत्र ज्ञानसद्भावेऽपि जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदोपपत्तेः। यत्र[३] हि अनभिभूतं बाह्याध्यात्मिकाऽर्थविचारचतुरं ज्ञानं सा जाग्रदवस्था, यत्र तु निद्राद्यभिभववशात्तद्विपरीतं सा सुषुप्ताद्यवस्था।

यदपि–'कोऽयं निद्रादिना ज्ञानस्याभिभवः' इत्याद्युक्त[४]म्; तत्रास्य तद्वशाद् बाह्याध्यात्मिकार्थविचारविधुरत्वमेवाऽभिभवः। स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्तस्य[५] कथं तद्विधुरत्वम्? इत्यप्यनुपपन्नम्; गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनेन व्यभिचारात्, तस्य तत्स्वभावत्वेऽपि तन्निरूपणासामर्थ्यप्रतीतेः। नहि [६]तत्स्वभावत्वमात्रेणैव ज्ञानस्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्; सर्वत्राऽनभिभूतस्यैवास्य[७] तन्निरूपणसामर्थ्यसंभवात्। यथा च गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनम् अन्यमनस्कतयाऽभिभूतम् तथा [2]स्वप्नादिसंवेदनं निद्रादिना इति युक्तमुत्पश्यामः। [८]कथञ्चैवंवादिनो मणिमन्त्रादिना अग्न्यादेः शरावादिना च प्रदीपादेः प्रतिबन्धः सिद्ध्येत्? नहि [९]तेन[3] तस्य[१०] नाशः[4] प्रतिबन्धः संभवति; प्रत्यक्षविरोधात्। नापि तिरोभावः, स्वकार्य[5]जननसमर्थस्यास्य तिरोभावस्याप्यसंभवात्। प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्यप्रतिबन्धाभ्युपगमः [११]अन्यत्रापि समानः।

किञ्च, [१२]सुषुप्ताद्यवस्थायां ज्ञानाभावं स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा? यदि स एव; किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञानान्तराद्वा? न तावत्तत एव; अस्याऽसत्त्वात्। यदसन्न तत् कस्यचित्प्रतिपत्तिहेतुः

---

(१) प्रतियोगिन. सकाशात् यद्भिन्नं भावान्तर भूतलादि तत्स्वभावतया। (२) पृ० ८४७ प० १९।(३) "मिद्धादिसामग्रीविशेषाद्, विशिष्टं सुषुप्ताद्यवस्थाया गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानतुल्य बाह्याध्यात्मिकपदार्थानेकधर्मग्रहणविमुख ज्ञानमस्ति अन्यथा जाग्रत्प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति।"–सन्मति० टी० पृ० १६३। प्रमेयक० पृ० ३२३। (४) पृ० ८४० पं० १। (५)ज्ञानस्य। (६) स्वपरप्रकाशनस्वभावत्वमात्रेण (७) ज्ञानस्य। (८) तुलना–"मणिमन्त्रादिना अग्न्यादिप्रतिबन्धे शरावादिना प्रदीपादिप्रतिबन्धेऽपि च समानत्वात्।"–प्रमेयक० पृ० ३२२। (९) मन्त्रादिना शरावादिना वा। (१०) अग्न्यादे प्रदीपस्य वा। (११) निद्रया ज्ञानस्याभिभवेऽपि। (१२) तुलना–"तदवस्थाया विज्ञानाभावग्राहकप्रमाणासभवात्। नथाहि–न तावत्सुप्त एव तदवस्थाया विज्ञानाभाव वेत्ति, तदा विज्ञानानभ्युपगमात्। तदवगमे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तदवस्थाया तदभाव। नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभाव वेत्ति, कारणव्यापकस्वभावानुपलब्धीना विरुद्धविधेर्वाऽत्र विषयेऽव्यापारात्, अन्यस्य तदभावावभासकत्वायोगात्।"–सन्मति० टी० पृ० ९०। प्रमेयक० पृ० ३२३।

---

1 तत्र तेन श्र०। 2 सुषुप्तादिसंवेदनं श्र०। 3 वेदनतस्य श्र०। 4 नाशः सभ–व०। 5 स्वकायजनन–व०।

यथा वन्ध्यास्तन्धयः, असच्च सुषुप्ताद्यवस्थायामभिप्रेतं भवद्भिः ज्ञानमिति। नापि तदभावात्, परिच्छेदकत्वस्य ज्ञानधर्मतया तद्[१]भावे संभवाभावात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव 'अभाव' इति नामकृतं स्यात्।

तदनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविनः, अन्यकालभाविनो वा तत्र[२] तद्[३]भावप्रतिपत्तिः स्यात् ? प्रथमपक्षे कथं तत्र सर्वथा ज्ञानाभावः ? तदभावग्राहिणोऽनुपलम्भज्ञानस्य तत्र विद्यमानत्वात्। नापि अन्यकालभाविनः, तस्य तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वायोगात्[1]। नहि अन्यकालोऽनुपलम्भोऽन्यका[2]लस्याभावस्य प्रतिपत्तिहेतुः अतिप्रसङ्गात्। अनुपलम्भश्च उपलम्भाभावः, अभावश्च आश्रयग्रहण-प्रतियोगिस्मरणसापेक्षः ग्रहीतुं शक्यः, तत्परतन्त्रतया तद्ग्रहणस्मरणाभावे ग्रहीतुमशक्यत्वात्। अतः अनुपलम्भं तत्रेच्छता तदाश्रयतया तत्र प्रथममात्मा परिच्छेत्तव्यः प्रतियोगी च स्मर्त्तव्यः, अतः कथं सुषुप्ताद्यवस्थायां [४]सर्वथा ज्ञानाभावः सिद्ध्येत् ? तन्न अनुपलम्भतोऽपि तत्र तदभावसिद्धिः।

नापि जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञानान्तरात्, तदपेक्षया सुषुप्तादिज्ञानस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वासंभवात्, तद्दशाभाविनः तदभावग्राहिणः कस्यचिज्ज्ञानान्तरस्याऽप्रतीतेश्च। 'निर्[3]भरसुप्तेन मया[4] न किञ्चिज्ज्ञातम्' इति प्रबोधदशाभाविज्ञानं तदभावग्राहकत्वेन प्रतीयते एव, इत्यप्यपेशलम्; एतस्मात् तदा तत्[5]सद्भावस्यैव प्रतीतेः। स्मृतिरूपं हि इदम्, 'स्मृतिश्च तद्[५]दशायां तद्[६]भावग्राहिज्ञानान्तरमन्तरेण नोपपद्यते' इत्युक्तमनन्तरमेव, तन्न सुषुप्ताद्यवस्थायां स एवात्मा ज्ञानाभावं प्रतिपत्तु समर्थः।

नापि पार्श्वस्थः; कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धेः विरुद्धविधेर्वा तदभावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य अत्रासंभवात्। न च तत्र तत्सद्भावाऽविनाभाविनोऽप्यस्या[७]ऽसंभवः समान इत्यभिधातव्यम्, [८]स्वात्मनि तद्[९]विनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेः तत्सद्भावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य अत्रोपलब्धेः, जाग्रद्दशायामपि अन्यचेतोवृत्तेः तद्[१०]व्यतिरेकेण अन्यतोऽप्रतिपत्तेः।

[११]ननु द्विविधोऽत्र प्राणादिः-चैतन्यप्रभवः, प्राणादिप्रभवश्च। तत्र चैतन्यप्रभवो

(१) ज्ञानाभावे। (२) सुषुप्ताद्यवस्थायाम्। (३) ज्ञानाभाव। (४) आश्रयभूतस्य आत्मनो ज्ञानमथ च ज्ञानाभावस्य प्रतियोगिनो ज्ञानस्य स्मरणमस्त्येवेति भावः। (५) सुषुप्तिदशायाम्। (६) ज्ञानाभाव। (७) लिङ्गस्य। (८) तुलना-"स्वात्मनि स्वसंविदितविज्ञानाविनाभूतत्वेन निश्चितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेः तदवस्थायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सद्भावेन अनुमानप्रतीत्युत्पत्तेः।"-सन्मति० टी० पृ० ९०। प्रमेयक० पृ० ३२४। (९) ज्ञानाविनाभावित्वेन। (१०) प्राणापानशरीरोष्णतादिभ्य एव ज्ञान प्रतीयत इत्यर्थः। (११) "ननु द्विविधोऽत्र प्राणादिः चैतन्यप्रभवो जाग्रद्दशायाम्, प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति।"-प्रमेयक० पृ० ३२४।

1 तत्प्रतिहेतुत्वा-आ०, ब०। 2-कालस्य भावस्य आ०। 3 निर्भरस्वप्नेन मया न कि-ब०, आ०। 4 मया किञ्चिज्ज्ञानम् श्र०। 5 तद्भावस्यैव श्र०।

जाग्रद्दशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति । तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद्दशायां चैतन्यानुमानं युक्तम् न पुनः प्राणादिप्राणादेः । न खलु गोपालघटिकादौ धूमप्रभवधूमादग्न्यनुमानं दृष्टम् अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्; इत्यप्यचारु; सुषुप्तेतरावस्थयोः प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीतेः । [1]यथैव हि सुषुप्तः प्राणिति तथैव इतरोऽपि, अन्यथा 'किमयं [1]सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवाः न स्युः तर्हि जाग्रतः परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनाऽवस्थितस्य [2]तादृशामेव तेषां संभवो न स्यात् । नहि अग्नेर्जायमानो धूमः प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते, धूमप्रभवो वाऽग्नेः इति । दृश्यन्ते च यादृशा [2]एव सुषुप्तस्य प्राणादयः तादृशा एव अस्यापि । तन्नैते भिन्नकारणप्रभवाः । चैतन्येतरप्रभवांश्च प्राणादीन् विवेचयन् वीतरागेतरप्रभवान् व्यापारादीनपि [3]विवेचयतु । तथा च "*सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागवत् अतो वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्यः*" [ ] [3]इति विप्लवते ।

[4]सुषुप्तादौ च प्रथमः प्राणादिः कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणो जाग्रत्प्राणादेः इति चेत्, न; [4]एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानात् अनन्तर[5]भावी प्राणादिः कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानम् इत्यस्याऽसम्भाव्यमानत्वात् । नहि एकस्मात् सामग्रीविशेषात् क्रमभाविकार्य[6]द्वयसंभवो युक्तः; अन्यथा नित्यादप्यक्रमात् क्रमवत्कार्यद्वयोत्पत्तिः स्यात् । तथा च "*नाक्रमात् क्रमिणो भावाः*" [प्रमाणवा० १।४५] [5]इत्यस्य विरोधः । तस्मात् सुषुप्तावस्थाभाविन एव ज्ञानात् तत्कालभाविप्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्यः, अतः कथं तत्र ज्ञानाभाव[7]सिद्धिः ? ततो ज्ञानस्य कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात् सिद्धोऽनवच्छिन्नो ज्ञानसन्तानः, तस्य च मुक्तिकारणानुष्ठानात् प्रतिबन्धककर्मप्रक्षये अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभो मोक्ष इति ।

तथा च घातिकर्मप्रक्षये समुत्पन्नकेवलज्ञानादेर्भगवतो मुक्तिर्यैरभिप्रेता [6]तैः जीवन्मुक्तये दत्तो जलाञ्जलिः अनन्तचतुष्टयासंभवात् । कवलाहारो हि क्षुद्वेदनोदये गृह्यते, तदुदये च क्षुद्दुःखसंभवात् भगवतः [8]कथमनन्तं सौख्यम् ? यतोऽनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणा जीवन्मुक्तिः स्यात् । न च [7]तत्र भुक्त्यावेद[9]कं किञ्चित्प्रमाणमस्ति ॥छ॥

(१) "यथैव हि सुषुप्तः प्राणिति तथेतरोऽपि, अन्यथा 'किमय सुपुप्तः किंवा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्यु' किन्तु प्राणादिप्रभवा , तर्हि जाग्रतः परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशामेव तेषा भावो न स्यात् ।"–प्रमेयक० पृ० ३२४। (२) प्राणप्रभवाणामेव प्राणादीनाम् । (३) द्रष्टव्यम्–पृ०६०३ टि० १। (४) "एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानादनन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासभाव्यमानत्वात् ।"–प्रमेयक०पृ०३२५। (५) द्रष्टव्यम्–पृ० ६११ टि० १० । (६) श्वेताम्बरैः यापनीयैश्च । (७) केवलिनि ।

1 सुप्तः आ० । 2 एव सुप्तस्य ब० । 3 विवेचयेत् श्र० । 4 सुप्तादौ च आ० । 5–भाविप्राणादेः का–श्र० । 6–द्वयस्य संभ–ब० । 7–सिद्धेः श्र० । 8 कथमनन्तसौख्यं आ० । 9–कं कञ्चित् ब० ।

'केवलिनः कवलाहारिणः' इति श्वेताम्बराणां यापनीयशाकटायनस्य च पूर्वपक्षः –

नन्विदमस्ति–यदा भुक्तिः अविकल[1]कारणा तदाऽसौ भवत्येव यथा छद्मस्थावस्थायाम्, तथाभूता चासौ [1]संयोगिकेवल्यवस्थायामिति । [2]द्विविधं हि भुक्तेः कारणम्§–बाह्यम् आभ्यन्तरञ्च । तत्र बाह्यम्–आहारादि, तत्तावदविकलमास्ते न तत्र विप्रतिपत्तिः । आभ्यन्तरमपि पर्याप्ति-वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयलक्षणं§ भगवति अविकलमेव । यतो हि शरीरेन्द्रियादिनिष्पत्तिः सा पर्याप्तिः । वेद्यं सुखदुःखसाधकं कर्म । तैजसम् अन्तस्तेजः शरीरोष्मा, यतो भुक्ताऽन्नादिपाको भवति इति । दीर्घमायुः चिरजीवनकारणं कर्म । एतदुदयात् क्षुद्वेदना उपजायते, अस्ति च तदुदयो भगवति अतो भुक्तिसिद्धिः। तदनभ्युपगमे वा तत्र क्षुदभावः प्रमाणात् प्रतिपत्तव्यः । तच्च प्रमाणम्–आगमः, अन्यद्वा स्यात् ? न तावदागमः, सिद्धवत् सयोगकेवलिनि क्षुदभावप्रतिपादकस्य आगमस्याऽसंभवात्

प्रमाणान्तराच्च निषेधः स्वभावानुपलम्भात्, अन्यतो वा स्यात् ? न तावत् स्वभावानुपलम्भात्; केवलिनो विप्रकृष्टस्वभावत्वात् । नच विप्रकृष्टस्वभावे भावे[2] स्वभावानुपलम्भो युक्तः, एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भलक्षणत्वात्तस्य । अन्यतोऽपि विधीयमानात्, निषिध्यमानाद्वा तन्निषेधः स्यात् ? यदि विधीयमानात्, तदा तेन विरोधिना भवितव्यम्[3], अविरुद्धविधेरभावाऽसाधकत्वात् । न च क्षुद्विरोधि केवलिनि किञ्चित् प्रतीयते । न च [3]ज्ञानादिगुणा एव तत्र तद्विरोधिनः इत्यभिधातव्यम्, यतो ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः, तद्विशेषस्य वा ? यदि ज्ञानादिमात्रस्य, तर्हि यथा यथा तद्गुणा विवर्द्धन्ते तथा तथा क्षुधो हानितारतम्येन भवितव्यम् प्रकाशविवृद्धाविव तमसः, न चैवमस्ति । नहि बालादौ ज्ञानाद्यपचये[4] क्षुदुपचयः, ततः प्रभृति च ज्ञानाद्युपचये तारतम्येन क्षुदपचयो लक्ष्यते । तन्न ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः । अथ ये

(१) "अस्ति च केवलिभुक्ति. समग्रहेतुर्यथा पुरा भुक्ते । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो हेतु ॥ नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्त विरोधिनो न गुणा । ज्ञानादयो जिने किं सा ससारस्थितिर्नास्ति ।"–केवलिभु० श्लो० १–२। सन्मति० टी० पृ० ६१२। स्या० र० पृ० ४७४। आध्यात्मिक० पृ० ६३ B । "अस्ति केवलिनो भुक्ति समग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चेय प्रक्षेपाहारस्य, तद्यथा पर्याप्तत्व वेदनीयोदय आहारपक्तिनिमित्त तैजसशरीर दीर्घायुष्कत्व चेति ।"–सूत्रकृ० शी० पृ० ३४५। युक्तिप्र० पृ० १५३। (२) "यत कवलाहारभुक्तेर्द्विधा कारण बाह्यमाभ्यन्तर च । तत्र बाह्यमशनादि, तत्तावदस्त्येव न तत्र कस्यापि विवाद । आभ्यन्तर पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्ट्वोदयलक्षणम् ।"–स्या० र० पृ० ४७५। (३) "तम इव भासो वृद्धौ ज्ञानादीना न तारतम्येन । क्षुध् हीयतेऽत्र न च तज्ज्ञानादीना विरोधगति ॥ अविकलकारणभावे तदन्यभावे भवेदभावेन । इदमस्य विरोधीति ज्ञाने न तदस्ति केवलिनि ।"–केवलिभु० श्लो० ३–४। स्या० र० पृ० ४७३। "न कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्व कवलाहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात् ।"–प्रमाणनय० २।२७।

1 सयोगिकेव–ब० । § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 2 'भावे' नास्ति श्र० । 3–तव्यमविधेरभा–आ० । 4 ज्ञानापचये ब० ।

केवलिगता ज्ञानादयः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ताः तेषामेव क्षुधा विरोधः; तन्न; तथाप्रतिपत्तुमशक्तेः। नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इति अर्वाग्दशा प्रतिपत्तुं शक्यम्; अतीन्द्रियत्वात्तेषाम्।

किञ्च, [1]अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगति[2]र्भवति शीतस्पर्शस्येव अग्निसन्निधौ। [1]एतच्चात्र दुर्घटम्–केवलिगुणानामतीन्द्रियतया 'एतत्सन्निधौ क्षुन्न [2]भवति' इति प्रतीतेरनुपपत्तेः। तन्न विधीयमानात् कुतश्चित् तत्र क्षुधोऽभावसिद्धिः।

नि[3]षिध्यमानश्च भावः त[4]स्याः कार्यम्, कारणम्, व्यापको वा स्यात्? [5]यदि कार्यम्; [3]तदात्मनिर्वर्त्तनसमर्थाऽविकलकारणस्यैव तत् निवृत्तिमवगमयेत् न कारणमात्रस्य, [6]अस्य कार्याभा[4]वेऽपि भावाविरोधात्। कारणमपि निवर्त्तमानं कार्यं निवर्त्तयति यथा वह्निर्धूमम्, व्यापकं वा निवर्त्तमानं व्याप्यम् यथा वृक्षः शिंशापाम्। न चात्र क्षुधः कारणस्य व्यापकस्य वा कस्यचिन्निवृत्तिरस्ति। नच मोहनीयादिकर्मचतुष्टयाऽभावात् क्षुधोऽभावः; तस्याः तत्कार्यत्वस्य तत्स्वभावत्वस्य वाऽसंभवात्। नहि क्षुत् त[7]त्कर्मचतुष्टयकार्या; प्राक्प्रतिपादितबाह्याभ्यन्तरकारणप्रभवत्वात्तस्याः। [8]प्रतिपक्षभावनाऽनिवर्त्यत्वेन मोहस्वभावत्वाऽसंभवाच्च; यो हि मोहस्वभावः स प्रतिपक्षभावनया नि[5]वर्त्यते यथा क्षमादिभावनया क्रोधादिः, मोहस्वभावा च क्षुद् भवद्भिरिष्टा इति। तथा च क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे प्रतिपक्षभावनैव उपदिश्येत न क्लेशभूयिष्ठध्यानाध्ययनविघातकारिणी पिण्डैषणा। [9]शीतोष्णबाधातुल्यत्वाच्च क्षुधो न मोहस्वभावत्वम्, अन्यथा तद्बा-

(१) "अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगति।"–न्यायवि० पृ० ९६। (२) विरोधज्ञानम्। (३) "निषिद्धमानश्च भावस्तस्या कार्यं कारण व्यापको वा स्यात्।"–स्या० र० पृ० ४७३। "किमेव सति कवलाहारस्य व्यापक कारण कार्यं सहचरादि वा सार्वज्ञ्येन विरोधमधिवसेत्।"–रत्नाकराव० २।२७। आध्यात्मिक० श्लो० ५। (४) क्षुध। (५) "यदि कार्यम्; तदा तन्निवर्तमानम् आत्मनिर्वर्तनसमर्थाया एव क्षुधो निवृत्तिमवगमयेन्न तु सर्वथा, कारणमात्रस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात्।"–स्या० र० पृ० ४७३। (६) कारणमात्रस्य अनुकूलात्मन। (७) "ज्ञानावरणीयादेर्ज्ञानावरणादिकर्मण कार्यम्। क्षुत् तद्विलक्षणास्या न तस्य सहकारिभावोऽपि॥"–केवलिभु० श्लो० १०। "न हि क्षुन्मोहनीयकार्या वेदनीयप्रभवत्वात्।"–स्या० र० पृ० ४७३। (८) "न क्षुद् विमोहपाको यत्प्रतिसख्यानभावननिवर्त्या। न भवति, विमोहपाक. सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्य॥"–केवलिभु० श्लो० ७। स्या० र० पृ० ४७४। शास्त्रवा० टी० पृ० ३९३ B.। आध्यात्मिक० पृ० ५९ B। "यतो मोहविपाका क्षुन्न भवति तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिसख्यानेन निवर्त्यमानत्वात्। तथाहि कषाया प्रतिकूलभावनया निवर्तन्ते क्षुद्वेदनीय तु रोगशीतोष्मादिवत् जीवपुद्गलविपाकितया न प्रतीपवासनामात्रेण निवर्तते अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति"–सूत्रकृ० शी० पृ० ३४६ A.। युक्तिप्र० पृ० १५०। (९) "शीतोष्णवाततुल्या क्षुत्तत् तत्प्रतिविधानकाङ्क्षा तु। मूढस्य भवति मोहात् तथा भृशं बाध्यमानस्य। शीतोष्णक्षुदुदन्यादयो हि ननु वेदनीय इति।"–केवलिभु० श्लो० ८,१३। स्या० र० पृ० ४७४।

1–यत्वात्सन्निधौ ब०। 2 भगवतीति आ०। 3 तदात्मनिवर्त्तनसमर्थाविकल–श्र०। 4–भावे भावा–ब०। 5 निर्वर्त्यते ब०।

धाया अपि मोहस्वभावत्वं स्यादविशेषात् ।

ननु भगवतः क्षुदभ्युपगमे अशेषज्ञत्वादिविरोधः, क्षुदुदये अस्मदादिवत्तत्र ज्ञानदर्शनचेष्टादेः प्रक्षयात्, तदसमीचीनम्, ज्ञानावरणादिप्रक्षये जातायामपि क्षुधि [1]ज्ञानादिक्षयाऽयोगात्, तत्क्षयो हि ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनः । अतः अस्मदादौ [2]तदुदयातिशयात्[1] [3]तत्क्षयातिशयो युक्तः भगव[2]ति तु तदावरणादेरशेषस्यापगमात् सत्यामपि क्षुधि न ज्ञानादिक्षयः । नहि अग्न्यभावे सत्यपीन्धने धूमो भवति । [4]तत्कर्म[3]चतुष्टयप्रभवत्वे च क्षुधः *"एकादश जिने क्षुत्पिपासादयः परीषहाः वेदनीयप्रभवाः"* [ ] [4]इत्यागमविरोधः । [5]नच उत्कर्षेण देशोनपूर्व[5]कोटिं विहरतः सयोगकेवलिनः तावत्कालं कायस्थितिः भुक्तिं विना [6]घटते । अथ अनन्तवीर्यत्वात् [6]तां विनाप्यस्य तत्स्थितिः; तर्हि [7]आयुष्कर्मणापि विना तत्स्थितिप्रसङ्गात् न कदाचित् शरीराद्यपायः स्यात् इति मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तत्स्थितेः आयुष्कर्मापेक्षणे वा आहारापेक्षणमप्यस्तु उभयस्यापि तत्कारणत्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, [8]प्रदीपज्वालाजलधारासमानं शरीरम्, [7]तत्र च यथा तैलक्षये न प्रदीपज्वालाऽवतिष्ठते जलागमनमन्तरेण वा जलधारा तथा शरीरमपि [8]भुक्त्यभावे न स्थिति[9]मास्तिघ्नुते ।

[9]अथ [10]भुक्तिर्दोषः, यदुपवासादिप्रत्याख्यानं क्रियते, निर्दोषे च केवलिनि दोषो विरुद्धः; तर्हि निषद्या गमनञ्च अर्हति न प्राप्नोति स्थानयोगादिना निषद्यादेः प्रत्याख्यानात्, वचनञ्च न प्राप्नोति मौनव्रतिकोपलम्भात् ।

अथ मतम्–[10]अशेषज्ञस्य मांसादिकं पश्यतः कथं भुक्तिः अन्तरायोपपत्तेः ? तद-

(१) "अनन्तं च सुखं भर्तुः ज्ञानादिगुणसंगतम् । क्षुधादयो न बाधन्ते पूर्णं त्वस्ति महोदये ॥" –द्वात्रिं० ३०।११ । जैनतर्कभा० पृ० ८ । (२) ज्ञानावरणोदयात् । (३) ज्ञानक्षयातिशयः । (४) "निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादश परीषहाः सन्ति अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः ।"–सर्वार्थसि० ९।११ । (५) "देशोनपूर्वकोटीविहरणमेवं सतीह केवलिनः । सूत्रोक्तमुपापादि न मुक्तिश्च न नियतकाला स्यात् ।"–केवलिभु० श्लो० २४ । सन्मति० टी० पृ० ६१३ । सूत्रकृ० शी० पृ० ३४६ B । स्या० र० पृ० ४८० । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९५ A । (६) भुक्तिम् । (७) "आयुरिवाभ्यवहारो जीवनहेतुर्विनाभ्यवहृते । चेत्तिष्ठत्वनन्तवीर्ये विनायुषा कालमपि तिष्ठेत् ॥ न ज्ञानवदुपयोगो वीर्ये कर्मक्षयेण लब्धिस्तु । तत्रायुरिवाहारोऽपेक्ष्येत न तत्र बाधास्ति ॥"–केवलिभु० श्लो० २०–२१ । स्या० र० पृ० ४८० । (८) "तैलक्षये न दीपो न जलागममन्तरेण जलधारा । तिष्ठति यथा तनो स्थितिरपि न विनाहारयोगेन ॥"–केवलिभु० श्लो० ३१ । स्या० र० पृ० ४८० । (९) "भुक्तिर्दोषो यदुपोष्यते न दोषश्च भवति निर्दोषे । इति निगदितो निषद्यार्हति न स्थानयोगादेः ॥"–केवलिभु० श्लो० २८ । स्या० र० पृ० ४८० । (१०) "परमावधेर्युक्तस्य छद्मस्थस्येव नान्तरायोऽपि । सर्वार्थदर्शनेऽपि स्यान्न चान्यथा पूर्वमपि भुक्तिः ॥"–केवलिभु० श्लो० ३२ । स्या० र० पृ० ४८० ।

1–यात्तत्क्षयाति–ब० । 2–वति तदा–श्र० । 3 कर्मचतु–ब० । 4 इत्याद्यागम–ब० । 5–पूर्वकोटिविह–ब० । 6 घटेत् ब० । 7 तत्र यथा आ० । 8 भुक्ताभावे आ० । 9–मास्तिष्ठते ब० । 10 भुक्तिदोषा यदु–आ० ।

सङ्गतम्; अवधिज्ञानिभिः पैरमर्षिभिरनेकान्तात्, ते हि सकलं त्रैलोक्यं पश्यन्ति अथ च भुञ्जते, एवं केवल्यपि। इन्द्रियविषये एव हि अन्तरायो नान्यत्र, अन्यथा छद्मस्थावस्थायामप्यन्तरायः स्यात्, भगवता तदापि अवधिज्ञानेन अशेषवस्तुसाक्षात्करणात्।

न च[1] भुक्तौ जिह्वारसप्राप्तेः केवलिनो मतिज्ञानानुषङ्गः; यतो न इन्द्रियविषयसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति। किं तर्हि? तत्सम्बन्धे मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे च सति। एतच्च प्रक्षीणाशेषावरणे केवलिनि नास्ति इति न तज्ज्ञानानुषङ्गः, अन्यथा श्रोत्रादीन्द्रियाणां दिव्यतूर्यादिरवेण गणधरदेवादिरूपेण सुगन्धिकुसुमधूंपवासादिगन्धेन मरुत्सिंहासनस्पर्शेन सम्बन्धेऽपि मतिज्ञानमनुषज्येत।

स[2] च भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते, शेषं दिनं तु दिव्यस्थाने देवच्छन्दकाभिधाने गणधरदेवान्विहाय अन्यमनुष्यतिरश्चामगोचरे ईशानदिशायां समवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवर्त्तिनि गत्वा पल्यङ्के आसने वा यथा सुखमास्ते। तत्र[3] च गणधरदेवैरानीतमाहारं सकलदोषशुद्धं ज्ञात्वा क्षुद्वेदनोदये गृह्णाति। ते च 'आहारं तदीयहस्ते निक्षिप्तं पश्यन्ति, कथमसौ भुङ्क्ते' इत्येतत्तु न पश्यन्ति, मनुष्यतिरश्चां सर्वज्ञाहारनी(नि)हाराणामगोचरत्वात् इति ॥छ॥

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[4]–'आहारवेद्यादिकर्मोदयलक्षणबाह्याभ्यान्तरकारणसद्भावात् क्षुदुदये सति अविकलकारणा भगवतो भुक्तिर्भवत्येव' इत्यादि, तदसमीचीनम्; यतः तत्सद्भावात्तदुदये केवलिनि आहारमात्रं प्रसाध्येत कवलाहारो वा[5]? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्,

कवलाहारनिरसनपुरस्सर केवलिन नोकर्माहारप्रसाधनम्–

(१) "इन्द्रियविषयप्राप्तौ यदभिनिबोधप्रसञ्जन भुक्तौ। तच्छब्दगन्धरूपस्पर्शप्राप्त्या प्रतिव्यूढम् ॥"–केवलिभु० श्लो० ३३। स्या० र० पृ० ४८०। "रासन च मतिज्ञानमाहारेण भवेद्यदि। घ्राणीय स्यात्तदा पुष्पघ्राणतर्पणयोगतः ॥"–द्वात्रिं० ३०।२१। (२)"पूर्वद्वारेण समवसरणे प्रविशत्यथ। प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वसिंहासने निषीदति। पादपीठन्यस्तपाद कृततीर्थनमस्कृतिः। विधत्ते देशना स्वामी गम्भीरमधुरध्वनि।"–काललोक० ३०।३१-३२। (३) "प्राकारस्य द्वितीयस्यान्तरे चोत्तरपूर्वत.। देवच्छन्द विचक्रुस्ते स्वामिविश्रामहेतवे ॥"–त्रिषष्ठि० १।३।४४४, ६७९। "इत्थं बलिविधौ पूर्णे जिना प्रथमवप्रत। अवतीर्य द्वितीयस्य वप्रस्यैशानकोणके। देवच्छदमागत्य सुख तिष्ठन्ति नाकिभि।"–काललोक० ३०।६८-६९। "तथाहि स भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं यावत् धर्मोपदेशकाल एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते, शेष तु दिन देवच्छन्दकनाम्नि दिव्यस्थाने यथासुख गमयति। तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहार निखिलदोषविशुद्ध विज्ञाय क्षुद्वेदनोदये गृह्णाति। आहार च तदीयपाणिपल्लवन्यस्त मासचक्षुष पश्यन्ति, कथमसौ भुङ्क्ते इत्येतत्तु न पश्यन्ति,सर्वज्ञाहारनिहारयोर्मांसचक्षुषामगोचरत्वात्।" –स्या० र० पृ० ४६९। (४) पृ० ८५२ पं० १। (५) "अत्र किमाहारमात्र प्रसाध्यते कवलाहारो वा?"–रत्नक० टी० पृ० ५। प्रमेयक० पृ० ३००।

1 परममहर्षिभिरमहर्षिभिर–ब०। 2–धूमवासादि–ब०। 3 पूर्वाह्ने च पादोन–आ०, ब०। 4 अस्ति ब०। 5 तत्र गणधर–आ०। 6 तद्भावात्त–ब०।

"आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिण." [ ] ई[१]त्यभ्युपगमात् । षड्विधो हि आहारः प्र[२]वचने प्रसिद्धः–

"नोक[1]म्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥" [भावस० गा० ११०]

इत्यभिधानात् । तत्र च कव[३]लाहाराभावेऽपि अन्यस्य कर्म-नोकर्माऽऽदानलक्षणस्य आहारस्य भावात् न आहारित्वं भगवतो विरुद्धम् । न[2] च कवलाहारेणैव आहारित्वं जीवानामित्यभ्युपगमो युक्तः; ए[४]केन्द्रियाण्डजत्रिदशानाम् अभुञ्जानतिर्यङ्मनुष्याणाञ्च अनाहारित्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु त्रिद[५]शादिभिर्व्यभिचारः; तेषां वेद्यादिकर्मोदयात् क्षु[3]दुदये सत्यपि कवलाहाराभावात् । अथात्र[६] तदुदयः त[७]मसाधयन्नपि केवलिनि प्रसाधयति, तदेतत् केवलिनो महन्माहात्म्यम्–य[4]द्विषयविषमग्रहाभिभूतप्राणिषु

(१) "आहारा एइदियप्पहुडि जाव सजोगकेवलित्ति–अत्र कवललेपोष्ममन कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्य ।"–छक्ख, टी० पृ० ४०९। "आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टचादीनि सयोगकेवल्यन्तानि ।"–सर्वार्थसि० १।८। "थावरकायप्पहुदी सजोगिचरमोत्ति होदि आहारी ।"–जीवका० गा० ६९७। (२) "णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ ॥ णोकम्मकम्महारो जीवाण होइ चउग्गइगयाण । कवलाहारो णरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥ पक्खीणुज्जाहारो अडयमज्झेसु वट्टमाणाण । देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो । णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भणिओ । ण हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा ॥"–भावस० गा० ११०–११३। भावस० श्लो० २२६ । उद्धृतेयम्–प्रमेयक० पृ० ३०० । प्रवचनसा० टी० पृ० २८ । रत्नक० टी० टि० पृ० ५। श्वेताम्बरागमेषु त्रिविध आहार प्ररूपित – "भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे । सरीरेणोयाहारो तयाय फासेण लोमआहारो । पक्खेवाहारो पुण कावलियो होइ नायव्वो । ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा । पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वा ।। एगिंदियदेवाण नेरइयाण च नत्थि पक्खेवो । सेसाण पक्खेवो ससारत्थाण जीवाण ॥"–सूत्रकृ० नि० गा० १७०-७३ । बौद्धधर्मसग्रहे पचधा आहारा प्ररूपिता –"पचाहारा ध्यानाहारा कवलीकाहारा प्रत्याहारा स्पर्शाहारा सचेतनिकाहाराश्चेति ।"–धर्मस० पृ० १५। (३) "जरवाहिदुक्खरहिय अहारणिहारवज्जिय विमल । सिंहाण खेलसेओ णत्थि दुगछा य दो सो य ।"–बोधपा० गा० ३७ । "पडिसमय दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिवद्ध । समयपवद्ध वधदि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी ॥"–लब्धिसा० गा० ६१४। "लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणा केवलिना यत शरीरवलाधानहेतवोऽन्यमनुजाऽसाधारणा परमशुभा सूक्ष्मा अनन्ता प्रतिसमय पुद्गला सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभ ।"–सर्वार्थसि० २।४। "नोकर्मकर्मनामानमाहार गृह्णतोऽर्हत । देहस्थितिर्भवत्येतदस्माकमपि सम्मतम् ॥"–भावस० श्लो० २२८। "प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता, आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यभ्युपगमात् ।"–रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० । "ततो नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम् ।"–प्रव० टी० पृ० २९ । (४) "एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहार प्रजायते । आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि । इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका । देहस्थितिर्न वक्तव्या "–भावस० श्लो० २३०-३१ । प्रमेयक० पृ० ३०० । (५) "देवदेहस्थित्या व्यभिचार"–रत्नक० टी० पृ० ५ । (६) देवादिषु । (७) कवलाहारम् ।

1 नोकर्मकर्महारो श्र० । 2 न कव–आ० । 3 यदुदये आ०, व० । 4 यद्विषये विषम–आ० ।

कवलाहारप्रसाधनाऽसमर्थोऽपि तदुदयः[1] तत्र[2] समर्थो भवतीति !

किञ्च, 'तत्र तदुदयः तत्साधनसमर्थः[3]' इत्येतत् कुतः प्रतिपन्नम्–अभ्युपगममात्रात्, प्रमाणतो वा ? यदि अभ्युपगममात्रात्; अतिप्रसङ्गः, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। अथ प्रमाणतः; किमत्र प्रमाणम्–प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा ? प्रत्यक्षञ्चेत्; किम् ऐन्द्रियम्, अतीन्द्रियं वा ? न तावदैन्द्रियम्; तस्य अशेषज्ञाहारनिहाराऽगोचरत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा "*आहारा य निहारा केवलिणो पच्छन्ना*" [ ] इत्यागमविरोधः[4]। 'अतीन्द्रियं तु[1] तत्तत्र[5] प्रवर्त्तते' इत्यत्र कोशपानं विधेयम्।

अथानुमानम्; किमत्र लिङ्गम्–तदुदय एव, मनुष्यत्वम्, देहस्थितित्वं वा ? न तावत्तदुदय एव; अस्य त्रिदशादिभिर्व्यभिचारप्ररूपणात्। नापि मनुष्यत्वम्; अयोगकेवलिना अनेकान्तात्। अथास्य मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् नाऽनेन[2] अनेकान्तः; तर्हि असिद्धो हेतुः, सयोगकेवलिनोऽपि तद्वत्[6] तदतिक्रान्तत्वात्। तदुक्तम्–

"*मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ॥*"

[बृहत्स्व० अनन्त० श्लो० ७५] इति।

नापि देहस्थितित्वम्; तथाहि–'भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थितित्वात्[3] अस्मदादिदेहस्थितिवत्' इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्वं तत्स्थितेः प्रसाध्येत, कवलाहारपूर्वकत्वं वा ? प्रथमपक्षे 'सिद्धसाध्यता' इत्युक्तम्। द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचारः, तेषां कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिसंभवात्। अथ 'औदारिक[7]शरीरस्थितित्वात्' इति विशिष्य उच्यते ततो न व्यभिचारः; तन्न; तदीयौदारिकशरीरस्थितेः परमौदारिक[8]शरीरस्थितिरूपतया अस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात्। तस्याश्च[9] केवल्यवस्थायां केशादि[4]विवृद्ध्यभाववत् तद्भुक्त्यभावोऽविरुद्ध एव।

अथ तद्वृद्ध्यभावो देवोपनीतः[5] न घातिकर्मक्षयजः[6] येन तद्वत् केवल्यवस्थायां तद्भुक्त्यभावोऽप्यापाद्येत, बालोत्पाटनानन्तरं[7] हि इन्द्रो वज्रं नखकेशेषु भगवतो भ्रामयति अतस्तद्वृद्ध्यभाव इति; तदयुक्तम्; वज्रप्रभावतः तेषां मूलतोऽप्युत्थानाभावप्रसङ्गात्, सर्वतीर्थकृतामेकादशकेशादिप्रतीतिप्रसङ्गाच्च, न चैवम्, ऋषभादितीर्थ-

(१) वेद्यादिकर्मोदय.। (२) केवलिनि कवलाहारसाधनसमर्थ। (३) कवलाहारसाधनसमर्थ। (४) "पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मसचक्खुणा।"–समवा० सू० ३४। (५) प्रत्यक्षं अशेषज्ञाहारसाक्षात्करणे। (६) अयोगिवन्मनुष्यप्रकृत्यतिकान्तत्वात्। (७) "एरिसगुणेहि सव्व अइसयवंत सुपरिमलामोय। ओरालियं च कायं णायव्व अरहपुरिसस्स ॥"–बोधप्रा० गा० ३९। "तद् भगवतः शरीरमौदारिक न भवति किन्तु परमौदारिकम्–शुद्धस्फटिकसकाश तेजोमूर्तिमय वपु। जायते क्षीणदोपस्य सप्तधातुविवर्जितम्।"–प्रव० टी० पृ० २८। (८) परमौदारिकशरीरस्थिते। (९) केशादिवृद्ध्यभाव। "अवट्ठिए केसमसुरोमनहे"–समवा० सू० ३४।

1 तु न प्रवर्त्तते ब०। 2 नानेकान्त ब०, न तेनानेकान्त श्र०। 3–कस्थितित्वात् श्र०। 4 केशादिवृद्ध्य–श्र०,ब०। 5 दोषापनीत ब०। 6 घातिक्षयज ब०,श्र०। 7 बालोत्पादानन्तर आ०,श्र०।

कृतां केशकलापस्य गुरुलघुभावेन विलक्षणस्य उपलब्धेः। ततो घातिकर्मक्षयावस्थायां यस्य यावन्तो नखकेशाः तस्य तावन्त एवाऽवतिष्ठन्ते इति। के[1]वल्यवस्थायां घातिक्षयजो यथा तच्छरीरस्थितौ केशादिवृद्ध्यभावलक्ष[2]णोऽतिशयोऽस्ति तथा तद्भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यस्तु अविशेषात्। छद्मस्थावस्थावच्चास्य(१) भु[3]क्त्यभ्युपगमे अक्षिपक्ष्मनिवेशः (मेषः) नखकेशवृद्ध्यादिश्चाभ्युपगम्यताम्। तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावाति[4]शयोऽप्यभ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात्। त(२)पोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादिवच्च अभुक्तिपूर्वकत्वेऽपि शरीरस्थितेर्न कश्चिद्विरोधः। दृश्यते हि पञ्चकृत्वो भुञ्जानस्य यादृशी शरीरस्थितिः तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्व्येकभोजनस्यापि, तथा प्रतिदि[5]न भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येव एकद्व्यादिदिनान्तरित[6]भोजिनोऽपि। श्रूयते च बाहुबलिप्रभृतीनां संवत्सरप्रमिताहारवैकल्येऽपि विशिष्टा शरीरस्थितिः। आयुःकर्मैव हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादिकं तु सहायमात्रम्। तच्छरीरोपचयोऽपि लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं तदुपचयनिमित्तभूतानां दिव्यपरमाणूनां ला(३)भाद् घटते।

ननु मा(४)सं वर्षं वा तदभावे तत्स्थितावपि नाकालं तत्स्थिति[7]ः पुनः तदाहारे प्रवृत्तिप्रतीतेरिति चेत्, कु[8]तः तत्स्थितेः आकालमप्रतीतिः–प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा? यदि प्रत्यक्षतः, सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलाञ्जलिः तद्वत् त[9]तः तदप्रतीतेरप्यविशेषात्। अनुमानात् तत्सिद्धिरन्यत्राप्यविशिष्टा। य(५)थैव हि 'ज्ञानप्रकर्षः दोषावरणापकर्षश्च क्वचित् परमप्रकर्षमापद्यते प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत्' इत्युच्यते, तथा 'एकद्व्यादिदिनान्तरितभोजिनाम् अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षः क्वचित् परमकाष्ठामापद्यते तत्त्वात् तद्वदेव'

(१) केवलिनः। (२) "तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्चास्याभुक्तिपूर्वकत्वे तस्याः को विरोधः?"–प्रमेयक० पृ० ३०२। (३) द्रष्टव्यम्–पृ० ८५६ टि० ३। "लाभान्तरायस्याशेषनिरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः। तस्मादौदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवतीति यद्वचनं तदशिक्षितकृतं विज्ञायते।"–राजवा० २।४। "लाभान्तरायक्षयाल्लाभः परमशुभपुद्गलादानलक्षणः परमौदारिकशरीरस्थितिहेतुः।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१४। प्रमेयक० पृ० ३०२। (४) "मासं वर्षं वापि च तानि शरीराणि तेन भुक्तेन। तिष्ठन्ति न चाकालं नान्यथा पूर्वमपि भुक्तिः॥"–केवलिभु० श्लो० २२। स्या० र० पृ० ४८०। (५) "विपक्षभावनावशाद् रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षसिद्धेः वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किन्न स्यात्? तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथाहि एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुङ्क्ते कदाचित् विपक्षभावनावशात् पुनरेकवारं भुङ्क्ते, कश्चित्पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजनः इति।"–रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०२।

1 केवलाव–ब०, श्र०। 2–णातिश–श्र०। 3 भुक्त्युपगमे ब०। 4–तिशयोऽभ्युप–आ०। 5–दिन भोजनं भुञ्जा–ब०। 6–भोजनोऽपि श्र०। 7–ते श्र०। 8 कुतस्तत्रास्य–आ०। 9 तत तत्प्रती–आ०।

इत्युच्यतामविशेषात्। तन्न शरीरस्थितेरपि भगवतो वेद्याद्युदयात् क्षुदुदयः कवलाहारप्रसाधनसमर्थः प्रत्येतुं शक्यः।

असिद्धञ्च अविकलकारणत्वं भुक्तेः, मोह[१]नीयसहायं हि वेद्यादिकर्म क्षुदादिकार्यकरणेऽविकलसामर्थ्यं भवति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। यथैव हि पतिते सैन्यनायके असामर्थ्यं सैन्यस्य, तथा मोहनीये विनष्टे[1] अघातिकर्मणामिति। यथा च निर्विषीकृत्य मन्त्रिणा उ[2]पयुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादि कर्त्तुं समर्थम् तथा शुक्लध्यानानलनिर्दग्ध[3]मोहोदयं वेद्यादि क्षुधादिकमिति। प्रयोगः–भगवति बुभुक्षा नास्ति, तत्कारणमोहाभावात्, यत्र यत्कारणाभावो न तत्र तत्कार्यम् यथा अनग्निप्रदेशे धूमः, नास्ति च अर्हति मोह इति।

किञ्च, क[२]र्मणामुदयो यद्यनपेक्षः कार्यमुत्पादयेत्, तर्हि त्रिवेदानां कषायाणां वा[4] प्रमत्तादिषु उदयोऽस्ति इति मैथुनं भ्रकुट्यादिकञ्च स्यात्, ततश्च मनसः सङ्क्षोभात् कथं शुक्लध्यानावाप्तिः क्ष[5]पकश्रेण्यारोहणं वा यतः कर्मक्षपणा स्यात्? नन्वेवं नामाद्युदयोऽपि तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्ययुक्तम्; शु[३]भप्रकृतीनां तत्र अप्रतिबद्ध[6]त्वेन स्वकार्यकारित्वोपपत्तेः। यथैव हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोऽपि न स्वदुष्टाचरणविधातारः सु[7]जनास्तु अप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातारः, तथा प्रकृतमपि। कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेव अर्हति प्रतिब[8]द्धं सामर्थ्यं न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत्? उच्यते–अशुभप्रकृतीनामर्हन् अनुभागं घातयति न तु शुभप्रकृतीनाम्, यतो गुणघातिनां दण्डो नाऽदोषाणाम्।

यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातावेदनीयं स्वकार्यकारि स्यात् तर्हि द[9]ण्डकपाटादिविधानं भगवतो व्यर्थम्। त[४]द्धि यदा न्यूनमायुः वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति तदा तेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते। नच अधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म उपायशतेनापि अन्यथा कर्त्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्तः स्यात्। अथ तपोमाहात्म्यात्

(१) "घादिं व वेयणीय मोहस्स वलेण घाददे जीव।"–गो० कर्मका० गा० १९। "मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्।"–रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०३। "यथैव व्रीह्यादिवीज जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहित क्षुधादिकार्यमुत्पादयति।"–प्रव० टी० पृ० २८। (२) "यदि मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरीषह जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु, न च तथा।"–प्रव० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० ३०३। (३) "शुभप्रकृतीना तत्राप्रतिवद्धत्वेन ··"–प्रमेयक० पृ० ३०३। (४) "हन्तेर्गमिक्रियत्वात् सभूयात्मप्रदेशाना च वहिरुद्गमन समुद्धात.। · वेदनीयस्य वहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोनाभोगपूर्वकमायुःसमीकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगवुद्वुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशाना वहिः समुद्घातन केवलिसमुद्घात।"–राजवा० पृ० ५३। "मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमण देहादो होदि समुग्घादणाम तु।"–जीवका० गा० ६६७।

1–ष्टे घातिकर्म–ब०, आ०। 2 उपभुज्यमा–ब०। 3–मोहसहायं आ०, श्र०। 4 च श्र०। 5 क्षपणश्रे–आ०। 6–त्वेन कार्य–ब०। 7 सुजना अप्र–ब०। 8–बद्धसाम–ब०। 9 दण्डप्रतरादिवि–ब०,श्र०।

[1]निर्जीर्णम् अधिकस्थितिकत्वेन फलदानाऽसमर्थम् [2]आयुःकर्मसमानं कर्म क्रियते, तथा वेद्यमपि तद्दानासमर्थं क्रियतामविशेषात्। नच कारणमस्ति इत्येतावतैव कार्योत्पत्तिः, अन्यथा इन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुषङ्गात् भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनाञ्च प्रसङ्गः। अथ आवरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहात् नेन्द्रियादि स्वकार्यं कुर्यात्; [3]अत एव वेदनीयमप्यविशेषात्।

न चेयं बुभुक्षा मो[4]हनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम् येन अत्यन्तप्रक्षीणमोहेऽपि स्यात्, [5]तथाहि–बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्य कार्यन्न भवति इच्छात्वात् रिरंसावत्। [1]भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम्? अन्यथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसापि तत्कार्यं स्यात्, तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रसङ्गात् नेश्वरादस्य विशेषः। यथा च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि। प्रयोगः–भोजनाकाङ्क्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते आकाङ्क्षात्वात् स्त्र्याद्याकाङ्क्षावत्। नन्वस्तु तद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः तदभावे तु [6]प्रवृत्तिः पुनः स्यात्, इत्येतत् स्त्र्याद्याकाङ्क्षायामपि समानम्। यथा चास्याः चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वात् अत्यन्तनिवृत्तिः तथा भोजनाकाङ्क्षाया अपि, यथा च निर्मोहत्वेन स्त्र्याद्याकाङ्क्षा विरुद्धा तथा बुभुक्षापि। तथा च प्रयोगः–न बुभुक्षावान् केवली, तद्विरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतत्वात्, यो यद्विरोधिस्वभावोपेतः नासौ तद्वान् यथा उष्णस्पर्शस्वभावोपेतः कश्चित् प्रदेशः न शीतस्पर्शवान्, क्षुद्विरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतश्च केवलीति।

एतेन इद[2]मपि प्रत्युक्तम्–'प्रतिपक्षभावनातः क्षुधो निवृत्तौ क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे सैव उपदिश्येत न पिण्डैषणा' इत्यादि, चेतसो हि प्रतिपक्षभावनामयत्वसिद्धेः प्राक् पिण्डैषणोपदेशात्, तन्मयत्वसिद्धौ तु कामवेदनानिवृत्तिवत् निःशेषक्षुद्वेदनानिवृत्तिसिद्धेः न किञ्चित् तद्वेदनाप्रतीकारार्थं द्रव्यान्तरैषणया? [7]अथ आकाङ्क्षारूपा क्षुन्न भवति तेन वीतमोहेपि [8]अस्याः संभवः, कथमेवं रिरंसाया अपि [3]अनाकाङ्क्षारूपायाः [4]तत्र संभवो न स्यात्? अथ अनाकाङ्क्षारूपताऽ[5]स्याः प्रतीतिविरुद्धा, तदेतद् बुभुक्षायामपि समानम्। अस्तु वाऽनाकाङ्क्षारूपत्वमस्याः, तथापि दुःखरूपत्वात् [6]अनन्तसुखे भगवत्यसंभवः, यद् दुःखरूपं न तत्तत्र संभवति यथा कामपीडादि, दुःखरूपा च क्षुदिति।

---

(१) "भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा मोहनीयकार्यत्वात् कथ प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् अन्यथा रिरसाया अपि तत्र प्रसगात्।"–रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ०३०४। (२) पृ०८५३ पं०१५। (३) आकाङ्क्षारूपत्वाभावात्। (४) केवलिनि। (५) रिरसाया। (६) "क्षुत्पीडासम्भवे नास्य कथमनन्तसौख्य स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामिताऽस्य।"–रत्नक० टी० पृ० ६। "यदि क्षुधा बाधास्ति तर्हि क्षुधा क्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति, तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति।"–प्रव० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० २९९।

1–निर्जीर्णस्थितिक–आ०। 2 आयु कर्म क्रियते श्र०। 3 तत एव श्र०। 4 मोहनीयनिरपेक्ष–श्र०। 5 तथाहि चाबुभु–श्र०। 6 प्रवृत्ति. स्यात् श्र०। 7 अथ काक्षारूपा आ०। 8 अस्यासभव श्र०, व०।

यत्र हि अनन्तसुखं न तत्र दुःखलेशोऽप्यस्ति यथा सिद्धेषु, अनन्तसुखञ्च अर्हति इति। ननु सकलबाधानिवृत्त्यात्मकं यदनन्तं सुखं तत्राभिप्रेतं तदसिद्धम्, क्षुद्बाधाभ्युपगमात्, सकलकर्मविप्रमुक्तानां सिद्धानामेव हि तथाविधं तदस्ति नाऽर्हताम् तत्र वेदनीयोदयसंभवादिति, तदसत्; तदुदयस्य[1] तत्र तद्बाधाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात्।

किञ्च, अर्हति अनन्तं सुखं सर्वप्रदेशव्यापि अव्याहतमास्ते अप्रादेशिकत्वात्तस्य, सुखदुःखयोरेकत्रैकदा विरोधतोऽसंभवाच्च, तत्कथं क्षुद्दुःखलेशोऽपि तत्र संभाव्यः? अन्यथा अस्मदादिसुखवत् प्रादेशिकमेव[4] तत्सुखं स्यात्। अतः तथाविधं[5][2] सुखं भगवति सन्निधीयमानं स्वविरुद्धं दुःखं निवर्त्तयति यथा अग्निः शीतम्। तन्निवृत्तौ च तद्व्याप्यायाः क्षुधो निवृत्तिः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यावश्यं निवृत्तेः वृक्षनिवृत्तौ शिंशपावत्। प्रयोगः–यत्र[3] यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्र अभ्युदितकारणमपि तद् भवति यथा अत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्दुःखविरोधि बलवत् केवलिनि अनन्तसुखमिति। तथा, यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्यं[4] यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धाऽनिवर्त्य-पित्तविकाराक्रान्ते पुरुषे न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्यसुखञ्च भगवति इति। ततो निराकृतमेतत्[5]–'नहि बालादौ ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचयः' इत्यादि; अनन्तसुखसहभाविनामेव ज्ञानादीनां क्षुद्विरोधित्वव्यवस्थितेः।

यदप्युक्तम्[6]–'नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इत्यर्वाग्दृशा प्रतिपत्तुं शक्यमतीन्द्रियत्वात्तेषाम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अतीन्द्रियत्वात्तेषां तद्विरोधित्वाऽप्रतिपत्तौ सर्वार्थसाक्षात्कारित्वादेरपि अप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। यथैव हि तेषामतीन्द्रियत्वात् 'एतत्सन्निधौ क्षुन्न भवति' इत्यर्वाग्दृशा प्रत्येतुं न शक्यते तथा 'एते सर्वसाक्षात्कारिणः' इत्यपि। अथ अनुमानात्तेषां तत्साक्षात्कारित्वं प्रतीयते, तद्विरोधित्वेन किमपराद्धं येन एषामनुमानात्[7] तन्न[6] प्रतीयेत[7]? प्रतिपादितञ्च क्षुद्विरोधित्वानुमानं[8][8] प्राक् इत्यलमतिप्रसङ्गेन। सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुदभावः, क्षुदभ्युपगमे हि तद्बाधया सर्वज्ञता हीयेत निःशक्तिकत्वञ्च स्यात्। अस्मदादौ हि क्षुत्प्रभवपीडाक्रान्ते ज्ञानादेरभावः सुप्रतीतः 'क्षुत्पीडितोऽहं न किञ्चिज्जानामि, न किञ्चित्पश्यामि, उत्थातुमपि न शक्नोमि' इति प्रतीतेः।

यदप्युक्तम्[9]–'ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिबन्धनः तत्क्षयः' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्;

---

(१) वेदनीयोदयस्य। (२) सर्वप्रदेशव्यापि अनन्तसुखम्। (३) नास्ति केवलिनि क्षुद्दुःख तद्बलवद्विरोध्यनन्तसुखसद्भावात्। "यत्र यद्विरोधि"...–प्रमेयक० पृ० ३०५। (४) केवलिनि वेदनीय स्वकार्यं क्षुद्दुःखं न करोति तत्कार्यविरोध्यनिवर्त्य-अनन्तसुखसद्भावात्। (५) पृ० ८५२ प० २०। (६) पृ० ८५३ पं० २। (७) केवलज्ञानादीनाम्। (८) क्षुद्विरोधित्वम्। (९) पृ० ८५४ प० ४।

---

1 सिद्धेऽनन्त–श्र०। 2 यदत्यन्तं सुखं श्र०, यद्यनन्तं आ०। 3–गमात्कर्मवि–ब०। 4–शिकमिव आ०। 5 तथाविधसुख ब०। 6 यया आ०, ब०। 7 प्रतीयते ब०। 8 क्षुदविरो-आ०, क्षुद्विरत्वानुमा–ब०।

प्रक्षीणाशेषावरणस्य भगवतो ज्ञानादिक्षयाभाववत् प्रक्षीणाशेषमोहस्य क्षुत्पीडालेशस्याप्यनुपपत्तेः। मोहनीयसहायं वेदनीयं क्षुत्करणे प्रभुः' इति प्राक् प्रपञ्चतः समर्थितत्वात्।

"एकादश जिने" [तत्त्वार्थसू० ९।११] इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येकादशपरीषह[1]प्रतिषेधपरः प्रतिपत्तव्यः, 'एकेन अधिका न दश एकादश' इति व्युत्पत्तेः। मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य कार्यभूताः क्षुधाद्येकादशपरीषहाः, तत्सहायस्य च अर्हति अत्यन्तप्रक्षयात् न वेदनीयोदयोदयमात्रात् त[1]त्र ते सन्ति, अन्यथा रोगादिपरीषहाणामपि तत्र सत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादौ [2]तदुदये क्षुत्पिपासावद् रोगादीनामप्युपलम्भात्। छद्मस्थजिनेषु भोगभूमिजादिषु च तदुदयेऽपि रोगादीनामभावाद् व्यभिचारे कवलाहारस्यापि व्यभिचारोऽस्तु, देवादिषु तदुदयेऽपि तदभावात्।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरत.' इत्यादि; तदप्यचारु, शरीरस्थितेः आयुःकर्मण एव नियतनिमित्तप्रतिपादनात्, भुक्तिं विनापि आकालं तत्स्थितेः समर्थितत्वाच्च।

यदप्यभिहितम्[4]–'[2]भुक्तेर्दोषरूपतया भगवत्यसंभवे वचनादेरप्यसंभवः स्यात्' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्, वचनादेः तीर्थकरत्वकर्मोदयापादितत्वात् दो[3]षरूपत्वासंभवाच्च, नहि [5]अष्टादशदोषेषु मध्ये क्षुधादिवद् वचनमपि पठ्यते। भुक्तेरपि वे[4]दनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु, इत्यप्यसङ्गतम्, मोह[5]सद्भावसहायस्यैवास्य तत्सम्पादने सामर्थ्यप्रतिपादनात्। यथैव हि मोहप्रक्षयसहायं तीर्थकरत्वं विशिष्टवचनादिविधाने समर्थं तथा मोहसद्भावसहायं वेद्यं भुक्त्यादिविधाने इति।

यदप्युक्तम्[6]–'अवधिज्ञानिवत् सकलज्ञस्य सकलं जगत्पश्यतोऽपि अन्तरायासंभवः'

(१) "अथवा 'एकादश जिने न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम्।"–सर्वार्थसि० ९।११। "अथवा नायं वाक्यशेषः 'एकादश जिने कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति, किं तर्हि ? एकादश सन्तीति। कथम् ? उपचारात्, यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिन्तानिरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूननफलसंभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादिवेदना-भावपरीषहाभावेऽपि वेदनीयकर्मोदय-द्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादश जिने सन्तीत्युपचारो युक्त.।"–राजवा० ९।११। "शक्तित एव केवलिन्येकादश परीषहाः सन्ति न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद् वेदनीयाद् व्यक्तक्षुधाद्यसंभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४९२। "तेण असादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि।"–कर्मका० गा० २७५। "क्षुत्पिपासादयो यस्मान्न समर्था मोहसंक्षये। द्रव्यकर्माश्रयात्तेषामस्तित्वमुपचारतः।"–भावस० श्लो० २३४। "यच्चोपचारतोप्यस्यैकादश परीषहा न संभाव्यन्ते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य, 'एकेनाधिका न दश परीषहाः जिने एकादश जिने' इति व्युत्पत्तेः।"–प्रमेयक० पृ० ३०७। (२) वेदनीयोदये। (३) पृ० ८५४ पं० ८। (४) पृ० ८५४ पं० १९। (५) "क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः। न रागद्वेषमोहाश्च चशब्दात् चिन्ताऽरतिनिद्राविस्मयमदस्वेदखेदा गृह्यन्ते। एते अष्टादश दोषाः"–रत्नक०, टी० ११६। (६) पृ० ८५५ पं० १।

1 तत्र न सन्ति श्र०। 2 भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु इत्यप्यसंभवाच्च नहि अष्टादश–आ०। 3 दोषोदयत्वा–ब०। 4 वेदनीयोपादि–आ०। 5 मोहसहा–ब०, श्र०।

इत्यादि; तदप्यनुपपन्नम्; [1]तज्ज्ञानस्य सोपयोगतया [2]तत्काल एव स्वविषयाऽशेषार्थसाक्षात्करणसंभवात्। यदैव हि अवधिज्ञानोपयोगमवधिज्ञानी करोति तदैवासौ तद्विषयभूतमशेषं वस्तु पश्यति नान्यदेति, भोजनकाले यद्यसौ उपयोगं करोति तदाऽन्तरायो भवत्येव, नचायं प्रकारः केवलज्ञाने संभवति तस्य[3] सदा[1] उपयुक्तत्वात्।

यदप्युक्तम्[4]–'नेन्द्रियार्थसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; विषयविषयिसम्बन्धे समुपजायमानस्य ज्ञानस्य अमतिज्ञानत्वे मतिज्ञानवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्। अथ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य सहकारिणोऽभावात् नेन्द्रियाणि स्वविषयसम्बन्धेऽपि स्वकार्यमाविर्भावयन्ति, तर्हि मोहनीयस्यापि सहकारिणोऽभावात् वेद्यमपि स्वकार्यं न कुर्यात् इत्युक्तम्।

किञ्च, किमर्थमसौ भुङ्क्ते–शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानदर्शनवीर्यादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्, [5]आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्यापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगृद्ध्युपशमार्थम्, लोकानुग्रहार्थं वा? न तावत् शरीरोपचयार्थम्, लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं विशिष्टपरमाणुलाभादेव तत्सिद्धेः। [6]तदर्थं तद्ग्रहणे च कथमसौ निर्ग्रन्थः स्यात् [3]शरीरसम्मूर्च्छासंभवात् प्राकृतपुरुषवत्। नापि ज्ञानादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, तत्क्ष[7]यनिबन्धनाभावादेव तदक्षयप्रसिद्धेः। ज्ञानादिक्षयस्य हि निबन्धनं ज्ञानावरणादिक्षयोपशमः, तस्मिन् सति भोजनाद्यभावे तत्क्षयप्रतीतेः। स च प्रक्षीणाशेषावरणे भगवति नास्ति इति कथं तत्प्रक्षयाशङ्काऽपि यतो भुक्तिः स्यात्? नापि क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्, अनन्तसुखवीर्ये भगवति अस्याः संभवाभावस्य उक्तत्वात्। नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्य [4]अपवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्; [8]चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अ[9]पवर्त्तनानुपपत्तेः। नापि रसगृद्ध्युपशमार्थम्; वीतमोहस्य रसगृद्धेरेवानुपपत्तेः। नापि लोकानुग्रहार्थम्; अनन्तवीर्यस्य वीर्यक्षयनिबन्धनाभावतो [5]भुक्तिमन्तरेणापि लोकमनुग्रहीतुं समर्थत्वात्।

यच्चोक्तम्[10]–'देवच्छन्दके गत्वा यथासुखमास्ते' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः

(१) अवधिज्ञानस्य। (२) उपयोगसमये। (३) केवलज्ञानस्य। (४) पृ० ८५५ पं० ४। (५) तुलना–"ण बलाउसाहणट्ठ ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठ। णाणट्ठ सजमट्ठ झाणट्ठ चेव भुजति।"–मूलाचा० ६। ६२। प्रव० टी० पृ० २९। प्रमेयक० पृ० ३०६। (६) शरीरोपचयार्थम्। (७) ज्ञानावरणीयकर्मणोऽभावादेव। (८) "औपपादिकचरमोत्तमदेहासख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष।"–तत्त्वार्थसू० २।५३। "चरम उत्तमो देहो येषा ते चरमोत्तमदेहा विपरीतसंसारा तज्जन्मनिर्वाणार्हा इत्यर्थ।"–सर्वार्थसि०। "चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थ ये तेनैव शरीरेण सिद्धयन्ति, उत्तमपुरुषा तीर्थकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिन –तत्त्वार्थाधि०। 'देवा नेरइयावि य असखवासाउया य तिरमणुआ। उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवकमा॥"–ठाणागवि०। (९) "बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्त।"–राजवा० २।५३। (१०) पृ० ५५८ प० १०।

1 सदोषयुक्त–श्र०। 2 आयुषोऽनुदितमुक्ति–श्र०। 3 शरीरमूर्च्छासं–श्र०। 4 अपवर्त्तनिवृ–ब०, अपवर्त्तनं निवृ–आ०। 5 मुक्तिम–श्र०।

समवशरणं विहाय भगवान् किमर्थं तत्र गच्छति–मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसिद्ध्यर्थम्, निरोधाक्षमत्वतो यथासुखमवस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; अमनस्कतया भगवतो मनोविक्षेपाऽसंभवात्, योगनिरोधसद्भावेन उपचारतः तत्र ध्यानाभिधानाच्च। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, अनन्तवीर्यस्य निरोधाऽक्षमत्वानुपपत्तेः। अनन्तसुखस्य दुःखलेशस्याप्यभावतो 'यथासुखम्' इत्यस्यापि दुर्घटत्वात्।

रहस्यकार्यञ्च निन्द्यम्, अनिन्द्यं वा ? न तावन्निन्द्यम्; प्रक्षीणाशेषदोषस्य निन्द्यकार्यानुष्ठानविरोधात्। अथ अनिन्द्यम्; तत्किं भोजनम्, कर्मक्षपणं वा ? न तावद्भोजनम्; तस्य अमोहे भगवति प्रतिषिद्धत्वात्। अप्रतिषेधे वा कस्मादसौ एकान्ते गत्वा भुङ्क्ते–दृष्टि[दोष]भयात्, याचकभयात्, अनुचितानुष्ठानत्वाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; भगवतो दृष्टिदोषागोचरत्वात्। यदीयेन हि नाम्ना अन्येषां दृष्टिदोषादेरुपशमो भवति स कथं तद्दोषगोचरः स्यात् ? द्वितीयविकल्पे तु भगवतो महद्दीनत्वं प्रख्यापितम्। न खलु महासत्त्वस्य पृष्ठतो लग्नान् बुभुक्षापीडितशिष्यान् विहाय पितुरिव पुत्रम् एकान्ते गत्वा भोजनं युक्तम्। अनुचितानुष्ठानत्वे तु न तत्र तत्परिकल्पना श्रेयसी स्त्र्यादिसेवनपरिकल्पनावत्।

कर्मणामपि क्षपणं पूर्वोपार्जितानाम्, भुक्तिकालोपार्जितानां वा तत्र[3] अर्हता विधीयते ? पूर्वोपार्जितानाञ्चेत्, घातिनाम्, अघातिनां वा ? न तावत् घातिनाम्; तेषां पूर्वमेव क्षपितत्वात्। नाप्यघातिनाम्; तेषां यथाकालं क्षपयिष्यमाणत्वात्, सततं शुक्लध्यानानलतः कर्मेन्धननिचयनिर्दहनसमर्थत्वाच्चास्य। नहि 'भगवतः शुक्लध्यानानलो देवच्छन्दके एव प्रज्वलति न तु समवशरणादौ' इत्यभ्युपगमो युक्तः; तत्रस्थस्यास्य[4] ध्यानान्तरप्रसङ्गात्।

भुक्तिकालोपार्जितकर्मणां तु कथं क्षपणम् ? प्रतिक्रमणतश्चेत्, अस्तु, परन्तु[5] भगवतो निर्दोषता दुर्लभा। यः प्रतिक्रमणं करोति नासौ निर्दोषः यथा अस्मदादिः, प्रतिक्रमणं करोति च भगवानिति। कृतदोषनिराकरणं हि प्रतिक्रमणम्[6], तत्कुर्वतः कथमस्य निर्दोषता स्यात् ? अथ तां ([7]त) न करोति, कथं भुजिक्रियातः समुत्पन्नदोषं निराकुर्यात् ? आहारकथामात्रेणापि हि अप्रमत्तोऽपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति नार्हन् भुञ्जानोऽपि इति महच्चित्रम्। दोषवत्त्वे चास्य श्रेणीतः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वं स्यात्।

---

(१) "निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे युगपत्सकलपदार्थावभासिकेवलज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारवत्।"–सर्वार्थसि० ९।११। (२) एकासने शरीरावस्थिते तत्परिस्पन्दस्य निरोधः। (३) एकान्ते। (४) समवशरणस्थितस्य भगवतः। (५) तुलना–"किं चासौ भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति न वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३०६। (६) "मिथ्या दुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्।"–सर्वार्थसि० ९।२२। (७) प्रतिक्रमणम्। (८) "अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम्।"–रत्नक० टी० पृ० ८६४। प्रमेयक० पृ० ३०६।

---

1 तत्राद्यपक्षो–श्र०। 2 वचकभ–श्र०। 3 प्रज्वलित श्र०, ज्वलति आ०। 4 परं च भग–श्र०। 5 कस्य ब०। 6 भक्तिक्रि–श्र०।

यदप्युक्तम्[1]– 'भुञ्जानोऽसौ गणधरदेवैरपि न दृश्यते' इत्यादि, तत्रा[2]दर्शने किं कारणम्–बहलतमःपटला[1]च्छादितत्वम्, काण्डपटाद्यावृतत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानम्, अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, तद्देहदीप्त्या तमःपटलस्य निर्मूलोन्मूलितत्वात् । काण्डपटाद्यावृताय च तस्मै कथं भिक्षा [2]दीयेत ? विद्याविशेषा[3]भ्युपगमे चास्य विद्याधरादिवत् निर्ग्रन्थताविरोधः । अथ अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषः कश्चित्तस्येष्यते येन भुञ्जानो नाऽवलोक्यते इति; ननु अन्यजनातिशायी भो[3]जनाभावलक्षण एवाऽतिशयः अस्य इष्यताम् तस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो भगवतोऽनन्तचतुष्टयलाभलक्षणां जीवन्मुक्तिमिच्छता अनन्तसौख्यमेष्टव्यम् । तदिष्टौ च च भुक्त्यभावोऽभ्युपगन्तव्यः तमन्तरेणास्य अनन्तसौख्यानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात् इति ॥ छ ॥

तल्लक्षणा च मुक्तिः पुंस एव न स्त्रियाः, तस्याः नपुंसकवत्तदयोग्यत्वात्, तन्मुक्तिप्रसाधकप्रमाणासंभवाच्च ।

स्त्रीनिर्वाणवादे सितपटाना शाकटायनस्य च पूर्वपक्ष –

नन्विदमस्ति तत्प्रसाधकं प्रमाणम्–अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अ[4]विकलकारणत्वात् पुंवत् । निर्वाणस्य हि कारणं रत्नत्रयम्, "*सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः*" [तत्त्वार्थसू० १।१] इत्यभिधानात् । तच्च स्त्रीषु विद्यते; तथाहि–सर्वज्ञोक्तार्थानाम् 'इदमित्थमेव' इति श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, य[4]थावदवगमः सम्यग्ज्ञानम्, त[5]दुक्तव्रतस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्रम्, एतद्रत्नत्रयम् । एतच्च स्त्रीषु सिद्ध्यत् सर्वकर्मवि[6]प्रमोक्षलक्षणं मोक्षं साधयति । नहि स्त्रीषु रत्नत्रयस्य केनचिद्विरोधोऽस्ति यतोऽविकलकारणत्वासिद्धिः स्यात् ।

(१) पृ० ८५५ पं० १३ । (२) "तत्रादर्शनेऽप्युक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुङ्क्ते इति कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानं वा ?"–प्रमेयक० पृ० ३०७ । "तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिता. बहवो दोषाः ।"–प्रव० टी० पृ० २९ । (३) "तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किन्न भवति ।"–प्रव० टी० पृ० २९ । (४) "अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुकं स्त्रीषु । न विरुध्यति हि रत्नत्रयसंपद् निर्वृतेर्हेतुः ॥"–स्त्रीमु० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि विलोकनीया । "इत्थीलिङ्गसिद्धा–सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि- ....."–प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्दि० मलय० पृ० १३१ B. । रत्नाकराव० ७।५७ । षड्द० बृह० श्लो० ५२ । "यथोक्तं यापनीयतन्त्रे–णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दसण-विरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्त-मोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोदी, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुण-ठाणरहिया, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति ।"–ललितवि० पृ० ५७ B । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ B. ।

1–पटलसच्छादितत्वम् श्र० । 2 दीयते ब० । 3–षाभ्युपगमाच्चास्य ब० । 4 यथार्थावगमः ब० । 5 तदुक्तस्य यथावद–आ०, तदुक्तं व्रतस्य ब० । 6–विप्रमोक्षणं मोक्षं आ० ।

अथोच्यते–स्त्रियो[१] रत्नत्रयविरुद्धा. पुंसोऽन्यत्वात् देवादिवत्। सुप्रसिद्धो हि देवनारकतिर्यग्भोगभूमिजानां पुंसो[1]ऽन्येषां देवादित्वेन रत्नत्रयस्य विरोधः, एवं स्त्रीणां स्त्रीत्वेनैव [२]अस्य विरोधः सिद्ध इति, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति। स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयाभावः प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, आगमाद्वा [2]प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः, रत्नत्रयस्य अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानतः, तदभावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य कस्यचिदभावात्। नाप्यागमात्; तत्र तदभाववेदिनः तस्याप्यसंभवात्। नहि सुरनारकादिवत् तत्र[३] तदभावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रवचनवचनं संभवति। नन्वस्तु रत्नत्रयमात्रं[3] तत्र न तदस्माभिर्निषिध्यते तस्य मोक्षा[4]ऽप्रसाधकत्वात्, यत्तु[5] मोक्षप्रसाधकं प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तम् तस्य तत्राभावात् मोक्षाभावः इति, तदयुक्तम्[6]; अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। न खलु प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्तं रत्नत्रयम् अस्माकं दृश्यम्, न चादृश्यस्य[7] विरोधः प्रतिपत्तुं शक्य· अतिप्रसङ्गात्। न चाप्रतिपन्नविरोधस्य तस्य[४] तत्राभावो ग्रहीतुं शक्यः अतिप्रसक्तेरेव।

अथ मतम्–अनुमानत· स्त्रीणां निर्वाणाभावप्रतीतेर्न तत्र तत्सद्भावाभ्युपगमो युक्तः; तथाहि–नास्ति स्त्रीणां निर्वाणम् सप्तम[५]पृथिवीगमनाभावात् सम्मूर्च्छिमादिवत् इति, तदसङ्गतम्; विपर्ययव्याप्तेरसिद्धितः तद्गमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽव्याप्तेः[8]। इह यद् यत्र नियम्यते तद्विपर्ययेण तद्विपक्षस्य व्याप्तौ नियमो दृष्टः, यथा अग्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन अग्न्यभावस्य, शिंशपात्वस्य च वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिंशपात्वाभावेन व्याप्तिः। न चैवमत्र विपर्ययव्याप्तिरस्ति; तदभावश्च सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाण प्रत्यकारणत्वात् अव्यापकत्वाच्च सिद्धः। नहि सप्तमपृथिवीगमन निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणं सिद्धम् गुणाष्टकवद्वा[9] व्यापकम् येन तदभावे निर्वाणाभावः

(१) "रत्नत्रय विरुद्ध स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन। इति वाङ्मात्र नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ।। जानीते जिनवचन श्रद्धत्ते चरति चार्यिका शबलम्। नास्यास्त्यसभवोऽस्या नादृष्टविरोधगतिरस्ति।"–स्त्रीमु० श्लो० ३-४। "अथ स्त्रीत्वादेव न तासा तत्परिक्षयसामर्थ्यम्, न, स्त्रीत्वस्य तत्परिक्षयसामर्थ्येन विरोधासिद्धे। नहि अविकलकारणस्य तत्परिक्षयसामर्थ्यस्य स्त्रीत्वसद्भावादभाव. क्वचिदपि निश्चितो येन अग्निशीतयोरिव सहानवस्थानविरोध तयो सिद्धो भवेत्।"–सन्मति० टी० पृ० ७५२। प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A। नन्दि० मलय० पृ० १३२ B. (२) रत्नत्रयस्य। (३) स्त्रीषु। (४) रत्नत्रयस्य। (५) "सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते। निर्वाणाभावेनापश्चिमतनवो न ता यान्ति ॥"–स्त्रीमु० श्लो० ५। सन्मति० टी० पृ० ७५३। प्रज्ञा० मलय० पृ० २० B.। नन्दि० मलय० प० १३२ B। रत्नाकराव० ७।५७। षड्द० बृह० श्लो० ५२। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ A.। युक्तिप्र० पृ० ११५।

1 पुंसोऽन्यत्वं तेषां श्र० 2 प्रतीयते श्र०। 3–मात्र तन्त्रम् न ब०,–मात्रं तंत्रं न श्र०। 4 मोक्षप्रसा–श्र०। 5 यत्तु प्रमाणकृतप्रसा–ब०। 6–युक्तं न दृष्टे विरो–ब०। 7 चादृश्ये वि–श्र०। 8–व्याप्तेरिति इह श्र०। 9 गुणाष्टकवद्व्याप–श्र०।

स्यात्। नचाकारणाऽव्यापकस्य निवृत्तौ अकार्य[1]व्याप्यस्य निवृत्तिः अतिप्रसङ्गात्, अतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनम्। चरमदेहैः निश्चितव्यभिचारश्च; ते हि तेनैव जन्मना मुक्तिभाजो न सप्तमपृथिवीं गच्छन्ति अथ च मुच्यन्ते।

किञ्च, वि[1]षमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारं गच्छन्ति च तिर्यञ्चः तदधोग[2]त्यूनताऽहेतुः। नहि अधोगतौ स्त्रीपुंसयो[3]स्तुल्यं सामर्थ्यमिति [4]शुभगतावपि अतुल्यत्वं युक्तम्, अशुभपरिणामस्य शुभपरिणामं प्रत्यहेतुत्वात्। तथाहि–[2]भुजगखगचतुष्पात्सर्पजलचराणां विषमाऽधोगतिः–[5]भुजगानां सं(नामसं)ज्ञिनां [6]प्रथमायाम्, खगानां तृतीयायाम्, चतुष्पदां पञ्चम्याम्, सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां सप्तम्यामधोभूमौ उत्पादात्, शुभगतिस्तु समा सर्वेषामेवैषां सह[3]स्रारान्तस्योपरि [7]उत्पादस्य संभवात्।

न च वा[4]दादिलब्ध्यभावात्तासां मोक्षाभावः; 'इत्थमेव मोक्षः' इति नियमा-

---

(१) "विषमगतयोप्यधस्तादुपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारम्। गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोगत्यूनताऽहेतु॥"–स्त्रीमु० श्लो० ६। "अपि च भुजपरिसर्पा द्वितीयामेव पृथिवी यावद् गच्छन्ति न परत परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात्, तृतीया यावत् पक्षिण, चतुर्थी चतुष्पदा, पञ्चमीमुरगा, अथ च सर्वेप्यूर्ध्वमुत्कर्षत सहस्रार यावद् गच्छन्ति। तत्राधोगतिविपये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम्।"–प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A.। नन्दि० मलय० पृ० १३३ A.। षड्द० बृह० श्लो० ५२। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ B.। युक्तिप्र० पृ० ११५। (२) "प्रथमायामसञ्ज्ञिन उत्पद्यन्ते प्रथमद्वितीययो सरीसृपा. तिसृषु पक्षिण. चतसृषूरगा. पंचसु सिंहा षट्सु स्त्रियाः सप्तसु मत्स्यमनुष्या."–राजवा० पृ० ११८। "अमण-सरिसप-विहगम-फणि-सिंहित्थीण-मच्छमणुवाण। पढमादिषु उप्पत्ती अडवारादो दु दोण्णि वारोत्ति॥"–त्रिलोकसा० गा० २०५। "असन्नी खलु पढम, दुच्च च सरीसवा तइय पक्खी। सीहा जति चउत्थि उरगा पुण पचमि पुढवि। छट्ठि च इत्थिआओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढवि। एसो परमुववाओ बोधव्वो नरयपुढवीसु॥"–बृहत्स० गा० २८४–८५। त्रैलोक्यदी० गा० २५३। (३) "तैर्यग्योनेपु असञ्ज्ञिन. पर्याप्ताः पचेन्द्रिया सख्येयवर्षायुप. अल्पशुभपरिणामवशेन पुण्यवन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु चोत्पद्यन्ते। त एव सञ्ज्ञिनो मिथ्यादृष्टय सासादनसम्यग्दृष्टयश्चासहस्रारादुत्पद्यन्ते त एव सम्यग्दृष्टय सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते।"–राजवा० पृ० १६९। "पचिंदियतिरियाण उववाओक्कोसओ सहस्सारे"–बृहत्स० गा० १६४। (४) "वादादिविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च। जिनकल्पमन पर्यवविरहेऽपि न सिद्धिविरहोस्ति॥ वादादिलब्ध्यभाववदभविष्यद् यदि च सिद्ध्यभावोऽपि। तासामवारयिष्यद् यथैव जम्बूयुगादारात्।"–स्त्रीमु० श्लो० ७-८। प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A.। रत्नाकराव० ७।५७। "नापि वादादिलब्धिरहितत्वेन, मूककेवलिभिर्व्यभिचारात्।"–षड्द० बृह० श्लो० ५२। "माषतुषादीना लब्धिविशेषहेतुसयमाभावेऽपि मोक्षहेतुतच्छ्रवणात्, क्षायोपशमिकलब्धिविरहेऽपि क्षायिकलब्धेरप्रतिघातात्।"–शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B.।

1–व्याप्यनिवृ–ब०। 2–गति न ता हेतुः ब०,–गतिन्यूनताऽहेतुः श्र०। 3–रतुल्यसाम–आ०। 4 शुभगतावपि ब०, श्र०। 5 भुजगानां प्रथमायां आ०, श्र०, भुजगानां संज्ञिनां प्रथमायां ब०, पू० त्रु०। 6 प्रथमाया संज्ञिनां द्वितीयायां खगानां तृतीयायाम् भुजगानां चतुर्थ्यां चतुष्पदानां पञ्चम्याम् स्त्रीणां षष्ठ्यां जलचराणां ब०, प्रथमायां खगानां तृतीयायां चतुष्पदानां पंचभ्यां सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां त्रुटिताया पू० प्रतौ। 7 उपपादस्य श्र०।

भावात्। "[1]श्रूयन्ते हि अनन्ताः [2]सामायिकमात्रसिद्धाः" [तत्त्वार्थभा० सम्बन्ध का० २७(?)] यदि च स्त्रीणां यथा वादाद्यतिशयाः तपोविभवजन्मानो [3]न संभवन्ति तथा मोक्षोपि न स्यात्; तदा आगमे तदतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत। न ह्यस्य परिशेषणे किञ्चिन्निबन्धनं पश्यामः।

अथ [4]स्त्रीणां [2]वस्त्रलक्षणपरिग्रहसद्भावान्न मोक्षः, तर्हि मोक्षार्थित्वात् किन्न [3]तत् ताभिः परित्यज्यते? न खलु वस्त्रं प्राणाः, [4]तेऽपि हि मुक्त्यर्थिना परित्यज्यन्ते किं [5]पुनर्न वस्त्रम्? अथ "नो [6]कप्पइ [5]णिग्गंथीए अचेलाए [7]होत्तए" [कल्पसू० ५।२०] [6]इत्यागमविरोधः तस्याः तत्परित्यागे; तर्हि प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव तत्स्यात्। यथैव हि सर्वज्ञैः मोक्षमार्गप्रणायकैः उपदिष्टं प्रतिलेखनं मुक्त्यङ्गं भवति न पुनः परिग्रहः तथा [7]वस्त्रमप्यविशेषात्। यदि च धर्मसाधनानां सूत्रविहितानां परिग्रहत्वं स्यात् तदा पिण्डोपधिशय्यादीनामपि वस्त्रवत् परिग्रहत्वं स्यात्§ तथा च तदुपायिनां मोक्षाभावः स्यात्§। सत्यपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणां कुतो न मोक्षः इति चेत्? ममत्वसद्भावात्। नहि गृही वस्त्रे ममत्वरहितः। ममत्वमेव च परिग्रहः। सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान् भवति। आर्यिकायाश्च ममत्वाभावाद् उपसर्गाद्यासक्तमिव [8]अम्बरमपरिग्रहः। नहि यतेरपि ग्रामं गृहं वा प्रविशतः कर्म नोकर्म च आददानस्य अपरिग्रहत्वे अममत्वादन्यत् शरणमस्ति।

[8]अथ वस्त्रे जन्तूत्पत्तेः हिंसासद्भावतः चारित्रस्यैवाऽसंभवात् कथं मोक्षप्राप्तिः? तन्न, प्रमादाभावे हिंसाऽनुपपत्तेः। प्रमादो हि हिंसा। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [तत्त्वार्थसू० ७।१३] इत्यभिधानात्। अन्य[9]था पिण्डोपधिशय्यादौ यतेरपि हिंसकत्वं स्यात्। [10]अर्हदुक्तेन यत्नेन सञ्चरतोऽस्य प्रमादाभावादहिंसकत्वे [11]आर्यिकाया

(१) "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः"–तत्त्वार्थभा०। "अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धा इति वचनात्"–राजवा० पृ० १०। (२) "यदि वस्त्रादविमुक्तिः, त्यजेत्तद्, अथ न कल्पते हातुम्। उत्सङ्गप्रतिलेखनवदन्यथा देशको दूष्येत। त्यागे सर्वत्यागो ग्रहणेऽल्पो दोष इत्यपादेशि। वस्त्रं गुरुणाऽऽर्याणां परिग्रहोऽपीति चुल्यादौ। यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम्॥ धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणमाहार्हन्॥"–स्त्रीमु० श्लो० १०-१२। रत्नाकराव० ७।५७। षड्द० बृह० श्लो० ५२। (३) वस्त्रम्। (४) प्राणा अपि। (५) "नो कप्पइ निग्गन्थीए अचेलियाए होत्तए"–कल्पसू०। न कल्प्यते निर्ग्रन्थ्या अचेलया भवितुम्। (६) "जिह्मिय मुए च्चिय जओ धरेज्ज तिहि कारणेहिं वत्थ ति। तेण चिय तदवस्स निरतिसएण धरेअव्व॥ जिणकप्पाजोग्गाण हीकुच्छपरीसहाजओऽवस्स। हीलज्ज त्ति व सो संजमो तदत्थ विसेसेण॥" –विशेषा० गा० २६०२-३। सन्मति० टी० पृ० ७४८। (७) "मूर्च्छा परिग्रहः"–तत्त्वार्थसू० ७।१७। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"–दश० ६।२१। (८) "समक्तौ सत्यामपि चोदितयत्नेन परिहरत्यार्या। हिंसावर्ती पुमानिव न जन्तुमालाकुले लोके॥"–स्त्रीमु० श्लो० १५। "प्राणातिपातपरिणामाभावात्" –शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B

1 श्रूयते हि ब०, श्र०। 2 सामायिकमात्र–आ०। 3 न सन्ति आ०, ब०। 4–णां च वस्त्र– श्र०। 5 पुनर्न च वस्त्र श्र०। 6 कपदि ब०, श्र०। 7 होताए ब०, श्र०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति श्र०। 8 अम्बरमविग्रह आ०। 9–या हि पि–श्र०। 10 अर्हदुक्तयत्नेन श्र०। 11 आर्यिकायामपि आ०।

ईत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् ।

अथ अत्र स्त्रीशब्देन स्त्रीवेदो गृह्यते, कथमेवमपि स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः? यथैव हि स्त्रीवेदेन पुंसः सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि स्यात्, भावो हि सिद्धेः कारणम् ।

किञ्च, द्रव्यत. पुरुषः भावतः स्त्रीरूपो भूत्वा यथा निर्वाति तथा द्रव्यतः स्त्र्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा किन्न निर्वाति अविशेषात् ? न च सिद्ध्यतो वेदः संभवति, अनिवृत्तिबादरसाम्पराये एव अस्य परिक्षयात् । अथ भूतपूर्वगत्या क्षपकश्रेण्यारोहण येन वेदेन करोति तेनासौ मुक्तः इत्युच्यते; ननु किमनेन उपचारेण स्त्रिया एव स्तनप्रजननधर्मादिमत्या निर्वाणमस्तु इति ॥ छ ॥

द्रव्यस्त्रीणा तद्भवनिर्वाणप्राप्तिनिरसनम्– अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'अविकलकारणत्वात्' इत्यादि, तत्र अविकलकारणत्वमसिद्धम्; तत्कारणं हि रत्नत्रयम्, तत्किं परमप्रकर्षप्राप्तं सत् तत्कारणं स्यात्, तन्मात्रं वा ? यदि तन्मात्रम्, तदा गृहिणामपि निर्वाणप्रसङ्गः । अथ परमप्रकर्षप्राप्तम्; तन्न, तत्र तस्य परमप्रकर्षप्राप्तत्वाऽनुपपत्तेः । तथाहि–निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् । तथा चेदमयुक्तम्–'अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः' इत्यादि । प्रत्यक्षतो हि अदृश्यस्यार्थस्य विरोधः प्रतिपत्तुमशक्यो न तु अनुमानादितोऽपि, अन्यथा कथं सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षस्यापि तत्र विरोधप्रतिपत्तिः स्यात् ?

यदप्युक्तम्–'सप्तमपृथिवीगमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽव्याप्तेः' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; अकार्यकारणस्यापि कृत्तिकोदयात् शकटोदयादेः प्रतिपत्तिदर्शनात् । अविनाभावो हि गम्यगमकभावे निबन्धनं न कार्यकारणत्वादि, स चात्र अस्त्येव । न खलु तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव अविनाभावो नियतः, कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकं प्रत्यगमकत्वप्रसङ्गात् इति । एतच्च सौगतोपकल्पितव्याप्तिविचारावसरे संप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अतश्च 'सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च' इत्यादि प्रत्युक्तम् । कथञ्चैववादिनो अर्वाग्भागाभावात् परभागाभावो निश्चीयेत, अनयोः तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धासभवात् ? अथात्र एकार्थसमवायः सम्बन्धोऽस्ति तस्मा-

(१) "न च पु देहे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गञ्च । भाव सिद्धौ पु वत् पुमा अपि (पुंसोऽपि) न सिद्ध्यतो वेद ॥ क्षपकश्रेण्यारोहे वेदेनोच्येत पूर्ववेदेन । स्त्रीति नितराममुरये मुख्येऽर्थे युज्यते नेतराम् ॥"–स्त्रीमु० श्लो० ३९-४० । (२) वेदस्य । (३) पृ० ८६५ पं० १३ । (४) स्त्रीषु । (५) "मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्ष · "–प्रमेयक० पृ० ३२८ । (६) पृ० ८६६ पं० १० । (७) पृ० ८६६ पं० १५ । (८) अविनाभावः । (९) पृ० ४४६ । (१०) अर्वाग्भागाभावपरभागाभावयो· । (११) एकस्मिन्नेव भित्त्याख्ये अवयविनि अर्वाग्भागपरभागाख्ययो अवयवयो समवायात् तयो परस्परमेकार्थसमवाय समस्त्येव ।

1 इत्यागम–श्र० । 2 –बादरसपराय–आ० । 3 'तदा' नास्ति आ०, श्र० । 4 –प्रतिपत्तेरित्यादि आ० । 5 अदृश्यार्थस्य ब० ।

देव अनयोः गम्यगमकभावो भविष्यति, ननु नैयायिकस्य[1] मतमेतन्न सिताम्बरस्य[2]। न खलु समवायासिद्धौ तस्ये एकार्थसमवायसिद्धिरुपपद्यते तत्सिद्धिपूर्वकत्वात्तस्याः[3]। अस्तु वा तत्सिद्धिः; तथापि–अतस्तयोर्[4]गम्यगमकभावे प्रकृतयोरपि[5] सोऽस्तु तत्राप्येकार्थसमवायसद्भावात्, यत्रैव हि आत्मनि सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता [1]समेवता तत्रैव मुक्तिगमनयोग्यतापि। न च सप्तमपृथिवीगमनाभावात् स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः साधयितुमिष्टः येनोक्तदोपानुषङ्गः स्यात्, किं तर्हि ? परमप्रकर्षत्वाद्धेतोः दृष्टान्ते सिद्धसाध्यव्याप्तिकात् निर्वाणकारणाभावः तत्र[6] साधयितुमिष्टः। तद[7]भावाच्च निर्वाणाभावः स्वयमेव तत्र सेत्स्यति। न खलु निर्हेतुका[2] कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात्। [3]ततोऽयुक्तमुक्तम्[8]–'सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्' इत्यादि।

यदपि–'चरमदेहैः निश्चितव्यभिचारम्' इत्याद्युक्तम्[9]; तदप्ययुक्तम्; यतः सप्तमपृथिवीगमनाभावः तन्निर्वर्त्तनसमर्थकर्मार्जनसामर्थ्याभावः। स च स्त्रीष्वेवास्ति न चरमशरीरिषु[4]। श्रूयते हि भरतप्रभृतिचक्रवर्त्तिनां चरमशरीराणामपि प्रयाणकसमये[10] सप्तमपृथिव्यां गमनयोग्यकर्मार्जना, देवार्चनसमये तु सर्वार्थसिद्धाविति। उत्कृष्टो हि शुभोऽशुभश्च परिणामः यथाक्रमम् उत्कृष्टायाः शुभगतेः अशुभगतेर्वा हेतुभूतं कर्म आरभते, तत्परिणाम[5]प्रारम्भे च पुरुषस्यैव सामर्थ्यं न स्त्रियाः। यथैव हि तस्याः तीव्रतराशुभपरिणामे सामर्थ्याभावः तथा उत्कृष्टशुभपरिणामेऽपि। उत्कृष्टशुभपरिणामेन च मुक्तिः।

एतेन 'विषमगतयोऽप्यधस्तात्' इत्याद्यपि[11] प्रतिव्यूढम्; प्रकृष्टगतिप्रारम्भहेतुभूतकर्मोपार्जनसमर्थस्यैव मुक्तियोग्यतोपपत्तेः न तद्विपरीतस्य। श्रूयते हि प्रतिनियताऽवान्तरगतिप्रारम्भककर्मवशात् प्रतिनियतोत्पादस्थानानामपि नारकाणां क्षपितकर्मणां तिर्यग्लोके सर्वेषामपि नियमतः [12]संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पादः, देवानाञ्च [6]तथाविधकर्मवशात् प्रतिनि[7]यतोपपादस्थानोत्पन्नानां तिर्यग्लोक एव तेषु[13] एकेन्द्रियेषु च

(१) तन्मते हि अवयवायविनो कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमात्। (२) श्वेताम्बरस्य। (३) एकार्थसमवायसिद्धे। (४) एकार्थसमवायात्। (५) सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्य-मुक्तिगमनसामर्थ्ययोश्च। (६) स्त्रीपु। (७) निर्वाणकारणाभावाच्च। (८) पृ० ८६६ पं० २०। (९) पृ० ८६७ पं० २। (१०) दिग्विजययात्रासमये। (११) पृ० ८६७ पं० ४। (१२) णिरयांदो निस्सरिदो णरतिरिए कम्मसण्णिपज्जत्ते। गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमपुढवीदु तिरिए व।।"–त्रिलोकसा० गा० २०३। "णेरयियाण गमण सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे। चरमचऊ तित्थूणे तेरिच्छे चेव सत्तमिया।।"–कर्मका० गा० ५३८। (१३) सज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येपु च। "आहारगा दु देवे देवाण सण्णिकम्मतिरियणरे। पत्तेयपुढविआऊबादरपज्जत्तगे गमण।। भवणतियाण एव तित्थूणणरेसु चेव उप्पत्ती। ईसाणताणेगे सदरदुगताणसण्णीसु।।"–कर्मका० गा० ५४२–४३।

1 समवेता न तत्रैव मुक्तिगमनायोग्यतापि ब०। 2 निर्हेतुककार्य–श्र०। 3 ततो युक्तमुक्तम् ब०। 4–शरीरेषु ब०, श्र०। 5–णामप्राप्ते च ब०। 6 यथाविध–आ०। 7–नियतस्थानो–आ०, नियतोत्पादस्थानो–ब०।

नियमेनोत्पाद इति। न च तथाविधकर्मोपार्जनसामर्थ्येन मुक्तियोग्यता संभवति इति न मुक्तियोग्यताविचारावसरे किञ्चिदनेन प्रयोजनम्। यस्य तु उपरिष्टात् प्रकृष्टशुभगति-प्रसाधने सामर्थ्यम् तस्य अधस्तात् प्रकृष्टाशुभगतिप्रसाधनेऽपि तदस्ति यथा पुंस इति स्त्रीणां प्रकृष्टायां शुभगतौ सामर्थ्यमभ्युपगच्छता अशुभगतावपि तथाविधायां तदभ्युप-गन्तव्यम्। तथा च *"ईत्थी छट्ठीओ अहो न उप्पजंति"* [ ] इत्यादि भवदीयागमविरोधः।

यच्चान्यदुक्तम्[1]–'न च वादादिलब्ध्यभावात्तासां मोक्षाभावः' इत्यादि; तदप्यु-क्तिमात्रम्, [3]यतो यत्र ऐहिकवादविक्रियाचारणादिलब्धीनामपि हेतुः सयमविशेषो नास्ति तत्र मोक्षहेतुर[3]सौ भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्दधीत? [4]वादलब्धिः खलु इन्द्राद्यास्था-नेषु बृहस्पत्यादिष्वपि प्रतिबन्धकेषु सत्सु छलजात्यादिपरिहारेण स्वतत्त्वप्रतिपादनसा-मर्थ्यम्। विक्रियालब्धिः इन्द्रादिरूपोपादानशक्तिः। चारणलब्धिः गगनगमनसामर्थ्यम्। आदिशब्दात् [5]अक्षीणमहानसादिलब्धिपरिग्रहः। तद्धेतुश्च संयमविशेषो न स्त्रीणां प्रवचने प्रतिपाद्यते।

यदप्यभिहितम्[6]–'आगमे वादादिलब्ध्यतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्; संयमविशेषनिषेधादेव आगमे तासां मोक्षाभावप्रतिपा-दनप्रसिद्धेः। सुप्रसिद्धो हि आगमे पुसां मोक्षहेतो. आचेलक्यादिसंयमविशेषस्य विधिः, स्त्रीणां तु नि[7]षेधः। न च कारणाभावे कार्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात्। सयममात्रं तु सदपि आसां न मोक्षहेतुः तिर्यग्गृह[4]स्थादिसंयमवत्। तथा, नास्ति स्त्रीणां मोक्षः परिग्रहवत्त्वात् गृहस्थवत्।

यदप्युक्तम्[8]–'प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव वस्त्रम्' इत्यादि; तदप्यचारु; यतः प्रति-

(१) पृ० ८६७ प० १०। (२) "स्त्रीणा सयमो न मोक्षहेतु नियमेनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथानु-पपत्ते।"–प्रमेयक० पृ० ३३०। (३) सयम। (४) "शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्सु अप्रतिहततया निरुत्तराभिधान पररन्ध्रापेक्षणञ्च वादित्वम्।"–राजवा० पृ० १४४। (५) "लाभान्तरायक्षयोपशमप्र-कर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्न क्षीयते ते अक्षीणमहानसा।"–राजवा० पृ० १४५। (६) पृ० ८६८ प० ३। (७) "लिंग इच्छीण हवे भुजइ पिंड सु एयकालम्मि। अज्जियवि एकवत्था वत्थावरणेण भुजेइ। णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो। णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ लिंगम्मि य इत्थीण थणतरे णाहिकक्खदेसेसु। भणिओ सुहुमो काओ तास कह होइ पव्वज्जा॥ जइ दसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सापि सजुत्ता। घोर चरिय चरित्त इत्थीसु न पावया भणिया॥ चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्ल भाव तहा सहावेण। विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसकया झाणं॥"–सूत्रप्रा० गा० २३-२६। "णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा। तम्हा तप्पडिरूव वियप्पिय लिंगमित्थीण॥ निर्ग्रन्थलिङ्गात् पृथक्त्वेन विकल्पित कथित लिंग प्रावरणसहितं चिह्न स्त्रीणामिति।"–प्रव०टी० पृ० ३०२। (८) पृ० ८६८ पं० ८।

1–गतिसाधने–आ०। 2 इत्थीऊ छट्ठीदो अहो ण उ–ब०। 3 'यतो' नास्ति ब०, श्र०। 4–स्यादिवत् आ०, ब०।

लेखनं तावत् संयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टम्, वस्त्रं तु किमर्थमुपदिष्टमिति ? तदपि तत्प्रतिपालनार्थमिति चेत्, तथाहि–अभिभूयन्ते प्रायेण विवृताङ्गोपाङ्गसन्दर्शनजनितचित्तभेदैः पुरुषैः अङ्गना अकृतप्रावरणाः घोटिकेव घोटकैरिति, तत्र कुतस्ताः[१] तैरभिभूयन्ते न पुनस्ते[२] ताभिः अकृतप्रावरणत्वा[1]विशेषेऽपि इति वक्तव्यम् ? तासामल्पसत्त्वोपेततया अभिभाव्यत्वाच्चेत्, सुप्रसिद्धो ह्ययं विभागः गवाश्वादौ स्त्रीप्रकृतिरभि[2]भाव्या पुरुषप्रकृतिरभिभाविका इति; तदेतन्महामोहविजृम्भितम्, यासामतितुच्छसत्त्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवः ताः सकलत्रैलोक्याभिभावककर्मराशि[3]प्रक्षयलक्षणं मोक्षं महासत्त्वप्रसाध्यं प्रसाधयन्तीति !

यदप्युक्तम्[३]–'यदि धर्मसाधनानां परिग्रहत्वं स्यात्' इत्यादि; तत्र कोऽयं धर्मः यत्साधनत्वं वस्त्रस्य स्यात्–पुण्यविशेषः, संयमविशेषो वा ? प्रथमपक्षे कथं तन्मुक्तिहेतुः ? आगमविहितविधिना गृह्यमाणस्यास्य[४] गृहस्थवत् पुण्यस्यैव हेतुत्वात् । पुण्यहेतोश्च मुक्तिहेतुत्वे दानादेरपि तद्धेतुत्वप्रसङ्गः । [4]संयमविशेषहेतुत्वं तु तस्य दुरुपपादम्, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो हि संयमः, स च याचन[५]सीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमनःसङ्क्षोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत संयमोपघातकमेवैतत् बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात् ।

नन्वेवं पिण्डौषध्यादीनामपि परिग्रहत्वप्रसङ्गात् कथं तदादायिनामपि मोक्षः स्यात् ? इत्यप्यसारम्; तेषाम् उद्गमादिदोषपरिहारेण उपादीयमानानां रत्नत्रयोपबृंहणहेतुत्वात् । न हि ते सिद्धान्तविहितविधिना उपादीयमाना मोक्षहेतोरपकर्त्तारः । तदग्रहणे च अपूर्णेऽपि काले विपत्तेरापत्तेः आत्मघातित्वं स्यात्, वस्त्राऽग्रहे तु नाऽयं दोषः । षष्ठाऽष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डादिकमपि त्यज्यते, परमनैर्ग्रन्थ्यभाग्भिः तैः प्रतिलेखनञ्च, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम् । नच गृहीतेऽपि वस्त्रे ममेदंभावस्य आसामसंभवादपरिग्रहत्वं वाच्यम्, विरोधात्, बुद्धि[६]पूर्वं[5] हि पतितं वस्त्रं हस्तेनादाय परिदधानाया मूर्च्छारहितत्वानुपपत्तेः, यद् बुद्धिपूर्वं पतितमप्यादीयते न तत्र मूर्च्छाभावः यथा सुवर्णादौ, तथा आदीयते च स्त्रीभिर्वस्त्रमिति ।

(१) स्त्रियः । (२) पुरुषाः । (३) पृ० ८६८ पं० १० । (४) वस्त्रस्य । (५) "गेण्हदि व चेलखडं भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते । जदि सो चत्तालवो हवदि कह वा अणारम्भो ।। वत्थक्खड दुद्दियभायणमण्ण च गेण्हदि णियदं । विज्जदि पाणारभो विक्खेभो तस्स चित्तम्मि ।। गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता । पत्थ च चेलखड विभेदि परदो य पालयदि ।। किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरभो व असजमो तस्स । तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाण पसाधयदि ।।"–प्रव०, टी० पृ० २९७ । प्रमेयक० पृ० ३३१ । (६) "बुद्धिपूर्वकं हि हस्तेन पतितं वस्त्रमादाय" –प्रमेयक० पृ० ३३३ ।

1–विशेषणेति वक्त–ब० । 2–भाव्यं पुरुष–श्र० । 3–राशिक्षय–श्र०, राशिप्रक्षयलणं आ० । 4 संयमाशेष–आ० । 5–पूर्वकं हि श्र० ।

एतेन 'उपसर्गाद्यासक्तमिव अम्बरमपरिग्रहः' इत्यादि प्रत्याख्यातम्; उपसर्गाद्यासक्ते वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वग्रहणासंभवात्।

अथोच्यते–स्त्रीणां वस्त्रत्यागाभ्युपगमे कुलस्त्रीणां लज्जाभूयिष्ठत्वात् दीक्षाग्रहणमेव न स्यात्, वस्त्रे तु सति तत्परिग्रहमात्रं दोषः सकलशीलपरिपालनं तु गुणः इति त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवता वस्त्रमुपदिष्टं तासामिति, तदेतदस्माकमभीष्टमेव, नहि अत्रार्थे वयं विप्रतिपद्यामहे, मोक्षे एव अस्माकं विप्रतिपत्तेः। नच तच्छीलं मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति परिग्रहवदाश्रितत्वात् गृहस्थशीलवत्। नहि गृहस्थशीलं त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवतोपदिष्टमपि मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति एव प्रकृतमपि। अथ तच्छीलं हिंसाशबलितत्वात् न तत्प्रसाधनाय प्रभवति; तदन्यत्रापि समानम्। न खलु स्त्रीसम्बन्धि शीलं हिंसाशबलं न भवति, यूकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणवस्त्रसमन्वितत्वात् गृहस्थशीलवत्। तत्सम्मूर्च्छनाधिकरणस्य च वस्त्रस्य हिंसानङ्गत्वे मूर्द्धजानामपनयनानर्थक्यं स्यात्।

यदप्यभिहितम्–'प्रमादाभावे तासां हिंसानुपपत्तेः' इत्यादि; तदप्यपेशलम्, लोभकषायपरिणतौ तासामप्रमत्तत्वानुपपत्तेः, तत्परिणतेरेव प्रमादत्वात्। तदुक्तम्–

"विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा य तह य पणयो (यो) य।
चदु चदु पण एगेगे हुंति पमादा हु पण्णरस ॥" [पचसं० १।१५] इति।

लोभकषायपरिणतिश्च स्त्रीणां बुद्धिपूर्वं वस्त्रस्वीकारात् अस्तीत्यवसीयते। अथ वीतरागत्वेऽप्यासां लज्जापनोदार्थं तत्स्वीकारसंभवात् नातस्तासां तत्परिणतिसिद्धिः, नन्वेवं कामपीडापनोदार्थं कार्मुकादिस्वीकारोऽप्यासां किन्न स्यादविशेषात्? अथ तत्पीडासद्भावे वीतरागत्वं तासां विरुध्यते, तदेतत् लज्जासद्भावेऽपि समानम्। न खलु वीतरागस्य लज्जा उपपद्यते, सति रागे बीभत्सावयवप्रच्छादनेच्छारूपत्वात्तस्याः। यो वीतरागो नासौ लज्जावान्, यथा शिशुः, वीतरागा च भवद्भिरभिप्रेता आर्यिका इति।

(१) "अर्शोभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्येत। उपसर्गे वा चीरे ग्दादि सन्यस्यते चास्ते ॥" –स्त्रीमु० श्लो० १७। (२) गृहस्थशीलम्। (३) पृ० ८६८ पं० १७। (४) "पइडी पमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा। तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला त्ति णिद्दिट्ठा ॥ संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य। चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥"–प्रव० टी० पृ० ३०२। "मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं। णिच्चं जोणिस्सावो दारड्ढं णत्थि चित्तस्स ॥"–भावसं० गा० ९३। (५) विकथास्तथा कषाया इन्द्रियनिन्द्रातथैव प्रणयश्च। चतुश्चतु पञ्चैकैक भवन्ति प्रमादा खलु पञ्चदश ॥ गाथेयं जीवकाण्डेऽपि (३४) वर्तते। उद्धृतेयम्–धवलाटी० पृ० १७८। (६) "ह्रीशीतार्तिनिवृत्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये।"–प्रमेयक० पृ०३३१। (७) कामपीडा। (८) लज्जाया।

1–सर्गाद् व्यासक्त–आ०। 2 अत्रार्थेऽद्य विप्र–ब०। 3–प्रसाधाय ब०। 4–नाय भवत्येव प्रकृत–ब०। 5 जूकालि–ब०। 6–णामे तासा–ब०। 7 एगेकं श्र०। 8 बुद्धिपूर्वंवस्त्र–आ०, बुद्धिपूर्वकवस्त्र–श्र०। 9 कान्तादि–श्र०।

यदि च पुंसाम् अचेलः संयमो मुक्तेर्हेतुः स्त्रीणां तु सचेलः; तदा [१]कारणभेदात् मुक्तेरप्यवश्यमनुषज्येत भेदः। योऽत्यन्तभिन्नः संयमः सोऽत्यन्तभिन्नकार्यारम्भकः यथा यतिगृहिसंयमोऽत्यन्तभिन्नस्वर्गाद्यारम्भकः, अत्यन्तभिन्नश्च सचेलाऽचेलरूपो मुक्तिहेतुतयाऽभिप्रेतः आर्य-अर्यिकासंयमः इति। न चा[२]नयोः मुक्तिभेदोऽस्ति; सकलकर्मक्षयलक्षणाया मुक्तेः उभयोर्भवद्भिस्तुल्यतयाऽभ्युपगमात्।

किञ्च, सचेलसंयमस्य मुक्तिहेतुत्वे मुक्त्यर्थिनां न वस्त्रादेस्त्यागः कर्त्तव्यतया उपदिश्येत, उपदिश्यते चा[३]सौ तेषां तथा, अतो वस्त्रादेर्मुक्त्यङ्गतानुपपत्तिः। प्रयोगः– वस्त्रं मुक्तेरङ्गं न भवति, मुक्त्यर्थिनां तत्त्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदिश्यमानत्वात्, यत्त्यागो मुक्त्यर्थिनां कर्त्तव्यतयोपदिश्यते न तत् मुक्तेरङ्गम् यथा मिथ्यादर्शनादि, कर्त्तव्यतयोपदिश्यते च तेषां वस्त्रत्याग इति। यत्पुनः मुक्तेरङ्गं न तत्त्यागस्तदर्थिनां कर्त्तव्यतया उपदिश्यते यथा सम्यग्दर्शनादेरिति।

यच्चान्यदुक्तम्[४]–'पुरुषैरवन्द्यत्वस्य गणधरैर्व्यभिचारः' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽर्हतां तीर्थकरत्वनामपुण्यातिशयवशात् परममहत्त्वपदप्राप्तत्वेन अखिलजनैर्वन्द्यत्वमेव न वन्दकत्वम्। नहि कश्चित् तत्पदादधिकपदार्हो जगत्यस्ति यस्य ते[५] [1]वन्दका भविष्यन्ति, गणधराणां तु तथाविध[2]पुण्या[3]ऽभावात् [६]तत्पदप्राप्तेरभावान्न [4]तद्वद्[७]वन्द्यत्वम्। मुक्तिसामग्री तु तीर्थकरेतरेषां सिद्ध्यतां न विशिष्यते। [6]आर्यिकायास्तु सा विशिष्यते, तद्धेतुरत्नत्रयाभावात्। तथा, स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः, यतिगृहिदेववन्द्यपदाऽनर्हत्वात्, नपुंसकादिवत्। यतीनां हि [7]वन्द्यं पदं द्विविधम्–परम्, अपरञ्च। तत्र परम्–तीर्थकरत्वलक्षणम्। अपरम्–आचार्यादिलक्षणम्। तदुभयमपि पुंसामेव उपदिश्यते न स्त्रीणाम्। तथा गृहिणां देवानाञ्च वन्द्यं पदं द्विविधम्–पराऽपरभेदात्। तत्र तेषां वन्द्यं परं पदम्–[8]चक्रवर्त्तित्वम् इन्द्रत्वञ्च। अपरम्–महाम(मा)ण्डलिकादि सामानिकादि च। तदपि पुंसामेव श्रूयते न स्त्रीणाम्। प्रतिगृहञ्च प्रभुत्वं पुंसामेव न स्त्रीणाम्। तथा पितरि सत्यसति च पुत्रस्यैव लघोः वि[9]रूपकस्यापि सर्वत्र कार्येऽधिकारो न पुत्रीणां महतीनां सुरूपाणामपि। अतो यासां सांसारिकलक्ष्म्यामपि अधिकारो नास्ति तासां मोक्षलक्ष्म्यामधिकारो भविष्यति इति किमपि महाद्भुतम्!

ननु यदि महत्याः श्रियोऽनर्हत्वात्तासाममुक्तिः तदा गणधरादीनामप्यमुक्तिः

(१) "तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेदः स्वर्गादिवत्।"–प्रमेयक० पृ० ३३०। (२) आर्य-आर्यिकयोः। (३) वस्त्रत्यागः मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतया। (४) पृ० ८६९ पं० ४। (५) तीर्थकरा। (६) परममहत्त्वपदप्राप्ते। (७) तीर्थकरवत् सकलजगद्वन्द्यत्वम्।

1 वन्दका च भवि–श्र०। 2–पुण्यानुभावतस्तत्प–आ०,–पुण्येभावतस्तत्पद–ब०। 3–भावस्तत्पद–श्र०। 4 तद्वन्द्यत्वम् ब०, श्र०। 5–करे तेषां श्र०। 6 आर्यिकासु सा ब०। 7 वन्द्यपदं ब०। 8 चक्रवर्त्यादित्वं ब०। 9 विपक्षकस्यापि ब०।

स्यात् महत्याः तीर्थंकरत्वश्रियः तेपामप्यनर्हत्वाविशेषात्; इत्यप्यसुन्दरम्, [1]व्यक्तिभेदस्यात्र विधिनिषेधयोरनङ्गत्वात्। पुरुपवर्गो हि महत्यां श्रियामधिकृतो न स्त्रीवर्गः अतस्तत्[1]परिहारेण तस्यैव मुक्तिरभ्युपगन्तव्या, न पुनः कचिद्व्यक्तौ तथाविधश्रियो[2]ऽसंभवेऽपि मुक्त्युपलम्भाद् व्यभिचारमुद्भाव्य मुक्तिं प्रति स्त्रीणां तत्समानताऽऽपादयितुं युक्ता। न खलु एकस्य राजपुत्रस्य राज्यप्राप्तौ अन्यतत्पुत्राणां [2]तदप्राप्तितः ततो हीनत्वेऽपि पुत्र्या समत्वं युक्तम्, पुत्रवर्गात् पुत्रीवर्गस्य सकलव्यवहारेषु लोके अत्यन्तविलक्षणतया प्रसिद्धेः। ततः स्त्रीणां न मोक्षः पुरुपेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत्। न च तेभ्यो हीनत्वमासामसिद्धम्, अनन्तरमेव अस्य समर्थितत्वात्।

इतश्च तत्सिद्धम् यतः सा[3]रण[3]वारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणां पुरुपाः कुर्वन्ति न स्त्रियः पुरुषाणाम्, तीर्थंकराकारधराश्च पुरुपा न स्त्रियः। उक्तञ्च–

"[4]सारणवारणपरिचोयणाइ पुरिसा करेई णाहु [5]इत्थी" [ ]

ननु न हीनत्वमधिकत्वं वा मुक्तेरङ्गम्, किन्तु रत्नत्रयं शिष्याचार्यवत्, तथाहि–शिष्या आचार्येभ्यो हीनाः ते तु तेभ्योऽधिकाः अथ च उभयेषां मुक्तिः, तद्वद् [6]आर्याणाम् आर्यिकाणाञ्च सा भविष्यति, इति च श्रद्धामात्रम्, यतः शिष्याचार्यवत् हीनाधिकत्वेऽपि स्त्रीपुरुषयोर्मुक्तिः अविशेषतः स्यात् यदि त[4]द्वत् तयोरपि मुक्तिहेतुभूतं रत्नत्रयमविशेषतः स्यात्, न च स्त्रीषु तदस्ति, तद्धेतुभूतस्यास्य प्रपञ्चतः तासु प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्। रत्नत्रयमात्रं तु तत्र सदपि न तद्धेतुः, गृहस्थादेरपि मुक्तिप्रसङ्गात्। नहि प्रचण्डमार्त्तण्डप्रसाध्ये कार्ये प्रदीपस्य स्वप्नेऽपि सामर्थ्यं प्रतीयते।

यदप्युक्तम्[5]–'गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, नहि यथा अनेकदुर्धरपरीषहसहत्वेन अखिलकर्मनिर्मूलनसमर्थं महासत्त्वं पुंसां प्रसिद्धम् तथाविधं स्वप्नेऽपि स्त्रीणामस्ति। स्त्रीवर्गापेक्षयैव सीतादीनां सत्त्वप्रकर्षसंभवात् 'महासत्त्वाः' इत्युच्यन्ते। नहि तासां पुंसामिव सत्त्वाधि[7]क्यमस्ति क्वापि कार्ये। तथाविधसत्त्वविकलानाञ्च तासां कथं महासत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमग्रता स्यात्। तथाहि–न स्त्रीशरीरं मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमग्रतोपेताऽऽत्माश्रयः महता पापेन निर्वर्त्तितत्वात् नारकादिशरीरवत्।

किञ्च, अखिलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतोस्तस्य[6] तदाश्रयतो[7]पपद्यते। न[8] च स्त्रीशरी-

(१) स्त्रीवर्गपरिहारेण। (२) तीर्थकरत्वश्रिय। (३) "सारणा हिते प्रवर्तनलक्षणा कृत्यस्मारणलक्षणा वा, उपलक्षणत्वाद् वारणा अहितान्निवारणलक्षणा, चोयणा सयमयोगेषु स्खलित सन्नयुक्तमेतद् भवादृशा विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा, प्रतिचोदना तथैव पुन पुन प्रेरणा।"–गच्छा० वृ० गा० १७। ओघनि० टी० गा० ४४८। (४) शिष्याचार्यवत् आर्य-आर्यिकयोरपि। (५) पृ० ८६९ प० ११। (६) शरीरस्य। (७) मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमग्रतोपेतात्माश्रयता।

1 व्यक्तिभेद स्यात् विधि–आ०। 2 तत्प्राप्तित व०। 3 सारणचारण–आ०। 4 सारणचारण –आ०। 5 इछी आ०। 6 आचार्याणामपि–श्र०। 7–धिक्यमपि क्वापि आ०। 8 नच शरीरस्य आ०।

रस्य तत्प्रारम्भहेतुतोपपद्यते । तथाहि–न स्त्री[1]शरीरं सकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतुः महता पापेन मिथ्यात्वसहायेन उपार्जितत्वात् नारकादिशरीरवत् । स्त्रीनिर्वर्त्तकं हि कर्म महत्पापम् न मिथ्यादृष्टेरन्येन उपार्ज्यते । यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टिरपि तदुपार्जयति तथाप्यसौ सम्यग्दर्शनमव[1]सादयन् मिथ्यादृष्टिरेव, मि[2]थ्यादर्शनाभिमुखस्यास्य मिथ्यादर्शनेनैव व्यपदेशात् । सम्यङ्मिथ्यादृष्टि[2]रपि हि तत्तावत् नार्जयति, किमङ्ग[3] पुनः सम्यग्दृष्टिः ? स्त्रीत्वेन उत्पद्यमानोऽपि जीवो मिथ्यात्वपरिण[4]त एव उत्पद्यते । तदुक्तम्–

"छ[3]सु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
वा[5]रेस (वारस) मिच्छुववा[6]दे सम्माइट्ठी ण उप्पयदि ॥" [पंचसं० १।१९३ (?)]

यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि नास्ति ताः मोक्षपदं प्राप्स्यन्ति इति महन्न्यायकौशलम् !

यदप्युक्तम्[4]–'अ[7]ट्ठसमयेगसमये' इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम्' इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; अस्य आगमस्य अ[8]स्मत्प्रत्यप्रमाणत्वात्, तदप्रमाणत्वञ्च प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वात् सुप्रसिद्धम् । यथा च स्त्रीनिर्वाणलक्षणोऽर्थः प्रमाण-

(१) "चित्तस्सावो तासि सिथिल्ल अत्तव च पक्खलण । विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ।"–प्रव० टी० पृ० ३०३। "सुहमापज्जत्ताणं मणुआण जोणिणाहिकक्खेसु । उप्पत्ती होइ सया अण्णेसु य तणुपएसेसु ।। णहु अत्थि तेण तेंसि इत्थीण दुविहसजमोद्धरण । सजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ।।"–भावसं० गा० ९४–९५ । "सदैवाशुद्धता योनौ गलन्मलाश्रयत्वत । रज स्खलनमेतासा मास प्रति प्रजायते ।। उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणा योनौ कक्षादिसन्धिसु । सूक्ष्मापर्याप्तका मर्त्यास्तद्देहस्य स्वभावत ।। स्वभाव कुत्सितस्तासा लिंगञ्चात्यन्तकुत्सितम् । तस्मान्न प्राप्यते साक्षाद् द्वेधा सयमभावना ।। उत्कृष्टसयमं मुक्त्वा शुक्लध्याने न योग्यता । नो मुक्तिस्तद्विना तस्मात्तासा मोक्षोऽतिदूरग ।। सप्तमं नरक गन्तु शक्तिर्यासा न विद्यते । आद्यसहननाभावान्मुक्तिस्तासा कुतस्तनी ।। योषित्स्वरूपतीर्थेशा तल्लिगस्तनभूषिता । अर्चाः प्रतिष्ठिता. क्वापि विद्यन्ते चेत्प्रकथ्यताम् । न सन्ति चेन्मताभाव सन्ति चेद् भण्डिमास्पदम् । एव दोषद्वयासंगान्मोक्षो न घटते स्त्रिय· ।।"–भावसं० श्लो० २४४-५० । (२) "सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो । णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ।।"–जीवका० गा० २० । "विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात् । तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वय नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद् भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावान्न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेश किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते ।"–धवलाटी० पृ० १६४। (३) " वारसमिच्छोवादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो"–पंचसं० । "णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो"–धवलाटी० पृ० २०९। "हेट्ठिमछप्पुढवीण जोइसि वण भवण सव्व इत्थीणं। पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ।।"–जीवका० गा० १२७ । अवस्तनषट्नरकेषु ज्योतिर्व्यन्तरभवनवासिषु तिर्यङ्मनुष्यदेवस्त्रीषु द्वादशसु मिथ्यात्वोपपादस्थानेषु सम्यग्दृष्टय न समुत्पद्यन्ते इत्यर्थ । (४) पृ० ८६९ प० १३।

1–वसादयेत् मि–आ० । 2–रपि हेतु तावत् श्र० । 3 किंपुनः श्र० । 4–णत्यैवोत्प–ब० । 5 वारसतिमिच्छुववादे आ०, श्र० । 6–वादेसम्मा इत्थि न उप–श्र० । 7 अद्धसय–आ० । 8 अस्मान् प्रत्यप्र–श्र० ।

बाधितः तथा प्रपञ्चतः प्राक् प्रतिपादितमेव ।

ननु–"पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।

सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति[1] ॥" [प्रा० सिद्धभ० गा० ६]

इत्यादेरपि प्रमाणभूतागमस्य तन्निर्वाणप्रतिपादकस्य सद्भावात् कथं प्राक्तनागमस्य प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वम्, आगमात् स्त्रीनिर्वाणोऽसिद्धिर्वा ? इत्यपि मनोरथमात्रम्[2], तस्य[3] तन्निर्वाणावेदकत्वाऽसंभवात्, स हि पुंवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंसामेव[3] अपवर्गावेदकः, उभयत्र 'पुरुषाः' इत्यभिसम्बन्धात् । वेद इति हि मोहनीयोदयजन्मा चित्तविकारोऽभिलाषरूपोऽभिधीयते, उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

यदप्युक्तम्[4]–'द्रव्यतः पुरुषाः' इत्यादि; तदप्यचर्चिताभिधानम्, द्रव्यतः स्त्रीवेदस्य [4]मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याभावस्य प्रतिपादितत्वात् कथं द्रव्यतः स्त्र्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा निर्वास्यति ? यद् द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्थं तद् भावतोऽपि तत्प्रसाधनेऽसमर्थमेव यथा तिर्यगादि, द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्था च स्त्री इति । अतो द्रव्यतः पुरुषस्यैव भावतो वेदे यत्र कुत्रचिदारूढस्य निःशेषतो[5] निखिलकर्मारातिनिर्जयनसामर्थ्यमभ्युपगन्तव्यम् लोकवत् । यथैव हि [6]लोके पुरुषो महासत्त्वोपेतो गजतुरगादौ यत्रकुत्रचिदारूढः किञ्चिद्दिव्यमस्त्रमादाय रणरङ्गे निखिलशत्रुवर्गमुन्मूलयन् परमैश्वर्यमनुभवति इति आबालं प्रसिद्धम् न पुनः यथार्थनामा अबला[7], तथा द्रव्यतः पुरुष एव भावतो वेदत्रयान्यतमवेदाधिरूढः शुक्लध्यानानुपमास्त्रमादाय कर्मारातिवर्गमुन्मूलयन् परमैश्वर्यमनुभवति इति ।

यदप्यभिहितम्[5]–'न च सिद्ध्यतो वेदः' इत्यादि, तत्सत्यमेव, नहि अस्माभिर्वेदात् मुक्तिरभ्युपगम्यते, कर्मनिचयनिर्दहनसमर्थतीव्रतरशुक्लध्यानानलात् परापरमुक्तेरभ्युपगमादिति ॥ छ ॥

इदानीं शास्त्रकारः शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनं प्ररूपयन्नाह–

भव्यः पञ्चगुरूंस्तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः ।

---

(१) "भावपु वेदमनुभवन्तो ये पुरुषा क्षपकश्रेणीमारूढा., न केवल भापुववेदेनैव अपि तु सेसोदयेण वि तहा–अभिलाषरूपभावस्त्रीनपु सकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण झाणुवजुत्ता य शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुवेदास्तु सिज्झति सिद्ध्यन्ति ।"–सिद्धभ० टी० । (२) "पु वेद वेदता' इत्यागमस्य । (३) "अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्य सिद्धिर्भावत न द्रव्यत, द्रव्यत पुल्लिङ्गेनैव ।"–सर्वार्थसि० १०।९। "अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदभ्य सिद्धिर्भवति भाव प्रति, न तु द्रव्य प्रति । द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिगेनैव सिद्धि ।"–राजवा० पृ० ३६६ । "पुल्लिगेनैव तु साक्षाद् द्रव्यतो" "–तत्त्वार्थ–श्लो० १०।९। (४) पृ० ८७० पं० ३। (५) पृ० ८७० पं० ५ ।

1–णसिद्धिर्वेत्यपि श्र०,–णासिद्धिरित्यपि–ब०। 2–त्रं तन्निर्वाणा–ब०,–त्रं स्त्रीनिर्वाणा–श्र०। 3–विकारो ह्यभिधी–ब०। 4 मोक्षसाधन–ब०। 5–तोऽखिल–ब०। 6 लोकेषु पुरुषो आ०। 7 बाला श्र०।

दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम्[1] ॥ ७७ ॥
प्रवचनपदान्यभ्यस्य अर्थास्ततः परिनिष्ठितान्[1],
असकृदववुद्ध्येद्वाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः ।
भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम्[2] ॥ ७८ ॥

विवृतिः–लक्षण-संख्या-विषय-फलोपेतप्रमाण-नय-निक्षेपस्वरूपप्ररूपके[2] हि हेतुवादरूपे आगमे गुरूपदेशपरम्परातो यथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्संपत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण परार्थसम्पत्तये[3] असौ चेष्टते[4] इति ॥ छ ॥

इति श्री भट्टाकलङ्कशशाङ्कानुस्मृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः[5] ॥ छ ॥



(१) "स्याद् भवेत् । क भव्य मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणस्यतीति भव्य अभव्यस्य मुक्तावनधिकारात् । किंविशिष्ट स्यात् ? जिन स्यात् । पुन कथम्भूत ? लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञ, षट्द्रव्यसमवायो लोक. ततो वहिरलोकः केवलाकाशरूप तयो कला विभाग । अथवा लोकश्च अलोकश्च कलाश्च जीवादय पदार्था तासामवलोकन तत्र बलं शक्ति प्रज्ञा प्रकृष्टं ज्ञान च विद्यते यस्य स तथोक्त कथ स्वयं स्वेनात्मना नेन्द्रियादिसाहाय्येन इत्यर्थ । पुनरपि किंविशिष्ट ? अधिगतः । किम् ? पदम् स्थानम् । किंविशिष्टम् ? आकलङ्कम् अकलङ्कानामिदम् आर्हन्त्यमित्यर्थः । बोद्धा । किंकृत्वा ? अभ्यस्य पुन पुनर्भावयित्वा । कम् ? तदर्थम्, तस्यागमस्य अर्थो जीवादिवस्तु तम् । आदौ कृत्वा ? बुध्वा अधीत्य ज्ञात्वा च । कम् ? आगम श्रुतम् । केभ्य ? तेभ्य पचगुरुभ्यः सकाशात् । कस्मादवधिभूताद् ? शब्दात् । किंविशिष्टात् ? अर्थविषयात् । पुन किंविशिष्टात् ? अपभ्रंशत भ्रंशो लक्षणदोष तस्मादपगत अपभ्रंश तस्मात् । तत पूर्वं किं कृत्वा ? आराध्य गुरून् अर्हदादीन् । कति ? पच । कै गुणैः ? तपोभि बाह्याभ्यन्तरै इच्छानिरोधै । अमलै मिथ्यात्वादिमलरहितै"–लघी० ता० पृ० १०० । (२) "कथयतु प्रतिपादयतु । कः ? बुध. ज्ञानी । कम् ? पन्थान मार्गप्राप्त्युपायम् । किं विशिष्टम् ? शिवम् । कस्य ? पदस्य स्थानस्य । केषाम् ? महात्मनाम् । केभ्य कथयतु ? व युष्मभ्य विनेयेभ्य । केन ? सुखेन ताल्वोष्ठपुटव्यापारक्लेशाभावेन । किंविशिष्ट सन् ? समाश्रित प्राप्त । किम् ? स्थानम् अवस्थानम् न क्षणभगं तत्रोपदेशाभावात् । किंविशिष्टम् ? भगवत् त्रिलोकपूजार्हम् । केषा स्थानम् ? अकलंकानाम् अर्हतामित्यर्थ. । किंविशिष्ट सन् ? हतसशयः । किं कृत्वा ? अववुद्धय निश्चित्य । कथम् ? असकृत् पुन पुनर्ध्यात्वा । कान् ? अर्थान् जीवादितत्त्वानि । किंविशिष्टान् ? परिनिष्ठितान् व्यवस्थितान् । क्व तत. ? तेषु प्रवचनपदेषु । कस्मात् ? बोधात् । किंविशिष्टात् ? इद्धात् उज्वलात् संकरव्यतिकरव्यतिरेकात् अहमहमिकया प्रकाशमानादित्यर्थ । किंकृत्वा । अभ्यस्य परिचिन्त्य । पुनः पुनरुपयुज्येत्यर्थ । कानि ? प्रवचनपदानि । परमागमाभ्यासात् परिणतश्रुतज्ञान शुक्लध्यानानलनिर्दग्धद्रव्यभावकलङ्क सार्वज्ञ्यमापन्नो मोक्षमार्गोपदेशाय परार्थाय चेष्टतामिति भावो देवानाम् ।"–लघी० ता० पृ० १०१ ।

1–निश्चिता–ब० । 2–स्वरूपके हि श्र० । 3 परार्थंसम्प–श्र० । 4 चेष्ट इति आ० । 5 इति ग्रन्थः समाप्तः ब० ।

बोधो मे[1] न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः,
साहाय्यञ्च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये[2] ।
यत्पुण्यं जिननाथभक्तिजनितं तेनायमत्यद्भुत.,
सञ्जातो निखिलार्थवोधनिलयः साधुप्रसादात्परः ॥ १ ॥

कल्याणावसथः सुवर्णरचितः विद्याधरैः सेवितः,
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो वहुविधश्रीको गिरीन्द्रोपमः[3] ।
भ्राम्यद्भिर्न वृहस्पतिप्रभृतिभिः प्राप्तं यदीयं पदम्,
न्यायाम्भोधिनिमन्थनः चिरमसौ स्थेयात् प्रबन्धः परः[4] ॥ २ ॥

मूलं यस्य समस्तवस्तुविषयं ज्ञानं परं निर्मलम्,
बुध्नं संव्यवहारसिद्धमखिलं संवादि मानं महत् ।
शाखाः सर्वनया. प्रपत्रनिवहो निक्षेपमालामला,
जीयाज्जैनमतांऽघ्रिपोऽत्र फलितः स्वर्गादिभिः सत्फलैः ॥ ३ ॥

भव्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधिः योऽभूज्जगद्भूषणः,
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात् सन्न्यायमार्गोऽखिलः,
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जातः प्रभाचन्द्रतः ॥ ४ ॥

अभिभूय निजविपक्षं निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधिः ।
सविता जयतु जिनेन्द्रः शुभप्रबन्धः प्रभाचन्द्रः ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः[5] ॥छ॥

---

(१) प्रभाचन्द्रस्य । (२) न्यायकुमुदचन्द्रविरचने । (३) न्यायकुमुदचन्द्र । (४) न्यायकुमुदचन्द्र ।

1–दयः श्र० । 2–यम व० । 3 न्यायाम्भोधिनिबद्धन आ०, न्यायाम्भोनिधिमन्थनः श्र० । 4 तन्न्याय–श्र० । 5 समाप्त । इति श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालकार. कृत इति मगलम् । श्रीचन्द्रनाथाय नमः । श्रीविजयकीर्तिमुनये नम. । श्र० ।

श्रीनन्दिसंघकुलमन्दिररत्नदीप(पः),सिद्धान्तिमूर्ध्व(र्ध्ने)तिलको · · नन्दिनामा।
चूडामणिप्रभृतिसर्वनिमित्तवेदी चूडामणिर्भवनिमित्तविदां बभूव ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य तपोनिधिः शमनिधिर्वि [द्यानिधि] र्धीनिधिः।
शीलानन्दितभव्यलोकहृदयः सौख्यैकनन्दीत्यभूत् ॥

आरुह्य प (प्र) तिभागुणप्रवहणं सद्बोधिरत्नो [द्रहं]।
[सत्सि] द्धान्तमहोदधेरनवधेः पारं परं दृष्टवान् ॥ २ ॥

अन्तेवासी समजनि मुनेस्तस्य यो देवनन्दी,
दीप्तोत्तप्तप्रभृतितपसा [सां धाम यो] देवनन्दी।
चातुर्वर्ण्यश्रमणगणिभिर्देववद्वंर (द) नीयो,
देवश्चासावजनि परमानन्दयोगाच्च नन्दी ॥ ३ ॥

एतस्मादुदयाचलाद्वि [धिवशा] ल्ली [लो] दयेनाभितः।
श्रीमद्भास्करण(न)न्दिना दशदिशस्तेजोभिरुद्योतिताः ॥
विद्वत्तारकचक्रवालमखिलं मिथ्यातमोभे [दिभि-
र्थोद्वा] सवचोमरीचिनिचयैराच्छादितं सर्वतः ॥ छ ॥ ४ ॥

त्यक्ता वादकथापि वादिनिवहैर्नाल्पोऽपि जल्पः कृतः।
जल्पाकै [स्त्रपया च नो] निगदितं पाखण्डिवैतण्डिकैः ॥
षट्तर्कोपनिषन्निशाणनिशितप्रज्ञस्य तैः सेव्यते।
श्रीमद्भास्करण(न)न्दिपण्डितपतेः [पादारविन्दद्व]यी ॥ छ ॥

इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मि (प्त इ) ति ॥ छ ॥



ग्रन्थाग्रं १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥ श्री ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः



1 प्रशस्तिरियम् आ० प्रतावेव उपलभ्यते।

न्यायकुमुदचन्द्रसम्पादकप्रशस्तिः ।



भजति सागरमण्डलमुद्धुरे सुकृतिभिः 'खुरई'विकसत्पुरे ।
सुपरवार'जवाहरलालतः' समजनिष्ट 'महेन्द्रकुमारकः' ॥ १ ॥

कवीनाश्रितवीनाख्यनगरे 'धर्मदासतः' ।
नाभिनन्दनसद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम् ॥ २ ॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगांसया ।
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

'बंशीधरात्'धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम् ।
स्याद्वादविद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमहं चिराय ॥ ४ ॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेवासिनोऽपि निरन्तरम् ।
अभूवमुत्तमश्रेण्यां न्यायाचार्यस्ततः परम् ॥ ५ ॥

गवेषणापूर्णधियेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमात् ।
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

रस[६]रस[६]युग[४]नेत्रे[२] वीरनिर्वाणवर्षे,
प्रथमदलनवम्यां भौमवारान्वितायाम् ।
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि भाद्रे,
गुरुचरणकृपौघेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥



न्यायकुमुदचन्द्रस्य

॥ परिशिष्टानि ॥

[INDEXES.]



"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयाज्जैनेन्द्रचन्द्रस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

—अकलङ्कदेवः

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥"

—हरिभद्रः

"परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥"

—अमृतचन्द्रः

§ १. लघीयस्त्रयस्य कारिकार्धानामकाराद्यनुक्रमः।



§ २. सविवृतिलघीयस्त्रयगतानि अवतरणानि ।

§ ३. सविवृतिलघीयस्त्रयस्य लाक्षणिकानां विशिष्ट-दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः[1] ।

१ परिशिष्टेऽस्मिन् स्थूलोऽङ्कः पृष्ठसख्या सूचयति सूक्ष्मोऽङ्कश्च पङ्क्तिसंख्याम्। स्थूलाक्षरमुद्रिताश्च शब्दा लाक्षणिका ज्ञेयाः ।

§ ४. अन्याचार्यैः स्वग्रन्थेषु समुद्धृतानां लघीयस्त्रयकारिकाणां विवृत्यंशानाञ्च तुलना ।

१ वीरसेन

लघी०		धवलाटीका
का० ५२		पृ० १७

२ रविभद्रशिष्य-अनन्तवीर्य

लघी०		सिद्धिविनिश्चय टीका
का० ७		पृ० १८४ A
का० ७	प्रमाणफलयो…	पृ० ९९ B
का० ५६		पृ० १८७ B.
का० ५७		पृ० १९३ A.
का० ५९		पृ० १० B
का० ६२		पृ० ४ A.

३ विद्यानन्द

लघी०		प्रमाणपरीक्षा
का० ३		पृ० ६९
		अष्टसहस्री
का० ३		पृ० १३४
का० २२	तिमिराद्युपप्लव…	पृ० २७७
		पत्रपरीक्षा
का० ३		पृ० ५
		आप्तपरीक्षा
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता…	पृ० ५६
		सत्यशासनपरीक्षा
का० ३७		पृ० १५ B.
		तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
का० ४	तदस्ति सुनिश्चता…	पृ० १८५
का० ७		पृ० ४२४
का० १०		पृ० २३९
का० ३२		पृ० २७०
का० ५४	इन्द्रियमनसी…	पृ० ३३०
का० ७०		पृ० २७१
		नयविवरण
का० ३२		श्लो० ६७

४ प्रभाचन्द्र

लघी०		प्रमेयकमलमार्त्तण्ड
का० ३	तन्नाज्ञान प्रमाण…	पृ० २५

५ अनन्तवीर्य

लघी०		प्रमेयरत्नमाला
का० १९-२०		३।५

६ वादिराज

लघी०	न्यायविनिश्चयविवरण
का० ३	पृ० ४८ A.
का० ५	पृ० ३२ A.
का० ५ विषयविषयि··	पृ० ३२ A
का० १४	पृ० ५२७ A.
का० ५२	पृ० ३२ A
का० ५९	पृ० ३३ A.
	प्रमाणनिर्णय
का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता··	पृ० २९

७ आशाधर

लघी०	अनगारधर्मामृतटीका
का० ७३–७६	पृ० १६९
	इष्टोपदेशटीका
का० ५७	पृ० ३०

८ शीलाङ्काचार्य

लघी०	सूत्रकृताङ्गटीका
का० ४	पृ० २२७ A.
का० ७२	पृ० ३२६ A.

९ अभयदेव

लघी०	सन्मतितर्कटीका
का० ५ विषयस्तावत्···	पृ० ५५३
का० ५ कथञ्चिदभेदेऽपि···	पृ० ५५३
का० १० अविसवादस्मृते.···	पृ० ५५३
का० २२	पृ० ५९५
का० २२ तिमिराद्युपप्लव···	पृ० ५९५
का० ३२	पृ० २७२
का० ५६	पृ० ५४४

१० वादि देवसूरि

लघी०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार
का० ३ सन्निकर्षादिरज्ञानस्य···	१।४
का० ४ अनुमानाद्यतिरेकेण···	२।३
का० ५ कथञ्चिदभेदेऽपि···	२।१२
	स्याद्वादरत्नाकर
का० ४	पृ० ३१६
का० १९	पृ० ४९८

११ रत्नप्रभ

लघी०	रत्नाकरावतारिका
का० १९।२०	३।३

१२ हेमचन्द्र

लघी०	प्रमाणमीमांसा
का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता···	पृ० १४
का० ४ यावज्ज्ञेयव्यापि···	पृ० १४
का० ४ अत्रानुपलम्भ···	पृ० १४
का० ५ विषयस्तावत्···	पृ० २१
का० ५ कथञ्चिदभेदेऽपि···	पृ० २२
का० ६ धारणा···	१।२।१९
का० ७	१।१।३९
का० ८	पृ० १४
का० १९–२०	पृ० ३५

१३ मलयगिरि

लघी०	आव० नि० मलयगिरिटीका
का० ३०	पृ० ३७० B.
का० ५७	पृ० १७
का० ६३	पृ० ३६९ B.
का० ६३ क्वचित्स्यात्कार··	पृ० ३६९ B.
का० ७२	पृ० ३८१ B.
	नन्दिसूत्रटीका
का० ५७	पृ० ६६ B.

१४ देवेन्द्रसूरि

लघी०	प्रथमकर्मग्रन्थटीका
का० ५७	पृ० ८

१५ यशोविजय

लघी०	जैनतर्कभाषा
का० ७६ अप्रस्तुतार्थापाकरणात्··	पृ० २५
	शास्त्रवार्तांटीका
का० ४	पृ० ३१०B
	गुरुतत्त्वविनिश्चय
का० ३०	पृ० १६ B.
का० ६३	पृ० १६ A.

§ ५. न्यायकुमुदचन्द्रगतान्यवतरणानि ।



§ ६. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा न्यायाः ।

§ ७. न्यायकुमुदचन्द्रगतानाम् ऐतिहासिक-भौगोलिकनाम्नां सूचिः ।

§ ८. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

§ ६. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः ।

§ १०. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः ।



§ ११. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतदार्शनिकनामसूचिः ।



§१२. मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम् ।

अकलङ्कग्र० परि०—अकलङ्कग्रन्थत्रयपरिशिष्टम् [सिंघी जैन सीरिज कलकत्ता] ७८९.

अद्वयवज्रसं०—अद्वयवज्रसग्रह [गायकवाड सीरिज वडोदा] ४०९.

अद्वयवज्रसं० तत्त्वरत्ना०—अद्वयवज्रसग्रहतत्त्वरत्नावली [गायकबाड सीरिज बड़ोदा] १२५.

अनागारध०—अनागारधर्मामृतम् [माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ० बम्बई] ७९९.

अनुयोगद्वा० / **अनु० सू०** — अनुयोगद्वारसूत्रम् [आगमोदयसमिति सूरत] २४२, ६०५, ६०९, ६२२, ६३२, ६३६–६३८, ७८२, ७९९–८०१, ८०४–८०७.

अनेकान्तवाद० / **अनेकान्तप्र०** — अनेकान्तवाद प्रवेश. [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन] ५३७, ६२०

अनेकान्तवादप्र० टि०—अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणम् [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन] ३६९.

अनेकान्तजय० / **अनेकान्त० प०** — अनेकान्तजयपताका [यशोविजय-ग्रन्थमाला काशी] ५१, १४०, ५२६, ५३४, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१, ५५३–५५५, ५५९, ५६०, ५६४, ६२०, ६२१, ६४०, ८३८

अन्ययो०—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका स्याद्वादमञ्जर्यन्तर्गता [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई] ५६६.

अपोहसि०—अपोहसिद्धि. [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता] ५५४

अभि० आलोक०—अभिसमयालोकालङ्कार [गायकबाड सीरिज् वडोदा] ५, १२४, १२६, ३८२, ३८४, ५२४, ८३८.

अभि० कोश / **अभिध०** — अभिधर्मकोश [ज्ञानमण्डल प्रेस काशी] ८३, १२०, २७२, ३९१, ३९२, ३९५, ६०२.

५२६, ५३७, ५५३, ६१३, ६३०, ६४०, ६८४–६८७, ७३०, ७०८, ७१३, ७२७, ७२९, ८५३, ८५४, ८६५–८६९.

शिक्षासमु०–शिक्षासमुच्चय [विब्लोथिका बुद्धिका रशिया] ३९०, ६६२

श्वेताश्व०–श्वेताश्वतरोपनिषत् [निर्णयसागर बम्बई] १४९, ७२६, ८१३

षट्प्रा० टी०–षट्प्राभृत टीका [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई] ३.

षड्भा०–षड्भाषाचन्द्रिका [बम्बई] ७६४.

षड्द०–षड्दर्शनसमुच्चयः [चौखम्बा काशी] ४६६, ५०५

षड्दर्शनसमु० बृह० }
षड्द० टी०, षड्द० स० टी० } षड्दर्शनसमुच्चयटीका गुणरत्नकृता [भावनगर] २६, २७, १३३, ४०४ ४०७, ४६४, ४६७, ४६८, ५३४, ६४०, ६८२, ६९३, ७७०, ८१८–८२०, ८२२, ८२३, ८२५, ८२७, ८२८, ८३०, ८३१, ८३८, ८४१–८४३, ८४५, ८४७, ८६५–८६९

सक्षेपशा० टी०–सक्षेपशारीरकटीका [चौखम्बा काशी] ८३१.

स०सिद्धिभ०–सस्कृतसिद्धभक्ति क्रियाकलापान्तर्गता ४

सत्यशासनप०–सत्यशासनपरीक्षा लिखिता [जैनसिद्धान्तभवन आरा] ६१९.

सन्मति० टी०–सन्मतितर्कटीका [गुजरात पुरातन्वमन्दिर अहमदाबाद] १०, २०, २३–२५, २७, २९, ३१, ३४, ३६, ३८, ३९, ४२–४५, ४९, ५२, ५७, ६०, ६६, ६७–६९, ७२, ७९–८१, ८३, ८४, ८६, ८७, ८९, ९३, ९७, ९८, १०१, १०४–१०७, १०९, १२१, १२३, १२४, १२९, १३१-१३३, १३९-१४७, १४९, १५३, १५५, १६४, १६६, १६८, १७१, १७२, १८५, १८६, १८९, १९३, १९५, १९६, १९८, १९९, २००–२०२, २०५, २१७, २२४, २२६–२२८, २३३, २४२, २५०, २५३, २५७, २५८, २६१, २६३–२६५, २६७, २६८, २७६–२७८, २८१, २८७, २८८, २९२–२९४, ३०२, ३४३, ३४९, ३५४–३५७, ३६४, ३७०, ३७१, ३८२, ३८४, ३८७, ४०४, ४१०, ४४० ४४३, ४४८, ४५०, ४५९, ४६३, ४६४, ४६६–४६८, ४७२, ४७३, ४७५, ४९०, ४९२, ४९३, ४९५, ५०५, ५०८, ५१२, ५१५, ५१६ ५२०, ५२२, ५२४–५२६, ५४९, ५५३, ५५४, ५६०, ५६५ ६००, ६०२, ६०४, ६०५–६०७ ६१०, ६१९–६२२, ६३०, ६३२, ६३६, ६३८, ६४०, ६५८, ६६५, ६६९, ६७०, ६७२, ६७६, ६८४, ६८७, ६९८, ६९९, ७०३, ७०८, ७०९, ७१३, ७१८, ७२०, ७२३–७२९, ७३१–७३४, ७३७, ७४३, ७४४, ७५०–७५५, ७७२, ७७३, ७७५, ७७७, ७८२, ७८३, ८१०, ८११, ८२४, ८२६, ८२७, ८२९–८३१, ८३३, ८४०, ८४४, ८४५, ८४९, ८५०, ८५२, ८५४, ८६५, ८६६, ८६८, ८६९

सप्तप०–सप्तपदार्थी [विजयानगर सीरिज काशी] ६८९

सप्तप० टी०–सप्तपदार्थी टीका [विजयनगर सीरिज काशी] ४८३.

सप्तभंगित०–सप्तभङ्गितरङ्गिणी [रायचन्द्रशास्त्रमाला वम्बई [३७१, ६८६, ६९२, ६९३

समव० स्तो०–समवशरणस्तोत्रम् [माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वम्बई] २.

समवा० सू०–समवायाङ्गसूत्रम् [आगमोदय समिति सूरत] ८५७.

समाधिराजसूत्रम्–माध्यमिकवृत्तावुद्धृतम् १३२.

सम्बन्धप०–सम्वन्धपरीक्षा, टिवेटिनभाषोपलब्धा ३०५, ३०६, ३०९, ४८५.

सम्बन्धवा०–सम्वन्धवार्तिकम् [आनन्दाश्रम पूना] २०, ८२८.

सर्वद० }
सर्वद० स० } सर्वदर्शनसग्रह अभ्यङ्करेण सम्पादितः [भा० इस्टीटयूट पूना] १२, २४, ६०. ६३, १३३, १९५, २८२, ३४२, ४०९, ४११, ४१९, ५९७, ६६७, ६६८, ७४६, ७४८–७५०, ७६०.

सर्ववेदान्तसि०–सर्ववेदान्तसिद्धान्तसग्रह प्रकरणसंग्रहान्तर्गतः [ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना] ८३१

सर्वार्थसि०–सर्वार्थसिद्धि [कल्याणप्रेस सोलापुर] २१, २३, २६, २७, ३२, ८३, ११५, ११६, १५८, १६५, १७३, २०९, २३६, २३८, २५०, २५३, २५४, २५८, २८२, ३४१, ३४९, ३९४, ४०६, ४११, ५०४, ६०६, ६०७, ६१०, ६२२, ६३२, ६३३, ६३६, ६३८, ६४७, ६७२, ६८६, ७८७, ७९२–७९९, ८००, ८०२, ८०६, ८०७, ८१०, ८१२, ८१४, ८२९, ८५४, ८५६, ८६२–८६४, ८६९, ८७८

साख्यका०–साख्यकारिका [चौखम्बा काशी] २५, ४०, १५७, १८९–१९१, २७५, २७९, ३५०–३५६, ६२७, ८१३, ८१६.

सा० मा० वृ० }
साख्यका० माठरवृ० }
माठरवृ० } साख्यकारिकामाठरवृत्ति. [चौखम्बा काशी] ४०, ११०, १११, ११३, १८९, १९०, ३५०–३५२, ४३४, ५०३, ६०१, ६२७, ६३३, ८१३–८१६

साख्यतत्त्वकौ० }
साख्यकौ० } साख्यतत्त्वकौमुदी [चौखम्बा काशी] २४, ५००, ५०१, ५१६, ५१८, ५१९, ८१३, ८१४

साख्यतत्त्वप्र०–साख्यतत्त्वप्रदीप साख्यसग्रहान्तर्गतः [चौखम्बा सीरिज काशी] ८१६.

सांख्यतत्त्ववि०–साख्यतत्त्वविवेचनम साख्यसग्रहान्तर्गतम् [चौखम्बा काशी] ८१३

साख्यतत्त्वा०–साख्यतत्त्वालोक [सरस्वती भवन काशी] ६२८

आ० आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः ।

आ० टि० आदर्शप्रतेः प्रान्तभागे उपलब्धा टिप्पणी ।

ई० वि० ईडरभण्डारीयत्रुटितप्रत्यन्तर्गता स्वविवृतिप्रति ।

ज० वि० जयपुरीया स्वविवृतिप्रतिः ।

ब० बनारसस्थस्याद्वादविद्यालयसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

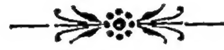
मु० लघी० मुद्रित लघीयस्त्रयम् ।

श्र० श्रवणबेलगोलस्थ श्री [पण्डिताचार्यचारुकीर्तिभट्टारकसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः ।

का० कारिका

गा० गाथा

श्लो० श्लोक

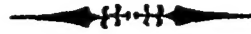


शुद्धिपत्रम्

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१४–३, ४२९–१२, ४६३–१२, ५३८–५		प्रथक्	**पृथक्**
४१९	१	प्रमाण्यात्	**प्रामाण्यात्**
४३६	१६	–सङ्कतस्या–	**–सङ्केतस्या–**
४४६	१२	वफ–	वैफ–
४६४	४	स्तमृत्वा	**स्मृत्वा**
४६७	१२	(१) अभावस्य	**(१) अभावप्रमाणस्य**
४६९	१०	रूपित्व	**रूपित्वं**
४७३	२१	(४) घटधर्मतया	**(४) भूतलधर्मतया**
४७३	२१	(५) घटात्	**(५) भूतलात्**
४८८	१८	योग्ययोग्यौ	**योग्यायोग्यौ**
५१५	९	विधिनोध्यते	**विधिनोच्यते**
५७२	१७	–विशिष्ट	**–विशिष्ट**
५७२	२२	–नियतद्वय–	**–नियततद्वय–**
५७३	२१	विधेर्लक्षिण–	**विधेर्लक्षण–**
६१४	१४	कार्यम्' इति	**कार्यमितरत्र कारणम्' इति**
६३४	११	को विसवाद	**कोऽविसवादः**
६५४	२८	प्रकान्त–	**प्रक्रान्त–**
६७१	१२	–प्ताप्ति–	**–प्राप्ति–**
७४९	८	वाक्यय०	**वाक्यप०**
७५७	७	गव्यादीनाम्	**गाव्यादीनाम्**
७६७	३	गावीशब्द शब्द	**गावीशब्द**
७९७	२७	तृड्वि–	**तृड्वि–**
८०२	१७	–रूषक–	**–रूपक–**
८२४	३	पक्षसपक्षद्	**पक्षसपक्षवद्**
८२४	७	व्यच्छे–	**–व्यवच्छे–**
८२४	१३	इति[५]	**[५]इति[६]**
८३७	८	–तम्	**– तम्**
८४६	२	मुहृदाशा	**सुहृदाशा**
८५१	२१	मुक्ति–	**भुक्ति–**
८५५	९	पूर्वाहे	**पूर्वाह्णे**
८६४	२२	–त्पन्नदोष	**–त्पन्नं दोष**
प्र० ५	१०	–भूत	–भूत्



माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची



१ लघीयस्त्रयादिसंग्रह	।=)	२३ मूलाचार सटीक-उत्तरार्द्ध	१॥)
२ सागारधर्मामृत सटीक (अप्राप्य)		२४ रत्नकरण्डश्रावकाचार सटीक	२)
३ विक्रान्तकौरव (नाटक)	।=)	२५ पंचसंग्रह	॥।-)
४ पार्श्वनाथचरित (काव्य)	॥)	२६ लाटीसंहिता	॥)
५ मैथिलीकल्याण (नाटक)	।)	२७ पुरुदेवचम्पू	॥।)
६ आराधनासार सटीक	।)॥	२८ जैन-शिला-लेखसंग्रह	२)
७ जिनदत्तचरित (काव्य)	।)॥	२९ पद्मचरित (पद्म-पुराण) प्रथम खंड	१॥)
८ प्रद्युम्नचरित (काव्य)	॥)	३० ,, ,, द्वितीय खंड	२)
९ चारित्रसार (अप्राप्य)		३१ ,, ,, तृतीय खंड	२)
१० प्रमाणनिर्णय (अप्राप्य)		३२ हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
११ आचारसार ,,		३३ ,, द्वितीय खण्ड	१॥)
१२ त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)		३४ नीतिवाक्यामृत सटीक (परिशिष्ट)	।)
१३ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह (अप्राप्य)		३५ जम्बूस्वामिचरित (काव्य)	१॥)
१४ अनगारधर्मामृत सटीक	३॥)	३६ त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र-मराठी टीकासहित	॥)
१५ युक्त्यनुशासन ,,	॥।-)	३७ महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
१६ नयचक्रसंग्रह	॥।≡)	३८ न्यायकुमुदचन्द्र—भट्टाकलंकदेवके लघीयस्त्रय ग्रंथपर श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यकृत भाष्य (प्रथम खंड)	८)
१७ षट्प्राभृतादिसंग्रह ,,	३)	३९ न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय खण्ड)	८॥)
१८ प्रायश्चित्तसंग्रह	१=)	४० वराङ्गचरित—जटाचार्य (सिंहनन्दि) कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
१९ मूलाचार सटीक-पूर्वार्द्ध	२॥)	४१ महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)
२० भावसंग्रहादि	२।)		
२१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह	१॥)		
२२ नीतिवाक्यामृत सटीक	१॥।)		

नोट—सभी ग्रंथ बहुत सस्ते हैं, लागतमात्र मूल्यमें बेचे जाते है।